अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

(INTERNATIONAL RELATIONS SINCE 1945)

डॉ० मथुरालाल शर्मा
एम. ए., डी. लिट्.
भूतपूर्व प्रोफेसर (ऐमेरिटस) एवं अध्यक्ष, इतिहास विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर



कॉलेज बुक डिपो (रजिस्टर्ड)
874, त्रिपोलिया (आतिश दरवाजे के पास)
जयपुर-2 (राज.)

आभार-प्रदर्शन

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के 32 वर्ष बाद भी हिन्दी भाषा में छपी सुरुचिपूर्ण और श्रेष्ठ पुस्तकों को अंग्रेजी के माहोल में, उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया और यहाँ तक कि कई पुस्तकालयों में एक प्रति का भी बिक पाना टेढ़ी खीर रही। ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में भी प्रस्तुत पुस्तक ने अपना नाम और स्थान कमाया, यह सभी हिन्दी-प्रेमी पाठकों के लिए उत्साहवर्द्धक है।

हिन्दी भाषी पाठकों की मांग पर 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' के नवीन संस्करण ने जो रूप धारण किया है उसमें हमें सर्वश्री डॉ ए अवस्थी, डॉ. आर के. अवस्थी, डॉ. पी. एन मसलदान, प्रो ए बी लाल, डॉ. के वी. राव, डॉ. वी. एस. बुद्धराज, डॉ बी पी. वर्मा, डॉ हरद्वार राय, डॉ आर. एन. त्रिवेदी, डॉ आर सी प्रसाद, डॉ सुभाष काश्यप, डॉ. बी. आर पुरोहित, डॉ एम डी मिश्रा, डॉ. एल. पी. सिन्हा, डॉ. वीरकेश्वर प्रसाद सिंह, डॉ बी. एन श्रीवास्तव, डॉ. एम. एम. पुरी, डॉ. ए डी पन्त, डॉ जे एस नेन्स, डॉ. रघुवीर सिंह, डॉ डी. एन. पाठक, डॉ आर पी श्रीवास्तव, डॉ. एन आर. देशपाण्डे एवं अन्य महानुभावों का सक्रिय सहयोग मिला है, हम उनके हृदय से आभारी हैं।

प्रकाशक

Published by College Book Depot, Tripolia (Near Atish Gate), Jaipur-2
Printed at Hema Printers, Jaipur

प्रस्तावना

प्रस्तुत रचना मे महायुद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का—बदलती हुई दुनिया का—राष्ट्रो के बदलते हुए नए परिवेश का चित्रण है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के क्षेत्र मे हुए नवीनतम परिवर्तनो और घटनाक्रमो का इसमे यथास्थान विवेचन है। विषय-वस्तु के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ही धरातल स्पष्ट किए गए हैं। युद्धोत्तर विश्व के राजनीतिक मानचित्र मे क्या परिवर्तन हुए है; संयुक्त राष्ट्रसंघ का क्या नया स्वरूप बनता जा रहा है; अमेरिका, रूस और चीन मे परस्पर विरोध और सहयोग की जो शतरंजी चालें खेली जा रही हैं; उपनिवेशवाद की क्रमशः अन्त्येष्टि किस प्रकार हुई है, एशिया और अफ्रीका के मानचित्र पर किन नए राज्यों का उदय हुआ है और इन महाद्वीपो की ज्वलन्त और विस्फोटक समस्याएँ कौन-सी हैं, शीत-युद्ध क्रमश शिथिल होकर नए रूप मे फिर कैसे उभर आया, अफगानिस्तान में रूसी हस्तक्षेप और ईरान-इराक युद्ध ने अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को कितना विस्फोटक बना दिया है, तेल राजनीति क्या नए-नए गुल खिला रही है, गुट-निरपेक्षता आन्दोलन आज कितना प्रभावशाली बन गया है और विभिन्न गुट-निरपेक्ष सम्मेलनो ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षितिज पर क्या छाप छोड़ी है, कार्टर प्रशासन के समय अमेरिकन विदेश नीति की क्या छवि रही है और नए राष्ट्रपति रीगन के समय अमेरिकन विदेश-नीति के मोड लेने की क्या सम्भावनाएँ हैं, सोवियत विदेश-नीति क्या नए मोड परिलक्षित हो रहे हैं, पर्दे के पीछे तृतीय विश्वयुद्ध चल रहा है, इस पर रिचर्ड निक्सन के क्या विचार हैं, दक्षिण-पूर्व एशिया मे महाशक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा का क्या रूप है, भारत मे जनता पार्टी की सरकार के पतन के बाद नई सरकार ने विदेश-नीति को पुन. किस प्रकार ताजा-सवारा और प्रभावशील बनाया है और भारत, चीन तथा पाकिस्तान के आपसी सम्बन्धो मे क्या नई प्रवृत्तियाँ उभरी हैं—इन सबका पुस्तक के नवीन संस्करण मे समावेश है। प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं पर एक पृथक् अध्याय है जिसमे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत् की उन महत्त्वपूर्ण घटनाओ और समस्याओ का उल्लेख है जो अन्य अध्यायो मे स्थान नहीं पा सकी हैं। संक्षेप मे, आज तक की सभी सम्बन्धित विवेच्य सामग्री के समावेश से पुस्तक को अधिक उपयोगी बनाया गया है।

यह कृति कुछ 'अभाव' की पूर्ति कर सकेगी—ऐसा विश्वास है। रचना के प्रणयन मे जिन विभिन्न स्रोतो से प्रभूत सहायता ली गई है उसके प्रति आभारी हूँ।

सुझावो के लिए अनुगृहीत होऊँगा।

मथुरालाल शर्मा

अनुक्रमणिका

1

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् सम्पन्न शान्ति सन्धियाँ

(PEACE SETTLEMENT AFTER WORLD WAR II)

"अटलांटिक चार्टर, 'चार स्वतन्त्रताओं' तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ के विषय में उज्ज्वल आशाएँ, विजेताओं के झगड़े एव एशिया के विद्रोह के कारण अपूर्ण रह गई ।" —शूमैन

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति 1918–19 मे हुई और इसके ठीक बीस वर्ष बाद द्वितीय महायुद्ध 1 सितम्बर, 1939 से प्रारम्भ हुआ जो 14 अगस्त, 1945 तक *अर्थात् जापान के आत्म-समर्पण तक* चलता रहा । *प्रथम महायुद्ध के बाद शान्ति के* जो भी प्रयत्न किए गए वे असफल सिद्ध हुए । वर्साय की सन्धि, तुष्टिकरण की नीति, हिटलर की घोर विस्तारवादी और सैन्यवादी नीति मुसोलिनी तथा जापान का साम्राज्यवादी प्रसार, शस्त्रीकरण की भयकर प्रतियोगिता आदि ने ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी कि द्वितीय महायुद्ध का विस्फोट होकर रहा । यह युद्ध इतना व्यापक, प्रभावकारी और प्रलयकारी था कि इसके अन्त के साथ ही विश्व इतिहास के एक युग का अन्त हो गया ।

जर्मनी और जापान के आत्मसमर्पण मे सैनिक सघर्ष का अन्त अवश्य हो गया, *किन्तु वास्तविक शान्ति की स्थापना अभी बाकी थी । युद्धोत्तर शान्ति-स्थापना का* यह कार्य प्रथम महायुद्ध के उपरान्त शान्ति-स्थापना के कार्य से कही अधिक सरल प्रतीत होता था क्योंकि विजेता राष्ट्र महायुद्ध-काल मे ही विभिन्न सम्मेलनो और वार्ताओ द्वारा शान्ति-स्थापना के मार्ग की काफी दूरी तय कर चुके थे । परन्तु वास्तव मे द्वितीय महायुद्ध के बाद यह स्थिति थी नही । द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होने के *डेढ वर्ष बाद तक भी शान्ति-सन्धियों के प्रारूप तैयार नही हो सके । 10* फरवरी, 1947 तक केवल इटली, रूमानिया, बल्गेरिया, हगरी और फिनलैण्ड के साथ शान्ति-सन्धियाँ सम्पन्न की जा सकी । जापान के साथ तो शान्ति-सन्धि युद्ध-समाप्ति के

लगभग साढे छ वर्ष बाद 28 अप्रैल, 1951 को की गई, और उस समय भी यह एक अधूरी शान्ति-सन्धि ही थी क्योकि रूस ने उस पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया। रूस और जापान के बीच युद्ध-व्यवस्था की औपचारिक समाप्ति तो अक्तूबर, 1956 मे हुई जब दोनो राष्ट्रों द्वारा एक सयुक्त विज्ञप्ति जारी की गई। आस्ट्रिया के साथ शान्ति-सन्धि युद्ध समाप्ति के लगभग 10 वर्ष बाद 27 जुलाई, 1955 को कार्यान्वित की गई और जर्मनी के साथ स्थायी शान्ति-सन्धि अभी तक सपन्न नही की जा सकी है। बर्लिन का प्रश्न शान्त होने के बावजूद आज भी जीवन्त है और जर्मनी आज भी दो भागो मे विभक्त है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति इसी ओर सकेत कर रही है कि यह विभाजन निकट भविष्य मे समाप्त नहीं हो सकेगा और बहुत सम्भव है कि यह लम्बे समय के लिए स्थायी बन जाए।

स्पष्ट है कि प्रस्तुत अध्याय मे क्रमश: निम्नलिखित बातो पर विचार करना होगा—

(क) द्वितीय महायुद्धकालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन,
(ख) महायुद्ध के उपरान्त शान्ति-निर्माण मे कठिनाइयाँ;
(ग) शान्ति-प्रयास और पाँच शान्ति सम्मेलन;
(घ) युद्धोत्तर विश्व।

द्वितीय महायुद्ध कालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेर

अटलांटिक चार्टर
(Atlantic Charter)

अगस्त, 1941 मे ब्रिटिश प्रधानमन्त्री चर्चिल और सयुक्तराज्य अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने अटलांटिक महासागर मे एक युद्धपोत पर भेंट की और उन्होने मित्रराष्ट्रो के युद्ध-उद्देश्य (War Aims) का एक अष्टसूत्री घोषणापत्र तैयार किया जिसे 'अटलांटिक चार्टर' कहा जाता है। चार्टर का उद्देश्य उस समय तक हिटलर द्वारा पराजित और उसके आक्रमण के शिकार राज्य पोलैण्ड, नार्वे, डेनमार्क, हालैण्ड, बेल्जियम, फ्रास रूस तथा बल्कान प्रदेशो की जनता मे नाजियो के विरुद्ध लडने का उत्साह पैदा करना और हिटलर द्वारा बार-बार उपस्थित की जाने वाली नवीन यूरोपीय व्यवस्था की तुलना मे अपने उद्देश्यो का स्पष्टीकरण करना था। 14 अगस्त को चार्टर द्वारा रूजवेल्ट और चर्चिल ने घोषणा की कि—

1. उनके देश प्रादेशिक अथवा अन्य प्रकार की शक्ति वृद्धि नही चाहते।

2. वे ऐसा कोई भी प्रादेशिक परिवर्तन नही देखना चाहते जो उससे सम्बन्धित लोगो की स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट की गई इच्छाओ के अनुकूल न हो।

3. वे प्रत्येक राष्ट्र के अपनी सरकार के, जिसके अन्तर्गत वे रहेगे, स्वरूप को चुनने के अधिकार का सम्मान करते है तथा यह देखना चाहते हैं कि जिन राज्यो की सत्ता और स्वशासन को बलपूर्वक छीन लिया गया है, वे उन्हे पुन: प्राप्त हो जाए।

4. वे अपने वर्तमान कर्तव्यों का पूर्ण ध्यान रखते हुए सभी राज्यों के लिए

चाहे वे छोटे हों अथवा बडे, विजेता हों अथवा विजित, इस बात की चेष्टा करेंगे कि उन्हे समान रूप से संसार के व्यापार एवं कच्चे माल की प्राप्ति के साधन प्राप्त हो सकें जो उनकी आर्थिक उन्नति के लिए आवश्यक हों।

5. वे सभी के लिए मजदूरी के स्तरो, आर्थिक उन्नति एव सामाजिक सुरक्षा की प्राप्ति की दृष्टि से आर्थिक क्षेत्र मे सभी राष्ट्रों के बीच पूर्ण सहयोग प्राप्त कराना चाहते हैं।

6. नाजी अत्याचार को अन्तिम रूप से नष्ट करने के उपरान्त वे एक ऐसी शान्ति-स्थापना करने की इच्छा करते है जो सभी राष्ट्रो को अपनी-अपनी सीमाओं के भीतर सुरक्षित रहने के साधन प्रदान कर सकें तथा जो यह आश्वासन दे सके कि सभी देशो के मनुष्य भय तथा युद्ध से मुक्त रहकर अपना जीवन व्यतीत कर सकेंगे।

7. इस प्रकार की शान्ति वाह्य सागरो एवं महासागरो को निर्बाध पार करने का अधिकार प्रदान कर सकेगी।

8. *उनका विश्वास है कि संसार के सभी राष्ट्रो को वास्तविक एव आध्यात्मिक कारणों की दृष्टि से बल प्रयोग त्याग देना चाहिए क्योंकि यदि राज्य स्थल,* जल अथवा वायु सम्बन्धी सैन्य शस्त्रो का प्रयोग करते रहेंगे, जो उनकी सीमाओं के बाहर आक्रमण की धमकी का काम करते हो अथवा जिनसे ऐसी सम्भावना हो, तो शान्ति स्थायी नही रह सकती। अतएव उनका विश्वास है कि सामान्य सुरक्षा की एक विस्तृत एव स्थायी व्यवस्था की स्थापना के समय तक ऐसे राज्यों का निःशस्त्रीकरण आवश्यक है।

स्मरणीय है कि इस समय तक सयुक्तराज्य अमेरिका प्रत्यक्ष रूप से महायुद्ध में सम्मिलित नही हुआ था। ऐसा तो 7 दिसम्बर, 1941 को पर्ल हार्बर पर जापानी आक्रमण के बाद ही सम्भव हुआ। अटलांटिक चार्टर की यह घोषणा अमेरिकी राष्ट्रपति द्वारा 6 जून, 1941 को अंग्रेजो को भेजे गए उस सन्देश के अनुरूप थी जिसमे अमेरिका का उद्देश्य चार स्वतन्त्रताओं (Four Freedoms) की प्राप्ति घोषित किया गया था। ये चार स्वतन्त्रताएँ थीं—(1) भाषण तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, (2) निजी विश्वास के अनुसार ईश्वरोपासना की स्वतन्त्रता, (3) अभाव और दरिद्रता को समाप्त कर गरीबी तथा बेकारी को दूर करना, एवं (4) निःशस्त्रीकरण द्वारा आक्रमण के भय से मुक्ति तथा निर्बल राष्ट्रो को अभयदान।

सयुक्त राष्ट्रों की घोषणा
(The United Nations' Declaration)

हिटलर के विरुद्ध सुदृढ सगठन और शक्ति का निर्माण करने के लिए संयुक्त राष्ट्रो की यह घोषणा 1 जनवरी, 1942 को की गई। जर्मनी, इटली और अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने जापान के विरुद्ध सघर्ष करने वाली शक्तियों के गुट का नामकरण 'सयुक्त राष्ट्र' (United Nations) किया। इस समय तक इन राष्ट्रो की सख्या 21 हो चुकी थी। ये 21 राष्ट्र निम्नलिखित थे—अमेरिका, इंगलैण्ड, रूस, चीन,

आस्ट्रेलिया, बेल्जियम, कनाडा, क्यूबा, चेकोस्लोवाकिया, डोमीनिकन रिपब्लिक, एल सेलवेडर, यूनान, ग्वाटेमाला, हैटी, होण्डूरस, भारत, लग्जमबर्ग, हालैण्ड, न्यूजीलैण्ड, निकारगुआ, नार्वे, पनामा, पोलैण्ड, दक्षिण अफ्रीका और यूगोस्लाविया। इन सभी राष्ट्रों ने एक घोषणापत्र द्वारा अटलांटिक चार्टर के सिद्धान्तों का समर्थन किया। उन्होंने यह प्रतिज्ञा की कि वे धुरीराष्ट्रों के साथ कभी भी पृथक् सन्धि नहीं करेंगे और उनके विरुद्ध संघर्ष में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देंगे।

कासा ब्लाका सम्मेलन (14-24 जनवरी, 1943)

20 मई, 1942 से जनवरी 1943 तक संयुक्त राष्ट्रों के अनेक सम्मेलन हुए। 14 से 24 जनवरी, 1943 तक मोरक्को के कासा ब्लांका स्थान पर चर्चिल, रूजवेल्ट तथा जनरल डिगॉल का एक सम्मेलन हुआ जिसमें यह घोषणा की गई कि उत्तरी अफ्रीका पर आक्रमण करने से पूर्व इटली पर आक्रमण कर उसे पराजित कर दिया जाए।

मई-जून, 1943 में 44 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने खाद्य एवं कृषि सम्मेलन में लाखों विस्थापित लोगों के भोजन की समस्या पर विचार किया और इस प्रकार आगामी खाद्य एवं कृषि संगठन की नींव डाली।

मास्को सम्मेलन (19-30 अक्तूबर, 1943)

19 अक्तूबर, 1943 को मास्को में मित्रराष्ट्रों के प्रतिनिधियों का एक महत्त्वपूर्ण सम्मेलन हुआ जो 30 अक्तूबर तक चालू रहा। इस सम्मेलन से पहली बार युद्ध के सम्बन्ध में एक समझौता सम्पन्न हुआ। पहली बार ही मित्रराष्ट्रों ने धुरी-राष्ट्र—आस्ट्रिया, जर्मनी, इटली के सम्बन्ध में अपनी नीति की घोषणा की और [illegible] वार सामान्य सुरक्षा के महत्त्वपूर्ण तथ्यों के सम्बन्ध में कुछ निर्णय लिए। इस [illegible], में संयुक्तराज्य अमेरिका, ग्रेट-ब्रिटेन और रूस सम्मिलित हुए।

सम्मेलन में तीनों सरकारों में सामञ्जस्य स्थापित करने तथा यूरोप की समस्याओं पर विचार करने के लिए लन्दन में यूरोपीय परामर्शदाता आयोग स्थापित करने का निर्णय लिया गया। यह व्यवस्था भी की गई कि युद्धोपरान्त आस्ट्रिया को पुनः जर्मनी से पृथक् कर दिया जाएगा। इटली के बारे में यह निश्चय किया गया कि फासिस्टवाद को जड़-मूल से समाप्त कर दिया जाए। जर्मनी के भविष्य के बारे में यह व्यवस्था की गई कि महायुद्ध के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों को कठोर दण्ड दिया जाए।

इसी सम्मेलन में सुरक्षा और शान्ति कायम रखने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना का निश्चय हुआ। यही संगठन बाद में संयुक्त राष्ट्रसंघ के रूप में विकसित हुआ।

काहिरा सम्मेलन (22-25 नवम्बर, 1943)

22-25 नवम्बर, 1943 में मिस्र की राजधानी काहिरा में रूजवेल्ट, चर्चिल और च्यांग काई शेक का एक सम्मेलन हुआ जिसमें ये निश्चय किए गए—

(1) जापान के विरुद्ध जल, थल और वायु सेनाओं द्वारा पूरी कार्यवाही की जाएगी,

(2) चीन को यह आश्वासन दिया गया कि सन् 1914 से तब तक जापान ने उसके जो प्रदेश अर्थात् मंचूरिया, फारमोसा तथा पेस्काडोरेज के 48 टापू बलपूर्वक छीने थे, वे सब उसे वापस दिला दिए जाएँगे, (3) 'तीनों महान् शक्तियों' को कोरिया की जनता की दासता का ध्यान है। उनका यह सकल्प है कि कोरिया को स्वतन्त्र राष्ट्र बनाया जाएगा।

काहिरा सम्मेलन मे सोवियत रूस ने भाग नही लिया था।

तेहरान सम्मेलन (28 नवम्बर—1 दिसम्बर, 1943)

इस सम्मेलन मे चर्चिल, रूजवेल्ट और स्टालिन ईरान की राजधानी तेहरान मे एकत्र हुए। यहाँ तीनों मित्रदेशों के सेनाध्यक्षो ने जर्मन सेनाओं के विनाश की योजनाएँ तैयार कीं। तेहरान सम्मेलन के निर्णयों को तीन भागो मे विभाजित किया गया। प्रमुख निर्णय ये थे—

प्रथम भाग मे जर्मनी के विरुद्ध लडने का दृढ निश्चय किया गया और अपनी विजय पर विश्वास व्यक्त किया गया।

दूसरे भाग मे 'तीन बडो' (Big Three) ने ईरान की स्वतन्त्रता, सर्वोच्च सत्ता और प्रादेशिक अखण्डता कायम रखने की इच्छा व्यक्त की

तृतीय भाग एक गुप्त समझौते जैसा था जिसमे यह व्यवस्था की गई थी मित्रराष्ट्रों द्वारा दूसरा मोर्चा खोलते ही सोवियत सघ जर्मनी पर भीषण आक्रमण कर देगा।

इस सम्मेलन ने यह भी निर्णय किया कि छोटे और बडे सभी राष्ट्रो को सयुक्त राष्ट्रसघ का सदस्य बनाने के लिए आमन्त्रित किया जाएगा।

ब्रिटेन वुड्स सम्मेलन (21 जुलाई, 1944)

सयुक्त राष्ट्रों के इस सम्मेलन मे पुनर्निर्माण और विकास के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष स्थापित करने का भी निश्चय किया गया।

डम्बर्टन ओक्स सम्मेलन (अगस्त—दिसम्बर, 1944)

21 अगस्त से 7 दिसम्बर, 1944 तक सयुक्तराज्य अमेरिका, सोवियत रूस, ग्रेट-ब्रिटेन और चीन के प्रतिनिधियो ने वाशिंगटन के निकट डम्बर्टन ओक्स नामक स्थान पर एक अन्तर्राष्ट्रीय भावी सगठन 'सयुक्त राष्ट्रसघ' की रूपरेखा के सम्बन्ध मे विचार विमर्श किया। इस सम्मेलन के निर्णय अन्तिम नही थे, परन्तु सयुक्त राष्ट्रसघ के चार्टर का बहुत कुछ आधार यही सम्मेलन बना। इस सम्मेलन मे सयुक्त राष्ट्रसघ के मुख्य अगों/महासभा, सुरक्षा-परिषद्, सचिवालय एवं अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्बन्ध मे विचार किया गया और चार्टर का प्रथम प्रारूप तैयार किया गया। सम्मेलन मे सघ-सचिवालय द्वारा कार्यों को अधिक क्षमतापूर्वक सम्पन्नता के लिए एक आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् बनाने एव शान्ति स्थापित करने वाली अन्तर्राष्ट्रीय सशस्त्र-सेनाओं की व्यवस्था के लिए सैनिक स्टाफ समिति के निर्णय के भी सुझाव दिए गए। इस सम्मेलन मे इस सस्था के सम्बन्ध मे पश्चिमी राष्ट्रों और रूस के बीच कुछ मतभेद प्रकट हुए।

सम्मेलन का सर्वाधिक विवादास्पद विषय था सुरक्षा-परिषद् के सदस्यों को निषेधाधिकार (Veto Power) प्रदान करना। काफी वाद-विवाद के बाद भी कोई ठोस परिणाम नहीं निकला। यह निर्णय लिया गया कि तीनों राज्यों के शासनाध्यक्ष स्वयं इस प्रश्न का समाधान करेंगे।

क्रीमिया (याल्टा) सम्मेलन (4-11 फरवरी, 1945)

महायुद्धकालीन अन्तिम महत्त्वपूर्ण सम्मेलन याल्टा नामक स्थान पर 4 फरवरी, 1945 को हुआ। यह 11 फरवरी, 1945 तक चालू रहा। इस सम्मेलन में अनेक नेताओं ने भाग लिया जिनमें रूजवेल्ट, चर्चिल, स्टालिन, ईडन, मोलोटोव मार्शल ब्रूक, एण्टोनोव, हार्फकिस, केडोगन विशिस्की आदि प्रमुख थे।

सुरक्षा परिषद् में मतदान की क्या पद्धति हो, इस सम्बन्ध में इस सम्मेलन में महत्त्वपूर्ण निर्णय लिया गया जो 'याल्टा वोटिंग फार्मूला' के नाम से जाना जाता है। सम्मेलन में रूजवेल्ट और स्टालिन ने यह समझौता किया कि सुरक्षा परिषद् प्रक्रिया सम्बन्धी मामलों में 11 सदस्यों में से 7 के बहुमत से तथा अन्य आवश्यक विषयों में 7 स्वीकारात्मक मतों से निर्णय लें। इसमें सुरक्षा परिषद् के पाँचों सदस्य संयुक्तराज्य अमेरिका, ग्रेट-ब्रिटेन, सोवियत संघ, फ्रांस और चीन की सहमति अवश्य होनी चाहिए।

इस सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्रसंघ के अतिरिक्त यूरोप के नवीन मानचित्र तथा सुदूरपूर्व, मध्यपूर्व आदि के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण विचार-विमर्श हुआ। इस सम्मेलन ने जिन समस्याओं को जन्म दिया उनका युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। सम्मेलन ने जहाँ एक तरफ अन्तर्राष्ट्रीय समझौते की आधारशिला रखी वहाँ दूसरी तरफ मित्रराष्ट्रों में आपसी मतभेदों को भी उत्पन्न किया।

याल्टा सम्मेलन के कुछ निर्णय उस समय गुप्त रखे गए और पूरा विवरण सन् 1955 में संयुक्तराज्य अमेरिका के स्टेट डिपार्टमेंट द्वारा प्रकाशित किया गया। इस सम्मेलन के महत्त्वपूर्ण निर्णय इस प्रकार थे—

1. विश्व-संगठन के सम्बन्ध में 25 अप्रैल, 1945 को सान-फ्रांसिसको (अमेरिका) में संयुक्तराष्ट्रों का एक सम्मेलन आमन्त्रित किया जाए। 5 राज्यों—संयुक्तराष्ट्र अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, सोवियत रूस, चीन और फ्रांस को इस संघ की सुरक्षा परिषद् का स्थायी सदस्य बनाया जाए।

2. यूरोप में नाजी और फासिस्ट दासता से मुक्त देशों में अटलांटिक चार्टर के अनुसार प्रजातान्त्रिक सरकारें स्थापित की जाएँ तथा आक्रमणकारी देशों द्वारा छीने हुए प्रदेश उन राज्यों को वापस लौटा दिए जाएं जिनसे उन्हें छीना गया था।

3. यूरोप में शान्ति और सुरक्षा के लिए जर्मनी का निःशस्त्रीकरण किया जाए तथा उससे क्षतिपूर्ति वसूल की जाए। क्षतिपूर्ति की राशि 20 अरब डॉलर निश्चित की गई और यह निर्णय हुआ कि इसका आधा भाग सोवियत संघ को दिया जाएगा।

4. पोलैण्ड की पूर्वी सीमा 'कर्जन रेखा' की कुछ आवश्यक संशोधनों के साथ स्वीकार किया जाए तथा पोलैण्ड में यथाशीघ्र स्वतन्त्र सरकार की स्थापना हो।

5. यूगोस्लाविया में यथाशीघ्र मार्शल टीटो और सुबासिच (Subasitch) के मध्य सम्पन्न समझौते के आधार पर नई सरकार की स्थापना की जाए।

6. यूरोप मे युद्ध की समाप्ति के आगामी 3 महीनों में रूस ने जापान के विरुद्ध युद्ध घोषणा करने तथा मित्रराष्ट्रों को सहयोग देने का आश्वासन दिया।

7. जापान के विरुद्ध युद्ध छेड़ने का वचन देने के बदले में स्टालिन ने चर्चिल और रूजवेल्ट से सुदूरपूर्व के सम्बन्ध मे विशेष महत्त्वपूर्ण सुविधाएँ प्राप्त कीं। इन दोनों ने बाह्य मंगोलिया मे यथापूर्व स्थिति (Status-quo) स्वीकार की। सन् 1904 मे जापान के आक्रमण के फलस्वरूप जापान द्वारा हस्तगत कुछ प्रदेश भी रूस को देने का निश्चय किया गया।

बाह्य मंगोलिया तथा रेल सम्बन्धी समझौते के सम्बन्ध में चीन की स्वीकृति नहीं ली गई थी, अतः यह निश्चय किया कि राष्ट्रपति रूजवेल्ट चीन की स्वीकृति प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे और जापान की पराजय के बाद ही रूस को दी गई सुविधाओं को कार्यान्वित किया जाएगा। रूस चीन के साथ मैत्री सन्धि करेगा ताकि चीन को रूस की तरफ से किसी प्रकार का भय न रहे।

सान-फ्रांसिसको सम्मेलन (25 अप्रेल, 1945—26 जून, 1945)

संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर को अन्तिम रूप देने के लिए सान-फ्रांसिसको (अमेरिका) मे विश्व के 50 राष्ट्रों के 850 प्रतिनिधि एक सम्मेलन में एकत्रित हुए और उन्होंने पूर्ण विचार विनिमय के बाद विश्व संगठन का एक चार्टर तैयार किया। 26 जून, 1945 को सान-फ्रांसिसको के वेटरन मेमोरियल हाल मे 50 राष्ट्रों के 850 प्रतिनिधियों ने उस चार्टर पर हस्ताक्षर किए और इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ का जन्म हुआ। इस चार्टर में संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्य सिद्धान्त और उसका विधान समाविष्ट था। ऐसा माना जाता है कि विश्व मे ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन पहले कभी नहीं हुआ था। अमेरिका के राष्ट्रपति ट्रूमैन ने सम्मेलन के अन्तिम अधिवेशन मे भाषण देते हुए कहा, "संयुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर जिस पर आपने अभी हस्ताक्षर किए हैं, एक ऐसी सुदृढ नींव है जिस पर हम एक सुन्दर विश्व का निर्माण कर सकते हैं। इसके लिए इतिहास आपका सम्मान करेगा।"

24 अक्तूबर, 1945 को संयुक्त राष्ट्रसंघ का यह चार्टर लागू हुआ। अतः यही दिन विश्व मे 'संयुक्तराष्ट्र दिवस' के नाम से मनाया जाता है। 10 फरवरी, 1946 को लन्दन के वैस्टमिनिस्टर हाल मे संयुक्त राष्ट्रसंघ की प्रथम बैठक हुई। 15 फरवरी, 1946 को इस संघ का प्रथम अधिवेशन समाप्त हुआ। संयुक्त राष्ट्रसंघ का प्रधान कार्यालय पहले लेकसक्सेस (अमेरिका) मे रखा गया। इसके लिए न्यूयॉर्क मे एक भव्य विशाल भवन तैयार किया गया जो 14 अक्तूबर, 1952 को बनकर पूरा हुआ और तब से ही संघ का कार्यालय न्यूयॉर्क मे इसी भवन मे है।

पोट्सडम (बर्लिन) सम्मेलन (17 जुलाई–2 अगस्त, 1945)

7 मई, 1945 को जर्मनी द्वारा बिना शर्त आत्म-समर्पण और युद्ध विराम सन्धि पर हस्ताक्षर करने के बाद यूरोप मे युद्ध समाप्त हो गया। अब यूरोप का

नवीन मानचित्र तैयार करने तथा शत्रुराष्ट्रों के साथ की जाने वाली सन्धियों की रूपरेखा तैयार करने की दृष्टि से बर्लिन के निकट पोट्सडम नामक स्थान पर 'तीन बड़ों' का सम्मेलन हुआ।

इस सम्मेलन मे सयुक्तराज्य अमेरिका, सोवियत सघ और ग्रेट-ब्रिटेन ने निम्नलिखित निर्णय लिए—

1. शान्ति समझौते की आवश्यक प्रारम्भिक तैयारी करने के लिए एक परिषद् की स्थापना की जाए। इस परिषद् का तात्कालिक एव महत्वपूर्ण कार्य सयुक्त राष्ट्रसघ मे प्रस्तुत किए जाने के लिए इटली, रूमानिया, बल्गेरिया, हगरी तथा फिनलैण्ड, की सन्धियाँ, प्रादेशिक प्रश्नो का निपटारा तथा जर्मनी के साथ की जाने वाली सन्धि की तैयारी हो।

2. जर्मनी को अमेरिकी, ब्रिटिश, रूसी और फ्रेंच—इन चारो अधिकार-क्षेत्रो मे बाँट लिया जाए। जहाँ तक सम्भव हो सम्पूर्ण जर्मनी की जनता के साथ समान व्यवहार किया जाए। जर्मनी को सैनिक शक्ति तथा शस्त्रास्त्रो से रहित कर दिया जाए तथा नाजी दल को अवैध घोषित कर वहाँ प्रजातान्त्रिक शासन की स्थापना की जाए।

3. जर्मनी की युद्ध-क्षमता को नष्ट करने के लिए शस्त्रास्त्र, गोला-बारूद के उत्पादन और हर प्रकार के वायुयानो व युद्ध पोतो के निर्माण पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाए। जर्मन अर्थव्यवस्था को पुन सगठित करने के लिए कृषि और शान्तिपूर्ण गृह-उद्योगो के विकास पर अधिक बल दिया जाए।

4. जर्मनी अपने औद्योगिक कल-कारखानो को समाप्त करके युद्ध की क्षतिपूर्ति करे। रूस इस क्षतिपूर्ति का भाग अपने अधीन जर्मन प्रदेश तथा अपने विदेशी सस्थानो मे प्राप्त करे। अमेरिका, ब्रिटेन तथा अन्य देश जिनको क्षतिपूर्ति लेने का अधिकार है, जर्मनी के पश्चिमी भाग तथा उससे सम्बन्धित विदेशी सस्थानों से क्षतिपूर्ति प्राप्त करें।

5. जर्मनी की सम्पूर्ण जल-शक्ति को ब्रिटेन अमेरिका और रूस मे विभक्त कर दिया जाए तथा उसकी अधिकांश पनडुब्बियो को जल मे डुबो कर नष्ट कर दिया जाए। जर्मन व्यापारिक जल-साधनो को रूस, अमेरिका और ब्रिटेन मे बाँट लिया जाए।

6. सम्मेलन मे पोलैण्ड के सम्बन्ध मे भी कुछ निश्चय किए गए। यह तय हुआ कि जर्मनी के साथ अन्तिम शान्ति समझौता होने तक तीन क्षेत्रो—ओडर तथा नायशी नदियो के पूर्व स्थित जर्मन विस्तृत प्रदेश, भूतपूर्व स्वाधीन नगर डेंजिग का क्षेत्र तथा पूर्वी प्रशा के दक्षिणी प्रदेश को पोलिश-प्रशासन के अन्तर्गत रखा जाए। पोलैण्ड की अन्तरिम सरकार सार्वजनिक मताधिकार के आधार पर शीघ्रातिशीघ्र पोलैण्ड मे स्वतन्त्र चुनाव कराए।

7. इटली, हगरी, फिनलैंड तथा बल्गेरिया के सम्बन्ध मे यह निर्णय लिया गया कि इनके साथ यथाशीघ्र शान्ति-सन्धियाँ की जाए और इन्हे सयुक्त राष्ट्रसघ का सदस्य बना लिया जाए।

देशों के साथ शान्ति-सन्धियाँ करने के प्रश्नों पर विचार किया गया। यह व्यवस्था की गई कि फ्रांस, ब्रिटेन, अमेरिका तथा रूस मिलकर इटली के साथ की जाने वाली सन्धि का प्रारूप (ड्राफ्ट) तैयार करेंगे; रूस, अमेरिका और ब्रिटेन द्वारा बल्कान क्षेत्रों के लिए सन्धि का प्रारूप तैयार किया जाएगा; फिनलैण्ड के लिए प्रारूप तैयार करने का कार्य ब्रिटेन तथा रूस करेंगे। तत्पश्चात् इन सभी प्रारूपों पर मित्रराष्ट्रों और उनके समर्थक राष्ट्रों के एक सामान्य सम्मेलन में विचार किया जाएगा। इस सम्मेलन की सिफारिशों को ध्यान मे रखकर सन्धियों को अन्तिम रूप देने का कार्य विदेश-मन्त्रियों की परिषद् द्वारा होगा।

लन्दन की विदेश-मन्त्रियों की परिषद् के निर्णय के अनुसार पेरिस मे जनवरी, 1946 में शान्ति-सन्धियों के प्रारूपों को तैयार करने के लिए उप-विदेश मन्त्रियों की बैठकें आरम्भ हुईं। जुलाई के मध्य तक पाँच शान्ति-सन्धियों के प्रारूप तैयार कर लिए गए। पराजित राष्ट्रों के साथ शान्ति स्थापित करने के मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन महायुद्धकाल के विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों मे पहले ही किया जा चुका था। अत: प्रारम्भिक अवरोधों के निवारण के उपरान्त पेरिस में 29 जुलाई, 1946 से 15 अक्तूबर, 1946 तक 21 राष्ट्रों का एक सामान्य सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। काफी विचार-विमर्श के पश्चात् 10 फरवरी, 1947 को पेरिस मे 21 संयुक्त अथवा मित्रराष्ट्रों तथा 5 पराजित राष्ट्रों द्वारा इन सन्धियों पर हस्ताक्षर कर दिए गए। शान्ति-सन्धियों के अनुसमर्थन के लिए 15 सितम्बर, 1947 अन्तिम तिथि निश्चित की गई। इस तरह यूरोप के अधिकांश भू-भाग पर शान्ति की पुनरावृत्ति सम्भव हुई। फिर भी किसी भी पराजित राष्ट्र ने शान्ति-सन्धियों को सन्तोषजनक, न्याय-संगत और अच्छा नहीं माना तथा 'संशोधन आन्दोलन' का यथाशीघ्र सूत्रपात हो गया। आस्ट्रिया, जर्मनी और जापान के साथ शान्ति-सन्धियों के बारे में पारस्परिक मतभेदों की उग्रता बनी रही और गतिरोध कायम रहा। आस्ट्रिया के साथ 15 जुलाई, 1955 को शान्ति-सन्धि पर हस्ताक्षर किए, लेकिन सोवियत रूस और उसके साथ ही पोलैण्ड तथा चेकोस्लोवाकिया हस्ताक्षरकर्त्ताओं मे सम्मिलित नहीं हुए। जापान के साथ अक्तूबर, 1956 मे रूस द्वारा एक समझौता सम्पन्न हुआ और तब दोनों देशों के बीच युद्ध-स्थिति का अन्त हुआ।

जिन 5 शान्ति-सन्धियों पर 21 संयुक्तराष्ट्रों और 5 पराजित राष्ट्रों ने पेरिस मे हस्ताक्षर किए वे निम्नलिखित थीं—

इटली के साथ सन्धि (Peace Treaty with Italy)

इटली के साथ हुई सन्धि के अनुसार इटली के अधिकांश उपनिवेश उससे ले लिए गए। इटली के जो प्रदेश से संलग्न थे, उनमे से कुछ फ्रांस को दे दिए गए। लगभग 3 हजार वर्गमील का क्षेत्र और एड्रियाटिक सागर मे कुछ द्वीप इटली से लेकर युगोस्लाविया को दे दिए गए। यूनान के समीप स्थित इटली के कई द्वीप यूनान को प्राप्त हुए। ट्रीस्ट को स्वतन्त्र प्रदेश बना दिया गया।

इटली को अफ्रीका मे लीबिया, इरिट्रिया (Eritrea) और सोमालीलैण्ड के उपनिवेशों से हाथ धोना पड़ा।

इटली पर 36 करोड डॉलर का हर्जाना लादा गया जो सात वर्षों मे अदा किया जा सकता था। इस धन को यूनान, रूस, एबीसीनिया, अल्बानिया और यूगोस्लाविया को दिए जाने का निश्चय किया गया।

सन्धि द्वारा इटली की सैनिक शक्ति पर पर्याप्त प्रतिबन्ध लगा दिए गए। इसके अतिरिक्त फ्रेंच और यूगोस्लाव सीमान्तों पर इटली की किलेबन्दी को नष्ट कर दिया गया। इसी प्रकार सिसली और सार्डीनिया के समुद्रतटों पर भी इटली ने जो किले बना रखे थे उन्हें नष्ट कर दिया गया। परमाणु शस्त्रों, पनडुब्बियों, तारपीडों, विमानवाहक जहाजों आदि के निर्माण पर प्रतिबन्ध लगा दिए गए। इस सन्धि का कुल मिलाकर परिणाम यह निकला कि न केवल इटली के सम्पूर्ण औपनिवेशिक साम्राज्य का अन्त हो गया बल्कि इटली एक तृतीय श्रेणी की शक्ति रह गया।

रूमानिया के साथ सन्धि (Peace Treaty with Rumania)

रूमानिया से बेसरबिया और उत्तरी बकाविना छीन कर रूस को दे दिए गए। दोब्रुजा का प्रदेश बल्गेरिया को मिला। हंगरी से ट्रांसिलवानिया लेकर रूमानिया को लौटा दिया गया। यह भी कहा गया कि रूमानिया हर्जाने के रूप में रूस को आठ साल में 30 करोड डॉलर का सामान दे। इसके अतिरिक्त रूमानिया का काफी निःशस्त्रीकरण भी कर दिया गया।

बल्गेरिया के साथ सन्धि (Peace Treaty with Bulgaria)

बल्गेरिया की जनवरी, 1941 की सीमाओं का पुनर्गठन हुआ। सन्धि द्वारा इसका कोई प्रदेश नहीं छीना गया अपितु प्रदेश उसे रूमानिया से दक्षिणी दोब्रुजा का प्राप्त हुआ, किन्तु उस पर इटली और रूमानिया की भांति विभिन्न सैनिक प्रतिबन्ध लगा दिए गए। यह भी निश्चित हुआ कि बल्गेरिया अपने यूनानी सीमान्त पर किसी प्रकार की स्थायी किलेबन्दी नहीं कर सकेगा और 8 वर्षों की अवधि में 45 करोड़ डॉलर यूनान को और 2 5 करोड़ डॉलर यूगोस्लाविया को क्षतिपूर्ति के रूप में देगा।

हंगरी के साथ सन्धि (Peace Treaty with Hungary)

हंगरी का ट्रांसिलवानिया प्रदेश रूमानिया को और स्लोवाकिया प्रदेश चेकोस्लोवाकिया को लौटा दिया गया। हंगरी पर 20 करोड डॉलर का हर्जाना भी लगाया गया तथा निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी कुछ प्रावधान भी किए गए।

फिनलैण्ड के साथ सन्धि (Peace Treaty with Finland)

रूस और फिनलैंड के बीच सन् 1930 की सन्धि की पुष्टि कर दी गई। इस सन्धि के अनुसार रूस ने अपनी सीमा से लगे हुए फिनलैण्ड के सारे प्रदेश ले लिए थे। अब इन प्रदेशों पर रूस का अधिकार स्वीकार कर लिया गया। फिनलैण्ड द्वारा 8 साल में रूस को 100 करोड रुपये चुकाना निश्चित किया गया। फिनलैण्ड पर सैनिक प्रतिबन्ध भी लगाए गए। क्षतिपूर्ति के रूप मे फिनलैण्ड द्वारा 8 वर्षों में सोवियत संघ को 30 करोड़ डॉलर वस्तुओं के रूप मे भुगतान करना निश्चित हुआ।

युद्धोत्तर शान्ति-प्रयासों के फलस्वरूप इस प्रकार पाँच शान्ति-सन्धियाँ सम्पन्न की गईं। इनके द्वारा पराजित राष्ट्रों को अपने आक्रमणकारी कार्यों के लिए समुचित

दण्ड मिला और विजयी राष्ट्रों को क्षतिपूर्ति के रूप मे धन एवं प्रदेश दिलाने का प्रबन्ध किया गया। शान्ति-संधियों ने यूगोस्लाविया को बल्कान प्रायद्वीप मे सर्वशक्तिशाली राष्ट्र बना दिया जिसके परिणामस्वरूप वह इटली का प्रतिस्पर्द्धी बन गया। आर्थिक दृष्टिकोण से सर्वाधिक लाभ रूस को हुआ क्योंकि उसको पाँचों राष्ट्रों पर लगायी गई क्षतिपूर्ति का 70 प्रतिशत भाग अर्थात् 90 करोड डॉलर वसूल करने का अधिकार मिला। राजनीतिक प्रभाव की दृष्टि से भी पूर्वी यूरोप मे रूस का अधिकार स्थापित हो गया। 29 जून, 1945 की सन्धि के अनुसार उसे चेकोस्लोवाकिया से 'सबकारपेथियन रूथेनिया' मिला और पोलैण्ड से 16 अगस्त, 1945 की संधि द्वारा पूर्वी पोलैण्ड का एक बड़ा भाग प्राप्त हुआ। इन शान्ति-संधियों से पश्चिमी राष्ट्रों को आर्थिक तथा प्रादेशिक दृष्टि से किसी प्रकार का लाभ नहीं हुआ इसके विपरीत, भावी समझौतों मे रूस की माँगें उत्तरोत्तर बढ़ती गई जिनके परिणामस्वरूप मित्रराष्ट्र जर्मनी और आस्ट्रिया के साथ सामूहिक रूप से शान्ति-संधियाँ करने मे असफल रहे।

इटली, हंगरी, बल्गेरिया, रूमानिया और फिनलैण्ड के साथ सम्पन्न की गई शान्ति-संधियाँ यद्यपि 15 सितम्बर, 1947 से अन्तिम रूप में लागू करदी गईं तथापि इन संधियों का पूरी तरह पालन नही किया गया और इनके अनेक प्रावधानों का उल्लंघन हुआ अथवा उनकी उपेक्षा की गई।

जर्मनी, आस्ट्रिया और जापान की नयी व्यवस्था

मुख्य पराजित शत्रु-देश जर्मनी, आस्ट्रिया और जापान मे नई व्यवस्थाएँ स्थापित की गई।

आत्म-समर्पण करते समय जर्मनी मे एडमिरल डायनिट्स की अन्तर्कालीन सरकार सत्तारूढ थी। मित्रराष्ट्रों ने इस सरकार को मान्यता न देकर जर्मनी का शासन-भार स्वय सम्भाल लेने का निश्चय किया।

जर्मनी को चार भागो मे बाँट कर एक-एक भाग का शासन अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस और रूस को सौंपा गया। इस व्यवस्था के अनुसार पूर्वी जर्मनी पर रूस का, पश्चिमी जर्मनी पर अमेरिका का, फ्रांस से संलग्न भाग पर फ्रांस का और बेल्जियम हॉलेण्ड की सीमा से सलग्न जर्मन प्रदेशो पर इंग्लैण्ड का अधिकार हो गया। पूर्वी जर्मनी पर रूस का कब्जा हो जाने से बर्लिन के चारों ओर का प्रदेश रूसी अधिकार मे आ गया। पर खास बर्लिन को भी चार भागो मे विभक्त कर अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस और रूस का पृथक्-पृथक् शासन स्थापित किया गया।

इस तरह सम्पूर्ण जर्मनी मे मित्रराष्ट्रों का सैनिक शासन स्थापित हो गया। हर्जाने के रूप मे जर्मनी पर एक भारी रकम लाद दी गई। इस सम्बन्ध मे यह निश्चय किया गया कि केवल कुछ ही मशीनें जर्मनी मे रहने दी जाएँ। शेष सब मशीनें, कारखाने, युद्ध-सामग्री जहाज आदि जर्मनी से हटा कर रूस, फ्रांस, पोलैण्ड, बेल्जियम, आदि देशो मे विभक्त कर दिए जाएँ।

जर्मनी में लागू की गई इस व्यवस्था का निर्णय पोट्सडम सम्मेलन में ही कर लिया गया था जो 17 जुलाई, 1945 को हुआ था। इसका उल्लेख आगे यथास्थान किया गया है। वैसे जर्मनी के प्रश्न पर इतने व्यापक मतभेद प्रकट होते रहे हैं कि अनेक प्रयत्नों के बावजूद अभी तक इस सम्बन्ध में कोई विधिवत् सन्धि सम्पन्न नहीं हो सकी है।

आस्ट्रिया की व्यवस्था

जर्मनी की भाँति ही आस्ट्रिया में भी सैनिक शासन की स्थापना की गई। आस्ट्रिया की राजधानी वियना को चार भागों में विभाजित कर दिया गया। प्रत्येक भाग पर एक-एक मित्रराष्ट्र का अधिकार स्थापित हुआ। सन् 1955 के प्रारम्भ तक आस्ट्रिया का प्रश्न अधर में लटका रहा। बाद में काफी विचार-विमर्श के उपरान्त 15 जुलाई, 1955 को आस्ट्रिया के साथ शान्ति-सन्धि पर हस्ताक्षर हो पाए। इस सन्धि द्वारा 12 मार्च, 1938 के बाद 17 वर्ष तक पराधीन रहने के पश्चात् आस्ट्रिया को स्वाधीनता एवं सर्वोच्च प्रभुता प्राप्त हुई। आस्ट्रिया राज्य की सन्धि पर संयुक्तराज्य अमेरिका सोवियत रूस, ग्रेट-ब्रिटेन और आस्ट्रिया ने हस्ताक्षर किए। सन्धि द्वारा आस्ट्रिया यद्यपि एक प्रभुत्व-सम्पन्न, स्वतन्त्र और प्रजातन्त्रात्मक राज्य' (A Sovereign, Independent and Democratic State) के रूप में उदित हुआ, तथापि उसके द्वारा यह वचन दिया गया कि वह जर्मनी के साथ किसी प्रकार का राजनीतिक या आर्थिक संघ नहीं बनाएगा।

जापान की व्यवस्था

जुलाई-अगस्त, 1945 के पोट्सडम सम्मेलन में जापान के भविष्य के सम्बन्ध में कुछ व्यापक निश्चय किए गए थे। एक निश्चय यह भी था कि जापान के सैनिक तत्वों का पूर्ण विनाश होने तक मित्रराष्ट्रों का जापानी प्रदेश पर सैनिक अधिकार बना रहेगा। इस निश्चय के अनुरूप दिसम्बर, 1945 में मास्को में संयुक्तराज्य अमेरिका, ब्रिटेन, सोवियत संघ तथा चीन के प्रतिनिधियों को एक मित्र-राष्ट्रीय संयुक्त परिषद् का निर्माण कर दिया गया जिसका अध्यक्ष जनरल मैकार्थर को बनाया गया। वास्तव में जापान पूर्ण रूप से अमेरिका के नियन्त्रण में आ गया क्योंकि यह अमेरिका ही था जिसने अणु बम गिराकर जापान को परास्त किया था। प्रारम्भ में जापान की भूमि पर ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलेण्ड की सेनाएँ थीं, परन्तु 1947 के बाद वहाँ केवल अमेरिकी सेना ही रह गई और जनरल मैकार्थर जापान का एक प्रकार से सर्वेसर्वा बन गया।

विजेता राष्ट्रों में जापान के भविष्य के बारे में गहरे मतभेद होने से एक लम्बे समय तक उसके साथ (जापान के साथ) सन्धि-वार्ता आरम्भ नहीं की जा सकी। अन्त में जनवरी, 1951 में अमेरिका के तत्कालीन विदेश-मन्त्री ने विभिन्न राष्ट्रों से परामर्श करने के उपरान्त सन्धि का एक प्रारूप तैयार किया जिसके अनुसार—

1. जापान की सर्वोच्च-सत्ता और प्रभुता केवल 4 बड़े और कुछ छोटे द्वीपों के एक लाख पचास हजार वर्गमील के क्षेत्र तक सीमित करदी गई।

2. जापान ने कोरिया की स्वतन्त्रता स्वीकार की, फारमोसा और क्यूराइल, सखालीन टापुओं पर अपने अधिकार का परित्याग किया और प्रशान्त महासागर में बोनिन व रयूकू टापुओं पर 2 अप्रैल, 1947 से अमेरिका की ट्रस्टीशिप स्वीकार की।

3. जापान ने चीन मे अपने सब अधिकारो को छोडना और मित्रराष्ट्रो के युद्ध-अपराध न्यायालय के निर्णयों को मानना स्वीकार किया।

4. जापान ने युद्ध पूर्व के ऋणो के भुगतान का दायित्व भी स्वीकार किया।

सन्धि मे और भी अनेक बातें सविस्तार दी गई हैं। डलेस के प्रयत्नों से अन्त मे 8 दिसम्बर, 1951 को इस प्रस्तावित जापानी सन्धि पर 48 राज्यों ने हस्ताक्षर कर दिए। सोवियत रूस, पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया अलग रहे। जापान के साथ होने वाली यह शान्ति-सन्धि 28 अप्रैल, 1952 से क्रियान्वित हुई। अक्तूबर, 1956 मे रूस और जापान के बीच एक समझौता हुआ जिसके द्वारा दोनों देशो के बीच युद्ध-स्थिति का अन्त हो गया। फिर भी दोनो के बीच कोई औपचारिक शान्ति-सन्धि अभी तक सम्पन्न नही हो सकी है।

स्पष्ट है कि व्यापक अग्रिम तैयारियों के बावजूद सन् 1945 के बाद शान्ति समझौते का कार्य सन् 1919 की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन सिद्ध हुआ। द्वितीय महायुद्ध के साथ ही विजेता राष्ट्रो मे युद्ध के उपरान्त मतभेद अधिकाधिक व्यापक और उग्रतर हो गए तथा पूर्व और पश्चिम के मध्य विश्व-शान्ति के लिए दुर्भाग्यपूर्ण शीत-युद्ध का श्रीगणेश हो गया।

युद्धोत्तर विश्व
(The Post-War World)

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर जिस नवीन युग का सूत्रपात हुआ उसमे अनेक 'नूतन क्षितिज उभरे नवीन प्रभुत्व उभरे, क्षेत्र बदले, नवीन प्रवृत्तियो और सिद्धान्तो का प्रादुर्भाव हुआ तथा अन्तर्राष्ट्रीय जगत् को नवीन समस्याओं का सामना करना पडा। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो की अनेक प्राचीन और परम्परागत मान्यताएं नष्ट हो गई'। युद्धोत्तर युग मे अनेक विरोधी प्रवृत्तियाँ एक साथ क्रियाशील हुई' और विभिन्न वाद' विश्व को प्रभावित करने लगे। यूरोपीय राष्ट्रों मे राष्ट्रवाद की दुर्बलताओं का भान हुआ। एशिया और अफ्रीका के नवोदित राष्ट्र राष्ट्रीय सम्प्रभुता की पवित्रता का प्रतिपादन करने लगे। ये प्रवृत्तियाँ समाप्त नही हुईं, वरन् आज भी अस्तित्व मे हैं।

यहाँ हमारा मन्तव्य द्वितीय महायुद्ध से अब तक के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का विश्लेषण करना नहीं है वरन् महायुद्ध से तुरन्त बाद जो नया मानचित्र निर्मित हुआ, जो प्रवृत्तियाँ उभरी और विश्व जिस नई दिशा मे अग्रसर हुआ उसका चित्रण मात्र करना है। युद्धोत्तर युग की इन घटनाओं, प्रवृत्तियो, नवीनताओं और विशेषताओं को सक्षेप में हम निम्नानुसार व्यक्त कर सकते हैं—

यूरोपीय प्रभुत्व का अन्त और एशिया व अफ्रीका का जागरण—जैसा कि पिछले अध्याय मे बताया जा चुका है, युद्धोत्तर नवीन युग की पहली महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति

यह थी कि विश्व इतिहास का निर्माता यूरोप पंगु बन गया और सोता हुआ एशिया व अफ्रीका तेजी से जाग्रत होने लगा। प्राचीन काल से विश्व को अनुशासित करने वाला यूरोप (World Dominating Europe) महायुद्ध के बाद नवीन 'समस्या-प्रधान यूरोप' (Problem Europe) बन गया। एशिया और अफ्रीका में यूरोपीय साम्राज्यवाद का उन्मूलन होने लगा। यूरोपीय साम्राज्यवाद और औपनिवेशिक व्यवस्था को कितना भारी आघात पहुँचा, इसका अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि जहाँ पहले ससार की जनसख्या का लगभग 33 प्रतिशत भाग स म्राज्यवाद के शिकजे मे था वह अब 3-4 प्रतिशत से भी कम रह गया है।

सिद्धान्तों का संघर्ष—द्वितीय महायुद्ध के बाद सिद्धान्तो व आदर्शों पर बल देने की प्रवृत्ति अन्तर्राष्ट्रीय जगत् की एक प्रमुख विशेषता बन गई। विभिन्न सिद्धान्तो, आदर्शों और विचारधाराओ का उदय हुआ जिनमे से कुछ मे साम्य था तो अधिकांश मे परस्पर विरोध। ये विभिन्न विचारधाराएँ विकसित होती रही और अपनी शाखाओ-प्रशाखाओ का विस्तार करती रही। अमेरिकी उदारवाद, साम्यवाद, तटस्थतावाद, राष्ट्रवाद, अन्तर्राष्ट्रीयतावाद आदि सिद्धान्तो अथवा आदर्शो ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक रगमच को प्रभावित किया और आज भी इनसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध व्यापक रूप से प्रभावित हैं।

द्वि-ध्रुवीयता का विकास और शीतयुद्ध का प्रारम्भ—युद्धोत्तर विश्व ने प्राचीन शक्ति सन्तुलन को छिन्न-भिन्न कर दिया और द्वि-ध्रुवीयता को जन्म दिया। युद्धोत्तर विश्व दो प्रमुख शक्ति-केन्द्रो या शक्ति-ध्रुवो मे बँट गया—सोवियत सघ और सयुक्त राज्य अमेरिका। दोनो ही के नेतृत्व मे दो विरोधी, शक्तिशाली गुटो का निर्माण होने लगा। जहाँ महायुद्ध काल मे अमेरिका, रूस और ब्रिटेन आदि ने परस्पर कधे से कधा मिलाकर 'धुरीराष्ट्रो' (जर्मनी, जापान व इटली) के विरुद्ध सघर्ष किया था और उनके राजनीतिज्ञो तथा कूटनीतिज्ञो ने सम्मेलन और पत्र-व्यवहार आदि मे एक दूसरे को सहयोग दिया था, वहाँ युद्ध के बाद इन राष्ट्रो मे सहयोग के सभी आधार समाप्त हो गए। युद्ध के समय के दोस्तों मे युद्ध के बाद, तीव्र मतभेद उत्पन्न हो गए। शीघ्र ही इन मतभेदो ने तनाव, वैमनस्य और मनोमालिन्य की ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी कि पश्चिमी और पूर्वी शिविरो के राज्यो मे बारूद के गोले-गोलियो से लडे जाने वाले सशस्त्र सघर्षो के न होते हुए भी कागज के गोले तथा अखबारो से लडा जाने वाला परस्पर विरोधी राजनीतिक प्रचार का तुमुल संग्राम छिड गया। इसी संग्राम को 'शीत-युद्ध' (Cold War) की सज्ञा दी गई।

प्रादेशिक संगठनों का निर्माण—युद्धोपरान्त विश्व मे रूस और अमेरिका दोनों ही शक्ति-केन्द्र अपनी भावी सुरक्षा के लिए प्रादेशिक सगठनो और सन्धियो के निर्माण की ओर अग्रसर हुए। साम्यवादियों का प्रसार एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका में स्थापित पूँजीवादी राष्ट्रो के साम्राज्य और उपनिवेशों मे घुन का काम कर रहा था। अतः जहाँ-कहीं भी साम्राज्यवादी शक्तियो को चुनौती मिली, वहीं पूँजीवादी राष्ट्रो ने इस चुनौती का डटकर मुकाबला करने की चेष्टा की। फलस्वरूप

अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर अनेक ऐसी सन्धियों और संगठनों का विकास होने लगा जिनका मुख्य लक्ष्य साम्यवाद के प्रसार को रोकना था। रूस व उसके साथी राष्ट्रो मे पश्चिमी शक्तियो के इन प्रयासो के विरुद्ध प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। इस तरह की क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम यह हुआ कि एक ओर अमेरिका के नेतृत्व मे पश्चिमी शक्तियो ने साम्यवादी राष्ट्रो के चारो ओर सुरक्षा-सगठनों का एक घेरा-सा डालकर साम्यवाद पर अकुश लगाने की चेष्टा की, दूसरी ओर रूस ने अपने व पश्चिमी राष्ट्रो के बीच के देशों मे साम्यवादी सरकारो की स्थापना कर अपनी सुरक्षा-व्यवस्था को अधिकाधिक सुदृढ बनाया। पश्चिमी शक्तियो ने नाटो, सीटो, बगदाद पैक्ट आदि का निर्माण किया तो साम्यवादी सुरक्षा सगठनो मे वारसा पैक्ट आदि सम्पन्न हुए। इसके अतिरिक्त कुछ अर्द्धसंघीय प्रादेशिक सगठनों का विकास भी होने लगा, जैसे यूरोपीय साझा बाजार।

मध्यपूर्व और सुदूरपूर्व की महत्ता में वृद्धि—द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त एशिया के दो क्षेत्र मध्यपूर्व और सुदूरपूर्व अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के क्षेत्र मे निरन्तर महत्त्वपूर्ण होते गए और यह स्थिति आज भी है। तेल के बहुल भण्डारों की खोज के फलस्वरूप मध्यपूर्व न केवल अन्तर्राष्ट्रीय नीति का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र वरन् विश्व का एक प्रधान सकट-स्थल भी बन गया है। दूसरी ओर एक महत्त्वपूर्ण तटस्थ राष्ट्र के रूप मे अगस्त, 1947 मे स्वतन्त्र भारत के उदय ने तथा एक महान् शक्ति के रूप मे लाल चीन के विकास ने सुदूरपूर्वीय क्षेत्र को विश्व के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रदेशों की श्रेणी मे ला दिया है। इस क्षेत्र मे चीन विशेष रूप से अमेरिका का घोर प्रतिद्वन्द्वी बन गया है।

विश्व-सरकार अथवा एक विश्व की भावना का विकास—युद्धोपरान्त युग मे जिस महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति का उदय हुआ, वह अन्तर्राष्ट्रीयतावाद, एक विश्व का स्वप्न अथवा विश्व सरकार की भावना है। यह कहा जाने लगा है कि "यदि आप विश्व मे स्थायी रूप से शान्ति चाहते हैं और तृतीय विश्व-युद्ध मे अणु-शक्ति के प्रकोप से मानवता की रक्षा करना चाहते हैं तो विश्व के सभी राष्ट्रो को मिलाकर एक विश्व-सघ का निर्माण किया जाना चाहिए जिसमें शान्ति और व्यवस्था का काम विश्व-सरकार को सौंप दिया जाए।" 'सयुक्त राष्ट्रसघ' की स्थापना इस दिशा मे एक *प्रभावशाली कदम माना जा सकता है, तथापि आज भी बहुलता ऐसे ही विचारकों* की है जो विश्व-सरकार के विचार को अव्यावहारिक मानते हैं।

निष्कर्ष रूप मे सन् 1945 के बाद का विश्व विभिन्न सिद्धान्तों, रूपों, विचारो और आदर्शों की सघर्ष-स्थली बना है। आणविक आयुधो की भयानकता ने विश्व की महाशक्तियों को सन्तुलन और विवेक से काम लेने को बाध्य कर दिया है। साथ ही शक्ति के नए केन्द्र विकसित होते जा रहे हैं जिनसे विश्व का द्वि-ध्रुवीय (Bipolar) चित्र धूमिल पड रहा है और विश्व बहुकेन्द्रवाद (Polycentricism) की ओर बढता प्रतीत हो रहा है।

2 संयुक्त राष्ट्रसंघ, इसका विधान और कार्य-प्रणाली

(THE UNITED NATIONS, ITS STRUCTURE AND WORKING)

"संयुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर जिस पर आपने भी हस्ताक्षर किए हैं, एक ऐसी शक्तिशाली नींव है जिस पर एक सुन्दर विश्व का निर्माण किया जा सकता है। इसके लिए इतिहास आपका सम्मान करेगा।"—राष्ट्रपति ट्रूमैन

प्रथम महायुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना के लिए राष्ट्रसघ अस्तित्व मे आया। अनेक दुर्बलताओ और महाशक्तियो के असहयोग के कारण वह अपने उद्देश्य मे असफल रहा। सन् 1939 मे द्वितीय महायुद्ध छिड गया और मित्रराष्ट्र एक नई प्रभावशाली विश्व-सस्था स्थापित करने की योजना बनाने लगे।

सयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना

महायुद्धकाल में एक नवीन अन्तर्राष्ट्रीय सस्था की स्थापना की दिशा मे अनेक कदम उठाए गए जिनमे ये थे[1]—

14 अगस्त, 1941—सयुक्तराज्य अमेरिका और ब्रिटेन शान्ति के आधारभूत सिद्धान्तो पर सहमत हो गए जिन्हें बाद मे अटलांटिक चार्टर का नाम दिया गया।

1 जनवरी, 1942—26 राष्ट्रों ने धुरी शक्तियों को पराजित करने और अटलांटिक चार्टर को स्वीकार करने की प्रतिज्ञा की। इस घोषणा मे, 'सयुक्त राष्ट्रो' (United Nations) शब्दो का पहली बार प्रयोग हुआ। बाद मे 21 और राष्ट्रों ने भी घोषणा मे सहमति प्रकट की।

30 अक्तूबर, 1943—मास्को घोषणा मे चीन, सोवियत संघ, ब्रिटेन और संयुक्तराज्य अमेरिका इस बात पर सहमत हो गए कि शान्ति स्थापित रखने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना की जाए।

1. United Nations & Maintenance of Peace and Security, pp. 2-3.

अगस्त-अक्तूबर, 1944—डम्बरटन-ओक्स सम्मेलन मे, जिसमे चीन, सोवियत संघ, संयुक्तराज्य अमेरिका और ब्रिटेन शामिल हुए थे एक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के लिए प्रारम्भिक प्रस्तावो की रूपरेखा तैयार की गई।

अप्रेल-जून, 1945—सान-फ्रांसिसको-सम्मेलन मे 51 राष्ट्र सम्मिलित हुए। उन्होने सयुक्त राष्ट्रसघ के चार्टर का प्रारूप तैयार किया और उसे स्वीकार किया। इस प्रारूप पर 26 जून, 1945 को हस्ताक्षर कर दिए गए। पोलैण्ड ने, जो कि सम्मेलन मे उपस्थित होने मे असमर्थ रहा, चार्टर पर बाद मे हस्ताक्षर किए और इस प्रकार वह भी संघ के प्रारम्भिक सदस्यों (Original Members) मे गिना गया।

24 अक्तूबर, 1945—चीन, फ्रास, सोवियत सघ, ब्रिटेन, सयुक्तराज्य अमेरिका और बहुत से दूसरे हस्ताक्षरकर्त्ता राष्ट्रों ने चार्टर का अनुसमर्थन कर दिया। इस तारीख को सयुक्त राष्ट्रसघ विधिवत् रूप से अस्तित्व मे आ गया और इसलिए यह दिन (24 अक्तूबर) विश्व मे 'सयुक्त राष्ट्र दिवस' (United Nations Day) के रूप मे मनाया जाता है।

8 अप्रेल, 1946 को राष्ट्रसघ (लीग ऑफ नेशन्स) ने एक प्रस्ताव पास कर अपनी समाप्ति की घोषणा कर दी। उसके उत्तरदायित्वो, कार्यक्रमों, सम्पत्ति तथा भवनो आदि को सयुक्त राष्ट्रसघ ने सम्भाल लिया।

चार्टर की प्रस्तावना

सयुक्त राष्ट्रसघ के विधान को घोषणापत्र (Charter) कहते है। चार्टर की प्रस्तावना (Preamble) बहुत ही महत्वपूर्ण है क्योकि इसमे उन लोगो के आदर्शों और सामान्य उद्देश्यो की अभिव्यक्ति है जिनकी सरकारों ने सयुक्त राष्ट्रसघ का निर्माण करने के लिए कदम उठाए। यह सुन्दर प्रस्तावना इस प्रकार है[1]—

"सयुक्त राष्ट्रो के हम लोगो ने यह पक्का निश्चय किया है कि हम आने वाली पीढियो को उस युद्ध की विभीषिकाओ से बचाएँगे जिसने हमारे जीवन-काल मे ही दो बार मनुष्य मात्र पर अकथनीय दु.ख ढाए हैं, और

कि हम मानवता के मूल अधिकारो मे, मानव की गरिमा और महत्त्व मे, और छोटे-बड़े सभी राष्ट्रो के नर-नारियों के समान अधिकार मे फिर आस्था पैदा करेंगे, और

कि हम ऐसी स्थिति पैदा करेंगे जिससे न्याय और उन दायित्वो का सम्मान कायम रहे जो सन्धियो और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के दूसरे स्रोतो से हम पर पडते हैं, और

कि हम अधिक व्यापक स्वतन्त्रता द्वारा अपने जीवन का स्तर ऊँचा उठाएँगे और समाज को प्रगतिशील बनाएंगे।

इन उद्देश्यों के लिए

हम सहनशील बनेंगे और अच्छे पड़ोसियो की तरह साथ मिलकर शान्ति से रहेंगे, और

1. International Law (Hindi Ed.) *by S. B. Varma*—A Govt. of India Publication, p. 375.

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए अपनी शक्तियों का संगठन करेंगे, और
उन नियमो का पालन करेंगे और ऐसे साधनो से काम लेंगे जिनसे इस बात
का विश्वास हो जाए कि अपने सामान्य हितो की रक्षा के अलावा
हथियारबन्द सेनाओ का प्रयोग नहीं किया जाएगा, और
सभी लोगों के सामाजिक और आर्थिक उत्थान को बढावा देने के लिए
अन्तर्राष्ट्रीय साधनो का प्रयोग करेंगे ।

इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए हमने मिलकर
प्रयत्न करने का निश्चय किया है

इसलिए हमारी सरकारें अपने प्रतिनिधियों के रूप मे सान-फ्रांसिसको नगर
मे एकत्र हुई हैं । इन प्रतिनिधियो ने अपने अधिकार-पत्र दिखाए
जिनको ठीक और उचित रूप मे पाया गया है और इन्होने सयुक्त
राष्ट्रो के इस चार्टर को स्वीकार कर लिया है और इसके आधार पर
वे अब एक अन्तर्राष्ट्रीय सघ की स्थापना करते हैं जिसका नाम
'सयुक्त राष्ट्रसघ' होगा ।"

प्रयोजन और सिद्धान्त

चार्टर के अनुच्छेद 1 मे सयुक्त राष्ट्रसघ के प्रयोजनो (Purposes) का और अनुच्छेद 2 मे सिद्धान्तो (Principles) का उल्लेख किया गया है ।

(क) सयुक्त राष्ट्रसघ के प्रयोजन (Purposes) सक्षेप मे ये हैं—

1. अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना करना और सामूहिक तथा प्रभावपूर्ण प्रयत्नो से आने वाले खतरो का उन्मूलन करना, शान्ति भग करने वाली चेष्टाओ को दबाना तथा *न्याय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तो के आधार पर* शान्तिपूर्ण साधनो से उन अन्तर्राष्ट्रीय विवादो और समस्याओ को सुलझाना जिससे शान्ति भग होने की आशका हो ।

2. सब राष्ट्रो के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो का विकास करना ।

3. अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और मानवीय समस्याओ के समाधान के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना और बिना किसी भेद-भाव के *मानव अधिकारो तथा मौलिक स्वतन्त्रताओं के सम्मान को प्रोत्साहन देना ।*

4 सयुक्त राष्ट्रसघ को एक ऐसा केन्द्र बनाना जहाँ इन सामान्य उद्देश्यो की पूर्ति के लिए राष्ट्रो के अलग-अलग प्रयासो मे सामजस्य स्थापित किया जा सके ।

(ख) उपर्युक्त प्रयोजनो को पूरा करने के लिए सघ और उसके सदस्य जो भी काम करें, उनमे इन सिद्धान्तो (Principles) का ध्यान रखा जाना आवश्यक है—

1. सयुक्त राष्ट्रसघ का आधार सब सदस्यो की सम्प्रभुता की समानता (Sovereign Equality) का सिद्धान्त है ।

2. सभी सदस्य अपने उन दायित्वो को ईमानदारी के साथ निभाएँगे जो उन्होंने चार्टर द्वारा अगीकार किए हैं ।

3. सभी सदस्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय विवादो को शान्तिपूर्ण साधनों से इस प्रकार तय करेंगे कि विश्व की सुरक्षा, शान्ति और न्याय खतरे मे न पड़ें।

4. सभी सदस्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय विवादो मे किसी राज्य की अखण्डता तथा राजनीतिक स्वाधीनता के विरुद्ध न तो धमकी देंगे और न बल-प्रयोग करेंगे। वे कोई भी ऐसा कार्य नही करेंगे जो सयुक्त-राष्ट्रों के प्रयोजन से मेल न खाता हो।

5. सभी सदस्य सयुक्त राष्ट्रसघ को ऐसी हर कार्यवाही मे सब तरह की सहायता देंगे जो चार्टर के अनुसार हो। वे ऐसे किसी भी राज्य की सहायता नही करेंगे जिसके विरुद्ध सयुक्त राष्ट्रसंघ रोकथाम की कोई कार्यवाही कर रहा हो।

6. संघ इस बात का विश्वास दिलाएगा कि जो राज्य इसके सदस्य नही हैं वे भी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए इन्ही सिद्धान्तो का पालन करेंगे।

7. चार्टर मे जो कुछ कहा गया है उससे सयुक्त राष्ट्रसघ किसी भी राज्य के घरेलू मामलों मे हस्तक्षेप का अधिकारी नही होगा।

संयुक्त राष्ट्रसघ के प्रयोजन और सिद्धान्त वास्तव मे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सहयोग के महान् आदर्श प्रस्तुत करते हैं। यदि सदस्य-राज्य ईमानदारी से इनका अनुसरण करें तो अन्तर्राष्ट्रीय जगत् विनाशकारी सघर्षों से बच जाए और विश्व के सभी देश सुख तथा समृद्धि के मार्ग पर अग्रसर होने लगें। पर दुर्भाग्य की बात यह है कि सदस्य-राष्ट्र चार्टर की भावना का पालन नही करते, बल्कि चार्टर की धाराओं का प्रयोग इस ढग से करते हैं कि उनके राजनीतिक स्वार्थो की पूर्ति हो। सिद्धान्त रूप मे चार्टर के शब्दो मे विश्वास व्यक्त किया जाता है लेकिन व्यवहार मे चार्टर की भावना का उल्लघन होता है। इसी कारण सयुक्त राष्ट्रसघ इतना प्रभावकारी सिद्ध नहीं हो सका है जितना होना चाहिए था। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि यह विश्व-संस्था वास्तव मे पूरी तरह महाशक्तियो के हाथ का खिलौना बन गई है जिसमे छोटे राष्ट्रों की कोई परवाह नही की जाती। फिर भी इस बात से कुछ सन्तोष होता है कि भूतपूर्व राष्ट्रसघ की तुलना मे सयुक्त राष्ट्रसघ अभी तक काफी सफल रहा है और इस सस्था के सदस्य-राष्ट्रो की सख्या निरन्तर बढती गई है। मानवता के लिए वह दिन सौभाग्य का सूचक होगा जब सयुक्त राष्ट्रसघ सही अर्थो मे सभी राष्ट्रो के हितो की ईमानदारी से रक्षा करेगा और बडे राष्ट्र अपनी अडगेबाजी की राजनीति मे इस सस्था को दूषित करना छोड देंगे।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता

चार्टर मे तीन से लेकर छः तक सदस्यता सम्बन्धी अनुच्छेद हैं। सघ की सदस्यता दो प्रकार की है। कुछ देश प्रारम्भिक सदस्य है और कुछ को बाद मे सदस्यता प्रदान की गई। प्रारम्भिक सदस्य (Original Members) वे 51 राज्य है जिन्होने सान-फ्रांसिस्को सम्मेलन मे भाग लिया था और चार्टर को स्वीकार किया था। दूसरे सदस्य वे हैं जिन्होने संघ मे बाद मे प्रवेश किया।। सघ की सदस्यता उन सभी राज्यो के लिए खुली है जो शान्तिप्रिय हों और चार्टर से विश्वास करते हो। अनुच्छेद 4 के अनुसार नए सदस्य बनाने के लिए अनिवार्य शर्तें ये हैं—(1) वह

शान्तिप्रिय राज्य हो, (2) चार्टर द्वारा प्रस्तावित कर्त्तव्यों को स्वीकार करता हो, (3) संघ के निर्णय के अनुसार उन कर्त्तव्यों को पूरा करने में समर्थ हो, एवं (4) संघ के निर्णयानुसार उन कर्त्तव्यों को पूरा करने की इच्छा रखता हो। सदस्य बनना तभी सम्भव है जब महासभा का दो-तिहाई बहुमत और सुरक्षा परिषद् की स्वीकृति प्राप्त हो जाए। सुरक्षा परिषद् के वर्तमान पन्द्रह में से नौ सदस्यों का बहुमत तथा स्थायी सदस्यों का निर्णयात्मक मत इसके पक्ष में होना चाहिए। महासभा में निर्णय लेने से पूर्व सुरक्षा परिषद् की स्वीकृति आवश्यक है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ सदस्यता की दृष्टि से आज एक विश्वव्यापी संगठन बन चुका है। 1945 में इसके प्रारम्भिक सदस्य केवल 51 थे जबकि सितम्बर 1974 में इसकी कुल सदस्य संख्या 138 और 1975 के मध्य तक 140 हो गई। 1977 के अन्त में इसकी सदस्य संख्या 148 थी। नए सदस्य राज्यों में बंगलादेश, पूर्वी जर्मनी, पश्चिमी जर्मनी, बहामा, वियतनाम आदि उल्लेखनीय हैं। दोनों जर्मन राष्ट्रों के संघ की सदस्यता प्रदान करना एक क्रांतिकारी घटना थी क्योंकि आधिकारिक रूप में इसे द्वितीय महायुद्ध का अंग माना जा सकता है। 1 मई, 1975 को वियतनाम युद्ध समाप्त हो जाने से और राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे द्वारा दक्षिण वियतनाम में सत्ता सम्भाल लेने से इस बात की सम्भावना प्रबल हो गई है कि सम्पूर्ण वियतनाम एक ही झण्डे के नीचे आ जाएगा और एक राष्ट्र के रूप में संयुक्तराष्ट्र संघ में प्रवेश कर ले। सितम्बर, 1977 में विश्व समुदाय ने समाजवादी वियतनाम गणतन्त्र को अपनी बिरादरी में शामिल कर लिया। वह विश्व-संस्था का 148वाँ सदस्य था। स्विटज़रलैण्ड संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं है लेकिन वह स्वेच्छा से सदस्य नहीं बना है। वैसे, संघ के कार्य-कलापों में वह पूरी तरह सहयोग करता है। उसका आचरण ऐसा है जैसे वह संघ का ईमानदार सदस्य हो। साम्यवादी चीन की सदस्यता का प्रश्न संयुक्त राष्ट्रसंघ में महाशक्तियों के आपसी तनाव का एक बड़ा कारण रहा था। यह शीतयुद्ध का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गया था। लेकिन 26 अक्तूबर, 1971 को ताइवान को निष्कासित कर उसके स्थान पर साम्यवादी चीन को संघ का सदस्य बनाकर शीतयुद्ध की एक विकट समस्या को सुलझा दिया गया। लगभग 70 करोड़ की जनसंख्या वाले राष्ट्र को सदस्यता प्रदान कर संयुक्त राष्ट्रसंघ ने सच्चे अर्थों में एक सार्वभौमिक संगठन का रूप ले लिया है।

चार्टर में किसी राष्ट्र की सदस्यता समाप्त करने की भी व्यवस्था है। ऐसे किसी सदस्य-राज्य को जो चार्टर के सिद्धान्तों का लगातार उल्लंघन करे, चार्टर के छठी धारा के अन्तर्गत संघ से निष्कासित किया जा सकता है। यह सुरक्षा परिषद की अनुशंसा पर महासभा के निर्णय से होता है।

चार्टर में सदस्यता के निलम्बन की भी व्यवस्था है। ऐसे किसी भी सदस्य-राज्य को, जिस पर निरोधात्मक या दण्डात्मक कार्यवाही की गई हो, निलम्बित किया जा सकता है। लेकिन उपयुक्त समझे जाने पर उसे पुनः सदस्यता प्रदान की जा सकती है। इन दोनों ही बातों के लिए सुरक्षा परिषद् की सिफारिश आवश्यक है। निलम्बन महासभा के निर्णय से होना है।

चार्टर में संघ की सदस्यता परित्याग करने की कोई व्यवस्था नहीं है। लेकिन सदस्य-राज्य सम्प्रभु होते हैं अतः वे सदस्यता जब चाहें तब छोड़ सकते हैं। अपनी सार्वभौमिकता के इसी अधिकार का प्रयोग करते हुए इण्डोनेशिया ने जनवरी, 1965 में संघ से पृथक् होने की सूचना दी थी। सितम्बर, 1965 में पाकिस्तान ने भी संघ छोड़ने की धमकी दी थी, पर वह ऐसा साहस नहीं कर सका। इण्डोनेशिया में जब नई सरकार का निर्माण हुआ तो उसने संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता पुनः प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त की और 28 दिसम्बर, 1966 को उसे फिर से संघ में शामिल कर लिया गया।

चार्टर में संशोधन की व्यवस्था

संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में संशोधन की व्यवस्था अध्याय 18 में अनुच्छेद 108 और 109 के अन्तर्गत दी गई है। यह अनुच्छेद इस प्रकार हैं—

अनुच्छेद 108—वर्तमान चार्टर में जो भी संशोधन होंगे वे राष्ट्रसंघ के सब सदस्यों पर तभी लागू हो सकेंगे जब उनको महासभा दो-तिहाई बहुमत से स्वीकार कर ले और सुरक्षा परिषद् के सभी स्थायी सदस्यों सहित संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य अपनी-अपनी वैधानिक प्रक्रियाओं के अनुसार दो-तिहाई बहुमत से उनकी पुष्टि कर दें।

अनुच्छेद 109—1. जब कभी चार्टर के पुनरावलोकन की बात हो तो उसके लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों का एक सामान्य सम्मेलन किया जा सकता है जिसकी तारीख, समय और स्थान महासभा दो-तिहाई बहुमत से और सुरक्षा परिषद् अपने किन्हीं सात सदस्यों के मत से तय करेगी। उस सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्रसंघ के हर सदस्य का एक वोट रहेगा।

2. यदि सम्मेलन में वर्तमान चार्टर का कोई परिवर्तन दो-तिहाई बहुमत से स्वीकार कर लिया जाता है तो वह तभी लागू हो सकेगा जब सुरक्षा परिषद् के सदस्य अपनी-अपनी वैधानिक प्रक्रियाओं के अनुसार दो-तिहाई बहुमत से उनकी पुष्टि कर दें।

3. चार्टर के क्रियान्वयन के बाद महासभा के दसवें वार्षिक अधिवेशन के पहले अगर ऐसा सम्मेलन नहीं होता तो ऐसा सम्मेलन करने का प्रस्ताव महासभा के उसी अधिवेशन के एजेण्डा पर रखा जाएगा और अगर महासभा में बहुमत से और सुरक्षा परिषद् में किन्हीं सात सदस्यों के मत से यह स्वीकार कर लिया जाता है तो ऐसा सम्मेलन बुलाया जा सकेगा।

चार्टर की कुछ अन्य व्यवस्थाएँ

संघ के चार्टर की कुछ अन्य उल्लेखनीय व्यवस्थाएँ ये हैं—

गुप्त सन्धियों और गुप्त राजनयिक प्रणाली के विरुद्ध व्यवस्था—इस सम्बन्ध में अनुच्छेद 102 के अन्तर्गत व्यवस्था की गई है कि संघ के सदस्य जो सन्धियाँ या अन्तर्राष्ट्रीय समझौते करेंगे (चार्टर के लागू होने के बाद) उन्हें यथाशीघ्र संघ के सचिवालय में पंजीकृत कराया जाएगा और उसके बाद सचिवालय उन्हें यथाशीघ्र

प्रकाशित करेगा। जिन सन्धियो और समझौतो को पजीकृत नही किया गया उनकी शर्तों की दुहाई सयुक्त राष्ट्रसघ के किसी अंग के समक्ष नही दी जा सकेगी।

चार्टर के दायित्वों को प्राथमिकता—इस सम्बन्ध मे अनुच्छेद 103 मे उल्लेख है कि—"यदि संयुक्त राष्ट्रसघ के किसी सदस्य के वर्तमान चार्टर के दायित्व किसी दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के दायित्व के विरुद्ध पडते हो, तो उस स्थिति मे वर्तमान चार्टर के दायित्वो को माना जाएगा।"

सदस्यों के आवश्यक कानूनी अधिकार, विशेषाधिकार आदि की व्यवस्था—अनुच्छेद 104 और 105 के अन्तर्गत इस सम्बन्ध मे मुख्य व्यवस्थाएँ ये हैं—

(क) सघ को अपने हर सदस्य-देश मे अपने कार्यों और प्रयोजनो की पूर्ति के लिए आवश्यक कानूनी अधिकार प्राप्त होंगे।

(ख) सघ को अपने हर सदस्य-देश मे अपने प्रयोजनो की पूर्ति के लिए आवश्यक विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ प्राप्त होगी।

(ग) उसी प्रकार सयुक्त राष्ट्रसघ के सदस्यो के प्रतिनिधियो और सघ के अधिकारियो को सघ के कार्यों को स्वतन्त्र रूप से पूरा करने के लिए आवश्यक विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ प्राप्त होगी।

भाषाएँ—अनुच्छेद 111 के अनुसार सयुक्त राष्ट्रसघ की भाषाएँ चीनी, फ्रांसीसी, रूसी, अंग्रेजी और स्पेनी हैं। अधिकांश काम अंग्रेजी और फ्रांसीसी भाषाओ मे होता है।

आय—सयुक्त राष्ट्रसघ की आय राष्ट्रसघ की भाँति ही सदस्य-राज्यो के चन्दे पर आश्रित है। विभिन्न सदस्य एक निश्चित अनुदान सूची के अनुसार संघ के वार्षिक बजट मे वार्षिक चन्दे के रूप मे अपना अनुदान देते हैं। अनुदान की राशि राष्ट्र की देय शक्ति के अनुपात मे निर्धारित की गई है। उदाहरणार्थ 1947 मे निर्धारित राशि के अनुसार अमेरिका सघ के बजट का 39·9 प्रतिशत, ब्रिटेन 11·84 प्रतिशत, रूस 7·40 प्रतिशत, फ्रास 6 प्रतिशत, चीन 6 प्रतिशत, भारत 3·95 प्रतिशत अनुदान देते थे। सदस्य-राज्य अपने अनुदान मे नियमित नही रहे हैं और उनकी टालमटोल की नीति के कारण कई अवसरो पर सघ को वित्तीय सकट का सामना करना पडा है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के अंग

चार्टर के अनुच्छेद सात मे सयुक्त राष्ट्रसघ के अगो (Organs) का उल्लेख है। तदनुसार प्रमुख अग छ हैं—

1. महासभा (General Assembly)
2. सुरक्षा परिषद् (Security Council)
3. आर्थिक और सामाजिक परिषद् (Economic and Social Council)
4. न्यास परिषद् (Trusteeship Council)
5. न्याय का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice)
6. सचिवालय (Secretariat)

चार्टर के अनुसार आवश्यकतानुसार अन्य सहायक अंग भी स्थापित कि सकते हैं। अनुच्छेद 8 मे उल्लेख है कि "संयुक्त राष्ट्रसंघ अपने प्रमुख या सह अंगो मे समानता की दशा मे किसी भी हैसियत से काम करने के लिए किस नर-नारी की पात्रता पर कोई पाबन्दी नहीं लगाएगा।"

महासभा
(The General Assembly)

चार्टर के अध्याय चार मे अनुच्छेद 9 से 22 तक महासभा की रचना, तथा शक्तियों से सम्बन्धित हैं। महासभा को संघ की व्यवस्थापिका सभा कहा सकता है, तथापि इसके प्रस्ताव बाध्यकारी नहीं हैं। संघ के सभी सदस्य महास सदस्य होते हैं। प्रत्येक सदस्य-राज्य को महासभा में पाँच प्रतिनिधि तथा वैकल्पिक प्रतिनिधि (Alternative Delegates) भेजने का अधिकार है, उसका मत एक ही होता है। महासभा का एक अध्यक्ष और सात उपाध्यक्ष हैं। महासभा प्रत्येक अधिवेशन के लिए अपना सभापति चुनती है।

महासभा का अधिवेशन

महासभा का अधिवेशन वर्ष में एक बार होना अनिवार्य है, सुरक्षा प अथवा संघ के सदस्यों के बहुमत की प्रार्थना पर महासचिव द्वारा विशेष अधि बुलाया जा सकता है। ऐसे विशेष अधिवेशन कई अवसरों पर बुलाए जा चु जैसे--फिलस्तीन की समस्या पर 28 अप्रेल से 15 मई, 1947 और 16 अ 14 मई, 1948 तक; मध्यपूर्व की स्थिति पर 1 से 10 नवम्बर, 1956 हंगरी की स्थिति पर 4 से 10 नवम्बर, 1956 तक; लेबनान की समस्या पर 21 अगस्त, 1958 तक; कांगो की समस्या पर 17 से 20 सितम्बर 1960 विशेष अधिवेशन बुलाए गए थे। जून, 1967 मे अरब इजरायल संघर्ष पर वि विमर्श के लिए भी महासभा का विशेष अधिवेशन हुआ था। सन् 19 भारत-पाक युद्ध के समय भी महासभा का विशेष अधिवेशन आमन्त्रित गया था।

महासभा मे महत्त्वपूर्ण निर्णय उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से साधारण प्रश्नों के निर्णय साधारण बहुमत से लिए जाते हैं। उस सदस्य को, संघ का पूरा चन्दा न दिया हो, मताधिकार से वंचित किया जा सकता है।

महासभा की समितियाँ

महासभा का कार्य मुख्यतः सात समितियों मे विभक्त है। प्रत्येक इनमे अपना एक प्रतिनिधि भेज सकता है। ये सात समितियाँ हैं—(1) राजन और सुरक्षा समिति, (2) आर्थिक तथा वित्तीय समिति, (3) सामाजिक-मा एवं सांस्कृतिक समिति, (4) न्याय समिति, (5) प्रशासकीय एवं बजट स (6) कानूनी समिति, एवं (7) विशेष राजनीतिक समिति।[1] इनके प्रतिनि

1 Political and Security Committee, Economic and Financial Comm Social, Humanitarian and Cultural Committee, Trusteeship Comm Administrative and Budgetary Committee, Special Political Committe

24 प्रक्रियात्मक (Procedural) समितियाँ भी होती हैं जैसे सामान्य समिति जो (उ)क्त समितियो की कार्यवाहियो मे समन्वय स्थापित करती हैं एव प्रमाण-पत्र प्रवे(श स)मि(ति) (Credential Committee) जो प्रतिनिधियो के प्रमाण-पत्रो की जांच (कर)ती है ।

(महा)सभा मे संयोग एव समूह

महासभा एक ससदीय निकाय की भांति है क्योंकि वहाँ एक प्रकार की (अ)स्पष्ट दलीय व्यवस्था (Embroying Party System) प्रभावी रहती है । सद(स्य)-राज्य निरन्तर एक दूसरे से मिलते हैं । उनमे पर्दे के पीछे और खुले रूप में (वि)भिन्न समस्याओ और प्रश्नो पर निरन्तर परामर्श होता रहता है । महासभा मे (राज्य)ो के समूह (Groups), सयोग अथवा गठबन्धन (Coalitions), गुट (Blocks) (आ)दि निरन्तर सक्रिय रहते हैं । आलोचको के अनुसार इन सयोगो, समूहो और गुटो (की) गतिविधियो के फलस्वरूप महासभा द्वारा किसी निष्पक्ष निर्णय पर पहुँचने की (सम्भा)वना कम हो जाती है । यह आरोप यद्यपि एक हद तक सही है, तथापि हमे यह (नहीं भू)लना चाहिए कि महासभा कोई दार्शनिको या वैज्ञानिको का निकाय नही है (औ)र न ही न्याय की खोज करने वाला कोई न्यायिक सस्थान ही है । यह तो एक (रा)जनीतिक निकाय (Political Body) है जो विभिन्न समस्याओ का सम्भावित (समाध)ान खोजने का प्रयास करता है और देखता है कि किस प्रकार समस्या के (समाध)ान मे सदस्यो का बहुमत प्राप्त किया जाए ।

महासभा के प्रस्तावो मे राज्यो के प्राय निम्नलिखित चार वर्गो का उल्लेख (होता) है—(1) लेटिन अमेरिकी राज्य (Latin American States), (2) अफ्रीकी (और) एशियाई राज्य (African and Asian States), (3) पूर्वी यूरोप के राज्य (Ea)stern European States), (4) पश्चिमी यूरोप एव दूसरे राज्य (Western (Euro)pean and Other States) । राज्यो के इन वर्गो के अलग-अलग अथवा एक (दूसरे) से मिलकर समय-समय पर विभिन्न समूह (Groups) विकसित होते रहते हैं ।

(महा)सभा के कार्य और उसकी शक्तियाँ

मोटे रूप में महासभा सयुक्त राष्ट्रसघ के चार्टर के क्षेत्र मे निहित सभी प्रश्नो (पर वि)चार कर सकती है । इसके प्रमुख कार्यों और शक्तियो का उल्लेख सक्षेप मे (अ)नुसार किया जा सकता है—

प्रथम, शान्ति और सुरक्षा कायम रखने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के (सिद्धा)न्तों के अनुसार सिफारिशें करना । इसमे नि शस्त्रीकरण और शस्त्रों के नियमन (सम्बन्धी सि)फारिशें भी सम्मिलित है ।

दूसरे, शान्ति और सुरक्षा को प्रभावित करने वाली समस्याओ पर विचार-(विमर्श) करना तथा तत्सम्बन्धी सिफारिशें करना, बशर्ते कि उन पर तब सुरक्षा परिषद् (में वि)वाद न चल रहा हो ।

United Nations at Work by Research Publications, pp. 56

तीसरे, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक सहयोग, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास संहिताकरण, मानव अधिकारों और मूलभूत स्वतन्त्रताओं की प्राप्ति तथा सांस्कृ सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक और स्वास्थ्य सम्बन्धी क्षेत्रों में आवश्यक अध्ययन प्रेरित करना तथा इन सब बातों के विकास के लिए समुचित अभिशंसा करना ।

चौथे, सुरक्षा परिषद् और संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्य अंगों से रिपोर्ट करना और उन पर विचार करना ।

पांचवें, राष्ट्रों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को आघात पहुँचाने वाले किसी मामले के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए सिफारिशें करना ।

छठे, न्यास-परिषद् के माध्यम से न्याय-समझौतों के अनुपालन का निरी करना ।

सातवें, सुरक्षा परिषद् के दस अस्थाई सदस्यों, आर्थिक एवं सामाजिक परि के 27 सदस्यों और न्यास-परिषद् के निर्वाचित होने वाले सदस्यों को चुन अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों के निर्वाचन में सुरक्षा परिषद् की सिफारि पर महासचिव की नियुक्ति करना ।

आठवें, संयुक्त राष्ट्रसंघ के बजट पर विचार करना और उसे स्वीकार कर राष्ट्रों के लिए चन्दे की राशि नियत करना और विशिष्ट अभिकरणों के बजटों जाँच करना ।

शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव

3 नवम्बर, 1950 के 'शान्ति के लिए एकता' (Uniting for Peac प्रस्ताव पारित होने के बाद से महासभा की शक्तियों में उल्लेखनीय वृद्धि हो गई । इस प्रस्ताव के अनुसार—शान्ति को खतरा, शान्ति भंग अथवा आक्रमण के भय सम्बन्ध में स्थायी सदस्यों के एकमत न होने के कारण यदि सुरक्षा-परिषद् अपने क संचालन में असफल रहे, तो महासभा तुरन्त ही उस मामले पर विचार कर सक है और सामूहिक कार्यवाही के लिए उचित सिफारिशें कर सकती है । शान्ति- होने तथा आक्रमण होने की दशा में शक्ति-प्रयोग की सिफारिश कर सकती है ता अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम रहे । प्रस्ताव के अनुसार सुरक्षा परिषद् सदस्यों के साधारण मत से अथवा संघ के सदस्यों के बहुमत से 24 घण्टे का नोटि देकर महासभा का संकटकालीन अधिवेशन बुला सकती है ।

'शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव' ने महासभा की स्थिति को काफी महत्त्व बना दिया है । इस बात की आशंका घट गई है कि महाशक्तियां बार-बार निषेधाधि के प्रयोग से सुरक्षा परिषद् को एकदम निष्क्रिय बनाकर अपना उल्लू सीधा क रहेंगी । नवम्बर, 1956 को मिस्र पर इजरायल, ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस के स आक्रमण होने पर महासभा के अधिवेशन ने इस प्रस्ताव के अनुसार कार्य करते सफलतापूर्वक शान्ति स्थापित की थी ।

सभा के महत्त्व में वृद्धि के कारण

महासभा निरन्तर प्रभावशाली होती जा रही है और उसकी शक्तियो मे हुई है। इसके कुछ विशेष कारण ये हैं—

1. सघ के सभी सदस्य महासभा के भी सदस्य हैं, ग्रत. यह एक प्रभावशाली जनिक रगमंच है।

2. निषेधाधिकार के दुरुपयोग के फलस्वरूप सुरक्षा परिषद् की स्थिति पहले समान लाभकारी नही रही है और राज्य विश्व-जनमत को अपने पक्ष मे करने के महासभा को अधिक उपयुक्त स्थान समझते है।

3. 'शान्ति के लिए एकता-प्रस्ताव' ने महासभा की शक्ति-वृद्धि मे बहुत योग है।

4 आपातकालीन सेना की नियुक्ति से भी महासभा की शक्ति और महत्ता वृद्धि हुई है।

5. सुरक्षा परिषद् के साथ साथ महासभा को भी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और क्षा के प्रश्नो पर विचार करने का अधिकार है। इस अधिकार के समुचित प्रयोग महासभा के प्रभाव मे वृद्धि की है।

6. महासभा का अन्वेषणात्मक और निरीक्षणात्मक अधिकार इसे सघ के अंगो की अपेक्षा कुछ अधिक अच्छी स्थिति प्रदान करता है।

अपने अधिकारो के समुचित प्रयोग के फलस्वरूप महासभा ने अन्तर्राष्ट्रीय न्ति और सुरक्षा सम्बन्धी प्रश्नो के समाधान मे अनेक सकटपूर्ण अवसरो पर त्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

सुरक्षा परिषद्
(Security Council)

ठन व कार्यप्रणाली

सुरक्षा परिषद् 'सयुक्त राष्ट्रसघ की कुंजी' (Key-organ of the U. N.) । इसकी रचना सघ के कार्यकारी और सर्वाधिक महत्वपूर्ण अग के रूप मे की गई तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा का मुख्य दायित्व इसी पर है। चार्टर की मूल वस्था के अनुसार परिषद् मे पहले 11 सदस्य थे—5 स्थायी और 6 अस्थायी, न्तु दिसम्बर, 1965 मे चार्टर मे एक संशोधन के अनुसार सदस्यो की सख्या ढ़कर 15 कर दी गई है—5 स्थायी और 10 अस्थायी। स्थायी सदस्य हैं—मेरिका, सोवियत सघ ब्रिटेन फ्रास और चीन। परिषद् द्वारा निर्णयो के न्यूनतम वश्यक मतो की सख्या भी बढाकर 7 से 9 कर दी गई है। अस्थायी सदस्य 2 वर्ष लिए चुने जाते हैं। अवधि की समाप्ति पर कोई भी सदस्य तुरन्त पुन: चुनाव मे डा नही हो सकता।

परिषद् का सगठन इस प्रकार का है कि वे लगातार काम कर सकें। इसलिए घ मुख्यालय पर परिषद् के प्रत्येक सदस्य का प्रतिनिधि हर समय रहना आवश्यक । कार्यविधि के नियमो के अनुसार परिषद् की बैठको के बीच 14 दिन से अधिक

का अन्तर नहीं होना चाहिए। परिषद् मुख्यालय के अलावा इच्छानुसार अन्यत्र अपनी बैठक कर सकती है। अपने कार्यों के समुचित निर्वाह के लिए वह महा अंगो की स्थापना भी कर सकती है। परिषद् की दो स्थायी समितियाँ (Stand Committees) हैं—(क) विशेषज्ञ समिति, जो कार्यविधि की नियमावली का क देखती है, एवं (ख) नवीन सदस्यो के प्रवेश का काम देखने वाली समिति। इ अतिरिक्त परिषद् समय-समय पर तदर्थ समितियो और आयोगो की नियुक्ति भी कर रहती है। सैनिक आवश्यकताओ, शस्त्रो के नियन्त्रण आदि पर स्वतन्त्र परामर्श अ सहायता के लिए एक सैन्य स्टॉफ समिति (Military Staff Committee) भी है परिषद् के अधीन एक नि शस्त्रीकरण आयोग भी है जिसकी स्थापना जनवरी, 19 मे की गई थी।

परिषद् का सभापतित्व परिषद् के सदस्यो मे से अंग्रेजी वर्णमाला के अनुस सदस्य राष्ट्रों के नाम के क्रम से प्रतिमास बदलता रहता है। परिषद् के प्रत्ये सदस्य-राष्ट्र को एक मत प्राप्त होता है। परिषद् के निर्णय दो प्रकार के होते है

सुरक्षा परिषद् के कार्य और अधिकार

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा की स्थापना की दृष्टि से सुरक्षा परिषद् व्यापक शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। चार्टर के अनुच्छेद 24 मे स्पष्ट उल्लिखित है अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा का प्रधान उत्तरदायित्व सुरक्षा परिषद् का है अ उसे यह देखना है कि संघ की ओर से प्रत्येक कार्यवाही जल्दी और प्रभावपूर्ण ढंग हो। अनुच्छेद 25 के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यो का कर्त्तव्य है कि वे चा के अनुसार सुरक्षा परिषद् के निर्णयो को मानें और उन पर अमल करें। सुर परिषद् को अधिकार व शक्तियो का उल्लेख चार्टर के 6, 7, 8 और 12वें अध्य मे किया गया है। इन अध्यायो के अनुसार शान्ति व सुरक्षा की दिशा मे अन्तर्राष्ट्री राजनीति को प्रभावित करने की दृष्टि से परिषद् की शक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

प्रथम, अनुच्छेद 24 के अनुसार सुरक्षा परिषद् का मुख्य कार्य अन्तर्राष्ट्री शान्ति और सुरक्षा स्थापित रखना है। परिषद् उन विवादो और परिस्थितियों तत्काल विचार करती है जो शान्ति के लिए खतरा उत्पन्न कर रही हो अथवा प्रकार की सम्भावना हो गई हो। सुरक्षा परिषद् अपने कर्त्तव्यो को संघ के प्रयोज और सिद्धान्तो के अनुसार ही पूरा करती है। अनुच्छेद 24 मे ही यह व्यवस्था गई है कि सुरक्षा परिषद् महासभा के विचार के लिए वार्षिक रिपोर्ट या जरू पडने पर विशेष रिपोर्ट प्रस्तुत करेगी।

दूसरे, सुरक्षा परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय विवादो के शान्तिपूर्ण समाधान के लि आवश्यक कार्यवाही करती है। चार्टर के अनुच्छेद 33 से 38 तक विवादो शान्तिपूर्ण निपटारे से सम्बन्धित हैं।

तीसरे, सुरक्षा परिषद् शान्ति के लिए खतरनाक, शान्ति भंग और आक्रमणात्म कार्यों के बारे में कार्यवाही करती है। इस सम्बन्ध मे अनुच्छेद 39 से 51 आवश्यक व्यवस्थाएँ दी गई है। सुरक्षा परिषद् ही यह निर्णय करती है कि कौन

में शान्ति को खतरे मे डालने वाली, शान्ति भंग करने वाली और आक्रामक हो जा सकती है। वह सिफारिश करती है अथवा यह तय करती है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम रखने अथवा उसे फिर से स्थापित करने के लिए इनमे से कौनसी कार्यवाहियाँ करे—(क) ऐसी कार्यवाहियाँ जिनमे हथियारबन्द सेना का प्रयोग न हो। परिषद् सघ के सदस्यों से पूर्ण या आंशिक रूप से आर्थिक सम्बन्ध समाप्त करने की माँग कर सकती है। इस कार्यवाही के अनुसार समुद्र, वायु, डाक, तार, रेडियो और यातायात के अन्य साधनों पर प्रतिबन्ध लगाए जा सकते हैं या राजनीतिक सम्बन्ध तोड़े जा सकते हैं। (ख) यदि सुरक्षा परिषद् इस कार्यवाही को अपर्याप्त समझे तो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम रखने या पुनः स्थापित करने के लिए जल थल और वायु सेनाओं का प्रयोग कर सकती है। इस कार्यवाही मे संयुक्त-राष्ट्रों के सदस्य देशों की जल, थल वायु सेना विरोध प्रदर्शन कर सकती है, घेरा डाल सकती है या कोई अन्य कार्यवाही कर सकती है।

चौथे, अनुच्छेद 43 के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना में सहयोग देने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य-राज्य वचनबद्ध हैं कि "सुरक्षा परिषद् के माँगने पर और विशेष समझौते या समझौतों के अनुसार वे अपनी सशस्त्र सेना एक सहायता तथा अन्य सुविधाएँ प्रदान करेंगे जिनमे मार्ग-अधिकार भी शामिल होगा।"

पांचवें अनुच्छेद के अनुसार सुरक्षा-परिषद् हथियारबन्द या सशस्त्र सेनाओं के उपयोग मे लाने की योजनाएं सैनिक स्टॉफ समिति (Military Staff Committee) की सलाह और सहायता से तैयार करेगी। अनुच्छेद 47 में उल्लेख है कि सुरक्षा परिषद् के उपयोग के लिए जो सशस्त्र सेनाएँ दी जाएँगी उनका युद्ध सम्बन्धी निर्देशन सैनिक स्टॉफ समिति के हाथ मे रहेगा और यह समिति सुरक्षा परिषद् के अधीन रहेगी। परिषद् द्वारा अधिकृत किए जाने पर सैनिक स्टॉफ समिति क्षेत्रीय प्रादेशिक उप-समितियाँ भी बना सकती है। अनुच्छेद 47 ही व्यवस्था देता है कि सैनिक स्टॉफ समिति का काम सुरक्षा परिषद् को इन प्रश्नो पर सलाह और सहायता देना होगा—(1) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा परिषद् की सैनिक आवश्यकताएँ, (II) उसके अधीन सेनाओं का प्रयोग और उनकी कमान, (III) शस्त्रों का नियन्त्रण, और (IV) सम्भावित निःशस्त्रीकरण। सैनिक स्टॉफ समिति के सदस्य सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों के मुख्य सैनिक अधिपति (Chief of Staff) या उनके प्रतिनिधि होंगे।

छठे, अनुच्छेद 48 के अनुसार सुरक्षा परिषद् के निर्णयों पर जो कार्यवाही की जाएगी परिषद् के निर्णय के अनुसार संघ के सब सदस्यों को या उनमें से कुछेक को करनी होगी। अनुच्छेद 49 की व्यवस्था के अनुसार सुरक्षा परिषद् जो भी कार्यवाही निश्चित करेगी उसको पूरा करने में संयुक्तराष्ट्र के सब सदस्य सामूहिक रूप मे एक दूसरे को सहयोग देंगे।

सातवाँ, अनुच्छेद 51 मे उल्लेख है कि—'यदि संयुक्त राष्ट्रसंघ के किसी

सदस्य पर कोई सशस्त्र आक्रमण होता है तो वह व्यक्तिगत अथवा सामूहिक आत्मरक्षा करने का अधिकारी होगा। चार्टर के अनुसार उस पर उस समय कोई प्रतिबन्ध नहीं होगा जब तक सुरक्षा परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा लिए स्वयं कोई कार्यवाही न करे। सदस्य राज्य आत्मरक्षा के लिए जो भी कार्य करेंगे, उसकी सूचना तुरन्त ही सुरक्षा परिषद् को देंगे, पर चार्टर के अनुसार सुरक्षा परिषद् के अधिकारों और दायित्वों पर कोई प्रभाव न पड़ेगा। वह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना या पुनर्स्थापना के लिए जब कभी और जो कार्य आवश्यक समझे कर सकती है।"

आठवें, जब सुरक्षा परिषद् किसी राष्ट्र के विरुद्ध कोई कार्यवाही कर दे। तो उस समय हो सकता है कि किसी दूसरे राष्ट्र के सामने कुछ विशेष आर्थिक समस्याएँ उठ खड़ी हों। ऐसी स्थिति में उस राष्ट्र को, चाहे वह संघ का सदस्य हो या नहीं, अपनी समस्याओं को हल करने के लिए सुरक्षा परिषद् से परामर्श करने का अधिकार होगा। (अनुच्छेद 50)

नवें, स्थानीय विवादों के समाधान के लिए सुरक्षा परिषद् प्रादेशिक संगठनों और अभिकरणों का माध्यम के रूप में प्रयोग कर सकती है। इसके अतिरिक्त प्रादेशिक संगठन या अभिकरण अपने क्षेत्रों में शान्ति और सुरक्षा के लिए जो कार्यवाही उठाते हैं, उनकी सूचना उन्हें नियमित रूप से सुरक्षा परिषद् को देनी पड़ती है।

दसवें, सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ ने जो दायित्व ग्रहण किया है, उसे निभाने का भार भी सुरक्षा परिषद् पर ही है। सामरिक प्रदेशों को किसी भी राष्ट्र के संरक्षण में देते समय संरक्षण सम्बन्धी शर्तें सुरक्षा परिषद् द्वारा ही तय की जाती हैं। वही इन शर्तों में संशोधन कर सकती है। यदि ऐसे कुछ क्षेत्र सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हों जो संयुक्त राष्ट्रसंघ के संरक्षण में हों तो इन क्षेत्रों की राजनीतिक सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षणिक प्रगति के लिए सुरक्षा परिषद् आवश्यक कार्यवाही कर सकती है।

सुरक्षा परिषद् को अपेक्षाकृत कुछ कम महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ भी सौंपी जिनमें से अधिकांश का प्रयोग वह महासभा के साथ मिलकर करती है। ये निर्वाचनात्मक (Elective), प्रारम्भिक (Initiatory) और निरीक्षणात्मक (Supervisory) हैं। निर्माताओं द्वारा परिषद् को ये कार्य इस दृष्टि से सौंपे गए महाशक्तियाँ महत्त्वपूर्ण संगठनात्मक मामलों पर अपना कुछ नियन्त्रण रख सकें। महासचिव द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीश के चुनाव में भी परिषद् का मुख्य हाथ रहता है।

निषेधाधिकार की समस्या
(Problem of Veto-Power)

चार्टर के अनुच्छेद 27 में सुरक्षा-परिषद् की मतदान-प्रणाली का उल्लेख जिसमें असाधारण अथवा सारभूत (Substantive) मामलों में परिषद् के 5 स्थायी सदस्यों सहित 9 सदस्यों के स्वीकारात्मक मत आवश्यक है। इन 5 स्थायी सद

·कोई भी सदस्य अपनी असहमति प्रकट करे अथवा प्रस्ताव के विरोध मे मतदान तो प्रस्ताव को स्वीकृत नही समझा जाता। चार्टर मे परिषद् पर साधारण और धारण कार्यविधि मे अन्तर करने वाली कोई व्यवस्था नही है। अतः जब यह उठता है कि अमुक मामला साधारण माना जाए या प्रक्रियात्मक (Procedural) ा असाधारण (Substantive), तब दोहरे निषेधाधिकार (Double Veto) ्योग होता है, अर्थात् पहले तो निषेधात्मक मतदान द्वारा किसी प्रश्न को धारण विषय बनने से रोका जाता है और तत्पश्चात् प्रस्ताव के दायित्वो ligations) के विरोध मे पुनः मतदान होता है।

आलोचको का आरोप है कि निषेधाधिकार की व्यवस्था के कारण सुरक्षा ्द् अपने सामूहिक सुरक्षा के दायित्व मे असफल हो गई है। आर्नोल्ड फोस्टर के ार, "निषेधाधिकार का आतंक सम्पूर्ण व्यवस्था पर छाया हुआ है। ऐसी ्था के रक्त मे ही पक्षाघात है। यह उस कार के समान है जिसका स्टार्टर arter) किसी भी समय उसकी यन्त्र-व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर उसके एंजिन ्तेक सकता हो।"

ाधिकार के विपक्ष में तर्क

1 पाँच महान् राष्ट्रो को निषेधाधिकार प्रदान कर सभी सदस्यो के समानता ्धी सयुक्त राष्ट्रसघीय सिद्धान्त की उपेक्षा की गई है। निषेधाधिकार छोटे ्ट्रो पर जबर्दस्ती लादा गया। उन्हें सयुक्त राष्ट्रसघ चार्टर के निषेधाधिकार च्छेद को महाशक्तियो के दबाव के कारण स्वीकार करना पड़ा था। न्यूज़ीलैण्ड ्क प्रतिनिधि के अनुसार, "पाँचो महान् शक्तियो ने सान-फ्रांसिसको मे ाधिकार पर बल दिया, अन्य शक्तियो को विवश होकर उसे स्वीकार करना । निषेधाधिकार की तुलना ऐसी शादी से की जा सकती है जो बन्दूक की नोक की गई हो।"

2 निषेधाधिकार के कारण सुरक्षा-परिषद् शान्ति एव सुरक्षा की व्यवस्था अपने दायित्वो का समुचित रूप से पालन करने मे असमर्थ हो गई है। यह ार अन्तर्राष्ट्रीय विवादो के शान्तिपूर्ण समाधान मे सबसे अधिक बाधक है। सघ के एक भूतपूर्व महासचिव ट्रिग्वेली ने स्पष्ट कहा था कि "विश्व-सस्था ्वाधिकार के कारण नपुसक है। यह महाशक्तियो के सघर्ष द्वारा पक्षाघातग्रस्त ्रहि है।"

3. निषेधाधिकार पक्षपोषक राज्यो (Client States) की एक खुली ्तीतिक व्यवस्था को जन्म दे सकता है। यह सम्भव है कि प्रत्येक स्थायी सदस्य ्न मित्रराष्ट्रो को निषेधाधिकार द्वारा सरक्षण प्रदान करे। इस प्रकार यह भय ्ी होना स्वाभाविक है कि सयुक्त राष्ट्रसघ के सदस्य स्थायी सदस्यो के नेतृत्व मे ्ी गुटो मे विभक्त हो जाएँगे। यह भय निराधार नही है क्योकि अमेरिका और ्र के नेतृत्व मे दो शक्तिशाली गुट पहले ही अस्तित्व मे आ चुके हैं। लाल चीन सघ मे प्रवेश और सुरक्षा परिषद् मे स्थायी सदस्यता प्राप्त होने से वह भी अपने ्व मे एक तीसरे गुट की स्थापना कर लेगा।

4. निषेधाधिकार के कारण सुरक्षा परिषद् में जो गतिरोध उत्पन्न होते हैं, उनसे विश्व-राज्यों की सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था में आस्था बुरी तरह डगम गई है।

5. निषेधाधिकार के दुरुपयोग के कारण कई स्वतन्त्र राष्ट्र अनेक तक संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य न बन सके और आज भी कुछ राष्ट्रों का संघ में प्रवे अटका हुआ है। निषेधाधिकार का दुरुपयोग इस रूप में भी सम्भव है कि कोई स्थाय सदस्य किसी सदस्य को हटाए जाने या निलम्बित होने से रोक दे, महासचिव क नियुक्ति को खटाई में डाल दे तथा चार्टर में उपयोगी संशोधन को ठुकरा दे।

आलोचकों का आरोप है कि निषेधाधिकार द्वारा महाशक्तियों को संयुक राष्ट्र व्यवस्था पर आधिपत्य प्राप्त हो गया है। हन्स केलसन के अनुसार, "महाशक्तिय का यह अधिकार अन्य सभी सदस्यों पर कानूनी प्रभुसत्ता स्थापित करता है। य उनके निरंकुश और स्वेच्छाचारी शासन का सूचक है। इसके कारण संयुक्त राष्ट्रस में वास्तविक और वांछनीय निर्णय नहीं हो पाते।"

निषेधाधिकार के पक्ष में तर्क

1. निषेधाधिकार की आलोचनाओं में वजन है, तथापि कुछ व्यावहारि तथ्यों की उपेक्षा करना अनुचित है। किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को सफलत तभी मिल सकती है जब उसे विश्व की महाशक्तियों का सहयोग प्राप्त हो और महाशक्तियाँ किसी भी ऐसी संस्था में भाग नहीं लेना चाहेंगी जिसमें अन्य देश केव अपने बहुमत से उन्हें कोई कार्य करने अथवा न करने के लिए बाध्य करदें। इ रोकने का एक मात्र उपाय निषेधाधिकार ही है। ए. ई. स्टीवेंस ने ठीक ही कह है कि "मतैक्य के नियम का जन्म अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की वास्तविकताओं से होत है। यदि 5 महान् राज्य किसी मामले पर राजी नहीं होते तो उनमें से किसी विरुद्ध शक्ति का प्रयोग एक बड़े युद्ध को आमन्त्रित करना होगा। निषेधाधिका की स्थापना इसी सम्भावना से बचने के लिए हुई थी।"

2. निषेधाधिकार असहमतिसूचक लक्षण है न कि इसका कारण। अत निषेध-व्यवस्था के समाप्त कर देने से महाशक्तियों के मतभेद दूर नहीं होंगे और ही इससे कोई बड़ा लाभ होगा। यदि निषेधाधिकार की व्यवस्था न भी होती तो भ सुरक्षा परिषद् में गत्यावरोध उत्पन्न करने की दूसरी युक्तियाँ निकाल ली जाती औ उनका भी उतना ही दुरुपयोग किया जाता जितना वर्तमान निषेधाधिकार व्यवस्थ का किया जा रहा है। महाशक्तियों की असहमति की उपेक्षा करने की व्यवस्था क स्पष्ट परिणाम वही होगा जो राष्ट्रसंघ के सम्बन्ध में हो चुका है अर्थात् कुछ सदस संयुक्त राष्ट्रसंघ से त्यागपत्र दे देंगे और तब संयुक्त राष्ट्रसंघ की भी वही स्थिति ह जाएगी जो भूतपूर्व विश्व-संस्था की हुई थी।

3. यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण है कि निषेधाधिकार के प्रयोग के फलस्वरू सुरक्षा परिषद् का काम ठप्प हो गया है। अब तक का अनुभव अधिकांशतः यह सिद्ध करता है कि निषेध-शक्ति के प्रयोग के कारण कोई अन्तर्राष्ट्रीय निर्णय लेने

अधिक बाधा नहीं पहुँची है। जिन निर्णयों में यह बाधक बना है, उनके न लेने भी विश्व-शान्ति को किसी प्रकार का खतरा नहीं पहुँचा है। इसके विपरीत कई र निषेधाधिकार अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिपूर्ण उपायों से सुलझाने में सहायक ा है। जब कश्मीर के प्रश्न पर सुरक्षा परिषद् में ब्रिटेन व अमेरिका ने खुलकर किस्तान का समर्थन किया और निर्लज्जतापूर्वक न्याय का गला घोंटा तब सोवियत प के निषेधाधिकार के प्रयोग ने स्थिति को सम्भालने और न्याय की रक्षा करने में हायता प्रदान की थी।

4. वास्तव में निषेधाधिकार संघ के विभिन्न पक्षों में सन्तुलन कायम रखने सहायक सिद्ध हुआ है। यदि निषेध-व्यवस्था न होती तो संयुक्त राष्ट्रसंघ पूरी रह एक गुट विशेष का शस्त्र बन जाता जिसे अपनी मनमानी करने की पूरी छूट ल जाती।

5. निषेधाधिकार की अनेक स्वस्थ परम्पराओं के विकास और व्यावहारिक दमों ने पूर्वापेक्षा कुछ कम प्रभावशाली बना दिया है। शान्ति के लिए एकता का स्ताव पारित होने के बाद से अब न तो यह अधिकार कोई नया अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष दान्न करता है और न उसे आगे बढ़ाता है। इनके होते हुए भी महासभा द्वारा निक कार्य सम्पादित किए जाते हैं। शान्ति निरीक्षण आयोग, सामूहिक उपाय मिति आदि की स्थापना द्वारा महासभा ने सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को निषेध के प्रभाव से मुक्त कराने का कारगर प्रयास किया है।

निष्कर्ष रूप में, उपयोगी यह होगा कि नई सदस्यता और शान्तिपूर्ण समझौतों के सम्बन्ध में तो निषेधाधिकार समाप्त होना चाहिए, परन्तु शान्ति भंग और आक्रमण की स्थिति में सैनिक कार्यवाही के लिए इस अधिकार का प्रयोग बनाए रखना चाहिए, अन्यथा अनेक गम्भीर और नवीन समस्याएँ उत्पन्न हो जाएँगी। निषेधाधिकार के प्रयोग की समस्या के सम्बन्ध में गुडरीच एवं हैम्बरो का मूल्यांकन उचित ही है। उन्होंने लिखा है—"राष्ट्रों में जो समझौता नहीं हो रहा है उसके कारण निषेधाधिकार का प्रयोग हो रहा है। उसके लिए किसको उत्तरदायी ठहराया जाए, यह निर्णय करना कठिन है। वास्तव में यह एक राजनीतिक प्रश्न है। रूस ने इस अधिकार का अधिकतर प्रयोग किया है। परन्तु उसका तर्क है कि विरोधी बहुमत से बचने के लिए ही वह इस अधिकार का प्रयोग करता है। यह स्वीकार करना चाहिए कि महा शक्तियों की सर्वसम्मति और उनकी समान प्रभुता का ही यह अर्थ है कि उनमें मतभेद और सह-सम्मति सम्भव है। स्थायी सदस्यों में जो आशा से अधिक मतभेद रहे हैं, उनका मूल कारण नीतियों सम्बन्धी मतभेद है जिसने शान्ति-सन्धियों के म. में बाधा डाली है तथा क्षतिग्रस्त देशों के युद्धोत्तर पुनर्विकास को अवरुद्ध किया है।

आर्थिक और सामाजिक परिषद्
(Economic and Social Council)

चार्टर के अध्याय 10 में अनुच्छेद 61 से 72 आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् से सम्बन्धित हैं। यह परिषद् विश्व में आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक, सांस्कृति

एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी विभिन्न कार्य करती है। अपने सहायक अंगों द्वारा यह मा जीवन के व्यापक क्षेत्रों का अध्ययन करती है और उस आधार पर व कार्यवाही की सिफारिशें करती है।

संगठन और मतदान

आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् में पहले महासभा द्वारा चुने हुए संयु राष्ट्रसंघ के 18 सदस्य होते थे किन्तु सन् 1965 में चार्टर में एक संशोधन फलस्वरूप अब 27 सदस्य होते हैं। इनमें से 9 सदस्य प्रति तीन वर्ष के लिए चु जाते हैं अर्थात् एक तिहाई सदस्य हर तीसरे वर्ष पदत्याग कर देते हैं। पद-निवृ सदस्य तुरन्त पुनः चुनाव में खड़े हो सकते हैं। परिषद् में प्रत्येक सदस्य-राज्य का एक प्रतिनिधि होता है। इसमें न तो किसी राष्ट्र को निषेधाधिकार प्राप्त है और न ही स्थायी सदस्यता। महासभा अपनी इच्छानुसार किसी भी सदस्य-राज्य को इस परिषद में चुन सकती है। सन् 1965 के संशोधन के अनुसार जो 9 सीटों की वृद्धि हुई उनके वितरण की व्यवस्था इस प्रकार की गई है—सात सीटें अफ्रीकी-एशियाई देशों को, एक लेटिन अमेरिकी देशों को तथा एक पश्चिमी यूरोप के देशों को।

आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के सभी निर्णय उपस्थित सदस्यों के साधारण बहुमत द्वारा किए जाते हैं। परिषद् के हर सदस्य का एक मत होता है। किसी गैर-सदस्य राज्य को भी, यदि वह परिषद् में प्रस्तुत मामले से सम्बन्धित है, विचार-विमर्श में भाग लेने के लिए बुलाया जा सकता है, पर उसे मतदान का अधिकार नहीं होता।

क्रियाविधि एवं सहायक अंग

परिषद् आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में मानव अधिकारों को प्रोत्साहन देने के लिए और अपने कार्यों की पूर्ति के लिए आयोगों तथा समितियों की स्थापना करती है। अभी तक अनेक कार्यकारी आयोगों की स्थापना की जा चुकी है जिनमें उल्लेखनीय ये हैं—यातायात तथा संचार आयोग, परिगणना आयोग, जनसंख्या आयोग, सामाजिक आयोग, मानव अधिकार आयोग, नारी-अधिकार आयोग, मादक पदार्थ आयोग, अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु-व्यापार आयोग। आयोगों के सदस्य परिषद् द्वारा चुने जाते हैं। मादक पदार्थ आयोग के प्रतिनिधि सीधे उनकी सरकारों द्वारा नियुक्त किए जाते हैं। परिषद् ने एक उप-आयोग भी स्थापित किया है जिसका मुख्य कार्य भेद-भाव की रोकथाम करना है। इसी प्रकार एक अल्पसंख्यक सुरक्षा सम्बन्धी आयोग है। तीन प्रादेशिक आयोग भी स्थापित किए गए हैं—यूरोपीय आर्थिक आयोग, एशिया एवं सुदूर-पूर्व आर्थिक आयोग तथा लेटिन अमेरिकी आयोग। परिषद् की कुछ विशेष संस्थाएँ भी हैं—उदाहरणार्थ, अन्तर्राष्ट्रीय बाल कल्याण निधि (U N International Children Emergency Fund) जिसका उद्देश्य बाल कल्याण के विभिन्न कार्यक्रमों में सहायता देना है। स्थायी केन्द्रीय अफीम बोर्ड भी परिषद् की एक विशेष संस्था है।

आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् अपनी क्रियाविधि के नियम स्वयं निर्माण

नी है । अपना अध्यक्ष चुनने की विधि भी वह स्वयं निश्चित करती है । परिषद् अधिवेशन आवश्यकतानुसार अपने नियमों के अनुसार होते हैं । इन नियमों के र्गत यह व्यवस्था भी है कि परिषद् सदस्यों के बहुमत की प्रार्थना पर परिषद् अधिवेशन बुलाया जा सकता है ।

मतियाँ

अपने कार्यों मे सहायता के लिए परिषद् स्थायी समितियाँ गठित करती है नमे से मुख्य ये हैं—प्राविधिक सहायता समिति, अन्तर्राष्ट्रीय संस्था वार्तालाप नति, गैर-सरकारी संगठन परामर्श व्यवस्था समिति, कार्य सूची समिति और बैठकों कार्यक्रमों की आन्तरिक समिति । इन समितियों में प्राविधिक सहायता समिति से अधिक महत्त्वपूर्ण है ।

र्य एवं शक्तियाँ

चार्टर के अनुच्छेद 62 से 66 मे आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के कार्यों एवं क्तियों का उल्लेख है । तदनुसार इसके प्रमुख कार्य और अधिकार निम्नलिखित हैं–

प्रथम, यह परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शिक्षा और स्थ्य सम्बन्धी मामलों का अध्ययन करती है । इन मामलों पर वह अपनी रिपोर्ट ती है और महासभा, संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों तथा विशिष्ट संस्थाओं से सिफारिशें र सकती है । परिषद् मानव अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओं के प्रति आस्था बढ़ाने अथवा उनके अनुपालन के लिए भी सिफारिशें कर सकती है ।

दूसरे, परिषद् अपने अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाले मामलों के सम्बन्ध महासभा प्रस्तुत करने के लिए प्रस्तावों के प्रारूप तैयार कर सकती है । संघ के नियमों के अनुसार अपने अधिकार-क्षेत्र में आने वाले मामलों पर वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन करा सकती है ।

तीसरे परिषद् उन विशिष्ट संस्थाओं के साथ, जो अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक और सामाजिक सहयोग से सम्बन्धित हो, समझौते कर सकती है । वह उन शर्तों को भी निश्चित करती है जिनके आधार पर संस्था का संयुक्त राष्ट्रसंघ से सम्बन्ध स्थापित होता हो । इन समझौतों पर *महासभा का* अनुमोदन आवश्यक होता है । परिषद् विशेष कार्य करने वाली संस्थाओं से परामर्श करके या उनसे अपनी सिफारिशें करके उनकी कार्यवाहियों मे तालमेल बैठाती है । यह इन संस्थाओं से विधिवत् रिपोर्ट प्राप्त करने के लिए उचित कदम उठा सकती है । इन रिपोर्टों पर परिषद् के जो विचार होते हैं उन्हें वह महासभा तक पहुँचाती है ।

आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के लक्ष्य बहुत ऊँचे आदर्शों से परिपूर्ण हैं । यह संसार से गरीबी और हीनता को मिटाकर एक स्वस्थ और सुन्दर विश्व के निर्माण के लिए प्रयत्नशील है । विभिन्न राष्ट्रों के बीच सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि क्षेत्रों में विवादों को मिटाने का प्रयत्न करके यह अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहन देती है । पिछड़े हुए देशों के आर्थिक विकास के लिए परिषद् ने अनेक आर्थिक एवं प्राविधिक सहायता-योजनाएँ संचालित की है । परिषद् की प्राविधिक सहायता समिति

का मुख्य उद्देश्य ही मानव जाति को कष्ट और दरिद्रता से छुटकारा दिलाना है। यह अर्द्ध-विकसित देशों को विशेषज्ञ भेजती है और उन्हें मशीनो, उपकरणो आदि की पूर्ति के लिए आर्थिक सहायता देती है। यह भवनों, सड़कों, बन्दरगाहों आदि के विकास में और उद्योग तथा कृषि के उत्पादन को बढ़ाने में सहयोग देती है। परिषद् ने जो प्राविधिक सहायता बोर्ड (Technical Assistance Board) स्थापित किया है वह महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है।

परिषद् का मुख्य लक्ष्य मानव-अधिकारों को प्रोत्साहन देता है और इस दायित्व की पूर्ति के लिए परिषद् द्वारा विभिन्न आयोग स्थापित किए गए हैं। परिषद् के एक आयोग की सिफारिश पर ही महासभा ने 10 सितम्बर, 1948 को मानव-अधिकारो का घोषणा-पत्र (Declaration of Human Rights) स्वीकार किया था जिसमे राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक अधिकारों का विस्तार से उल्लेख है। इन मानव अधिकारो का महत्व प्रकट करने के लिए ही प्रतिवर्ष 10 सितम्बर को 'मानव-अधिकार दिवस' मनाया जाता है। परिषद् ने शरणार्थियों तथा राज्यहीन व्यक्तियो के लिए भी नियम निर्धारित किए हैं तथा ट्रेड यूनियनों के अधिकारों-दासता और बेगार की स्थिति का अध्ययन किया है। स्त्रियों की स्थिति की सूचना एवं व्यावसायिक स्वतन्त्रता सम्बन्धी आयोग स्थापित किया है और इन विषयो मे विभिन्न समझौतों के प्रारूप तैयार किए हैं।

जैसा कि कहा जा चुका है, विभिन्न विशिष्ट अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ के साथ सम्बन्ध स्थापित करना आर्थिक एव सामाजिक परिषद् का उत्तरदायित्व है। अभी तक जिन प्रमुख सस्थाओ के साथ सयुक्त राष्ट्रसघ का सबध है, वे हैं—अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन, सयुक्त राष्ट्र खाद्य एव कृषि सगठन, यूनेस्को, विश्व स्वास्थ्य सगठन, अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण विकास बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन, विश्व डाक सघ, अन्तर्राष्ट्रीय दूर-सचार व्यवस्था सघ एव विश्व ऋतु विज्ञान सगठन।

न्यास परिषद्
(Trusteeship Council)

चार्टर के अध्याय 12 मे अनुच्छेद 75 से 85 तक अन्तर्राष्ट्रीय न्यास व्यवस्था (International Trusteeship System) का और अध्याय 13 मे अनुच्छेद 86 से 91 तक न्यास परिषद् की रचना, शक्तियो, क्रिया-विधियों आदि का उल्लेख है। पहले राष्ट्रसंघ मे सरक्षण-व्यवस्था (Mandate System) थी और अब इसके स्थान पर इससे बहुत कुछ मिलती जुलती न्यास व्यवस्था अपनाई गई है जिसका मुख्य सिद्धान्त यह है कि विश्व मे अनेक पिछड़े हुए तथा अविकसित प्रदेश हैं जिनका विकास तभी सम्भव है जब सभ्य और उन्नत देश उन्हे सहयोग प्रदान करें। अत: उन्नत देशों का यह कर्त्तव्य है कि वे स्वय को न्यासी (Trustee) समझकर अविकसित प्रदेशो के हितो की देख-भाल करे तथा उनके विकास मे हर सम्भव सहयोग दें। राष्ट्रसघ की सरक्षण-व्यवस्था केवल जर्मनी, टर्की आदि से पीड़ित प्रदेशो के लिए

है, वहाँ संयुक्त राष्ट्रसंघ की न्यास पद्धति का क्षेत्र उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद द्वारा पराधीन बनाए गए सभी क्षेत्रों के लिए है। न्यास पद्धति के मूल उद्देश्य हैं—(क) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा में वृद्धि करना, (ख) न्यास प्रदेशों के निवासियों का स्वशासन की दिशा में विकास करना (ग) मानव-अधिकारों और मूल स्वतन्त्रताओं के प्रति सम्मान की भावना को प्रोत्साहन देना तथा यह भाव जाग्रत करना कि संसार के सभी लोग अन्योन्याश्रित हैं, एवं (घ) सामाजिक, आर्थिक, वाणिज्यिक मामलों में संयुक्त राष्ट्रसंघ के सब सदस्यों और उनके नागरिकों के प्रति समानता के व्यवहार का विश्वास दिलाना।

न्यास पद्धति के अन्तर्गत समाविष्ट प्रदेश दो भागों में विभाजित हैं—अस्वशासित प्रदेश (Non-Self Governing Territories), एवं न्यास या संरक्षित प्रदेश (Trust Territories)। प्रथम प्रकार के अस्वशासित प्रदेश में वे पराधीन प्रदेश तथा उपनिवेश हैं जो संरक्षित प्रदेश न बने हों। ये ब्रिटेन, फ्रांस आदि पश्चिमी देशों के साम्राज्याधीन प्रदेश हैं। दूसरे प्रकार के अर्थात् न्यास प्रदेश वे हैं जो न्यास-समझौतों द्वारा, जो सम्बन्धित राज्यों के मध्य होते हैं और जिन पर महासभा की स्वीकृति अनिवार्य है, न्यास प्रदेश बना दिए जाते हैं।

कुछ वर्ष पूर्व न्यास पद्धति के अन्तर्गत न्यूगिनी, रुआण्डाउरुण्डी, फ्रेंच कैमरून, फ्रेंच टोगोलैण्ड, पश्चिमी समोआ, टांगानिका, ब्रिटिश कैमरून, पीरू, प्रशान्त महासागर द्वीप, सुमालीलैण्ड, टोगोलैण्ड नामक 11 देश थे जिनमें से बाद में केवल दो प्रदेश ही न्यास प्रदेश रह गए—न्यूगिनी तथा पपुआ, परन्तु सन् 1975 में ये भी स्वतन्त्र हो गए।

संगठन एवं कार्य-प्रणाली

न्यास परिषद् का कार्य मार्च, 1947 से प्रारम्भ हुआ था। इस परिषद् में संघ के निम्नलिखित सदस्य शामिल हो सकते हैं—

(i) सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य, चाहे वे न्यास प्रदेश पर प्रशासन करते हैं अथवा नहीं।

(ii) संयुक्त राष्ट्रसंघ के वे सदस्य जो न्यास-क्षेत्र का प्रशासन करते हों।

(iii) महासभा द्वारा तीन वर्ष के लिए निर्वाचित उतने सदस्य जितने न्यास परिषद् में न्यास-प्रदेशों पर शासन करने वाले और न करने वाले सदस्यों की संख्या को समान करने के लिए आवश्यक हों।

परिषद् के सदस्य का एक मत होता है। इसके निर्णय परिषद् में उपस्थित सदस्यों के बहुमत से किए जाते हैं। न्यास-परिषद् अपनी कार्यविधि के नियम स्वयं बनाती है। अपने अध्यक्ष चुनने की विधि भी वह स्वयं निर्धारित करती है। न्यास परिषद् की बैठकें नियमानुसार की जाती हैं। सदस्यों की प्रार्थना पर विशेष बैठक भी बुलाई जा सकती है। यह परिषद् आवश्यकतानुसार आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् और अन्य संस्थाओं से सहायता ले सकती है।

कार्य एवं अधिकार

न्यास-परिषद् महासभा से आदेश प्राप्त करती है और न्यास-प्रदेशों के शासन की देख-रेख करती है। प्रशासी अधिकारी अपने प्रतिवेदन प्रतिवर्ष न्यास परिषद् के समक्ष प्रस्तुत करते हैं जिन पर आवश्यक विचार-विमर्श करने के उपरान्त परिषद्, महासभा और सुरक्षा-परिषद् को विभिन्न प्रकार की सिफारिशें भेजती है। न्यास-परिषद् की सिफारिशें इस प्रकार की होती है जैसे, मूल निवासियों को सरकार के विभिन्न अंगों में स्थान दिलाना, उनके वेतन एवं जीवन-स्तर को उन्नत करना, चिकित्सा तथा अधिक लाभप्रद स्वास्थ्य सेवाएँ सुलभ कराना, दण्ड-पद्धति में सुधार, सामाजिक कुरीतियों का अन्त कर मूल निवासियों की कला एवं संस्कृति को प्रोत्साहन देना। न्यास परिषद् ने न्यास-क्षेत्रों में होने वाला अणु विस्फोटों पर भी विचार किया था।

न्यास-परिषद् का दूसरा मुख्य कार्य न्यास-प्रदेश के निवासियों के लिखित एवं मौखिक आवेदन पत्रों पर विचार करना है। यह परिषद् का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है जिसके माध्यम से परिषद् और न्यास-प्रदेशों की जनता में सीधा सम्पर्क स्थापित हो जाता है।

न्यास-परिषद् का तीसरा महत्त्वपूर्ण कार्य समय-समय पर न्यास-प्रदेशों को निरीक्षण मण्डल (Visiting Missions) भेजना है। इन मण्डलों के माध्यम से पराधीन प्रदेशों पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण रखा जाता है। इनको परिषद् की आँख और कान कहा गया है। ये न्यास प्रदेशों के आर्थिक विकास, शिक्षा-प्रसार श्रम-व्यवस्था, सामाजिक-सुधार, भूमि-सुधार आदि से सम्बन्धित नीतियों का अध्ययन करते हैं और सुधार के लिए आवश्यक सुझाव देते है। पिछड़े हुए प्रदेशों की जटिल समस्याओं का ज्ञान प्राप्त करने में इन निरीक्षक मण्डलों से बहुत सहायता मिली है।

न्यास-परिषद् महत्त्वपूर्ण निर्णय स्वय ही करती है तथापि अपने कार्य को तत्परता से सम्पन्न करने अथवा किसी विशेष समस्या को हल करने के लिए समय-समय पर इसने कई समितियाँ स्थापित की है जैसे शिक्षा समिति, ग्रामीण विकास समिति एवं प्रशासी सघ समिति। महासभा की चौथी समिति और स्वय महासभा ने न्यास-पद्धति के विकास में काफी हाथ बंटाया है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय
(The International Court of Justice)

यह सयुक्त राष्ट्रसघ का न्यायिक अंग है। यह वही पुराना अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय है जिसे राष्ट्रसघ ने सन् 1901 में हेग में स्थापित किया था। नवीन न्यायालय अपने पूर्ववर्ती न्यायालय की अपेक्षा कई प्रकार से दोष-मुक्त है।

संगठन

इस न्यायालय में केवल 15 न्यायाधीश होते है जिनका चुनाव सुरक्षा-परिषद् एवं महासभा द्वारा 9 वर्ष के लिए किया जाता है और कार्यविधि की समाप्ति के बाद जो पुनः निर्वाचित हो सकते है। एक राज्य से दो न्यायाधीश नही लिए जा

सकते। न्यायाधीश की पदच्युति भी हो सकती है जबकि वह सदस्यों की सर्वसम्मति से आवश्यक शर्तों को भंग करने का दोषी पाया जाए।

न्यायालय के विधान के अनुसार इसमें 15 न्यायाधीशों के अतिरिक्त अन्य अस्थायी न्यायाधीश नियुक्त करने की भी व्यवस्था है। यदि न्यायालय में किसी ऐसे राज्य का मामला विचारणीय हो जिसका 15 न्यायाधीशों में प्रतिनिधित्व नहीं है तो वह मामले की सुनवाई के समय अस्थायी न्यायाधीश के रूप में अपना एक कानूनी विशेषज्ञ नियुक्त करा सकता है। यह न्यायाधीश मामले की सुनवाई समाप्त होते ही पद से हट जाता है। उससे मामले के सम्बन्ध में कानूनी राय ली जाती है, किन्तु निर्णय में उसका कोई हाथ नहीं रहता। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की गणपूर्ति 9 रखी गई है। न्यायालय में सभी निर्णय बहुमत से लिए जाते हैं। बहुमत न होने पर सभापति का निर्णायक मत मान्य होता है। न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध कोई अपील नहीं की जा सकती। विशेष परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर न्यायालय अपने निर्णयों पर पुनर्विचार कर सकता है। न्यायालय की भाषा फ्रेंच तथा अंग्रेजी है। अन्य भाषाओं को भी अधिकृत रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है।

न्यायिक निर्णय का निष्पादन

संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्णयों को क्रियान्वित कराने के लिए संघ के चार्टर की धारा 94 में व्यवस्था की गई है। इसके अनुसार संघ का प्रत्येक सदस्य यह प्रतिज्ञा करता है कि वह किसी मामले में विवादी होने पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के फैसले को स्वीकार करेगा। यदि एक पक्ष न्यायालय के निर्णय को नहीं मानता तो दूसरा पक्ष सुरक्षा-परिषद् का आश्रय ले सकता है। सुरक्षा-परिषद् जैसा आवश्यक समझे वैसी सिफारिश अथवा कार्यवाही करेगी। न्यायालय के निर्णय यद्यपि सर्वसम्मति से लिए जाते हैं फिर भी मतभेद की अवस्था में प्रत्येक न्यायाधीश अपना पृथक् विचार निर्णय-पत्र के साथ संलग्न कर सकता है।

न्यायालय के निर्णय को कार्यान्वित कराने के लिए आवश्यक कार्यवाही निश्चित करते समय सुरक्षा-परिषद् के 9 सदस्यों की स्वीकृति आवश्यक है। इनमें से पाँच स्थायी सदस्य होने चाहिएँ। क्रियान्विति के उपायों की धारा 41 तथा 42 में प्रावधान है। प्रथम के अनुसार सुरक्षा-परिषद् सैनिक-बल को छोड़कर ऐसे उपायों का प्रयोग कर सकती है जिनमें आर्थिक सम्बन्ध, रेल, समुद्र, डाक, रेडियो, यातायात के साधन तथा राजनीतिक सम्बन्ध विच्छेद शामिल हैं। यदि ये उपाय असफल हो जाएं तो धारा 42 के अनुसार सुरक्षा-परिषद्, जल, स्थल और वायु सेना द्वारा ऐसी कार्यवाही कर सकती है जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए आवश्यक हो।

क्षेत्राधिकार

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–ऐच्छिक क्षेत्राधिकार, अनिवार्य क्षेत्राधिकार तथा परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार। ऐच्छिक क्षेत्राधिकार (Voluntary Jurisdiction) के अन्तर्गत न्यायालय अपनी संविधि (Statute) की धारा 36 के अनुसार उन सभी मामलों पर विचार कर

सकता है जिनसे सम्बन्धित राज्य न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत करें। केवल राज्य ही न्यायालय के विचारणीय पक्ष हो सकते हैं, व्यक्ति नहीं।

अनिवार्य क्षेत्राधिकार (Obligatory Jurisdiction) को वैकल्पिक आवश्यक क्षेत्राधिकार (Optional Compulsory Jurisdiction) भी कहा जाता है जिसके अनुसार राज्य स्वयं घोषणा द्वारा अग्रांकित क्षेत्रों में न्यायालय के आवश्यक क्षेत्राधिकार को स्वीकार कर लेता है—सन्धि की व्याख्या, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र से सम्बन्धित सभी मामले, किसी ऐसे तथ्य का अस्तित्व जिसके सिद्ध होने पर किसी अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्य का उल्लंघन समझा जाए तथा किसी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के उल्लंघन पर क्षतिपूर्ति का रूप और परिणाम। घोषणा करते समय राज्य कोई भी शर्त लगा सकता है। कभी-कभी तो ऐसी शर्तों के कारण यह घोषणा व्यावहारिक रूप में निरर्थक बन जाती है; तथापि, सशर्त होते हुए भी वैकल्पिक धारा अनिवार्य न्यायिक निर्णय की सर्वाधिक और महत्त्वपूर्ण व्यवस्था है।

परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार (Advisory Jurisdiction) के अन्तर्गत न्यायालय द्वारा परामर्श देने का कार्य सम्पन्न किया जाता है। महासभा अथवा सुरक्षा-परिषद् किसी भी कानूनी प्रश्न पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से परामर्श माँग सकती। संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्य अंग तथा विशेष अभिकरण भी उनके अधिकार-क्षेत्र में उठने वाले कानूनी प्रश्नों पर न्यायालय का परामर्श प्राप्त कर सकते हैं। परामर्श के लिए न्यायालय के सम्मुख लिखित रूप में प्रार्थना की जाती है। इस प्रार्थना-पत्र में सम्बन्धित प्रश्न का विवरण तथा वे सभी दस्तावेज संलग्न होते हैं जो उस प्रश्न पर प्रकाश डाल सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का परामर्श केवल परामर्श होता है और सिद्धान्त रूप में सुरक्षा-परिषद्, महासभा या अन्य संस्था इसकी अवहेलना कर सकती है, पर व्यवहार में ऐसा करना सर्वथा कठिन होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अनेक महत्त्वपूर्ण विवादों के समाधान में सहयोग दिया है। उदाहरण के लिए मोरक्को का मामला, ऐंग्लो-ईरानी मामला, भारतीय प्रदेशों से पुर्तगाल को मार्ग देने का विवाद, कोर्फू-चेनल विवाद, ऐंग्लो-नार्वेजियन मछलीगाह विवाद आदि को लिया जा सकता है। न्यायालय के कार्य-संचालन में विभिन्न देशों तथा गुटों ने बाधा उपस्थित की है। राज्यों की अवहेलना तथा उनके असहयोगपूर्ण दृष्टिकोण के कारण यह अधिक उपयोगी तथा शक्तिशाली नहीं बन सका है।

सचिवालय
(Secretariat)

संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यों के सम्पादन के लिए एक सचिवालय की स्थापना की गई है। चार्टर के अध्याय 15 में अनुच्छेद 97 से 101 तक सचिवालय से सम्बन्धित हैं। यह सचिवालय सामान्यतः राष्ट्रसंघ (लीग) के सचिवालय का प्रतिरूप है।

संगठन एव विभाग

सचिवालय मे एक महासचिव और वे कर्मचारी सम्मिलित होते हैं जो सघ के कार्य-सम्पादन के लिए आवश्यक हो। महासचिव सचिवालय की सहायता से अपने सब कार्य करता है। महासचिव की नियुक्ति सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर महासभा द्वारा की जाती है। वही सघ का प्रमुख अभिशासक अधिकारी है। सघ के पदाधिकारियों या कर्मचारियो की नियुक्ति महासचिव महासभा द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार करता है। कर्मचारियो की भर्ती और उनकी सेवा-शर्तों को निर्धारित करने मे सबसे अधिक ध्यान इस बात पर दिया जाता है कि वे कुशल और ईमानदार हो। महासचिव यह भी ध्यान रखता है कि भर्ती अधिक से अधिक विस्तृत भौगोलिक आधार पर हो। अनुच्छेद 101 मे यह व्यवस्था है कि आर्थिक और सामाजिक परिषद् तथा न्याय परिषद् को स्थायी रूप मे यथोचित कर्मचारी उपलब्ध कराए जाएँगे और सघ के अन्य अगो को भी आवश्यकतानुसार कर्मचारी दिए जाएँगे। ये सभी कर्मचारी सचिवालय का ही एक अग होंगे।

महासचिव और उसके कर्मचारी केवल सयुक्त राष्ट्रसघ के प्रति निष्ठावान् होते हैं। अनुच्छेद 100 मे स्पष्ट उल्लेख है कि "अपने कर्त्तव्यो की पूर्ति मे महासचिव और कर्मचारी किसी राज्य से या सघ के बाहर किसी अन्य अधिकारी से परामर्श नही माँगेंगे और न प्राप्त करेंगे। वे अन्तर्राष्ट्रीय अधिकारी हैं और केवल सघ के प्रति उत्तरदायी हैं।"

सयुक्त राष्ट्रसघ का प्रत्येक सदस्य वचनबद्ध है कि वह महासचिव और उसके कर्मचारियों के दायित्वो के पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप को स्वीकार करेगा। प्रत्येक सदस्य-राज्य यह प्रतिज्ञा करता है कि वह महासचिव और कर्मचारियो के दायित्वो के निर्वाह मे किसी प्रकार का प्रभाव डालने की चेष्टा नही करेगा।

सचिवालय, प्रशासनिक और अन्य कार्यों की दृष्टि से, अनेक विभागो मे विभक्त है। इसके प्रमुख विभाग हैं—आर्थिक विषय सम्बन्धी विभाग, सामाजिक कार्य सम्बन्धी विभाग, न्याय तथा अस्वशासित क्षेत्रो से सूचना सम्बन्धी विभाग, सम्मेलन एव सामान्य सेवाएँ, प्रशासकीय एव वित्तीय सेवाएँ तथा वैधानिक या कानूनी विभाग। महासचिव की सहायता के लिए एक कार्यकारिणी सहायक और एक टेक्नीकल सहायता प्रशासक भी होता है। टेक्नीकल सहायता प्रशासन एक महासचालक की देख-रेख मे कार्य करता है। 1 जनवरी, 1955 से महासचिव का कार्यभार कम करने के लिए 7 अवर सचिवों की भी नियुक्ति की गई है। महासचिव के कार्यालय से अनेक कार्यालय सम्बन्धित हैं, जैसे महासचिव का कार्यकारी सचिव वैधिक विषयो का कार्यालय, नियन्त्रक कार्यालय, सेवीवर्ग कार्यालय तथा विशेष राजनीतिक कार्य सम्बन्धी उपसचिव का कार्यालय। सचिवालय के प्रशासी और कर्मचारी वर्ग मे अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री, वैज्ञानिक, दुभाषिए, अनुवादक पुस्तकालयाध्यक्ष, प्रशासक, सम्पादक, वित्तीय अधिकारी, विधिवेत्ता, फोटोग्राफर सेवीवर्ग के अधिकारी तथा विशेषज्ञ, सरकारो और सयुक्त राष्ट्र को भेजे गए विदेशी सेना अधिकारी आदि सम्मिलित होते हैं।

सचिवालय–कार्यालय एवं कार्य

सचिवालय का प्रधान [illegible]लय न्यूयार्क तथा जेनेवा मे है, किन्तु क्षेत्रीय सेवाओं, प्रादेशिक आयोगो तथा म[illegible]रो के लिए इनके कर्मचारी विश्व के कई भागो मे बिखरे रहते है। सचिव[illegible]हुत महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक कार्य सम्पन्न किए जाते हैं। यह संघ के [illegible] अभिकरणो के अधिवेशनो के लिए सेवाएँ प्रदान करता है। यह इन अ[illegible]लिए अध्ययन करता है तथा पृष्ठभूमि तैयार करता है तथा अन्तर्राष्ट्री[illegible] अतिरिक्त सघ के अन्य अगों के लिए सचिवालय सम्बन्धी सेवाएँ [illegible] कार्यकारिणी की भाँति कार्य करता है। सयुक्त राष्ट्रसघ की कार्य[illegible] ध्यान मे रखकर यह प्रत्येक साधन द्वारा हर प्रकार की सूचना एक[illegible]ता है।

महासचिव की [illegible]ति और कार्य

गत रा[illegible]व (लीग) के महासचिव की तुलना मे संयुक्त राष्ट्रसघ का महासचिव अधि[illegible] अधिकारसम्पन्न और प्रभावशाली व्यक्ति है। उसे कुछ ऐसे अधिकार और कर्तव्य सौंपे गए हैं जिनका पुराने राष्ट्रसघ मे सर्वथा अभाव था। चार्टर के अनुसार महासचिव के निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण कार्य है—

1. अनुच्छेद 99 के अनुसार यदि महासचिव समझे कि किसी मामले से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को सकट उत्पन्न हो सकता है तो वह सुरक्षा परिषद् का ध्यान उस मामले की ओर आकर्षित कर सकता है। यह महासचिव का बहुत ही महत्त्वपूर्ण अधिकार है। ऐसा कोई अधिकार राष्ट्रसघ के महासचिव को नही था। इस अधिकार के बल पर ही संयुक्त राष्ट्रसघ के महासचिव अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे व्यक्तिगत रुचि लेकर विश्व-शान्ति कायम रखने की दिशा मे महत्त्वपूर्ण योग देते रहे हैं।

2. अनुच्छेद 98 मे प्रावधान है कि सयुक्त राष्ट्रसघ के प्रमुख प्रशासी अधिकारी की हैसियत से महासचिव महासभा मे सुरक्षा परिषद् मे, आर्थिक और सामाजिक परिषद् मे तथा न्यास परिषद् की बैठको मे कार्य करेगा। इसके अलावा वह उन कार्यों को भी पूरा करेगा जो ये अंग उसे सौंप दे।

3. महासचिव सयुक्त राष्ट्रसघ के कार्यों के विषय मे महासभा के समक्ष वार्षिक रिपोर्ट प्रस्तुत करता है।

4 सघ के पदाधिकारियो और कर्मचारियो की नियुक्ति का भार महासचिव पर ही होता है।

महासचिव की स्थिति वास्तव मे बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसकी वास्तविक शक्तियाँ अनुच्छेद 99 मे केंद्रित हैं। स्टीफेन वेवल के अनुसार इस अनुच्छेद के अन्तर्गत महासचिव को सात महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ प्राप्त हो गई हैं[1]—

(1) किसी भी विवाद या स्थिति को सुरक्षा परिषद् की अस्थायी कार्यसूची मे रखना,

1. *Schwebel, S. M.* : The Secretary General of the United Nations, pp 23-26.

(2) राजनीतिक निर्णय लेना,

(3) सुरक्षा परिषद् के सामने उन आर्थिक और सामाजिक घटनाओं को रखना जिनके राजनीतिक परिणाम निकलने की सम्भावना हो,

(4) अपनी शक्तियों का प्रयोग करने से पूर्व आवश्यक पूछताछ या खोजबीन करना,

(5) यह निश्चय करना कि अमुक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या सुरक्षा परिषद् के सामने प्रस्तुत की जाए एवं परिषद् के समक्ष प्रस्तुत करने से पूर्व औपचारिक रूप से वार्तालाप करना,

(6) अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन करने के लिए आवश्यक घोषणा करना या सुझाव रखना, या सुरक्षा परिषद् के विचारार्थ प्रारूप-प्रस्ताव प्रस्तुत करना, तथा

(7) सुरक्षा परिषद् के मच से विश्व-लोकमत को सम्बोधित करते हुए शान्ति के लिए अपील करना।

महासचिव को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने के महान् अवसर प्राप्त होते हैं। वह निरन्तर विभिन्न देशों के प्रतिनिधि-मण्डलों के सम्पर्क में रहता है, अतः उसकी स्थिति ऐसी होती है कि वह सयुक्त राष्ट्रसघ के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सरकारों को प्रभावित कर सकता है। महासचिव सार्वजनिक वक्तव्य देकर भी विश्व-जनमत को प्रभावित कर सकता है। महासचिव की रिपोर्ट, जो महासभा में प्रस्तुत की जाती है, अमेरिकी राष्ट्रपति के सन्देशों के समान प्रभावशाली होती है। अपनी रिपोर्टों में वह इस तरह की सिफारिश भी कर सकता है कि सगठन को कौनसी नीति या कार्यक्रम अपनाना चाहिए। फिर भी, अन्तिम रूप में सदस्यों का सहयोग ही वह कुँजी है जो महासचिव को असफल या सफल बना सकती है। महासचिव हिटलर, नेपोलियन, लिंकन या लॉयड जॉर्ज नहीं बन सकता। विश्व-सस्था के सदस्यों के विश्वास और सहयोग के अनुपात में ही उसकी शक्ति घट-बढ सकती है। महासचिव एक निष्पक्ष अधिकारी समझा जाता है। वह एक अन्तर्राष्ट्रीय असैनिक सेवक और विश्व-सस्था का प्रवक्ता है।

सयुक्त राष्ट्रसघ के अब तक के महासचिव

सयुक्त राष्ट्रसघ में अब तक महासचिव के पद पर चार व्यक्तियों की नियुक्तियाँ हुई हैं—ट्रिग्वेली, डॉग हेमरशोल्ड, ऊ-थाण्ट तथा कुर्त वाल्दहीम। 1 फरवरी, 1946 को नार्वे के ट्रिग्वेली 5 वर्ष के लिए महासचिव पद पर नियुक्त किए गए। 1 नवम्बर, 1950 को उनका कार्यकाल 3 वर्ष के लिए और बढा दिया गया। 10 नवम्बर, 1952 को उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। 10 अप्रेल 1953 को स्वीडन के डॉग हेमरशोल्ड को महासचिव पद पर नियुक्त किया गया। बाद में 26 सितम्बर, 1957 को उन्हें 10 अप्रेल, 1957 से शुरू होने वाले 5 वर्ष के लिए पुनः महासचिव पद प्रदान किया गया, लेकिन काँगो में शान्ति-अभियान में 18 सितम्बर,

1961 को हवाई दुर्घटना में उनकी मृत्यु हो गई। तब बर्मा के ऊ-थाण्ट को कार्यवाहक महासचिव नियुक्त किया गया और फिर उनकी नियुक्ति 5 वर्ष के पूरे कार्यकाल के लिए करदी गई। अक्तूबर, 1966 मे उनका कार्यकाल समाप्त हो रहा था, किन्तु उन्हे पुनः सर्वसम्मति से महासचिव चुन लिया गया। वर्तमान महासचिव आस्ट्रिया के डॉ कुर्त वाल्दहीम हैं जो 1 जनवरी, 1972 से कार्य कर रहे हैं। 21 सितम्बर से 21 दिसम्बर, 1976 तक सयुक्त राष्ट्र महासभा का 31वाँ नियमित सत्र न्यूयार्क मे हुआ था और सुरक्षा परिषद् की सर्वसम्मत सिफारिश पर महासभा मे डॉ वाल्दहीम को अगले पाँच वर्ष की अवधि के लिए पुनर्निर्वाचित किया गया है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के राजनीतिक कार्य

अथवा

संयुक्त राष्ट्रसंघ की विश्व-शान्ति में भूमिका

सयुक्त राष्ट्रसघ का मुख्य उद्देश्य राजनीतिक समस्याओं का समाधान करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को प्रोत्साहन देना है। सघ के आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र मे किए गए कार्य भी कम महत्वपूर्ण नही हैं, लेकिन उसके राजनीतिक कार्यकलाप ही सामान्यत. अधिक प्रकाश मे आते हैं। विश्व-जनमत राजनीतिक कार्यों के आधार पर ही सघ की सफलता-असफलता का मूल्यांकन करता है। अब तक संघ के सामने कई अन्तर्राष्ट्रीय विवाद उपस्थित हुए हैं जिनको सुलझाने मे कहीं उसे सफलता मिली है और कही निराशा। यहाँ हम कुछ प्रमुख राजनीतिक विवादो का उल्लेख करेंगे और देखेंगे कि सघ उनको निपटाने मे कहाँ तक सफल हुआ है।

1. रूस-ईरान विवाद—सयुक्त राष्ट्रसघ के समक्ष प्रस्तुत यह प्रथम विवाद था। ईरान के एक प्रान्त आइजरबेजान में सोवियत फौजें प्रवेश कर गई थी। 19 जनवरी, 1946 को ईरान ने सुरक्षा-परिषद् मे शिकायत की। रूस पर ईरान के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप का आरोप लगाया गया और ईरानी प्रान्त मे रूसी सेनाओं की उपस्थिति को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए खतरा बताया गया। सुरक्षा-परिषद् मे पश्चिमी गुट के राज्यो ने ईरान का समर्थन किया। जवाब मे रूसी प्रतिनिधि ने परिषद् से प्रार्थना की कि यूनान मे उपस्थित ब्रिटिश सैनिको को निकालने के लिए कार्यवाही की जाए। अमेरिका और सोवियत रूस अपने शीत-युद्ध को संयुक्त राष्ट्रसघ मे घसीट लाए। रूस ने इसी विवाद मे अपने प्रथम वीटो का प्रयोग किया। परिषद् ने रूस से आग्रह किया कि वह 6 मई, 1947 तक ईरान से अपनी सेनाएँ हटा ले। बाद मे मामला दोनो देशों की प्रत्यक्ष वार्ता द्वारा सुलझ गया। 21 मई, 1946 को दोनो देशो की राजधानियो ने घोषणा की कि सोवियत सेनाएँ 9 मई को ही ईरान खाली कर चुकी है।

ईरानी संकट को सुलझाने मे सुरक्षा-परिषद् का यद्यपि विशेष हाथ नही रहा, तथापि परिषद् मे हुई बहसो ने रूस के विरुद्ध प्रबल जनमत जाग्रत कर दिया और रूस ने अपनी सेनाएँ ईरानी भूमि से हटा लेना ही उचित समझा। यह सिद्ध हो गया कि सयुक्त राष्ट्रसघ लोकमत को प्रदर्शित करने वाला एक अत्यन्त उपयोगी मच है।

2. यूनान विवाद—पहले 3 जनवरी, 1946 को रूस ने सुरक्षा-परिषद् से शिकायत की कि महायुद्ध की समाप्ति के बाद भी ब्रिटिश सेनाएँ यूनानी भूमि पर जमी हुई हैं और यूनान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप एवं अन्तर्राष्ट्रीय तनाव पैदा कर रही हैं। परिषद् में विचार-विमर्श के समय यूनानी प्रतिनिधि ने कहा कि यूनानी जनता अपनी सुरक्षा के लिए ब्रिटिश सैनिकों की उपस्थिति अनिवार्य समझती है। इस स्थिति में यह स्वाभाविक था कि सुरक्षा-परिषद् ने मामले की सुनवाई समाप्त करने का निश्चय कर लिया। दिसम्बर, 1946 में यूनान ने परिषद् से शिकायत की कि पड़ोसी साम्यवादी देश छापामारों को सहायता दे रहे हैं और यूनान में तनाव उत्पन्न कर रहे हैं। परिषद् द्वारा नियुक्त आयोग ने मई, 1947 में इस शिकायत की पुष्टि की। परिषद् ने जब आगे जाँच-पड़ताल करने का प्रयत्न किया तो सोवियत रूस ने वीटो का प्रयोग कर दिया। इसके बाद महासभा ने जाँच-पड़ताल के लिए आयोग नियुक्त किया जिसे अल्बानिया, बल्गेरिया और यूगोस्लाविया ने अपनी सीमाओं में प्रवेश की अनुमति नहीं दी। अन्त में तीन मुख्य कारणों से यूनानी समस्या का समाधान हो गया—

(i) महासभा द्वारा नियुक्त आयोग की उपस्थिति में साम्यवादी देश छापामारों को पूरी सहायता नहीं दे सके।
(ii) टीटो-स्टालिन-विवाद के कारण यूनानी छापामारों को यूगोस्लाविया की सहायता बन्द हो गई।
(iii) संयुक्त राष्ट्रसंघ के निरीक्षण में अमेरिका द्वारा यूनान को पूर्ण आर्थिक व सैनिक सहायता प्राप्त हुई।

इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ के सामयिक और साहसिक हस्तक्षेप से दक्षिणी यूरोप का एक महत्त्वपूर्ण देश साम्यवादी नियन्त्रण में जाने से बच गया।

3. बर्लिन की समस्या—सन् 1945 को पोट्सडम समझौते के अनुसार बर्लिन नगर रूस, फ्रांस, ब्रिटेन और अमेरिका के नियन्त्रण में विभक्त कर दिया गया था। पश्चिमी बर्लिन मित्रराष्ट्रों के नियन्त्रण में और पूर्वी बर्लिन रूस के नियन्त्रण में रहा। पोट्सडम सम्मेलन में यह भी तय हुआ था कि दोनों जर्मनी की आर्थिक एकता कायम रखी जाएगी, लेकिन चारों देश इस निर्णय का पालन न कर सके। पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा नई मुद्रा प्रचलित करने से क्षुब्ध होकर रूस ने 1 मार्च, 1948 को पश्चिमी बर्लिन के जल और स्थल मार्ग बन्द कर दिए। इस नाकेबन्दी का प्रत्युत्तर पश्चिमी राष्ट्रों ने हवाई मार्ग का अधिकाधिक प्रयोग करके दिया।

23 सितम्बर, 1947 को सुरक्षा-परिषद् में रूसी नाकेबन्दी के विरुद्ध शिकायत की गई और इस कार्यवाही को शान्ति के लिए घातक बताया गया। झगड़ा महाशक्तियों के बीच था, अतः सुरक्षा परिषद् समस्या पर विचार करने के अतिरिक्त और कुछ भी कर सकने में असमर्थ थी। इस बीच चारों महाशक्तियों के बीच अनौपचारिक रूप से समस्या के समाधान की बातचीत चालू रही और 4 मई, 1949 को फ्रांस, ब्रिटेन व अमेरिका ने सुरक्षा परिषद् को सूचित किया कि बर्लिन समस्या पर रूस से उनका समझौता हो गया है।

यद्यपि समस्या का हल महाशक्तियों के पारस्परिक समझौते से हुआ, तथापि संयुक्त राष्ट्रसघ ने विचार-विमर्श, पत्र व्यवहार और सम्पर्क आदि के रूप मे दोनो पक्षो को परस्पर मिलाने के लिए महत्वपूर्ण तथा उपयोगी पृष्ठभूमि तैयार की और स्थान तथा सुविधाएँ उपलब्ध करायी।

4. कोरिया संकट—इस गम्भीर संकट के समाधान के लिए सयुक्त राष्ट्रसघ को पहली बार सैनिक कार्यवाही का सहारा लेना पडा। जून, 1950 मे उत्तरी कोरिया ने दक्षिणी कोरिया पर भीषण सैनिक आक्रमण कर दिया। सुरक्षा परिषद् ने उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित कर दिया। जुलाई, 1960 मे लगभग 16 राष्ट्रो की सयुक्त राष्ट्रसघीय सेना एकत्र की गई जिसने उत्तरी कोरिया के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की। उत्तरी कोरिया के समर्थन मे चीन भी युद्ध मे कूद पडा। एक ओर तो सयुक्त राष्ट्रसघ की सैनिक कार्यवाही जारी रही और दूसरी ओर सघ ने शान्तिपूर्ण समझौते के प्रयास भी चालू रखे। अन्त मे जुलाई, 1961 मे दोनों पक्षो मे समझौता हो गया। सयुक्त राष्ट्रसघ के प्रयासो से कोरिया का युद्ध विश्व-युद्ध बनने से रुक गया। ए. ई. स्टीवेंसन के शब्दो मे—'सयुक्त राष्ट्रसघ की इस प्रथम महान् सामूहिक सैनिक कार्यवाही ने यह सिद्ध कर दिया कि यह संगठन शक्ति और शान्ति दोनो रूप से काम करने मे सक्षम है।" वास्तव मे सयुक्तराज्य अमेरिका की प्रबल सैनिक शक्ति के बल पर ही संघ कोरिया युद्ध मे सफल हो सका।

5. फिलिस्तीन विभाजन की समस्या—प्रथम महायुद्ध के बाद यह प्रदेश ब्रिटेन को सरक्षित प्रदेश (Mandate) के रूप मे प्राप्त हुआ था। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त फरवरी, 1947 मे ब्रिटेन ने घोषणा की कि उसके लिए इस मेंडेट के शासन-प्रबन्ध को चलाना सम्भव नही है। अप्रेल, 1947 मे ब्रिटेन ने यह समस्या महासभा के सामने प्रस्तुत की। महासभा द्वारा नियुक्त विशेष समिति ने अगस्त, 1947 मे सिफारिश की कि फिलिस्तीन को दो भागो मे विभक्त कर दिया जाए—एक भाग मे अरब राज्य की स्थापना हो और दूसरे मे यहूदी राज्य की। महासभा ने सिफारिश स्वीकार कर ली। लेकिन फिलिस्तीन-विभाजन के प्रश्न पर अरबो और यहूदियो म सघर्ष आरम्भ हो गया। दोनो पक्षो मे प्रभावी युद्ध-विराम के सभी सयुक्त राष्ट्रसघीय प्रयास विफल हो गए। 14 मई, 1948 को ब्रिटेन ने फिलिस्तीन मे अपना शासन हटा लिया (जिसकी घोषणा 15 मई को की गई) और यहूदियो ने फिलिस्तीन मे इजरायल-राज्य की घोषणा कर दी। इस पर ईराक, लेबनान, ट्राँसजोर्डन आदि अरब राष्ट्रो ने फिलिस्तीन पर आक्रमण कर दिया। अरब-राष्ट्र इजरायल के प्रत्याक्रमण को नही झेल सके। 11 जून, 1948 को संयुक्त राष्ट्रसघीय प्रतिनिधि बर्नाडोट के प्रयत्नो से दोनो पक्षो मे चार सप्ताह के लिए युद्ध-विराम हो गया, किन्तु उपद्रव चालू रहे और 17 सितम्बर को बर्नाडोट भी गोली के शिकार हुए। सुरक्षा-परिषद् ने अब डॉ. राल्फ जे. बुंच को कार्यवाहक मध्यस्थ नियुक्त किया। 29 दिसम्बर को तीसरी बार युद्ध-विराम स्थापित हुआ। इसके बाद महासभा ने एक 'सयुक्त राष्ट्र समझौता आयोग' (U. N. Conciliation Commission) नियुक्त

किया जिसने अनेक गम्भीर प्रश्नों का समाधान किया और इजरायल व पड़ोसी राज्यों में सीमा सम्बन्धी सन्धियाँ सम्पन्न हुईं।

यद्यपि संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयासों से फिलिस्तीन के विभाजन की समस्या के समाधान स्वरूप इजरायल और अरब राष्ट्रों में सन्धियाँ हो गईं, तथापि इस क्षेत्र में स्थायी शान्ति की समस्या आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। अक्तूबर, 1956 में मिस्र और इजरायल में पुनः युद्ध छिड़ा तथा रूसी हस्तक्षेप व संयुक्त राष्ट्रसंघीय प्रयासों से शान्ति स्थापित हुई। इसके बाद सन् 1967 और फिर सन् 1973 में अरब राष्ट्रों और इजरायल के बीच भीषण युद्ध हुआ किन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघीय प्रयत्नों से अस्थायी तौर पर शान्ति स्थापित हो गई।

6. इण्डोनेशिया विवाद—द्वितीय महायुद्ध के पूर्व इण्डोनेशिया पर हॉलैण्ड का अधिकार था। युद्धकाल में उस पर जापान ने अधिकार स्थापित कर लिया। जापान की पराजय के बाद इण्डोनेशिया के राष्ट्रवादियों ने अपने यहाँ एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर दी। इसके फलस्वरूप हॉलैण्ड और इण्डोनेशिया में युद्ध छिड़ गया। मामला सुरक्षा परिषद् में आया। परिषद् द्वारा नियुक्त 'सद्भाव समिति' (Good Offices Committee) के प्रयत्नों से अगस्त, 1947 में दोनों पक्षों में युद्ध बन्द हो गया और स्थायी सन्धि-वार्ता आरम्भ हो गई। लेकिन दिसम्बर, 1948 में हॉलैण्ड ने इण्डोनेशियायी गणराज्य के विरुद्ध पुनः युद्ध छेड़ दिया तथा इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति एवं अन्य नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। परिषद् ने इस कार्यवाही का विरोध कर हॉलैण्ड से कहा कि इण्डोनेशिया में एक सर्वोच्च सत्ता-सम्पन्न संघात्मक गणराज्य की स्थापना की जाए जिसे डच सरकार एक जुलाई, 1949 तक सम्प्रभुता हस्तान्तरित कर दे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'सद्भाव समिति' को 'इण्डोनेशिया आयोग' में परिवर्तित कर दिया गया।

काफी विचार-विमर्श और दबाव के बाद हॉलैण्ड ने इण्डोनेशियायी राजधानी से अपनी सेनाएँ वापस बुलाई और यह घोषणा की कि 30 दिसम्बर, 1949 तक इण्डोनेशिया-गणराज्य को सर्वोच्च सत्ता हस्तान्तरित कर दी जाएगी। बाद में 27 दिसम्बर, 1949 को ही इण्डोनेशिया को एक स्वतन्त्र सम्प्रभु गणराज्य मान लिया गया और 28 दिसम्बर, 1950 को उसे संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता भी प्रदान कर दी गई। इण्डोनेशियायी विवाद को हल करने में इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ को उल्लेखनीय सफलता प्राप्त हुई।

7. दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार का प्रश्न—दक्षिण अफ्रीका की सरकार 'काले-गोरे' में भेद-भाव के लिए बहुत समय से बदनाम है। सन् 1946 में संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा के प्रथम अधिवेशन में ही भारत ने यह प्रश्न उपस्थित कर दिया और दक्षिण अफ्रीकी सरकार पर मानवीय मौलिक अधिकारों के उल्लंघन का आरोप लगाया। दक्षिण अफ्रीका ने भारत की शिकायत पर यह सफाई दी कि यह उसका घरेलू मामला है और संयुक्त राष्ट्रसंघ को इसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। महासभा ने दक्षिण अफ्रीका की आपत्ति को अमान्य ठहराते हुए भारतीय

प्रस्ताव पारित कर दिया। किन्तु दक्षिण अफ्रीका ने इस प्रस्ताव की कोई परवाह नहीं की और जाति-भेद की अपनी अमानवीय नीति चालू रखी। सन् 1949 में यह प्रश्न पुनः महासभा में उठाया गया जिसने एक प्रस्ताव द्वारा सिफारिश की कि भारत, पाकिस्तान और दक्षिण अफ्रीका एक गोलमेज सम्मेलन द्वारा समस्या का समाधान करें। सम्मेलन में दक्षिण-अफ्रीका की जिद के कारण कोई निर्णय न हो सका। संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा में अब तक यह प्रश्न बराबर उठाया जाता रहा है, लेकिन दक्षिण अफ्रीका ने अपना रवैया नहीं बदला है। महासभा में प्रस्ताव पारित होते हैं, पर समस्या ज्यों की त्यों बनी हुई है। वास्तव में इस प्रकार के मानवीय व्यवहार की समस्या को न सुलझा पाना संयुक्त राष्ट्रसंघ की बहुत बड़ी विफलता है।

8 कश्मीर समस्या—15 अगस्त, 1947 को भारत उपमहाद्वीप में दो स्वतन्त्र राष्ट्र-भारत और पाकिस्तान की स्थापना हुई। स्वतन्त्रता देने से पूर्व ब्रिटिश सरकार ने यह व्यवस्था की कि देशी राज्य अपनी इच्छानुसार अपनी स्थिति का निर्धारण कर सकते हैं और चाहें तो भारत या पाकिस्तान के साथ शामिल हो सकते हैं। कश्मीर भी इसी तरह का एक देशी राज्य था। इस राज्य ने स्वतन्त्र रहने का निर्णय किया।

पाकिस्तान की नीयत कश्मीर को जबरदस्ती अपने साथ मिलाने की थी। अतः 22 अक्तूबर, 1947 को उसने उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त के कबाइलियों द्वारा कश्मीर पर हमला करवा दिया। पाकिस्तान की नियमित सेना के एक बड़े भाग ने भी इस आक्रमण में भाग लिया। राजधानी श्रीनगर का पतन सन्निकट होने पर कश्मीर के महाराजा ने 26 अक्तूबर, 1947 को भारत सरकार से कश्मीर को भारत में शामिल कर अविलम्ब सैनिक सहायता देने का अनुरोध किया। महाराजा ने प्रवेश पत्रक' (Instrument of Accessation) पर हस्ताक्षर कर दिए। तत्पश्चात् भारतीय सेनाएँ कश्मीर की रक्षा के लिए भेज दी गई। कश्मीर में पाकिस्तान का नग्न आक्रमण जारी रहा और 1 जुलाई, 1948 को भारत ने सुरक्षा परिषद् में शिकायत की कि इस आक्रमण से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को खतरा उत्पन्न हो गया है। भारत ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि पाकिस्तान का कश्मीर पर आक्रमण स्वयं भारत पर आक्रमण है। भारत के तत्कालीन प्रधानमन्त्री पण्डित नेहरू ने घोषणा की कि कश्मीर का भारत में स्थायी विलय वहाँ जनमत संग्रह (Plebescite) के आधार पर होगा।

सुरक्षा परिषद् में दोनों पक्षों की ओर से आरोप प्रत्यारोप होते रहे। 20 जनवरी, 1948 को सुरक्षा परिषद् ने एक मध्यस्थता आयोग (Mediation Commission) नियुक्त किया जिसे युद्धबन्दी और जनमत-संग्रह का कठिन काम सौंपा गया। आयोग के प्रयत्न से युद्ध-विराम हो गया और ⅓ कश्मीर पाकिस्तान के कब्जे में रह गया। आयोग ने जनमत संग्रह कराने के लिए दोनों देशों पर कुछ प्रतिबन्ध लगाए जिन्हें पाकिस्तान ने भंग कर दिया। कश्मीर में परिस्थितियाँ तेजी से बदलती गईं और भारत व पाकिस्तान में समझौता कराने के संयुक्त राष्ट्रसंघीय

प्रयास सफलता प्राप्त न कर सके। पाकिस्तान को पश्चिमी राष्ट्रों का खुला समर्थन मिलता रहा और उनके हाथों में खेलते हुए सुरक्षा परिषद् भारत के साथ अन्याय करती रही। सन् 1954 में कश्मीर संविधान सभा ने कश्मीर के भारत में विलय का विधिवत् अनुमोदन कर दिया। सन् 1956 में राज्य के लिए एक नया संविधान स्वीकार किया गया जिसके द्वारा कश्मीर प्रत्येक दृष्टि से भारत का वैध अंग बन गया। इस तरह कश्मीर समस्या का स्वरूप बिलकुल बदल गया और जनमत-संग्रह का कोई मूल्य नहीं रह गया। पाकिस्तान द्वारा अमेरिकी सैनिक गुट में शामिल हो जाने और कश्मीर को बलपूर्वक लेने की चालें खेलने के कारण जनमत-संग्रह की बात बहुत पहले ही निरर्थक हो चुकी थी।

पाकिस्तान पाश्चात्य राष्ट्रों के समर्थन के बल पर बार-बार कश्मीर के प्रश्न को सुरक्षा परिषद् में उठाता रहा, लेकिन भारत के दृढ़ रवैये और न्याय का पक्ष देते हुए सोवियत रूस द्वारा निषेधाधिकार प्रयोग के कारण उसके कुटिल उद्देश्य पूरे न हो सके।

कश्मीर का मामला आज भी सुरक्षा परिषद् की विषय-सूची में है। दुर्भाग्यवश विश्व की गुटबन्दी के कारण सुरक्षा परिषद् अभी तक इस विवाद को हल नहीं कर सकी है। सुरक्षा परिषद् में पश्चिमी शक्तियों का बहुमत है, अतः पाकिस्तान परिषद् के फैसले को अपने पक्ष में कराने का कोई मौका नहीं चूकता। किन्तु सितम्बर, 1965 और दिसम्बर, 1971 के भारत-पाक युद्धों के बाद अब स्थिति इतनी बदल चुकी है कि पाकिस्तान भी यह समझ गया है कि परिषद् के माध्यम से भारत पर कोई भी निर्णय थोपने की बात सोचना व्यर्थ होगा।

वास्तव में संयुक्त राष्ट्रसंघ के लिए कश्मीर का विवाद राहु के समान सिद्ध हुआ। यद्यपि वह इस प्रश्न पर भारत और पाकिस्तान के बीच होने वाले युद्धों को शान्त कर सका है तथापि पश्चिमी शक्तियों के हाथों में खेलते हुए उसने जो पक्षपातपूर्ण रवैया अपनाया है उससे इस महान् संस्था के गौरव को आघात ही पहुँचा है। न्याय और निष्पक्षता का तकाजा यही है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ आक्रामक पाकिस्तान की सेनाओं को कश्मीर की भूमि से हटाने की कार्यवाही करे।

9 स्वेज नहर विवाद—सन् 1869 में निर्मित स्वेज नहर का संचालन एक स्वेज नहर कम्पनी करती थी जिसमें ब्रिटेन और फ्रांस के अधिकांश शेयर थे। समझौते के अनुसार इसकी रक्षा के लिए ब्रिटिश सरकार अपनी सेना रखती थी। नवम्बर, 1950 में मिस्र की सरकार ने यह माँग की कि ब्रिटिश सेना स्वेज नहर क्षेत्र से हट जाए। ब्रिटेन द्वारा यह माँग ठुकरा देने पर दोनों पक्षों के सम्बन्ध कटु हो गए। मिस्र में राष्ट्रीय आन्दोलन ने जोर पकड़ा और अन्त में जुलाई, 1954 में एक नए समझौते के अन्तर्गत ब्रिटेन को स्वेज नहर क्षेत्र से अपनी सेना हटा लेनी पड़ी। इस समय मिस्र में कर्नल नासिर का शासन था। उपर्युक्त समझौते के बाद भी मिस्र और ब्रिटेन व अन्य पश्चिमी राष्ट्रों के सम्बन्धों में कोई सुधार नहीं हुआ और 26 जुलाई, 1956 को नासिर ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर दिया तथा मिस्र

स्थित स्वेज नहर कम्पनी की सम्पत्ति जब्त कर ली। 26 सितम्बर को ब्रिटेन और फ्रांस ने यह सम्पूर्ण विवाद सुरक्षा परिषद् के समक्ष रखा। 13 अक्तूबर, 1956 को परिषद् ने समस्या के हल के लिए एक प्रस्ताव के रूप में 6 सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जिसमें स्वेज नहर पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण का भी सुझाव दिया गया, लेकिन सोवियत वीटो से यह प्रस्ताव रद्द हो गया।

आपसी तनाव इतना बढ़ गया कि 26 अक्तूबर, 1956 को ब्रिटेन और फ्रांस की प्रेरणा पर इजरायल ने स्वेज नहर क्षेत्र पर आक्रमण कर दिया। इसके दो दिन बाद ही ब्रिटेन और फ्रांस भी इजरायल के साथ युद्ध में कूद पड़े। सुरक्षा परिषद् में युद्ध-बन्दी का प्रस्ताव फ्रांस और ब्रिटेन के वीटो के कारण पास न हो सका। संघ के जीवन में यह घोर संकट का समय था जब सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य स्वयं संघ के चार्टर का उल्लंघन कर संघ के एक सदस्य-राज्य पर आक्रमण कर रहे थे। 2 नवम्बर, 1956 को महासभा के एक विशेष अधिवेशन ने अमेरिका का एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें ब्रिटेन और फ्रांस की सैनिक कार्यवाही की निन्दा करते हुए अविलम्ब युद्ध बन्द करने पर जोर दिया गया। 4 नवम्बर को यह प्रस्ताव पारित किया गया कि महासचिव श्री डॉग हैमरशोल्ट संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक आपातकालीन सेना तैयार करें जो मिस्र में युद्धबन्दी का कार्य करे। 10 राष्ट्रों ने मिलकर 6 हजार सैनिक जुटाये जो संयुक्त राष्ट्रसंघ के नीले और श्वेत ध्वज के नीचे एकत्र हुए। 5 नवम्बर को सोवियत रूस ने ब्रिटेन और फ्रांस को स्पष्ट चेतावनी दी कि यदि एक निश्चित समय में मिस्र पर आक्रमण बन्द नहीं किया गया तो सोवियत संघ नवीनतम शस्त्रों के साथ इस संकट में हस्तक्षेप करेगा। इस चेतावनी से तृतीय महायुद्ध की सम्भावना दिखाई देने लगी और ब्रिटेन और फ्रांस ने भयभीत होकर युद्ध बन्द कर दिया। 7 नवम्बर, 1956 को महासभा ने अपने प्रस्ताव में कहा कि ब्रिटेन, फ्रांस व इजरायल की सेनाएँ मिस्र से हट जाएँ तथा स्वेज नहर क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस की व्यवस्था की जाए। इस प्रस्ताव के फलस्वरूप युद्ध पूरी तरह बन्द हो गया और 15 नवम्बर को संयुक्त राष्ट्रसंघीय आपातकालीन सेना का पहला दस्ता मिस्र पहुँच गया। मिस्र ने संघ की सेनाओं को तभी प्रवेश की आज्ञा दी जब मिस्र की प्रभुसत्ता को हानि न पहुँचाने का वचन दे दिया गया। अप्रेल, 1957 में स्वेज नहर से जहाजों का आना-जाना पुनः आरम्भ हो गया।

मिस्र में युद्ध बन्द कराने और विदेशी सेनाओं को हटाने में संयुक्त राष्ट्रसंघ को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई और स्वेज पर ब्रिटेन व फ्रांस के पुनः आधिपत्य के सपने चूर-चूर हो गए।

10. कांगो समस्या—संघ की सबसे कठिन परीक्षा कांगो में हुई और सौभाग्यवश इसमें उसे सफलता भी प्राप्त हुई। जुलाई, 1960 में कांगो में भीषण गृह-युद्ध छिड़ गया जिसे भड़काने में बेल्जियम का मुख्य षड्यन्त्र था। कांगो सरकार की प्रार्थना पर संयुक्त राष्ट्रसंघीय सेनाओं ने पहुँचकर कांगो और बेल्जियम के बीच होने वाले संघर्ष को तो समाप्त कर दिया, लेकिन कांगोई प्रान्तों के गृह-युद्ध की

स्थिति तेजी से बिगड़ती गई। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने एक ओर तो सैनिक उपायों द्वारा कांगो का विघटन रोका तथा दूसरी ओर समझौतावादी नीति भी अपनाई। सितम्बर, 1962 में महासचिव हेमरशोल्ड कांगो के संघर्षरत नेताओं से बातचीत करने के लिए स्वयं कांगो गए और वहीं मार्ग में एक वायु-दुर्घटना में उनकी मृत्यु हो गई। नए महासचिव ऊथांट ने अपने प्रयत्न जारी रखे। अन्त में, विरोधी प्रान्त कटगा ने अपने घुटने टेक दिए और जनवरी 1963 में कांगो में शान्ति का मार्ग प्रशस्त हो गया। संयुक्त राष्ट्रसंघ का शान्ति स्थापना का कार्य कांगो के एकीकरण के साथ समाप्त हुआ।

11 यमन की समस्या—19 सितम्बर, 1962 को यमन के शासक इमाम अहमद की मृत्यु हो गई। 26 सितम्बर को एक क्रान्ति द्वारा यमन में राजतन्त्र की समाप्ति कर दी गई और क्रांतिकारी परिषद् ने वहाँ गणराज्य की स्थापना की। दूसरी ओर राजतन्त्रवादियों को अपने पक्ष में कर शहजादा हसन ने सऊदी अरब में जिद्दा नामक स्थान पर यमन की निर्वासित सरकार की स्थापना की। दोनों यमनी सरकारें एक दूसरे को समाप्त करने के लिए कूटनीतिक और सामरिक नीतियाँ अपनाती रही। अक्तूबर के समाप्त होते-होते राजतन्त्रवादियों और गणतन्त्रवादियों में भीषण संघर्ष शुरू हो गया। सऊदी अरब और जोर्डन ने राजतन्त्रवादियों की सहायता की और मिस्र ने गणतन्त्रवादियों की। गृह युद्ध को व्यापक बनाने से रोकने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ ने हस्तक्षेप किया। मार्च, 1963 में संघ की ओर से राल्फ बुंच ने प्रत्यक्ष भेंट द्वारा दोनों पक्षों को इस बात के लिए सहमत कर लिया कि वे अपने-अपने सैनिकों को वापस बुला लें और समस्या का शान्तिपूर्ण हल खोजें। संयुक्त राष्ट्रसंघ के बाद के प्रभावपूर्ण प्रयासों के फलस्वरूप शनैः-शनैः बाह्य शक्तियों ने यमन से अपनी सेनाएँ हटा ली और यमन में शान्ति स्थापित हो गई।

12 साइप्रस की समस्या—13 अगस्त, 1960 को साइप्रस ब्रिटिश अधिकार से मुक्त होकर स्वतन्त्र गणराज्य बन गया। साइप्रस का जो संविधान बनाया गया उसमें वहाँ के बहुसंख्यक यूनानियों और अल्पसंख्यक तुर्कों के बीच सामञ्जस्य और शान्ति कायम रखने की व्यवस्था की गई। स्वतन्त्रता के कुछ ही समय बाद राष्ट्रपति मकारियोस ने संविधान में ऐसा संशोधन प्रस्तावित किया जिससे दोनों जातियों के मध्य सन्तुलन और सामञ्जस्य समाप्त हो जाता। फलस्वरूप दोनों जातियों में राजनीतिक संघर्ष और गृह-युद्ध आरम्भ हो गया। समस्या पर यूनान, टर्की और साइप्रस के बीच इङ्गलैण्ड में शान्ति-सम्मेलन शुरू हुआ। ब्रिटेन ने साइप्रस में नाटो सेनाएँ भेजने का चक्कर रचा। राष्ट्रपति मकारियोस ने दिसम्बर, 1963 में सारा मामला सुरक्षा परिषद् के सामने प्रस्तुत कर संयुक्त राष्ट्रसंघीय पर्यवेक्षक भेजने और स्थिति सम्भालने के लिए संघ के हस्तक्षेप की माँग की। लम्बे विचार-विमर्श के बाद मार्च, 1964 में साइप्रस में शान्ति-स्थापना हेतु संयुक्त राष्ट्रसंघीय शान्ति सेना भेजने का निर्णय किया गया। शीघ्र ही अन्तर्राष्ट्रीय सेना साइप्रस पहुँच गई जिसने वहाँ कानून और व्यवस्था स्थापित रखने में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की। इसके बाद इस आपात्कालीन सेना की अवधि बढ़ाई जाती रही।

13. डोमिनिकन गणराज्य विवाद—लेटिन अमेरिका के इस छोटे से राज्य मे अप्रेल, 1965 मे गृह-युद्ध छिड़ गया। अमेरिकी राष्ट्रपति ने अपने पक्ष की सरकार को बचाने के लिए सैनिक हस्तक्षेप किया। बहाना यह लिया गया कि डोमिनिकन गणराज्य को साम्यवादियों से बचाने के लिए यह कार्यवाही की गई है। रूस ने सुरक्षा परिषद् से अनुरोध किया कि वह मामले मे हस्तक्षेप करे। अन्त मे परिषद् द्वारा यह प्रस्ताव पास किया गया कि दोनो युद्धरत पक्ष युद्ध-विराम करें और महासचिव डोमिनिकन गणराज्य में आवश्यक जांच-पडताल के लिए प्रतिनिधि भेजें। अमेरिकी राज्यो के सगठन ने भी समस्या के समाधान की दिशा मे कुछ ठोस कदम उठाए। अन्त मे अमेरिकी राज्यों के सगठन और संयुक्त राष्ट्रसघ मे प्रयासो से 4 माह के गृह-युद्ध के उपरान्त 31 अगस्त, 1965 को दोनो पक्षो मे समझौते के फलस्वरूप शान्ति स्थापित हो गई। महासचिव ने अपनी रिपोर्ट मे खुले शब्दों मे कहा कि डोमिनिकन गणराज्य मे युद्धबन्दी कराने मे सघ ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

14. अरब-इजरायल संघर्ष—सन् 1956 के अरब-इजरायल युद्ध-विराम के बाद सयुक्त राष्ट्रसघ की अन्तर्राष्ट्रीय सेना गाजा और मिस्र की अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पर तैनात हो गई थी ताकि इजरायल-अरबो मे पुनः सघर्ष न छिड जाए लेकिन दोनो पक्षो मे तनाव बढता गया। सन् 1967 मे जोरो से युद्ध की तैयारियां शुरू हो गई। मई मे राष्ट्रपति नासिर के जिद करने पर सयुक्त राष्ट्रसघ के सैनिक हटा लिए गए। अब सयुक्त अरब गणराज्य और इजरायल की सेनाएँ आमने-सामने हो गई। एक-दूसरे की कार्यवाहियो से स्थिति बिगड गई और 5 जून को एकाएक इजरायल ने अरबो पर विनाशकारी आक्रमण कर दिया। जोर्डन, सीरिया, मिस्र, ईराक आदि 10 करोड वाली जनसख्या के देश छोटे से इजरायल के आक्रमण का सामना न कर सके। केवल 5 दिन की लडाई मे ही अरब राष्ट्रो की सामरिक क्षमता का विनाश हो गया। इस बीच सुरक्षा परिषद् युद्ध-विराम के लिए पूरे प्रयास करती रही। 7 जून को परिषद् ने यह आदेशात्मक प्रस्ताव पारित किया कि सभी युद्धरत देश युद्ध बन्द कर दें। चूंकि अरब राष्ट्र युद्ध-क्षमता खो चुके थे और इजरायल सामरिक उद्देश्यो को पूरा कर चुका था, अतः 8 जून को इजरायल और मिस्र के बीच युद्ध-विराम हो गया और 10 जून तक सभी अरब राष्ट्रो और इजरायल के बीच पूरी तरह युद्ध बन्द हो गया। सयुक्त अरब गणराज्य स्वेज तट पर सयुक्त राष्ट्रसघीय पर्यवेक्षक रखने के लिए सहमत हो गया। 16 जुलाई से स्वेज नगर क्षेत्र मे सघ के पर्यवेक्षको की देख-रेख मे युद्ध-विराम लागू हो गया। किन्तु फिर भी पूर्ण शान्ति स्थापित न हो सकी और आज भी इस क्षेत्र मे दोनो पक्षो मे सैनिक झडपें होती रहती है। पारस्परिक तनाव पुनः विस्फोटक स्थिति मे पहुँचता जा रहा है और स्थायी शान्ति तो कोसो दूर दिखायी देती है। अरब राष्ट्रो और इजरायल के बीच बार-बार युद्ध-विराम कराने मे सघ को सफलता अवश्य मिली है, लेकिन इसे समस्या का स्थायी समाधान नहीं कहा जा सकता। इस क्षेत्र मे शान्ति तभी सम्भव हो

सकेंगी जब विश्व की महाशक्तियाँ बीच में पड कर रुचिपूर्वक कोई हल निकालने का प्रयत्न करेंगी ।

15. भारत-पाक सघर्ष, 1965—कश्मीर को हड़पने के लिए पाकिस्तान ने सन् 1965 मे पुन: युद्ध का आश्रय लिया । अगस्त, 1965 मे हजारो पाकिस्तानी हमलावर छिपकर युद्ध विराम रेखा पार कर कश्मीर के भारतीय प्रदेश मे प्रवेश कर गए । भारत ने जब इस घुसपैठी आक्रमण को असफल कर दिया तो सितम्बर, 1965 को अन्तर्राष्ट्रीय सीमा को पार कर पाकिस्तान की एक पूरी पैदल ब्रिगेड और 70 टैंक कश्मीर पर चढ आए । विवश होकर भारत को भी अपनी रक्षा के लिए पाकिस्तान के विरुद्ध खुलकर लडाई छेड देनी पडी । 22 दिन के घमासान युद्ध मे पाकिस्तान पर करारी मार पडी और आखिर सयुक्त राष्ट्रसघ के प्रयासो से 23 सितम्बर, 1965 को प्रात 3½ बजे भारत-पाक युद्ध-विराम हो गया तथा पाकिस्तान की रही सही लाज नष्ट होने से बच गई ।

सयुक्त राष्ट्रसघ प्रारम्भ से अन्त तक युद्ध-विराम के प्रयत्न करता रहा । स्वयं महासचिव ने दिल्ली और करांची पहुँच कर श्री शास्त्री और अयूब से सम्पर्क स्थापित किया । महासचिव ने अपनी प्रारम्भिक रिपोर्ट मे सुरक्षा परिषद् को बताया कि यदि पाकिस्तान सहमत हो तो भारत बिना शर्त युद्ध बन्द करने को प्रस्तुत है, किन्तु पाकिस्तान ने युद्ध-विराम प्रस्ताव को प्रत्यक्षत ठुकरा दिया । महासचिव ने माँग की कि परिषद् दोनो पक्षो को अविलम्ब युद्ध बन्द करने का आदेश दे और युद्ध बन्द न होने पर आवश्यक कार्यवाही करे । भारत ने स्पष्ट कर दिया कि परिषद् पहले यह निश्चित करे कि आक्रामक कौन है । भारत ने यह भी कह दिया कि सयुक्त राष्ट्रसघीय पर्यवेक्षको की रिपोर्ट ही इस बात का स्पष्ट प्रमाण है । पाकिस्तान ने पहले कश्मीर मे घुसपैठी आक्रमण शुरू किया और बाद मे विधिवत् आक्रमण कर दिया। अन्त मे काफी ऊहापोह के बाद परिषद् द्वारा यह प्रस्ताव स्वीकार किया गया कि भारत और पाकिस्तान 22 सितम्बर को दोपहर से युद्ध बन्द कर दें और युद्ध-विराम लागू होने के बाद अपनी सेनाओ को 5 अगस्त, 1965 की स्थिति मे लौटा लें । पाकिस्तान द्वारा सहमति की सूचना देने पर युद्ध 23 सितम्बर, 1965 को प्रात: 3½ बजे बन्द हो गया ।

सुरक्षा परिषद् का 22 सितम्बर का प्रस्ताव भारत के साथ अन्याय था । इसमे दोनो देशो को युद्ध बन्द करने का आदेश दिया गया था जबकि यह आदेश केवल आक्रमणकारी पाकिस्तान को ही दिया जाना चाहिए था, क्योकि उसने ही परिषद् के युद्धबन्दी के पहले वाले प्रस्ताव को ठुकराया था । आक्रामक और आक्रान्त दोनो के साथ एक-सा व्यवहार करना न्यायसगत नहीं था । भारत ने केवल यही सोचकर इसे स्वीकार कर लिया कि उसकी शान्तिप्रियता पर कोई अगुली न उठा सके ।

16. चेकोस्लोवाकिया का सकट—21 अगस्त, 1968 को सोवियत सघ तथा वारसा-सन्धि के अन्य साम्यवादी देशो ने चेकोस्लोवाकिया मे सैनिक कार्यवाही

कर हंगरी की घटनाओं को एक बार फिर ताजा कर दिया । रूसी पक्ष की इस सैनिक कार्यवाही के कई कारण थे । मूल कारण यह घोषित किया गया कि चेकोस्लोवाकिया के साम्यवादी शासन की प्रतिक्रियावादी तत्वों से रक्षा के लिए सैनिक हस्तक्षेप अनिवार्य हो गया है । तुरन्त ही इस मसले को सुरक्षा परिषद् में उठाया गया । परिषद् के 7 सदस्य-राष्ट्रों की ओर से एक प्रस्ताव रखा गया जिसमें रूसी कार्यवाही को एक स्वतन्त्र और प्रभुत्वसम्पन्न राष्ट्र पर आक्रमण की संज्ञा देकर उसकी निन्दा की गई तथा यह माँग की गई कि रूस और वारसा राष्ट्रों की सेनाएँ शीघ्र ही चेकोस्लोवाकिया से वापस चली जाएँ । कई कारणों से यह प्रस्ताव व्यर्थ सिद्ध हुआ । स्वयं चेकोस्लोवाकिया की सरकार ने इस प्रस्ताव का विरोध किया । बाद में सितम्बर में महासभा के अधिवेशन में इस विवाद को पुनः उठाने का प्रयत्न किया गया, लेकिन इस बार भी कोई परिणाम नहीं निकला । वास्तव में चेकोस्लोवाकिया-संकट के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ ने एक मूकदर्शक से अधिक नहीं निभायी ।

17. साम्यवादी चीन का संयुक्त राष्ट्रसंघ में प्रवेश—महासभा ने सन् 1971 के अधिवेशन में लगभग 22 वर्षों से विद्यमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के साम्यवादी चीन की सदस्यता से सम्बन्धित एक बहुत ही जटिल प्रश्न का समाधान कर दिया गया । 26 अक्तूबर, 1971 को साम्यवादी चीन को संघ की सदस्यता प्रदान करने और ताइवान (राष्ट्रवादी चीन) को वहाँ से निष्कासित करने सम्बन्धी अल्बानिया द्वारा प्रस्तुत 35 के विरुद्ध 76 मतों से स्वीकार कर लिए जाने से संयुक्त राष्ट्रसंघ के इतिहास में वस्तुतः एक नए युग का सूत्रपात हुआ ।

18 बंगलादेश की समस्या—पाकिस्तान ने अपने ही एक भाग पूर्वी बंगाल की स्वायत्तता की माँग को कुचलने के लिए सन् 1970-71 में बर्बर दमन चक्र चलाया जिसके फलस्वरूप मार्च, 1971 में पूर्वी बंगाल की जनता ने एक स्वतन्त्र देश के रूप में अपनी स्थापना की घोषणा कर दी । पाकिस्तान ने बंगलादेश के जन-आन्दोलन को कुचलने के लिए अमानुषिक ढंग से सैनिक शक्ति का प्रयोग किया, जिसके कारण लगभग एक करोड़ लोग भागकर शरणार्थियों के रूप में भारत आ गए । भारत ने तथा अन्य देशों के साथ स्वयं बंगलादेश के प्रतिनिधि मण्डल ने इस समस्या की गम्भीरता की ओर संयुक्त राष्ट्रसंघ का ध्यान आकर्षित किया । लेकिन अमेरिका के पाक-समर्थक और बंगलादेश विरोधी रवैये के कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ इस समस्या को सुलझाने और बंगलादेश में पाकिस्तान द्वारा मानवीय अधिकारों के हनन को रुकवाने में कोई विशेष सहायता नहीं कर सका । पाकिस्तान का भीषण अत्याचार और हत्याकाण्ड चालू रहा तथा विश्व-संस्था उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं कर सकी । बाद में भारत के सहयोग से बंगलादेश का मुक्ति-संग्राम सफल हुआ और एक सम्प्रभु राज्य के रूप में वह संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य भी बन गया ।

19 भारत-पाक संघर्ष, 1971—इस संघर्ष के समय भी संयुक्त राष्ट्रसंघ ने अमेरिका और उसके पिछलग्गू राष्ट्रों के प्रभाव में आकर पुनः बड़ा पक्षपातपूर्ण रुख अपनाया । भारत के इस अनुरोध पर कोई ध्यान नहीं दिया गया कि असली विवाद

पाकिस्तान और बंगलादेश के बीच है तथा इसे भारत-पाक विवाद के रूप में नहीं लिया जाना चाहिए।

सुरक्षा परिषद् में अमेरिका ने प्रस्ताव रखा कि भारत तथा पाकिस्तान युद्ध-विराम करें और तुरन्त अपनी-अपनी सेनाएँ पीछे हटा लें। अन्य राष्ट्रों द्वारा भी प्रस्ताव प्रस्तुत किए गए जिनमें से एक में युद्ध विराम कर सेनाएँ वापस हटाने की बात थी। चौथा प्रस्ताव रूस द्वारा पेश किया गया जिसमें कहा गया था कि पूर्वी पाकिस्तान का राजनीतिक हल निकाला जाए जिससे स्वाभाविक रूप से अन्त में संघर्ष समाप्त हो सकेगा। अमेरिका के प्रस्ताव पर रूसी वीटो के प्रयोग से भारत के समक्ष उपस्थित एक भारी संकट टल गया। 24 घण्टे में ही परिषद् की दूसरी बैठक में पुनः युद्ध-विराम तथा दोनों पक्षों के सैनिकों के लौट जाने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया जिसे रूस ने पुनः वीटो कर दिया। चीन ने अपने असफल प्रस्ताव में भारत पर आक्रमण करने का आरोप लगाया। सुरक्षा परिषद् में असफल होने पर विवाद महासभा के समक्ष प्रस्तुत हुआ जिसमें अमेरिका और उसके साथी राष्ट्रों के प्रभाव से युद्ध-विराम तथा सेनाओं की वापसी का प्रस्ताव स्वीकृत हो गया। भारत ने स्पष्ट कर दिया कि कोई भी युद्ध-विराम तब तक लागू नहीं किया जा सकता जब तक बंगलादेश के मुक्ति आन्दोलन और वहाँ से पश्चिमी पाकिस्तान की सेनाओं की वापसी की बात को नहीं माना जाता। 14 दिसम्बर को परिषद् की तीसरी बैठक में अमेरिका के पहले जैसे ही प्रस्ताव पर रूस ने तीसरी बार निषेधाधिकार का प्रयोग किया। परिषद् का अगला अधिवेशन बुलाए जाने और कोई अन्य प्रपंच किए जाने से पूर्व ही भारत ने एक पक्षीय युद्ध-विराम की घोषणा कर दी (16 दिसम्बर)। भारत का उद्देश्य बंगलादेश गणतन्त्र को पाकिस्तानी कब्जे से मुक्ति दिलाना था। यह उद्देश्य पूरा होते ही उसने युद्धबन्दी का आदेश दे दिया और युद्ध में बुरी तरह पिट रहे पाकिस्तान ने युद्ध बन्द कर देने में ही अपनी कुशलता समझी।

20. अरब-इजरायल युद्ध, 1973—अक्तूबर, 1973 में चौथा अरब-इजरायल युद्ध प्रारम्भ हो गया, लेकिन महाशक्तियों की उदासीनता के कारण सुरक्षा परिषद् में तत्काल सारी स्थिति पर विचार नहीं हो सका। रूस ने इसलिए रुचि नहीं ली कि युद्ध के प्रारम्भ में अरबों की विजय हो रही थी। अमेरिका द्वारा रुचि लेने का कारण था कि वह उस अवसर की प्रतीक्षा में था जब इजरायल सम्भल कर जवाबी हमले द्वारा अपना पक्ष मजबूत कर लेता। इसी बीच संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव वाल्दहीम ने सुझाव रखा कि युद्धरत राष्ट्रों में अविलम्ब युद्ध बन्द करने की अपील की जाए। 7 अक्तूबर को सुरक्षा परिषद् की गुप्त बैठक में इस सुझाव पर विचार हुआ, लेकिन रूस और चीन के विरोध के कारण कोई प्रस्ताव स्वीकार नहीं हो सका। अधिकांश सदस्यों का विचार था कि ऐसी किसी भी अपील से तब तक कोई लाभ नहीं होगा जब तक उसके साथ ही यह माँग भी न की जाए कि इजरायली सेनाएँ सन् 1967 की युद्ध-पूर्व की विराम रेखा तक लौट जाएं। 9 अक्तूबर को अमेरिका ने सुरक्षा परिषद् की बैठक बुलाने की पहल की।

अपने प्रस्ताव में उतने मांग रखी कि इजरायल, मिस्र और सीरिया से युद्ध बन्द करने और युद्ध की पूर्व स्थिति तक अपनी-अपनी सेनाएँ लौटा लेने की अपील की जाए। यह प्रस्ताव अरब देशों के हित मे नही था। अतः रूस ने आरम्भ मे ही स्पष्ट कर दिया कि वह ऐसे किसी भी प्रस्ताव को 'वीटो' कर देगा। परिषद् की प्रथम बैठक मे कोई निर्णय नही लिया जा सका और 12 अक्तूबर की दूसरी बैठक मे भी इस प्रश्न पर कोई सहमति न हो सकी कि किस प्रकार युद्ध बन्द कराया जाए। जब युद्ध की स्थिति अत्यधिक विस्फोटक हो गई तो 22 अक्तूबर को रूस और अमेरिका ने सयुक्त रूप से सुरक्षा परिषद् मे एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया जिसे स्वीकार कर लिया गया। इस प्रस्ताव मे कहा गया कि सुरक्षा परिषद् यह मांग करती है कि युद्धरत पक्ष तुरन्त युद्ध बन्द कर दें और जो जिस जगह है वहीं इस प्रस्ताव की स्वीकृति के 12 घण्टे के अन्दर सारी कार्यवाही रोक दें; युद्धबन्दी के तुरन्त बाद सुरक्षा परिषद् के सन् 1967 के 242वें प्रस्ताव को पूर्णरूप से लागू किया जाए एव सम्बन्धित पक्ष न्यायोचित तथा स्थायी शान्ति की स्थापना के लिए समझौता-वार्ता आरम्भ कर दें। परिषद् के प्रस्ताव को इजरायल और मिस्र ने 22 अक्तूबर की शाम को 7 बजे स्वीकार कर लिया, लेकिन सीरिया ने इसे स्वीकार नही किया, अतः गोलन पहाडियो पर युद्ध जारी रहा। स्थिति इतनी बिगड गई कि रूस का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप होने की सम्भावना दिखायी देने लगी। 26 अक्तूबर को अमेरिका ने भी विश्व भर मे अपने सैनिको को सतर्क रहने का आदेश दे दिया। 27 अक्तूबर को सुरक्षा परिषद् की बैठक मे युद्ध-विराम की निगरानी के लिए और उसके उल्लघन को रोकने के लिए सयुक्त राष्ट्रीय आपात् सेना के गठन पर विचार-विमर्श हुआ और परिषद् ने भारत के एक प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। महासचिव ने कहा कि आपात् सेना मे 7 हजार व्यक्ति होगे। एक सैनिक टुकडी अविलम्ब ही मिस्र मे युद्ध-विराम का उल्लघन रोकने के लिए तैनात कर दी गई। इसके बाद पश्चिमी एशिया की विस्फोटक स्थिति मे कुछ सुधार हुआ। समझौता-वार्ता चालू रही और तब अन्त मे 11 नवम्बर, 1973 को इजरायल और मिस्र के बीच एक 6 सूत्री समझौते पर हस्ताक्षर हो गए। सयुक्त राष्ट्रसघ की भूमिका से पुनः यह स्पष्ट हो गया कि वह महाशक्तियो के हाथ का खिलौना है।

सयुक्त राष्ट्रसघ की राजनीतिक गतिविधियो के इस विवेचन से स्पष्ट है कि सघ ने विवादो का समाधान करने मे अपनी जागरूकता दिखायी है, लेकिन वह महाशक्तियों की अडगेबाजी का शिकार रहा है। कश्मीर के प्रश्न, वियतनाम के सघर्ष, दक्षिण अफ्रीका की रंग-भेद नीति, नि.शस्त्रीकरण, अणुशक्ति के प्रयोग पर प्रतिबन्ध, पश्चिमी एशिया के सकट के स्थायी समाधान आदि में सघ को विफलता का ही मुँह देखना पडा है। फिर भी उनमे से कुछ समस्याओ को अधिक विस्फोटक बनने से रोकने की दिशा मे संघ के प्रयास प्रशसनीय रहे हैं। अनेक अवसरो पर सघ के सामयिक हस्तक्षेप के कारण ही स्थिति विस्फोटक होने से रुकी है। यद्यपि संघ विश्व-शान्ति और सुरक्षा के प्रतीक के रूप में पूर्ण सन्तोषजनक सिद्ध नहीं हुआ है

तथापि प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप मे शान्ति स्थापना के इसने अनेक बार सफल प्रयत्न किए हैं।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के विशिष्ट अभिकरण और संस्थाएँ : गैर-राजनीतिक कार्य

विश्व मे शान्ति कायम रखना तथा राष्ट्रों के बीच उत्पन्न राजनीतिक विवादो को सुलझाना सयुक्त राष्ट्रसघ का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है, लेकिन चार्टर ने सघ पर कुछ गैर-राजनीतिक कार्यों का दायित्व भी डाला है, जिनका उद्देश्य मानव-समाज के भौतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास मे सहयोग देना है। चार्टर मे अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक और सामाजिक सहयोग पर विशेष बल दिया गया है। अनुच्छेद 55 मे व्यवस्था है कि—

"कौमो के समानाधिकार और स्वाधीनता के आधार पर राष्ट्रो के बीच शान्ति और मित्रता के सम्बन्ध स्थापित करने के लिए तथा जनहित और स्थिरता की जो स्थितियाँ आवश्यक हैं उनको पैदा करने के लिए सयुक्त राष्ट्रसघ नीचे लिखी बातो को प्रोत्साहन देगा—

(क) रहन-सहन का स्तर ऊँचा करना, सबके लिए काम की व्यवस्था करना आर्थिक और सामाजिक उन्नति के विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करना।

(ख) अन्तर्राष्ट्रीय, आर्थिक, सामाजिक, स्वास्थ्य और तत्सम्बन्धी समस्याओ का सुलझाना तथा सस्कृति एव शिक्षा के क्षेत्र मे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्रदान करना।

(ग) जाति, लिंग, भाषा और धर्म का भेद किए बिना सबके लिए मानव-अधिकारो और मूल स्वतन्त्रताओ के प्रति सर्वत्र सम्मान और उनका पालन कराना।"

इन विभिन्न उद्देश्यो की पूर्ति के लिए सयुक्त राष्ट्रसघ अपनी स्थापना के समय से ही प्रयत्नशील है। इन कार्यों का सम्पादन सघ कई विशिष्ट अभिकरणो और सस्थाओ की सहायता से करता है। जिन अभिकरणों और सस्थाओ का सयुक्त राष्ट्रसघ के साथ सम्बन्ध है, उन्हे कार्यों की दृष्टि से चार समूहों मे वर्गीकृत किया जा सकता है—आर्थिक, सचार, सास्कृतिक एव स्वास्थ्य तथा कल्याण सम्बन्धी।

आर्थिक सगठन

आर्थिक कार्यों के लिए जिन चार मुख्य सस्थाओ का निर्माण किया गया वे हैं—(क) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन (I L O.), (ख) खाद्य एव कृषि सगठन (F A. O), (ग) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I. M F.), एव (घ) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (I. F. C.)।

(क) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन—यह एक पुराना अन्तर्राष्ट्रीय सगठन है जिसकी स्थापना प्रथम महायुद्ध के बाद हुई थी और जो राष्ट्रसघ (लीग) के साथ सम्बद्ध था। बाद मे इसे सयुक्त राष्ट्रसघ के साथ सम्बद्ध कर दिया गया। इस संगठन

के सिद्धान्त हैं— (i) श्रम वस्तु नहीं है, (ii) गरीबी समृद्धि के लिए खतरनाक है, (iii) मानव-प्रगति के लिए सगठन तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता परमावश्यक है, एव (iv) अभाव और दरिद्रता के विरुद्ध प्रत्येक देश को पूरे उत्साह के साथ युद्ध करना चाहिए। इन सिद्धान्तों की पूर्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने जो कार्यक्रम अपनाया है वह मोटे रूप मे इस प्रकार है—श्रमिको को जीवन-निर्वाह और पूर्ण रोजगार के लिए आवश्यक तथा पूरी मजदूरी प्राप्त हो, श्रमिको की सामाजिक सुरक्षा के लिए आवश्यक कार्यों का विस्तार हो, श्रमिकों के लिए पर्याप्त भोजन और आवास की व्यवस्था हो, श्रमिकों को सामूहिक सौदेबाजी का अधिकार प्राप्त हो, उन्हे अवसरो की पूरी समानता प्राप्त हो एवं उनके स्वास्थ्य और सुरक्षा की सुचारु व्यवस्था हो। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन ने अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा श्रमिकों का जीवन-स्तर सुधारने और उनकी आर्थिक और सामाजिक स्थिरता बढ़ाने की दिशा मे महत्वपूर्ण कार्य किया है। सगठन के तीन प्रमुख अग हैं—(क) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन (International Labour Conference), (ख) प्रशासनिक निकाय (Governing Body), एव (ग) अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक कार्यालय (International Labour Office)।

(ख) खाद्य एवं कृषि संगठन--सयुक्त राष्ट्रसघ के अन्तर्गत सन् 1945 मे महायुद्ध के बाद स्थापित यह प्रथम सगठन था। इसका मुख्य उद्देश्य विश्व मे खाद्य एव कृषि की दशाओ को उन्नत करना है। पौष्टिक खुराक प्राप्त हो, रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठे, फार्मों, जंगलों तथा मछली उद्योग वाले क्षेत्रो मे सभी तरह के खाद्य पदार्थों के उत्पादन मे वृद्धि हो तथा इनका समुचित वितरण हो--इन बातो के लिए यह सगठन प्रयत्नशील रहता है। इसने विश्व के विभिन्न भागो मे भूमि और जल के मूल साधनों के विकास मे योग दिया है और नवीन प्रकार के पौधो की अदला-बदली को प्रोत्साहन दिया है। विश्व के देशो मे इसने कृषि के उन्नत तरीको का प्रचार किया है, मवेशियों के रोग-निवारण के लिए कार्य किया है और इस दिशा मे विभिन्न राष्ट्रों को तकनीकी सहायता दी है। खाद्य और कृषि की प्रत्येक समस्या पर इस सगठन की तकनीकी सहायता और परामर्श महत्वपूर्ण रहे हैं। यह प्रतिवर्ष विश्व-खाद्यान्नो का निरीक्षण करता है। भारत मे बजर भूमि को कृषि योग्य बनाने मे इस सगठन ने बहुत सहायता की है।

खाद्य एव कृषि सगठन के मुख्य अगो मे एक सम्मेलन, एक परिषद् और डायरेक्टर जनरल तथा उसका स्टाफ सम्मिलित है। सम्मेलन मे प्रत्येक सदस्य-राज्य का एक-एक प्रतिनिधि होता है। सम्मेलन ही खाद्य और कृषि सगठन की नीति का निर्धारण करता है और बजट स्वीकार करता है। सम्मेलन के अधिवेशन की समाप्ति और आरम्भ की अवधि मे परिषद् काम करती है।

(ग) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष--इसकी स्थापना 27 दिसम्बर, 1945 को हुई जबकि इसके कोष का 80 प्रतिशत भाग विभिन्न राष्ट्रो के प्रतिनिधियों ने जमा करा दिया। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के मुख्य लक्ष्य हैं--विनिमय स्थायित्व को प्रोत्साहन

देना, सदस्यो के बीच व्यवस्थित विनिमय-व्यवस्था की स्थापना करना प्रतिस्पर्द्धापूर्ण विनिमय तथा मन्दी की स्थिति को दूर करना, सदस्यो के बीच चालू लेन-देन मे भुगतान की बहुपक्षीय प्रणाली की स्थापना मे सहायता करना, विश्व-व्यापार की प्रगति मे अवरोधक विदेशी विनिमय के प्रतिबन्धो को समाप्त करना, सदस्यो के लिए कोष के साधन उपलब्ध कराना और इस तरह उनमे विश्वास की भावना जगाना आदि। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का प्रबन्ध-कार्यालय उस देश मे होता है जो सबमे अधिक नियतांश प्रदान करता है। वर्तमान समय मे यह कार्यालय संयुक्तराज्य अमेरिका मे है। इस कोष की शाखाएँ किसी भी सदस्य-देश मे खोली जा सकती हैं। मुद्रा कोष के कार्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण रहे है। इसने विभिन्न देशो को समय-समय पर ऋण देकर उनके भुगतान की बकाया के स्थायी असन्तुलन को दूर किया है। *अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-सहयोग और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास मे* इसका भारी योग रहा है। इसने सदस्य-देशो को भुगतान की बकाया के दीर्घकालीन असन्तुलन को दूर करने मे भी सहायता दी है। कोष आर्थिक और मौद्रिक विषय पर सदस्य-देशो को उपयोगी परामर्श देता है। यह अपने सदस्यो को विश्व की आर्थिक स्थिति के परिवर्तन की सूचनाएँ नियमित रूप से देता रहता है। कोष अपने विशेषज्ञो की *सेवाएँ प्रदान करता ही है, कभी-कभी बाहरी विशेषज्ञो को भी सदस्य-देशो की* सहायतार्थ भेजता है। ये विशेषज्ञ सदस्य देशो के आर्थिक परामर्शदाताओ का कार्य करते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का प्रबन्ध एक गवर्नर-मण्डल (Board of Governors), कार्यकारी सचालक मण्डल (Board of Executive Directors) और प्रबन्ध सचालको (Managing Directors) तथा अन्य स्टाफ की सहायता से किया जाता है।

(घ) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम—इसकी स्थापना जुलाई सन् 1956 मे की गई और 20 फरवरी, 1957 से यह सयुक्त राष्ट्रसघ के एक विशिष्ट अभिकरण के रूप मे कार्य कर रहा है। इसका कोष अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के कोष से बिल्कुल पृथक् है। निगम का मूल उद्देश्य विश्व बैंक के एक पूरक के रूप मे उत्पादनशील निजी उद्यम के विकास को (विशेषकर अर्द्ध-विकसित देशो मे) प्रोत्साहन देना है। निगम के चार्टर मे धारा 1 मे इसके इन उद्देश्यो का उल्लेख है।

1. निजी उद्योगो के विकास, सुधार और विस्तार को बढावा देना तथा इसके लिए बिना सरकार की गारण्टी के सदस्य-देशो मे स्थित निजी उद्योगो मे विनियोग करना।

2. विनियोग के अवसरो, देशी और विदेशी निजी पूँजी तथा अनुभवी व्यवस्थापन को परस्पर सम्बद्ध करना और उनमे समन्वय स्थापित करना।

3 सदस्य-राष्ट्रो मे घरेलू और निजी विदेशी पूँजी को उत्पादनशील विनियोगों मे प्रवाहित कर विकास मे सहायक परिस्थितियो को उत्पन्न करना हो।

सारांश मे निगम का उद्देश्य निजी उद्योगों के साथ मिलकर बिना सम्बन्धित

सरकार की गारण्टी के उनमे पूंजी का विनियोग करना है। यह केवल निजी क्षेत्र के उद्योगों मे ही विनियोग कर सकता है, सरकारी योजनाओं और सरकार द्वारा स्थापित उपक्रमो में नहीं। भारत इस निगम का प्रारम्भ से ही सदस्य रहा है और निगम की पूँजी मे भारत ने जो भुगतान किया है उसके आधार पर भारत का निगम मे चौथा स्थान है। निगम की सदस्यता केवल उन्हीं देशों को प्राप्त हो सकती है जो विश्व-बैंक के सदस्य हैं। सदस्यता ऐच्छिक है, अनिवार्य नहीं। निगम के प्रबन्ध के लिए एक गवर्नर-मण्डल होता है। दिन-प्रतिदिन के कार्य-संचालन के लिए एक संचालक बोर्ड होता है। विश्व-बैंक का अध्यक्ष निगम के संचालक-बोर्ड का पदेन चेयरमैन होता है।

(ड) अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण विकास बैंक—ब्रेटनवुड्स सम्मेलन में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक की स्थापना का भी निर्णय किया गया। यह संस्था, जिसे विश्व बैंक (World Bank) भी कहते हैं, मुद्रा कोष की एक पूरक संस्था के रूप मे 27 दिसम्बर, 1945 को स्थापित हुई, किन्तु 25 जून, 1946 से इसने अपना कार्य आरम्भ किया। मुद्रा कोष और विश्व बैंक 'स्थायित्व एवं विकास' के उद्देश्यो पर आधारित हैं। मुद्रा कोष स्थायित्व पर अधिक बल देता है और विश्व बैंक 'विकास' पर। इसके मुख्य उद्देश्य है—*सदस्य राष्ट्रों का पुनर्निर्माण एवं विकास, व्यक्तिगत विदेशी विनियोगों को* प्रोत्साहन, दीर्घकालीन सन्तुलित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन, अधिक आवश्यक उत्पादन के कार्यों को प्राथमिकता, शान्तिकालीन अर्थव्यवस्था की स्थापना। प्रत्येक राष्ट्र, जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य है, विश्व बैंक का भी स्वतः ही सदस्य बन जाता है। इस प्रकार इन दोनों संस्थाओं की सदस्यता साथ-साथ चलती है और एक की सदस्यता त्याग देने पर दूसरे की सदस्यता भी सामान्यतः समाप्त हो जाती है। मुद्रा कोष की सदस्यता समाप्त हो जाने पर कोई देश विश्व बैंक का सदस्य तभी बना रह सकता है जब उसे बैंक के 75 प्रतिशत मतो का समर्थन प्राप्त हो। प्रारम्भ मे बैंक की अधिकृत पूंजी 10,000 मिलियन डॉलर थी जिसमे समय-समय पर वृद्धि होती रही है। 31 दिसम्बर, 1970 से इसे 24 मिलियन डॉलर से बढ़ाकर 27 मिलियन डॉलर कर दिया गया है। बैंक की पूंजी मे अमेरिका का भाग (6,350 मिलियन डॉलर) सबसे अधिक है, दूसरे स्थान पर इंग्लैण्ड, तीसरे पर पश्चिमी जर्मनी, चौथे पर फ्रांस और पाँचवें पर भारत (900 मिलियन डॉलर) है।

विश्व बैंक का संगठन भी मुद्रा कोष के संगठन की भांति है। बैंक के संगठन मे बोर्ड ऑफ गवर्नर्स, प्रशासनिक संचालन बोर्ड, सलाहकार समिति और ऋण समिति विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। विश्व बैंक के प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं—सदस्य-देशो को ऋण देना (अधिकांश ऋण अल्पविकसित देशो मे बिजली, उद्योग, परिवहन आदि के विकास के लिए ही दिए गए हैं); निजी विनियोजकों को गारण्टी देकर उनकी पूंजी अन्य देशों को दिलाना; सदस्य-देशो को तकनीकी सहायता और प्रबन्ध सम्बन्धी परामर्श देना; सदस्य-देशो के अधिकारियों के लिए वित्त, मुद्रा-व्यवस्था, कर-प्रणाली,

औद्योगिक एवं वैज्ञिग संगठन आदि विषयों से सम्बन्धित प्रशिक्षण की व्यवस्था करना; अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समस्याएँ सुलझाने के लिए मध्यस्थ के रूप में कार्य करना; आदि। उल्लेखनीय है कि भारत और पाकिस्तान के बीच पंजाब की नदियों के जल-विभाजन सम्बन्धी विवाद का निपटारा सन् 1960 में विश्व बैंक की मध्यस्थता से ही हुआ था। विश्व बैंक ने अब तक जो कार्य किए हैं उनसे संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा विश्व में शान्ति स्थापित रखने के उद्देश्य में सहायता मिली है। बैंक के विकास-ऋणों की सहायता से झोंपड़ियों तक प्रकाश पहुँचा है, नए-नए कल-कारखानों का निर्माण हुआ है, सूखे खेतों को पानी मिला है यातायात और सन्देशवाहनों का प्रसार हुआ है तथा रेगिस्तान नखलिस्तान में परिणत हुए हैं।

संचार सम्बन्धी संगठन

संयुक्त राष्ट्रसंघ के विशिष्ट संचार अभिकरणों में ये महत्त्वपूर्ण हैं–अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संगठन (I C.A.O), विश्व डाक संघ (W. P U.), अन्तर्राष्ट्रीय दूर-संचार संघ (I. T U), विश्व ऋतु-विज्ञान संगठन (W. M O), और अन्तर-सरकारी जहाजरानी परामर्श संगठन। अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संगठन के प्रमुख उद्देश्य हैं—अन्तर्राष्ट्रीय उड्डयन सम्बन्धी प्रतिमान और विनियम निश्चित करना, उड्डयन सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का अध्ययन करना, अन्तर्राष्ट्रीय उड्डयन विधियों और समझौतों के प्रारूप तैयार करना, आदि। विश्व डाक संघ के प्रमुख उद्देश्य हैं—सदस्य-देशों में डाक सम्बन्धी सुविधाओं का विकास करना, डाक सम्बन्धी कठिनाइयों का निवारण करना, एक देश से दूसरे देश को डाक भेजने की दर आदि निश्चित करना। अन्तर्राष्ट्रीय दूर-संचार संघ के प्रमुख उद्देश्य हैं—तार, टेलीफोन और रेडियो सम्बन्धी सेवाओं का प्रसार और विकास, सर्वसाधारण को कम से कम दर पर इनकी सेवाएँ सुलभ करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय नियमों आदि का निर्माण, दूर-संचार (टेली-कम्यूनिकेशन) के व्यवहार के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और प्राविधिक सुविधाओं में वृद्धि करना। विश्व ऋतु-विज्ञान संगठन के उद्देश्य हैं–ऋतु-विज्ञान सम्बन्धी जाँच-पड़ताल अथवा ऋतु-विज्ञान के बारे में भूगर्भ सम्बन्धी जाँच-पड़ताल के लिए केन्द्र स्थापित करने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना, ऋतु-विज्ञान सम्बन्धी सेवाओं की व्यवस्था के लिए केन्द्रों की स्थापना और उनका समुचित संचालन करना, ऋतु-सम्बन्धी ज्ञान के अन्तर्राष्ट्रीय आदान-प्रदान के लिए व्यवस्था करना, ऋतु-विज्ञान के बारे में खोज और प्रशिक्षण को बढ़ावा देना, आदि। अन्तर-सरकारी जहाजरानी परामर्श संगठन का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय जहाजरानी सेवाओं को सरल और गतिमान बनाना है। यह सागरों पर सुरक्षा और अन्य प्राविधिक मामलों के लिए सरकारों के बीच सहयोग की व्यवस्था करता है, सरकारों के अनावश्यक प्रतिबन्धों और भेद-भाव को दूर करने में सहायता करता है। यह संगठन जहाजरानी के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ के किसी अंग या विशेष अभिकरण द्वारा प्रस्तुत मामलों पर विचार करता है।

सांस्कृतिक संगठन : यूनेस्को

संयुक्त राष्ट्रसंघ के विशिष्ट अभिकरणों में 'यूनेस्को' अर्थात् संयुक्तराष्ट्रीय

शिक्षा, विज्ञान और सांस्कृतिक संगठन (United Nations Educational, Scientific and Cultural Organization—UNESCO) का अपना विशेष महत्त्व है। 4 नवम्बर, 1946 को इस संस्था का जन्म हुआ। इसके तीन प्रमुख अंग है—सामान्य सभा (General Conference), कार्यकारी मण्डल (Executive Board) एवं सचिवालय (Secretariat)। संयुक्त राष्ट्रसंघ के लगभग सभी सदस्य यूनेस्को के भी सदस्य है। यूनेस्को का लक्ष्य शिक्षा और संस्कृति के माध्यम से राष्ट्रो के बीच सहयोग को प्रोत्साहन देकर शान्ति और सुरक्षा मे योगदान करना है। यह संस्था बिना किसी भेद-भाव के चार्टर में निहित मानव-अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओं को क्रियाशील बनाने मे सहायक है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के पश्चात् संयुक्त राष्ट्रसंघ के विशिष्ट अभिकरणो मे सबसे अधिक सफलता यूनेस्को को ही प्राप्त हुई है। यूनेस्को के प्रमुख कार्य इस प्रकार है—

1 *यूनेस्को का प्रथम कार्य है शिक्षा।* इसमें तीन बातें सम्मिलित हैं—शिक्षा का विस्तार, शिक्षा की उन्नति और शिक्षा मे अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण। इस कार्यक्रम मे साक्षरता के प्रसार और आधारभूत शिक्षा पर विशेष बल दिया गया है। मौलिक शिक्षा का अभिप्राय सामुदायिक विकास की उस शिक्षा से है जो जन-साधारण को उनके स्वास्थ्य, भोजन, फसलो और जीवन-स्तर को सुधारने के लिए दी जाती है। यूनेस्को ने जन-शिक्षा (Mass Education) पर बहुत बल दिया हैं। इसका यह एक पवित्र ध्येय है कि सभी लोगो के लिए नि शुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की जाए। इसीलिए यह संस्था विभिन्न देशो की शिक्षा सम्बन्धी विशेष योजनाओं को सहायता देती है।

2. *यूनेस्को का कार्य है विज्ञान का विकास।* इसने प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञान पर बहुत ध्यान दिया है। यूनेस्को ने क्षेत्रीय-विज्ञान-सहयोग केन्द्र स्थापित किए है। इसका महत्त्वपूर्ण कार्य है रेगिस्तानी प्रदेशों को उपजाऊ बनाने के सम्बन्ध मे विभिन्न राज्यो के कार्यों मे सामञ्जस्य लाना। प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र मे यह संस्था वैज्ञानिको के सभा-सम्मेलनो का आयोजन करती है, वैज्ञानिक संगठनो को सहायता देती है और अनुसन्धान, प्रकाशन तथा वैज्ञानिक शिक्षा का कार्य करती है। सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र मे इसके मुख्य कार्य हैं—अन्तर्राष्ट्रीय संघ का निर्माण और *सहायता, विचार-गोष्ठियो का आयोजन, अन्तर्राष्ट्रीय तनावो सम्बन्धी साहित्य का* प्रकाशन, आदि। यूनेस्को ने विभिन्न भाषाओं मे जातिवाद के विरुद्ध साहित्य प्रकाशित कराया है जिससे यह सिद्ध हो गया है कि एक जाति को दूसरी जाति से उच्च मानने का कोई न्यायोचित आधार नही है।

3. *यूनेस्को का तीसरा कार्य संस्कृति सम्बन्धी है।* यह संस्था मानव जाति की सांस्कृतिक विरासत को सुरक्षित रखने के लिए प्रयत्नशील है। उदाहरणार्थ, जब आस्वान बाँध के निर्माण के फलस्वरूप नूबिया के प्राचीन स्मारको के डूब जाने *का खतरा पैदा हो गया था तो उनकी रक्षा के लिए यूनेस्को द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय* अभियान चलाया गया था। भारत, कोलम्बिया, नाइजीरिया आदि मे सार्वजनिक

पुस्तकालय खोलने की योजनाओं में यूनेस्को का भारी योगदान रहा है। इनमें सबसे प्राचीन दिल्ली का सार्वजनिक पुस्तकालय है। यूनेस्को ने मानव जाति का वैज्ञानिक और सांस्कृतिक इतिहास प्रकाशित किया है। यह सामूहिक ज्ञान के प्रचार के लिए प्रयत्नशील है। फिल्म, प्रेस, रेडियो आदि के द्वारा इस कार्यक्रम की पूर्ति की जाती है। यूनेस्को के सांस्कृतिक कार्यक्रमों के अन्तर्गत अनुसन्धान, सभा-सम्मेलनों और विचार गोष्ठियों के आयोजन होते हैं। यह विविध प्रकार का साहित्य भी प्रकाशित करता है।

4. यूनेस्को का चौथा कार्य है व्यक्ति-विनिमय और जन-सम्पर्क। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत विभिन्न देशों के विद्वानों को दूसरे देशों में भेजा जाता है और विभिन्न क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का आयोजन किया जाता है। इस तरह विश्व के दूरस्थ देशों के वैज्ञानिकों और विद्वानों का पारस्परिक सम्पर्क हो जाता है। यूनेस्को ने जन-सम्पर्क के साधनों—प्रेस, रेडियो, फिल्म, टेलीविजन आदि के विस्तार के लिए काफी प्रयत्न किए हैं।

5 यूनेस्को और भी अनेक कार्य करता है। यह विभिन्न देशों के शरणार्थियों के पुनर्वास में सहायता पहुँचाता है। इस कार्य के लिए यह विश्व के देशों की जन-कल्याणकारी संस्थाओं से धन-संग्रह करता है। अपने विशेषज्ञों द्वारा यह संगठन विभिन्न देशों को उपयुक्त परामर्शों द्वारा लाभ पहुँचाता है। सितम्बर, 1952 में स्वीकृति की गई 'यूनिवर्सल कापीराइट कन्वेंशन' यूनेस्को की एक बहुत बड़ी सफलता मानी जाती है। इस समझौते द्वारा यूनेस्को ने लेखकों और कलाकारों के हितों के संरक्षण में विशेष योग दिया है।

यूनेस्को ने अपने उद्देश्यों और कार्यों की पूर्ति के लिए विभिन्न संगठनों अथवा संस्थाओं की स्थापना की है जिनमें से मुख्य हैं—अन्तर्राष्ट्रीय नाट्य संस्थान (International Theatre Institute), अन्तर्राष्ट्रीय संगीत परिषद् (International Music Council), दर्शन और मानवतावादी अध्ययन की अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् (International Council of Philosophy & Humanistic Studies), अन्तर्राष्ट्रीय समाजशास्त्रीय संघ (International Sociological Association), अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक विज्ञान संघ (International Political Science Association), एवं तुलनात्मक विधि की अन्तर्राष्ट्रीय समिति (International Committee of Comparative Law)।

यूनेस्को विश्व में शान्ति की स्थापना और मानवतावाद के निर्माण में वास्तव में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा है। यह संस्था आधुनिक पीढ़ी के लिए गौरवपूर्ण है, किन्तु यह आवश्यक है कि एशिया और अफ्रीका की आवश्यकताओं, आकांक्षाओं और सांस्कृतिक निधियों पर यह संस्था विशेष ध्यान दे।

स्वास्थ्य एवं कल्याणकारी संगठन

संयुक्त राष्ट्रसंघ से सम्बद्ध स्वास्थ्य एवं कल्याणकारी संगठनों में विशेष महत्त्वपूर्ण ये हैं—

(1) अन्तर्राष्ट्रीय अणुशक्ति एजेंसी—इसकी स्थापना 29 जुलाई, 1956 को हुई। संयुक्त राष्ट्रसंघ के साथ इसके कार्य सम्बन्धी प्रस्ताव महासभा द्वारा नवम्बर, 1956

मे और एजेंसी की जनरल कान्फ्रेंस द्वारा अक्तूबर, 1957 मे स्वीकार किया गया। इस अन्तर्राष्ट्रीय अणुशक्ति एजेंसी (International Atomic Agency) के मुख्य उद्देश्य हैं—विश्व की शान्ति-व्यवस्था और सम्पन्नता मे अणुशक्ति के योगदान को बढ़ावा देना, अणुशक्ति के शान्तिपूर्ण उपयोग को हर प्रकार से प्रोत्साहन देना तथा यह देखना कि उसके द्वारा दी जाने वाली सहायता का अनैतिक उद्देश्यो के लिए उपयोग नही किया जाता।

विश्व स्वास्थ्य संगठन—7 अप्रैल, 1948 को विश्व स्वास्थ्य संगठन (W. H. O.) की स्थापना हुई, इसीलिए प्रतिवर्ष 7 अप्रैल विश्व भर मे 'स्वास्थ्य दिवस' के रूप मे मनाया जाता है। इस संगठन की सदस्यता सभी राष्ट्रो के लिए खुली है। इसके प्रमुख अंग हैं—सभा (Assembly), कार्यकारी बोर्ड (Executive Board), एव सचिवालय (Secretariat)। संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत स्थापित इस संगठन का उद्देश्य संसार को रोगो से मुक्त कराना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए संगठन अनेक कार्य करता है जैसे—(1) अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यों का संचालन, (2) महामारियो और रोगो के उन्मूलन सम्बन्धी कार्यक्रमों को प्रोत्साहन, (3) स्वास्थ्य के क्षेत्र मे अनुसन्धान, (4) बीमारियो के अन्तर्राष्ट्रीय नामो के निदान सम्बन्धी कार्यों मे एकरूपता की स्थापना, (5) आकस्मिक चोटो को रोकने का प्रबन्ध, (6) मानसिक स्वास्थ्य-सुधार को प्रोत्साहन, (7) आहार, पोषण, स्वच्छता, (8) निवास और काम करने की दशाओ मे सुधार, (9) स्वास्थ्य सम्बन्धी क्षेत्र मे प्रशासनिक और सामाजिक विधियो का अध्ययन, आदि। विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा टीके लगाने और औषधियों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मापदण्ड निर्धारित करने का कार्य किया जाता है। संगठन विश्व भर मे राष्ट्रो को हैजा, चेचक आदि संक्रामक रोगो की सूचना देता है। इस प्रकार की सूचनाएँ संगठन की ओर से प्रायः रेडियो द्वारा प्रसारित की जाती हैं। रोगो के प्रसार को रोकने के कार्य मे सभी सरकारें सहयोग देती हैं। संगठन द्वारा विगत कुछ वर्षों से इन्फ्लूएंजा, पोलियो, मैनिंजिटिस आदि रोगो पर विशेष शोध-कार्य कराया जा रहा है। संगठन तकनीकी बुलेटिन और अन्य साहित्य प्रकाशित कर संसार भर के देशो को वितरित करना है। यह संगठन अणु-शक्ति के उपयोग के स्वास्थ्यजनक पहलुओ से भी निकट सम्पर्क रखता है।

अन्तर्राष्ट्रीय बाल आपातकालीन कोष—बच्चो के स्वास्थ्य पर विशेष रूप से ध्यान देने के लिए महासभा द्वारा 11 सितम्बर, 1946 को अन्तर्राष्ट्रीय बाल आपात् कोष (U. N International Children Emergency Fund) की स्थापना की गई। यह संस्था आर्थिक और सामाजिक परिषद् की देखरेख मे काम करती है। इसके मुख्य उद्देश्य हैं—संसार भर के (विशेषकर अविकसित देशो के) बच्चो की हर तरह की आवश्यकताओ की पूर्ति की व्यवस्था करना; भूकम्प, बाढ़ आदि के समय प्रसूतिकाओं और शिशुओ की सहायता करना; प्रसूति-गृहो और शिशु कल्याण केन्द्रो की स्थापना करना, शिशु-आहार की व्यवस्था करना आदि। इस बालकोष की

सहायता से भारत के विभिन्न अस्पतालो और स्कूलों मे 100 से भी अधिक प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किए गए हैं जिनमे धातृ-विद्या (नर्सिग) की शिक्षा दी जाती है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की व्यवस्था का अभिप्राय उसके स्थायी अंगो, विशिष्ट अभिकरणों, सम्मेलनो और कोषों से है जिनका विवेचन किया जा चुका है। स्टीवेन रोजन एवं वाल्टर जोस ने संयुक्त राष्ट्रसंघीय व्यवस्था को इस प्रकार दर्शाया है—

संयुक्त राष्ट्रसंघ की व्यवस्था एक नजर में
(United Nations System at a Glance)

स्थायी अंग[1] (Permanent Organs)	विशिष्ट अभिकरण[2] (Specialised Agencies)	सम्मेलन और कोष[3] (Conferences and Funds)
1. महासभा	1. विश्व स्वास्थ्य संगठन	1. व्यापार एवं विकास सम्बन्धी संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन
2. सुरक्षा परिषद्	2. खाद्य एवं कृषि संगठन	2. बाल-कोष
3. न्यास परिषद्	3. अन्तर-सरकारी जहाजरानी परामर्श संगठन	3. संयुक्त राष्ट्र विशिष्ट कोष
4. आर्थिक एवं सामाजिक परिषद्	4. अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संघ	4. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष
5. सचिवालय	5. विश्व डाक संघ	5. पुनर्निर्माण और विकास सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय बैंक
6 अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय	6. अन्तर्राष्ट्रीय दूर-संचार संघ	
	7. विश्व ऋतु-विज्ञान संगठन	
	8 अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन	
	9 संयुक्त राष्ट्रीय शैक्षणिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठन (यूनेस्को)	
	10 अन्तर्राष्ट्रीय अणु शक्ति आयोग	

1. Permanent Organs : General Assembly, Security Council, Trusteeship Council, Economic and Social Council, Secretariat, International Court of Justice
2 Specialised Agencies : World Health Organization, Food and Agricultural Organization, Intergovernmental MaritimeConsultative Organization, International Civil Aviation Organization, Universal Postal Union, International Telecommunications Union, World Meteorological Organization, International Labour Organization, United Nations Educational Scientific and Cultural Organization (UNESCO), International Atomic Energy Commission
3 Conferences and Funds : United Nations Conference on Trade and Development, Children's Fund, United Nations Special Fund, International Monetary Fund, International Bank for Reconstruction and Development.

—*Rosen & Jones* . The Logic of International Relations, 1974, p ,292.

संयुक्त राष्ट्रसंघ का मूल्यांकन

सफलताएँ—संयुक्त राष्ट्रसंघ के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जहाँ राजनीतिक और गैर-राजनीतिक दोनों ही क्षेत्रों में संघ की उपलब्धियाँ महान् रही हैं वहाँ संघ को कुछ गम्भीर असफलताएँ भी सहनी पड़ी हैं। संघ ने अनेक राजनीतिक विवादों को सफलतापूर्वक सुलझाया है। कई अवसरों पर इसने युद्ध के विस्तार को प्रभावशाली ढंग से रोका है। ऐसे भी अवसर आए हैं जब इसने विवादों की उग्रता को कम कर पारस्परिक वार्ता का वातावरण पैदा किया है। संघ की इन सफलताओं को देख कर ही हमें पण्डित नेहरू के ये शब्द आज भी स्मरण हो आते हैं कि—"संयुक्त राष्ट्रसंघ ने कई बार विश्व में बार-बार उत्पन्न होने वाले संकटों को युद्ध में परिणत होने से बचाया है, अतः इसके बिना हम आधुनिक विश्व की कल्पना नहीं कर सकते।" संघ अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों को रोकने में वस्तुतः एक सुरक्षा आवरण (Safety Valve) का काम करता रहा है। डॉ राल्फ बुंचे के शब्दों में संघ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि "वह राष्ट्रों को बातचीत करने में व्यस्त रखता है। वे जितनी देर तक बातचीत करें उतना ही अधिक अच्छा है क्योंकि उतने समय तक युद्ध की सम्भावनाएँ टली रहती हैं।"

संयुक्त राष्ट्रसंघ को उपनिवेशवाद के उन्मूलन में भी उल्लेखनीय सफलता प्राप्त हुई है। इण्डोनेशिया, मोरक्को ट्यूनिशिया, अल्जीरिया आदि को स्वतन्त्र कराने में संघ के प्रयत्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं। संघ की संरक्षण व्यवस्था ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा में वृद्धि की है और विश्व के अनेक प्रदेशों के निवासियों में स्वशासन की योग्यता विकसित करने में सहायता पहुँचाई है। कुछ वर्ष पूर्व संघ की न्यास पद्धति के अन्तर्गत 11 देश थे जो अब स्वतन्त्र राज्यों के रूप में विश्व के मानचित्र पर प्रतिष्ठित हैं। संघ अफ्रीका में बचे हुए साम्राज्यवादी उपनिवेशों की स्वतन्त्रता के लिए सतत् प्रयत्नशील रहा है।

गैर-राजनीतिक कार्यों में संघ की भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण और सफल रही है। इसकी विभिन्न संस्थाओं से विश्व के विभिन्न राष्ट्रों और समाजों को भारी लाभ पहुँचा है। श्रम संगठन ने श्रमिकों की दशा को उन्नत करने और खाद्य तथा कृषि संगठन ने अन्न का उत्पादन बढ़ाकर अकाल को नियन्त्रित करने की दिशा में उल्लेखनीय प्रगति की है। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने बीमारियों के प्रतिरोध में और यूनेस्को ने मानव के सांस्कृतिक विकास में बहुत सहायता पहुँचाई है। संघ के गैर-राजनीतिक कार्यों के मूल्यांकन के सम्बन्ध में एक राज्याध्यक्ष के ये शब्द निश्चय ही सही हैं कि—"संयुक्त राष्ट्रसंघ में निःशस्त्रीकरण और राजनीतिक कार्यों का खरगोश तो अभी झपकी ही ले रहा है जबकि उसकी विशेष संस्थाओं की तकनीकी सहायता और सहयोग का कछुआ अपनी धीमी चाल से बहुत आगे बढ़ गया है।" विश्व में मुद्रा सम्बन्धी अस्थिरता एवं अभाव तथा ईंधन, खाद्यान्न, उर्वरक, अन्य कच्चे माल और औद्योगिक वस्तुओं के ऊँचे मूल्यों के कारण विशेष रूप से विकासशील देशों के समक्ष उत्पन्न आर्थिक संकट के समाधान के लिए सन् 1975 में संयुक्त राष्ट्र तथा अन्य

अन्तर्राष्ट्रीय मचो से निरन्तर सक्रिय प्रयास होते रहे हैं। सितम्बर, 1975 के पहले पखवारे मे सम्पन्न सयुक्त राष्ट्र महासभा का सातवाँ विशेष अधिवेशन एक ही वर्ष में होने वाला दूसरा विशेष अधिवेशन था जो एकमात्र विकास एव अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग की समस्याओ के निमित्त सम्पन्न हुआ था।

असफलताएँ — सफलताओ के साथ असफलताओ का सम्बद्ध रहना स्वाभाविक है। सयुक्त राष्ट्रसघ बहुत से महत्त्वपूर्ण विवादो को सुलझाने मे असफल रहा है। जिन विवादो मे महाशक्तियो के हित टकराते रहे है उनको सुलझाने मे इसकी असफलता एक दुखभरी कहानी है। कुछ विवादो मे इस विश्व-सस्था का रवैया बहुत ही पक्षपात पूर्ण और न्याय को ठेस पहुँचाने वाला रहा है, जैसा कि कश्मीर विवाद और बगलादेश मे (भूतपूर्व पूर्वी पाकिस्तान पर) पाक-दमन के सन्दर्भ मे। नि.शस्त्रीकरण की दिशा मे भी सयुक्त राष्ट्रसघ के माध्यम से कोई ठोस प्रगति नही हो पायी है। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद से ही जर्मनी के साथ शान्ति-सन्धि और उसके एकीकरण का प्रश्न, पश्चिमी एशिया मे तनाव दूर करने की समस्या, कोरिया के एकीकरण का प्रश्न आदि विश्व-शान्ति के लिए खतरे के सकेत के रूप मे रहे है। उनके समाधान मे संघ कोई सफलता प्राप्त नही कर सका है। सघ को इस महत्त्वपूर्ण उद्देश्य मे भी निराशा ही हाथ लगी है कि वह विश्व के राष्ट्रो मे परस्पर विश्वास का वातावरण विकसित कर युद्ध की सम्भावना को समाप्त करदे। पूर्व और पश्चिम के मतभेदो को दूर करने मे सघ को ठोस रूप से कुछ भी सफलता हाथ नही लगी है। अवश्य ही सघ एक ऐसे राजनीतिक रगमच की भूमिका तो निभा रहा है जहाँ विरोधी राष्ट्र बैठकर समस्याओ पर वाद-विवाद कर सकें। बातचीत के ऐसे माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप मे किसी न किसी मात्रा मे परस्पर सहयोगी रुख पनपता है। सघ मे राष्ट्रो के बीच जो टकराव होता है और जिस रूप मे बडे राष्ट्र अपने दाव-पेचो से सघ के वातावरण को विषाक्त बनाते हैं, उसे देखकर ही कुछ वर्ष पूर्व सघ के भूतपूर्व महासचिव ऊथांट ने कहा था कि—"सघ अपने मूल उद्देश्यो को प्राप्त करने की दिशा मे बहुत कम प्रगति कर पाया है और इसका मुख्य कारण यह है कि वह महाशक्तियो का सहयोग-स्थल बनने के बजाय उनके परस्पर विरोधी स्वार्थों मे सघर्ष का अखाडा बन गया है।"

कुल मिलाकर सघ की सफलताओ और गौरव का पलडा भारी है। सघ विश्व-जनमत का प्रतिनिधि है, अत नैतिक दबाव का शक्तिशाली साधन है और आक्रामक देशो के षड्यन्त्रो का पर्दाफाश करने का उपयुक्त स्थान है। अपनी कमजोरियो के बावजूद सघ विश्व मे विभिन्नताओं मे एकता का सुन्दर प्रतीक है। अपने कार्यों के कारण वह विश्व-शान्ति और समृद्धि के लिए एक अनिवार्य सगठन बन चुका है। सयुक्त राष्ट्रसघ की समाप्ति या असफलता का अर्थ होगा—महाविनाश की परिस्थितियो का सूत्रपात।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की समस्याएँ और दुर्बलताएँ

सयुक्त राष्ट्रसघ की अनेक सांविधानिक, सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दुर्बलताएँ

हैं। इन दुर्बलताओं ने इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की शक्ति पर बुरा प्रभाव डाला है और यह महान् संस्था आशाओं के अनुरूप सफल सिद्ध नहीं हुई है। अतः यह देखना उचित होगा कि संघ किन विशिष्ट समस्याओं और दुर्बलताओं का शिकार है और उन्हें दूर करके किस प्रकार इसे शक्तिशाली बनाया जा सकता है। हमे इस तथ्य को सदैव ध्यान मे रखना होगा कि यह संस्था विश्व के राष्ट्रों का ऐच्छिक सगठन है, यह उनके सहयोग का साधन है और इसकी सफलता और असफलता इस बात पर निर्भर है कि सदस्य-राष्ट्र इसे कहाँ तक सहयोग देते हैं। सयुक्त राष्ट्रसंघ की असफलताओं के मूल मे असली बात यह भी है कि इसके इजन की बनावट भी कुछ दोषपूर्ण है, लेकिन इससे अधिक इजीनियरों मे इस इजन को चलाने की इच्छा और कौशल अधिक दोषपूर्ण है। इजन की बनावट के दोषो को दूर किया जा सकता है, लेकिन फिर भी इजन का प्रभावशाली ढग उपयोग तभी सम्भव है जब इंजीनियर भी उसे अच्छी तरह चलाने के इच्छुक हो और इजन की कुशलता मे प्रतिक्षण वृद्धि देखना चाहते हों।

सयुक्त राष्ट्रसंघ जिन समस्याओं और दुर्बलताओ का शिकार रहा है और है, वे निम्नानुसार हैं—

1. सयुक्त राष्ट्रसघ लम्बे समय तक सार्वदेशिक संगठन नही बन सका क्योकि 80 करोड जनसख्या वाला साम्यवादी चीन 26 अक्तूबर, 1971 से पहले इसका सदस्य नही बन पाया। दोनोजर्मनी (पश्चिमी जर्मनी और पूर्वी जर्मनी) भी 19 सितम्बर 1973 को सघ के सदस्य बन पाए। चीन और दोनो जर्मनी तथा वियतनाम के प्रवेश से सयुक्त राष्ट्रसंघ यथार्थ रूप मे हाल ही में एक सार्वभौमिक या विश्वव्यापी संगठन बन सका है। चूंकि लम्बे समय तक सयुक्त राष्ट्रसघ मे साम्यवादी चीन, जर्मनी आदि राष्ट्रो को प्रवेश नही मिला, अतः विश्व-शान्ति और सुरक्षा कायम रखने मे सघ के प्रयत्न उतने प्रभावकारी नही हो सके जितने होने चाहिए थे। कारण भी स्पष्ट है कि सघ से बाहर रहने वाले देशो की मनोवृत्ति स्वय को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे शान्ति कायम रखने के उत्तरदायित्व से मुक्त रखने की होती है। इस बात का सघ की कार्यक्षमता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

2. सघ सैद्धान्तिक विरोधाभास का शिकार है। एक और राज्यों के समानाधिकार और समान प्रभुसत्ता की बात कही गई है तो अनेक स्थलों पर चार्टर मे राज्यो की सम्प्रभु-असमानता के सह-अस्तित्व का प्रतिपादन है। उदाहरणार्थ सुरक्षा परिषद् मे स्थायी सदस्यों की स्थिति असामान्य रूप से विशेषाधिकार-सम्पन्न है। चार्टर मे लक्ष्यो और सिद्धान्तो के गीत गाए गए हैं, पर कही भी न्याय, अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सम्मान, राष्ट्रीय आत्म निर्णय जैसे सिद्धान्तो की व्याख्या नही की गई है।

3 घरेलू क्षेत्राधिकार की कोई स्पष्ट व्याख्या नही की गई है और यह भी उल्लेख नही है कि 'घरेलू क्षेत्र' का निश्चय कौन करेगा। इस बारे मे महासभा के निर्णय वस्तुस्थिति के आधार पर न होकर प्रायः गुटबन्दी के आधार पर होते रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में 'घरेलू क्षेत्राधिकार' और हस्तक्षेप की विशिष्ट धारणा है, लेकिन सयुक्त राष्ट्रसघ मे यह विशुद्ध राजनीतिक विषय बना हुआ है।

4. संयुक्त राष्ट्रसंघ 'यथास्थिति सम्बन्धी अस्पष्टता' के कारण भी कुछ कम प्रभावशाली रहा है। वास्तव में जर्मनी, कोरिया, पूर्वी यूरोप, वियतनाम आदि सभी अस्थायी व्यवस्थाओं के परिणाम हैं और यथास्थिति कायम रखने के बारे में संघ के सदस्यों में बहुत अस्पष्टता है जिसके फलस्वरूप प्रभावशाली और निश्चित कार्यवाही करने की दृष्टि से संघ प्राय अस्थिर रहा है।

5. संघ के वाद-विवाद और निर्णय अधिकांशत. पक्षपातपूर्ण अथवा महाशक्तियों के अपने हितों से प्रभावित रहे हैं। अधिकांश समस्याएँ शक्ति-राजनीति द्वारा तय की जाती हैं। पश्चिमी गुट के बहुमत को विफल करने के लिए रूस अपने निषेधाधिकार का व्यापक प्रयोग करता है। स्वयं महासचिव यह स्वीकार करते रहे हैं कि गुटबन्दी और बड़े राष्ट्रों के संघर्ष ने विश्व-संस्था को पंगु बना दिया है।

6. संघ निषेधाधिकार के दुरुपयोग का मंच बना हुआ है। स्थायी सदस्य किसी भी उचित किन्तु अपने विरोधी दावे को विशेषाधिकार के प्रयोग से अमान्य ठहरा देते हैं। यह विचित्र स्थिति है कि कोई एक महाशक्ति शेष सदस्यों की इच्छाओं को निरस्त कर दे, यहाँ तक कि महासभा की इच्छा को भी विफल कर दे। पर यह भी स्वीकार करना होगा कि कुछ मामलों में इस निषेधाधिकार की व्यवस्था से ही न्याय की रक्षा हो सकी है, जैसे कश्मीर तथा भारत-पाक संघर्षों के मामले में।

7 महासभा विश्व-जनमत का प्रतिनिधित्व करते हुए भी उसके निर्णय का प्रतिनिधित्व नहीं करती। वस्तुत 'शान्ति के लिए एकता का प्रस्ताव' पारित किए जाने के बाद भी व्यवहार में महासभा आज भी अपनी उपयोगिता में बहुत कुछ क्षा परिषद् पर आश्रित है। यदि महासभा किसी कार्य की सिफारिश दो-तिहाई बहुमत से भी करे तो परिषद् उसे अपने विवेक के आधार पर अस्वीकार कर सकती है। यह एक गम्भीर सांविधानिक विरूपता है कि एक ही समय संघ के दो अंग भिन्न-भिन्न राय प्रकट कर सकते हैं। शक्ति-वितरण में महाशक्तियों की मनमानी को कायम रखने की व्यवस्था के फलस्वरूप संघ में सुरक्षा परिषद् द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सरकार' की स्थिति बनी हुई है।

8. संघ के पास अपने निर्णयों को लागू कराने की स्वयं की शक्ति नहीं है। उसके पास 'काटने के दाँत' नहीं हैं। अपनी निजी सेना न होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा के लिए खतरा पैदा होने पर वह सदस्य-राष्ट्रों की सैनिक सहायता पर निर्भर रहता है। यह सदस्यों की इच्छा पर निर्भर है कि वह सैनिक सहायता दें या न दें।

9. संघ के निर्णयों का महत्त्व सिफारिशों से अधिक नहीं है। सदस्य-राज्यों को छूट है कि वह उन्हें स्वीकार करें या न करें। एक बड़ी दुर्बलता यह है कि महासचिव की शक्तियों का अभी तक समुचित रूप से निश्चय नहीं किया जा सका है, अत: परिषद् द्वारा प्रस्तावित कार्यवाही करना कई बार महासचिव के लिए कठिन हो जाता है।

10. चार्टर में अभी कुछ ही समय पूर्व तक आत्मरक्षा और आक्रमण के बीच

भेद स्पष्ट नहीं किया गया था : यह स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं किया गया था कि किसी देश द्वारा किए जाने वाले किस प्रकार के कार्य आक्रमण माने जाएँगे। चार्टर के अनुसार आक्रमण का अर्थ 'शक्ति का अवैधानिक प्रयोग' है, किन्तु 'शक्ति का अवैधानिक प्रयोग' क्या है, यह प्रश्न विवादास्पद बना रहा है। सौभाग्यवश अब लगभग 31 वर्ष के परिश्रम के बाद 15 दिसम्बर, 1974 को लगभग 350 शब्दों में 'आक्रमण' की परिभाषा कर दी गई है।[1]

11. महासभा की कार्यविधि भी दोषपूर्ण है। सभा के सम्मुख विचारणीय

1. "आक्रमण की परिभाषा के प्रथम अनुच्छेद में कहा गया है कि आक्रमण एक देश द्वारा दूसरे देश की प्रभुसत्ता, क्षेत्रीय अखण्डता या राजनीतिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध सशस्त्र-सेना या किसी अन्य तरीके का प्रयोग है जो संयुक्त राष्ट्र के घोषणा-पत्र के अनुरूप नहीं है।

दूसरे अनुच्छेद में कहा गया है कि संयुक्त राष्ट्र घोषणा-पत्र का उल्लंघन कर एक देश द्वारा दूसरे देश पर पहले सशस्त्र सेना का प्रयोग आक्रमण की कार्यवाही का प्रारम्भिक प्रमाण होगा, यद्यपि सुरक्षा परिषद् संयुक्त राष्ट्र घोषणा-पत्र के अनुरूप यह निश्चित कर सकती है कि आक्रमण हुआ है।

तीसरे अनुच्छेद में कहा गया है कि युद्ध की घोषणा किए बगैर भी एक देश द्वारा दूसरे देश पर सशस्त्र आक्रमण, दूसरे देश की भूमि पर कब्जा करना चाहे वह अस्थायी ही क्यों न हो, बमबारी, बन्दरगाहों तटों की नाकेबन्दी भी आक्रमण है। एक देश की सशस्त्र सेना द्वारा दूसरे देश की भूमि, समुद्र, वायु सेना, नौसेना और विमानों के बेड़े पर धावा बोलना भी आक्रमण है। समझौते की अवधि के बाद दूसरे देश की भूमि पर जमे रहना भी आक्रमण कहलाता है। अपनी भूमि का किसी तीसरे देश के विरुद्ध प्रयोग करने की अनुमति देना या किसी दूसरे देश की ओर से किसी अन्य देश पर सशस्त्र कार्यवाही के लिए सशस्त्र व्यक्ति व भाड़े के सैनिक भेजना भी आक्रमण है।

चौथे अनुच्छेद के अनुसार सुरक्षा परिषद् भी यह तय कर सकती है कि घोषणा-पत्र के अन्तर्गत किन-किन कार्यवाहियों को आक्रमण की संज्ञा दी जा सकती है।

पाँचवें अनुच्छेद के अन्तर्गत आक्रमण आक्रमण ही होगा। इसमें इस बात पर कोई विचार नहीं होगा कि राजनीतिक, आर्थिक और सैनिक कारणों से दूसरे देश पर आक्रमण करने के लिए बाध्य होना पड़ा है।

आक्रामक युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के प्रति एक अपराध है। आक्रमण से अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व बढ़ जाता है।

आक्रमण के परिणामस्वरूप प्राप्त क्षेत्र या कोई अन्य सुविधा कानूनी नहीं मानी जाएगी।

छठे अनुच्छेद में कहा गया है कि इस परिभाषा का अर्थ यह नहीं होगा कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र में वृद्धि या कमी की जा सकती है।

सातवें अनुच्छेद में आत्म-निर्णय, स्वाधीनता और स्वतन्त्रता के अधिकार के लिए युद्ध आक्रमण की परिभाषा में नहीं आएगा।

आठवें अनुच्छेद में उल्लेख है कि आक्रमण की परिभाषा सम्बन्धी आठों अनुच्छेद एक दूसरे से सम्बद्ध हैं।" —हिन्दुस्तान, 16 दिसम्बर, 1974.

विषयों की संख्या पहले ही बहुत अधिक रहती है और इस पर भी लम्बे-लम्बे भाषणों द्वारा सभा का अधिकांश समय नष्ट कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त समितियों में एक बार प्रस्तुत प्रस्तावों को भी कभी-कभी पुनः सभा में प्रस्तुत कर दिया जाता है। इस पुनरावृत्ति से लाभ कम होता है, समय की हानि अधिक होती है।

12 महासभा के अधिवेशनों में राष्ट्रों के प्रमुख राजनीतिज्ञ उपस्थित रहने की परवाह नहीं करते और साधारण प्रतिनिधियों के उपस्थित रहने से सभा की कार्यवाही अधिक प्रभावशाली नहीं हो पाती।

13 संघ के बाहर की गई सैनिक सन्धियों के कारण भी इसका महत्त्व कुछ कम हो गया है। विन्सीराइट के अनुसार, "क्षेत्रीय सुरक्षा गुटों के अनियन्त्रित विकास के संयुक्त राष्ट्र चार्टर के मूल उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो सकती।"

14. यह भी विडम्बना है कि सदस्यगण महासभा और सुरक्षा परिषद् को प्रचार-संस्था के रूप में प्रयोग करते हैं। उनका मुख्य उद्देश्य राजनीतिक हथकंडों द्वारा विश्व-जनमत को अनुचित रूप से अपने पक्ष में तैयार करना होता है। नार्मन बैंटविच और अड्र्यू मार्टिन के इन शब्दों में वजन है कि "महासभा और सुरक्षा परिषद् का प्रयोग विवादों को सुलझाने के लिए नहीं, अपितु उनको बढ़ाने के लिए किया जाता है।"

संघ को शक्तिशाली बनाने के सुझाव
(Suggestions to Strengthen the U. N O.)

नवीन और परिवर्तित परिस्थितियों में यह आवश्यक हो गया है कि प्रथम तो संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में आवश्यक संशोधन किया जाए और द्वितीय, इस प्रकार के विभिन्न उपाय किए जाएँ जिनसे यह विश्व-संस्था अधिक शक्तिशाली बन सके। पहले उन सुझावों का उल्लेख किया जाएगा जो चार्टर में संशोधन के लिए प्रस्तावित किए जाते हैं और तत्पश्चात् अन्य सुझावों का।

(क) चार्टर में संशोधन अथवा पुनर्निरीक्षण—महाशक्तियों के बीच पारस्परिक सहमति न होने से चार्टर में कोई महत्त्वपूर्ण संशोधन नहीं हो सका है। यह आशंका की जाती है कि संशोधन से वर्तमान-शक्ति-सन्तुलन बिगड़ जाएगा और संशोधन के प्रस्तावों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय मतभेद प्रखर रूप से उभर आएँगे। तथापि समय-समय पर संशोधन सम्बन्धी अनेक सुझाव दिए जाते रहे हैं जिनमें से प्रमुख ये हैं—

1. महासभा में प्रतिनिधित्व के तरीके में परिवर्तन किया जाना चाहिए। एक देश के 5 सदस्य और एक वोट के स्थान पर सदस्य तथा वोट जनसंख्या के अनुपात से होने चाहिए ताकि महासभा के निर्णय अधिकतम जनसंख्या के हितों के आधार पर हों।

2. सदस्यता के लिए सुरक्षा परिषद् की सिफारिश की शर्त हटा देनी चाहिए अथवा उसमें बहुमत के आधार पर निर्णय की व्यवस्था की जानी चाहिए।

3. महासभा अपने उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से नए सदस्यों को

संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्रदान करे। केवल महासभा को इस प्रकार सदस्यता प्रदान करने का अधिकार दिए जाने से सदस्यता के प्रश्न पर राजनीतिक सौदेबाजी की वर्तमान कटु स्थिति समाप्त हो जाएगी।

4. सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों का प्रावधान हटा देना चाहिए ताकि शक्ति-सन्तुलन पश्चिमी शक्तियों के पक्ष में न रहे। परिषद् को सन्तुलित और निष्पक्ष बनाने के लिए यह आवश्यक है कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय जगत् के भारत जैसे महत्त्वपूर्ण सदस्यों को भी इसमें समान आधार पर स्थान प्राप्त हो। यदि स्थायी सदस्यता कायम रखने का ही निश्चय हो तो उनकी सदस्य-संख्या में वृद्धि की जानी चाहिए।

5. 'घरेलू क्षेत्र' की व्यवस्था में समुचित सन्तुलन किया जाना चाहिए। यह सुझाव भी है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून में जो बातें घरेलू क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आती हैं उनका संहिताकरण कर दिया जाए तथा उनके अतिरिक्त जो विषय शेष रहें उन पर शान्ति एवं सुरक्षा की दृष्टि से संयुक्त राष्ट्रसंघ जो कार्यवाही उचित समझे स्वतन्त्रपूर्वक करे।

6. यह सुझाव दिया जाता है कि महासभा को द्वि-सदनात्मक रूप दिया जाए एक 'मानवता का सदन हो' और दूसरा 'राष्ट्रीय सदन'। मानवता-सदन का संगठन प्रत्येक राज्य की जनसंख्या के अनुपात में हो तथा राष्ट्रीय सदन का गठन राज्यों की समानता के आधार पर हो और उसमें प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र को प्रतिनिधित्व दिया जाए। सभी साधारण विषयों का निर्णय दोनों सदनों द्वारा किया जाए, लेकिन मतभेद की स्थिति में वह निर्णय उस रूप में मान्य समझा जाए जिस रूप में मानवता-सदन पुनः तीन-चौथाई मतों से पारित करदे। साथ ही शान्ति और सुरक्षा जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों पर निर्णय मानवता-सदन द्वारा लिया जाए। इस बात के निर्णय का दायित्व कि कौन-से विषय महत्त्वपूर्ण हैं, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को सौंपा जाए।

7. सुरक्षा परिषद् की बैठकें हमेशा न होकर कुछ निश्चित अवधियों में ही हों ताकि सम्बन्धित देशों के प्रधान मन्त्री या विदेश मन्त्री उसमें भाग ले सकें। यह सुझाव विशेष स्वागत योग्य नहीं है क्योंकि सुरक्षा परिषद् यदि एक सतत् कार्यशील अंग न रहा तो शान्ति और सुरक्षा को खतरा पैदा होने पर अथवा अन्य किसी महत्त्वपूर्ण मामले में तुरन्त कार्यवाही करने की वर्तमान में जो कुछ भी क्षमता है उसे आघात पहुँचेगा।

8. अनुच्छेद 27 में सुरक्षा परिषद् में मतदान की व्यवस्था में 'प्रक्रिया सम्बन्धी विषय' तथा 'अन्य सभी विषय' शब्द इतने अनिश्चित और अस्पष्ट हैं कि इससे निषेधाधिकार का बहुत अधिक प्रयोग हुआ है। अतः यह उपयुक्त है कि इन शब्दों को अधिक स्पष्ट किया जाए।

9. प्रादेशिक संगठन सम्बन्धी धाराओं में ऐसा संशोधन होना चाहिए जिससे सैनिक संगठनों की स्थापना को प्रोत्साहन न मिल सके।

10. शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी मामलों में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सभी

निर्णय राष्ट्रों पर बाध्यकारी माने जाएँ, किन्तु यह भी सुनिश्चित व्यवस्था होनी चाहिए कि निर्णय राजनीतिक पक्षपात से मुक्त हो।

(ख) अन्य सुझाव—जो अन्य सुझाव समय-समय पर दिए गए हैं उनमें से ये उल्लेखनीय हैं—

1. सदस्य-राज्य अधिक स्वामिभक्ति और कल्पनात्मक रूप से अपने उत्तरदायित्वों को पूरा करें। विशेषकर महाशक्तियाँ संघ के सिद्धान्तों के प्रति निष्ठावान रहें और अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए सैद्धान्तिक शिथिलता न दिखाएँ।

2. महासभा, सुरक्षा परिषद् तथा अन्य अंगों का प्रचार-संस्था के रूप में उपयोग न किया जाए। इस सम्बन्ध में एक तो सदस्य-राज्य स्वयं पर नियन्त्रण रखें और दूसरे आवश्यक संविधानिक व्यवस्थाएं करने का भी प्रयास किया जाए।

3. महासभा के अधिवेशन अल्पकालीन हों जिनमें सदस्य-राष्ट्रों के प्रधानमन्त्री अथवा विदेश मन्त्री सम्मिलित हों। मन्त्रि-मण्डलीय स्तर के प्रतिनिधि अपने-अपने देशों की नीति निर्धारित करने के लिए उत्तरदायी होते हैं, अतः वे महासभा की कार्यवाही को अधिक प्रभावशाली और निर्णयकारी बनाने में सक्षम हो सकते हैं।

4. चार्टर की व्याख्या करते समय उदार दृष्टिकोण अपनाया जाए। सुरक्षा परिषद् की शक्तियों के मूल्य पर यदि महासभा, जो विश्व जनमत की प्रतिनिधि है, कोई कार्य करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले ले, तो इसका विरोध नहीं किया जाना चाहिए। मुख्य लक्ष्य तो समस्या का समाधान करना है न कि वैधानिक अवरोध उत्पन्न कर समस्या को उलझाना।

5. संघ के वर्तमान यन्त्र को विस्तृत बना देना चाहिए ताकि आवश्यकतानुसार नवीन संस्थाओं का निर्माण किया जा सके।

6. जो क्षेत्र राष्ट्रीय सम्प्रभुता के अधीन नहीं हैं वहाँ पर प्रशासकीय सत्ता स्थापित हो जानी चाहिए, जैसे बाह्य अन्तरिक्ष।

7. संघ की आय का कोई स्वतन्त्र स्रोत होना चाहिए। उचित होगा कि वह विकास-कर, सेवा-कर, यात्री-कर आदि लगाए और विश्व-बैंक की आय तथा बाह्य अन्तरिक्ष शुल्क आदि द्वारा अपनी आय में वृद्धि करे।

राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ की तुलना

संयुक्त राष्ट्रसंघ को राष्ट्रसंघ का एक अगला कदम (One Step Further to League of Nations) कहा जाता है। अतः देखना चाहिए कि दोनों विश्व-संस्थाओं में क्या समानताएँ और असमानताएँ हैं तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ का संगठन राष्ट्रसंघ की तुलना में कितना श्रेष्ठ है।

समानताएँ

1. दोनों ही संस्थाओं का जन्म महायुद्धों के फलस्वरूप हुआ। दोनों ही को उत्तराधिकार में युद्ध-ध्वस्त विश्व की जटिल राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याएँ प्राप्त हुईं।

2. दोनों ही संस्थाओं की स्थापना सम्प्रभु राष्ट्रों के ऐच्छिक संगठनों के रूप में हुई। दूसरे शब्दों में ही संस्थाओं ने सदस्य-राज्यों की सम्प्रभुता का आदर करना स्वीकार किया। दोनों ही ने सिद्धान्त रूप में प्रत्येक देश के मत को बराबर का महत्त्व देने की बात को मान्यता दी।

3. मूल रूप से दोनों ही संस्थाओं की स्थापना के समय विजेता राष्ट्रों ने पराजित राष्ट्रों को संघ में स्थान दिया। जब राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई तो सदस्यों की संख्या विजेता राष्ट्रों तक ही सीमित रखी गई और संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के समय 51 राष्ट्रों तक।

4 राष्ट्रसंघ के ढांचे में ही कुछ सुधार कर संयुक्त राष्ट्रसंघ ने अपना लिया। संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा, सुरक्षा परिषद्, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और सचिवालय राष्ट्रसंघ की असेम्बली, परिषद्, स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और सचिवालय के प्रतिरूप हैं। गैर-राजनीतिक कार्यों के सम्बन्ध में भी राष्ट्रसंघ की भाँति संयुक्त राष्ट्रसंघ के विभिन्न सहायक अंग भी विश्व को गरीबी, बीमारी, भुखमरी, अशिक्षा, अज्ञान आदि से मुक्ति दिलाना और राष्ट्रों का सामाजिक, सांस्कृतिक तथा वैज्ञानिक विकास करना चाहते हैं। दोनों ही संगठनों में परिषद् के अध्यक्ष पद को वर्णमाला के क्रम से रखने की व्यवस्था की गई। राष्ट्रसंघ की तरह संयुक्त राष्ट्रसंघ में भी विवादों के निर्णय का सर्वोत्तम उपाय पारस्परिक वार्तालाप द्वारा समझौता माना गया है।

5. राष्ट्रसंघ की भाँति ही संयुक्त राष्ट्रसंघ की प्रकृति भी ऐसी है कि सदस्यों के सक्रिय सहयोग के बिना यह सफलतापूर्वक अपने लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर सकता।

6 राष्ट्रसंघ की भाँति ही संयुक्त राष्ट्रसंघ का क्षेत्राधिकार भी व्यक्तियों पर न होकर राज्यों पर है।

7. राष्ट्रसंघ को राज्यों या उनके नागरिकों पर कर लगाने का कोई अधिकार नहीं था और संयुक्त राष्ट्रसंघ को भी नहीं है। राष्ट्रसंघ की भाँति संयुक्त राष्ट्रसंघ का काम भी सदस्य-राज्यों के चन्दे पर निर्भर है।

अन्तर

दोनों संस्थाओं में यद्यपि अनेक समानताएँ हैं, तथापि कई महत्त्वपूर्ण अन्तर भी हैं। ये अन्तर संयुक्त राष्ट्रसंघ को राष्ट्रसंघ से अधिक प्रभावशाली, संशोधित और अधिकार-सम्पन्न सिद्ध करते हैं। इन अन्तरों के आधार पर ही हम कह सकते हैं कि संयुक्त राष्ट्रसंघ राष्ट्रसंघ का अगला कदम है, दोनों संगठनों के संविधानों, व्यवहारों और व्यवस्थाओं में प्रमुख अन्तर अप्रलिखित हैं—

1. राष्ट्रसंघ की स्थापना प्रथम महायुद्ध के समाप्त होने के बाद पेरिस के शान्ति-सम्मेलन में की गई, लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ का जन्म द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होने से पहले ही हो गया। इसकी स्थापना के लिए वार्ताएँ युद्धकालीन राष्ट्रीय सम्मेलनों में ही आरम्भ हो गई और 26 जून, 1945 को सानफ्रांसिस्को सम्मेलन में इसके चार्टर पर हस्ताक्षर हो गए जबकि महायुद्ध अगस्त, 1945 में समाप्त हुआ।

2. राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा (Covenant) वर्साय-सन्धि तथा अन्य शान्ति-सन्धियों का अभिन्न अंग था जबकि संयुक्त राष्ट्रसंघ के अधिकार पत्र (Charter) का स्वतन्त्र अस्तित्व है—यह किसी शान्ति-सन्धि का अंग नहीं है। राष्ट्रसंघ का उद्देश्य शान्ति-सन्धियों द्वारा स्थापित व्यवस्थाओं को कायम रखना था, संयुक्त राष्ट्रसंघ के साथ ऐसी कोई बात जुड़ी हुई नहीं है।

3. संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्य-संख्या राष्ट्रसंघ की सदस्य-संख्या से बहुत अधिक है। आज 149 देश संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य हैं, राष्ट्रसंघ ऐसा सार्वभौमिक रूप कभी प्राप्त नहीं कर सका। राष्ट्रसंघ को सभी विश्व-शक्तियों का वैसा विश्वास प्राप्त नहीं हो सका था जैसा आज संयुक्त राष्ट्रसंघ को प्राप्त है। राष्ट्रसंघ में तत्कालीन 5 महाशक्तियों में से 2 ही स्थायी सदस्य के रूप में सम्मिलित रहीं थीं जबकि संयुक्त राष्ट्रसंघ में द्वितीय महायुद्धोत्तर तीनों महाशक्तियाँ सम्मिलित हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका कभी भी राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं बना और इसमें रूस के प्रवेश करते ही जापान तथा जर्मनी इससे पृथक् हो गए। अतः विश्व के महान् शक्तिशाली राष्ट्रों का जैसा प्रतिनिधित्व संयुक्त राष्ट्रसंघ में है वैसा राष्ट्रसंघ में कभी नहीं रहा।

4 दोनों संस्थाओं के विधानों के आकार में भी अन्तर हैं। राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा में केवल 26 धाराएँ थीं जबकि संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में 111 धाराएँ हैं।

5 संगठनात्मक दृष्टि से भी कई अन्तर हैं। राष्ट्रसंघ के प्रमुख अंग केवल तीन थे—असेम्बली, परिषद् और सचिवालय, लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रमुख अंग छः हैं—महासभा, सुरक्षा परिषद्, आर्थिक और सामाजिक परिषद्, न्यास परिषद्, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय तथा सचिवालय। आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् बिलकुल नवीन संस्था है जिससे स्पष्ट है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ पर केवल राजनीतिक कार्यों का दायित्व ही नहीं है बल्कि आर्थिक, सामाजिक, मानवीय और सांस्कृतिक कार्यों पर भी विशेष बल दिया गया है। संयुक्त राष्ट्रसंघ में मानव-व्यक्तित्व के विकास और व्यक्तियों के मानवीय अधिकारों के संरक्षण के महत्त्व को समझा गया। इन गैर-राजनीतिक कार्यों के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत कई विशिष्ट संस्थाएँ हैं जिनका पुराने राष्ट्रसंघ में अभाव था।

6 वर्तमान संस्था की महासभा में निर्णय 2/3 मत से लिए जाते हैं और ये निर्णय सदस्य-देशों पर बाध्यकारी रूप से लागू नहीं होते वरन् सिफारिश के रूप में होते हैं। दूसरी ओर पुरानी संस्था की असेम्बली की सभा में निर्णय सर्वसम्मति से लिए जाते थे और इनका पालन करना सदस्यों के लिए अनिवार्य था। इस दृष्टि से यह कहना चाहिए कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा राष्ट्रसंघ की सभा से निर्बल है।

7. संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में महासभा और सुरक्षा परिषद् के कार्यों का राष्ट्रसंघ की सभा और परिषद् की अपेक्षा अधिक स्पष्ट विभाजन है। सुरक्षा परिषद् का कार्य क्षेत्र राष्ट्रसंघ की परिषद् की अपेक्षा सीमित होते हुए भी अधिक स्पष्ट

है। उसके निर्णयों का पालन सदस्यों के लिए बाध्यकारी है। इस तरह सुरक्षा परिषद् पुरानी परिषद् की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है। उसके पास वास्तविक शक्ति है। उसके संगठन और व्यवहार के नियमों ने उसे परिषद् की तुलना में अत्यधिक महत्वपूर्ण संस्था बना दिया है।

8. सुरक्षा परिषद् एक स्थायी संस्था है और 14 दिन में इसकी एक बैठक अवश्य होती है। राष्ट्रसंघ की परिषद् (कौंसिल) की बैठकें वर्ष भर में केवल तीन ही होती थी। इसके अतिरिक्त जहाँ सकटकाल में सुरक्षा परिषद् की आवश्यक बैठक तुरन्त बुलायी जा सकती है वहाँ राष्ट्रसंघ की परिषद् इस दृष्टि से निर्बल और पिछड़ी हुई थी।

9 राष्ट्रसंघ की सभा मे सर्वसम्मति से निर्णय लिए जाने की व्यवस्था का आशय था कि उसके सभी सदस्य-राज्यो को निषेधाधिकार (Veto Power) प्राप्त था। दूसरी ओर सयुक्त राष्ट्रसंघ मे केवल सुरक्षा परिषद् के पाँच स्थायी सदस्यों को ही निषेधाधिकार प्रदान किया गया है।

10 राष्ट्रसंघ आक्रमण होने पर ही उसे रोकने के लिए कोई कार्यवाही कर सकता था जबकि सयुक्त राष्ट्रसंघ युद्ध छिड़ने पर ही नही बल्कि शान्ति भग होने या आक्रमण होने की सम्भावना पर भी अपनी कार्यवाही प्रारम्भ कर सकता है।

11. राष्ट्रसंघ मे शान्ति भग करने वाले देश के विरुद्ध मुख्य रूप से आर्थिक प्रतिबन्धो की व्यवस्था थी। सयुक्त राष्ट्रसंघ के पास आर्थिक प्रतिबन्धो की शक्ति तो है ही, अपितु विशेष परिस्थितियो मे सुरक्षा परिषद् जल, थल और वायु सेना द्वारा सैनिक कार्यवाही भी कर सकती है। वह अपने सदस्यो से सेनाओ की माँग करती है और सैनिक योजना को सुचारु रूप से कार्यान्वित करने के लिए उसके पास एक सैनिक स्टॉफ समिति भी है। राष्ट्रसंघ इस सम्बन्ध मे असहाय था। उसके पास सकट मे प्रयोग की जा सकने वाली इस प्रकार की कोई सेना नही थी। सयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की 43वी धारा के अन्तर्गत सुरक्षा परिषद् को आवश्यकता पडने पर अन्तर्राष्ट्रीय सेना सगठित करने का भी अधिकार है और इस अधिकार का प्रयोग पिछले वर्षों मे कई बार किया जा चुका है। राष्ट्रसंघ इस दृष्टि से एकदम अपग था।

12 आक्रमण रोकने की कार्यवाही के सम्बन्ध मे दोनो सस्थाओ मे एक और भी बड़ा अन्तर देखने को मिलता है। राष्ट्रसंघ मे ऐसी कार्यवाही करने के लिए सदस्य बाध्य नही थे। राष्ट्रसंघ के विधान की 16वी धारा के अनुसार सघ के सदस्य यह निर्णय करते थे कि किसी सदस्य-देश ने राष्ट्रसंघ मे विधान के दायित्वो का उल्लघन किया है या नही तथा उसके विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की जाए या नही। इसके विपरीत सयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर मे शान्ति भग की दिशा का निश्चय करने और सैनिक कार्यवाही करने का निर्णय लेने का दायित्व सघ के सभी सदस्यो का न होकर सुरक्षा परिषद् का है। सुरक्षा परिषद् के निर्णयो का पालन सदस्यो की इच्छा पर निर्भर नही है बल्कि आवश्यक है। शान्ति के लिए एकता के प्रस्ताव मे महासभा को भी अधिकार प्रदान किया है कि सुरक्षा परिषद् मे यदि निषेधाधिकार

के कारण गतिरोध उत्पन्न हो जाए तो वह शान्ति स्थापित करने के लिए सैनिक कार्यवाही कर सकती है। इस प्रकार की व्यवस्था राष्ट्रसंघ के विधान मे नहीं थी।

13. शान्ति और युद्ध की स्थिति मे राष्ट्रसघ अपनी ओर से कोई पहल नहीं कर सकता था। किसी सदस्य द्वारा मामला प्रस्तुत करने पर ही उस पर विचार सम्भव था। लेकिन वर्तमान विश्व-सस्था मे इस कमजोरी को दूर कर दिया गया है। चार्टर के अनुसार सुरक्षा परिषद और महासभा दोनो इस दिशा मे पहल करने मे समर्थ हैं। महासचिव पर भी इस सम्बन्ध मे विशेष दायित्व है। सन् 1973 के अरब-इजरायल युद्ध के प्रारम्भिक दिनो मे जब महाशक्तियो ने या किसी अन्य राष्ट्र ने सुरक्षा परिषद् मे मामला नहीं उठाया तो महासचिव ने सुझाव रखा कि युद्धरत राष्ट्रो से लडाई अविलम्ब बन्द करने की अपील की जाए। इसके बाद सुरक्षा परिषद सक्रिय हो गई।

14. सयुक्त राष्ट्रसघ की न्यास-व्यवस्था (Trusteeship System) राष्ट्रसघ की सरक्षण व्यवस्था (Mandate System) से बहुत भिन्न और श्रेष्ठ है।

15 सयुक्त राष्ट्रसघ के चार्टर मे इस बात की व्यवस्था की गई है कि सुरक्षा परिषद् के सभी सदस्य सघ के प्रधान कार्यालय मे अपना एक स्थायी प्रतिनिधि अवश्य रखे ताकि आवश्यकता पडने पर तुरन्त विचार-विमर्श सम्भव हो सके। राष्ट्र-सघ के विधान मे इस प्रकार की कोई व्यवस्था नही थी।

16 सयुक्त राष्ट्रसघ के चार्टर मे शान्ति-रक्षा के लिए प्रादेशिक सगठन (Regional Organizations) बनाने की अनुमति दी गई है, जबकि राष्ट्रसघ के विधान मे ऐसी कोई व्यवस्था नही थी।

17 राष्ट्रसघ के विधान मे 'आत्मरक्षा' के अधिकार के सम्बन्ध मे कोई बात स्पष्ट रूप से नही कही गई थी, यद्यपि अनुच्छेद 157 मे इसका गोलमाल सकेत था। दूसरी ओर सयुक्त राष्ट्रसघ के चार्टर के अनुच्छेद 51 मे सघ द्वारा कार्यवाही करने से पूर्व आक्रमण का शिकार बने राज्य को 'आत्मरक्षा' का अधिकार स्पष्ट शब्दो मे दिया गया है।

18. सयुक्त राष्ट्रसघ का महासचिव राष्ट्रसघ के महासचिव से कही अधिक शक्तिशाली है। वह एक बहुत ही प्रभावशाली 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिज्ञ' होता है।

19. घरेलू अधिकार-क्षेत्र' (Domestic Jurisdiction) के सम्बन्ध मे भी दोनो सस्थाओ मे मौलिक अन्तर था। सयुक्त राष्ट्रसघ मे इस बारे मे राष्ट्रसघ की अपेक्षा अधिक व्यापक व्यवस्था है। राष्ट्रसघ मे इस बात के निर्धारण का भार सदस्य-राज्यो पर नही, बल्कि परिषद् पर डाला गया था कि कौनसी बात घरेलू मामले के अन्तर्गत आएगी। लेकिन सयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर मे यह निश्चय नहीं किया गया है कि घरेलू क्षेत्र का निर्धारण कौन करेगा। इस सम्बन्ध मे प्रत्येक सदस्य को निर्णय की स्वतन्त्रता प्राप्त है। इस सम्बन्ध मे सयुक्त राष्ट्रसंघ का कार्यक्षेत्र और प्रभाव सकुचित हो गया है।

स्पष्ट है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ का संगठन राष्ट्रसंघ के संगठन से अनेक अंशों में अधिक उत्कृष्ट एवं प्रभावशाली है। प्रो. ईगल्टन (Eagleton) का कहना सत्य है कि "यद्यपि दोनो व्यवस्थाओं के स्वरूप और साधारण कार्यों मे एकरूपता दिखाई देती है, तथापि इनके बीच जो मौलिक अन्तर हैं उनको देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ मान्यता और प्रकृति में राष्ट्रसंघ से पर्याप्त भिन्न है।"[1] एक बात और भी है और वह यह कि संयुक्त राष्ट्रसघ एक निर्दोष सस्था नही है। इसमे अनेक त्रुटियाँ हैं जिनका सुधार होने पर यह सस्था और भी अधिक शक्तिशाली तथा प्रभावशाली बन सकती है। अभी यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून को यथेष्ट नैतिक और भौतिक समर्थन प्रदान करने में असमर्थ है। इसके पास ऐसी ठोस सैनिक शक्ति का अभाव है जिसके बल पर वह सभी राष्ट्रो से अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन करवा सके। आशा है कि विश्व के राजनीतिज्ञ उपयुक्त समय पर इन त्रुटियो का परिमार्जन करने मे समर्थ हो सकेंगे।

संयुक्त राष्ट्रसंघ का बदलता हुआ रूप : विकासशील देशों की आवाज बुलन्द

सयुक्त राष्ट्रसघ का बदलता हुआ रूप आशा की नई किरणो को उजागर कर रहा है। इस विश्व सस्था पर लगभग 20 वर्ष से सयुक्तराज्य अमेरिका छाया हुआ था, पर अब उसकी मनमानी का अन्त हो रहा है। शोषित और पीड़ित एशिया तथा अफ्रीका के विकासशील देश अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक मच के प्रभावशाली अभिनेता बनते जा रहे हैं। वह दिन समाप्त हो चला है जब अमेरिका और उसके पिछलग्गू राष्ट्र विश्व सस्था को अपनी 'बपौती' मानकर चलते थे। सघ के 29वें, 30वे और 31वें अधिवेशनो मे उसकी बदलती हुई तस्वीर स्पष्ट हुई है।

सितम्बर-दिसम्बर, 1974 के महासभा के 29वें अधिवेशन मे पश्चिमी एशिया, फिलिस्तीनी समस्या, कम्बोडिया, दक्षिणी एशिया को परमाणु विहीन क्षेत्र घोषित करने की पाकिस्तान की माँग आदि पर महासभा ने खुलकर विचार किया और बहुमत के आधार पर निर्णय लिए। महासभा के निर्णयो ने उन राष्ट्रों में खलबली पैदा कर दी जो अब तक सयुक्त राष्ट्रसघ को अपनी बपौती समझकर उस पर अपने निर्णय थोपते आ रहे थे। विशेष रूप से अमेरिका तो बहुत ही बौखलाया और उसने यह धमकी दी कि यदि इसी प्रकार बहुमत के आधार पर एक पक्षीय प्रस्ताव पारित किए जाते रहे तो वह सघ को दिया जाने वाला अपना अनुदान बन्द कर देगा। जब महासभा ने फिलिस्तीनी मुक्ति मोर्चे के नेता यासिर अराफत को अधिवेशन मे भाषण देने की अनुमति दी और दक्षिण अफ्रीकी प्रतिनिधि मण्डल को अधिवेशन से चले जाने का निर्देश दिया तो अमेरिकी प्रतिनिधि मण्डल के नेता जान स्काली के धैर्य का बाँध टूट गया। उन्होने कहा कि तीसरी दुनियाँ के देश अपने

1 *Eagleton*: "Covenant of the League of Nations and the Charter of U N.: Points of Difference" —Deptt of State Bulletin, August 19, 1945.

बहुमत का गलत प्रयोग करके सयुक्त राष्ट्र के लिए खतरा पैदा कर रहे हैं। अमेरिका की धमकी और आरोप की विकासशील देशो पर बहुत प्रतिकूल प्रतिक्रिया हुई। इन देशो के प्रतिनिधियो ने अमेरिका के इस आरोप का खण्डन किया कि महासभा 'बहुमत की निरकुशता की शिकार है।' श्रीलका के प्रतिनिधि ने तो यहाँ तक कह दिया कि अमेरिका उस बिगडे हुए बच्चे जैसा व्यवहार कर रहा है जो जीत की आशा न होने पर मैदान छोड देता है। इस सारी बहस का कोई निश्चित परिणाम तो सामने नही आया, लेकिन यह बात स्पष्ट हो गई कि सयुक्त राष्ट्रसंघ का रूप अब वैसा नही है, जैसा 30 वर्ष पूर्व उसकी स्थापना के समय था या कुछ ही वर्ष पूर्व चीन के सदस्य बनने के समय था। अब उस पर अमेरिका का स्वामित्व नही रहा। यद्यपि वास्तविक शक्ति सुरक्षा परिषद् के पांच स्थायी सदस्यो मे निहित है जो यदि चाहे तो अपने निषेधाधिकार द्वारा बहुमत के निर्णयो को प्रभावहीन बना सकते हैं, तथापि इस बात की सम्भावनाएँ प्रबल हो उठी हैं कि विकासशील देश अपनी सख्या का लाभ उठाकर अपनी आवाज बुलन्द करेंगे और पूँजीवादी तथा साम्यवादी देशो के पारस्परिक मतभेदो का लाभ उठाकर अपने दृष्टिकोण की सार्थकता सिद्ध कर दिखाएँगे। विकासशील देश अब सयुक्त राष्ट्रसघ के निर्णयो को प्रभावित करने की स्थिति मे आ गए हैं।

सितम्बर से दिसम्बर, 1975 तक महासभा का तीसवां नियमित अधिवेशन हुआ जिसमे विकासशील देशो से सम्बन्धित प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक और आर्थिक प्रश्न उठे। भारत ने सदा की भाँति ही इसकी कार्यवाही मे सक्रिय भूमिका निभायी। इस अधिवेशन मे केप वरदे, कोमरोज, मोजाम्बिक, पापुआ न्यूगिनी, साओ तोम तथा प्रिंसिप और सुरीनाम को नए सदस्यो के रूप मे प्रवेश मिला। इससे सयुक्त राष्ट्र की सदस्य सख्या 144 हो गई। इससे पहले, दोनो वियतनामो को प्रवेश दिलाने के प्रयास सुरक्षा परिषद् मे विशेषाधिकार के प्रयोग से विफल कर दिए गए थे। तदुपरान्त महासभा ने भारी बहुमत से एक प्रस्ताव पारित किया जिसके द्वारा सुरक्षा परिषद् से अनुरोध किया गया कि दोनो वियतनामो के सदस्यता-आवेदनो पर शीघ्र और अनुकूल दृष्टिकोण से पुनर्विचार किया जाए। भारत ने इस प्रस्ताव का सहप्रवर्तन किया था। दक्षिण कोरिया के सदस्यता-आवेदन पर विचार नही हो सका क्योकि इसे सुरक्षा परिषद् की कार्य-सूची मे सम्मिलित नही किया गया था।

सयुक्त राष्ट्र महासभा का 31वाँ सत्र 21 सितम्बर से 21 दिसम्बर, 1976 तक न्यूयार्क मे हुआ। इसके वाद-विवाद और प्रस्तावो मे प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, मानवीय विधिक एव अन्य मसलो पर विचार हुआ। भारत ने इन विचार-विमर्शो मे सक्रिय भाग लिया। इस सत्र के प्रारम्भ होने से प्रारम्भ होने से पूर्व विश्व निकाय की सदस्यता 144 थी जो बढकर 147 हो गई इसमे सशेल्स, अगोला और पश्चिम समोआ इन तीन नए सदस्यों को शामिल किया गया था। वियतनाम समाजवादी गणराज्य के सुरक्षा परिषद् मे शामिल किए जाने पर एक बार फिर निषेधाधिकार का प्रयोग हुआ। वाद मे गुट-निरपेक्ष देशों की

पहल पर महासभा ने भारी बहुमत से एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें वियतनाम समाजवादी गणराज्य को संयुक्त राष्ट्र में प्रवेश दिलाने और संयुक्त राष्ट्र के अनुच्छेद 4 का दृढता से पालन करते हुए इस मामले पर सुरक्षा परिषद् द्वारा अनुकूल विचार करने की सिफारिश की गई। भारत ने इस प्रस्ताव का सहसमर्थन किया। इस सत्र मे राष्ट्र मण्डलीय सचिवालय को प्रेक्षक के रूप में आने की अनुमति दी गई। संयुक्त राष्ट्रसंघ महासभा का 32वां अधिवेशन 20 सितम्बर, 1977 को विश्व संस्था मे दो नए सदस्यों के प्रवेश के साथ आरम्भ हुआ। ये नए सदस्य हैं—वियतनाम और जिबूती। इनकी सदस्यता के प्रश्न पर विचार भारत सहित 100 सदस्यों द्वारा रखे गए प्रस्ताव के आधार पर किया गया। इनके प्रवेश के साथ ही विश्व संस्था की सदस्य संख्या 149 हो गई।

---

3 संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ का महाशक्तियों के रूप में उदय

(RISE OF U. S. A. AND U. S. S. R. AS SUPER POWER)

"इस दस्तावेज में जो बुनियादी सिद्धान्त निरूपित किए गए हैं वे उन उत्तरदायित्वों के लिए बाधक साबित नहीं होंगे जो अमेरिका और सोवियत संघ अन्य देशों के बारे में पहले अंगीकार कर चुके हैं।"

—संयुक्त घोषणा, मास्को शिखर वार्ता, 1972

जर्मनी और जापान की पराजय के साथ ही द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति हुई। 7 मई, 1945 को यूरोप में जर्मनी ने और 14 अगस्त, 1945 को एशिया में जापान ने आत्मसमर्पण कर दिया। इस प्रकार लगभग छः वर्ष तक चलने वाले मानव इतिहास के एक सबसे अधिक क्रूर, भयानक और विनाशकारी युद्ध का अन्त हुआ जिसने विश्व के लगभग प्रत्येक राष्ट्र, यहाँ तक कि प्रत्येक परिवार को किसी न किसी रूप में प्रभावित किया था।

द्वितीय महायुद्ध इतना व्यापक और प्रभावकारी था कि इसके अन्त के साथ ही विश्व-इतिहास के एक युग का अन्त हो गया। एक नूतन युग का सूत्रपात हुआ जिसमें अनेक राज्य उभरे, नई महाशक्तियों का उदय हुआ, प्रभुत्व-क्षेत्र बदले, नई प्रवृत्तियों और नए सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव हुआ तथा अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में नई समस्याएँ उत्पन्न हुईं। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तक यूरोप विश्व-इतिहास का निर्माता था। सन् 1492 में कोलम्बस द्वारा नई दुनिया अर्थात् अमेरिका की खोज से लेकर सन् 1939 तक के युग को विश्व-इतिहास का यूरोपीय युग कहा जाता है। लेकिन महायुद्ध ने इस यूरोपीय युग' का अन्त कर दिया। महायुद्ध ने यूरोप को आर्थिक, राजनीतिक और सैनिक सभी दृष्टियों से पंगु बना दिया। महायुद्ध के बाद का यूरोप

एक 'समस्या-प्रधान यूरोप' (A Problem Europe) बन गया। जर्मनी और इटली नष्ट हो गए तथा ब्रिटेन और फ्रांस तृतीय श्रेणी के राष्ट्र बन गए। विश्व-नेतृत्व यूरोप के हाथों से निकल कर संयुक्तराज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ के हाथों में आ गया। महायुद्ध ने स्पष्ट कर दिया कि अब संसार में दो ही महाशक्तियाँ रह गई हैं—*संयुक्तराज्य अमेरिका और सोवियत संघ।* अब ये दोनों ही देश प्रथम श्रेणी के राष्ट्रों के रूप में उदित हुए और युद्धोत्तर विश्व तेजी से इनके प्रभाव-क्षेत्रों में बँटने लगा। दोनों राष्ट्र मानव-चिन्तन की दो प्रबल विचारधाराओं के प्रतीक बन गए। सोवियत संघ साम्यवादी विचारधारा का प्रतिनिधि बना तो संयुक्तराज्य अमेरिका लोकतन्त्रवादी आकांक्षाओं का पक्षधर बन गया। दो शिविर प्रकट हुए—संयुक्तराज्य अमेरिका के नेतृत्व में पूँजीवादी शिविर और सोवियत संघ के नेतृत्व में साम्यवादी शिविर।

संयुक्त राज्य अमेरिका का महाशक्ति के रूप में उदय

द्वितीय महायुद्ध के बाद संयुक्तराज्य अमेरिका के उदय को एक 'महाशक्ति' (Super Power) के रूप में समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम ~~यह भी~~ देखें कि द्वितीय महायुद्ध से पहले तक संयुक्तराज्य अमेरिका की क्या स्थिति थी, क्या रीति-नीति थी।

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व अमेरिका

संयुक्तराज्य अमेरिका महायुद्ध के पूर्व से ही एक समृद्ध और शक्तिसम्पन्न देश था, लेकिन उसे 'महाशक्ति' का वह स्तर प्राप्त नहीं था जो युद्धोत्तरकाल में प्राप्त हुआ। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व तक वह यथासम्भव पृथकतावादी नीति का अनुसरण करता रहा। *राष्ट्रपति जैफरसन ने सन् 1801 में इस नीति को इन शब्दों में स्पष्ट* किया था—"शान्तिपूर्ण व्यापार सबके साथ, झंझट पैदा करने वाली सन्धियाँ किसी के साथ नहीं।" इसका आशय यही था कि अमेरिका यूरोपीय देशों के साथ व्यापार करेगा, लेकिन यूरोपीय राजनीति के जाल में नहीं फँसेगा। सन् 1823 में अमेरिका की विदेश नीति में सुप्रसिद्ध 'मुनरो सिद्धान्त' (Munroe Doctrine) का प्रवेश हुआ। राष्ट्रपति मुनरो ने एक ओर तो यह कहा कि अमेरिका यूरोपीय विवादों से पृथक् रहेगा, लेकिन दूसरी ओर यूरोपीय राज्यों को यह चेतावनी भी दी कि वे अमेरिका महाद्वीप में साम्राज्यवादी चेष्टाओं से दूर रहें। यदि अमेरिकी गोलार्द्ध में हस्तक्षेप किया गया तो इसे संयुक्तराज्य अमेरिका अमैत्रीपूर्ण कार्यवाही समझेगा। दूसरे शब्दों में, मुनरो सिद्धान्त का अर्थ था—'तुम पृथक् रहो, हम भी पृथक् रहेंगे।' प्रथम महायुद्ध तक मुनरो सिद्धान्त और पृथकतावादी नीति का मेल भली-भाँति चलता रहा। लेकिन महायुद्ध आरम्भ हो जाने पर अमेरिका के लिए इस परम्परागत नीति पर चलते रहना सम्भव नहीं रहा। प्रारम्भ में तटस्थ रहने के बाद अमेरिका भी मित्रराष्ट्रों के पक्ष में युद्ध में कूद पड़ा। इससे मित्रराष्ट्रों की शक्ति में भारी वृद्धि हो गई और विजयी जर्मनी पराजित जर्मनी में बदल गया।

प्रथम महायुद्ध समाप्त होने के बाद राष्ट्रपति विलसन ने अपने देश को

अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के मार्ग पर चलाना चाहा, लेकिन अमेरिकी कांग्रेस इस बात के लिए तैयार नहीं हुई। सीनेट के विरोध के कारण अमेरिका राष्ट्रसंघ का सदस्य तक नहीं बन सका। इस प्रकार अमेरिका में पृथकतावादी नीति का पुनरोदय हुआ। सन् 1920 से 1932 तक अमेरिका के राजनीतिक क्षितिज पर रिपब्लिकन दल छाया रहा और पृथक्तावाद (Isolationism) का बोलबाला रहा। इस नीति के अनुसरण के कारण अमेरिका को विश्व में 'महाशक्ति' का स्तर प्राप्त नहीं हो सकता था। मार्च, 1937 में फ्रैंकलिन रूजवेल्ट के राष्ट्रपति बनने पर अमेरिका पृथक्तावाद से अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की ओर मुड़ने लगा। फिर भी अमेरिका चाहता यही था कि मित्रराष्ट्रों के साथ सहानुभूति रखते हुए भी यूरोप के मामलों से यथासाध्य पृथक् रहे। सन् 1937 में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने एक भाषण दिया जिसे अमेरिकी विदेश नीति में परिवर्तन का द्योतक कहा जाता है। शिकागो में दिया गया यह भाषण 'क्वारण्टीन वक्तृता' (Quarantine Speech) के नाम से विख्यात है। इस भाषण से यह स्पष्ट हो गया कि अमेरिका ने अन्ततोगत्वा अहस्तक्षेप और तटस्थता की नीति से हटने का निश्चय कर लिया है और शान्तिप्रिय राष्ट्रों के साथ सहयोग कर जर्मनी, जापान, इटली जैसे उग्र राष्ट्रों के विरुद्ध संयुक्त कार्यवाही का समर्थन किया है। अब अमेरिका यूरोप की राजनीति में रुचि लेने लगा। अनेक ऐसी घटनाएँ हुई जिनसे स्पष्ट हो गया कि अमेरिका अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से उदासीन नहीं रहना चाहता। वह एक सबल और सुदृढ़ देश के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में अपनी प्रतिष्ठा चाहता है।

द्वितीय महायुद्ध काल में अमेरिका

द्वितीय महायुद्ध का विस्फोट होने पर अमेरिका में इस प्रश्न पर गम्भीर मतभेद रहा कि वह युद्ध में सम्मिलित हो या नहीं। लेकिन जब 7 दिसम्बर, 1941 को जापान ने पर्लहार्बर के अमेरिकी नौ-सैनिक अड्डे पर बम वर्षा कर दी तो 8 दिसम्बर को ही अमेरिका ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस प्रकार अब 'पुरानी दुनिया' तक सीमित युद्ध 'नई दुनिया' में भी प्रवेश कर गया और अमेरिका जैसा सबल तथा साधन-सम्पन्न राष्ट्र ब्रिटेन, फ्रांस आदि मित्रराष्ट्रों के पक्ष में मैदान में आ गया। महायुद्धकाल में अमेरिका ने अपनी महान् सैनिक शक्ति का प्रदर्शन किया जिसमें शत्रुराष्ट्रों (जर्मनी, जापान, इटली आदि) की पराजय निश्चित हो गई। युद्ध के दौरान अमेरिका ने मित्रराष्ट्रों के पक्ष में अपने सैनिक भी झोंके, उन्हें शस्त्रास्त्र भी दिए और उनके लिए डॉलर की थैलियाँ भी खोल दीं। इस सैनिक और आर्थिक सहायता ने अमेरिका का सिक्का जमा दिया और एक 'महाशक्ति' के रूप में उदय होने का उसका मार्ग प्रशस्त हो गया।

द्वितीय महायुद्ध के बाद अमेरिका एक 'महाशक्ति' के रूप में

द्वितीय महायुद्ध संयुक्तराज्य अमेरिका के लिए प्रच्छन्न रूप में एक वरदान सिद्ध हुआ। प्रथम महायुद्ध ने अमेरिका को एक ऋणी राष्ट्र से ऋणदाता राष्ट्र का रूप दिया था और द्वितीय महायुद्ध ने अधिकांश विश्व को उसके आर्थिक प्रभुत्व से आच्छादित

कर दिया। कारण स्पष्ट था कि महायुद्ध में अमेरिका को उस घोर विनाश का सामना नहीं करना पड़ा जिसका अन्य मित्र और शत्रुराष्ट्रों को करना पड़ा था। जर्मनी, ब्रिटेन, रूस, इटली, फ्रांस आदि सभी राष्ट्र भयंकर बमवर्षा के शिकार हुए थे और ब्रिटेन को छोड़कर इन सभी देशों की भूमि पर रक्तरंजित युद्ध हुए थे। सौभाग्यवश अमेरिका ही इस दुर्दशा से बचा रहा। न उसकी भूमि पर युद्ध लड़ा गया और न उसे दूसरे देशों के समान क्रूर बमवर्षा का शिकार होना पड़ा। इसीलिए, जहाँ युद्धकाल में दूसरे देश आर्थिक और औद्योगिक दृष्टि से अस्त-व्यस्त हो गए, वहाँ अमेरिका की आर्थिक समृद्धि पर कोई आँच नहीं आई। युद्ध के बाद यूरोप का चित्र 'दर्दनाक' था, सैनिक दृष्टि से यूरोप के राष्ट्र अत्यधिक दुर्बल थे, आर्थिक दृष्टि से वे लगभग मौत के मुँह में थे, वहाँ अमेरिका इन सब कठिनाइयों और दुर्दशाओं से बचा हुआ था। सैनिक दृष्टि से भी वह अत्यधिक सबल था और आर्थिक दृष्टि से भी। इसीलिए उसकी राजनीतिक प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई और अब वह सैनिक, राजनीतिक और आर्थिक तीनों ही दृष्टियों से पूँजीवादी जगत् का नेता बन गया। युद्धकाल में उसका उत्पादन गिरने के बजाय बढ़ा। औद्योगिक उत्पादन में लगभग 50 प्रतिशत और कृषि उत्पादन में लगभग 36 प्रतिशत की वृद्धि हुई। अणु बम का रहस्य भी उसके पास था, जापान पर अणु बम गिराकर वह अपनी महान् विनाशक क्षमता का परिचय दे चुका था। अतः स्वभावतः युद्ध से पीड़ित और ध्वस्त राष्ट्र उसके झण्डे के नीचे आ खड़े हुए और उन्होंने उसका नेतृत्व स्वीकार कर लिया। जिस लोकतन्त्रवादी जगत् का नेतृत्व पहले ब्रिटेन के हाथों में था वह अब संयुक्तराज्य अमेरिका के हाथों में आ गया। प्रत्येक देश उसकी सहायता पाने के लिए लालायित था।

28 अक्तूबर, 1945 को अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अमेरिकी विदेश नीति के जिन 'बारह सूत्रों' (Twelve Point) की घोषणा की उनसे यह स्पष्ट हो गया कि अमेरिका अब 'नेतृत्व' से पीछे नहीं हटना चाहता, 'महाशक्ति' की अपनी भूमिका निभाने के लिए दृढ़ इन बारह सूत्रों में मुख्यतः निम्नलिखित सूत्र अमेरिका की महत्त्वाकांक्षा को स्पष्ट रूप में प्रकट करते थे—

(क) अमेरिका चाहता है कि जिन देशों से सर्वोच्च प्रभुसत्ता के अधिकार बलपूर्वक छीने गए थे, वे उन्हें वापस किए जाने चाहिए।

(ख) अमेरिका किसी मित्र देश में जनता की सहमति के बिना किए गए, किसी प्रादेशिक परिवर्तन को स्वीकार नहीं करेगा।

(ग) अमेरिका देखेगा कि स्वशासन के योग्य देशों को विदेशी हस्तक्षेप के बिना अपने शासन का स्वरूप चुनने में स्वाधीनता मिले।

(घ) अमेरिका अपने साथियों के साथ सहयोग करते हुए पराजित देशों में शान्तिपूर्ण लोकतन्त्रीय शासन की स्थापना के लक्ष्य पर चलेगा।

(ङ) अमेरिका ऐसी किसी सरकार को मान्यता नहीं देगा जो विदेशी शक्ति द्वारा किसी देश पर बलपूर्वक थोपी गई हो।

(च) विश्व में कच्चे माल की प्राप्ति और व्यापार में सब देशों को स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

(छ) अमेरिका विश्व में विचार अभिव्यक्ति और धर्म की स्वतन्त्रता की वृद्धि का प्रयत्न करेगा।

(ज) विश्व में दरिद्रता दूर करने और जीवन-स्तर ऊँचा उठाने के लिए सब देशों में पूर्ण आर्थिक सहयोग होना चाहिए।

ये नीति-बिन्दु अमेरिका की महत्त्वाकांक्षा के प्रतीक थे जिनमे अमेरिका मानो यह कह रहा था कि उसने दुनिया को बचाने, सुधारने तथा दुनिया मे अपनी सरकारें स्थापित कराने का ठेका ले लिया है। इन उद्देश्यो मे अमेरिका के 'डॉलर साम्राज्यवाद' की गूँज थी। अमेरिका अब पृथक्तावादी नीति से बिलकुल हट चुका था अर्थात् यह नीति अमेरिका के लिए अब मृत हो चुकी थी। अमेरिका ने अब राजनीतिक, सैनिक और आर्थिक हस्तक्षेप की नीति पर चलना शुरू कर दिया था। उसको चुनौती देने वाला एकमात्र राष्ट्र सोवियत संघ था। अतः अमेरिका के नीति-निर्माताओं और प्रशासकों ने यह निश्चय कर लिया कि उनका देश प्रत्येक स्तर पर सोवियत संघ के प्रभाव और साम्यवाद के प्रसार को रोकेगा। इसे 'अवरोध की नीति' (Policy of Containment) की संज्ञा दी गई। इसके फलस्वरूप मार्शल योजना का निर्माण हुआ जिस पर अप्रेल, 1948 मे अमेरिकी कांग्रेस ने स्वीकृति की मोहर लगा दी। इस योजना का उद्देश्य युद्ध द्वारा ध्वस्त यूरोप का पुनरुद्धार कर उसे साम्यवाद से बचाना' था। इस योजना के अन्तर्गत चार वर्ष (1947-1951) मे अमेरिका ने यूरोप को लगभग 11 मिलियन डॉलर की सहायता दी। इस नीति के दो स्पष्ट परिणाम दृष्टिगोचर हुए—एक ओर तो पश्चिमी यूरोप आर्थिक पतन और साम्यवादी आधिपत्य से बच गया तथा दूसरी ओर अमेरिका पश्चिमी जगत् का सर्वमान्य नेता बन गया।

'महाशक्ति' के रूप मे अमेरिका के इरादे तब और भी स्पष्ट हो गए जब जनवरी, 1949 मे राष्ट्रपति ट्रूमैन ने प्रसिद्ध 'चार सूत्री कार्यक्रम' (Four Points Programme) की घोषणा की। ट्रूमैन ने यह स्पष्ट कर दिया कि संयुक्तराज्य अमेरिका ने विश्व के आर्थिक पुनरुद्धार का बीड़ा उठाया है, आक्रमण के विरुद्ध स्वतन्त्रता-प्रेमी राष्ट्रों को सुदृढ बनाने का निश्चय किया है और अल्पविकसित देशों के उत्थान के लिए पुनः प्राविधिक सहायता देने का निर्णय किया है। इस कार्यक्रम के मूल मे अमेरिका के राष्ट्रीय हित निहित थे। यह चार सूत्री कार्यक्रम 'शीत-युद्ध' का एक अस्त्र था, अर्द्ध-विकसित देशो का समर्थन प्राप्त करने की एक कूटनीतिक चाल थी। चार सूत्री कार्यक्रम' के फलस्वरूप अमेरिकी विदेश नीति का कार्य विश्व-व्यापी हो गया। अब यह निश्चय किया गया कि "जहाँ कहीं शान्ति भंग करने वाली प्रत्यक्ष या परोक्ष आक्रमण की कार्यवाही होगी, उसे संयुक्त राज्य अमेरिका की सुरक्षा के लिए संकट माना जाएगा और अमेरिका उसे रोकने का पूरा प्रयत्न करेगा।"

आर्थिक क्षेत्र मे तो अमेरिका ने अपना नेतृत्व स्थापित कर ही लिया, सैनिक क्षेत्र में भी उसने स्वयं को पूरी तरह एक महाशक्ति के रूप मे प्रतिष्ठित करने के लिए

अनेक कदम उठाए। अन्य देशों के साथ सैनिक सन्धियों और पारस्परिक प्रतिरक्षा सहायता कार्यक्रम की नीति आरम्भ की गई जिसके फलस्वरूप अप्रेल, 1948 मे नाटो (NATO) की स्थापना हुई। इस सन्धि-संगठन द्वारा संयुक्तराज्य अमेरिका पश्चिमी यूरोप के साथ सैनिक गठबन्धन मे बँध गया। साम्यवादी जगत् के लिए यह एक चेतावनी थी कि वह नाटो के सदस्य-देशो पर आक्रमण करने का साहस न करे। इस सन्धि ने यूरोपीय देशो को एक सुरक्षा-आवरण प्रदान किया ताकि वे अपने आर्थिक और सैनिक विकास कार्यक्रम तैयार कर सकें। इस सन्धि द्वारा अमेरिका ने यह दायित्व सम्भाल लिया कि वह साम्यवाद विरोधी किसी भी युद्ध के लिए सदैव तैयार रहेगा। 'नाटो फार्मूला' का प्रयोग अन्य क्षेत्रों मे भी किया गया। नाटो-सदस्यों को सैनिक सहायता दी गई, सदस्य-देशो में सैनिक अड्डे स्थापित किए गए तथा विभिन्न देशों के साथ मैत्री-सन्धियाँ क्रियान्वित की गईं।

संयुक्त राष्ट्रसंघ मे भी अमेरिका ने सक्रिय नेतृत्व की भूमिका निभाना आरम्भ कर दिया। वह सुरक्षा परिषद् मे रूस विरोधी सदस्यो का अगुआ बन गया और संयुक्त राष्ट्रसंघ 'महाशक्तियो के दाव-पेंच का अखाडा' बन गया। जब सन् 1946 में सुरक्षा परिषद् मे यूनान सम्बन्धी विवाद प्रस्तुत हुआ तो अमेरिका और रूस तथा उनके साथी राष्ट्र 'शीत-युद्ध' को विश्व संस्था मे घसीट लाए। संयुक्त राष्ट्रसंघ पर अमेरिका का प्रभाव व्याप्त हो गया और संघ के निरीक्षण मे वस्तुतः अमेरिका द्वारा ही यूनान को आर्थिक और सैनिक सहायता दी गई। जब सन् 1950 मे कोरिया का गृहयुद्ध छिडा तो मुख्य रूप से अमेरिका के प्रयत्नो से ही सुरक्षा परिषद् ने उत्तर कोरिया को आक्रमणकारी घोषित कर सैनिक हस्तक्षेप करने का निश्चय किया। जुलाई, 1950 मे संयुक्त राष्ट्रसंघ के झण्डे के नीचे जिन 16 राष्ट्रो की संयुक्त सैनिक कमान की स्थापना हुई उसका सेनापति अमेरिका के जनरल मैकार्थर को बनाया गया। अमेरिका की प्रबल सैनिक शक्ति के कारण ही संयुक्त राष्ट्रसंघ कोरिया-युद्ध मे सफल हो सका। वास्तव मे सारा युद्ध अमेरिका ने लड़ा, केवल उस पर 'लेबल' संयुक्त राष्ट्रसंघ का लगा था।

इस प्रकार आर्थिक, सैनिक और राजनीतिक सभी स्तरो पर अमेरिका एक महाशक्ति के रूप मे उभर आया। चहुँमुखी प्रयासो के फलस्वरूप अमेरिका का प्रभाव क्षेत्र निरन्तर विस्तृत होता गया और वह 'मुक्त विश्व' (Free World) का एकछत्र नेता बन गया। आज भी अमेरिका विश्व की महाशक्ति नम्बर एक बना हुआ है।

महाशक्ति के रूप में सोवियत संघ का उदय

द्वितीय महायुद्ध से क्षतिग्रस्त और अस्त-व्यस्त विश्व मे केवल एक ही देश ऐसा बचा जो संयुक्तराज्य अमेरिका को चुनौती देने मे सक्षम था, और यह देश था सोवियत संघ। यूरोपीय महाद्वीप पर सोवियत संघ ही एक ऐसा राष्ट्र था जो युद्धकालीन महान् क्षतियो के बावजूद शक्तिशाली था। यद्यपि महायुद्ध के कारण लगभग 2½ करोड रूसी गृहहीन हो गए थे, लाखो रूसी सैनिको और नागरिकों को प्राणों से हाथ धोना पड़ा था और लगभग 8 लाख वर्ग मील रूसी प्रदेश 'राख का ढेर' बन

गया था, तथापि ये सभी बलिदान और संकट रूस के लिए 'वरदान' सिद्ध हुआ। ऐसी अनेक बातें रूस के अनुकूल पड़ी जिनके कारण उसका प्रादेशिक विस्तार हुआ, उसके राजनीतिक तथा सैनिक प्रभाव मे वृद्धि हुई और वह विश्व की दूसरी महाशक्ति के रूप मे उभर कर सामने आया। द्वितीय महायुद्ध के बाद एक महाशक्ति के रूप मे रूस के उदय को भी आवश्यक पृष्ठभूमि मे देखना उपयुक्त होगा।

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व रूस

सन् 1917 की महान् बोल्शेविक क्रान्ति ने रूस मे जारशाही का अन्त कर साम्यवादी शासन की स्थापना की। साम्यवादी रूस ने स्वय को युद्ध से पृथक् कर लिया। पश्चिमी पूँजीवादी राष्ट्रों ने रूस की नई शासन-व्यवस्था को समाप्त कर देने का चक्र-व्यूह रचा और रूस मे सैनिक हस्तक्षेप भी किया, लेकिन ये सारे प्रयत्न निष्फल हुए। सन् 1921 के समाप्त होते-होते साम्यवादी सरकार ने अपने पैर पूरी तरह जमा लिए। इसके बाद सन् 1921 से 1934 तक रूस ने 'रक्षात्मक पार्थक्य' (Defensive Isolation) की नीति का अनुसरण किया। इस काल मे रूस ने आत्म-रक्षा की दृष्टि से विभिन्न शक्तियो के साथ सन्धियाँ सम्पन्न की, उनसे व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किए और दूसरे देशो मे साम्यवादी प्रचार करना कम कर दिया। वह सामान्यतया पश्चिमी देशो की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से अलग रहा और राष्ट्रसघ की सदस्यता भी उसने ग्रहण नही की। रूस ने पूँजीवादी राज्यो से समझौता करने की नीति का अनुसरण किया, किन्तु साथ ही अन्य देशो मे साम्यवादी क्रान्ति फैलाने का प्रयत्न भी करता रहा। अत पश्चिमी राज्य रूस को अविश्वास और सन्देह की दृष्टि से देखते रहे। अमेरिका ने सन् 1933 मे रूस को मान्यता प्रदान की। दोनो देशो के बीच एक सन्धि हुई जिसमे दोनो ने एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता की सुरक्षा का और विरोधी प्रचार करने वाले दलो के दमन का वचन दिया। यह सन्धि रूस के लिए बहुत हितकर थी क्योंकि इसके बाद ही रूस की साम्यवादी सरकार को ससार की सभी बडी शक्तियो ने मान्यता प्रदान कर दी। सन् 1934 मे रूस राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया। अनेक देशो के साथ उसकी सन्धियाँ हुई। सन् 1936 तक रूस एक विशाल शक्तिसम्पन्न देश गिना जाने लगा। इस प्रकार रूस के लिए एक महाशक्ति बनने की पृष्ठभूमि तैयार हो गई। रूस को जर्मनी की ओर से आशका थी, अत: सन् 1939 मे उसने जर्मनी के साथ अनाक्रमण समझौता कर लिया। यह समझौता पश्चिमी देशो को आश्चर्यचकित कर देने वाला था क्योकि वे तो जर्मनी को रूस पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित कर रहे थे। इस समय रूस का सारा कूटनीतिक खेल एक बहुत ही कुशल और मेधावी खिलाड़ी जैसा था जो यह भलीभाँति जानता था कि पश्चिमी देश विश्वासघात कर रहे हैं और जर्मनी पर भी भरोसा नहीं किया जा सकता। इसीलिए रूस भीतर ही भीतर स्वय को शक्तिशाली बनाने के लिए निरन्तर सैनिक तैयारियाँ भी करता रहा।

द्वितीय महायुद्ध काल में रूस

सितम्बर, 1939 मे द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया। रूस प्रारम्भ में तटस्थ रहा,

लेकिन जून, 1941 में जर्मन-आक्रमण होने पर वह पूरी शक्ति के साथ युद्ध में कूद पड़ा। युद्धकाल में अनेक उतार-चढ़ाव आए, लेकिन रूसी सेनाओं ने अपनी युद्ध-कला दृढ़ता और वीरता का सिक्का जमा लिया। भारी क्षति सहने के बावजूद रूस का एक विजयी राष्ट्र के रूप में उदय हुआ और ये रूसी सेनाएँ ही थी जिन्होंने सबसे पहले बर्लिन के सिर पर चोट की। जब जर्मन-राजधानी बर्लिन पर मित्रराष्ट्रों का अधिकार हुआ तो बर्लिन चार भागों में विभाजित हुआ जिनमें एक भाग पर रूस का कब्जा रहा। युद्धकाल में जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुए तथा मित्रराष्ट्रों के साथ रूस के जो समझौते हुए उनमें रूस ने अपने हितों की पूरी तरह रक्षा की। युद्धकाल में ही उसने अपनी प्रादेशिक सीमाओं का भी विस्तार कर लिया।

रूस के पक्ष में महायुद्ध के परिणाम और 'महाशक्ति' के रूप में रूस का उदय

महायुद्ध में बलिदान और संकट रूस के लिए 'वरदान' सिद्ध हुए। महायुद्ध के परिणामों और महायुद्ध के बाद अपनाई गई नीतियों के कारण रूस अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में 'महाशक्ति' के रूप में प्रतिष्ठित हो गया।

(क) युद्धकाल में सीमाओं का विस्तार—महायुद्धकाल में ही रूस ने अपनी सीमाओं का पश्चिम में विस्तार कर लिया और पूर्वी केन्द्रीय यूरोप को अपने नियन्त्रण में ले लिया। वास्तव में महायुद्ध में रूस स्पष्ट और निश्चित ऐतिहासिक लक्ष्यों को लेकर अग्रसर हुआ था। ऐतिहासिक दृष्टि से वह तीन दिशाओं में विस्तार का आकांक्षी था—पश्चिम की ओर यूरोप में, दक्षिण की ओर पूर्वी भूमध्यसागर के निकटवर्ती प्रदेश में तथा पूर्व में प्रशान्त सागर की ओर। इस प्रादेशिक विस्तार के अतिरिक्त रूस यह भी चाहता था कि पड़ोसी यूरोपीय देशों पर भी उसका प्रभाव जम जाए। महायुद्ध ने रूस को इन ऐतिहासिक लक्ष्यों को प्राप्त करने का अवसर दिया। सन् 1918 में रूस को जितने भू-भाग की हानि हुई थी उसे उसने पुनः प्राप्त कर लिया। रूस ने अपनी सीमा में (इतिहास में पहली बार) सभी रूसी आबादी वाले क्षेत्रों को सम्मिलित किया, पूर्वी यूरोप में अपने प्रभाव-क्षेत्र का विस्तार किया और सुदूरपूर्व में अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाए रखी। अवश्य ही पूर्वी भूमध्यसागर के सम्बन्ध में रूस अपने ऐतिहासिक लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सका।

(ख) पूर्वी यूरोप में सोवियत प्रभुता का विस्तार—महायुद्धकाल में पूर्वी यूरोप के लगभग सभी देशों को लाल सेना ने जर्मन दासता से मुक्ति दिलायी थी और इन देशों की साम्यवादी पार्टियों ने जर्मनी के विरुद्ध छापामार संघर्षों का नेतृत्व किया था युद्धोपरान्त इन देशों में राजनीतिक सत्ता भी साम्यवादियों के हाथ में आयी और सोवियत रूस के लिए इस क्षेत्र में अपने प्रभुत्व विस्तार का मार्ग सरल हो गया। युद्ध के उपरान्त सन् 1948तक की तीन वर्ष की अल्पावधि में ही यूरोप के सात देश पूरी तरह 'लाल' बन गए। फरवरी, 1945 के याल्टा सम्मेलन में रूजवेल्ट, स्टालिन और चर्चिल ने 'विमुक्त यूरोप सम्बन्धी घोषणा' (Declaration on Liberated Europe) पर हस्ताक्षर किए थे, लेकिन स्टालिन ने याल्टा-भावना को ठुकराते हुए

पूर्वी यूरोप मे सोवियत प्रभुत्व का विस्तार कर दिया। उसने सन् 1947 और सन् 1948 की सन्धियो द्वारा फिनलैण्ड को भी अपने नियन्त्रण मे ले लिया। फिनलैंड की स्वतन्त्रता तो कायम रही, लेकिन उसे यह वचन देना पडा कि वह रूस विरोधी विदेश नीति नही अपनाएगा । स्टालिन ने पूर्वी यूरोप मे साम्यवादी सरकारो की स्थापना करायी और इस प्रकार सोवियत राष्ट्रीय सुरक्षा-पंक्ति को सुदृढ बनाया। इन देशो के साथ व्यापारिक सम्बन्धो के विकास के लिए भी समझौते किए गए। सन् 1947 की 'मोलोटोव योजना' मे पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशो के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए उनके औद्योगीकरण पर बल दिया गया। पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी के साथ व्यापारिक सन्धियाँ की गईं। पूर्वी यूरोप के देशो के साथ आर्थिक सहयोग को घनिष्ठ बनाने के लिए सन् 1949 मे पारस्परिक आर्थिक सहायता परिषद् (Council for Economic Mutual Assistance—Com. Con) स्थापित की गई। यह 'कौम कौन' पश्चिम द्वारा स्थापित 'यूरोपीय पुनर्निर्माण कार्यक्रम' (European Recovery Programme—E.R.P.) की एक प्रकार से जवाबी कार्यवाही थी। सोवियत सघ ने पूर्वी यूरोप के देशो के साथ सैनिक सन्धियाँ भी की। पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया के साथ तो सैनिक सन्धियाँ युद्धकाल मे ही की जा चुकी थी। इसके बाद मार्च, 1946 से अप्रेल, 1949 तक 17 द्वि-पक्षीय सन्धियाँ की गईं। आगे चलकर मई,1955 मे इन देशो ने वारसा-पैक्ट पर हस्ताक्षर किए और इस प्रकार सोवियत सघ के साथ ये देश और भी अधिक दृढता से बँध गए।

रूस का प्रादेशिक प्रभुत्व-विस्तार वस्तुत आश्चर्यजनक था। सन् 1939 मे रूस ने अपने क्षेत्र मे लगभग 27 करोड 40 लाख वर्गमील की वृद्धि कर ली और साथ ही लगभग 36 करोड वर्गमील क्षेत्र के सात राज्य मास्को समर्थक बन गए। इन देशो के अतिरिक्त अधिकृत पूर्वी जर्मनी भी रूसी सरक्षण मे ही था और वहाँ समाजवाद के सिद्धान्तो पर आधारित शासन-प्रणाली कायम की जा चुकी थी।

(ग) आन्तरिक क्षेत्र मे सुदृढता—किसी भी देश की आन्तरिक शक्ति उसे अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा दिलाने मे बहुत सहायक होती है। द्वितीय महायुद्धकाल मे यद्यपि रूस को भारी झटके लगे, रूसी जन-धन की भयावह हानि हुई, तथापि रूस मे साम्यवादी शासन-व्यवस्था की नीव कमजोर नही हुई। विपुल सकटो को झेलकर भी रूस विजयी हुआ, अत आन्तरिक क्षेत्र मे स्टालिन का और उसके शासन का पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो गया। सैनिक गुट का प्रभाव समाप्त हो गया और साम्यवादी दल मे जो अवांछनीय तत्त्व थे वे भी स्टालिन का लोहा मानने लगे।

(घ) विश्व मे साम्यवादी क्रान्ति का प्रसार—जिस स्टालिन ने प्रथम महायुद्ध के बाद ट्रॉटस्की के विश्व-क्रान्ति के विचार का विरोध किया था, वही द्वितीय महायुद्ध के बाद इस नीति का प्रबल पोषक बन गया। साम्यवादी क्रान्ति को दूसरे देशो मे फैलाने के लिए स्टालिन के नेतृत्व में रूस ने विभिन्न उपायो का सहारा लिया। यूनान के गृह-युद्ध में यूनानी साम्यवादियो को पडोसी साम्यवादी देशो के माध्यम से सहायता

पहुँचायी गई। तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय (Third International) के विश्वव्यापी क्रान्तिकारी कार्यों को सम्पन्न करने के लिए सन् 1947 में विभिन्न देशों की साम्यवादी पार्टियों के नेताओं ने बेलग्रेड में 'कॉमिनफार्म' की स्थापना की। इसका उद्देश्य विश्वव्यापी साम्यवादी आन्दोलन का नेतृत्व करना था। स्टालिन चाहता था कि पूर्व और पश्चिम में रूसी साम्राज्य का विस्तार हो, रूसी सीमाओं पर रूस समर्थक राज्यों की सरकारें स्थापित हों और पुराने बुर्जुआ साम्राज्य नष्ट हों। इन्हीं उद्देश्यों से प्रेरित होकर स्टालिन ने विश्व-समस्याओं के समाधान में समझौतावादी नीति न अपनाना ही उचित समझा। वह अड़गेबाजी की नीति पर चलकर शान्ति-व्यवस्था को टालना चाहता था ताकि संसार की स्थिति सोवियत संघ के लिए और भी अनुकूल हो जाए।

(ङ) **लौह-आवरण की नीति**—स्टालिन को भय था कि यदि पाश्चात्य लोकतन्त्र के कीटाणु सोवियत संघ में प्रवेश कर गए तो वह साम्यवादी शासन के लिए एक अशुभ बात होगी। इसीलिए उसने लौह-आवरण (Iron Curtain) की नीति अपनायी ताकि रूस को सभी प्रकार के पश्चिमी प्रभावों से अछूता रखा जा सके। महायुद्ध के तुरन्त बाद संयुक्तराज्य अमेरिका और पश्चिमी राज्यों ने साम्यवाद के विरुद्ध जोर-शोर से जहरीला प्रचार शुरू कर दिया। साम्यवादी देशों के इर्द-गिर्द अज्ञात रेडियो स्टेशन स्थापित किए गए जिनके नाम 'आजाद हंगरी रेडियो', 'आजाद पोलैण्ड रेडियो' आदि रखे गए। किन्तु स्टालिन भी पूरा 'घाघ' था। उसने विभिन्न प्रतिबन्ध लगाकर साम्यवादी जगत् के चारों ओर ऐसी दीवार खड़ी कर दी कि साम्यवाद-विरोधी प्रचार प्रवेश न कर सके। स्टालिन ने रूस और पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों को गैर-साम्यवादी देशों के सम्पर्क से पृथक् रखने का निश्चय कर लिया था। कठोर कानूनों द्वारा सन् 1945 से ही रूसियों का बाह्य जगत् के साथ सम्पर्क रोक दिया गया। उदाहरणार्थ, एक कानून द्वारा यह व्यवस्था की गई कि युद्ध के समय रूस में आए हुए विदेशी सैनिकों के साथ जिन रूसी स्त्रियों ने विवाह किया था वे अपने पतियों के पास विदेश नहीं जा सकेंगी। एक अन्य कानून द्वारा विदेशियों के साथ सोवियत नागरिकों के विवाहों पर रोक लगा दी गई। विदेशी राजदूतों और पत्र-प्रतिनिधियों के साथ भी बहुत कठोरता का व्यवहार किया गया। विदेशों में स्थित सोवियत राजदूतों पर भी कठोर अनुशासनात्मक प्रतिबन्ध लगाए गए।

(च) **'शान्तिवादी आन्दोलन' की कूटनीति**—सोवियत रूस के पक्ष में एशिया और अफ्रीका का समर्थन प्राप्त करने के लिए सोवियत संघ ने युद्ध के कुछ ही समय बाद 'शान्ति आन्दोलन' (Peace Offencive) आरम्भ किया। पूँजीवादी पश्चिम को 'युद्ध-लोलुप' (War-monger) कहा गया। सन् 1950 में स्टॉकहोम की विश्व-शान्ति समिति द्वारा आणविक आयुधों पर बिना शर्त प्रतिबन्ध लगाने की अपील पर उचित समय पर लगभग 50 करोड़ लोगों के हस्ताक्षर प्राप्त कराए गए। इस शान्ति आन्दोलन ने एशिया और अफ्रीका की विशाल जनसंख्या को बहुत प्रभावित किया।

वे साम्यवाद की ओर आकर्षित होने लगे तथा सोवियत संघ को पश्चिम की तुलना में अधिक शान्तिप्रिय और साम्राज्य विरोधी मानने लगे। साम्यवादियों ने इस आन्दोलन में सब देशों के मजदूरों, स्त्रियों और बच्चों से सहयोग माँगा। जहाजी श्रमिकों में यह प्रचार किया गया कि अमेरिका से शस्त्रास्त्रों को लाने वाले जहाजों से माल न उतारा जाए और हड़ताल कर दी जाए। प्रचार की दृष्टि से शान्तिवादी आन्दोलन को प्रारम्भ में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। यद्यपि स्टालिन अपने अनुदार दृष्टिकोण के कारण इस आन्दोलन से रूस को अधिक लाभान्वित नहीं कर सका, तथापि विश्व के देशों में रूसी शक्ति और रूसी क्षमता की चर्चा होने लगी। पश्चिमी देश भी यह समझ गए कि यदि पूँजीवादी गुट में अमेरिका जैसी महाशक्ति है तो, साम्यवादी गुट में रूस जैसी महाशक्ति है जो अमेरिका को टक्कर देने में सक्षम है।

(छ) रूस द्वारा विनाश के घावों को धो डालना—रूस ने महायुद्ध के फोड़ों की थोड़े ही समय में आश्चर्यजनक रूप से मलहम-पट्टी कर ली। रूसी नागरिकों में आत्म-विश्वास का अभूतपूर्व प्रादुर्भाव हुआ। रूस ने समाजवादी पद्धति के कारण, द्रुत गति से अपना पुनर्निर्माण कर लिया और नाजी आक्रमण की कड़वी स्मृतियों को मिटा डाला। युद्ध समाप्त हो जाने के बाद भी रूसी सेना में कोई विशेष कमी नहीं की गई, इसके विपरीत आधुनिकतम शस्त्रास्त्र बनाने पर विशाल धनराशि व्यय की गई।

(ज) अणु-शक्ति पर अमेरिका के एकछत्र स्वामित्व को भंग करना—सैनिक स्तर पर सच्चे अर्थों में एक महाशक्ति बनने के लिए यह आवश्यक था कि रूस भी अमेरिका के समान अणु-शक्ति का स्वामी बनता। रूस ने इस दिशा में प्राणपण से चेष्टा की और अगस्त, 1953 में अपना प्रथम आणविक विस्फोट किया। इससे रूस की प्रतिष्ठा में चार चाँद लग गए तथा उसे संयुक्तराज्य अमेरिका का वास्तविक प्रतिद्वन्द्वी माना जाने लगा। रूस ने अल्पकाल में ही विभिन्न प्रकार के अणु-आयुधों और अणु-बमों का निर्माण कर अमेरिका के लिए गम्भीर चुनौती प्रस्तुत कर दी।

(झ) नाटो के जवाब में वारसा-पैक्ट—पश्चिमी राष्ट्रों और अमेरिका के सैन्य-संगठनों के जवाब में रूस ने भी ऐसे संगठनों की स्थापना की। सन् 1955 में वारसा-पैक्ट की स्थापना कर नाटो की ईंट का जवाब पत्थर से दिया गया। विभिन्न राष्ट्रों के साथ सैनिक सन्धियाँ की भी गई।

इस प्रकार द्वितीय महायुद्धोत्तर काल में दो महाशक्तियों का उदय हुआ—संयुक्तराज्य अमेरिका और सोवियत संघ। विश्व में शक्ति के दो प्रमुख केन्द्र उभर कर सामने आए और लगभग सन् 1954-55 तक विश्व में दृढ़ द्वि-ध्रुवीयता (Tight Bipolarity) का बोलबाला रहा। दोनों महाशक्तियाँ एक दूसरे की जबर्दस्त प्रतियोगी बन गईं और दोनों ही के नेतृत्व में दो विरोधी गुटों का निर्माण होता गया। महाशक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा विशेषकर यूरोप में बहुत तीव्र रही जिससे न केवल शीत-युद्ध में तीव्रता आई बल्कि प्रतिद्वन्द्वी सन्धियों और अनेक सैनिक गुटों का निर्माण भी तेजी से हुआ। सन् 1955 के प्रारम्भ में स्थिति यह थी कि जहाँ विश्व-शान्ति और

संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता केवल 59 सम्प्रभु राज्यों तक सीमित थी वहाँ अमेरिका और ब्रिटेन एक ओर तथा रूस और अन्य राष्ट्र दूसरी ओर लगभग 60 से भी अधिक राज्यों के साथ बँधे थे।[1] सन् 1955 के मध्य द्वि-ध्रुवीयता शिथिल होने लगी और धारा बहुकेन्द्रवाद (Polycentricism) की ओर बहने लगी। आज यद्यपि शक्ति के अनेक केन्द्र, कम से कम चार या पाँच उभर आए हैं फिर भी महाशक्तियों के रूप में वस्तुतः अमेरिका और रूस की ही गणना की जाती है। निकट भविष्य में साम्यवादी चीन और भारत भी महाशक्तियों का दर्जा पा सकेंगे, इसकी सम्भावनाएँ प्रबल हैं।



1. *Rosen and Jones*: The Logic of International Relations, 1976, p. 216.



निःशस्त्रीकरण

(DISARMAMENT)

नि·शस्त्रीकरण की समस्या उतनी ही पुरानी है जितनी विश्व-शान्ति की। आज के आणविक युग मे तो यह समस्या हमारे जीवन-मरण की समस्या बन गई है। शस्त्रास्त्रो के इस भयावह सक्ट के बावजूद शस्त्रीकरण की होड इसीलिए जारी है कि आज राष्ट्रो मे सम्बन्ध पारस्परिक अविश्वास और दूसरे राष्ट्रो के इरादो के बारे मे निरन्तर भय से ओत प्रोत हैं। नि शस्त्रीकरण और शस्त्र-नियन्त्रण आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की उन समस्याओ मे से हैं जो निरन्तर विचार-विमर्श के बावजूद गम्भीरतम रूप धारण किए हुए हैं। अनवरत प्रयासो के बावजूद शस्त्रीकरण की होड़ तेजी से जारी है।

निःशस्त्रीकरण : अर्थ एवं प्रकार

अमेरिका की इस्टीट्यूट फोर डिफेंस अनालिसेस (वाशिगटन डी. सी) ने [illegible] की परिभाषा निम्न प्रकार से दी है—

"कोई भी एक योजना, जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से निःशस्त्रीकरण के किसी भी एक पहलू—जैसे सख्या, प्रकार, शस्त्रो की योजना-प्रणाली, उसका नियन्त्रण, उनकी सहायता के लिए पूरक यन्त्रो का निर्माण, प्रयोग व वितरण, गुप्त सूचनाएँ एकत्र करने के सयन्त्र, सेना का सख्यात्मक स्वरूप, आदि को नियमित करने से सबंधित हो, नि.शस्त्रीकरण की श्रेणी मे आती है।"

सामान्य अर्थ मे नि.शस्त्रीकरण वह कार्यक्रम है जिसका उद्देश्य शस्त्रों के अस्तित्व और उनकी प्रकृति से उत्पन्न कुछ विशिष्ट खतरो को कम अथवा समाप्त कर देना है। प्रो. मॉर्गेन्थो के अनुसार "नि शस्त्रीकरण से आशय शस्त्रो की दौड समाप्त करने के लिए अथवा शस्त्रो को कम या समाप्त कर देने से है।"

नि.शस्त्रीकरण सामान्य (*General*), स्थानीय (*Local*), मात्रात्मक (Quantitative), गुणात्मक (Qualitative) कैसा भी हो सकता है। सामान्य नि.शस्त्रीकरण मे लगभग सभी राष्ट्र सम्मिलित होते हैं जैसे सन् 1932 का विश्व निःशस्त्रीकरण सम्मेलन। स्थानीय नि.शस्त्रीकरण मे कुछ ही राष्ट्र भाग लेते तथा प्रभावित होते हैं। मात्रात्मक नि·शस्त्रीकरण का तात्पर्य सभी प्रकार के शस्त्रो पर

नियन्त्रण से है जबकि गुणात्मक नि.शस्त्रीकरण के अनुसार किन्ही विशेष प्रकार के शस्त्रों को कम अथवा समाप्त करने की सिफारिश की जाती है। जब हम पूर्ण नि:शस्त्रीकरण की बात करते हैं तो इसका अर्थ वर्तमान मे उपलब्ध सभी प्रकार के शस्त्रो पर प्रतिबन्ध लगाने से होता है।

नि.शस्त्रीकरण कार्यक्रम को कतिपय क्षेत्रों में 'शस्त्र-नियन्त्रण' (Arms Control) कार्यक्रम की संज्ञा दी जाती है। यह माना जाता है कि नि:शस्त्रीकरण के अनुसार तो राष्ट्रों के पास शस्त्र होने ही नही चाहिए, किन्तु पूर्ण नि:शस्त्रीकरण कोई नही चाहता क्योकि आन्तरिक व्यवस्था, अप्रत्याशित बाह्य आक्रमण से रक्षा तथा अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों के निर्वहन के लिए कुछ शस्त्र सैन्य-बल अपेक्षित है, अतः समस्या शस्त्र-नियन्त्रण' (Arms Control) की है, पूर्ण नि शस्त्रीकरण की नही। वेज़ले डब्ल्यू पोस्वार (Wesley W Posvar) ने अपने लेख 'The New Meaning of Arms Control' मे लिखा है कि "नि:शस्त्रीकरण का अभिप्राय सेनाओ और शस्त्रो को घटा देना या समाप्त कर देना है जबकि शस्त्र-नियन्त्रण मे वे सभी उपाय सम्मिलित हैं जिनका उद्देश्य युद्ध के सम्भावित और विनाशकारी परिणामो को रोकना (विशेषकर आणविक युद्ध के परिणामों को) है। इसमे सेनाओं तथा शस्त्रो को घटाने या न घटाने का विशेष महत्त्व नही है।"

अधिकांश अमेरिकी लेखको और राजनीतिक विचारको ने नि:शस्त्रीकरण के स्थान पर 'शस्त्र-नियन्त्रण' शब्द का प्रयोग किया है। सोवियत रूस तथा उसके सहयोगी नि शस्त्रीकरण पर ही नही बल्कि पूर्ण नि:शस्त्रीकरण पर जोर देते हैं। निरपेक्ष दृष्टि से देखने पर शस्त्र-नियन्त्रण ही अधिक सार्थक और व्यावहारिक प्रतीत होता है जबकि नि:शस्त्रीकरण एक ऐसा आदर्श दिखाई देता है जो सोचने, कहने और विवाद करने के लिए भले ही ठीक हो, पर व्यवहार मे दुष्प्राप्य है।

नि शस्त्रीकरण अपने आप मे समस्या का समाधान न होकर एक माध्यम मात्र है जो तभी सार्थक हो सकता है जब वह उद्देश्यपूर्ण तथा योजनाबद्ध हो। शस्त्रीकरण का निषेध अथवा कमी करने के लिए अविश्वास, प्रतिस्पर्द्धा, शोषण, आदि के विपरीत अच्छे विकल्प ढूंढने होंगे और राष्ट्रीय हित की परिभाषा अधिक विचारपूर्ण ढग से करनी होगी। अन्तर्राष्ट्रीय विवादो को हल करने के लिए शान्ति-पूर्ण उपायों की सम्भावनाएँ सच्चे मन से खोजनी होगी अन्यथा मात्र शस्त्रो मे कुछ कमी कर देने से नि:शस्त्रीकरण का उद्देश्य पूरा नही हो सकेगा। हार्वर्ड विश्वविद्यालय के प्रो रॉबर्ट बोवी के इस अभिमत से असहमत होना कठिन है कि कोई भी नि शस्त्रीकरण-योजना तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक राष्ट्रो को यह विश्वास न हो जाए कि उनके राष्ट्रीय हित और सुरक्षा निरापद है। इस आश्वासन का एक तरीका, जो सम्भवतः काफी प्रभावशाली होगा, अधिक से अधिक राज्यो को शस्त्र-नियन्त्रण योजनाओ से सम्बद्ध करना है। यद्यपि शस्त्रास्त्रो की बढती हुई विनाशकता स्वयं अपने आप मे उन शस्त्रो के प्रयोग को सीमित कर देती है, तथापि प्रयोग की सम्भावना का निषेध नही किया जा सकता और आज के आणविक अस्त्रो के प्रयोग का अर्थ है 'महाविनाश'।

निःशस्त्रीकरण : क्यों ?

शान्ति-स्थापना के लिए

अपने सामान्य और सार रूप मे निःशस्त्रीकरण की धारणा मे विश्व-शान्ति और सुरक्षा की आशाएँ निहित हैं। शस्त्रास्त्र एक राष्ट्र की विदेश-नीति को सैनिक दृष्टिकोण प्रदान करते हैं जिसमे युद्ध और संघर्ष की सम्भावनाएँ सदा जीवित, जाग्रत और प्रबल रहती हैं। श्री कोहन के अनुसार, "नि.शस्त्रीकरण द्वारा राष्ट्रों के भय और मतभेद को कम करके शान्तिपूर्ण समझौतों की प्रक्रिया को सुविधापूर्ण तथा शक्तिशाली बनाया जा सकता है।"

निःशस्त्रीकरण और शान्ति के सम्बन्ध मे विचार-मतैक्य नही पाया जाता। हैडले बुल का तर्क है कि अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता और तनावपूर्ण स्थितियाँ ही युद्ध के वास्तविक कारण हैं क्योंकि इनसे ही शस्त्रास्त्रों की भीषण प्रतिस्पर्द्धा प्रारंभ होती है जिसका अन्तिम परिणाम युद्ध और विनाश होता है। प्रो. शूमैन के अनुसार संघर्ष की आशंका ही शस्त्रीकरण की होड को जन्म देती है और युद्ध की सम्भावना से शस्त्रो मे वृद्धि होती है। यह मानना कि शस्त्रों के कारण युद्ध होते हैं गाड़ी को घोडे के आगे खडा करना है। कुछ विद्वानो का मत है कि शस्त्रीकरण की प्रतिस्पर्द्धा से अनिवार्यत. युद्ध नही होते और यह भी आवश्यक नही है कि निःशस्त्रीकरण से अवश्यम्भावी रूप मे शान्ति और सुरक्षा की स्थापना हो जाएगी। मूल समस्या तो अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना की है। क्विंसी राइट का मत एकदम विपरीत है। उनका विचार है निःशस्त्रीकरण को शान्ति तथा सुरक्षा की समस्याओं का समाधान नहीं माना जा सकता। नि शस्त्रीकरण से तो युद्ध के बार-बार होने की सम्भावना (Frequency) बढ जाती है। शस्त्रास्त्रो के अभाव मे राज्य दूसरे राज्यों के आक्रामक कार्यों और इरादों का मुकाबला नही कर पाते। प्रथम और द्वितीय महायुद्ध मुख्यतः इसीलिए हुए थे कि बडे राष्ट्रों न नि.शस्त्रीकरण की प्रतिस्पर्द्धा से बचने का प्रयास किया था।

स्पष्ट है निःशस्त्रीकरण का विषय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की अत्यन्त जटिल और विवादास्पद समस्या है पर मतभेदों के बावजूद इस तथ्य को नही ठुकराया जा सकता कि निःशस्त्रीकरण समय की माँग है और इसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा विश्वास के नए द्वार खोले जा सकते हैं। यदि हम अपने व्यवहार मे शान्ति के प्रति रचनात्मक दृष्टिकोण अपना लें तो निःशस्त्रीकरण के प्रयास बडी सीमा तक सफल हो सकते हैं।

आर्थिक कल्याण और पुनर्निर्माण के लिए

निःशस्त्रीकरण के पक्ष मे यह आर्थिक तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि शस्त्रों की दौड' के स्थान पर 'शान्ति के लिए दौड' शुरू होने पर मानव-समाज की समृद्धि का मार्ग अधिक प्रशस्त होगा तथा विश्व के औद्योगीकरण और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के नूतन युग का सूत्रपात होगा। संयुक्त राष्ट्रसंघ के एक अध्ययन के अनुसार सेना पर होने वाला ससार का कुल व्यय सन् 1971 तक 18700 खरब डालर (140250

लाख रुपये) तक पहुँच गया था। सन् 1961 से 1971 के बीच दस वर्षों में सरकार का रक्षा-व्यय 500 खरब डालर (3750 खरब रुपये) से बढ़कर 2000 खरब डालर (15000 खरब रुपये) वार्षिक हो गया जो विश्व की कुल राष्ट्रीय आय का साढ़े छ प्रतिशत था। पश्चिमी एशिया में सन् 1974 मे प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय उत्पादन 845 डालर था और सेना पर प्रति व्यक्ति खर्च 135 डालर। सन् 1975 के वित्तीय वर्ष मे अकेले अमेरिका ने 71 देशो को 9·5 मिलियन डालर के अस्त्र-शस्त्र बेचे। जरा कल्पना कीजिए कि यदि इस विपुल धनराशि का सदुपयोग विश्व की पीड़ित और अभावग्रस्त जनता के लिए किया जाता तो मानवता का कितना भला होता।

कतिपय क्षेत्रो मे कहा जाता है कि निःशस्त्रीकरण के फलस्वरूप मन्दी का दौर शुरू होगा जिसके भीषण परिणाम लोगो को भुगतने पड़ेगे, साथ ही वैज्ञानिक और तकनीकी विकास भी अवरुद्ध हो जाएगा। लेकिन इस प्रकार की आशंकाओ मे अधिक वजन नहीं है। निःशस्त्रीकरण के फलस्वरूप जो रचनात्मक वातावरण पनपेगा, उसमे वैज्ञानिक और तकनीकी विकास की क्षमताएँ अवरुद्ध नही होगी इसके विपरीत आर्थिक समृद्धि के इतने विशाल स्रोत खुल जाएँगे जिनकी आज हम कल्पना भी नही कर सकते। अवश्य ही हमे 'शस्त्रीकृत अर्थव्यवस्था' को 'निःशस्त्रीकृत अर्थ-व्यवस्था' मे परिवर्तित करने की समस्या का मुकाबला करना पड़ेगा।[1]

समस्याओं के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए

निःशस्त्रीकरण से विश्व-राज्य के निर्माण की सम्भावनाएँ बढ़ेगी, महायुद्ध का सम्भावित खतरा टल जाएगा तथा राष्ट्रो के पारस्परिक विवाद आपसी बातचीत द्वारा सुलझाने का मार्ग प्रशस्त होगा शीत-युद्ध का ज्वर कम होगा, आतंक के बादल छँटेंगे और राष्ट्रो के विवाद बड़ी सीमा तक गोलमेज सम्मेलनो मे तय होने लगेंगे।

नैतिक वातावरण के निर्माण के लिए

निःशस्त्रीकरण नैतिक रूप से भी आवश्यक है क्योंकि 'किसी भी राष्ट्र को यह अधिकार नहीं है कि वह अपनी सुरक्षा के लिए अन्य राष्ट्रो की वर्तमान और भावी पीढ़ियो के स्वास्थ्य तथा जीवन को रेडियो सक्रिय धूल तथा सामरिक तैयारी द्वारा अनेक खतरो मे डाले।" सैद्धान्तिक रूप से नैतिक आधार पर निःशस्त्रीकरण का प्रतिपादन उचित है, लेकिन यथार्थवादी राष्ट्रीय राजनीति मे इसका विशेष प्रभाव नही होता। उदाहरण के लिए, भारत जैसे शान्तिप्रिय राष्ट्र के प्रति चीन और पाकिस्तान के रवैये को देखते हुए इकतरफा निःशस्त्रीकरण का कोई भी कदम उठाना देश के लिए आत्मघातक होगा।

आणविक संकट से बचने के लिए

आज के युग मे आणविक युद्ध एवं विनाश से बचने का एकमात्र मार्ग निःशस्त्रीकरण अथवा शस्त्रो पर प्रभावशील नियन्त्रण ही है। खतरनाक शस्त्रों पर

1. दिनमान, 12 सितम्बर एवं जनवरी, 1976.

रोक लगाने तथा उन्हें सीमित कर देने से चाहे आक्रमण रोके न जा सकें, किन्तु उनको कम, मर्यादित और अपेक्षाकृत कम विध्वंसक बनाया जा सकेगा। निःशस्त्रीकरण के फलस्वरूप प्रथम तो कोई भी राष्ट्र तुरन्त एवं व्यवस्थित रूप से युद्ध छेड़ने में असमर्थ हो जाएगा और दूसरे, राष्ट्रों के मध्य द्वेषपूर्ण सम्बन्धों में कमी हो जाने से राष्ट्रीय हितों के पारस्परिक समायोजन के अनुकूल वातावरण बन जाएगा। नाभिकीय तथा आणविक शस्त्रास्त्र ही आज राष्ट्रों के मनों को आतंकित किए हुए हैं। दूसरी ओर यह तर्क भी दिया जाता है कि आज महाशक्तियों की नाभिकीय एवं आणविक शक्ति ने आतंक का जो सन्तुलन स्थापित किया हुआ है उसी से विश्व में शान्ति कायम है, अन्यथा तृतीय महायुद्ध कभी का छिड़ गया होता। इस तर्क में वजन है तथापि यह स्वीकार करना होगा कि युद्ध की निरन्तर सम्भावनाओं और आशंकाओं से बचने का मार्ग निःशस्त्रीकरण और शस्त्र-नियन्त्रण का है, शस्त्रीकरण का नहीं।

निष्कर्ष रूप में, आधुनिक परिस्थितियों में विश्व के राष्ट्रों के लिए निःशस्त्रीकरण का मार्ग अपनाना श्रेयस्कर है। युद्ध और शान्ति का चक्र न कभी मिटा है और न कभी सम्भवतः मिट सकेगा, अतः प्रयत्न इसी दिशा में होना चाहिए कि युद्ध की विनाशक-शक्ति घट जाए। इस दृष्टि से नाभिकीय तथा आणविक हथियारों के भावी निर्माण पर ईमानदारी से पूर्ण प्रतिबन्ध लगाना चाहिए और इस प्रकार के उपलब्ध हथियारों को विनष्ट कर देना चाहिए। यह कार्य जोर-जबर्दस्ती न होकर स्वेच्छा से होना चाहिए और इसके लिए सभी राष्ट्रों को ईमानदारी से परस्पर सहयोग करना चाहिए। अमेरिका के राष्ट्रीय लक्ष्य एवं उपलब्धियों पर शोध करने वाली समिति ने सन् 1960 में अपनी एक रिपोर्ट में कहा था कि—"चूंकि महा परमाणु-युद्ध सम्पूर्ण विश्व के लिए विनाशकारी होगा, अतः बड़े पैमाने पर निःशस्त्रीकरण के प्रयास होने आवश्यक हैं। यह तभी सम्भव होगा जब महाशक्तियाँ पारस्परिक अविश्वास व प्रतिस्पर्द्धा को भुलाकर परमाणु-शक्ति के उत्पादन, परमाणु-अस्त्रों के निर्माण, नियन्त्रण एवं वितरण पर अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण एवं प्रतिबन्ध के लिए सहयोग करने को तैयार होंगे। परमाणु-अस्त्रों के परीक्षणों पर नियन्त्रण लगाना इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम होगा।"

द्वितीय महायुद्धोत्तर युग में निःशस्त्रीकरण के प्रयास

द्वितीय महायुद्ध के बाद के निःशस्त्रीकरण-प्रयासों को हम मोटे रूप में दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—प्रथम भाग के अन्तर्गत उस समय तक की वार्ताएँ सम्मिलित की जा सकती हैं जब केवल अमेरिका ही अणु-बम का स्वामी था, द्वितीय भाग का आरम्भ तब से माना जा सकता है जब सोवियत संघ ने भी अणु-बम का निर्माण कर लिया। निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में पूँजीवादी और साम्यवादी दोनों ही गुटों में विरोधी दृष्टिकोण मिलता है और इस दिशा में किए जाने वाले प्रयासों का क्षेत्र संयुक्त राष्ट्रसंघ भी है तथा निजी वार्ताएँ भी। द्वितीय महायुद्ध के बाद

निःशस्त्रीकरण की दिशा मे जो भी प्रयास हुए हैं उन्हें निम्नलिखित शीर्षकों में व्यक्त करना उपयुक्त होगा—

संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में निःशस्त्रीकरण की व्यवस्था

सघ के चार्टर मे नि.शस्त्रीकरण को महासभा और सुरक्षा परिषद् दोनों की ही कार्य सूची मे सम्मिलित किया गया है। अनुच्छेद 11, 26 एव 47 मे तत्सम्बन्धी व्यवस्थाएँ हैं।

सयुक्त राष्ट्रसघ ने प्रारम्भ से ही निःशस्त्रीकरण की समस्या पर ध्यान देना आरम्भ कर दिया था। जनवरी, 1946 मे सघ द्वारा अणु-शक्ति आयोग (Atomic Energy Commission) की स्थापना की गई जिसका उद्देश्य एक ऐसी योजना का निर्माण करना था जिसके अन्तर्गत राष्ट्र परमाणु-शक्ति के उत्पादन को अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण मे रखने तथा अणु-शक्ति का प्रयोग केवल शान्तिपूर्ण उद्देश्यो के लिए करने को सहमत हो सकें तथा आणविक अस्त्रो के प्रयोग व उत्पादन पर पूरा नियन्त्रण लगाया जा सके। अणु-शक्ति आयोग को वांछित सफलता नहीं मिली। अतः दिसम्बर, 1946 ने महासभा ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसका आशय था कि अणु-शक्ति आयोग अपने कार्य मे तेजी लाए और सुरक्षा परिषद् शीघ्रतापूर्वक शस्त्रो के घटाने तथा उनका नियमन करने की व्यावहारिक योजनाएँ बनाए। शीघ्र ही परिषद् द्वारा 'परम्परागत शस्त्र आयोग' (The Commission for Conventional Armaments) गठित किया गया जिसका कार्य केवल परम्परागत शस्त्रो को सीमित एव नियमित करने सम्बन्धी प्रस्ताव रखना ही था, अणु-शस्त्रो और विनाश के व्यापक साधनो से इसका सम्बन्ध नही था।

दोनो आयोगो की स्थापना भी हो गई, महाशक्तियो द्वारा विभिन्न प्रस्ताव भी प्रस्तुत किए गए लेकिन सभी प्रयासो का परिणाम कुल मिलाकर शून्य रहा। शान्ति की दिशा मे बढने के बजाय इन प्रयासो ने शीतयुद्ध को प्रोत्साहन दिया। अमेरिका ने एक अन्तर्राष्ट्रीय आणविक विकास-सस्था के निर्माण का सुझाव रखा जो परमाणु-शक्ति के उत्पादन से सम्बन्धित कच्चे माल पर भी नियन्त्रण लगाए। सोवियत रूस ने सुझाव दिया कि वर्तमान परमाणु अस्त्रो को नष्ट कर दिया जाए और तत्पश्चात् सुझावों को कार्यान्वित किया जाए। महाशक्तियों के पारस्परिक विरोधी दृष्टिकोण के फलस्वरूप नि.शस्त्रीकरण की दिशा मे कोई प्रगति नही हो सकी।

सन् 1947 से 1954 तक कई छुट-पुट प्रयास हुए। सन् 1954 के प्रारम्भ मे अन्तर्राष्ट्रीय अणु-शक्ति एजेंसी (International Atomic Energy Agency) अस्तित्व मे आई जिसने एक पचराष्ट्रीय उप-समिति की स्थापना की। अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रास, कनाडा और रूस इसके सदस्य थे। अनेको बैठको के बावजूद कोई परिणाम नही निकला। स्थिति यह रही कि एक पक्ष की ओर से निःशस्त्रीकरण के प्रस्ताव आते और दूसरे पक्ष द्वारा ठुकरा दिए जाते।

जेनेवा-सम्मेलन, 1955 से 1960 तक

जुलाई, 1955 मे जेनेवा मे रूस, ब्रिटेन, अमेरिका और फ्रास का सम्मेलन हुआ जिसमे अमेरिकी राष्ट्रपति आइजन होवर ने 'खुली आकाश योजना' (Open Skies Plan) प्रस्तावित की। इसका आशय था कि अमेरिका और रूस दोनो ही अपने सैनिक बजट उत्पादन, वर्तमान शक्ति एव उसके विकास की सम्भावनाओं के बारे मे एक दूसरे को सूचना दें तथा परस्पर जाँच एव निरीक्षण के लिए सहमत हों। एक देश को दूसरे देश के आकाश पर निरीक्षण करने का अधिकार दिया जाए। सोवियत प्रधान मन्त्री बुलगानिन ने अमेरिकी योजना को अस्वीकार करते हुए अपना यह प्रस्ताव रखा कि नि शस्त्रीकरण को क्रियान्वित करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण-अभिकरण की स्थापना की जाए और उसे निरीक्षण का कार्य सौंपा जाए, सभी देशो से विदेशी सैनिक अड्डों को समाप्त कर दिया जाए, आणविक-शस्त्रो के परीक्षण पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाए और परम्परागत शस्त्रो मे निश्चित कटौती की जाए।

जेनेवा-सम्मेलन असफल रहा। दिसम्बर, 1955 मे भारत ने अणु-शस्त्रो के परीक्षण पर प्रतिबन्ध लगाने की माँग की और शस्त्रो से सम्बन्धित एक अल्पकालीन सन्धि का भी सुझाव दिया, किन्तु अमेरिका ने इसे स्वीकार नही किया। जून, 1956 मे सयुक्त राष्ट्रसंघीय नि शस्त्रीकरण आयोग की उप-समिति की बैठक मे रूस ने त्रिसूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत किया—(1) दो वर्ष के लिए आणविक परीक्षण बन्द कर दिए जाएँ, (2) इस प्रतिबन्ध को लागू करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय आयोग बैठाया जाए, एव (3) आयोग सहित रूस अमेरिका और ब्रिटेन प्रशान्त महासागर मे नियन्त्रण चौकियाँ स्थापित करें। रूसी प्रस्ताव पश्चिमी राष्ट्रो को मान्य नही हुए। लन्दन-सम्मेलन की असफलता घोषित कर दी गई।

नवम्बर, 1957 में नि शस्त्रीकरण आयोग का विस्तार किया गया। अभी तक पश्चिमी राष्ट्रों को रूसी वैज्ञानिक परीक्षणो की गोपनीयता से चिन्ता थी और वे जाँच तथा निरीक्षण पर जोर दे रहे थे, लेकिन अगस्त, 1957 मे रूस ने अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रो (ICBM) के सफल परीक्षण की घोषणा कर और अक्तूबर, 1957 मे एक कृत्रिम उपग्रह (Sputnik) छोडकर पश्चिमी जगत् को स्तब्ध कर दिया।

दोनो पक्षो की ओर से नि शस्त्रीकरण-प्रस्तावो को प्रस्तुत करने और अस्वीकृत करने का क्रम जारी रहा। फरवरी, 1958 मे रूसी प्रधान मन्त्री बुल्गानिन ने एक योजना प्रस्तावित की जिसके मुख्य पहलू ये थे—(1) अणु-बम परीक्षण बन्द किए जाएँ, (2) अमेरिका रूस व ब्रिटेन आणविक शस्त्रों का परित्याग कर दें, (3) जर्मनी तथा अन्य यूरोपीय देशो मे विदेशी सेनाओं को घटाया जाए, (4) नाटो तथा वारसा पैक्ट के देशो मे अनाक्रमण समझौता हो, एव (5) आकस्मिक आक्रमण रोके जाएँ। यह योजना निष्फल हुई। मार्च, 1958 के लगभग पोलैण्ड के विदेश मन्त्री ने 'रापाकी योजना' (Rapaki Plan) प्रस्तुत की जिसमे यूरोप की

सुरक्षा और शान्ति हेतु पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, पश्चिमी और पूर्वी जर्मनी को अणु-विहीन क्षेत्र बनाने का सुझाव दिया गया। यह प्रस्ताव भी निष्फल रहा। मार्च, 1958 मे सुप्रीम सोवियत के एक प्रस्ताव में कहा गया कि सोवियत संघ इस आशा से सभी प्रकार के आणविक परीक्षण बन्द कर रहा है कि अन्य देश भी इसका अनुसरण करेंगे, किन्तु यदि दूसरे देशो द्वारा आणविक परीक्षण बन्द न किए गए तो वह अपने परीक्षण पुन: प्रारम्भ कर देगा। अमेरिका द्वारा उत्तर दिया गया कि यदि उसे रूसी परीक्षणो के बन्द होने का निश्चय हो गया तो वह भी अपने परीक्षण बन्द करने पर गम्भीरतापूर्वक विचार करेगा। अक्तूबर, 1958 मे जेनेवा-सम्मेलन मे नि:शस्त्रीकरण पर अनेक प्रस्ताव प्रस्तुत हुए, पर कोई उपयोगी समझौता नही हो सका।

सन् 1959 मे रूसी प्रधान मन्त्री ख्रुश्चेव ने संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा मे पूर्ण नि:शस्त्रीकरण का एक प्रस्ताव रखा। उन्होने सुझाव दिया कि चार वर्ष की अवधि मे सभी राज्य पूर्ण नि.शस्त्रीकरण करलें ताकि किसी राज्य के पास युद्ध करने का कोई साधन न रह जाए। साथ ही उन्होने एक आंशिक नि:शस्त्रीकरण की योजना भी प्रस्तावित की जिसमे कहा गया कि नाटो-सदस्यो तथा पश्चिमी राज्यो के ाथ वारसा पैक्ट के सदस्यो की अनाक्रमण सन्धि सम्पन्न हो, एक राज्य का दूसरे राज्य ार आकस्मिक आक्रमण रोकने के बारे मे समझौता हो, मध्य यूरोप मे अणु-आयुध-विहीन क्षेत्र कायम किया जाए आदि। रूसी प्रस्ताव का सब देशो ने स्वागत किया, लेकिन पश्चिमी शक्तियो द्वारा इसे उपहास का विषय बना दिया गया और इस प्रकार गतिरोध बना रहा। सन् 1960 मे भी जेनेवा-सम्मेलन हुआ, पर असफल रहा।

जुलाई, 1960 से 1973 तक

जून, 1960 मे दस राष्ट्रो का नि:शस्त्रीकरण सम्मेलन भग हो जाने के कुछ ही माह बाद सोवियत रूस ने 50 मेगाटन शक्ति के अणु-बम का परीक्षण किया। नवम्बर, 1961 मे महासभा ने यह भारतीय प्रस्ताव स्वीकार कर लिया कि आणविक परीक्षणो पर जब तक कोई समझौता न हो जाए तब तक इनको बन्द ही रखा जाए। एक अन्य प्रस्ताव मे महासभा ने कहा कि यदि किसी देश द्वारा अणु-शस्त्रों का प्रयोग किया गया तो इसे चार्टर का उल्लघन माना जाएगा। मार्च, 1962 मे विदेश-मन्त्रियो के सम्मेलन को नि शस्त्रीकरण-प्रयासो मे कोई सफलता प्राप्त नही हुई। इसी समय जेनेवा मे नि.शस्त्रीकरण आयोग का सम्मेलन हुआ जिसमे भारत की ओर से प्रस्ताव रखा गया कि आणविक परीक्षणो का पता लगाने के लिए तटस्थ राष्ट्रो के स्टेशन कायम किए जाएँ। रूसने प्रस्ताव रखा कि दोनो ही पक्ष सहमत हो जाएँ कि दूसरे देशो की भूमि मे तीन महान् आणविक शक्तियाँ आणविक-अड्डे कायम नही करेंगी। सम्मेलन मे प्रस्तुत सभी प्रस्तावो का महत्त्व केवल कागजी रहा।

कैनेडी और ख्रुश्चेव के प्रयत्नो से नि शस्त्रीकरण-वार्ता मे कुछ प्रगति हुई और मास्को मे ब्रिटेन, रूस और अमेरिका ने 15 जुलाई, 1963 को 'सीमित परमाणु-प्रतिबन्ध-सन्धि' पर हस्ताक्षर किए। 10 अक्तूबर, 1963 से सन्धि लागू

हुई। उस समय तक लगभग 100 राष्ट्र इस सन्धि पर हस्ताक्षर कर चुके थे। सन्धि के अन्तर्गत तीनों देशों ने स्वीकार किया कि वे अपने क्षेत्रान्तर्गत बाह्य अन्तरिक्ष, प्रादेशिक तथा महायुद्ध या वायुमण्डल में कोई भी आणविक विस्फोट नहीं करेंगे। सन्धि असीमित अवधि के लिए की गई तथापि हस्ताक्षरकर्ता राष्ट्रों को अधिकार दिया गया कि वे उस समय स्वयं को इस सन्धि की बाध्यताओं से मुक्त रख सकते हैं जब वह समझें कि सन्धि से सम्बन्धित कोई ऐसी असामान्य घटना घटी है जिससे सम्बन्धित देश का सर्वोच्च हित संकट में पड़ गया है। सन्धि में अन्य सदस्यों को सम्मिलित किए जाने की व्यवस्था भी की गई बशर्ते कि वे इसकी मौलिक धाराओं से सहमत हों। इस सन्धि में भूमिगत परीक्षणों पर प्रतिबन्ध की बात नहीं की गई। *इसका मुख्य कारण यह था कि भूमिगत परीक्षणों की जाँच के लिए घटना-स्थल पर* जाना अनिवार्य होता है जिनसे राज्य की प्रादेशिक सार्वभौमिकता का उल्लंघन होता है।

परमाणु-परीक्षण-प्रतिबन्ध-सन्धि ने खुले तौर पर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बात-चीत का स्वस्थ वातावरण तैयार किया। पर मार्च, 1964 में जेनेवा-नि:शस्त्रीकरण सम्मेलन का कोई सुपरिणाम नहीं निकला। कुछ ही दिनों बाद चीन ने अपने प्रथम अणु-बम का परीक्षण कर सन् 1963 के जेनेवा-समझौते की उपेक्षा की। नवम्बर, 1964 में महासभा ने एक प्रस्ताव में नि:शस्त्रीकरण-आयोग से आग्रह किया कि परमाणु आयुधों के सम्बन्ध में शीघ्र ही कोई समझौता अवश्य होना चाहिए। जुलाई, 1965 में जेनेवा में नि:शस्त्रीकरण-आयोग की बैठक पुनः बुलाई गई, लेकिन आयुधों को नियन्त्रित करने के उपायों पर इतने मौलिक मतभेद थे कि कोई फल नहीं निकला।

नि:शस्त्रीकरण की दिशा में प्रयासों का क्रम चलता रहा और तब एक उल्लेखनीय सफलता मिली जबकि रूस व अमेरिका के बीच सन् 1968 की परमाणु-अस्त्र प्रसार-निरोध सन्धि (The Non-Proliferation Treaty, 1968) हुई, अन्य राज्य, विशेषकर यूरोप के राज्य, इससे आश्वस्त नहीं थे। सन्धि का मसविदा बड़ा लम्बा-चौड़ा था। सारांशतः उसकी मूल बातें ये थीं—(1) परमाणु-अस्त्र सम्पन्न राष्ट्र, परमाणु-अस्त्र-विहीन राष्ट्रों को परमाणु-अस्त्र प्राप्त करने में किसी प्रकार की सहायता नहीं देंगे, (2) हस्ताक्षरकर्ता परमाणु-अस्त्र-विहीन राष्ट्र परमाणु-अस्त्र बनाने की कोई कोशिश नहीं करेंगे, (3) हस्ताक्षरकर्ता राष्ट्रों को असैनिक कार्यों के लिए परमाणु-शक्ति का विकास करने की पूरी छूट रहेगी।

अनेक राष्ट्रों की आपत्तियों के बावजूद जून, 1968 में संयुक्त राष्ट्रसंघीय महासभा ने सन्धि पर अपनी स्वीकृति दे दी। यद्यपि इस समझौते से यह स्पष्ट हो गया कि महाशक्तियाँ परस्पर सहयोग करें तो सभी गम्भीर समस्याओं को सुलझा सकती हैं तथापि इस सन्धि का बहुत से राष्ट्रों ने स्वागत नहीं किया। सन्धि की सबसे बड़ी कमी यह है कि एक ओर तो यह प्रतिबन्ध है कि जो राष्ट्र परमाणु-बम नहीं बना पाए हैं वे भविष्य में भी इस ओर कदम नहीं उठाएँगे और दूसरी ओर

उन्हें परमाणु आक्रमण से बचने के लिए आश्वासन दिया है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा अणु-आयुधों से उनकी सहायता की जाएगी जिसका निर्णय सुरक्षा परिषद् करेगी। स्पष्ट है कि सुरक्षा परिषद् महाशक्तियों के हाथ का खिलौना है। फिर इस आश्वासन का तब कोई महत्व नहीं रह जाता जब सुरक्षा परिषद् के किसी भी स्थायी सदस्य को किसी प्रस्ताव के वीटो करने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रसंघ ने 'आक्रमण' शब्द की व्याख्या नहीं की है। अतः यह भ्रम बने रहने की सम्भावना है कि परिषद् किस हालत मे किसको आक्रमणकारी समझेगी। भारत ने सन्धि पर हस्ताक्षर नही किए। कारण स्पष्ट है कि उसे परमाणु-अस्त्र-सम्पन्न चीन से भारी खतरा है और सन्धि इस खतरे को दूर नहीं कर सकती।

सन् 1968 मे परमाणु-अस्त्र विरोधी सन्धि के उपरान्त सन् 1972 के प्रारम्भिक चरण तक निःशस्त्रीकरण की दिशा मे कोई महत्वपूर्ण प्रगति नही की जा सकी। सामरिक-अस्त्र-परिसीमन वार्ता के दौर चले, सयुक्त राष्ट्रसंघ नि.शस्त्रीकरण समिति ने सभी देशो द्वारा जीवाणु अस्त्र-भण्डारो को नष्ट कर देने सम्बन्धी प्रारूप तैयार किया, लेकिन कुल मिलाकर परिणाम निराशाजनक रहे। मई, 1972 के अन्तिम सप्ताह मे अमेरिकी राष्ट्रपति निक्सन ने मास्को की यात्रा की और दोनो देशों के बीच 'रूस-अमेरिका परमाणु परिसीमन सन्धि, 1972' सम्पन्न हुई। इस ऐतिहासिक सन्धि मे दोनो महाशक्तियो ने एक दूसरे की शक्ति का सम्मान करते हुए आत्म-विश्वास पर आधारित एक नया सन्तुलन कायम किया। इस पचवर्षीय सन्धि मे, जो राष्ट्रीय हितो के प्रतिकूल प्रमाणित होने पर किसी भी पक्ष द्वारा 6 मास के नोटिस पर रद्द की जा सकती है, स्वीकार किया गया है कि—(1) नए अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रो का निर्माण नहीं किया जाएगा, (2) कोई भी पक्ष हल्के या पुराने किस्म के भू-प्रक्षेपास्त्र-स्थलो को सुधार कर भारी अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रो के लिए योजना नही बनाएगा, (3) दोनों पक्ष पनडुब्बियो के प्रक्षेपास्त्रो और प्रक्षेपको और प्रक्षेपास्त्रयुक्त आधुनिक पनडुब्बियों का निर्माण नही करेंगे, यद्यपि निर्माणाधीन पनडुब्बियो का कार्य पूरा करने की छूट रहेगी, (4) सन्धि की व्यवस्थाओं को ध्यान मे रखते हुए आक्रामक प्रक्षेपास्त्रो और प्रक्षेपको का आधुनिकीकरण करने अथवा स्थानापन्न अस्त्र बनाने का अधिकार दोनों देशो को प्राप्त होगा, एवं (5) सन्धि के अनुपालन की जाँच के लिए हर एक राष्ट्र केवल वही विधियां अपनाएगा जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मान्य सिद्धान्तों के अनुरूप हैं।

वास्तव मे इस सन्धि से भी नि शस्त्रीकरण की दिशा मे कोई ठोस प्रगति नही हुई। श्रीमती गांधी की टिप्पणी थी कि अस्त्र-परिसीमन अपने आप मे सही नी है, लेकिन दुनिया के बाकी हिस्सो मे शान्ति-स्थापना की दिशा मे इससे कोई सहयोग नही मिलता। श्रीमती गांधी ने यह भी कहा कि रूस और अमेरिका दोनों को यह आश्वासन देना चाहिए कि परमाणु-अस्त्रों का उपयोग परमाणु अस्त्र-विहीन देशों के विरुद्ध नही किया जाएगा। इसके अलावा सन्धि इतनी आंशिक है कि

परमाणु-अस्त्रों पर खर्च होने वाली राशि मे कमी आने की कोई सम्भावना नही है। प्रक्षेपास्त्रो के क्षेत्र मे आधुनिकीकरण द्वारा उन्हें बेहतर या अधिक घातक बनाने की प्रतियोगिता कायम रहेगी।

मास्को मे परमाणु परिसीमन सन्धि के सम्पन्न होने के बाद सन् 1973 के मध्य तक नि.शस्त्रीकरण और अणु-शक्ति के परिसीमन के सम्बन्ध में कोई प्रगति नही की जा सकी, इसके विपरीत नि शस्त्रीकरण-प्रयासो को ठेस पहुँची। मार्च, 1973 के समाचार-पत्रों में इस आशय का समाचार प्रकाशित हुआ कि चीन ने द्रव ईंधन से चालित एक ऐसा दूरगामी अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र तैयार किया है जो सोवियत रूस के सबसे बड़े प्रक्षेपास्त्र से भी बडा है। चीन के नए महाप्रक्षेपास्त्र पर अमेरिका और रूस जैसी महाशक्तियो द्वारा भी चिन्ता व्यक्त की गई। 27 जून, 1973 को चीन ने एक और परमाणु-विस्फोट किया जो 2 मेगाटन टी. एन टी शक्ति का था विशेषज्ञो ने स्पष्ट मत प्रकट किया कि आणविक आयुध और प्रक्षेपास्त्र विकास की दिशा मे चीन की प्रगति अन्य सभी देशो से तेज रही है।

1974-76 मे परमाणु अस्त्र परिसीमन की दिशा मे प्रगति

सोवियत संघ और अमेरिका के बीच 27 जून से 3 जुलाई, 1974 तक तीसरी शिखर-वार्ता हुई जिसमे परमाणु अस्त्र परिसीमन पर कोई व्यापक समझौता तो नही हो सका, किन्तु भूमिगत परीक्षण पर प्रतिबन्ध तथा कुछ प्रक्षेपास्त्रो के परिसीमन आदि के बारे मे समझौते हुए। 3 जुलाई, 1974 को जो दस वर्षीय आणविक आयुध-परिसीमन-समझौता हुआ उसे 31 मार्च, 1976 से लागू किया जाना निश्चित किया गया। समझौते के अनुसार दोनो देशो ने 150 किलो टन से अधिक के भूमिगत आणविक परीक्षणों को रोकने तथा अपने प्रक्षेपास्त्रो पर नई सीमा लगाने का निश्चय किया। यह तय किया गया कि शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए किए गए विस्फोट इस आंशिक प्रतिबन्ध-व्यवस्था की परिधि मे नही आएँगे। नवीन समझौते के अन्तर्गत दोनो पक्ष अपनी-अपनी प्रक्षेपास्त्र-व्यवस्था को 3 अक्तूबर 1977 से 2 अक्तूबर, 1978 के बीच एक बार तथा उसके उपरान्त पाँच वर्ष में एक बार एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित कर सकेंगे। यह कार्य परस्पर सूचना के आदान-प्रदान के बाद ही किया जा सकेगा।[1]

सन् 1974 में भूमिगत परमाणु-परीक्षण करने के बारे मे जो उपर्युक्त समझौता हुआ उसका एक मुख्य उद्देश्य यह था कि वायुमण्डल को दूषित होने से बचाने और रेडियमधर्मिता के खतरे से बचने के लिए अब सभी परमाणु-परीक्षण भूमि के नीचे किए जाएँगे। लेकिन परमाणु-परीक्षण के खतरे से दुनिया को बचाने के लिए इतनी ही सन्धि काफी नही थी, अतः जून, 1976 मे एक नई धारा जोड़कर इस सन्धि को अधिक लाभकारी बना दिया गया। परमाणु-परीक्षण स्थल की जानकारी कोई भी एक पक्ष दूसरे पक्ष को देना नहीं चाहता था जिसका मतलब था

1. दिनमान, 14 जुलाई, 1976, पृष्ठ 27.

कि यह पता लगाना कठिन था कि परीक्षण शान्तिपूर्ण कार्य के लिए हुआ है या परमाणु अस्त्र बनाने के लिए। अतः यह बात स्वागत योग्य थी कि स्थल का निरीक्षण करने पर दोनो देश सहमत हो गए।

1977 में हथियारों की होड़ पुनः शुरू

जुलाई, 1977 के दिनमान मे प्रकाशित समाचारो के अनुसार सन् 1977 मे महाशक्तियो मे हथियारों की होड एक बार फिर शुरू हो गई है। अमेरिका ने बी-1 बमवर्षक न बनाने का निर्णय तो लिया है साथ ही यह निर्णय भी किया है *कि वह 'क्रूज' प्रक्षेपास्त्र का निर्माण करेगा।* इससे पहले उसने न्यूट्रान बम का परीक्षण भी किया था। अमेरिका का उद्देश्य शायद सोवियत संघ को यह जतलाना था कि परमाणु अस्त्रो के क्षेत्रो मे वह श्रेष्ठ स्थिति में है और साथ ही अपनी शर्तों पर सामरिक अस्त्र के प्रसार पर रोक लगाने सम्बन्धी वार्ता (साल्ट) मे अपने तर्कों को प्राथमिकता देना था। लेकिन सोवियत संघ ने इन नए हथियारो की आलोचना करते हुए कहा है कि यह कैसे सम्भव है कि एक तरफ तो आप शान्ति और मानवाधिकारो के प्रति प्रेम जतलाएँ और दूसरी ओर नए हथियारो का निर्माण कर *सारी मानवता को विनाश के कगार पर लाकर खडा कर दें। यह सब काम* अमेरिका ही कर सकता है। रूसी टिप्पणीकारो की मान्यता है कि सभी विश्लेषण-कर्ता अनुभव करते हैं कि ऐसे नए हथियारो के निर्माण से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों मे जटिलताएँ ही पैदा होगी तथा सोवियत संघ और अमेरिका के बीच सामरिक हथियारो पर प्रतिबन्ध लगाने सम्बन्धी वार्ता मे गतिरोध उत्पन्न होगा।

अमेरिकी वैज्ञानिकों ने पिछले 20 वर्षों के अनुसंधान के बाद हाल में एक नए बम का परीक्षण किया है। अमेरिका का यह नया अस्त्र है न्यूट्रान बम जो *भवनो और सैनिक सस्थानो को हानि पहुँचाए बिना अपने लक्ष्य पर जाकर मनुष्यो* तथा अन्य जीवो का विनाश कर सकता है। विस्फोट के बाद यह बम विकिरण छोडता है जो जीवो के सैलो मे प्रवेश कर उन्हे अस्त-व्यस्त कर देता है जिसके कारण जीव जन्तु मर जाते हैं। इसकी एक विशेषता यह भी है कि लक्ष्य के आस-पास के सीमित क्षेत्र मे ही इसका प्रभाव पडता है। इसके नर संहार को सैनिक ठिकानो तक ही सीमित रखा जा सकता है और हिरोशिमा तथा नागासाकी जैसे विध्वंस की कोई सम्भावना नहीं है। सन् 1952 मे सोवियत संघ ने भी इसी प्रकार के बम के *निर्माण के लिए प्रयोग किए थे किन्तु वह इस होड मे अमेरिका से पिछड गया है।* अमेरिका ने न केवल इसका परीक्षण कर लिया है बल्कि उसके विकास की योजना पर गम्भीरतापूर्वक विचार-विमर्श के बाद अमेरिकी सेनेट ने 42 के मुकाबले 43 मतो से इस योजना पर होने वाले धन को भी स्वीकृति दे दी है।

निःशस्त्रीकरण के मार्ग में कठिनाइयाँ

1. महाशक्तियाँ अपने शस्त्रास्त्रो के आधुनिकीकरण का मोह छोड़ने को तैयार नहीं हैं; अतः स्वाभाविक है कि देश के आधुनिकतम आयुधो के जवाब में दूसरा देश उससे भी बढकर आयुध बनाने की सोचता है और इस तरह जो भी निःशस्त्रीकरण-

समझौते होते हैं वे बहुत ही आंशिक और व्यवहार मे प्रभाव-शून्य होते हैं । उदाहरणार्थ, जून-जुलाई, 1974 के शिखर-सम्मेलन मे रूस और अमेरिका के बीच प्रभावी सामरिक अस्त्र-परिसीमन-समझौता न हो पाने के राजनीतिक क्षेत्रो मे दो प्रमुख कारण बताए गए हैं—(क) *हाल मे अमेरिका के लक्ष्य भेदकर स्वत. लौट आने वाले एम. आई. आर वी* प्रक्षेपास्त्रो के बारे मे यह तथ्य सामने आया है कि प्रथम आक्रमण की स्थिति मे ये प्रक्षेपास्त्र शत्रु के ठिकानो को उतनी क्षति नही पहुँचा पाएँगे जितनी उनसे अपेक्षा की जाती है क्योकि उनके आपस मे टकराकर नष्ट हो जाने की अधिक सम्भावना है । प्रेक्षको का मत है कि यह ज्ञात हो जाने के बाद अमेरिकी प्रतिरक्षा *विभाग अधिक बड़े और ठिकाने पर सही मार करने वाले अस्त्रो के निर्माण के* लिए सरकार पर दबाव डालेगा । हो सकता है कि इस स्थिति के कारण निक्सन ने सामरिक अस्त्र परिसीमन जैसा समझौता टालने का भी प्रयास किया हो ।(ख)दूसरे कारण का सम्बन्ध सोवियत सघ से था । यह तो सन् 1972 मे समझौते के समय ही स्पष्ट हो गया था कि जब तक दोनो महाशक्तियाँ आक्रमण और प्रतिरक्षा, दोनो *ही दृष्टियो से परमाणु-अस्त्रो मे समान स्तर पर नही पहुँच जाती, तब तक उनके* बीच *सामरिक-अस्त्र-परिसीमन* सम्बन्धी पूर्ण समझौता नही हो सकेगा । आशा थी कि सोवियत सघ शीघ्र ही प्रक्षेपास्त्रो मे अमेरिका के बराबर न सही, उसके निकट तो पहुँच ही जाएगा, किन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि इस क्षेत्र मे अभी वह अमेरिका से पीछे है—न केवल इसलिए कि उसके विश्वभर मे सैनिक अड्डे न होने के कारण वह *अमेरिका की समता नही कर सकता,* बल्कि इसलिए भी कि उसके पास *अमेरिका से* कम परमाणु अस्त्र हैं ।

इन परिस्थितियो मे सामरिक अस्त्र-परिसीमन के बारे मे किसी व्यापक *समझौते की अपेक्षा कैसे की जा सकती है ?*

2 कूटनीतिक और सैनिक क्षेत्रो मे अमेरिका की परमाणु-शक्ति सोवियत सघ से बहुत अधिक आंकी जाती है और प्रक्षेपास्त्रो के बारे मे लगभग तीन गुनी अधिक । फिर भी वह नए परमाणु-प्रक्षेपास्त्रो के निर्माण की दिशा मे प्रयत्नशील है और अपने प्रयत्नो का औचित्य सिद्ध करने के लिए वह समय-समय पर सोवियत सघ की परमाणु-शक्ति को बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करता रहा है । *सन् 1960 मे अपने चुनाव* अभियान मे जॉन एफ कैनेडी ने यही किया । उसके बाद अमेरिका ने जब एम. आई. आर. वी. प्रक्षेपास्त्र-प्रणाली पर कार्य शुरू किया, तब भी यह कहा गया कि सोवियत सघ ने तालीन और गालोश नामक प्रतिरक्षात्मक प्रक्षेपास्त्र-प्रणालियो का विकास कर लिया है, अत अमेरिका के लिए एम. आई. आर वी प्रणाली अनिवार्य हो गई है । लेकिन जब *एम.आई आर वी प्रणाली पर जोरो से काम होने लगा तो अमेरिका* ने यह स्वीकार किया कि सोवियत सघ की उक्त प्रतिरक्षा व्यवस्था से उसे कोई खतरा नही है । फिर भी प्रक्षेपास्त्र निर्माण के व्यापक कार्यक्रम का औचित्य सिद्ध करने के लिए अगले कुछ वर्षों मे या सन् 1980 के बाद सोवियत सघ द्वारा प्राप्य परमाणु क्षमता का तर्क दिया जा रहा है । यह एक ऐसा बहाना है जिसके रहते अस्त्र

दौड़ रोकने की बात नहीं की जा सकती क्योंकि इससे न तो अमेरिका के ट्रिडेंट पनडुब्बियाँ और बी-1 बमवर्षक बनाने के कार्यक्रमों पर कोई प्रभाव पड़ेगा और न ही प्रतिरक्षा-व्यवस्था को उत्तरोत्तर सुदृढ़ करने का सोवियत संघ का कार्यक्रम प्रभावित होगा। यह स्थिति सामरिक अस्त्र-परिसीमन-समझौते की सम्भावनाओं के प्रतिकूल है। उसके लिए तो आवश्यक है कि अमेरिका यह तथ्य स्वीकार कर ले कि वह परमाणु-प्रक्षेपास्त्रों में सोवियत संघ से आगे है और इस दृष्टि से सोवियत संघ को इस क्षेत्र में कुछ सुविधा प्रदान करे ताकि वह उसके समकक्ष आ सके।

3. अणु-शक्ति सम्पन्न राष्ट्रों के बीच सम्बन्धों का निर्धारण अनेक आन्तरिक एवं बाह्य तत्त्वों से प्रभावित होता है। एक देश पहले अपने राष्ट्रीय हितों पर दृष्टिपात करता है तथा बाद में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व हित को देखता है। इसी आधार पर फ्रांस ने परीक्षण-प्रतिरोध-सन्धि का समर्थन नहीं किया। दो या अधिक राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध आज इतने अस्थिर है कि कल का मित्र आज का शत्रु बन सकता है। इन परिस्थितियों में अणु-आयुधों के रहने से आक्रमणकारी पर प्रतिबन्ध लग जाता है और वह तुरन्त युद्ध छेड़ने का साहस नहीं कर पाता क्योंकि दूसरे देश की शक्ति उसका भी विनाश कर सकती है। अस्थिर सम्बन्धों का भय तथा इनमें निहित खतरे और प्रलोभन की भावनाएँ शस्त्रों को सीमित करने के मार्ग में बाधक बन जाती हैं। आजकल सैनिक तकनीक का इतना विकास हो चुका है कि नि:शस्त्रीकरण के नाम पर किसी को भी धोखा दिया जा सकता है। शक्तिशाली शस्त्रों को गुप्त रखकर तथा ऊपरी सेना घटाकर नि शस्त्रीकरण का दिखावा किया जा सकता है। जब तक यह भय दोनों पक्षों के मन में रहेगा तब तक नि:शस्त्रीकरण का भविष्य उज्ज्वल नहीं है।

4. राष्ट्रवाद एवं सम्प्रभुता की भावना के कारण एक देश यह स्वीकार नहीं करता कि उसकी नि शस्त्रीकरण की क्रियान्विति की जाँच के लिए कोई अन्तर्राष्ट्रीय संस्था बनायी जाए। इस प्रकार के निरीक्षण द्वारा एक देश की स्वतन्त्रता पर जो अंकुश लगता है उसे मानने को कोई तैयार नहीं होता। यही कारण है कि नि.शस्त्रीकरण योजना की सफलता से पूर्व विश्व-सरकार की स्थापना का सुझाव दिया जाता है।

5. नि:शस्त्रीकरण के कारण एक देश की अर्थव्यवस्था पर भारी प्रभाव पड़ता है। शस्त्रों के निर्माण पर व्यय होने वाली भारी राशि का शस्त्र-निर्माण बन्द कर देने पर रचनात्मक कार्यों में कैसे उपयोग किया जाएगा, उससे अर्थव्यवस्था को अस्त-व्यस्त होने से कैसे बचाया जाएगा आदि आशंकाएँ उठती हैं तथा यह आशा भी रहती है कि इसे अर्द्ध-विकसित देशों के विकास के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है। यह भी सम्भव है कि नि.शस्त्रीकरण के आर्थिक परिणामों का भय एवं आशा वास्तविक है। इस आशा एवं भय का पश्चिम के सम्पन्न समाज पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह भी अनुमान का विषय है।

6 नि:शस्त्रीकरण करते समय देशों के शस्त्रों का जो अनुपात निर्धारित किया जाता है उसके कारण देशों के बीच मन-मुटाव व अविश्वास की भावना पैदा होती है। शस्त्रों की सीमा-निर्धारण के समय प्रत्येक देश को दूसरे देश के प्रति यह शंका रहती है कि शायद वह अपनी शक्ति को बढ़ाने तथा विरोधी पक्ष की शक्ति घटाने का प्रयत्न कर रहा है। तकनीकी रूप से यह बड़ा कठिन काम है कि एक देश की सैनिक आवश्यकता का पता लगाया जाए तथा उसी अनुपात में उसकी सैनिक शक्ति को घटाया जाए। जॉन फॉस्टर डलेस के मतानुसार इसी समस्या के कारण अमेरिका द्वारा नि:शस्त्रीकरण की योजनाओं का समर्थन सच्चे दिल से नहीं किया जा सका। इस समस्या के समाधान के लिए दो सुझाव प्रस्तुत किए जाते हैं—(i) पूर्ण रूप से नि:शस्त्रीकरण कर दिया जाए, (ii) अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस-शक्ति द्वारा देशों को सामूहिक सुरक्षा की गारण्टी दी जाए। किन्तु ये सुझाव भी तब तक सफल नहीं हो सकते जब तक पहले शस्त्रों को कम न किया जाए, इसलिए अनुपात की समस्या मूल है।

7. यह कहा जाता है कि अविश्वासपूर्ण वातावरण में नि:शस्त्रीकरण और शस्त्रों का नियन्त्रण तथा अन्य राजनीतिक समस्याओं का समाधान सम्भव नहीं है। यदि देशों में पारस्परिक विश्वास रहे तो शस्त्रों की आवश्यकता ही न रहे और नि:शस्त्रीकरण की समस्या भी उत्पन्न न हो। पूर्ण अविश्वास की स्थिति अराजकता एवं तानाशाही में से एक को स्थापित कर देगी। यह आशा की जाती है कि नि:शस्त्रीकरण की समस्या के समाधान के बाद दोनों गुटों में विश्वास की भावना उत्पन्न हो सकती है। अविश्वास के कारण कोई समझौता नहीं हो पाता; होता भी है तो सच्चे रूप से क्रियान्वित नहीं हो पाता।

8 एक समस्या यह सामने आती है कि पहले राजनीतिक समस्याओं को हल किया जाए या नि:शस्त्रीकरण किया जाए। ये दोनों एक दूसरे के मार्ग में बाधक हैं और एक का समाधान हो जाने पर दूसरे का समाधान सुगम है। यह सोचा जाता है कि शस्त्र झगड़ों का कारण हैं और इनको घटाने से अन्तर्राष्ट्रीय प्रेम और मैत्री बढ़ेगी। किन्तु यह प्रयास एक पक्षीय होगा। होना यह चाहिए कि मनमुटाव, अविश्वास एवं प्रतिद्वन्द्विता को दूर करने के लिए हर दिशा में प्रयास किया जाए। मडरियागा के शब्दों में, 'शस्त्रीकरण की समस्या का समाधान इस समस्या के अन्दर ही नहीं खोजा जा सकता, किन्तु इसके बाहर ही खोजा जा सकता है।" यथार्थ में नि:शस्त्रीकरण की समस्या नि:शस्त्रीकरण की समस्या नहीं है, यह वास्तव में विश्व-समुदाय के संगठन की समस्या है।

वास्तव में नि:शस्त्रीकरण की दिशा में ठोस कार्य तब तक नहीं हो सकता जब तक महाशक्तियों में मौलिक मतभेद बने रहेंगे। नि:शस्त्रीकरण में वांछित सफलता न मिलने का एक कारण यह भी है कि 'आणविक क्लब' (The Nuclear Club) की सदस्यता बहुत सीमित है। अभी तक अमेरिका, रूस, ब्रिटेन, फ्रांस और

चीन की आणविक शस्त्रास्त्रों के क्षेत्र में खिलाड़ी हैं, लेकिन जब विश्व के अन्य देश भी मैदान में उतर आएँगे और जरा-सी टकराहट पर अणु-युद्ध का खतरा सजीव हो उठेगा तो महाशक्तियाँ सम्भवतः बाध्य हो जाएँगी कि वे नि.शस्त्रीकरण (विशेषकर अणु-अस्त्रों के क्षेत्र में) की दिशा में गम्भीर प्रयास करें। अभी तक इस ओर जो भी कदम उठाए गए हैं अथवा समय-समय पर जो सन्धियाँ की गई हैं वे प्रदर्शनात्मक और प्रचारात्मक ही अधिक है, अन्यथा महाशक्तियों का यह प्रयास जारी है कि अभिनव सामरिक अणु-शस्त्रों की खोज की जाए और वर्तमान शस्त्रों की विनाशक शक्ति बढाई जाए।

5

शीतयुद्ध

(COLD WAR)

द्वितीय महायुद्ध काल मे अमेरिका और पश्चिमी राष्ट्रो तथा सोवियत रूस ने कन्धे से कन्धा भिड़ाकर धुरीराष्ट्रो के विरुद्ध युद्ध किया था, पर इस एकता के बावजूद दोनो पक्षो मे एक-दूसरे के प्रति सन्देह के बीज विद्यमान थे। युद्ध के बाद सन्देह के बीजो ने वृक्ष का रूप धारण कर लिया। युद्ध-काल का सहयोग असहयोग मे बदल गया। अमेरिका और पश्चिमी शक्तियो के पूंजीवादी गुट तथा सोवियत रूस और उसके साथी देशो के साम्यवादी गुट के बीच तनाव और मतभेद इतने बढ गए कि वे एक-दूसरे पर कठोर आरोप प्रत्यारोप लगाने लगे। इस प्रकार महायुद्ध के बाद शीत-युद्ध शुरू हुआ जिसमे अस्त्रो के स्थान पर वाग्बाणो का प्रयोग हुआ।

शीतयुद्ध का अर्थ

महायुद्ध के उपरान्त सशस्त्र सैनिक संघर्ष तो शान्त हो गया, बारूद व गोले-गोली बन्द हो गए, लेकिन कटु शब्दो, आरोपो-प्रत्यारोपो, एक-दूसरे के विरुद्ध प्रचार और कूटनीतिक दाँव-पेच आदि का युद्ध आरम्भ हो गया। इसी संग्राम को 'शीतयुद्ध' (Cold War) की संज्ञा दी गई। पिछले दो-तीन वर्षों से और विशेषकर सन् 1974-75 मे अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण मे सुधार के कारण शीतयुद्ध बहुत कुछ शिथिल पड़ चुका है, लेकिन विश्व इस बात को नही भूल सकता कि पिछले वर्षों मे शीतयुद्ध ने कई बार भीषण संकटो को जन्म दिया, यहां तक कि महाशक्तियो के बीच सशस्त्र युद्ध तक की नौबत आ गई थी।

शीतयुद्ध मे दोनो पक्ष आपस मे शान्तिकालीन कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित रखते हुए भी शत्रु-भाव रखते हैं और सशस्त्र युद्ध के अलावा अन्य सभी उपायो से एक-दूसरे को कमजोर बनाने का प्रयत्न करते हैं। यह एक कूटनीतिक युद्ध है जो अत्यन्त उग्र होने पर सशस्त्र युद्ध को जन्म दे सकता है। शीतयुद्ध मे दोनो ही पक्ष अपने प्रभाव-क्षेत्र के विस्तार के लिए अपनी सैद्धान्तिक विचारधाराओ और मान्यताओ पर बल देते हैं। दूसरे देशो को आर्थिक सहायता प्रचार-अस्त्र का उपयोग, जासूसी, सैनिक हस्तक्षेप, शस्त्र सप्लाई, सैनिक गुटबन्दियो और प्रादेशिक संगठनों का

निर्माण, शस्त्रीकरण आदि शीतयुद्ध के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। स्वर्गीय नेहरू के शब्दों में यह 'दिमागों में युद्ध के विचारों को प्रश्रय देने वाला युद्ध है जिसका उद्देश्य शत्रुओं को अकेला कर देना और मित्रों को जीतना होता है।"

शीतयुद्ध के कारण

शीतयुद्ध का आधार तो महायुद्ध-काल में ही बन चुका था, पर महायुद्ध के बाद संयुक्तराज्य अमेरिका और सोवियत संघ में उग्र मतभेद हो जाने से इन दोनों महाशक्तियों के नेतृत्व में दो गुटों का कूटनीतिक युद्ध शुरू हो गया। अनेक ऐसे कारण उत्पन्न हो गए जिनसे शीतयुद्ध का तेजी से प्रसार होता गया। यहाँ हम प्रारम्भिक कुछ वर्षों में शीतयुद्ध के पनपने के कारणों का उल्लेख करेंगे जिसमें 'पश्चिम' के 'पूर्व' के विरुद्ध तथा 'पूर्व' के 'पश्चिम' के विरुद्ध आरोप सम्मिलित हैं।

(क) पश्चिम के पूर्व के विरुद्ध आरोप

अमेरिका के नेतृत्व में पाश्चात्य शक्तियों ने सोवियत रूस पर अनेक आरोप लगाए। उनमें मुख्य इस प्रकार थे—

1. रूस द्वारा याल्टा समझौतों की अवहेलना—ब्रिटेन और अमेरिका की रूस के विरुद्ध सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण शिकायत यह थी कि उसने याल्टा-समझौतों का पूर्ण उल्लंघन किया। फरवरी, 1945 में रूजवेल्ट, चर्चिल और स्टालिन ने कुछ समझौते किए थे, उदाहरणार्थ जर्मनी को चार 'आधिपत्य क्षेत्रों' (Occupation Zones) में विभाजित करना, पोलैण्ड में सोवियत संघ द्वारा सुरक्षित 'लुबलिन सरकार' और पश्चिमी देशों द्वारा संरक्षित लंदन सरकार' के स्थान पर स्वतन्त्र चुनावों द्वारा प्रतिनिध्यात्मक सरकार की स्थापना, नए पोलैण्ड से उसके पूर्व में स्थित रूसी भाषा-भाषी प्रदेश का कर्जन-रेखा के आधार पर पृथक्करण, यद्यपि पश्चिम में उसे मुआवजे के रूप में कुछ जर्मन-भूमि दिए जाने का प्रावधान था। सोवियत रूस द्वारा यह भी वचन दिया गया था कि वह 'बाह्य मंगोलिया' में 'पूर्व-स्थिति' (Status-quo), दक्षिणी सखालिन तथा कुराइल द्वीपों पर स्वामित्व, दारेन का अन्तर्राष्ट्रीयकरण (Internationalization of Dairen), पोर्ट आर्थर में एक रूसी नौसैनिक अड्डे की स्थापना तथा एक चीनी-रूसी कम्पनी द्वारा मंचूरियन रेलवे के संयुक्त-संचालन की शर्तों के साथ जर्मनी के आत्म-समर्पण के दो तीन महीने बाद जापान के विरुद्ध युद्ध में शामिल हो जाएगा। स्टालिन ने यह भी कहा था कि वह चीन की 'राष्ट्रवादी' सरकार को ही वैध सरकार के रूप में मान्यता प्रदान करेगा।

लेकिन रूस द्वारा याल्टा-समझौतों की उपेक्षा की गई। उसने अनेक ऐसी कार्यवाहियाँ की जिनसे यह स्पष्ट हो गया कि रूसी दृष्टिकोण में याल्टा-समझौता रद्दी कागजों के ढेर के अलावा कुछ नहीं है। उदाहरण के लिए,

(1) रूस ने पोलैण्ड में स्वतन्त्र चुनावों पर आधारित एक प्रतिनिध्यात्मक सरकार की स्थापना करने के बजाय पोलिश जनता पर अपनी संरक्षित 'लुबलिन-सरकार' (Lublin Government) को लादने का प्रयत्न किया।

(ii) रूस ने केवल लुबलिन सरकार को ही पोलिश जनता पर नहीं लादा बल्कि देश के अन्य प्रजातान्त्रिक दलो को गिरफ्तार भी कर लिया। उन्होंने पोलैण्ड मे प्रवेश करना चाहा तो उन्हें अनुमति नही दी गई।

(iii) हगरी, बल्गेरिया, रूमानिया और चेकोस्लोवाकिया मे भी रूस द्वारा युद्ध-विराम समझौतो तथा याल्टा व पोट्सडम सन्धियो का उल्लघन किया गया। रूस ने इन सभी देशो मे प्रजातन्त्र की पुनर्स्थापना मे मित्रराष्ट्रो के साथ सहयोग करने से इकार कर दिया और रूस-समर्थक सरकारें स्थापित कर दी।

(iv) जर्मनी द्वारा आत्म-समर्पण किए जाने से पूर्व ही रूसी फौजो ने यूनान के उत्तर मे अधिकांश पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी यूरोप पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर लिया और जनता पर साम्यवादी सरकारें थोप दीं। कुछ ही वर्षों मे यूनान और वाल्टिक सागर के बीच सुदृढ श्रमिक-तानाशाही राज्य स्थापित हो गए।

(v) सोवियत रूस की जापान के विरुद्ध युद्ध मे सम्मिलित होने की अनिच्छा और उसके द्वारा मित्रराष्ट्रो को साइबेरिया मे अड्डो की सुविधा प्रदान करने मे हिचकिचाहट ने भी पश्चिमी राष्ट्रो में रूस के प्रति सन्देह को बढ़ाया।

(vi) मचूरिया स्थित सोवियत फौजो ने सन् 1946 के प्रारम्भ मे राष्ट्रवादी सेनाओं को तो वहाँ प्रवेश तक नहीं करने दिया जबकि साम्यवादी सेनाओ को प्रवेश सम्बन्धी सभी सुविधाएँ प्रदान की और उनको सम्पूर्ण युद्ध-सामग्री सौंप दी जो जापानी सेना भागते समय छोड़ गई थी।

2 रूसी सेनाओं का ईरान से न हटाया जाना—युद्ध के उपरान्त एग्लो-अमेरिकी फौजें तो दक्षिणी ईरान से हटा ली गई, लेकिन रूसी फौजें उत्तरी ईरान मे स्थित रही। यद्यपि विश्व जनमत और विश्व-सस्था के दबाव से बाद मे रूसी सेनाएँ ईरान से हटा ली गई, तथापि पश्चिमी राष्ट्रो का रूसी नीयत पर सन्देह और भी दृढ़ हो गया।

3 टर्की पर रूसी दबाव—युद्ध के तुरन्त बाद रूस ने टर्की से कुछ भू-प्रदेश एव बास्फोरस मे सैनिक अड्डे निर्मित करने के अधिकार की माँग की। उसके बढते हुए हस्तक्षेप के उत्तर मे अमेरिका ने चेतावनी दी कि टर्की पर किसी भी आक्रमण को सहन नही किया जाएगा और मामला सुरक्षा परिषद् में लाया जाएगा।

4. अमेरिका विरोधी प्रचार अभियान—युद्ध समाप्त होने के कुछ समय पूर्व से ही प्रमुख सोवियत-पत्रो में अमेरिका के प्रति कटु आलोचनात्मक लेख प्रकाशित होने लगे। इस 'प्रचार अभियान' से अमेरिका के सरकारी और गैर-सरकारी क्षेत्रों मे तीव्र विक्षोभ व्याप्त हो गया।

5. रूस द्वारा जर्मनी पर बोझ लादना—युद्धोपरान्त क्षतिपूर्ति-प्रावधान का अनुचित लाभ उठाते हुए रूस ने जर्मन-उद्योगो को छिन्न-भिन्न कर मूल्यवान मशीनो का रूस मे स्थानान्तरण करना शुरू कर दिया। रूस के इस कार्य से पहले से ही अस्त-व्यस्त जर्मन आर्थिक व्यवस्था पर और अधिक बोझ पड़ा। ब्रिटेन और अमेरिका में रूस की इस कार्यवाही से काफी विक्षोभ फैल गया और उन्हे विवश होकर जर्मन-व्यवस्था की सहायतार्थ पर्याप्त धन व्यय करना पड़ा।

6. जर्मनी सम्बन्धी समझौते के गम्भीर उल्लंघन—रूस ने जर्मनी सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के और भी अनेक गम्भीर उल्लघन किए, जैसे (क) रूस ने अपने अधीनस्थ जर्मन क्षेत्र के हजारो लोगो को बंदी बना कर रूस भेज दिया या बन्दी-शिविरो में डाल दिया, (ख) पूर्वी जर्मनी की जनता को पश्चिमी जर्मनी की जनता से एकदम पृथक् कर दिया, (ग) अप्रेल, 1946 मे जर्मन समाजवादी दल को बलपूर्वक साम्यवादी दल मे संयुक्त कर दिया गया, (घ) जर्मनी को एक पृथक् आर्थिक इकाई के रूप में मान्यता सम्बन्धी व्यवस्था को ठुकरा कर रूस ने स्पष्ट कह दिया कि प्रत्येक क्षेत्र अपना व्यापार स्वय करेगा, एव (च) रूस ने ओडर-नीसे रेखा को जर्मन-पोलिश-सीमा के रूप मे मान कर लुबलिन सरकार को यह अनुमति प्रदान करदी कि वह उस भूमि पर अधिकार करके वहाँ बसे जर्मन नागरिको को निष्कासित कर दे।

7. बर्लिन की नाकेबन्दी—जून, 1948 में, लन्दन प्रोटोकोल का उल्लघन करते हुए रूस ने बर्लिन की नाकेबन्दी की और पश्चिमी बर्लिन तथा पश्चिमी जर्मनी के बीच सभी रेल-सड़क और जल-यातायात बन्द कर दिया। यही नही, रूस ने हजारों जर्मन युद्ध-बन्दियो और नागरिको को स्वदेश लौटने की अनुमति देने से इंकार कर दिया।

8. निषेधाधिकार का बार-बार प्रयोग—सोवियत रूस ने अपने निषेधाधिकार के अनियन्त्रित प्रयोग द्वारा संयुक्त राष्ट्रसघ के मार्ग में बाधाएँ डालना प्रारम्भ कर दिया। निषेधाधिकार के बल पर उसने अमेरिका और पश्चिमी शक्तियो के लगभग प्रत्येक प्रस्ताव को निरस्त करने की नीति अपनायी।

9 रूस द्वारा शान्ति-व्यवस्था मे विघ्न—शान्ति-व्यवस्था की पुनर्स्थापना में रूस द्वारा इतनी बाधा डाली गई और इतनी अनुचित तथा व्यापक मांगें प्रस्तुत की गई कि शान्ति समस्याए सुलझने के स्थान पर उलझने लगी तथा नए विवाद उत्पन्न होने लगे।

10. अमेरिका मे साम्यवादी गतिविधियाँ—रूस ने अन्य देशो में ही नही, अमेरिका मे भी साम्यवादी गतिविधियो को प्रोत्साहन किया। सन् 1945 के प्रारम्भ मे 'स्ट्रेटेजिक सर्विस' के अधिकारियो को पता चला कि उनकी संस्था के बहुत से गुप्त दस्तावेज साम्यवादी संरक्षण मे चलने वाले 'अमेरेशिया' नामक मासिक-पत्र के सम्पादन के हाथ लग गए हैं। सन् 1946 मे 'कनाडियन शाही आयोग' की रिपोर्ट ने यह प्रमाणित कर दिया कि कनाडा का साम्यवादी दल 'सोवियत सघ की एक भुजा' है। अब अमेरिकी सरकार साम्यवादियो के प्रति पूरी तरह सशंकित हो गई और सम्पूर्ण अमेरिकी राष्ट्र तथा अन्य पश्चिमी शक्तियो में रूस के प्रति घृणा की उत्कट भावना व्याप्त हो गई।

पश्चिमी राज्यो और अमेरिका ने उपर्युक्त तथा अन्य आरोप लगाते हुए सोवियत सघ के प्रति पूर्ण अविश्वास व्यक्त कर दिया। यह कहा जाने लगा कि हमे तानाशाही के एक स्वरूप के स्थान पर उसके दूसरे स्वरूप की स्थापना को रोकना

चाहिए। ब्रिटिश प्रधान मन्त्री चर्चिल ने अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रूमैन की उपस्थिति मे 5 मार्च, 1946 को अपनी सुप्रसिद्ध 'फुल्टन वक्तृता' मे साम्यवाद के विरोध की एक नई नीति का सकेत दिया। इस भाषण मे चर्चिल ने यूरोप पर सोवियत 'लोह-आवरण' (Iron Curtain) की निन्दा की तथा 'स्वतन्त्रता की दीपशिखा प्रज्ज्वलित रखने एव ईसाई सभ्यता की सुरक्षा के लिए' एक एंग्लो-अमेरिकी गठबन्धन की मांग की। सन् 1946 के अप्रैल मास के बाद से ही दोनो पक्षों (पश्चिमी व पूर्वी गुट) ने अपने मतभेदों को खुलेआम उगलना शुरू कर दिया। 12 मार्च, 1947 को यूनानी गृहयुद्ध के सम्बन्ध मे कांग्रेस से यूनान एव टर्की को 400 मिलियन डॉलर की सहायता देने का अनुरोध करते हुए राष्ट्रपति ट्रूमैन ने विख्यात ट्रूमैन सिद्धान्त'(Truman Doctrine) का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत उन्होने उन सभी स्वतन्त्र देशो को सहायता देने की नीति पर बल दिया जो सशस्त्र अल्पसख्यको अथवा वाह्य-शक्तियों द्वारा आधिपत्य स्थापित करने के प्रयत्नो का विरोध कर रहे थे। 5 जून, 1947 को 'मार्शल योजना' की घोषणा की गई जिसका उद्देश्य यूरोप की ध्वस्त-ध्वस्त आर्थिक दशा को सुधारना था। जहाँ पश्चिमी यूरोप के राष्ट्रों ने इस योजना का उत्साहपूर्वक स्वागत किया वहाँ रूस ने इसे अपने लिए गम्भीर चुनौती समझा। 3 जुलाई, 1947 को ब्रिटेन और फ्रास ने यूरोप के आर्थिक पुनरुत्थान की समस्या पर विचार करने के लिए पेरिस मे 22 देशो के एक सम्मेलन का आयोजन किया जिसमे प्रारम्भ मे तो पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया ने भाग लेने की स्वीकृति दे दी, परन्तु बाद मे सोवियत रूस के विरोध के कारण इस निमन्त्रण को ठुकरा दिया। एटली (Attlee) के शब्दो मे—"जब पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया ने मार्शल सहायता के विचार को स्वीकार कर लिया तब पूर्वी और पश्चिमी यूरोप के एकीकरण को उसकी (बेविन की) आशाएँ बढ गई। परन्तु क्रेमलिन के आदेश पर इन स्वीकृतियो के परावर्तन ने इस आशा को समाप्त कर दिया। वस्तुतः यह 'शीत-युद्ध' की एक घोषणा थी।"

(ख) पूर्व (रूस) के पश्चिम के विरुद्ध आरोप

पश्चिमी राज्यो द्वारा रूस के विरुद्ध जो आरोप लगाए गए, उनसे यह नहीं समझना चाहिए कि शीत-युद्ध के नाटक का एकमात्र खलनायक सोवियत रूस ही था। सोवियत सघ और उसके समर्थक राष्ट्रो ने अपने आरोपो मे यह प्रमाणित करने की चेष्टा की कि युद्धोत्तर काल के तनाव और अशान्ति का सम्पूर्ण दोष पश्चिमी राष्ट्रों का है।

(i) युद्धकाल में पश्चिम द्वारा 'द्वितीय मोर्चा' खोले जाने मे देरी—रूस की पश्चिमी शक्तियो के विरुद्ध एक सबसे बडी शिकायत यह थी कि जर्मनी द्वारा पूरी तरह से दबे रहने की स्थिति मे स्टॉलिन ने मित्रराष्ट्रों से बार-बार अनुरोध किया था कि पश्चिमी यूरोप में जर्मनी के विरुद्ध दूसरा मोर्चा खोला जाए ताकि सोवियत रूस पर किए जाने वाले जर्मन आक्रमण मे कमी आ सके, परन्तु पश्चिमी राष्ट्रो द्वारा रूसी सुझाव को यह कहकर अस्वीकार कर दिया गया कि उनकी तैयारी अभी अधूरी

है। दूसरा मोर्चा खोले जाने मे पर्याप्त विलम्ब किए जाने का परिणाम यह हुआ कि सोवियत रूस को जर्मनी के हाथो जन-धन की भारी क्षति उठानी पडी। बैली (Bailey) के शब्दों मे, "इससे क्रेमलिन मे यह सन्देह जड पकड गया कि पश्चिमी राष्ट्र, जो युद्धोत्तर काल मे एक शक्तिशाली सोवियत सघ के उत्थान की सम्भावना से भयभीत हैं, युद्ध के अखाडे मे कूदने से पूर्व रूस को पूर्णतया 'आहत तथा शक्तिहीन' होते देखना चाहते हैं।"

(ii) पश्चिमी देशों की फासिस्ट देशो से साँठगाँठ—रूस ने इस बात पर बहुत क्षोभ प्रकट किया कि सैनिक व्यावहारिकता की आड मे अमेरिका ने इटली और फ्रास के फासिस्ट तत्त्वो से सम्पर्क स्थापित किया और फिनलैण्ड द्वारा रूस के विरुद्ध युद्ध मे सम्मिलित होने तथा लेनिनग्राड पर आक्रमण करने के काफी समय बाद तक वाशिंगटन ने उनसे अपने कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद नही किए।

(iii) युद्धकाल में पश्चिम द्वारा अपर्याप्त सहायता—सोवियत सघ ने यह आरोप लगाया कि युद्धकाल मे जर्मनी द्वारा रूस पर आक्रमण होने पर पश्चिमी देशो ने जो सैनिक सहायता सोवियत रूस को दी, वह रूस द्वारा उत्पन्न की गई युद्ध सामग्री का केवल 4 प्रतिशत था। वास्तव मे मित्रराष्ट्रो की आन्तरिक अभिलाषा यह थी कि रूस जर्मनी के साथ सघर्ष मे बिल्कुल पस्त हो जाए।

(iv) अमेरिका द्वारा अणुबम के रहस्य को रूस से गुप्त रखना—अमेरिका ने अणुबम के आविष्कार को सोवियत रूस से सर्वथा गुप्त रखा जबकि ब्रिटेन और कनाडा को इस बात का पता था। स्टॉलिन ने अमेरिका द्वारा अणुबम के रहस्य को रूस से गुप्त रखने को परस्पर विश्वासघात माना।

(v) सोवियत सघ की 'लैण्ड-लीज' सहायता बन्द किया जाना—अमेरिका द्वारा 'लैण्ड-लीज अधिनियम' (Land Lease Act) के अन्तर्गत सोवियत सघ को जो आँशिक सहायता दी जा रही थी, उससे वह (रूस) पहले से ही असन्तुष्ट था, क्योकि सहायता एकदम ना-काफी थी। किन्तु यूरोप मे विजय के उपरान्त राष्ट्रपति ट्रूमैन ने जब यह आँशिक सहायता भी एकाएक बन्द कर दी तो सोवियत रूस भडक उठा।

(vi) सोवियत विरोधी प्रचार अभियान—रूस पश्चिमी राष्ट्रो से इसलिए भी बहुत असन्तुष्ट था कि युद्धकाल मे ब्रिटिश सरकार अपनी सेनाओ मे निरन्तर सोवियत-विरोधी साहित्य का प्रचार करती रही। पश्चिमी प्रेस खुले आम साम्यवादी देश के प्रति घृणा-प्रचार मे सलग्न हो गए और साम्यवादी खतरे का खूब बढ़ा-चढ़ा कर प्रचार किया गया।

(vii) 5 मार्च, 1946 की चर्चिल की विख्यात 'फुल्टन वक्तृता' ने सोवियत रूस को एकदम बौखला दिया। इसमे यह स्पष्ट निर्देश था कि 'हमे तानाशाही के एक स्वरूप के स्थान पर उसके दूसरे स्वरूप की स्थापना को रोकना चाहिए।"

(viii) 'पश्चिम' के प्रति, विशेषकर सयुक्तराज्य अमेरिका के विरुद्ध रूसी सन्देह तब बहुत अधिक बढ गया जब 20 सितम्बर, 1945 को राष्ट्रपति ट्रूमैन ने

भूतपूर्व उपराष्ट्रपति तथा तत्कालीन वाणिज्य सचिव हेनरी ए. वैलेस को केवल इस अपराध के लिए त्यागपत्र देने को कहा कि उसने 12 सितम्बर को न्यूयॉर्क में अपने एक सार्वजनिक भाषण मे सोवियत सघ तथा अमेरिका के बीच मैत्री-स्थापना की अपील की थी। इसके कुछ ही माह बाद राज्य-सचिव डीन एचीसन ने 10 फरवरी, 1947 को सीनेट के सम्मुख स्पष्ट रूप से घोषणा की कि "रूस की विदेश नीति आक्रामक तथा विस्तारवादी है।" इसके बाद ही साम्यवाद के विरोध के नाम पर और सोवियत-विस्तार को रोकने के उद्देश्य से 'ट्रूमैन सिद्धान्त', 'मार्शल योजना' आदि का सूत्रपात हुआ। सोवियत सघ ने इन सब कार्यवाहियो को अपने अस्तित्व के लिए एक चुनौती माना। 25 अक्तूबर को मार्शल योजना के जवाब मे यूरोप के नौ साम्यवादी देशो का कॉमिनफार्म स्थापित किया गया। अब बात-बात पर झगडा होने लगा और एक-दूसरे के विरुद्ध गाली-गलौज और आरोपो-प्रत्यारोपो की धुआँधार वर्षा होने लगी।

इस विवरण से सुस्पष्ट है कि युद्धोत्तर काल मे 'पूर्व' और 'पश्चिम' के बीच एक गहरी खाई बन चुकी थी और सन् 1917 की सोवियत क्रान्ति से द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति तक के इतिहास मे वैमनस्य का अच्छी तरह बीजारोपण हो चुका था।

1947 से 1953 तक शीतयुद्ध

सन् 1945 से 1953 तक पश्चिमी देशो और रूस मे सयुक्त राष्ट्रसघ के भीतर और बाहर अणुशक्ति के नियन्त्रण व नियमीकरण; निःशस्त्रीकरण, पराजित राष्ट्रो के साथ शान्ति सन्धियो; जर्मनी, बर्लिन, यूरोप की सुरक्षा-समस्याओ, एशिया एव अफ्रीका के अल्पविकसित राष्ट्रो के भविष्य आदि अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व के लगभग सभी प्रश्नो पर तीव्र वाद-विवाद तथा कूटनीतिक सघर्ष चालू रहा। रूस द्वारा मार्शल योजना के प्रत्युत्तर मे अक्तूबर, 1947 मे यूरोप के नौ साम्यवादी देशो के 'कोमिन-फार्म' (Cominform or Communist Information Bureau) की स्थापना के बाद से शीतयुद्ध की उग्रता बढती गई। रूस ने पूर्वी यूरोप पर अपने नियन्त्रण को और भी अधिक कठोर बना दिया। शक्ति के दो गुट या शिविर बन गए और उनमे अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्रो के विस्तार के लिए जी-तोड स्पर्द्धा होने लगी। रूसी दबाव के कारण फिनलैण्ड को मार्शल सहायता का प्रस्ताव अस्वीकार करना पडा। परन्तु एक साम्यवादी देश यूगोस्लाविया ने ही अपने नेता मार्शल टीटो के नेतृत्व मे स्टालिन के प्रभुत्व को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। मार्शल टीटो का यह कार्य 'शीत-युद्ध' की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी क्योकि जहाँ इसने एक तरफ गैर-साम्यवादी देशो को नवीन बल प्रदान किया, वहाँ दूसरी तरफ रूस के दृष्टिकोण को और भी अधिक कठोर बना दिया।

बर्लिन की नाकेबन्दी, दो जर्मनियों का उदय—सन् 1948 में रूस ने बर्लिन की नाकेबन्दी करके नया सकट उत्पन्न कर दिया। इस घटना ने 'शीतयुद्ध' को एक नया मोड दिया। बर्लिन के घेरे के समय ही दोनो पक्षो को शक्ति परीक्षण का सर्वप्रथम वास्तविक अवसर मिला और शीतयुद्ध मे इस बार अमरिका का रुख पहली

बार अत्यधिक कठोर दिखाई दिया। यद्यपि रूस की बर्लिन-नाकेबन्दी असफल सिद्ध हुई और मई, 1948 में इस नाकेबन्दी को समाप्त कर दिया गया, तथापि इस घटना का एक गम्भीर परिणाम यह हुआ कि अब सोवियत सघ का विरोध करने के लिए अमेरिका तरह-तरह के सैनिक-सगठनों की स्थापना की दिशा मे सक्रिय हो गया। दूसरी ओर पहले से ही क्षतविक्षत जर्मनी 'शीतयुद्ध' का एक प्रधान केन्द्र बना रहा। ब्रिटेन, फ्रास और अमेरिका ने अपने अधीनस्थ जर्मनी के तीनों पश्चिमी क्षेत्रों का एकीकरण कर दिया। इस तरह 21 सितम्बर, 1949 को सघीय-जर्मन-गणराज्य (Federal Republic of Germany) अथवा पश्चिमी जर्मनी' का उदय हुआ। मित्रराष्ट्रों अर्थात् उपर्युक्त तीनों शक्तियों मे इस कार्य के प्रत्युत्तर में 7 अक्तूबर, 1949 को जर्मनी के रूसी क्षेत्र मे 'जर्मन प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य' (German Democratic Republic) अथवा 'पूर्वी जर्मनी' की स्थापना कर दी गई। इस तरह पश्चिमी और पूर्वी जर्मनी के दो जर्मन राष्ट्र अस्तित्व में आए और उनके एकीकरण का प्रश्न शीतयुद्ध को बल प्रदान करने लगा।

नाटो की स्थापना, साम्यवादी चीन का उदय, आदि घटनाएँ—रूस के कठोर रुख और साम्यवाद के प्रसार की नीति का उत्तर पश्चिमी शक्तियों ने 4 अप्रेल, 1949 को 'नाटो' (NATO) की स्थापना के रूप में दिया। शीतयुद्ध का क्षेत्र केवल यूरोप तक ही सीमित नहीं रहा। एशिया भी इसकी लपेट में आ गया। रूस ने टर्की और ईरान में अपना प्रभाव बढाना चाहा, परन्तु पाश्चात्य शक्तियों की सहायता से ये दोनों देश रूसी दबाव का सफलतापूर्वक प्रतिरोध करते रहे। 1 अक्तूबर, 1949 को पेकिंग में साम्यवादी गणराज्य स्थापित हो जाने से शीतयुद्ध' में अत्यधिक गर्मी आ गई। साम्यवादियों की इस विजय ने रूस के उत्साह में आशातीत वृद्धि कर दी। सयुक्त राष्ट्रसघ के चार्टर के अनुसार चीन सुरक्षा परिषद् का एक स्थायी सदस्य था। परन्तु जब च्यांगकाई शेक की राष्ट्रवादी सरकार फारमोसा को पलायन कर गई तो चीन की साम्यवादी सरकार ने महासभा एव सुरक्षा परिषद् में अपना स्थान पाने की माँग की। पश्चिमी गुट यह नहीं चाहता था कि सुरक्षा परिषद् मे सोवियत सघ का एक और समर्थक हो जाए। परिषद् के 5 स्थायी सदस्यों में से 2 साम्यवादी हो जाने के भय ये सयुक्तराज्य अमेरिका ने चीन की नई सरकार को मान्यता नहीं दी और साम्यवादी प्रतिनिधि के सघ मे स्थान ग्रहण का घोर विरोध किया। साम्यवादी चीन की सदस्यता की माँग को इस प्रकार ठुकरा दिए जाने का रूस द्वारा तीव्र विरोध किया गया और एक बार तो उसने परिषद् की बैठकों तक का बहिष्कार कर दिया। वास्तव में साम्यवादी चीन की सघ में सदस्यता के प्रश्न पर शीतयुद्ध में कटुता और गम्भीर वैमनस्य का समावेश हुआ तथा आगामी वर्षों में शीतयुद्ध की भीषणता और पारस्परिक मतभेदों की तीव्रता में हर प्रकार से वृद्धि हुई। अक्तूबर, 1971 में जनवादी चीन विश्व-सस्था का सदस्य बन सका और सुरक्षा परिषद् में ताइवान की जगह उसे स्थायी सदस्यता प्राप्त हुई। ताइवान का विश्व-सस्था से यह निष्कासन सर्वथा अप्रत्याशित था।

कोरिया का युद्ध—बर्लिन-प्रश्न पर और सयुक्त राष्ट्रसंघ मे साम्यवादी चीन के प्रवेश की समस्या पर शीतयुद्ध की तीव्रता अभी कम न हो पायी थी कि जून, 1950 मे उत्तरी कोरिया द्वारा दक्षिण कोरिया पर आक्रमण कर दिया गया जिससे 'शीत-युद्ध' ने कुछ समय के लिए 'उष्ण अथवा सशस्त्र युद्ध' का रूप धारण कर लिया। प्रत्यक्ष मे यह युद्ध दो कोरियाई क्षेत्रो मे था, परन्तु वास्तव मे यह दोनो शक्ति-गुटो के नेताओ रूस एव अमेरिका मे ठन गया। सयुक्त राष्ट्रसघ ने उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित कर दिया और उसके झण्डे के नीचे अनेक देशों की, विशेषत: अमेरिका की सेनाओं ने दक्षिणी कोरिया की सहायता की। परन्तु किसी भी पक्ष को निर्णयात्मक विजय प्राप्त न हो सकी और 8 जून, 1953 को अन्ततः कोरिया मे युद्ध विराम हो गया। अमेरिका, ब्रिटेन और रूस की सरकारो ने युद्धबन्दी का स्वागत किया, किन्तु दिलो मे विद्वेष की आग धधकती रही। फलत: शीतयुद्ध जारी रहा। इसमे कोई सन्देह नही कि कोरिया युद्ध शीतयुद्ध की ही एक महत्वपूर्ण घटना थी। चेस्टर बाउल्स (Chester Bowles) के शब्दो मे, "कोरिया-युद्ध ने ही रूसी और चीनी नीतियो को एक धक्के मे एकता प्रदान की।" चीन के लिए सोवियत सहायता की आवश्यकता स्पष्ट रूप से प्रकट हो गई और चीन और पश्चिमी राज्यों के सम्बन्ध और भी अमैत्रीपूर्ण हो गए।

जापान के साथ मित्रदेशों की शान्ति-सन्धि, 1951—जिस समय कोरिया-युद्ध चल रहा था, तभी सितम्बर, 1951 मे अमेरिका और कई अन्य देशो ने जापान के साथ एक शान्ति-सन्धि पर हस्ताक्षर किए। रूस को यह बात बुरी लगी और उसने इस एकपक्षीय कार्यवाही की खुल कर आलोचना की।

सन् 1953 से 1958 तक का शीतयुद्ध

मार्च, 1953 मे स्टालिन की मृत्यु के बाद शीतयुद्ध के इतिहास मे एक नया मोड आया। स्टालिन पश्चिम के प्रति उग्रवादी और कठोर नीति का समर्थक था। उसका दृष्टिकोण सन् 1953 के प्रारम्भ तक शीतयुद्ध का एक प्रधान कारण बना रहा। सर एलवरी गैसकोमने के अनुसार, 'सन् 1947 के बाद यद्यपि स्टालिन ने पश्चिमी राष्ट्रो से कूटनीतिक सम्बन्ध कायम रखे, तथापि वह इतना अड़गेबाज और दुःसाध्य हो गया कि उसके साथ कार्य करना कठिन हो गया। जो भी सुझाव प्रस्तुत किए जाते वह उनको अस्वीकार कर देता था।" स्टालिन के बाद के उत्तराधिकारी, विशेषत: ख्रुश्चेव ने समझौतावादी नीति को अपनाने की कोशिश की, अमेरिका के नेतृत्व मे भी एक परिवर्तन आया और शीतयुद्ध के उन्नायक राष्ट्रपति ट्रूमैन के स्थान पर जनरल आइजनहॉवर ने अमेरिका के राष्ट्रपति का पद ग्रहण किया। अगस्त, 1953 में सोवियत सघ का प्रथम आणविक परीक्षण हुआ और दोनो को हथियारो के क्षेत्र मे विद्यमान खाई को धीरे-धीरे कम करने की आवश्यकता अनुभव होने लगी।

परन्तु शीतयुद्ध की यह शिथिलता एकदम अल्पकालिक ही सिद्ध हुई क्योंकि रूस के विदेश मन्त्री मोलोटोव और अमेरिका के विदेश सचिव डलेस दोनो ही शीत-युद्ध के बांके पटेबाज थे। एक तरफ तो हिन्द-चीन के प्रश्न पर शीतयुद्ध मे पुन: तेजी

आयी क्योंकि फ्रेंच साम्राज्यवाद के विरुद्ध चलने वाले युद्ध मे दोनों ही गुटो ने अलग अलग पक्षो का जोरदार समर्थन किया और दूसरी तरफ अमेरिका ने साम्यवाद के विस्तार को रोकने के लिए सैनिक समझौतों तथा सैन्य संगठनो की स्थापना करने की नीति अपना कर शीतयुद्ध को बढावा दिया। अमेरिका ने नाटो, सीटो और बगदाद पैक्ट स्थापित किए और इनके जवाब में रूस ने वारसा पैक्ट की स्थापना की। वास्तव मे दोनो ही पक्षो ने अपनी-अपनी कार्यवाहियो से एक दूसरे के प्रति सन्देहों को दृढ बनाया तथा अपनी प्रत्येक कार्यवाही ने शीतयुद्ध को कुछ-न-कुछ देशों के अनाक्रमण प्रस्ताव को ठुकरा दिया तो मार्च 1954 में जब रूसी विदेश मन्त्री मोलोटोव ने रूस के उत्तर अटलांटिक सन्धि में सम्मिलित होने के लिए तत्परता दिखायी तो नाटो देशो ने इसका विरोध किया। जनवरी, 1956 में रूसी प्रधान मन्त्री बुलगानिन ने राष्ट्रपति आइजनहॉवर के सम्मुख एक रूसी-अमेरिकी मैत्री सन्धि का प्रस्ताव रखा, परन्तु वह भी फलीभूत नहीं हुआ। ऐसे प्रस्ताव समय-समय पर किए जाते रहे, किन्तु पारस्परिक मतभेद और सन्देह इतने गहरे थे कि कोई सफलता प्राप्त न हो सकी। संयुक्त राष्ट्रसंघ, यूरोप, अफ्रीका, मध्यपूर्व, सुदूरपूर्व आदि सभी क्षेत्रों में पूर्व और पश्चिम का संघर्ष जारी रहा। जापान और जर्मनी के पुनः शस्त्रीकरण ने दोनो ही गुटो मे काफी तनाव उत्पन्न कर दिया। जर्मनी के भविष्य और बर्लिन के स्तर पर भी मतभेद कायम रहे। अणुशक्ति के निर्माण और नियन्त्रण पर कोई समझौता न हो सका। संसार के सबसे प्रमुख प्रश्न 'निःशस्त्रीकरण' पर दोनो ही गुटो मे तीव्र मतभेद रहा—प्रस्ताव व प्रति-प्रस्ताव प्रस्तुत किए जाते रहे, किन्तु परिणाम कुछ भी नही निकला। वास्तव मे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रत्येक प्रश्न पर शीतयुद्ध की पृष्ठभूमि में दोनो गुटो के दृष्टिकोण निर्धारित होने लगे।

सन् 1956 मे हंगरी के प्रश्न ने अन्तर्राष्ट्रीय तनाव और शीतयुद्ध मे पर्याप्त अभिवृद्धि की। पश्चिमी देशों ने रूसी कार्यवाही की तीव्र निन्दा की और उधर रूस ने स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप सन् 1956 में मिस्र पर होने वाले एंग्लो-फ्रेंच-इजरायल आक्रमण की तीव्र भर्त्सना की। जून, 1957 मे 'आइजनहॉवर-सिद्धान्त' की घोषणा की गई जिसके अनुसार अमेरिकी कांग्रेस ने राष्ट्रपति को मध्यपूर्व के किसी भी देश मे साम्यवादी आक्रमण को रोकने के लिए अपनी विवेक बुद्धि के अनुसार फौजें भेजने तथा सैनिक कार्यवाही करने का अधिकार दिया। 'आइजनहॉवर-सिद्धान्त' की घोषणा के बाद मध्यपूर्व मे 'शीतयुद्ध' मे और अधिक गर्मी आ गई। रूस ने पश्चिमी एशिया के लिए इस सिद्धान्त को एकदम अनुचित बताया तो अमेरिका और इंगलैण्ड ने उस क्षेत्र मे रूसी घुसपैठ व तोड-फोड की कार्यवाहियों की निन्दा की। तात्पर्य यह है कि सन् 1955 से सन् 1958 तक पश्चिमी एशिया शीतयुद्ध का अखाडा बना रहा। उस क्षेत्र के सामरिक महत्त्व और तेल-कूपो पर प्रभुता कायम रखने के लिए दोनो पक्षो मे कूटनीतिक संघर्ष जारी रहा। फारस के तेल-विवाद, स्वेज नहर के संकट, लेबनान मे अमेरिकी सेनाएं उतारने, ईरान की क्रान्ति आदि अवसरों पर दोनों ही पक्ष ताल ठोक कर एक दूसरे के विरुद्ध मैदान मे डट गए। इस क्षेत्र मे कोई भी ऐसी घटना नहीं घटी जो शीतयुद्ध से प्रभावित न रही हो।

सन् 1958 से 1975 तक शीतयुद्ध की स्थिति

इस समय के शीतयुद्ध के इतिहास को निम्न रूप मे अध्ययन करना सुविधाजनक होगा—

ख्रुश्चेव की अमेरिकी यात्रा तथा यू–2 विमान काण्ड—सन् 1959 मे कुछ कारणो से शीतयुद्ध मे कुछ शिथिलता आई। दोनो मे बढने हुए तनाव मे कमी लाने के लिए ख्रुश्चेव ने 15 सितम्बर से 28 सितम्बर, 1959 तक अमेरिका की यात्रा की। सयुक्त वक्तव्य मे *कहा गया कि* दोनो नेता इस बात पर सहमत हैं कि सभी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नो का निर्णय शान्तिपूर्ण उपायो तथा पारस्परिक वार्तालाप द्वारा किया जाना चाहिए।

शीतयुद्ध के तनाव को कम करने और आपसी मतभेदो को समाप्त करने के लिए चार बडे देशो (सयुक्तराज्य अमेरिका, सोवियत सघ, ग्रेट ब्रिटेन और फ्रास) के शासनाध्यक्षो का एक शिखर सम्मेलन आयोजित करना आवश्यक समझा गया। पर दुर्भाग्यवश शिखर सम्मेलन के आरम्भ से पूर्व ही 1 मई, 1960 को यू–2 विमान काण्ड हो गया जिसने अन्तर्राष्ट्रीय तनाव मे वृद्धि कर अन्तत शिखर सम्मेलन को असफल बना दिया। बात तब बहुत बढ गई जब राष्ट्रपति आइजनहॉवर ने स्पष्ट शब्दो मे कह दिया कि सोवियत सघ मे सामरिक गतिविधियाँ बहुत गुप्त रहती हैं, अत किसी भी आकस्मिक आक्रमण को रोकने के लिए अमेरिका ऐसी जासूसी कार्यवाहियाँ करता है और आगे भी करता रहेगा, अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे इसका निषेध नही है। इस घोषणा से ख्रुश्चेव आग-बबूला हो गया। उसने ऐसी जासूसी उडनो को राष्ट्रीय अपमान बताते हुए इन्हे भविष्य मे बन्द करने की माँग की और साथ ही यह धमकी दी कि भविष्य मे इस प्रकार की किसी घटना से यदि युद्ध छिड गया तो उसका दायित्व सयुक्तराज्य अमेरिका पर होगा। यू–2 विमान-काण्ड ने शीतयुद्ध मे जो तूफान खडा किया, उससे रूस ने प्रचुर लाभ उठाया। ख्रुश्चेव ने यह सिद्ध करने मे कोई कसर नहीं छोडी कि रूस शान्ति का सबसे बडा प्रेमी और अमेरिका इसका सबसे बडा शत्रु है तथा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव के लिए वही एकमात्र उत्तरदायी है।

रूसी चेतावनी के फलस्वरूप अब अमेरिकी अड्डो की अनुमति देने वाले देश यह अनुभव करने लगे कि यू–2 विमानो को अपने देश मे उतरने देना भयकर खतरो को मोल लेना था।

पेरिस शिखर सम्मेलन—यू–2 विमान काण्ड की घटना से 16 मई, 1960 मे होने वाले शिखर सम्मेलन की असफलता साफ दिखाई देने लगी। लेकिन 11 मई को सुप्रीम सोवियत मे अपने एक भाषण मे ख्रुश्चेव ने सम्मेलन की सफलता के प्रति आशा का संचार किया। ख्रुश्चेव ने कहा, "सयुक्तराज्य अमेरिका के इस उत्तेजनापूर्ण कार्य से हमे अन्तर्राष्ट्रीय तनाव कम करने के प्रयत्नो मे शिथिलता नहीं लानी चाहिए। पेरिस मे यू–2 का विषय नही उठाया जाएगा।"

किन्तु जब पेरिस मे शिखर-सम्मेलन शुरू हुआ तो ख्रुश्चेव ने यू–2 का प्रश्न उठाते हुए अमेरिकी *जासूसी कार्यवाही की तीव्र निन्दा की। ख्रुश्चेव ने बड़े ही*

नाटकीय ढंग से माँग की कि अमेरिका को अपने जासूसी काम की निन्दा करनी चाहिए, इसके लिए माफी माँगनी चाहिए, भविष्य में ऐसे उत्तेजक कार्य बन्द करने चाहिए और इस घटना के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों को दण्ड देना चाहिए। ख्रुश्चेव ने शीतयुद्ध को तब पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया जब उसने डिगॉल और मैकमिलन से तो हाथ मिलाया, लेकिन जब राष्ट्रपति आइजनहॉवर ने हाथ बढ़ाया तो ख्रुश्चेव ने इंकार कर दिया। इतना ही नहीं, ख्रुश्चेव ने अमेरिकी राष्ट्रपति को दिए गए रूसी यात्रा के निमन्त्रण को वापस ले लिया और कहा कि राष्ट्रपति महोदय को अब रूस आने की आवश्यकता नहीं है।

रूसी नेता के इस रुख से शिखर-सम्मेलन असफल हो गया। आइजनहॉवर के आश्वासन और डिगॉल व मैकमिलन के गतिरोध को दूर करने के प्रयत्न सम्मेलन को भंग होने से न बचा सके। सम्मेलन के दूसरे सत्र में ख्रुश्चेव ने भाग ही नहीं लिया, अतः सम्मेलन की कार्यवाही बन्द कर देनी पड़ी।

कैनेडी का अमेरिकी राष्ट्रपति निर्वाचित होना और क्यूबा-काण्ड—ख्रुश्चेव ने पेरिस शिखर-सम्मेलन को असफल बनाने के बाद अपने विभिन्न भाषणों में आश्वासन दिया कि रूस अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को बिगाड़ने का कोई कार्य नहीं करेगा। 8 नवम्बर, 1960 को अमेरिकी राष्ट्रपति के निर्वाचन में सीनेटर जॉन फिट्जैरल्ड कैनेडी की सफलता के बाद शीतयुद्ध में कमी की आशा की जाने लगी। ख्रुश्चेव ने कैनेडी को अपनी बधाई में और कैनेडी ने ख्रुश्चेव को दिए गए प्रत्युत्तर में बड़े आशावादी शब्दों का प्रयोग किया।

दोनों नेताओं की आशाओं और उनके आश्वासनों का कुछ समय तक प्रभाव रहा और शीतयुद्ध में कुछ नरमी आई, लेकिन सन् 1962 में क्यूबा के संकट ने पुनः एक विस्फोटक स्थिति उत्पन्न कर दी। क्यूबा के प्रश्न पर विश्व युद्ध की सम्भावना उत्पन्न हो गई। सौभाग्यवश कैनेडी और ख्रुश्चेव की बुद्धिमत्ता के कारण यह संकट टल गया। सोवियत रूस ने क्यूबा के संघर्ष क्षेत्र से हट जाने का निर्णय करके बड़ी सहनशीलता का परिचय दिया।

शीतयुद्ध में शिथिलता—क्यूबा-संकट के बाद ख्रुश्चेव और कैनेडी दोनों ही नेता निःशस्त्रीकरण की दिशा में प्रगति के लिए प्रयास करने लगे। अतः शीतयुद्ध में काफी समय तक उबाल नहीं आया। 5 अगस्त, 1963 को रूस, अमेरिका और इंग्लैण्ड ने मास्को में आणविक परीक्षणों पर रोक सम्बन्धी सन्धि पर हस्ताक्षर किए और बाद में चीन, फ्रांस आदि कुछ राष्ट्रों को छोड़कर विश्व के सौ से अधिक राष्ट्रों ने सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिए। शीतयुद्ध ठण्डा पड़ गया। सन् 1955 की आस्ट्रिया की शान्ति-सन्धि के बाद पूर्व और पश्चिम का यह सबसे बड़ा समझौता था।

ख्रुश्चेव और कैनेडी के प्रयत्नों से शीतयुद्ध में शिथिलता आई और यह आशा की जाने लगी कि दोनों नेता पारस्परिक विश्वास और शान्ति के बीज बो देंगे, पर दुर्भाग्यवश 22 नवम्बर, 1963 को कैनेडी एक हत्यारे की गोली के शिकार बने और 15 अक्तूबर, 1964 को ख्रुश्चेव अपदस्थ हो गए।

कैनेडी की मृत्यु के बाद लिण्डन बी. जॉनसन ने अमेरिका के राष्ट्रपति का पद सभाला। दूसरी ओर ख्रुश्चेव के पतन के बाद अक्तूबर, 1964 मे रूस का नेतृत्व कोसिगिन और ब्रेझनेव के हाथों मे आया। दोनों पक्षों ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति मे विश्वास प्रकट किया। कुछ अर्से तक शीतयुद्ध मंद रहा, लेकिन बाद मे वियतनाम युद्ध की तीव्रता और अरब इजरायल सघर्ष के फलस्वरूप शीतयुद्ध पुन: भड़क उठा।

वियतनाम युद्ध, भारत-पाक संघर्ष, अरब-इजरायल सघर्ष और शीतयुद्ध—सन् 1964 मे ही शीतयुद्ध के तीव्र होने के आसार प्रकट होने लगे थे। रूस ने कांगो आदि मे सयुक्त राष्ट्रसघ के शान्ति-स्थापना सम्बन्धी कार्यों के व्यय सम्बन्धी अपने अंश की अदायगी से इन्कार कर दिया। अमेरिका ने मांग की कि यदि रूस अपना अंश अदा नही करता तो चार्टर के उन्नीसवें अनुच्छेद के अन्तर्गत उसे महासभा मे मताधिकार से वंचित कर दिया जाए। इस घटना से शीतयुद्ध फिर भड़क उठा।

वियतनाम युद्ध की तीव्रता ने शीतयुद्ध को और बढ़ावा दिया। अमेरिकी राष्ट्रपति जॉनसन ने *वियतनाम के प्रति अत्यन्त उग्र और आक्रामक नीति का अनुसरण* किया। अमेरिकी वायुयान उत्तरी वियतनाम की सीमाओं मे घुसकर बम वर्षा करने लगे। *सोवियत रूस ने इन आक्रामक कार्यवाहियों का कड़ा विरोध किया* और शीतयुद्ध की लहर पहले से अधिक तेज हो गई।

सितम्बर, 1965 मे कश्मीर के प्रश्न पर भारत-पाक सघर्ष ने अन्तर्राष्ट्रीय तनाव मे वृद्धि की। पश्चिमी राष्ट्रों ने भारत के विरुद्ध अपना कूटनीतिक युद्ध छेड़ने मे कोई कसर नही रखी पर स्वर्गीय लालबहादुर शास्त्री की दृढ़ता और स्पष्टता के सामने वे सफल नही हो सके।

जून, 1967 मे अरब-इजरायल सघर्ष के समय शीतयुद्ध ने सशस्त्र सघर्ष का रूप धारण कर लिया। सोवियत सघ ने अमेरिका पर आरोप लगाया कि वह इजरायल को आक्रामक कार्यवाही के लिए प्रोत्साहित कर रहा है। उधर अमेरिका ने इस सघर्ष के लिए सोवियत *कूटनीति को दोषी ठहराया*। पश्चिमी एशिया के सकट के प्रश्न पर दोनों गुटों मे इतना वाक्‌युद्ध चला कि उनके आपस मे टकराने का सकट पैदा हो गया। दोनों के जहाजी बेड़े भूमध्य सागर मे चक्कर काटने लगे। अरब और इजरायल नेताओं द्वारा भी जबरदस्त कूटनीतिक एव वाक्‌युद्ध छिड़ गया। यही शीतयुद्ध अरब-इजरायल सशस्त्र युद्ध मे परिणत हो गया जिसकी समाप्ति सयुक्त राष्ट्रसघीय हस्तक्षेप और अरब-राष्ट्रों की आकस्मिक पराजय मे हुई।

अरब-इजरायल सघर्ष के समय सुरक्षा परिषद् की प्रत्येक बैठक मे शीतयुद्ध का दृश्य देखने को मिलता था। अमेरिका और सोवियत सघ एक दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप लगाते थे और एक दूसरे को पश्चिम एशिया के सकट के लिए उत्तरदायी ठहराते थे। अरब राष्ट्रों की पराजय के बाद सोवियत सघ के प्रति अरबों मे सन्देह और अविश्वास व्याप्त हो गया क्योंकि उसने युद्ध मे अरबों को कोई सक्रिय और *प्रत्यक्ष सहायता नही दी थी* जबकि इजरायल को अमेरिका व ब्रिटेन दोनों से प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सहायता प्राप्त हुई थी। इन वातावरण को देखते हुए रूस ने अरब

जगत् में अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए यह माँग की कि अरब इजरायल संघर्ष का मामला संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा मे पेश किया जाए। 18 जून, 1967 को जब महासभा मे प्रश्न पर विचार होने लगा तो स्वयं रूसी प्रधान मन्त्री ने कार्यवाही मे भाग लिया। कोसिगिन ने महासभा मे उपस्थित होकर स्वयं एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया जो अरब भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता था, लेकिन पश्चिमी गुट उसको मनाने के लिए तैयार नही हुआ। अतः 19 जून की बैठक मे सोवियत प्रतिनिधि-मण्डल ने महासभा से बहिर्गमन कर अरबो की सहानुभूति जीती। सोवियत प्रधान मन्त्री ने अमेरिकी प्रशासन पर कस-कस कर प्रहार किए। अरब-इजरायल संघर्ष के सन्दर्भ में इस प्रकार शीतयुद्ध आकाश छूने लगा।

ग्लासबरो का शिखर-सम्मेलन—सोवियत प्रधान मन्त्री कोसिगिन ने, जो महासभा के अधिवेशन मे आए थे, अमेरिकी राष्ट्रपति जॉनसन से ग्लासबरो मे भेंट की ताकि शीतयुद्ध की गर्मी कुछ शान्त हो सके। मुख्य रूप से यह शिखर-सम्मेलन ग्लासबरो मे 23 जून से 26 जून, 1967 तक चला। इसमे वियतनाम और पश्चिमी एशिया पर विचार-विमर्श किया गया। निःशस्त्रीकरण एवं परमाणु शक्ति के विस्तार तथा अन्य राजनीतिक प्रश्न भी अछूते नही रहे। दोनों नेताओं का यह शिखर-सम्मेलन चीन द्वारा हाइड्रोजन बम के परीक्षण के प्रभाव से व्याप्त था। दोनों ही नेता इस बात को भली-भाँति समझते थे कि अणुशक्ति से सम्पन्न चीन विश्व के दोनो ही गुटो के लिए खतरा हो सकता है।

ग्लासबरो मे कोई सौदेबाजी नही हो सकी, लेकिन इस सम्मेलन के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय तनाव मे अवश्य कमी आई। पश्चिमी एशिया के संकट के सम्बन्ध मे दोनों महाशक्तियों के बीच सहमति के क्षेत्र मे वृद्धि हुई। इस शिखर-सम्मेलन के बाद दोनो ही महाशक्तियां कुछ अधिक संयमित भाषा का प्रयोग करने लगी।

वियतनाम युद्ध में शिथिलता और शीतयुद्ध मे कमी—सन् 1967-68 मे वियतनाम का प्रश्न शीतयुद्ध को भड़काता रहा। अमेरिकी नीति के विरुद्ध विश्व जनमत मे ही नही बल्कि स्वयं अमेरिकियों में भी गम्भीर प्रतिक्रिया हुई। अतः बाध्य होकर राष्ट्रपति जॉनसन ने एक ओर तो उत्तरी वियतनाम पर बमबारी रोकने की घोषणा की और दूसरी ओर आत्मग्लानि से पीडित होकर राष्ट्रपति पद के लिए पुनः उम्मीदवार न होने का निश्चय व्यक्त किया। इसके फलस्वरूप धीरे-धीरे वियतनाम युद्ध शिथिल होता गया और शीतयुद्ध ठण्डा पड़ता गया।

मार्च, 1969 का बर्लिन संकट और शीतयुद्ध—शीतयुद्ध में पुनः गर्मी तब आई जब पश्चिमी जर्मनी ने निश्चय किया कि 5 मार्च, 1969 को फेडरल जर्मनी के राष्ट्रपति का चुनाव पश्चिमी बर्लिन में सम्पन्न किया जाए। पूर्वी जर्मन सरकार ने इस निश्चय का विरोध करते हुए कहा कि पश्चिमी बर्लिन अभी तक सन् 1945 के पोट्सडम समझौते के अधीन है, अतः पश्चिमी बर्लिन की सरकार को इस तरह का समारोह कर उसे केवल पश्चिमी जर्मनी का एक भाग सिद्ध करने का कोई अधिकार

नही है। पूर्वी जर्मनी ने आरोप लगाया कि पश्चिमी जर्मनी के राष्ट्रपति का चुनाव बर्लिन मे कराने का निर्णय पूर्वी जर्मनी के दावे के खण्डन के लिए किया गया है।

पूर्वी जर्मनी ने केवल मौखिक विरोध ही नही किया वरन् पश्चिमी बर्लिन जाने वाले मार्गों पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया ताकि राष्ट्रपति के निर्वाचन मे भाग लेने वाला निर्वाचक-मण्डल बर्लिन न पहुँच सके। किन्तु पश्चिमी जर्मनी भी इस बात पर तुल गया कि राष्ट्रपति का चुनाव पश्चिमी बर्लिन मे ही किया जाएगा। अतः वायुयानो द्वारा (हवाई यातायात प्रतिबन्ध से मुक्त था) निर्वाचक-मण्डल अपने दल-बल सहित पश्चिमी बर्लिन पहुँचा। पश्चिमी जर्मनी को इस सम्पूर्ण कार्यवाही में पश्चिमी राष्ट्रों का पूर्ण समर्थन प्राप्त था। यद्यपि पूर्वी जर्मनी ने, जो रूस समर्थित है, तीव्र विरोध प्रकट किया और स्वय रूस ने भी पश्चिमी जर्मनी को इस स्थिति से बचाने की चेतावनी दी तथापि राष्ट्रपति का चुनाव-कार्य शान्तिपूर्वक सम्पन्न हो *गया इस प्रश्न पर सोवियत सघ ने कोई बड़ा पूर्व-पश्चिम सकट खड़ा नहीं किया क्योंकि इससे उसका कोई उद्देश्य सिद्ध होने वाला नही था बल्कि* इसका दो बातो पर विपरीत प्रभाव पड सकता था—प्रक्षेपास्त्रो के बारे मे रूस द्वारा प्रस्तावित वार्ता पर तथा नए अमेरिकी राष्ट्रपति निक्सन के साथ सोवियत सघ के शिखर सम्मेलन की योजना पर।

मास्को बोन समझौता, 1970 तथा शीतयुद्ध मे कमी—द्वितीय महायुद्ध के बाद से ही जर्मन समस्या अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे विशेषकर महाशक्तियो के बीच शीतयुद्ध का प्रमुख कारण बनी हुई थी। पश्चिमी जर्मनी और सोवियत सघ के सामान्य सम्बन्धो का विकास न होने से शीतयुद्ध को समय-समय पर प्रोत्साहन मिलता रहता था। सौभाग्यवश 12 अगस्त 1970 को दोनो ओर से लम्बे प्रयासो के उपरान्त मास्को मे सघीय जर्मनी के विली ब्रांट और सोवियत सघ के कोसिगिन ने एक सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर किए जिसे युद्धोत्तर यूरोपीय इतिहास का एक प्रवर्तन-बिन्दु माना जाता है। इस समझौते से शीतयुद्ध का एक प्रमुख कारण निश्चित रूप से कमजोर पड गया। *सन्धि की मुख्य बात यह थी कि दोनो पक्षो ने वस्तुस्थिति को स्वीकार करते हुए एक दूसरे के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग न करने का निर्णय किया।* सन्धि पर हस्ताक्षर के दिन ही सघीय जर्मन सरकार ने सोवियत विदेश मन्त्रालय को एक पत्र भेजकर यह स्पष्ट किया कि स्वतन्त्र आत्मनिर्णय के अधिकार के आधार पर जर्मनी का एकीकरण सघीय सरकार का सर्वोपरि राजनीतिक लक्ष्य है।

मास्को-बोन सन्धि के बाद यह आशा व्यक्त की जाने लगी कि अब यूरोप मे युद्ध नही होगा, नाटो तथा वारसा सन्धि जैसे सैन्य सगठन शिथिल पड जाएँगे और पूर्व तथा पश्चिम मे सुरक्षा की भावना मे वृद्धि होगी। इस सन्धि की विशेषता दो बातो मे थी—प्रथम, सोवियत सघ और पश्चिमी जर्मनी ने एक दूसरे के विरुद्ध शक्ति प्रयोग का निषेध किया और द्वितीय, पूर्वी तथा पश्चिमी जर्मनी की सीमाओ सहित यूरोप की वर्तमान राष्ट्रीय सीमाओ को दोनो देशो ने स्वीकार किया। सन्धि से पूर्व तक मुख्य तनाव जर्मनी के वर्तमान स्वरूप तथा युद्धोत्तर राष्ट्रीय सीमाओ के प्रश्न पर

हो था। ग्रतः जब सन्धि द्वारा वर्तमान सीमाओं को मान्यता मिल गई तो तनाव का एक मुख्य कारण समाप्त-सा हो गया।

बर्लिन समझौता, 1971 तथा शीतयुद्ध के एक और कारण में शिथिलता—मास्को-बोन सन्धि के उपरान्त 3 सितम्बर, 1971 को अमेरिका, सोवियत संघ, ब्रिटेन और फ्रांस के बीच लगभग 18 महीने की बातचीत के बाद, बर्लिन समझौते पर हस्ताक्षर हो गए। इस समझौते द्वारा पूर्वी जर्मनी और पश्चिमी जर्मनी में तनावपूर्ण स्थिति समाप्त हो गई। यह निर्णय किया गया कि पश्चिमी बर्लिन के लोगों को पूर्वी बर्लिन तथा पूर्वी जर्मनी जाने की अनुमति प्राप्त होगी। इस समझौते से पूर्व पश्चिम बर्लिनवासियों को पूर्वी बर्लिन तथा पूर्वी जर्मनी में अपने सम्बन्धियों तथा मित्रों से मिलने जाने पर प्रतिबन्ध था। सोवियत संघ कुछ विशेष सुविधाएँ देने को भी तैयार हो गया। वास्तव में इस समझौते के सम्पन्न होने पर ही उन अनाक्रमण सन्धियों की सम्पुष्टि निर्भर थी जो पश्चिमी जर्मनी ने रूस और पोलैण्ड के साथ की थी।

पूर्वी जर्मनी तथा पश्चिमी जर्मनी के बीच समझौता, 1972—सितम्बर, 1971 का बर्लिन समझौता पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी के बीच सामान्य सम्बन्ध कायम करने की आधारभूमि बन गया। 8 नवम्बर, 1972 को पश्चिमी जर्मनी की राजधानी बोन में दोनों जर्मन-राज्यों के बीच एक सन्धि पर हस्ताक्षर हुए जिसमें दोनों राज्यों ने एक दूसरे के अस्तित्व को स्वीकार कर विभिन्न मानवीय क्षेत्रों में परस्पर सहयोग का आश्वासन दिया और जर्मन समस्या के समाधान के लिए बल-प्रयोग के उपायों को सदैव के लिए तिलांजलि दी। इस सन्धि के फलस्वरूप दोनों जर्मन-राज्यों के पिछले लगभग 23 वर्षों से चले आ रहे तनावपूर्ण सम्बन्धों की समाप्ति हो गई। यह एक ऐतिहासिक सन्धि थी जिसने दोनों जर्मन-राज्यों की शत्रुता को समाप्त कर शीतयुद्ध के प्रमुख कारण और यूरोपीय शान्ति के लिए एक स्थायी खतरे को दूर कर दिया।

कोरिया का समझौता, 1972 और सहयोग-वृद्धि का आयोग, 1973—एशिया में उत्तरी कोरिया और दक्षिणी कोरिया के तनावपूर्ण सम्बन्धों ने भूतकाल में शीतयुद्ध को चरम सीमा पर पहुँचा दिया था। सन् 1972 में दोनों राज्यों के बीच सम्बन्ध सामान्य बनाने के लिए अनेक कदम उठाए गए और 4 जुलाई, 1972 को एक समझौता हुआ जिसमें दोनों ने वचन दिया कि वे एक दूसरे को कमजोर करने का कोई प्रयास नहीं करेंगे। इसके पूर्व अगस्त, 1971 में दोनों कोरिया की रेडक्रॉस सोसाइटी की एक बैठक में यह तय किया गया कि कोरिया-युद्ध के दौरान जो लगभग 1 करोड़ रिश्तेदार, मित्र आदि बिछुड़ गए थे उनकी अदला-बदली की जाए। उत्तरी और दक्षिणी कोरिया के एकीकरण सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं के समाधान के विषय में प्रगति हुई और एक समन्वय समिति गठित की गई। जुलाई, 1973 में दोनों के बीच पारस्परिक सहयोग में वृद्धि के लिए समन्वय समिति ने अनेक सुझाव दिए।

यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन, जुलाई, 1973—एक पूर्व निश्चय के अनुसार यूरोप

के 35राज्यों के विदेश-मन्त्रियों का एक सम्मेलन 3 से 5 जुलाई,1973तक हेलसिंकी में हुआ। इस सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय तनावों को दूरकर शीतयुद्ध को समाप्त करना और यूरोप के देशों मे सुरक्षा की नई भावना को जन्म देना था। कई दृष्टियो से यह एक ऐतिहासिक सम्मेलन था और राजनीतिक क्षेत्र मे कहा गया कि—(i) यूरोपीय महाद्वीप मे यह अपनी किस्म का अनूठा सम्मेलन है। (ii)इससे बडे छोटे राष्ट्रो मे सन्तुलन स्थापित करने का मार्ग प्रशस्त होगा। (iii)इस सम्मेलन मे बडी शक्तियों के हितों का सम्मान और छोटे राष्ट्रों के हितो और राष्ट्रीय गरिमा के बीच एक विशेष प्रकार का तालमेल बैठाने का वातावरण उत्पन्न होगा।[1] संयुक्त राष्ट्रसघ के महासचिव डॉ कुर्ट वाल्दहीम ने कहा कि इस सम्मेलन से यूरोप मे एक नवीन विचारधारा और स्वरूप का निर्माण होगा जिससे नए प्रकार के शक्ति-सन्तुलन कायम होगे। यूरोप मे इस सम्मेलन से एक नवीन आशा का सचार होगा और राष्ट्र एक दूसरे के अधिक निकट आएंगे।[2] सम्मेलन मे रूस की ओर से एक लम्बा दस्तावेज पेश किया गया जिसमे यह मांग की गई कि सभी यूरोपीय देशो के लोगो को खुलकर एक दूसरे से मिलना और विचारो का आदान-प्रदान करना चाहिए तथा इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि कोई भी देश किसी दूसरे देश पर आक्रमण करने की चेष्टा न करे। इससे यूरोप अधिक सशक्त और सम्पन्न होगा तथा उसमे अधिक सुरक्षा की भावना पैदा होगी।[3] हेलसिंकी सम्मेलन ने तनाव-बिन्दुओं को शिथिल कर शीतयुद्ध के प्रभाव को और भी कम किया। यूरोपीय राज्यो का अगला शिखर सम्मेलन दिसम्बर, 1973 मे होने वाला था, किन्तु चौथे अरब-इजरायल युद्ध और तेल सकट के कारण वह भविष्य के लिए टल गया।

महान् राष्ट्रों के सम्बन्धो मे परिवर्तन और तनाव क्षेत्रो मे कमी— सन् 1972 के बाद से ही रूस और अमेरिका के शीर्षस्थ नेता एक दूसरे से मिलते रहे हैं और चीन तथा अमेरिका मे भी मेल-मिलाप बढा है। नवम्बर, 1974 मे अमेरिका के नए राष्ट्रपति जेराल्ड फोर्ड ने भी ब्लाडीवोस्तक मे सोवियत नेता ब्रेझनेव से भेंट की। इन कूटनीतिक यात्राओं और सम्पर्क-सूत्रों के विस्तार के फलस्वरूप और रूस के सम्बन्धो मे काफी सुधार हुआ है और चीन तथा अमेरिका के सम्बन्ध भी उत्तरोत्तर अच्छे बने हैं, अत शीतयुद्ध लगभग ठण्डा पड चुका है। बीच-बीच मे तनाव पैदा होते हैं लेकिन 'सयम और वार्ता की कूटनीति' शीतयुद्ध के पैर नही जमने देती।

कम्बोडियाई युद्ध की समाप्ति, अप्रैल 1975— कम्बोडिया का गृहयुद्ध शीतयुद्ध का एक बडा कारण बना हुआ था। इस युद्ध मे बडी शक्तियाँ अप्रत्यक्ष रूप से लिप्त थीं। सयुक्तराज्य अमेरिका लोन-नोल सरकार की पीठ पर था और उसे भारी मात्रा मे शस्त्रास्त्र दे रहा था। विरोधी खमेर सेना को साम्यवादी राष्ट्रों—विशेषकर चीन से सहायता प्राप्त होती थी। राजकुमार सिंहानुक ने लम्बे अर्से से चीन मे शरण ले रखी थी। सौभाग्यवश 18 अप्रेल, 1975 को सिहानुक-सेनाओं (अथवा खमेर सेना)

1-3. दिनमान, 15 जुलाई, 1973. पृष्ठ 30.

की विजय के साथ कम्बोडियाई युद्ध का अन्त हो गया और तनाव का एक अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र समाप्त या शिथिल हो गया।

वियतनाम-युद्ध का अन्त, 30 अप्रेल, 1975—सन् 1975 का वर्ष एक तरह से समूचे विश्व के लिए शुभ था। कम्बोडियाई युद्ध के कुछ ही दिनों बाद 30 अप्रेल, 1975 को वियतनाम का ऐतिहासिक युद्ध भी समाप्त हो गया। संयुक्तराज्य अमेरिका की कठपुतली सैगोन सरकार ने राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे के समक्ष बिना शर्त आत्मसमर्पण कर दिया। अस्थायी क्रान्तिकारी सरकार ने सम्पूर्ण दक्षिण वियतनाम का नियन्त्रण सम्भाल लिया। वियतनाम का युद्ध बहुत ही विस्फोटक था जिससे कई बार महायुद्ध तक का खतरा उत्पन्न हो गया था। राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे और उत्तर वियतनाम की पीठ पर रूस और चीन थे तथा दक्षिण वियतनाम की कठपुतली थियू सरकार के पीछे संयुक्तराज्य अमेरिका था। अमेरिका तो प्रत्यक्ष रूप से युद्ध मे भाग ले रहा था लाखो की संख्या मे अमेरिकी सैनिक वियतनाम मे उपस्थित थे। 14 वर्ष के लम्बे युद्ध ने 30 अप्रेल, 1975 को प्रकाशित दिनमान के समाचारो के अनुसार 56 हजार 550 अमेरिकियो की जानें गई और 150 अरब डॉलर खर्च हुए। घायल अमेरिकी सैनिकों की संख्या 3,03,682 थी और लापता सैनिको की संख्या 2949। ये तो सरकारी आंकड़े हैं, अन्यथा अमेरिकी जन-धन की हानि कहीं अधिक हुई होगी। यदि अमेरिका वियतनाम युद्ध मे सक्रिय सैनिक हस्तक्षेप न करता और राजनीतिक ढग से सम्मानजनक समझौता करने की ईमानदारी दिखाता तो वियतनाम युद्ध कभी का समाप्त हो गया होता और अमेरिका को उस लज्जाजनक रूप मे वियतनाम से न हटना पडता जिस रूप मे वह 30 अप्रेल, 1975 के आस-पास हटा। वियतनाम के स्वतन्त्रता-सेनानियो की विजय विश्व के स्वाधीनता-आन्दोलनो के इतिहास मे सदैव स्वर्ण अक्षरो मे लिखी जाएगी। वियतनाम युद्ध कितना भयानक था, इसका अनुमान इन्हीं आँकडो से लगाया जा सकता है कि "इस युद्ध मे लगभग 10 लाख लोगो की जाने गई, द्वितीय विश्वयुद्ध से दुगुने बम बरसाए गए, यही नही नापाम बमो को असैनिक ठिकानों पर भी खुला इस्तेमाल किया गया।" (दिनमान 11 मई, 1975)

पश्चिमी एशिया शान्ति की ओर—पश्चिमी एशिया मे अरब-इजरायल सघर्ष लगभग 27 वर्ष से शीतयुद्ध और सशस्त्र युद्ध का कारण बना हुआ था। लेकिन सन् 1975 के मध्य से ही पश्चिमी एशिया मे शान्ति के आसार अधिक प्रबल हो गए है। 4 सितम्बर, 1975 को अमेरिका, मिस्र और इजराइल के बीच एक त्रिपक्षीय समझौता हुआ। समझौते मे तय किया गया कि सिनाई पर्वतमाला के दर्रों (गिद्दी और मित्तला) और उनके इर्दगिर्द आठ निगरानी चौकियां होंगी—एक चौकी पर इजराइल का पूर्ण नियन्त्रण रहेगा और एक पर मिस्र का। अन्य छः चौकियो पर 200 अमेरिकी तकनीकी कर्मचारी रहेंगे। इन चौकियो मे कुछ पूर्ण स्वचालित भी हो सकती हैं। ये निगरानी चौकियां किसी भी पक्ष की ओर से किए जाने वाले आक्रमण की पूर्व सूचना देने का काम करेंगी। अबूरूदी तेल क्षेत्र मिस्र की अधिक मार मे आ जाएगा। इस तेल क्षेत्र से इजराइल को अपनी जरूरत का 55 प्रतिशत तेल

प्राप्त होता था, किन्तु आयात में कोई व्यवधान पड़ने की स्थिति में अमेरिका ने उसकी आवश्यकता पूर्ति करने की गारंटी दी। मिस्र ने अमेरिका से यह वायदा किया कि वह इजराइल को जाने वाले टैंकरों को रोकने के लिए लाल सागर की नाकेबन्दी नहीं करेगा।[1] यह भी निश्चय किया गया कि अब इजराइल का माल किसी तीसरे देश के जहाज में निःशुल्क स्वेज नहर से भेजा जा सकेगा। इजराइल के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण सुविधा थी जिसे पिछले 27 वर्षों में अरबों से चार लड़ाइयाँ लड़ने के बाद भी वह प्राप्त नहीं कर पाया था। समझौते की प्रमुख धारा यह थी कि नए गलियारे (बफर क्षेत्र) में मिस्र, अमेरिका, इजराइल और संयुक्त राष्ट्र की शान्ति-रक्षक सेनाओं के बीच सहयोग की व्यवस्था रहेगी। यह सहयोग जितना ही अधिक होगा, मिस्र और इजराइल के बीच टकराव की सम्भावना उतनी ही कम होगी।[2]

10 अक्तूबर, 1975 को मिस्र और इजराइल के अधिकारियों ने उपर्युक्त समझौते को विधिवत् कार्यान्वित करने और पश्चिमी एशिया में शान्ति स्थापित करने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण समझौता किया। यद्यपि इस समझौते से पश्चिमी एशिया में शान्ति का वातावरण बन गया तथापि स्थायी शान्ति एक प्रश्न चिह्न बनी रही। महाशक्तियों के माध्यम से समझौता वार्ताएँ चालू रहीं।[3] जुलाई-अगस्त 1977 में पश्चिमी एशिया की समस्या के समाधान के लिए एक बार फिर सक्रिय प्रयास हुए। अमेरिकी विदेश मन्त्री साइरस वैंस ने पश्चिमी एशिया की यात्रा करके मिस्र, सीरिया, जोर्डन, लेबनान, सऊदी अरब और इजराइल के नेताओं से बातचीत की। मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात ने स्पष्ट रूप से कहा कि पश्चिमी एशिया में शान्ति सुरक्षा परिषद् द्वारा पारित प्रस्ताव नं० 242 का अनुसरण करने से हो सकती है। इस प्रस्ताव में कहा गया है कि इजराइली सेनाएँ 1967 के अरबों के अधिकृत इलाकों को खाली कर दें। सादात ने आश्वासन दिया कि ऐसा हो जाने पर इजराइल के अस्तित्व को मान्यता दे दी जाएगी। अपनी सद्भावना जतलाने के लिए अनवर सादात ने घोषणा की कि मिस्र में रहने वाले सभी यहूदियों को मिस्र का नागरिक माना जाएगा, उन्हें विस्थापित नहीं कहा जाएगा। साइरस वैंस की यात्रा से पश्चिमी एशिया में स्थायी शान्ति की सम्भावना को बल मिला। इसका एक स्पष्ट प्रमाण तब मिला जब 15 नवम्बर 1977, को इजराइल के प्रधानमन्त्री मेनाशम बेगिन ने मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात को इजराइल की यात्रा करने के लिए अमेरिकी राजदूत द्वारा लिखित निमन्त्रण भेजा। श्री बेगिन ने जोर्डन, सीरिया और लेबनान के नेताओं को सादात के बाद इजराइल आने का निमन्त्रण दिया। राष्ट्रपति सादात 19 नवम्बर को जब इजराइल पहुँचे तो उनका भव्य स्वागत किया गया। यह दुर्भाग्य की बात थी कि मिस्री राष्ट्रपति की इजराइल यात्रा के विरोध में लीबिया ने मिस्र से अपने राजनयिक सम्बन्ध विच्छेद की घोषणा कर वहाँ से अपने सभी देशवासियों को स्वदेश लौटने की अपील की।

1-2. दिनमान 7 सितम्बर, 1975, पृष्ठ 34.
3. दिनमान 19 अक्तूबर, 1975, पृष्ठ 32.

निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि द्वितीय महायुद्ध के बाद जिस शीतयुद्ध का विकास हुआ वह सन् 1962 मे क्यूबा काण्ड के बाद शिथिल पडने लगा। स्वर्गीय कैनेडी और ख्रुश्चेव द्वारा शीतयुद्ध को समाप्त करने की दिशा मे कार्य प्रारम्भ किया ही गया था कि 22 नवम्बर, 1963 को कैनेडी की हत्या कर दी गई और 15 अक्तूबर, 1964 को ख्रुश्चेव को पदच्युत् कर दिया गया। दोनो नेताओ के उत्तराधिकारियो ने यद्यपि उन्ही की नीतियो का अनुसरण करने का आश्वासन दिया, तथापि दोनो गुटो के बीच शीतयुद्ध किसी न किसी रूप मे विद्यमान रहा। विश्व के विभिन्न क्षेत्रों जैसे हिन्द-चीन, पश्चिमी एशिया, आदि में तनाव बढ़ने से शीतयुद्ध अधिक उग्र हो जाता और तनाव शिथिल होने पर शिथिल पड़ जाता। प्रारम्भ मे जब शीतयुद्ध मुख्यतया अमेरिका और रूस के बीच चलता था तो इसका स्वरूप द्विपक्षीय (Bipolar) होता था, किन्तु बाद मे सन् 1969 मे रूस-चीन-सीमान्त सघर्ष के कारण इसका स्वरूप त्रिपक्षीय (Tripolar) हो गया। यह शीतयुद्ध सातवें दशक के अन्त तक किसी न किसी रूप मे अस्तित्व मे रहा और सम्पूर्ण विश्व के वातावरण को विषाक्त करता रहा। आठवें दशक के प्रारम्भ से शीतयुद्ध के कारण एक-एक करके तेजी से समाप्त होते गए। निःशस्त्रीकरण समझौतो को बल मिला तथा सन् 1971 का बर्लिन समझौता और फिर सन् 1972 का पूर्वी जर्मनी एव पश्चिमी जर्मनी के बीच समझौता सम्पन्न हुआ। सन् 1972 मे कोरिया समझौता हुआ। सन् 1972 के बाद से ही महाशक्तियो के सम्बन्धों में परिवर्तन के फलस्वरूप तनाव शिथिल होता गया। केवल हिन्द-चीन और पश्चिमी एशिया के सकट के कारण तनाव क्षेत्र उभरते रहे, लेकिन 'सयम और वार्ता की कूटनीति' ने शीतयुद्ध के पैर नही जमने दिए। सन् 1975 के मध्य तक कम्बोडियायी, वियतनामी और अरब-इजराइली संघर्ष का अन्त हो गया और इस तरह विश्व ने शीतयुद्ध से मुक्ति की सांस ली। जिस तरह का अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण बनता जा रहा है उससे यही आशा बलवती होती है कि निकट भविष्य मे शीतयुद्ध पुनः नही भड़केगा—शीतयुद्ध का युग अब समाप्त हो चुका है।

शीतयुद्ध में शिथिलता के कारण

शीतयुद्ध के इतिहास के इस विवेचन से स्पष्ट है कि काफी उतार-चढाव के बाद पिछले कुछ वर्षो से शीतयुद्ध की उग्रता निरन्तर घटती गई है। इसके मूल मे जो मुख्य कारण रहे हैं वे ये है—

1. दोनो महाशक्तियाँ यह अनुभव करती जा रही हैं कि सैनिक शक्ति के बल पर समस्या का निदान बहुत कठिन और व्यय-साध्य है। वियतनाम के युद्ध ने अमेरिका जैसी महाशक्ति को घुटने टिका दिए, युद्ध से उसके सैनिको का ही विनाश नही हुआ बल्कि उसका अर्थ-तन्त्र भी संकट मे पड गया उसका व्यापार-सन्तुलन बिगड गया और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-बाजार मे डॉलर की साख तक खतरे में पड गई।

2. दोनो महाशक्तियों को यह आशंका भी सताने लगी है कि शीतयुद्ध कभी

भी ऐसी स्थिति पैदा कर सकता है जिससे तृतीय महायुद्ध का विस्फोट हो जाए। क्यूबा के महान् सकट के बाद से ही महाशक्तियों की यह नीति स्पष्ट दिखायी देने लगी है कि वे परस्पर सघर्ष की हर स्थिति से बचती हैं।

3. पूँजीवादी और साम्यवादी शिविरो मे अब सैद्धान्तिक सघर्ष उतना तीव्र नहीं रहा है जितना पहले था। अमेरिका के मित्रराष्ट्र शीतयुद्ध की राजनीति से अलग होकर साम्यवादी देशो से व्यापार सम्बन्ध स्थापित करने लगे हैं और अमेरिका भी अब इसी नीति पर उतर आया है। पूँजीवादी शिविर ने साम्यवादी देशो के साथ प्रचुर व्यापार करने का मार्ग खुला रखने के लिए यह उपयुक्त समझा है कि शीतयुद्ध को यथासाध्य प्रोत्साहन न दिया जाए।

4. गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों की सख्या निरन्तर बढती जा रही है और गुट-निरपेक्षता की नीति ने शीतयुद्ध की उग्रता कम करने की महती भूमिका निभायी है।

5 सयुक्त राष्ट्रसघ मे अब महाशक्तियो का प्रभाव वैसा नहीं रहा है जैसा पहले था। अफ्रेशियायी राष्ट्रों की सख्या बढ गई है, 'तृतीय विश्व' की आवाज को अब पहले की तरह दबाया जाना सरल नही रहा है। इस स्थिति ने शीतयुद्ध की उग्रता को कम किया है।

6. सोवियत सघ द्वारा स्टालिनवादी उग्र नीति का परित्याग कर निरन्तर सह-अस्तित्व की नीति पर बल देने से शीतयुद्ध काफी शिथिल हुआ है। अमेरिकी नेतृत्व ने भी सोवियत मैत्री और सोवियत नीति का महत्त्व समझकर सहयोगी रुख अपनाया है। दोनों ही गुटो मे इस विचारधारा ने बल पकडा है कि परस्पर मतभेद होने के बावजूद दोनो गुटो के सम्बन्ध शान्तिपूर्ण रह सकते हैं।

7. पिछले कुछ वर्षों से बडे राष्ट्रों के नेताओ मे सम्पर्क बढा है। अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति निक्सन को यह श्रेय दिया जाना चाहिए कि उन्होंने सोवियत रूस और चीन की ओर मित्रता का हाथ बढाया। उनकी पहल से एक ओर रूस तथा अमेरिका और दूसरी ओर चीन तथा अमेरिका के जो शिखर-सम्मेलन हुए उनसे अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण के सुधार मे काफी सहयोग मिला।

8 शीतयुद्ध की उग्रता कम करने मे भारत की भूमिका भी विशेष महत्त्वपूर्ण रही है। कठिन परिस्थितियों के बावजूद भारत गुट-निरपेक्षता की नीति पर दृढ रहा है जिससे विभिन्न क्षेत्रो मे तनावों के कम होने मे सहायता मिली।

9. मास्को-बोन समझौता, बर्लिन समझौता, पूर्वी जर्मनी और पश्चिमी जर्मनी के बीच समझौता कोरिया समझौता, कम्बोडियायी और वियतनामी युद्ध की समाप्ति आदि घटनाओ ने यह आशा उत्पन्न कर दी है कि विश्व शीतयुद्ध के भँवर से निकल चुका है और शान्ति तथा सह-अस्तित्व की शक्तियाँ प्रबल हो रही हैं।

वास्तव मे महान् राष्ट्रों के सम्बन्धो में पिछले वर्षों मे जो क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं, उन्ही के फलस्वरूप अनेक समस्याओ का निदान हो सका है और तनाव के क्षेत्र समाप्त तथा कम हुए हैं। विश्व का कल्याण इसी में है कि महाशक्तियाँ अन्य देशों मे हस्तक्षेप की नीति का परित्याग कर दें, पारस्परिक

सम्बन्धों को मधुर बनाएँ और प्रत्येक समस्या का समाधान शस्त्र-बल के बजाय पारस्परिक वार्ता द्वारा करें।

शीतयुद्ध और देतांत
(Cold War and Detente)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विशेषज्ञों के अनुसार देतांत[1] अथवा सोवियत अमेरिकी मैत्री एवं सहयोग का प्रारम्भ कैनेडी-ख्रुश्चेव के समय से हुआ। उनके अकस्मात् सत्ता से हटने के कारण कुछ समय तक मैत्री और सहयोग का मार्ग अवरुद्ध हो गया, किन्तु निक्सन और ब्रेझनेव ने सहयोग के सूत्रों का पुनः विकास किया जिसमे अमेरिका के विदेश-सचिव डॉ. कीसिंजर की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। यद्यपि निक्सन के पद त्याग के बाद फोर्ड भी रूस के प्रति मैत्रीपूर्ण हैं, तथापि दोनों महाशक्तियों के बीच मैत्री और सहयोग के विकास की गति उतनी तीव्र नही है जितनी निक्सन के समय थी।

देतांत (सोवियत-अमेरिकी मैत्री एवं सहयोग) के प्रारम्भ के लिए मुख्यतः निम्नलिखित कारण उत्तरदायी माने जाते हैं—

प्रथम, अणुबम के रहस्य पर अमेरिका का एकाधिकार समाप्त हो जाने के कारण रूस और अमेरिका के बीच अस्त्र-शस्त्र की दृष्टि से एक सन्तुलन-सा पैदा हो गया। इसके फलस्वरूप भूतपूर्व अमेरिकी विदेश सचिव डलेस की वह नीति उपयोगी नहीं रही जिसमे साम्यवाद के विस्तार को रोकने के लिए सशस्त्र संघर्ष पर बल दिया जाता था। बर्लिन की घेराबन्दी, कोरिया का युद्ध, क्यूबा काण्ड आदि ने स्पष्ट कर दिया कि महाशक्तियों के बीच 'सहयोग' की आवश्यकता है, 'टकराहट' की नहीं।

द्वितीय रूस की आर्थिक आवश्यकताओं ने उसे अमेरिका की मैत्री प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया। साम्यवादी क्रान्ति के पाँच दशक बाद भी सोवियत जनता उत्पादन के क्षेत्र मे तकनीकी ज्ञान की कमी के कारण उन लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर पा रही थी जिससे वे उच्च जीवन-स्तर प्राप्त करने मे समर्थ हों। अमेरिका के पास यह उन्नत तकनीकी ज्ञान था लेकिन रूस इसका भागीदार तभी बन सकता था जब वह अमेरिका के प्रति संघर्ष के बजाय सहअस्तित्व की नीति अपनाता। अतः स्टालिनोत्तर युग मे सोवियत नेताओं ने पूँजीवाद के साथ सहअस्तित्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और इस तरह दोनों महाशक्तियों मे सहयोग का द्वार खुल गया।

तृतीय, साम्यवादी चीन के साथ संघर्ष उत्पन्न होने के कारण सोवियत संघ के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह चीन के मुकाबले मे अपनी स्थिति सुदृढ करने के लिए पश्चिमी देशों और मुख्यतः अमेरिका से शान्तिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करे।

चतुर्थ, भारत की भूमिका भी कम महत्त्वपूर्ण नही रही। एक ओर तो रूस ने समझ लिया कि चीन के विरुद्ध अपनी स्थिति सुदृढ कायम रखने मे भारत की

1. 'देतान्त' एक फ्रेंच शब्द है जिसका शाब्दिक अर्थ होता है—तनाव शैथिल्य। लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दुनिया में इसका अर्थ रूस-अमेरिका तनाव मे कमी और उनमे बढती हुई मित्रता तथा सहयोग की भावनाओं से लगाया जाता है।

मैत्री मूल्यवान है और दूसरी ओर अमेरिका तथा उसके साथी राष्ट्रों ने समझ लिया कि रूस-भारत मैत्री अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक मंच पर प्रभावशाली गुल खिला सकती है। भारत की इस केन्द्रीय स्थिति के कारण महाशक्तियों में सहयोग के सूत्रों को प्रोत्साहन मिला। भारतीय नेताओं ने सदैव इस बात का प्रयत्न किया कि शीतयुद्ध के कारण समाप्त हों और विश्व के बड़े राष्ट्रों के बीच सहयोग का वातावरण स्थापित हो।

पंचम, अमेरिका वियतनाम के युद्ध से थक चुका था। वह वियतनामी युद्ध के दलदल से सम्मानपूर्वक सोवियत संघ के सहयोग से ही निकल सकता था।

उपर्युक्त कारणों से यह स्वाभाविक था कि दोनों महाशक्तियाँ परस्पर तनाव और संघर्ष के मार्ग का परित्याग कर मैत्री और सहयोग का मार्ग अपनाएँ।

देतांत का शीतयुद्ध पर प्रभाव

देतांत अर्थात् रूस-अमेरिकी सहयोग का शीतयुद्ध पर निर्णायक प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था। दोनों महाशक्तियों के बीच तनाव ही शीतयुद्ध की जड़ था और जब दोनों महाशक्तियों ने यह नीति अपना ली कि वे क्रमशः सहयोग के मार्ग पर अग्रसर होंगे तो शीतयुद्ध भी अपनी साँसें गिनने लगा। देतांत का प्रारम्भ तो कैनेडी ख्रुश्चेव के कार्यकाल में ही हो चुका था, लेकिन इसे वास्तविक ठोस रूप निक्सन-ब्रेझनेव-काल में मिला। इसकी प्रथम वास्तविक अभिव्यक्ति तब हुई जब मई, 1972 में निक्सन शिखर वार्ता के लिए मास्को गए और वहाँ उन्होंने आशा व्यक्त की कि—"इस शिखर-वार्ता से शान्तिपूर्ण सहयोग एक वास्तविकता बन जाएगा और दोनों देश विश्व की समस्त जनता की सुख समृद्धि के लिए मिलजुल कर काम कर सकेंगे।" मई, 1972 की इस शिखर-वार्ता के फलस्वरूप रूस और अमेरिका के बीच एक के बाद एक विभिन्न समझौतों का मार्ग प्रशस्त हो गया। निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी समझौते भी सम्पन्न हुए और आर्थिक समझौते भी। देतांत के विकास का दूसरा चरण जून, 1973 में सोवियत नेता ब्रेझनेव की वाशिंगटन यात्रा से प्रारम्भ हुआ। इस शिखर-वार्ता में दोनों देशों के बीच समुद्र-विज्ञान सहित अणु शक्ति के शान्तिपूर्ण प्रयोग तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान सम्बन्धी कई समझौते सम्पन्न हुए। इस शिखर-वार्ता का मुख्य उद्देश्य दोनों देशों के बीच आर्थिक सहयोग का विकास करना था, अतः दोनों नेताओं ने यह निश्चय किया कि इस क्षेत्र में रूस और अमेरिका को परस्पर साझीदार बनाना चाहिए। निक्सन और ब्रेझनेव की इन यात्राओं के फलस्वरूप दोनों महाशक्तियों के बीच जो सहयोगपूर्ण समझौते हुए उनके कारण "शीतयुद्ध ठण्डा पड़ गया और विश्व-शान्ति का वातावरण सुदृढ़ हो गया।"

अगस्त, 1974 में देतांत के प्रतिपादक निक्सन को वाटरगेट काण्ड के कारण राष्ट्रपति-पद से हटना पड़ा और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति जगत् में देतांत के भविष्य के प्रति आशंका व्यक्त की जाने लगी, लेकिन नए राष्ट्रपति फोर्ड ने देतांत को सुदृढ़ करने का आश्वासन दिया और प्रमाण स्वरूप देतान्त के एक प्रमुख निर्माता

निक्सन प्रशासन के विदेश सचिव डॉ. कीसिंजर को अपने प्रशासन मे भी उसी पद पर पुनः नियुक्त किया। फोर्ड-ब्रेझनेव काल मे देतांत का क्रमश विकास होता रहा। फोर्ड और ब्रेझनेव के बीच नवम्बर, 1974 मे सामरिक अस्त्र-परिसीमन के लिए समझौते के दूसरे चरण की रूपरेखा तैयार करने के लिए बातचीत हुई और दोनो ही पक्षो ने अपनी अणुशस्त्र की दौड पर कुछ प्रतिबन्ध लगाना स्वीकार किया। शीतयुद्ध के विरुद्ध विकसित देतान्त की इस भावना को जनवरी, 1975 मे तब कुछ ठेस लगी जब अमेरिकी कांग्रेस ने दोनो महाशक्तियो के बीच सम्पन्न व्यापारिक समझौते को यहूदियों को सोवियत सघ से बहिर्गमन की स्वतन्त्रता दिए जाने की शर्त के साथ जोड दिया और सोवियत सघ ने उसे अस्वीकृत कर दिया। तथापि यह कोई स्थायी अवरोध नही था, दोनो देशों के बीच सहयोग के सूत्र विकसित होते रहे और सामरिक महत्त्व के शस्त्रास्त्रो के परिसीमन की सन्धि (Strategic Arms Limitation Treaty) और यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन की तैयारियाँ चालू रही।

20 जनवरी, 1977 को डेमोक्रेटिक-पार्टी के 53 वर्षीय जेम्स अर्ल (जिम्मी) कार्टर ने अमेरिका के 39वें राष्ट्रपति के पद की शपथ ग्रहण की। अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में यह आशा की गई कि कार्टर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और शान्ति को बढ़ावा देंगे तथा साम्यवादी और पूँजीवादी सहअस्तित्व को बल प्रदान करेंगे। कार्टर-प्रशासन का 1978 के प्रारम्भ तक का इतिहास यही संकेत देता है कि महाशक्तियो के परस्पर सहयोग तथा सद्भावना को बल मिला है तथा देतान्त-भावना का उत्तरोत्तर विकास हुआ है। विभिन्न समस्याओ पर रूस और अमेरिका के मतभेदो की उग्रता कम हुई है और दोनो महाशक्तियाँ यह अधिक अच्छी तरह समझने लगी हैं कि 'सहयोग और शान्ति की विजय' मे ही मानव सभ्यता का सुनहरा भविष्य सुरक्षित है।

यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन और हेलसिंकी भावना का निर्माण

फिनलैण्ड की राजधानी हेलसिंकी मे 30 जुलाई से 1 अगस्त, 1975 तक यूरोपीय सुरक्षा एवं सहयोग के लिए सम्मेलन का आयोजन किया गया। यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन बुलाने की माँग सबसे पहले सोवियत सघ द्वारा सन् 1966 मे बुडापेस्ट साम्यवादी सम्मेलन की गई थी। इसका मुख्य उद्देश्य यह था कि द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् यूरोप का जो नया राजनीतिक मानचित्र बना था और जो नए सीमान्त स्थापित हुए थे तथा जिनकी अस्वीकृति और परिवर्तन के प्रयासों से पुनः तनाव और सघर्ष उत्पन्न होने की सम्भावना थी, उन्हे स्थायित्व प्रदान किया जाए और इस तरह तनाव तथा सघर्ष के एक बडे कारण को समाप्त किया जाए।

हेलसिंकी सम्मेलन मे अल्बानिया को छोड़कर अमेरिका, सोवियत सघ और कनाडा सहित पश्चिमी तथा पूर्वी यूरोप के सभी राष्ट्रो ने भाग लिया। भाग लेने वाले देशो की कुल सख्या 35 थी। सम्मेलन मे 30 हजार शब्दो का एक घोषणा-पत्र भाग लेने वाले राष्ट्रो के हस्ताक्षरो से 'स्वीकृत' हुआ जिसे फिनलैण्ड के राजकीय अभिलेखागार मे 18 मीटर की गहराई मे चमडे की एक हरी जिल्द मे बाँधकर

सुरक्षित रख दिया गया है और इसकी प्रतिलिपियाँ ही देखने को उपलब्ध हुई हैं। इसे तब तक नही खोला जाएगा जब तक अपवाद स्वरूप इस मूल प्रति को देखने की विशेष अनुमति न दी जाए। [1]*यह घोषणा-पत्र एक कानूनी दस्तावेज होने के बजाय* वस्तुत. आचरण की एक नैतिक संहिता है। यह एक बहुत बडी उपलब्धि है क्योंकि यह द्वितीय महायुद्ध और उसके तनावपूर्ण शीतयुद्ध के कुपरिणामो को समाप्त करने वाला और उसके स्थान पर सदस्य-राष्ट्रो मे सुरक्षा और सहयोग की भावना को जन्म देने वाला है तथा सयुक्त राष्ट्रसघ के महासचिव कुर्त वाल्दहीम के अनुसार *व्यावहारिक समझौते का प्रतीक है।* इस सम्मेलन द्वारा स्वीकृत घोषणापत्र के मुख्य सिद्धान्त इस प्रकार हैं—राज्यो की प्रभुसत्ता को एक दूसरे के द्वारा स्वीकृति प्रदान होना, बल-प्रयोग से बचे रहने का सकल्प, राष्ट्रो के बीच समस्त विवादो का शान्तिपूर्ण समाधान, सीमाओ की अखण्डता का सम्मान, मानव और मूलभूत अधिकारो के प्रति आदर, राष्ट्रो के बीच शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व, आदि। सम्मेलन इस रूप मे ऐतिहासिक था कि इसमे भाग लेने के लिए 35 यूरोपीय अमेरिकी देशो के राजाध्यक्ष और शीर्ष नेता पहुँचे और वे मोटे तौर पर इस बात के लिए चिन्तित रहे कि 'नरमी' (देतान) मे कही कमी और यूरोप की आज की स्थिति मे कोई गिरावट न आने पाए। मार्शल टीटो ने कहा कि सुरक्षा और सहयोग एक नए अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्वरूप के बिना अधूरे रहेंगे। उन्होने 'नरमी' (देतात) का समर्थन किया, लेकिन साथ ही यह भी कहा कि तटस्थ और विकासशील राष्ट्रो पर उनकी स्वतन्त्र नीतियो के कारण नए दवाव डाले जा रहे हैं। उन्होने आरोप लगाया कि शक्ति-के नाम पर हथियारो की प्रतिस्पर्द्धा को प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

यूरोपीय सुरक्षा-सम्मेलन की सफलता से इस बात की पुन पुष्टि हो गई कि मतभेदो और अवरोधों के बावजूद सोवियत सघ और अमेरिका सहअस्तित्व, शान्ति और सहकार की दिशा मे प्रगति करना चाहते हैं।

सैद्धान्तिक संघर्ष बनाम शक्ति-राजनीति (Ideological Conflict Vs Power Politics)

अब हमे 'शीतयुद्ध' के एक दूसरे पहलू पर भी कुछ विचार करना चाहिए। प्रायः यह कहा जाता है कि 'शीतयुद्ध' एक सैद्धान्तिक सघर्ष (Ideological Conflict) है जिसमे दो विरोधी जीवन-पद्धतियाँ (*उदारवादी लोकतन्त्र तथा सर्वाधिकारवादी* साम्यवाद) सर्वोच्चता के लिए सघर्षरत है। इस बात से इकार नही किया जा सकता कि शक्ति-राजनीति के इस युग मे सोवियत सघ और सयुक्तराज्य अमेरिका के बीच जो एक विशेष प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता है, वह बहुत कुछ सैद्धान्तिक है। इसके पीछे एक गहन सामाजिक दर्शन है जो अन्तर्राष्ट्रीय तनाव का एक मुख्य कारण बन गया है। सयुक्तराज्य अमेरिका सोवियत प्रणाली को एक अन्तर्राष्ट्रीय षड्यन्त्र मानता है जिसका उद्देश्य अन्य देशो के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप कर अथवा अपना

1. दिनमान, 10 अगस्त, 1975, पृष्ठ 31.

प्रभाव डालकर साम्यवाद का प्रसार करता है। दूसरी ओर सोवियत संघ पश्चिमी देशों की प्रणालियों को शोषण, आक्रमण हीन उपायों द्वारा स्वार्थ-लाभ तथा संगठित लूट-खसोट पर आधारित मानता है। दोनों देशों और उनके पिछलग्गू राष्ट्रों के दृष्टिकोण परस्पर इस तरह विरोधी हैं कि उनका प्रभाव हर क्षेत्र पर पड़ा है और सर्वत्र रूस व अमेरिका का वैचारिक संघर्ष प्रवेश कर गया है। यह वैचारिक अथवा सैद्धान्तिक संघर्ष आज विश्व राजनीति का एक आधार बन चुका है और इसी संघर्ष को जारी रखने एवं इसमें सफलता प्राप्त करने के प्रत्येक सम्भव उपाय सोचे जा रहे हैं।

वैसे तो इस सैद्धान्तिक संघर्ष का उदय प्रधानतः सन् 1917 की बोल्शेविक क्रान्ति के बाद ही हो गया था, किन्तु द्वितीय महायुद्धोत्तर काल में इसने चिन्ताजनक और भीषण रूप धारण कर लिया। परिणाम यह हुआ कि दोनों राष्ट्रों के बीच तनावों में वृद्धि होती गई और विश्व की समस्याओं के प्रति विरोधी नीतियां परस्पर टकराने लगी। साम्यवाद को सीमित रखने के लिए अमेरिका ने विभिन्न कदम उठाए। ट्रूमैन सिद्धान्त का प्रतिपादन, मार्शल-योजना जैसे कार्यक्रमों की पूर्ति, सैनिक एवं प्रादेशिक संगठनों की स्थापना आदि बातों से यह स्पष्ट हो गया कि अमेरिका ने साम्यवाद के विरुद्ध कमर कस ली है। दूसरी ओर साम्यवाद ने पूंजीवादी घेरों को तोड़कर साम्यवाद के प्रसार का संकल्प ले लिया। इसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि द्वितीय महायुद्ध के बाद 'शीतयुद्ध' का दानव समग्र संसार को ग्रसने लगा। स्थिति यह बन गई कि सैद्धान्तिक संघर्ष में विजय पाने और शीतयुद्ध को कायम रखने के लिए राजनीतिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक तथा सैनिक सभी प्रकार के उपाय काम में लाए जाने लगे। लेकिन इस कार्यक्रम के अन्तर्गत कुछ ऐसे भी कार्य हो रहे हैं जिनमें सचमुच विरोधाभास है। संयुक्तराज्य अमेरिका लोकतन्त्र की साम्यवाद से र[illegible]क नाम पर विभिन्न देशों को आर्थिक सहायता देता है ताकि वहाँ की स्थिति सुदृढ़ रहे और साम्यवाद के प्रसार का अवसर न मिले। लेकिन यह आर्थिक सहायता उन्हीं देशों को प्राप्त होती है जो सोवियत संघ के विरोधी हैं या उनको जिनकी स्थिति अब अच्छी नहीं है और जहां लोकतन्त्र के प्रति आस्था मिटती जा रही है। इसके परिणामस्वरूप उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो पाती। उदारवाद को महत्त्व न दिया जाकर विचारों की विभिन्नता को घृणा से देखा जाता है। स्वतन्त्र विचारों के लिए आदर न होने से विश्व में अविश्वास की राजनीति को बल मिला है।

दोनों राष्ट्र एक दूसरे के प्रति इतने सशंकित हैं कि अपनी व्यवस्था के रक्षार्थ उन्होंने गुप्तचरों का एक विश्व-व्यापी जाल बिछा रखा है। सैद्धान्तिक संघर्ष में और एक-दूसरे के दर्शन से अपने दर्शन को अथवा अपने रहन-सहन को श्रेष्ठतर सिद्ध करने के लिए प्रचार के सभी साधन अपनाए जाते हैं। प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता देकर अविकसित देशों की मित्रता खरीदी जाती है, सामरिक सामग्री पर नियन्त्रण किया जाता है और दुर्बल देशों के अर्थतन्त्र को नियन्त्रित किया जाता है। इतना ही

नहीं, अन्य देशो में जो राजसत्ता के लिए संघर्ष होते हैं उनमें किसी दल विशेष का पक्ष लेकर सैद्धान्तिक संघर्ष को बढ़ाया जाता है।

इस तरह वर्तमान शीतयुद्ध का एक सर्वोपरि आधार सैद्धान्तिक या वैचारिक संघर्ष (Ideological Conflict) ही है। आर्नोल्ड टॉयनबी ने शीतयुद्ध को एक सैद्धान्तिक संघर्ष मानते हुए विश्व-राजनीति की 'द्वि-ध्रुवी' व्याख्या की है। टॉयनबी के अनुसार वर्तमान समय में विश्व-राजनीति मे केवल दो सिद्धान्त और केवल दो शक्तियाँ हैं—उदारवादी लोकतन्त्र तथा सर्वाधिकारवादी साम्यवाद और संयुक्तराज्य अमेरिका तथा सोवियत रूस। यह कहा जाता है कि संसार के अन्य राज्यो के पास इसके अतिरिक्त और कोई अन्य विकल्प नहीं है कि इन दो महाशक्तियो में से एक-न-एक का साथ दें। मार्शल टीटो का सोवियत संघ के विरुद्ध विद्रोह अथवा भारत का असलग्नतावाद किसी भी ऐच्छिक विकल्प का प्रतिनिधित्व नहीं करते, अपितु महाशक्तियो द्वारा चयनित विकल्प (Choice Allowed) का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह बात इसी से स्पष्ट है कि यदि रूस और अमेरिका में कभी अन्तिम संघर्ष का अवसर उपस्थित हो जाए तो यूगोस्लाविया अथवा भारत के पास सिवाय इसके कोई प्रभावी विकल्प नही रहेगा कि वे दोनो में से किसी एक पक्ष का साथ दें।

यह भी ध्यान रखने योग्य बात है कि स्वयं पश्चिमी शक्तियाँ और साम्यवादी देश भी शीतयुद्ध के एक सैद्धान्तिक संघर्ष होने का दावा करते हैं। पश्चिमी शक्तियो द्वारा इसे एक सैद्धान्तिक संघर्ष मानने का स्पष्टतम प्रमाण 5 मार्च, 1946 को चर्चिल की विख्यात 'फुल्टन वक्तृता' है जिसमें उन्होने यूरोप के आर-पार सोवियत 'लौह आवरण' (Iron Curtain) की निन्दा करते हुए सोवियत खतरे से ईसाई सभ्यता की रक्षा करने तथा साम्यवादी निरकुशता द्वारा गुलाम बनाए गए लोगो को स्वतन्त्र कराने के लिए एक एंग्लो-अमेरिकी मैत्री सन्धि पर बल दिया था। शीतयुद्ध एक सैद्धान्तिक संघर्ष है, इस सम्बन्ध में रूसी दावे की पुष्टि उस घोषणा-पत्र के निम्नलिखित अंशो द्वारा की जा सकती है जो 5 अक्तूबर, 1947 को रूस सहित 18 प्रमुख साम्यवादी देशो के प्रतिनिधियो द्वारा मास्को तथा वारसा में एक साथ प्रसारित किया गया था—

"........ ... दो विरोधी राजनीतिक विचारधाराएँ उजागर हो गई हैं। एक ओर सोवियत संघ तथा अन्य लोकतन्त्रीय राज्यो का उद्देश्य साम्राज्यवाद का विनाश करना तथा लोकतन्त्र को मजबूत बनाना है। दूसरी ओर इंग्लैण्ड तथा अमेरिका का उद्देश्य साम्राज्यवाद को मजबूत बनाना तथा लोकतन्त्र का गला घोटना है। चूँकि सोवियत संघ तथा लोकतान्त्रिक देश विश्व-प्रभुत्व एवं लोकतन्त्रीय आन्दोलनो के दमन की साम्राज्यवादी आकांक्षाओ की पूर्ति में बाधक हैं इसलिए इंग्लैण्ड तथा अमेरिका के खूनी साम्राज्यवादियो ने सोवियत संघ तथा नए लोकतन्त्र के प्रतीक अन्य देशो के विरुद्ध एक अभियान प्रारम्भ कर दिया है।........इन परिस्थितियो में साम्राज्यवाद-विरोधी लोकतन्त्रीय समुदाय के लिए संगठित होना तथा साम्राज्यवादी समुदाय की

प्रमुख शक्तियों के विरुद्ध अपनी नीति निश्चित करने हेतु एक सामान्य मञ्च (Common Platform) का निर्माण करना आवश्यक है।"

निष्कर्ष यही निकलता है कि शीतयुद्ध को एक सैद्धान्तिक संघर्ष की संज्ञा दिया जाना गलत नहीं है, पर यह कहना अवश्य भ्रामक है कि यह केवल एक सैद्धान्तिक संघर्ष है। शीतयुद्ध और सैद्धान्तिक संघर्ष पर्यायवाची नहीं हैं बल्कि सैद्धान्तिक संघर्ष शीतयुद्ध के एक प्रधान कारण के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। नेतृत्व की होड़, प्रभाव-विस्तार की होड़, शक्ति-प्रतिस्पर्द्धा, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक समस्याएँ आदि अनेक अन्य तत्त्व भी हैं जो शीतयुद्ध भड़काते हैं।

6 गुट–निरपेक्षता

(NON-ALIGNMENT)

"यदि हम अपने आपको किसी एक गुट के साथ संयुक्त कर लेते हैं तो शायद एक प्रकार से वह अच्छा कदम सिद्ध होगा, लेकिन हमें ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण दुनिया को इससे लाभ की अपेक्षा हानि ही होगी। इससे हम दुनिया में अपना प्रभाव काम में नहीं ला सकेंगे।" —जवाहरलाल नेहरू

गुट-निरपेक्षता अथवा असंलग्नता की नीति को सर्वप्रथम व्यावहारिक रूप देने का श्रेय भारत को है। स्वतन्त्र भारत ने अपनी विदेश नीति का इसे आधार-स्तम्भ बनाया और कठोर बाधाओं के बावजूद इस नीति को आगे बढ़ाया। धीरे-धीरे गुट-निरपेक्षता की नीति अपनाने वाले देशों की संख्या में वृद्धि होती गई। सन् 1961 में बेलग्रेड के गुट-निरपेक्ष देशों के प्रथम शिखर सम्मेलन में केवल 25 देश सम्मिलित हुए थे जबकि सन् 1973 में अल्जीरिया में सम्पन्न शिखर सम्मेलन में 76 देशों ने भाग लिया। वर्तमान प्रवृत्ति यही है कि जो भी राष्ट्र गुलामी की बेड़ियों से मुक्त होकर स्वतन्त्र सम्प्रभु राष्ट्रों के रूप में उदित हो रहे हैं वे अधिकांशतः गुट-निरपेक्ष नीति को ही अपनाना श्रेयस्कर समझते हैं। सबसे ताजा उदाहरण अप्रैल, 1975 में कम्बोडिया में लोननोल सरकार के पलायन के उपरान्त विजयी सिहानुक सरकार की घोषणा है जिसमें कम्बोडिया के लिए गुट-निरपेक्षता की नीति को स्वीकार किया गया है। भारत विश्व के सभी गुट-निरपेक्ष देशों की 'आशा' है और विश्व-पटल पर भारत की आवाज का आज पहले से अधिक महत्त्व है। महाशक्तियाँ चाहे गुट-निरपेक्षता की नीति में हृदय से विश्वास न करती हों, लेकिन प्रकट रूप में इस नीति के प्रति वे सम्मान प्रदर्शित करती हैं। साम्यवादी चीन, जो विस्तारवादी और सैनिकवादी नीति का अनुसरण कर रहा है, स्वयं को गुट-निरपेक्ष कहलाना ही अधिक पसन्द करता है। पाकिस्तान जैसे देश के लिए गुट-निरपेक्ष शब्द का प्रयोग कोई अर्थ नहीं रखता, फिर भी वह गुट-निरपेक्ष देशों के सम्मेलन में प्रवेश का प्रयत्न करता रहता है। इससे यह स्पष्ट है कि गुट-निरपेक्षता की नीति आज अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में अपनी जड़ जमाकर एक 'वास्तविकता' बन गई है।

गुट-निरपेक्षता का अर्थ और उसके तत्व

गुट-निरपेक्षता का सरल अर्थ है विभिन्न शक्ति-गुटो से तटस्थ या अलग रहते हुए अपनी स्वतन्त्र निर्णय-नीति और राष्ट्रीय हित के अनुसार न्याय का समर्थन करना। इसका अर्थ अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे 'तटस्थता' (Neutrality) नही है। गुट-निरपेक्ष देश विश्व की घटनाओं के प्रति उदासीन नही रहते बल्कि एक ऐसी स्पष्ट और रचनात्मक नीति का अनुसरण करते हैं जो विश्व-शान्ति की स्थापना में सहायक हो। भारत सरकार के एक प्रकाशन के अनुसार—"गुट-निरपेक्षता का अर्थ है अपनी स्वतन्त्र रीति-नीति। गुटों से अलग रहने से हर प्रश्न के औचित्य-अनौचित्य को देखा जा सकता है। एक गुट के साथ जुडकर उचित-अनुचित का विचार किए बिना आंख मूंदकर पीछे-पीछे चलना गुट-निरपेक्षता नही है।" 'तटस्थता' और 'गुट-निरपेक्षता' पर्यायवाची शब्द नही हैं। इनमे यह समानता तो है कि दोनो के अन्तर्गत शीतयुद्ध के समय संघर्ष से पृथक् रह जाता है, लेकिन आधारभूत अन्तर यह है कि जहाँ वास्तविक युद्ध छिड़ने पर एक तटस्थ राष्ट्र युद्ध से पृथक् रहता है वहाँ गुट-निरपेक्ष देश युद्ध मे किसी भी पक्ष की ओर से उलझ सकता है। न्याय का समर्थन करते हुए उसकी विदेश नीति सकारात्मक रूप मे सचालित होती है। स्विट्जरलैण्ड एक 'तटस्थ' देश है जबकि भारत एक 'गुट-निरपेक्ष' देश है। गुट-निरपेक्षता के अग्रदूत स्व. नेहरू ने कहा था—"मैं 'तटस्थ' शब्द का प्रयोग नही करता क्योकि उसका प्रयोग सामान्य रूप से युद्धकाल मे होता है। शान्ति-काल मे भी इससे एक प्रकार युद्ध की मनोवृत्ति प्रकट होती है।" जॉर्ज लिस्का ने लिखा है कि—"किसी विवाद के सन्दर्भ मे यह जानते हुए कि कौन सही है और कौन गलत है, किसी का पक्ष न लेना तटस्थता है, किन्तु असंलग्नता या गुट-निरपेक्षता का अर्थ है सही और गलत मे भेद करना तथा सदैव सही नीति का समर्थन करना।"[1]

गुट-निरपेक्षता कोई निष्क्रिय सिद्धान्त नही है। यह एक सक्रिय और स्वतन्त्र सिद्धान्त है। यह नीति चुप्पी लगाकर बैठ जाने की या अन्तर्राष्ट्रीय घटना-चक्र से सन्यास लेने की नही है, बल्कि इसके अन्तर्गत स्वतन्त्र राष्ट्रो के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किए जाते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे न्यायपूर्ण ढग से सक्रिय भाग लिया जा सकता है। गुट-निरपेक्षता का स्पष्ट अभिप्राय है किसी भी देश के साथ सैनिक गुटबन्दी मे सम्मिलित न होना, पश्चिमी या पूर्वी गुट के किसी भी विशेष देश के साथ सैनिक दृष्टि से न बँधना, किसी भी प्रकार की आक्रामक सन्धि से अलग रहना, शीतयुद्ध से पृथक् रहना, राष्ट्रीय हित का ध्यान रखते हुए न्यायोचित पक्ष मे अपनी विदेश नीति का संचालन करना। सन् 1961 में गुट-निरपेक्षता के तीन कर्णधारों नेहरू, नासिर और टीटो ने इसके पाँच आधार अथवा तत्व स्वीकार किए थे—

(1) सदस्य-देश स्वतन्त्र नीति पर चलता हो;
(2) सदस्य-देश उपनिवेशवाद का विरोध करता हो;

1. *M. C. Chagla* : Quoted from 'An Ambassador Speaks', p 3.

(3) सदस्य-देश किसी सैनिक गुट का सदस्य न हो;

(4) सदस्य-देश ने किसी बड़ी ताकत के साथ द्विपक्षीय समझौता न किया हो; एव

(5) सदस्य-देश ने किसी बड़ी ताकत के साथ अपने क्षेत्र मे सैनिक अड्डा बनाने की अनुमति न दी हो।

गुट-निरपेक्षता की जो नींव भारत ने सन् 1946–47 मे रखी वह समय के साथ और भी अधिक दृढ़ बन चुकी है। स्व. नेहरू के ये शब्द आज भी इस नीति के सन्दर्भ मे सजीव हैं—

"जहाँ स्वतन्त्रता के लिए खतरा उपस्थित हो, न्याय को धमकी दी जाती हो, अथवा जहाँ आक्रमण होता हो, वहाँ न तो हम तटस्थ रह सकते हैं और न ही तटस्थ रहेंगे।"

पाकिस्तान के अत्याचारो से मुक्ति दिलाकर बगला देश के उदय मे भारत ने जो ऐतिहासिक भूमिका अदा की वह स्व. नेहरू के उपर्युक्त शब्दो की पुष्टि करती है। इससे सिद्ध होता है कि गुट-निरपेक्षता का अर्थ 'थोथा शान्तिवाद' नही है। यह निर्भयता और साहस की नीति है, कायरता की नहीं।

गुट-निरपेक्षता का विकास : प्रोत्साहन देने वाले कारक

गुट-निरपेक्षता की नीति सैद्धान्तिक रूप में तो बहुत पहले से विद्यमान थी लेकिन इसे व्यावहारिक और साकार रूप मिला भारत के स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप मे उदय होने पर। इसके बाद कुछ और भी राष्ट्रो ने गुट-निरपेक्षता की नीति को अपनाया। इनमें प्रमुख थे–इण्डोनेशिया, यूगोस्लाविया तथा सयुक्त अरब गणराज्य लेकिन छठे और सातवें दशक मे एशिया और अफ्रीका के अनेक राष्ट्र स्वतन्त्र हुए जिनमें से अधिकांश ने गुट-निरपेक्षता को राष्ट्रीय नीति के रूप में अपनाया और आज विश्व के बहुसख्यक देश इस नीति का समर्थन करते हैं तथा इसे मान्यता देते हैं जब सितम्बर, 1961 मे बेलग्रेड में गुट-निरपेक्ष देशो का प्रथम शिखर सम्मेलन हुआ उसमें 25 देश सम्मिलित हुए। सन् 1964 के काहिरा शिखर सम्मेलन में 74 गुट निरपेक्ष देशो ने भाग लिया; सन् 1970 के लुसाका सम्मेलन में यह सख्या 54 पहुँच गई और सन् 1973 में अल्जीरिया में गुट-निरपेक्ष राष्ट्रो का जो सम्मेलन हुआ उसमें 76 सदस्य-देशो ने भाग लिया।

गुट-निरपेक्षता की इस लोकप्रियता के कुछ मुख्य कारण ये हैं—

1. राष्ट्रवाद की भावना—नवोदित राष्ट्रो के नेता गुट-निरपेक्षता के समर्थन में राष्ट्रवाद का आश्रय लेते रहते हैं। फ्रास, जर्मनी और ग्रेट-ब्रिटेन का इतिहास भी बताता है कि ये देश राष्ट्रवाद की भावना के कारण ही तटस्थता की नीति से प्रभावित हुए।

2. उपनिवेशवाद का विरोध—नवोदित अफ्रेशियाई राष्ट्रो मे यह भय विद्यमान रहा है कि बड़े राष्ट्रो के साथ सैनिक सन्धियों मे बँध जाने पर वे फिर से उनके दबाव मे आ जाएँगे। उपनिवेशवाद का कड़वा फल चखने के बाद अब नवोदित देश य

समझने लगे हैं कि गुटों से निरपेक्ष रहकर ही वे अपने आत्म-सम्मान की रक्षा कर सकते हैं।

3. दोनों गुटों से सहायता प्राप्त करने की इच्छा—नवोदित राज्यों को अपने आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए उन्नत राष्ट्रों से आर्थिक और प्राविधिक सहायता की आवश्यकता रहती है। गुट-निरपेक्षता की नीति अपनाकर ये देश पूँजीवादी और साम्यवादी दोनों ही गुटों से सहायता लेने में सफल होते हैं। फलस्वरूप गुट-निरपेक्षता की नीति अधिकाधिक लोकप्रिय होती जा रही है। यही एक ऐसी नीति है जिस पर चलकर बिना शर्त सहायता ली जा सकती है।

4. जातीय एवं सांस्कृतिक पहलू—गुट-निरपेक्षता की नीति का एक जातीय और सांस्कृतिक पहलू भी है इस नीति के समर्थक मुख्यत एशिया और अफ्रीका के वे देश हैं जिनका यूरोपीय राष्ट्रों ने आर्थिक और राजनीतिक शोषण किया। ये देश अश्वेत हैं और उनमें जातीय तथा सांस्कृतिक समानताएँ हैं। सांस्कृतिक एकता की कड़ियाँ यद्यपि मजबूत नहीं हैं, तथापि इस बारे में सभी एकमत हैं कि वे किसी भी बड़ी शक्ति के अधीन न रहें।

5. शान्तिपूर्ण विकास की इच्छा—गुटीय प्रतिस्पर्द्धा नवोदित राष्ट्रों के लिए हानिकारक है। शान्तिपूर्ण विकास के लिए आवश्यक है कि गुटों से पृथक् रहने की नीति का अनुसरण किया जाए।

गुट-निरपेक्षता की अभिव्यक्ति : विभिन्न सम्मेलन

गुट-निरपेक्ष देशों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गई और इस नीति की अभिव्यक्ति समय-समय पर होने वाले विभिन्न सम्मेलनों में हुई है। गुट-निरपेक्ष देश कभी शिखर-सम्मेलनों का आयोजन करते हैं तो कभी विदेशमन्त्रियों के सम्मेलन का। इससे चार मुख्य लाभ होते हैं—(1) गुट-निरपेक्षता की लोकप्रियता में वृद्धि होती है (2) अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर गुट-निरपेक्ष देशों के दृष्टिकोण की स्पष्ट रूप में अभिव्यक्ति होती है, (3) गुट-निरपेक्ष देशों में पारस्परिक राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक सहयोग की वृद्धि होती है, एवं (4) विश्व के राजनीतिक रंगमंच पर गुट-निरपेक्ष देशों की आवाज को बल मिलता है।

अभी तक गुट-निरपेक्ष देशों के जो महत्त्वपूर्ण सम्मेलन और विदेशमन्त्री-सम्मेलन हुए हैं वे संक्षिप्त में निम्नलिखित हैं—

प्रथम शिखर सम्मेलन (बेलग्रेड), 1961

सितम्बर, 1961 में बेलग्रेड में गुट-निरपेक्ष देशों का प्रथम शिखर सम्मेलन हुआ जिसमें 25 देश सम्मिलित हुए। सम्मेलन के मुख्य विचार-बिन्दु ये थे—

1. महाशक्तियों से अनुरोध किया गया कि वे शीतयुद्ध की उग्रता कम करें, आपसी बातचीत द्वारा समस्याओं के हल खोजें और निःशस्त्रीकरण के लिए सक्रिय रूप से प्रयास करें।

2. विश्व में शान्ति-स्थापना के लिए सभी देशों के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक पिछड़ेपन को दूर करने पर बल दिया गया।

3. विज्ञप्ति में कहा गया कि सभी देशो को अपने ढग से शासन-संचालन की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए और किसी के घरेलू मामलो मे विदेशी शक्तियो को हस्तक्षेप नही करना चाहिए।

4. दक्षिण अफ्रीका की रगभेद नीति की निन्दा की गई।

5. विश्व मे सैनिक अड्डो को समाप्त करने की अपील की गई।

6. सभी विचारधाराओ के सह-अस्तित्व को विश्व-शान्ति के लिए आवश्यक माना गया। यह भी कहा गया कि सयुक्त राष्ट्रसघ के निर्णयो को पूरी मान्यता दी जानी चाहिए।

बेलग्रेड सम्मेलन मे कुछ मतभेद भी उभरे। इण्डोनेशिया के डॉ. सुकार्णो ने उपनिवेशवाद को समकालीन विश्व की बुराइयो की जड बतलाया जबकि पण्डित नेहरू ने विश्व-शान्ति की स्थापना को मुख्य स्थान दिया।

द्वितीय शिखर सम्मेलन (काहिरा), 1964

अक्तूबर, 1964 मे काहिरा मे गुट-निरपेक्ष राष्ट्रो का दूसरा शिखर सम्मेलन हुआ जिसमे 47 देशो ने भाग लिया। इनके अतिरिक्त 11 देशो के पर्यवेक्षक भी सम्मिलित हुए। सम्मेलन का उद्देश्य गुट-निरपेक्ष क्षेत्र को विस्तृत करना और इसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को कम करना था।

सम्मेलन मे भारतीय प्रधान मन्त्री स्वर्गीय शास्त्री ने विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए एक पांच-सूत्री प्रस्ताव प्रस्तुत किया जो इन प्रश्नो से सम्बन्धित था—(i) अणु नि शस्त्रीकरण; (ii) सीमा-विवादों का शान्तिपूर्वक हल, (iii) विदेशी प्रभुत्व, आक्रमण एव तोड-फोड की कार्यवाहियो से मुक्ति, (iv) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा आर्थिक विकास, एव (v) सयुक्त राष्ट्रसघ के कार्यक्रम का समर्थन। भारत ने राष्ट्रों के लिए आचार-सहिता सम्बन्धी एक 10 सूत्री योजना भी प्रस्तुत की। सोवियत सघ ने सम्मेलन के घोषणापत्र की बहुत सराहना की और उसे शान्तिवादी तथा सह्अस्तित्व के विचारो के अनुकूल बताया।

तृतीय शिखर सम्मेलन (लुसाका), 1970

सितम्बर, 1970 मे गुट-निरपेक्ष देशो का तीसरा शिखर सम्मेलन लुसाका मे हुआ जिसमे 54 देशो ने भाग लिया। इसके अतिरिक्त 9 पर्यवेक्षक सम्मिलित हुए। सम्मेलन के मुख्य विचार-बिन्दु ये थे—

1. सम्मेलन ने विश्व के सम्पन्न और निर्धन देशो की खाई की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए आर्थिक तथा सुरक्षात्मक आवश्यकताओ पर बल दिया।

2. पुराने उपनिवेशवाद के साथ-साथ नव-उपनिवेशवाद की भी आलोचना की गई।

3. सम्मेलन ने गुट-निरपेक्ष दलो का स्थायी सगठन बनाने और उसका कार्यालय स्थापित करने के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया क्योंकि इससे गुट-निरपेक्षता की भावना को ठेस पहुँचने की सम्भावना थी। भारत के कड़े विरोध के कारण ऐसा संगठन नही बन पाया।

जार्जटाउन सम्मेलन, अगस्त 1972

गुट-निरपेक्ष देशों के विदेश मन्त्रियों का एक चार दिवसीय सम्मेलन जार्जटाउन में हुआ। एक घोषणा का प्रस्ताव स्वीकृत करने के उपरान्त सम्मेलन समाप्त हो गया। इस घोषणा मे निम्नलिखित मुख्य बातें थीं—

1. गुट-निरपेक्षता के सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देते हुए अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विकास पर बल दिया गया।

2. हिन्द-चीन, पश्चिमी एशिया और अफ्रीका मे संघर्षों पर चिन्ता प्रकट की गई।

3. यह स्पष्ट किया गया कि संयुक्तराष्ट्र महासभा की हिन्द महासागर को शान्ति क्षेत्र रखने की घोषणा पर अमल किया जाए।

4. दक्षिण वियतनाम की अस्थायी क्रान्तिकारी सरकार की योजना का और पेकिंग स्थित कम्बोडिया की सिहानुक सरकार के पांच सूत्री प्रस्ताव का समर्थन किया गया। यह मांग की गई कि अमेरिकी फौजों को वियतनाम से शीघ्र वापस चला जाना चाहिए।

सम्मेलन मे भारत सहित 58 देशों ने भाग लिया। सम्मेलन की आर्थिक समिति की रिपोर्ट मे कहा गया कि गरीबी और बेरोजगारी दूर करने के लिए गुट-निरपेक्ष देशो को आत्म-निर्भरता पर जोर देना चाहिए। इस बात पर भी बल दिया गया कि सदस्य देश द्वि-पक्षीय व्यापार मे यथासम्भव राष्ट्रीय मुद्राओं का उपयोग करें।

सम्मेलन के अन्तिम अधिवेशन मे पारित एक प्रस्ताव मे अमेरिका की आक्रमणकारी नीति और हिन्द-चीन मे युद्ध विस्तार की कडे शब्दो मे निन्दा की गई।

चतुर्थ शिखर सम्मेलन (अल्जीरिया), 1973

सितम्बर, 1973 मे 4 से 8 तारीख तक गुट-निरपेक्ष राष्ट्रो का अल्जीरिया मे जो शिखर सम्मेलन हुआ उसमे 76 देशो ने भाग लिया। यह गुट-निरपेक्ष देशों का अब तक का सबसे बडा शिखर-सम्मेलन था। सम्मेलन के मुख्य विचार-बिन्दु इस प्रकार थे—

1. लीबिया और अल्जीरिया के इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया गया कि गुट-निरपेक्षता की एक नई परिभाषा की जाए और गुट-निरपेक्ष देशों के लिए नया विधान बनाया जाए।

2 इस प्रस्ताव को भी सर्वसम्मति नही मिल सकी कि सम्मेलन के लिए एक स्थायी सचिवालय का निर्माण किया जाए। यही तय किया गया कि वर्तमान प्रबन्ध-व्यवस्था चालू रखी जाए।

3. घोषणापत्र मे सुझाव दिया गया कि तटस्थ राष्ट्र कम्बोडिया के राजकुमार सिहानुक की निर्वासित सरकार को मान्यता दें। यह भी कहा गया कि मिस्र सीरिया और जोर्डन को उन क्षेत्रो की मुक्ति के लिए राजनयिक सहयोग दिया जाए जो इजराइल ने अपने अधिकार में कर लिए हैं। वियतनाम की अस्थायी क्रान्तिकारी सरकार को भी राजनयिक सहयोग देने की सिफारिश की गई।

4. फिडेल कास्ट्रो ने घोषणा की कि क्यूबा इजराइल से अपने राजनयिक सम्बन्ध तोड़ रहा है।

5. अफ्रीकी मुक्ति-आन्दोलनों को सहयोग दिए जाने का प्रश्न सम्मेलन में कई बार उठाया गया।

6. फिडेल कास्ट्रो ने रूस को गुट-निरपेक्ष देशों का समर्थक बताया जबकि लैटिन अमेरिकी देशों, विशेषकर ब्राजील पर उन्होंने यह आरोप लगाया कि वे अमेरिकी साम्राज्यवाद को प्रश्रय दे रहे हैं।

7. भारतीय प्रधानमन्त्री श्रीमती गांधी ने कहा कि कुछ बड़े देशों द्वारा दुनिया पर प्रभुत्व जमाए रखने के प्रयत्नों का प्रतिरोध किया जाना चाहिए।

8. सम्मेलन में बड़े राष्ट्रों की चर्चा और आलोचना हुई, पर चीन का उल्लेख नहीं हुआ। प्रेक्षकों ने यह महसूस किया कि शिखर-सम्मेलन में पश्चिमी देशों से अधिक दिलचस्पी रूस और चीन ने ली।

9 बड़े राष्ट्रों (रूस-अमेरिका) के बीच सम्बन्ध-सुधार का स्वागत किया गया, किन्तु यह भी कहा गया कि सम्बन्ध-सुधार से होने वाले लाभ सभी राष्ट्रों में समान रूप से बँटने चाहिएँ। दूसरे शब्दों में यह स्पष्ट कर दिया गया कि सम्बन्ध-सुधार के परिणाम बड़े राष्ट्रों द्वारा छोटे राष्ट्रों के शोषण के नए रूपों में विकसित नहीं होने चाहिए।[1]

अल्जीयर्स सम्मेलन, 1974

अल्जीरिया की राजधानी अल्जीयर्स में 17 गुट-निरपेक्ष देशों के विदेश मन्त्रियों का तीन दिवसीय सम्मेलन (20 से 22 मार्च, 1974) सम्पन्न हुआ। सम्मेलन में निम्न बातों पर विचार हुआ—

1. हिन्द महासागर में अमेरिका द्वारा डियागो गार्सिया को नौ-सैनिक अड्डा बनाने के निश्चय की आलोचना की गई।

2 तेल-उत्पादक देशों से अपील की गई कि वे विकासशील देशों के प्रति नरम रवैया अपनाएँ। तेल के भावों में वृद्धि पर चिन्ता व्यक्त की गई।

3. गुयाना, श्रीलंका, नेपाल और लाइबेरिया का एक अध्ययन-गुट बनाया गया जिसे तेल-उत्पादक देशों के संगठन के साथ परस्पर सहयोग और तालमेल द्वारा समस्याओं को सुलझाने के लिए विचार-विमर्श करने का कार्य सौंपा गया।

4. सम्मेलन ने एक अन्तर्सरकारी गुट का भी गठन किया जिसको यह दायित्व सौंपा गया कि वह विभिन्न देशों में होने वाले कच्चे माल का जायजा ले और बड़े देशों के साथ कच्चे माल के बारे में समझौता करने की दिशा में अपनी राय दे।[2]

1. दिनमान, 16 सितम्बर 1973, पृष्ठ 31-32.
2. दिनमान, 31 मार्च 1974, पृष्ठ 28-29.

मार्च, 1975 में हवाना सम्मेलन

मार्च, 1975 मे 17 गुट-निरपेक्ष देशों के विदेश मन्त्रियों का एक सम्मेलन हवाना में हुआ। सम्मेलन की विज्ञप्ति मे कई अन्तर्राष्ट्रीय मामले सामने आए—

1. हिन्द महासागर मे ब्रिटेन और अमेरिका की उपस्थिति की निन्दा की गई। इस बात पर गहरी चिन्ता प्रकट की गई कि इस क्षेत्र के विदेशी अड्डों पर सैनिक शक्ति बढायी जा रही है और महाशक्तियाँ इस क्षेत्र मे तनावपूर्ण वातावरण उत्पन्न कर रही है। महाशक्तियों के इस रवैये को हिन्दमहासागरीय क्षेत्र के राज्यो की स्वतन्त्रता और क्षेत्रीय अखण्डता पर आघात माना गया। डियागो गार्सिया में सैनिक गतिविधि के बढने पर विशेष चिन्ता प्रकट की गई।

2 सयुक्त राष्ट्रसघ के उस प्रस्ताव का समर्थन किया गया जिसमें हिन्दमहासागर को शान्ति-क्षेत्र बनाने का समर्थन किया गया था।

3. भारतीय विदेशमन्त्री श्री चह्वाण ने अपने भाषण मे अमेरिका पर सीधा आरोप लगाया कि वह इस क्षेत्र के अपने मित्रों को विनाशकारी हथियार देकर प्रतिस्पर्द्धा का वातावरण बना रहा है।

4. अन्य राजनीतिक महत्त्वपूर्ण प्रश्नो पर भी विचार-विमर्श हुआ, जैसे तनाव मे शिथिलता, पश्चिमी एशिया मे उपनिवेशों की समाप्ति, हिन्द-चीन तथा साइप्रस। विदेशमन्त्रियों की समन्वय समिति (या ब्यूरो) द्वारा फिलिस्तीन के प्रश्न पर अलग से एक प्रस्ताव स्वीकृत किया गया जिसमे इस आवश्यकता वा दृढता से समर्थन किया गया कि गुट-निरपेक्ष देश इस विषय से सम्बन्धित सयुक्त राष्ट्र के प्रस्तावों के अनुपालन मे तथा गुट-निरपेक्षता के सिद्धान्तो तथा उद्देश्यो के अनुरूप फिलिस्तीन मे न्यायसगत तथा स्थायी शान्ति की स्थापना के लिए किए गए प्रयासों मे खुलकर तथा ठोस योगदान करें।

5. बैठक के सम्मुख आर्थिक क्षेत्र के प्रमुख प्रश्नो मे एक महत्त्व का प्रश्न था—अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सक्ट से अत्यन्त गम्भीर रूप से प्रभावित देशो की जटिल समस्या। अन्तिम घोषणा के आर्थिक खण्ड मे ब्यूरो ने दूसरी बातों के अलावा अपने इस विश्वास की पुनः पुष्टि की कि विश्व की आर्थिक समस्याओ के समाधान के लिए यह आवश्यक है कि समस्त ससार इसके लिए ऐसे पारस्परिक सहयोग से कार्य करे जो नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था सम्बन्धी घोषणा और कार्यक्रम के अनुसार सभी देशो की समानता और सम्मान पर आधारित हो। साथ ही ब्यूरो ने राज्यों के आर्थिक अधिकार और दायित्व सम्बन्धी चार्टर को क्रियान्वित करने की आवश्यकता पर भी बल दिया जो अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धो के क्षेत्र मे नूतन युग की स्थापना की दिशा मे एक महत्त्वपूर्ण कदम था।

अगस्त, 1975 में लीमा सम्मेलन

गुट निरपेक्ष देशो के विदेश मन्त्रियो का एक सम्मेलन 25 से 30 अगस्त, 1975 तक लीमा (पीरू) मे सम्पन्न हुआ। सम्मेलन ने 'परस्पर सहायता एव एकता का लीमा कार्यक्रम' शीर्षक एक घोषणा प्रसारित की। घोषणा के आर्थिक खण्ड मे

नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की स्थापना के लिए गुट-निरपेक्ष देशो की एकता एव बन्धुत्व को सुदृढ बनाने की एक योजना भी शामिल है। इसमे दो भागो मे 'विकासशील देशो के बीच सहयोग तथा विकसित देशों से सहयोग' सम्बन्धी एक क्रियात्मक योजना भी है। सम्मेलन मे विशिष्ट राजनीतिक एव आर्थिक प्रश्नो पर भी प्रस्ताव स्वीकृत हुए। इस सम्मेलन मे 82 सदस्य देशो तथा कई पर्यवेक्षको ने भाग लिया।

सम्मेलन का एक महत्वपूर्ण पहलू यह था कि कुछ गुटबद्ध देशो ने भी इसमे पर्यवेक्षक तथा अतिथि के रूप मे भाग लेने मे रुचि प्रदर्शित की। महान् शक्तियो की प्रतिस्पर्द्धा के सन्दर्भ मे किए गए सैनिक समझौतो मे सम्बद्ध तथा अपने क्षेत्र मे विदेशी सैनिक अड्डे रखने वाले देशो को गुट-निरपेक्ष सम्मेलनो मे नही बुलाया जाता था। अत विचार-विमर्श के बाद उन देशो को, जिन्होने अपने प्रतिनिधि लीमा मे भेज दिए थे विशेष तौर से अतिथि के रूप मे इस शर्त पर आमन्त्रित कर दिया गया कि अगस्त, 1976 मे कोलम्बो मे होने वाले गुट-निरपेक्ष सम्मेलन से पहले तथा बाद मे इस पूरे प्रश्न पर पुनर्विचार किया जाएगा।

सम्मेलन मे राजनीतिक प्रश्नो के अन्तर्गत मध्यपूर्व तथा फिलिस्तीन, साइप्रस, इण्डोचीन और हिन्द महासागर के बारे मे विचार-विमर्श हुआ। इन प्रश्नो पर गुट-निरपेक्ष देशों के पहले दृष्टिकोण को पुन. दोहराया गया। इण्डोचीन के पुनर्निर्माण मे सहायता के लिए गुट-निरपेक्ष देशो द्वारा एक स्वैच्छिक एकता निधि स्थापित करने का निर्णय किया गया। सम्मेलन ने हिन्दमहासागर पर एक अलग से प्रस्ताव स्वीकृत किया जिसम इस विषय से सम्बन्धित सयुक्त राष्ट्र के प्रस्तावो को दोहराया गया।

बैठक मे आर्थिक प्रश्नो पर कई ऐतिहासिक निर्णय लिए गए। सम्मेलन ने गुट-निरपेक्ष देशो के आर्थिक एव सामाजिक विकास के लिए एक कोष की स्थापना का अनुमोदन किया। कोष की सदस्यता के लिए समान चन्दा 5,00,000 डॉलर निश्चित किया गया। चन्दे की सम्पूर्ण राशि को निधि को स्थापना के बाद अतिरिक्त स्वैच्छिक चन्दे द्वारा पूरा किया जाएगा। ज्यो ही 40 देश प्रस्ताव पर हस्ताक्षर तथा उसका अनुसमर्थन कर देंगे निधि अस्तित्व मे आ जाएगी। भारत ने प्रस्ताव पर हस्ताक्षर किए।

सम्मेलन ने कच्चे माल तथा विकासशील देशो द्वारा निर्यात किए जाने वाले उत्पादनो के सुरक्षित भण्डार की वित्तीय व्यवस्था के लिए विशेष निधि की स्थापना के सम्बन्ध मे अन्तर्सरकारी विशेषज्ञ दल को समझौते का अन्तिम प्रारुप तैयार करने के लिए अधिकृत किया।

सामूहिक सचार साधनो के क्षेत्र मे सहयोग के लिए गुट-निरपेक्ष देशो की प्रेस-एजेंसियो का एक निकाय स्थापित करने के लिए गुट-निरपेक्ष देशो से परामर्श करने के बाद भारत ने एक प्रस्ताव रखा जिसे सम्मेलन ने स्वीकृत कर लिया।

गुट-निरपेक्ष देशो का मन्त्रिमण्डलीय स्तर का सम्मेलन, दिल्ली, जुलाई 1976

दिल्ली मे 8से 13 जुलाई को आयोजित गुट-निरपेक्ष देशो का मन्त्रिमण्डलीय

स्तर का सम्मेलन इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था कि उसमे ऐसी समाचार एजेंसी पुंज के गठन पर विचार-विमर्श हुआ तो इन देशों की वास्तविक आवश्यकताओं व उपलब्धियों को केन्द्र-बिन्दु मानकर समाचारो का एकत्रण और आदान-प्रदान करेगा। उसके माध्यम से न केवल पश्चिमी देशो की समाचार एजेंसियों पर आश्रित रहने की स्थिति समाप्त होगी, बल्कि एक तटस्थ और पूर्वाग्रह मुक्त दृष्टि से कार्य करने के परिणामस्वरूप इन देशों का वास्तविक स्वरूप भी दुनिया की दृष्टि मे उजागर किया जा सकेगा।

साठ गुट-निरपेक्ष देशों के इस सम्मेलन का उद्घाटन प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने किया। अध्यक्षता केन्द्रीय सूचना राज्यमन्त्री श्री विद्याचरण शुक्ल ने की। श्रीमती गांधी ने अपने भाषण मे गुट-निरपेक्ष देशो के बीच समाचारो के सीधे आदान-प्रदान की आवश्यकता पर बल दिया और समाचार एजेंसी-पुंज के गठन को एक अच्छा प्रारम्भ माना। श्रीमती गांधी ने कहा "हमारा अतीत एक तरह का रहा है, हमारा वर्तमान एक तरह का है और भविष्य भी समान है, शीतयुद्ध के तनाव मे कमी आ जाने के कारण गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का उद्देश्य खत्म नहीं हुआ है।" यह सर्वाधिक सशक्त अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन है। देतां के क्षेत्र मे गुट-निरपेक्ष देशों ने प्रेरक भूमिका निभायी। हमे यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि यह प्रवृत्ति उलटने न पावे। *हममें पारस्परिक विश्वास गहरा होना चाहिए और गलतफहमियाँ* दूर होनी चाहिए। शान्ति को शस्त्रास्त्रो के भण्डार बनाने से खतरा है, लेकिन आर्थिक असमानताएँ भी शान्ति को खतरे मे डाल रही हैं। अपनी स्वाधीनता को सुरक्षित करने की जरूरत है।

श्रीमती गांधी ने गुट-निरपेक्ष देशो और उनके भूतपूर्व शासको के बीच के असमान सांस्कृतिक और आर्थिक सम्बन्ध की भी चर्चा की—"वे ही देश औद्योगिक साज-सामान तथा तकनीकी जानकारी देने के मुख्य स्रोत रहे" उनके अपने पूर्वाग्रह रहे जिसके कारण हमारी छवि को विरूप करके प्रस्तुत किया गया। इसी कारण हमारे लोग उनके उपनिवेशवाद के आसानी के साथ शिकार हो गए।" श्रीमती गांधी ने यह स्पष्ट किया कि अंग्रेजी या फ्रांसीसी भाषा के अध्ययन के प्रति उनके मन मे किसी प्रकार की संकीर्णता की भावना नहीं है। प्रश्न उन पश्चिमी देशो के समाचार एजेंसियो और प्रकाशन संस्थाओ द्वारा प्रस्तुत तथ्य को निर्बाध स्वीकार करने का है। हमे एक दूसरे को सीधे जानना चाहिए। एक दूसरे के सम्पर्क मे रहना चाहिए ताकि हम एक दूसरे के विचारो को उनके मूल रूप मे जान सकें। शक्तिशाली राष्ट्रो के सूचना-माध्यमों के पीछे एक सायास उद्देश्य भूतपूर्व उपनिवेशो यानी नव-स्वतन्त्र देशो की जनता, उसके नेता और उसकी सरकार को बदनाम करना रहा है। जब हमारे बारे में कोई गलत चीज कही जाती है तब हम यह जान सकते हैं कि क्या गलत और क्या सही है। लेकिन दूसरो के बारे मे कोई गलत रपट आती है तब हम तत्काल उसकी तथ्यात्मकता की जानकारी नहीं प्राप्त कर सकते। हम अफ्रीकी घटनाओ के बारे मे अफ्रीका के लोगो से ही सुनना चाहते हैं। इसी प्रकार आप लोगो को भारत

की घटनाओं के बारे में भारतीय व्याख्या पाने की स्थिति में होना चाहिए। यह आश्चर्य की बात है कि एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमेरिका के प्रमुख कवियों, उपन्यासकारों, पत्रकारों और इतिहासकारों के बारे में हम बहुत कम जानते हैं जबकि हम यूरोप और अमेरिका के छोटे से छोटे लेखक से भी परिचित हैं।

(दिनमान 18-24 जुलाई, 1976)

कोलम्बो में पाँचवां निर्गुट शिखर सम्मेलन[1] (16-19 अगस्त, 1976)

गुट-निरपेक्ष देशों का पांचवां ऐतिहासिक शिखर सम्मेलन श्रीलंका की राजधानी कोलम्बो में श्रीलंका की प्रधानमन्त्री श्रीमती सिरिमाओ भण्डारनायके के इस आह्वान के साथ प्रारम्भ हुआ—

"मानव इतिहास में हम ऐसा अध्याय जोड़ें जो साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के हथकण्डों को प्रभावहीन कर दे।"

श्रीमती भण्डारनायके सम्मेलन की अध्यक्षा निर्वाचित हुईं। सम्मेलन की सम्पूर्ण कार्यवाही के महत्त्वपूर्ण बिन्दु ये थे—

"1. श्रीमती भण्डारनायके ने निर्गुट आन्दोलन को संयुक्तराष्ट्र में 'बहुमत के आतंक' की संज्ञा दिए जाने पर टिप्पणी करते हुए कहा कि निर्गुट आन्दोलन न कभी ऐसा रहा है, न उसका ऐसा इरादा है और न ही भविष्य में वह ऐसा रूप लेना चाहता है। उन्होंने घोषणा की—गुट-निरपेक्ष देशों का संघर्ष किसी भी राष्ट्र अथवा समुदाय के विरुद्ध न होकर अन्याय, असहनशीलता, असमानता तथा हस्तक्षेप और चौधराहट के विरुद्ध है। शान्ति सब देशों का अधिकार है, इसलिए इसका दायित्व भी सब पर होना चाहिए।

2. भारत की प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने कहा—सम्मेलन को अधिक न्यायसंगत अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था के निर्माण का सन्देश प्रसारित करना चाहिए। भारतीय नीति की चर्चा करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया कि भारत ने सदैव अपनी कथनी और करनी में स्वतन्त्रता, न्याय, समता तथा सहयोग का पक्ष लिया है। अत्यन्त विषम परिस्थितियों में भी अपने विचारों और सिद्धान्तों पर भारत सदैव दृढ़ रहा है। भारत ने उपनिवेशवाद तथा जातिवाद के सभी स्वरूपों के खिलाफ जोरदार संघर्ष किया है और प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से डाले गए सभी राजनीतिक और आर्थिक दबाव का प्रतिरोध किया है। उन्होंने कहा कि मानवता की अन्तरात्मा' के रूप में गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की अब तक की उपलब्धियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रही हैं, फिर भी हमें व्यापक परिवेश में सोचना है और विघटनकारी प्रवृत्तियों से दूर रहना है। उन्होंने कहा—यह सर्वथा उचित ही है कि एशिया, जिसने विदेशी शासन-काल में यन्त्रणा भोगी है, गुट-निरपेक्षता की भावना अंगीकार करने वालों में अग्रणी है। श्रीमती गांधी ने सदस्य-देशों से एकजुट होकर शान्ति की रक्षापंक्ति सुदृढ़ करने की अपील की।

1. हिन्दुस्तान 16-21 अगस्त, 1976.

3. संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव डॉ. कुर्त वाल्दहीम ने कोलम्बो पहुँचने पर कहा—गुट-निरपेक्ष देशों का कोलम्बो सम्मेलन राष्ट्रसंघ के कार्य और विश्व-शान्ति तथा सुरक्षा में महत्त्वपूर्ण योगदान करेगा।

4. श्रीमती भण्डारनायके ने निर्गुट देशों की नई अर्थ-व्यवस्था के निर्माण के लिए आह्वान किया और इसकी कुछ रूपरेखा भी प्रस्तुत की। उन्होंने कहा कि निर्गुट राष्ट्रों को (1) एक नई मुद्रा का प्रचलन करना चाहिए जिसकी पुश्त पर विकासशील देशों की अपरिमित आर्थिक शक्ति हो, और साथ ही (2) तीसरी दुनिया के लिए एक व्यापारिक बैंक स्थापित करना चाहिए। श्रीमती भण्डारनायके ने कहा कि आर्थिक न्याय की प्राप्ति के संघर्ष में हमें अपने निज की वित्तीय और मौद्रिक प्रणालियों का गठन करना चाहिए। विकासशील देश विकसित देशों की मुद्रा को अपने सुरक्षित विदेशी मुद्रा कोषों में रखते हैं जिससे उनकी मुद्राओं को शक्ति और दृढ़ता प्राप्त होती है। यदि निर्गुट राष्ट्र अपनी निज की अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा का प्रचलन करें और अपनी सुरक्षित मुद्रानिधियों से विकसित देशों की मुद्राओं को धीरे-धीरे निकाल दें तो वे विकसित देशों की आर्थिक शक्ति का मुकाबला कर सकेंगे। श्रीमती भण्डारनायके का दूसरा सुझाव यह था कि तेल, ताँबा, बॉक्साइट और यूरेनियम आदि महत्त्वपूर्ण कच्चे माल के लिए उत्पादक एसोसिएशनें स्थापित की जाएँ ताकि विकासशील देश इन वस्तुओं के लिए उचित मूल्य प्राप्त कर सकें। यदि निर्गुट देशों की अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा और व्यापारिक बैंक स्वतन्त्र रूप से स्थापित हो जाए तो लन्दन, पेरिस, ज्यूरिख और न्यूयॉर्क का आज वित्तीय दृष्टि से जो अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व है वह नहीं रह पाएगा। संयुक्त राष्ट्रीय व्यापार एवं विकास आयोग के अब तक के सम्मेलनों तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक मन्त्रणाओं से यह स्पष्ट है कि विकसित देशों से विकासशील देश कुछ आशा नहीं कर सकते। इसलिए विकासशील देश स्वयं ही परस्पर सहयोग से अपने आर्थिक उद्धार के लिए कुछ कर सकते हैं। यदि सभी निर्गुट देशों की आर्थिक शक्ति संगठित हो जाए तो वे अपने पैरों पर खड़े हो सकते हैं और विकसित देशों की पराश्रयता से उन्हें मुक्ति मिल सकती है।

5. निर्गुट देशों के सम्मेलन द्वारा स्वीकृत आर्थिक घोषणापत्र में नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की स्थापना पर जोर दिया गया। मेजबान देश श्रीलंका द्वारा तैयार किए गए इस घोषणापत्र के प्रारूप में भारत के कई महत्त्वपूर्ण सुझावों का समावेश हुआ। घोषणा-पत्र की मुख्य बातें ये थीं—

(क) गुट-निरपेक्ष देश अनुभव करते हैं कि वर्तमान आर्थिक-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन तथा पुनर्गठन किए बिना सारी दुनिया, खासकर विकासशील देशों की आर्थिक समस्याओं का समाधान असम्भव है। वर्तमान आर्थिक व्यवस्था में अक्षमता विश्व की मण्डियों के हाल के संकटों से स्पष्ट है। समूचा विश्व-समुदाय आज एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था की खोज करने पर विवश हुआ है जो सामान्य शेयर, सार्वभौम समानता, परस्पर-निर्भरता, समान हितों और सहयोग पर आधारित हो।

(ख) बहु-उद्देश्यों नियमों की नीति तथा आचरण की भर्त्सना करते हुए

कहा गया कि ये निगम अपने निजी लाभ के लिए विकासशील देशो के साधनों का शोषण कर उनकी अर्थव्यवस्था को विकृत करते हैं तथा इन देशो की सार्वभौमिकता और आत्म-निर्णय के अधिकारो का उल्लघन करते हैं। ये निगम बहुधा घूस देने और भ्रष्टाचार के अन्य कुत्सित तरीके अपनाते हैं तथा विकासशील देशो को औद्योगिक देशो के अधीन बनाते हैं।

(ग) यदि बडी सैनिक शक्तियां निरस्त्रीकरण की दिशा मे काम करें तथा अपने साधनो का एक बडा भाग विकासशील देशों की आर्थिक स्थिति को सुधारने में व्यय करें तो विकासशील देशो की काफी जरूरतें पूरी हो सकती हैं। यदि ऐसा किया गया तो निकट भविष्य मे ही विकसित तथा विकासशील देशो के बीच की खाई पाटी जा सकती है।

(घ) घोषणापत्र मे विकसित देशो से विश्वव्यापी स्तर पर परस्पर-निर्भरता के सिद्धान्त मे अपनी आस्था प्रकट करने तथा ऐसे कदम उठाने की अपील की गई जिससे वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना को बल मिले और अंतत. नई आर्थिक व्यवस्था विकसित हो।

6 सम्मेलन द्वारा स्वीकृत राजनीतिक घोषणापत्र मे तनाव शैथिल्य' शब्द को कोई स्थान न देकर सभी देशो के लिए स्थायी शान्ति की स्थापना के सन्दर्भ मे 'अन्तर्राष्ट्रीय तनाव मे कमी' वाक्यांश का प्रयोग किया गया। भारत की राय को प्रमुख स्थान दिया गया। राजनीतिक घोषणापत्र मे गुट-निरपेक्ष देशो के राष्ट्राध्यक्षो और शासनाध्यक्षो ने अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ के न्याययुक्त समाधान के लिए प्रभावी भूमिका अदा करने का सकल्प व्यक्त किया।

7 सम्मेलन मे पिछले 15 वर्षों मे हुए परिवर्तनो की समीक्षा की गई तथा वर्तमानकालीन गुट-निरपेक्षता की भूमिका को मूल्यांकन के लिए समीचीन माना गया। सम्मेलन इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की सार्थकता तथा विश्व सदर्भ मे इसकी उत्तरोत्तर बढती भूमिका के कारण इन देशो का यह उत्तरदायित्व बन जाता है कि वे गुट-निरपेक्षता के मूलस्वरूप के सरक्षण के लिए सतत् जागरुक रहे तथा इसके सिद्धान्तो और नीतियो में अपनी अटूट आस्था रखते हुए इस आन्दोलन की एकजुटता तथा अखण्डता की रक्षा के लिए इसके निर्णयो का आदर करें। सम्मेलन मे कहा गया कि अनेक गुट-निरपेक्ष देशो पर कई तरह के दबाव डाले जा रहे हैं, उन पर खुले तौर पर आक्रमण किया गया है अथवा उन्हें धमकियाँ दी गई हैं। इस प्रकार गुट-निरपेक्ष आन्दोलन से सम्बद्ध सभी देशो के विरुद्ध नियोजित ढग से निन्दा, डराने व धमकाने का अभियान चलाया जा रहा है ताकि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे वे अपनी सगठित तथा स्वतन्त्र भूमिका न निभा सकें। सम्मेलन ने गुट-निरपेक्ष देशो के बीच घनिष्ठ एकता का आह्वान किया तथा इसे समय की अपरिहार्य आवश्यकता बताया। इसके अतिरिक्त गुट-निरपेक्ष देशो को समूचे विश्व की प्रगतिशील तथा शान्तिप्रिय शक्तियो के साथ अपना सहयोग जारी रखने पर जोर दिया गया क्योंकि यही एक मार्ग है जिससे वे साम्राज्यवाद का मुकाबला कर सकते हैं।

8. निर्गुट देशो की यह परम्परा रही है कि उनके सम्मेलन में राष्ट्रो के छोटे-मोटे आपसी मामले नही उठाए जाते, परन्तु बगलादेश ने इस परम्परा को ताक पर रखकर इस सम्मेलन मे गगा के पानी के बँटवारे का सवाल उठाया और भारत पर अनेक अनुचित आक्षेप किए। भारत शान्तिपूर्वक वार्ता द्वारा सब समस्याओं को निबटाने की नीति मे आस्था रखता है और बगलादेश के साथ भी वह इसी नीति का अनुसरण कर रहा है, परन्तु बंगलादेश के नेता या तो अकारण भारत का विरोध कर अपने आपको प्रकाश मे लाने और सस्ती प्रसिद्धि अर्जित करने के लिए यह सब कुछ कर रहे हैं या पाकिस्तान अथवा कोई अन्य देश बगलादेश के कन्धे पर रख कर बन्दूक चला रहा है ताकि निर्गुट देशो की एकता और सगठन मे दरार डाली जा सके। इसलिए श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने सम्मेलन मे द्विपक्षीय मामले न उठाने पर जोर दिया क्योंकि इससे सामुदायिक उद्देश्य दृष्टि से ओझल हो सकते है। निर्गुट देश यदि एकता और सगठन की सुदृढ़ता कायम नही रख सकेंगे तो उनकी सामूहिक शक्ति कमजोर होगी और उनके बडी शक्तियो की कठपुतली बन जाने की आशका बढ जाएगी।

9 भूटान नरेश जिग्मे दोरजी वांगचुक ने गुट-निरपेक्ष शिखर सम्मेलन मे इस क्षेत्र के सभी पड़ोसी देशो के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाने के भारत के प्रयास की सराहना की।

कोलम्बो के इस पाँचवें निर्गुट शिखर सम्मेलन मे विश्व के चार महाद्वीपो के 40 से भी अधिक राष्ट्राध्यक्षों तथा शासनाध्यक्षो ने भाग लिया। मालदीव को निर्गुट राष्ट्र सगठन का पूर्ण सदस्य बना लिया गया। इस प्रकार यह देश सगठन का 86वाँ सदस्य देश बना। निर्गुट शिखर सम्मेलन ने विदेश मन्त्री सम्मेलन की सिफारिश के अनुसार 18 उपाध्यक्षो का चुनाव किया। विदेश मन्त्री सम्मेलन ने उपाध्यक्षो की सख्या 14 से बढाकर 18 करने का प्रस्ताव किया था। श्रीलका के मेंडिस को सम्मेलन का महासचिव चुना गया। यह पाँचवाँ शिखर सम्मेलन 19 अगस्त को राजनीतिक और आर्थिक घोषणापत्र स्वीकार करने के बाद समाप्त हो गया। शिखर-सम्मेलन ने निर्गुट देशो का जो आर्थिक कार्यक्रम स्वीकार किया है उसमे अपील की गई कि आर्थिक और सामाजिक विकास के लिए 'एकताकोष' स्थापित कर 1976 के अन्त तक उसको शुरू कर दिया जाए। सम्मेलन के 25 सदस्यीय ब्यूरो मे भारत, श्रीलका, ईराक, सीरिया, फिलिस्तीनी मुक्ति मोर्चा तथा इण्डोनेशिया आम सहमति के आधार पर सदस्य चुन लिए गए। अफगानिस्तान और बगलादेश ब्यूरो में स्थान पाने के लिए अपने दावो पर अडे रहे और तब यह निर्णय किया गया कि तीन वर्ष के कार्यकाल मे शुरू के डेढ वर्ष बगलादेश और शेष डेढ वर्ष अफगानिस्तान सदस्यता ग्रहण करेगा।

श्रीलका मे आयोजित निर्गुट देशो का पाँचवाँ सम्मेलन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे एक जल विभाजक की तरह उभर कर सामने आया। दूसरे महायुद्ध के बाद शीतयुद्ध ने जोर पकड़ा तब अनेक नव-स्वाधीन देशो ने सामरिक सन्धियो को महाशक्तियो की

आर्थिक और राजनीतिक चालबाजी का अंग माना और तीसरी शक्ति—निर्गुट आन्दोलन को जन्म दिया। इसमे भारत, मिस्र और युगोस्लाविया प्रमुख थे। अब शीतयुद्ध काफी ठण्डा पड चुका है और 'देतां' (तनाव रहित या तनाव मे कमी की स्थिति) का रूप ग्रहण करता जा रहा है। यूरोप मे हेलसिंकी सम्मेलन एशिया मे वियतनाम से अमेरिका की वापसी, चीन अमेरिका सवाद, रूस अमेरिका व्यापार का आरम्भ आदि इसके प्रतीक हैं। मगर इससे विकास के अवसरो पर उनकी पकड ढीली नहीं हुई है, हालांकि विपरीत परिस्थितियो के बावजूद निर्गुट देश अपने सकल्प और साधनो के बल पर अपेक्षाकृत कुछ आगे बढे हैं। ये देश वर्षों से एक दूसरे के निकट आने और उन्नत देशो की चौधराहट के विरुद्ध आवाज उठाने का प्रयत्न करते रहे हैं जिसको कई अन्तर्राष्ट्रीय मचो पर अभिव्यक्ति मिलती रही है। सयुक्त राष्ट्रसघ मे तीसरी दुनिया के देशो की सख्या मे वृद्धि पश्चिम के सामन्ती अर्थशास्त्र और विदेशी सहायता पर आधारित विकासवाद के खोखलेपन की प्रतीति, पश्चिमी देशो द्वारा दक्षिण अफ्रीका और रोडेशिया मे अल्पमत गोरी सरकारो का बेहया समर्थन, चीले और अगोलो मे खुला हस्तक्षेप, इन तथा ऐसी ही बातो ने निर्गुट देशो को विश्वास करा दिया कि जब तक कि वे एकजुट नही होगे तब तक वे उद्योग-प्रधान देशो के पिछलग्गू ही बने रहेगे। यह प्रतीति नई नही है—संयुक्तराष्ट्र व्यापार और विकास सम्मेलन, सयुक्तराष्ट्र महासभा, समुद्री कानून सम्मेलन आदि कई जगह पिछडे देशो ने अपने अधिकारो को आग्रहपूर्वक घोषित किया है। कोलम्बो सम्मेलन इसी शृ खला का इसी मोर्चेबन्दी की दिशा मे एक निर्णायक बिन्दु माना जाएगा।

यह सम्मेलन ऐतिहासिक इसलिए था कि निर्गुट आन्दोलन के इतिहास में पहली बार अपने अधिकारो की लडाई को प्रमुखता देते हुए पारस्परिक मतभेदो को गौण स्थान दिया गया, जिससे विश्व राजनीति मे बराबरी का दर्जा प्राप्त हो सके क्योंकि यही उनकी बुनियादी आवश्यकता है। इसी की तार्किक परिणति यह है कि निर्गुट आन्दोलन को साझे का मोर्चा माना गया और नेतृत्व मे साझेदारी के पुराने सिद्धान्त को ज्यादा खुले दिल से स्वीकार किया गया।

गुट-निरपेक्ष सम्मेलन मे भारत की भूमिका—गुट-निरपेक्ष देशो के सम्मेलन मे विभिन्न राष्ट्रो के नेताओ ने वक्तव्य दिए और उनके वक्तव्यो मे कोई बुनियादी अन्तर्विरोध नही रहा। आरम्भ मे गुट-निरपेक्ष देशो के ब्यूरो मे भारत को स्थान दिए जाने का बगलादेश ने विरोध किया, लेकिन उसे इसमे सफलता नही मिली। भारत और श्रीमती इन्दिरा गांधी की प्रतिष्ठा का इससे बडा प्रमाण और क्या हो सकता है कि श्रीमती गांधी के भाषण पर देर तक तालियाँ बजती रही और प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी से मिलने के लिए अनेक देशो के प्रधानमन्त्री तथा विदेशमन्त्री आए। इसका मुख्य कारण यह है कि भारत ने पिछले दस वर्षों मे श्रीमती गांधी के नेतृत्व मे न केवल एक स्वतन्त्र विदेश नीति पर दृढता से अमल किया बल्कि देश में सर्वतोमुखी प्रगति का करिश्मा कर दिखाया। अभी कुछ वर्ष पहले तक भारत को एक पिछडा हुआ देश मान कर उसका उपहास किया जाता था

लेकिन शान्तिपूर्ण प्रयोगो के लिए परमाणु विस्फोट कर और अन्तरिक्ष मे अपना उपग्रह भेजकर भारत ने यन्त्रविधि के क्षेत्र मे अपना दबदबा कायम कर दिया। बगलादेश की लड़ाई मे विजय प्राप्त कर और बाद मे शिमला समझौते के अन्तर्गत पाकिस्तान के साथ अपने सम्बन्ध सुधार कर भारत ने अपनी आन्तरिक शक्ति और सूझबूझ का अनुपम परिचय दिया। इसके गुट-निरपेक्ष देशों के बीच श्रीमती इन्दिरा गांधी की लोकप्रियता व प्रतिष्ठा का बढ़ जाना स्वाभाविक था।

गुट-निरपेक्ष देशो के सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए श्रीमती गांधी ने अपना भाषण जवाहरलाल नेहरू को उद्धृत करते हुए आरम्भ किया। श्रीमती गांधी ने कहा कि सन् 1947 मे एशियायी देशो के नेता पहली बार अपनी एकता व्यक्त करने के लिए नई दिल्ली मे एकत्र हुए थे। उस समय प जवाहरलाल ने हमसे कहा था कि हम अपने पैरों पर खडा होना चाहते हैं और उन सब के साथ सहयोग करना चाहते हैं जो हमारे साथ सहयोग करने को तैयार है।

श्रीमती गांधी ने कहा कि गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के बीज बाडुग सम्मेलन में बोए गए थे और उसकी जड़ें बेलग्रेड मे फूटी। बेलग्रेड से काहिरा, लुसाका और अल्जीयर्स होता हुआ गुट-निरपेक्षता का आन्दोलन जिस मार्ग से गुजरा वह एक शानदार मार्ग था। वर्तमान सम्मेलन गुट-निरपेक्षता के विश्व-दृष्टिकोण का परिचायक है।

गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों के सम्मेलन मे सम्मिलित नए देशो का स्वागत करने के बाद श्रीमती गांधी ने कहा कि गुट-निरपेक्षता की धारणा हमारे देश मे बहुत पहले अर्थात् हमारी राष्ट्रीय स्वाधीनता की लड़ाई के दौरान रूपायित हुई थी। हमारे देश मे इस धारणा का विकास शीतयुद्ध के प्रसार और गुटो के निर्माण से काफी पहले हो चुका था। शीतयुद्ध समाप्त हो चुका है, लेकिन क्या उसके उत्तराधिकार के विषय मे यही बात कही जा सकती है। औपनिवेशिक प्रशासन समाप्त हो चुके हैं, मगर क्या उनके नतीजे भी समाप्त हो चुके हैं। हम मे से अनेक देशों पर भी बाहरी दबाव हैं।

हिन्द महासागर के विषय मे श्रीमती गांधी ने कहा कि हिन्द महासागर के आसपास के सभी देश जो इसे शान्ति का क्षेत्र बनाए रखना चाहते हैं इस क्षेत्र मे सैनिक अड्डो की स्थापना और समुद्री प्रतियोगिता के कारण अशान्त हैं।

महाशक्तियों के बीच तनाव रहित स्थिति की चर्चा करते हुए प्रधानमन्त्री ने कहा कि हम हेलसिंकी समझौते का स्वागत करते हैं। वर्तमान तनावरहित स्थिति भौगोलिक दृष्टि से सीमित तो है ही अपने प्रयोजन मे भी सीमित है, इसे और भी सुदृढ़ किया जाना चाहिए तथा ससार के अन्य भागो मे इसका विस्तार होना चाहिए। आखिरकार यूरोप तनावरहित कैसे बना रह सकता है जबकि ससार के अन्य भागो मे छिटपुट लड़ाइयां और प्रतियोगी घुसपैठ जारी है। तनावरहितता मे गुट-निरपेक्ष देशो तथा अन्य देशो के प्रति आदर भी शामिल होना चाहिए।

गुट-निरपेक्ष देशों की सरकारों का तख्ता उलट कर तनावरहितता सहअस्तित्व का आनन्द नहीं ले सकती, न यह सम्पूर्ण निःशस्त्रीकरण के लिए गम्भीर प्रयत्न किए बिना शान्ति का दौर शुरू कर सकती है। तनावरहितता की परिणति सक्रिय सहअस्तित्व तथा सहयोग में होनी चाहिए जिसमें गुट-निरपेक्ष तथा प्रभाव-क्षेत्र अप्रासंगिक हो जाएँ।

श्रीमती गांधी ने कहा कि विश्व की नई आर्थिक आवश्यकताओं के प्रति उन्नत राष्ट्रों का दृष्टिकोण प्रतिकूल रहा है। हमें खुद स्वयं को आर्थिक दृष्टि से मजबूत बनाने के लिए आपसी सहयोग करना होगा। हमारे सामने चुनौतियाँ और अवसर हैं। चुनौती यह है कि तमाम जबर्दस्त दबावों के बावजूद अपनी बुनियादी एकता को बनाए रखें और अपने सिद्धान्तों पर डटे रहें। अवसर यह है कि सम्मिलित शक्ति और संयुक्त इच्छा से हम सबके लिए शान्ति और स्वाधीनता प्राप्त करें।

(दिनमान, अगस्त-सितम्बर, 1976)

गुट-निरपेक्षता का बदलता हुआ रूप

समय के साथ गुट-निरपेक्षता का रूप निखरता जा रहा है अधिक वास्तविक होता जा रहा है। प्रारम्भ में इसकी नीति आवश्यकता से अधिक आदर्शवादी थी, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की जटिलताओं ने गुट-निरपेक्ष देशों को यह अनुभव करा दिया कि इस नीति को अधिक यथार्थवादी बनाया जाए और राष्ट्रीय हित के तत्व को प्रधानता दी जाए। भारत ने इस नीति को परिष्कृत करने तथा इसके विभिन्न पहलुओं को उजागर करने में सबसे अधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। भारत ही इस नीति का प्रवर्तक था। स्वर्गीय नेहरू ने इसे आदर्शवादी जामा पहनाया था। नेहरू मानवतावाद से ओतप्रोत महापुरुष थे और राजनीति को नैतिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने में सबसे आगे रहते थे। उनका नैतिकतावाद इतना उच्च था कि वे कई बार राष्ट्रीय हित की अनजाने ही उपेक्षा कर बैठते थे। चीन के आक्रमण ने नेहरू के आदर्शवाद को गहरा धक्का पहुँचाया और उन्होंने अपने ही जीवनकाल में गुट-निरपेक्षता की नीति को यथार्थवादी जामा पहनाना शुरू कर दिया। उनके उत्तराधिकारी स्वर्गीय लालबहादुर शास्त्री के समय गुट-निरपेक्षता की नीति पहले से अधिक सक्रिय और यथार्थवादी हो गई। इसमें तुष्टिकरण का जो आवश्यकता से अधिक पुट मिला हुआ था वह शास्त्री के समय कम हो गया। तत्पश्चात् श्रीमती इन्दिरा गाँधी के नेतृत्व में गुट-निरपेक्षता की नीति ने वास्तविक निखार पाया। श्रीमती गाँधी ने यह सिद्ध कर दिया कि किसी भी राष्ट्र के साथ सैनिक सन्धि में बँधे बिना भी एक राष्ट्र कूटनीतिक उपाया तथा गैर-सैनिक मैत्री-सन्धियों के बल पर अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा कर सकता है। श्रीमती गाँधी पूरी तरह गुट-निरपेक्ष रहते हुए भी रूस जैसी महाशक्ति की प्रगाढ़ मैत्री अर्जित करने में सफल हुई और इसीलिए सन् 1971 की भारत-रूस-मैत्री-सन्धि गुट-निरपेक्ष नीति के नए दृष्टिकोण की परिचायक है। इस सन्धि द्वारा बिना सैनिक गुटों में शामिल हुए भारत के राष्ट्रीय हितों की रक्षा की गई है।

हाल ही के वर्षों में गुट-निरपेक्षता की नीति मे पारस्परिक आर्थिक सहयोग के तत्व पर विशेष बल दिया जाने लगा है । काहिरा मे हुए द्वितीय शिखर-सम्मेलन मे गुट-निरपेक्ष देशो के पारस्परिक आर्थिक विकास और सहयोग पर विशेष ध्यान दिया गया और तब से यह पहलू अधिक विकसित हुआ है । विख्यात कूटनीतिज्ञ और संयुक्तराज्य अमेरिका मे भारत के राजदूत टी. एन. कौल के अनुसार—"अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे राजनीतिक पहलू की अपेक्षा आर्थिक पहलू पर उत्तरोत्तर अधिक बल दिए जाने से गुट-निरपेक्षता की धारणा की सार्थकता सिद्ध हुई है ।"

गुट-निरपेक्षता का परस्पर विरोधी स्वरूप भी अस्तित्व में है जिसका स्पष्ट उदाहरण पश्चिमी एशिया मे दृष्टिगोचर होता है । संयुक्त अरब-गणराज्य सीरिया आदि अरब-राष्ट्र इजराइल के साथ सैनिक संघर्ष से विवश होकर सोवियत संघ के साथ इस तरह बँध गए हैं कि गुट-निरपेक्षता सन्देहास्पद बन गई है । फिर भी अरब-राष्ट्र इस बात के प्रति सचेष्ट हैं कि उनकी राजनीतिक प्रभुता पर आँच न आए । दूसरे शब्दो मे पश्चिमी एशिया का यह क्षेत्र एक तरह से सचेत और सावधान गुटबन्दी' का अखाड़ा बन गया है ।

वर्तमान परिस्थितियों में गुट-निरपेक्षता का महत्त्व

आज के युग मे गुट-निरपेक्षता का महत्त्व मुख्यत. इन कारणो से स्पष्ट है—

1. गुट-निरपेक्ष नीति अपनाने वाले राष्ट्रो की संख्या निरन्तर बढती जा रही है ।

2. संयुक्त राष्ट्रसंघ में गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों की आवाज़ आज अधिक सबल है ।

3. गुट-निरपेक्ष जगत् को विश्व की दो महाशक्तियों के बीच सन्तुलनकारी शक्ति के रूप मे मान्यता मिल चुकी है । पूँजीवादी और साम्यवादी दोनो ही गुट गुट-निरपेक्ष राष्ट्रो का समर्थन प्राप्त करने को उत्सुक रहते है । उनमें इन देशो को आर्थिक और प्राविधिक सहायता देने की होड़ सी लगी हुई है । दोनो ही महाशक्तियाँ कूटनीतिक समर्थन देकर अधिकाधिक गुट-निरपेक्ष देशों को अपने पक्ष में करने को उत्सुक हैं ।

4 आज के आणविक युग की माँग है सहअस्तित्व । गुट-निरपेक्षता की नीति इस सहअस्तित्व की धारणा को बल प्रदान करती है । यह 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त में विश्वास करती है ।

5. गुट-निरपेक्षता की नीति शस्त्रीकरण को हतोत्साहित करती है । इसका विशेष बल आर्थिक समृद्धि और शान्तिपूर्ण विकास पर है तथा यह गैर-सैनिक उपलब्धियों को महत्त्व देता है ।

6. गुट-निरपेक्षता हर प्रकार के उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद की विरोधी है । यह रचनात्मक राष्ट्रवाद और राष्ट्रों के स्वतन्त्र अस्तित्व की समर्थक है ।

7. गुट-निरपेक्षता संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के सिद्धान्तों को बल प्रदान करती है तथा विवादो के शान्तिपूर्ण समाधान के उपायो का समर्थन करती है ।

8. गुट-निरपेक्षता रंग-भेद और जातिवाद में विश्वास नहीं करती। इसका नारा है विश्व-बन्धुत्व।

9. इसकी नीति सैनिक गुटों और सैनिक सन्धियों का तिरस्कार करते हुए राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि करने वाली है। इसमें आदर्शवाद और यथार्थवाद का सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है।

10. गुट-निरपेक्षता की नीति लचीली है तथा इसमें समय के अनुरूप ढलने की क्षमता है। इस प्रकार यह सतत् विकासशील है। यह निर्भीकता और साहस की नीति है जो न्याय की रक्षा के लिए तलवार उठाने की भी प्रेरणा देती है।

आज मानव-जाति आणविक शस्त्रास्त्रों के बारूदी ढेर पर बैठी हुई है और जरासी भी चिनगारी के विस्फोट से इस ढेर का महाविनाश हो सकता है। इस खतरे से बचने का एक ही उपाय है कि सहअस्तित्व और गुट-निरपेक्षता की नीति का अनुसरण किया जाए।



7 उपनिवेशवाद का अन्त और एशिया तथा अफ्रीका में नये राज्यों का उदय

(DE-COLONIZATION AND THE EMERGENCE OF NEW STATES IN ASIA AND AFRICA)

एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका का जागरण द्वितीय महायुद्ध के बाद की एक सर्वाधिक क्रान्तिकारी घटना है जिसने अन्तर्राष्ट्रीय जगत् के राजनीतिक मानचित्र की ही काया पलट कर दी है। विश्व के इन तीनो ही क्षेत्रों के अधिकांश राज्य साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के शिकार थे; पर समय ने करवट ली, पराधीनता से मुक्त होने के लिए संघर्षों का सूत्रपात हुआ, जागरण की लहर फैलती गई और आज ये तीनो ही क्षेत्र (एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमेरिका) बहुत-कुछ स्वतन्त्रता की साँस ले रहे हैं। एशिया और अफ्रीका तो लगभग उपनिवेशवाद से मुक्त हो चुके है और जो एक-दो प्रतिशत भूभाग आज भी उपनिवेशवाद के शिकार है, उनके भी निकट भविष्य मे ही मुक्त हो जाने की पूर्ण आशा है। लेटिन अमेरिका ने भी करवट बदली है, क्यूबा जैसे राष्ट्रो ने अमेरिका के उपनिवेशवादी प्रभुत्व और डॉलर साम्राज्यवाद को चुनौती दे दी है। फिर भी अनेक राज्य चाहकर भी अभी स्वयं को अमेरिका के प्रभाव-क्षेत्र से मुक्त नही कर सके हैं। कहने को तो वे स्वतन्त्र राज्य हैं, लेकिन उनकी स्थिति गुलाम या परतन्त्र राज्यो जैसी ही है। यह स्थिति भी उपनिवेशवाद का ही एक रूप है। किन्तु जैसा वातावरण बन चुका है, जिन नई शक्तियो का उदय हो रहा है, उससे यह स्पष्ट दिखायी देता है कि लेटिन अमेरिका 'पूर्णतः स्वतन्त्र' होकर रहेगा। संयुक्त राष्ट्रसंघ की संरक्षण व्यवस्था (*Trusteeship System*) के अधीन जो संरक्षित प्रदेश थे वे भी अब स्वतन्त्र होकर नए सम्प्रभु राज्यों का रूप ग्रहण कर चुके हैं। उपनिवेशवाद का वस्तुतः अब जनाजा निकल चुका है और यही कारण है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यो की संख्या सन् 1975 तक 140 थी और अब 149 हो गई है। जहाँ पहले संसार की जनसंख्या का लगभग 33 प्रतिशत भाग उपनिवेशवाद के शिकंजे मे था वहाँ अब दो प्रतिशत भी नही रहा है।

एशिया में उपनिवेशवाद का अन्त और नए राज्यों का उदय

एशिया महाद्वीप का परिचय

एशिया पूर्व में प्रशान्त महासागर से पश्चिम में भूमध्य सागर तक तथा उत्तर में आर्कटिक महासागर से दक्षिण में हिन्द महासागर के मध्य बसा हुआ दुनिया का सबसे बड़ा महाद्वीप है। दुनिया की आधी से अधिक जनसंख्या वाला यह महाद्वीप सभी प्रकार के धर्मों, संस्कृतियों और भाषाओं का घर है। यहाँ खनिज-पदार्थों की प्रचुरता है और विभिन्न प्रकार की भौगोलिक स्थिति तथा जलवायु पायी जाती है। राजनीतिक दृष्टि से एशिया को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है और उनमें निम्नलिखित राष्ट्र सम्मिलित किए जाते हैं—

1 दक्षिण एशिया	—	भारत, पाकिस्तान, बंगलादेश तथा श्रीलंका
2 दक्षिण-पूर्वी एशिया	—	बर्मा, इण्डोनेशिया, हिन्द-चीन, मलयेशिया, फिलीपाइंस, थाईलैण्ड आदि
3 पूर्वी एशिया	—	चीन, हांगकांग तथा जापान
4. पश्चिमी एशिया	—	अफगानिस्तान, ईरान, ईराक, सीरिया, सऊदी अरब, मिस्र, लेबनान, इजरायल, ट्रांसजोर्डन टर्की, साइप्रस आदि।

दक्षिण-पूर्वी एशिया में कुछ विद्वान् भारत, पाकिस्तान, नेपाल, बंगलादेश को सम्मिलित करते हैं जबकि अनेक विद्वान् इन देशों को 'दक्षिण एशिया' नामक पृथक भौगोलिक क्षेत्र मानते हैं। इसी प्रकार 'पश्चिमी एशिया' को पाश्चात्य इतिहासकारों ने मध्यपूर्व (Middle East) की संज्ञा प्रदान की है। वास्तव में 'मध्यपूर्व' यूरोपीय राष्ट्रों और विद्वानों द्वारा की गई एक प्रकार की राजनीतिक अभिव्यक्ति है।

एशिया का जागरण : नए राज्यों का उदय, बाण्डुंग सम्मेलन (1947–1955)

औद्योगिक क्रान्ति ने यूरोप को तेजी से प्रभावित किया, लेकिन एशिया अपनी प्राचीन प्रथाओं और संस्थाओं में संलग्न रहा। इसके फलस्वरूप यूरोप तो मध्यकालीन अवस्था पार कर आधुनिक अवस्था में पहुँच गया और निरन्तर प्रगति करता गया, लेकिन एशिया अत्यधिक पिछड़ा रहा। इसका एक गम्भीर राजनीतिक परिणाम यह हुआ कि पश्चिमी राज्यों ने एशिया में अपने पैर जमाकर उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को समाप्त कर दिया। जापान, थाईलैण्ड, ईरान, नेपाल और चीन को छोड़कर लगभग सम्पूर्ण एशिया पश्चिमी राष्ट्रों के स्वामित्व में आ गया। अंग्रेज भारत, बर्मा श्रीलंका, मलाया, सिंगापुर और हांगकांग में जम गए, फ्रांसीसियों ने हिन्द-चीन में डेरा जमाया, डचों ने ईस्ट इण्डीज में पैर रोप दिए; रूसियों ने चीन के आमूर प्रान्त सहित साइबेरिया के बाह्य मंगोलिया में और स्पेनिश लोगों ने (बाद में अमेरिकियों ने) फिलिपाइंस में अपने अड्डे जमा लिए यहाँ तक कि पुर्तगाल जैसे छोटे से राज्य ने भी अपने उपनिवेश कायम कर लिए। वे देश भी, जो प्रकट रूप में स्वतन्त्र थे,

व्यावहारिक दृष्टि से विदेशी राष्ट्रों के आर्थिक और राजनीतिक प्रभाव से मुक्त नहीं रह सके।

प्रथम महायुद्ध के बाद राष्ट्रीयता की प्रथम लहर—एशिया के राष्ट्रों पर आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से पश्चिम का प्रभुत्व छा गया, लेकिन पश्चिम के सम्पर्क और पश्चिमी साहित्य के प्रवेश के कारण शनैः-शनैः एशियावासियों मे नव चेतना का उदय हुआ। प्रबुद्ध एशियावासी यह समझ गए कि विषम आर्थिक कठिनाइयो, आर्थिक शोषण और लज्जाजनक जीवन से एशिया के देश तभी मुक्ति पा सकेंगे जब वे राजनीतिक दासता के जुए को उतार फेंकेंगे। प्रथम महायुद्ध ने भी एशियायी देशो के जागरण को गतिशील बनाया। इस सारी स्थिति को चित्रित करते हुए शूमैन ने लिखा है—

"इन पिछड़े हुए राष्ट्रो के नए बुद्धिजीवियो ने पाश्चात्य देशो के विज्ञान, युद्धकला और राजनीतिक कुशलता और निपुणता का ज्योंही एक अंश प्राप्त किया त्योंही उनमे ऐसे नेतागण भी पैदा हो गए जो यह माँग करने लगे कि उन्हें अपना *भविष्य स्वय निश्चित करने का अधिकार मिलना चाहिए।*"[1]

महायुद्ध के बाद एशियावासी 'आत्म-निर्णय' की माँग करने लगे। 'भारत भारतीयो के लिए' 'चीन चीनियो के लिए' आदि नारे बुलन्द होने लगे। विदेशी शासन से मुक्ति के लिए एशियायी देशो मे जो उत्कट अभिलाषा जाग्रत हुई उसने एक दीर्घकालीन स्वतन्त्रता-आन्दोलन और संघर्ष का रूप धारण कर लिया। एशिया के पराधीन राज्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे अपनी स्थिति पर पुनर्विचार की माँग करने लगे। एशिया तेजी से जागरण के पथ पर बढता गया और द्वितीय महायुद्ध से उसके निश्चय को अत्यधिक बल मिला।

द्वितीय महायुद्ध द्वारा राष्ट्रीयता की लहर को बल प्रदान किया—द्वितीय महायुद्ध ने एशिया महाद्वीप को अपने लक्ष्य-प्राप्ति की दिशा मे अग्रसर किया। एशियायी राष्ट्रों ने महायुद्ध मे पश्चिमी शक्तियो का साथ दिया था जिसके बदले मे उन्हें आश्वासन मिला कि उनकी पराधीनता की बेडियाँ काट दी जाएँगी। इससे एशियावासियों मे नई चेतना तथा नई शक्ति का संचार हुआ। इसके अतिरिक्त महायुद्ध ने श्वेत जाति की श्रेष्ठता और अजेयता की भावना को नष्ट कर दिया जिससे उपनिवेशों की *जनता मे एक नया आत्मविश्वास उत्पन्न हुआ।* एशियावासी यह महसूस करने लगे कि साम्राज्यवाद से मुक्ति पाने का मार्ग कठिन भले ही हो, असम्भव नही है। महायुद्ध मे विजय पाने के बाद जब पश्चिमी साम्राज्यवादी देश अपने वचनो को भूल गए तो एशिया और अफ्रीका मे स्वाधीनता-आन्दोलन अधिक तीव्र हो गया। ये महाद्वीप अब यह सहन करने को तैयार नहीं थे कि साम्राज्यवाद की पुरानी व्यवस्था ज्यों की त्यों कायम रहे। उपनिवेशवादी ताकतों ने स्वाधीनता-सेनानियों को फिर आश्वासन की मीठी गोलियाँ खिलाकर शान्त करना चाहा, लेकिन

1. *Schuman* : op cit , p. 315

अब जनता मे यह भावना घर कर चुकी थी कि उनके वचनो पर कोई विश्वास नहीं किया जा सकता। महायुद्ध से थके और जर्जरित पश्चिमी साम्राज्यवादी राष्ट्रों के लिए यह सम्भव नही था कि वे अफ्रोशियायी राष्ट्रीय आन्दोलनो को दबाए रख सकें, अत. शीघ्र ही दोनो महाद्वीपो मे नए सम्प्रभु राज्यो के उदय का सिलसिला शुरू हो गया।

सन् 1947 से 1955 तक का युग : नए राज्यों का उदय : एशियायी व्यक्तित्व का विकास—सन् 1919 के बाद एशिया और अफ्रीका महाद्वीपो मे साम्राज्यवाद की जो पराजय शुरू हुई वह सन् 1945 के पश्चात् अन्तिम पराजय का रूप लेने लगी तथा साम्राज्यवाद के पैर उखड़ने लगे। 15 अगस्त, 1947 को स्वतन्त्र भारत का उदय हुआ और साथ ही पाकिस्तान नामक एक नए मुस्लिम राज्य का भी निर्माण हुआ। भारत-विभाजन की कीमत पर पाकिस्तान का उदय इतिहास की एक दु खद क्रूर और अन्यायपूर्ण घटना थी, किन्तु भारतीयो ने इस महान् बलिदान को भी सहन किया और अपनी परम्परागत उदारता का परिचय दिया। 4 जनवरी, 1948 को बर्मा ने पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त की और 'बर्मा-सघ अस्तित्व मे आया। फरवरी, 1948 मे, लगभग 133 वर्षों की अंग्रेजी अधीनता के बाद, श्रीलका ने स्वाधीनता की साँस ली। इसके बाद मे 1 अक्तूबर, 1949 को साम्यवादी चीन के जनवादी गणराज्य की स्थापना हुई जो भारत की आजादी के बाद दूसरी महान् क्रान्तिकारी घटना थी। 27 दिसम्बर, 1949 को इण्डोनेशिया एक स्वतन्त्र राज्य के रूप मे प्रकट हुआ और 9 नवम्बर, 1953 को कम्बोडिया ने स्वय को एक पूर्ण स्वतन्त्र राष्ट्र घोषित कर दिया। 21 जुलाई, 1954 को जेनेवा समझौते के अन्तर्गत लाओस राज्य की पूर्ण स्वतन्त्रता को मान्यता प्रदान की गई। इस प्रकार सन् 1955 के आरम्भ तक एशिया के अनेक देशो ने स्वतन्त्रता के सूर्य के दर्शन कर लिए। जब 31 अगस्त, 1957 को मलाया ने औपनिवेशिक दासता से मुक्ति प्राप्त करली तो द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त स्वतन्त्रता का सूर्योदय देखने वाला वह एशिया का 11वाँ देश था।

एशिया मे राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रसार के साथ यह भावना भी बल पकडती गई कि कठिनाइयो पर विजय प्राप्त करने के लिए उन्हे पारस्परिक एकता, सगठन और सहयोग का परिचय देना होगा। इस प्रकार की एकता की नवीन चेतना की पहली स्पष्ट अभिव्यक्ति मार्च, 1947 में हुई। इस समय 'विश्व मामलो की भारतीय परिषद्' (Indian Council of World Affairs) के तत्वावधान में नई दिल्ली में आयोजित एक गैर-सरकारी 'एशियायी मैत्री सम्मेलन' (Asian Relations Conference) हुआ। इस सम्मेलन में अनेक प्रस्ताव पारित हुए और महत्त्वपूर्ण निर्णय लिए गए तथा निम्नलिखित उद्देश्यो के लिए एक 'एशियायी मैत्री सगठन' (Asian Relations Organisation) की स्थापना की गई—

(i) एशियायी समस्याओं और सम्बन्धो के महाद्वीपीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय पहलुओ के अध्ययन और ज्ञान को प्रोत्साहित करना,

(ii) एशियायी राष्ट्रों तथा विश्व के दूसरे राष्ट्रों के बीच मैत्रीपूर्ण सहयोग को बढ़ावा देना, एव

(iii) एशियायी जनता की प्रगति और हितो में वृद्धि करना।

सम्मेलन में शामिल होने वाले 28 एशियायी देशो के प्रतिनिधियो को सम्बोधित करते हुए भारत के तत्कालीन प्रधानमन्त्री प जवाहरलाल नेहरू ने अपने स्वागत भाषण में कहा––

"जब आधुनिक युग का इतिहास लिखा जाएगा तब यह घटना एशिया के अतीत को उसके भविष्य से अलग करने वाले सीमा-चिह्न के रूप में याद की जाएगी।" एशिया के नव-जागरण पर टिप्पणी करते हुए उन्होने आगे कहा—"परिस्थितियाँ बदल रही हैं और एशिया को अपनी स्थिति का ज्ञान हो गया है। एशिया के देश अब दूसरो के हाथों के मोहरे नहीं बनेंगे, विश्व के मामलों मे उनकी स्वतन्त्र नीतियों का होना निश्चित है।"

एशियायी एकता तब एक कदम और आगे बढ़ी जब जनवरी, 1949 में 15 राज्यों के प्रतिनिधियो का एक सम्मेलन आयोजित किया गया जिसने औपनिवेशिक स्थिति पर विचार किया। इसमें मुख्य रूप से इण्डोनेशिया में डच सरकार द्वारा की गई सैनिक कार्यवाही से उत्पन्न स्थिति पर विचार-विमर्श हुआ। एशियायी व्यक्तित्व का विकास होता गया। मई, 1950 में फिलीपाइन्स ने बोगुई नामक स्थान पर एशियावासियो के सांस्कृतिक एव आर्थिक सहयोग पर विचार करने के लिए सम्मेलन आमन्त्रित किया। अप्रैल, 1954 में भारत, पाकिस्तान श्रीलका, बर्मा और इण्डोनेशिया के प्रधानमन्त्री हिन्द-चीन सहित विभिन्न समस्याओ पर विचार-विमर्श करने के लिए परस्पर मिले। दिसम्बर में पांचो प्रधानमन्त्री बोगार में एकत्र हुए और वहाँ एशियायी और अफ्रीकी राष्ट्रों का एक वृहद्-सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया।

द्वितीय महायुद्ध के बाद एशिया और अफ्रीका मे नव-जागरण की लहर का सर्वोत्तम रूप से बाण्डुग सम्मेलन मे प्रकट हुआ। भारत, बर्मा और इण्डोनेशिया द्वारा इस महान् अफ्रो-एशियायी सम्मेलन का आयोजन किया गया जो 18 अप्रैल से 27 अप्रैल, 1955 तक चला। इस सम्मेलन मे भारत सहित 29 राष्ट्र सम्मिलित हुए। पहली बार साम्यवादी चीन ने भी गैर-साम्यवादी राष्ट्रो के साथ सद्भावना और मैत्रीपूर्ण विचार-विमर्श मे भाग लिया। सम्मेलन की समाप्ति पर सम्पूर्ण ससार को विश्वास हो गया कि सोया हुआ एशिया और अफ्रीका अब जाग उठा है। इस सम्मेलन मे पण्डित नेहरू का शान्ति-सन्देश नवीन उत्साह के साथ सुना गया।

बाण्डुग सम्मेलन मे अणु बम पर प्रतिबन्ध, रगभेद की नीति की निन्दा, साम्राज्यवाद का विरोध और विनाश तथा अफ्रो-एशियायी देशो मे सहयोग सम्बन्धी प्रस्ताव स्वीकृत किए गए। इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार किया गया कि 'स्वतंत्रता' का वास्तविक अभिप्राय क्या है। काफी विचार-विमर्श के बाद सम्मेलन के सदस्य इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वास्तविक स्वतन्त्रता वही है जिसमे इन तत्त्वो का समावेश हो—(1) विदेशी प्रभाव से मुक्ति तथा पूर्ण लोकतन्त्रीय स्वशासन, (2) जाति,

समुदाय, रंग आदि के भेद भाव रहित मानव-प्रतिष्ठा को मान्यता, (3) तीव्र आर्थिक समृद्धि जिसका लाभ अधिक से अधिक जनता को प्राप्त हो, एव (4) युद्ध का उन्मूलन और सद्भावना का प्रसार।

बाण्डुंग सम्मेलन का विशेष महत्त्व इस बात में था कि विश्व में सभी देशों के पारस्परिक व्यवहार हेतु 10 सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया। ये सिद्धान्त भारत, चीन द्वारा प्रतिपादित पंचशील के सिद्धान्तों का ही विस्तृत रूप थे। ये सिद्धान्त थे—

(i) मौलिक मानवीय अधिकारों के प्रति सम्मान की धारणा;
(ii) संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के सिद्धान्तों के प्रति सम्मान की भावना;
(iii) सब नस्लों तथा छोटे-बड़े सभी राष्ट्रों की समानता में विश्वास;
(iv) दूसरे देशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना;
(v) संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के अनुसार प्रत्येक देश को अकेले या सामूहिक रूप से आत्मरक्षा का अधिकार;
(vi) महाशक्तियों की विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निर्मित व्यवस्थाओं से पृथक् रहना तथा दूसरे देशों पर अनुचित दबाव न डालना;
(vii) आक्रामक कार्य न करना और आक्रमण की धमकियाँ न देना;
(viii) सभी अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण उपायों से समाधान करना;
(ix) पारस्परिक हितों की वृद्धि, एवं
(x) न्याय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों के प्रति सम्मान।

बाण्डुंग सम्मेलन की उस समय बड़ी प्रशंसा की गई। इसे एक अभूतपूर्व सम्मेलन माना गया और 'लघु संयुक्त राष्ट्रसंघ' की संज्ञा दी गई। बार्नेट नामक विद्वान् ने अपनी पुस्तक 'साम्यवादी चीन और एशिया' में इस सम्मेलन के सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार व्यक्त किए थे—

"बाण्डुंग सम्मेलन एशिया और अफ्रीका के पुनरोत्थान का प्रतीक था। यह एक अभूतपूर्व ऐतिहासिक सम्मेलन था जिसमें एशिया और अफ्रीका के पश्चिमी महाशक्तियों के प्रभाव से मुक्त प्रमुख नेता बैठक में सम्मिलित हुए थे जो इस बात का ज्वलन्त उदाहरण था कि विश्व के मामलों में अब एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रों का भी प्रभाव बढ़ रहा है।"

अन्त में बाण्डुंग सम्मेलन में इस बात पर बल दिया गया कि—

"हम अफ्रेशियावासी एक ही प्रकार के अत्याचार से पीड़ित रहे हैं और हमारे लक्ष्य भी समान हैं। हम अफ्रीका और एशियावासी सदैव एक दूसरे के प्रति सहानुभूति रखते रहे हैं। एशिया और अफ्रीका के हम लोग उपनिवेशवाद की लूट और अत्याचारों के शिकार रहे हैं और इसके कारण गरीबी और पिछड़ेपन की स्थिति में रहने के लिए बाध्य किए गए हैं। हमारी आवाज बलात् दबाई गई है। हमारी महत्त्वाकांक्षाओं को कुचला गया है और हमारा भाग्य दूसरों की दया पर निर्भर रहा है। अतएव इस दासता के विरुद्ध विद्रोह करने के अतिरिक्त हमारे पास अन्य कोई विकल्प शेष नहीं है।"

सन् 1955 से 1962 तक का काल : बाण्डुंग भावना का अन्त

बाण्डुंग सम्मेलन ने इस आशा का संचार किया कि अफ्रीका और एशिया के राष्ट्र 10 सिद्धान्तों के अनुसार आपसी सम्बन्धों की स्थापना कर परस्पर एकता और सहयोग का विकास करेंगे, लेकिन 'बाण्डुंग भावना' कुछ ही समय तक जीवित रही। एक ओर तो एशिया में नए स्वतन्त्र राज्य अस्तित्व में आते गए और दूसरी ओर साम्यवादी चीन अनुचित दबाव 'फूट डालो और काम निकालो', विस्तारवाद आदि की नीति पर चलकर एशियायी राज्यों की एकता और सद्भावना को खण्डित करने लगा। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत् में यह समझा जाने लगा था कि भारत और चीन मिलकर एशियायी व्यक्तित्व को नया रूप देने में सफल होंगे, लेकिन चीन की कुटिल और *विश्वासघाती* नीति ने एशिया के हितों को भारी आघात पहुँचाया। चीन ने 'बाण्डुंग भावना' को ठुकरा दिया तथा विस्तारवाद की सुनियोजित नीति का अनुसरण किया। अपने महान् मित्र-देश भारत की भूमि तक पर भी चीन अपनी कुदृष्टि डालने से बाज नहीं आया। वह अन्य अफ्रो-एशियायी देशों पर भी दबाव डालने का प्रयत्न करने लगा। चीन ने जान-बूझकर सीमा-विवाद खड़ा कर नवम्बर, 1962 में अचानक ही भारत पर विशाल पैमाने पर आक्रमण कर दिया। यह एक मित्र-देश की पीठ में छुरा भोंकने जैसी बात थी। चीन का कदम पंचशील का और बाण्डुंग सम्मेलन के 10 सिद्धान्तों का खुला और शर्मनाक तिरस्कार था। भारत ने पूरी शक्ति के साथ आक्रमण का मुकाबला किया, किन्तु आकस्मिक हमले का लाभ उठाने में चीन सफल रहा। विश्व के अधिकांश युद्धों का इतिहास बताता है कि आक्रमणकारी आकस्मिक हमले का लाभ प्रायः उठा लेता है और उसे इस लाभ से वंचित तभी किया जा सकता है जब संघर्ष लम्बा चले और आक्रमणकारी देश को पराजित कर दिया जाए या कोई सम्मानजनक समझौता हो जाए। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थितियों, सैनिक कारणों, कूटनीतिक दबावों आदि के कारण एशिया के इन दो सबसे बड़े देशों के बीच युद्ध लम्बा चलना असम्भव नहीं था। ज्योंही भारत सम्भलने की स्थिति में आया, चीन ने एकतरफा युद्ध-विराम की घोषणा कर दी और शान्तिवादी भारत ने तत्कालीन परिस्थितियों में थोड़ी सी भूमि के लिए युद्ध को लम्बा खींचना उपयुक्त नहीं समझा। चीन वर्षों से अपनी सैनिक योजना को कार्यान्वित कर रहा था तथा आक्रमण की तैयारी में सलग्न था। दूसरी ओर भारत को चीनी हमले की किंचित् मात्र भी आशा नहीं थी। अतः भारत की सैनिक और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को जबरदस्त आघात पहुँचा, पर दूसरी ओर चीनी हमले ने भारत को सचेत कर दिया और बाद के वर्षों का इतिहास साक्षी है कि भारत किसी भी आक्रमण का मुँहतोड़ उत्तर देने में समर्थ हो गया। चीन की अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में सर्वत्र निन्दा हुई, लेकिन चीनी नेता हिटलरवादी आचरण से विश्व-शान्ति के लिए खतरा उत्पन्न करते रहे।

सन् 1965 से मई, 1976 तक का काल : एशियायी व्यक्तित्व को झटके

सामन्तवादी चीन ने आक्रमण, असहयोग और विश्वासघात की जिस नीति

का सूत्रपात किया था उससे पाकिस्तान जैसे देश को प्रोत्साहन मिला। यह स्पष्ट दिखाई दिया कि दोनों देशों ने परस्पर गठजोड़ कर एशिया की एकता को भंग कर और शान्तिवादी शक्तियों को निराश करने का बीड़ा उठा लिया था। सन् 1965 में इण्डोनेशिया में हस्तक्षेप कर चीन ने साम्यवादी क्रान्ति कराने का असफल प्रयत्न किया। सन् 1965 में ही पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण किया पर उसने यह समझने की गलती की कि सन् 1965 का भारत सन् 1962 का भारत नहीं था। इस भूल का दण्ड उसे भोगना पड़ा। पाकिस्तान को बुरी तरह पराजित कर भारत ने अपनी खोई हुई अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को बहुत कुछ वापस पा लिया। चीन के साथ भी सीमाओं पर कुछ सैनिक झड़पें हुईं, लेकिन भारत की बदलती हुई सैनिक शक्ति का उसे परिचय मिल गया। 3 दिसम्बर, 1971 को पाकिस्तान ने पुनः भारत के हवाई अड्डों पर अचानक ही भीषण हवाई आक्रमण कर दिया किन्तु, मात्र 14 दिन के युद्ध में ही पाकिस्तान विघटित हो गया। युद्ध के पूर्वी मोर्चे पर 16 दिसम्बर, 1971 को लगभग एक लाख पाक सैनिकों द्वारा आत्म-समर्पण करने पर पाक सेना के लै. जनरल ए. ए. के. नियाजी ने आत्म-समर्पण के दस्तावेजों पर हस्ताक्षर किए। पश्चिमी मोर्चे पर भी पाकिस्तान की लगभग 1400 वर्गमील भूमि पर अधिकार कर लिया गया। 17 दिसम्बर को भारत ने एकपक्षीय युद्ध-विराम की घोषणा कर दी और पाकिस्तान ने 'ईश्वर को धन्यवाद' दिया। नवोदित बंगलादेश के प्रति पाकिस्तान का द्वेषपूर्ण रवैया फिर भी जारी रहा, यद्यपि कालान्तर में उसे वास्तविकता को स्वीकार करना पड़ा। फरवरी, 1974 में पाकिस्तान ने बंगलादेश को बिना शर्त मान्यता प्रदान की और बदले में बंगलादेश ने भी पाकिस्तान को मान्यता देकर अपनी सदाशयता का परिचय दिया।

इस प्रकार स्पष्ट है कि द्वितीय महायुद्ध के बाद नव स्वतन्त्रता प्राप्त एशियायी देशों में जिस सहयोग का प्रारम्भिक वर्षों में विकास हुआ, वह कालान्तर में बिखरने लगा। एशियायी देशों के दृष्टिकोणों में एकरूपता के बजाय विभिन्नता के (बल्कि यूँ कहिए कि वैमनस्य के) दर्शन होने लगे जिसके फलस्वरूप स्थान-स्थान पर तनाव तथा सैनिक संघर्ष उठ खड़े हुए। भारतीय उपमहाद्वीप में ही पाकिस्तान और भारत के सम्बन्ध मधुर नहीं हैं भारत और चीन में वैमनस्य है, बंगलादेश के प्रति चीन और पाकिस्तान के मन साफ नहीं हैं। पश्चिमी एशिया में तो न केवल अरब देश ही पारस्परिक फूट के शिकार हैं बल्कि इजरायल के साथ भी वे संघर्ष में उलझे हुए हैं। कई बार भयंकर युद्धों का विस्फोट हो चुका है और कोई नहीं कह सकता कि पुनः किस क्षण युद्ध भड़क उठे। दक्षिण-पूर्वी एशिया में हिन्द-चीन अशान्त है। यद्यपि वर्षों से चला आ रहा वियतनाम युद्ध राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे की विजय के साथ 30 अप्रेल, 1975 को समाप्त हो गया तथापि विनाश के घाव भरना अभी बाकी है। यदि उत्तर और दक्षिण वियतनाम के एकीकरण का दौर चला तो कोई नहीं कह सकता कि स्थिति क्या बन पाएगी। अप्रेल, 1975 में ही पिछले पाँच वर्षों से चले आ रहे कम्बोडिया युद्ध का भी यद्यपि अन्त हो गया, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय

राजनीति की उलझनें कम्बोडिया को अभी भी अशान्त बनाए हुए हैं। तात्पर्य यह है कि एशिया महाद्वीप मे चारों ओर अशान्ति के लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं, एशियायी व्यक्तित्व मे दरारे हैं तथा सघर्ष के बादल बराबर मण्डरा रहे हैं। यद्यपि एशिया की आवाज बुलन्द है, अब सयुक्त राष्ट्रसघ मे एशियायी देशो की आवाज को ठुकराना महाशक्तियो के लिए पहले की तरह सुगम नही है, फिर भी एशिया तब तक पूरी तरह नही उठ सकता जब तक एशिया के राष्ट्र परस्पर सहयोग नही करते। समय-समय पर होने वाले सम्मेलनो मे एशिया के देश सहयोग की शक्तियों को बढावा देते हैं, लेकिन विघटन की शक्तियां भी कम प्रबल नही है। यह आशा की जानी चाहिए कि एशिया के राष्ट्र सद्बुद्धि से काम लेकर एशिया महाद्वीप को वही प्रतिष्ठा प्रदान करेंगे जो यूरोपीय महाद्वीप को प्राप्त है।

बगलादेश का उदय : एशिया में नव-जागरण का एक नया मोड़

आज का बगलादेश दिसम्बर, 1971 मे एक प्रभुत्व सम्पन्न राज्य के रूप मे उदय से पहले, पूर्वी पाकिस्तान था। पाकिस्तान ने अपने ही इस पूर्वी भाग की दशा उपनिवेश से भी बदतर बना रखी थी। इस प्रदेश का घोर आर्थिक शोषण तो पाकिस्तान प्रारम्भ से ही कर रहा था, लेकिन 25 मार्च, 1971 की वह रात बडी भयावह और काली थी जब तत्कालीन पाकिस्तानी सैनिक शासको ने पूर्वी बगाल की अपनी 7·5 करोड जनता पर हत्याकाण्ड और नृशस अत्याचार का अभियान शुरू कर दिया। इतने जुल्म ढाए गए थे कि इतिहास मे ढूंढने पर भी शायद ऐसे उदाहरण मिल सकें। पाकिस्तानी सैनिको के अत्याचारो को देख कर शायद हिटलर को भी 'दूसरी दुनिया मे' पछतावा हो रहा होगा कि वह अत्याचारो मे पाकिस्तान से मात खा गया। पाकिस्तानी सैनिक शासन के हाथो लगभग 10 लाख व्यक्तियो को अपने प्राणो से हाथ धोना पडा और एक करोड से भी अधिक लोगो को अपना घरबार छोडकर भारत मे शरण लेनी पडी। इतिहास मे किसी सैनिक सगठन द्वारा इतने बडे पैमाने पर निरपराध नागरिको की हत्या करने और एक देश की जनता द्वारा मजबूर होकर इतनी बडी सख्या मे घरबार छोडने का दूसरा उदाहरण नही मिलता। भारत ने मानवता के आधार पर शरणार्थियो की हर प्रकार से सहायता की और पूर्वी बगाल के स्वाधीनता सघर्ष का समर्थन किया। जब 3 दिसम्बर, 1971 को पाकिस्तान ने भारत पर हमला कर दिया तो पश्चिमी मोर्चे पर भारतीय जवानो ने पाकिस्तान को नीचा दिखाया और पूर्वी मोर्चे पर भारतीय सेना तथा पूर्वी बगाल की मुक्ति-वाहिनी की सयुक्त कमान ने पाकिस्तान के हौसले पस्त कर दिए। 16 दिसम्बर, 1971 को ढाका मे लगभग 1 लाख पाक सेनाओ के आत्म-समर्पण के साथ ही दुनिया के नक्शे पर बगलादेश (पूर्वी बगाल या पूर्वी पाकिस्तान) गणराज्य स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप मे प्रतिष्ठित हो गया। वैसे अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे इस नए राष्ट्रो का अस्तित्व तो तभी व्यावहारिक बन चुका था जब 6 दिसम्बर, 1971 को भारत ने उसे मान्यता प्रदान कर दी थी।

बगलादेश का उदय वस्तुत: एशिया मे एक नव जागरण का सूचक था जो

सन्देश देना है कि अत्याचार, हिंसा और बर्बरता से लोहा लेना मानव का जन्म-सिद्ध अधिकार है और किसी भी देश की उत्पीड़न तथा शोषित जनता को यह मार्ग अपनाना चाहिए। बंगलादेश के उदय ने जिन्ना के द्विराष्ट्र सिद्धान्त को दफना दिया 14 अगस्त, 1947 को जिस घृणा और रक्तपात के बीच पाकिस्तान का जन्म हुआ उसी नफरत और रक्तपात के साथ पाकिस्तान खण्डित हो गया। एक पीढ़ी में ही यह सिद्ध हो गया कि मजहब कभी भी राष्ट्रीयता का मुख्य आधार नहीं बन सकता। अंग्रेजों ने भी द्विराष्ट्र सिद्धान्त का समर्थन इसलिए किया था कि वे भारत में अपना प्रभाव जमाए रखना चाहते थे, लेकिन उनकी कुटिल नीति सफल न हो सकी। भारत पर प्रभाव जमाने की बात तो दूर रही, बंगलादेश के उदय ने ऐसे भ्रामक और नापाक सिद्धान्तों की धज्जियाँ उड़ाकर अंग्रेजी और पाकिस्तानी इरादों को मिट्टी में मिला दिया।

उदय के बाद बंगलादेश ने अपनी जनता को लोकतान्त्रिक संविधान दिया। 16 दिसम्बर, 1972 से बंगलादेश में नया संविधान लागू कर दिया गया। इसके तुरन्त बाद ही मार्च, 1973 में संविधान के अन्तर्गत नए चुनावों की घोषणा कर दी गई। निष्पक्ष निर्वाचनों में शेख मुजीब की अवामी लीग को भारी बहुमत प्राप्त हुआ। 22 फरवरी, 1974 को परिस्थितियों से बाध्य होकर पाकिस्तान ने बंगलादेश को मान्यता प्रदान की और 18 सितम्बर, 1974 को संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता भी बंगलादेश को प्राप्त हो गई। साम्यवादी चीन के अड़ियल रवैये और उसके द्वारा वीटो के प्रयोग की आशंका से ही बंगलादेश का संघ में प्रवेश इतने समय तक रुका रहा था। भारत ने राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक हर स्तर पर बंगलादेश को अपना समर्थन और सहयोग दिया और आज दोनों देश मैत्री में आबद्ध हैं। तथापि शेख मुजीब की हत्या के बाद 1975–1976 में बंगलादेश में जो वातावरण बना है वह क्षोभकारी है। बंगलादेश में भारत विरोधी तत्त्व सिर उठा रहे हैं और बंगलादेश की नई सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह उस देश के प्रति अपनी मैत्री का निर्वाह करे जिसने उसके स्वतन्त्रता संग्राम को सफल बनाने में अभूतपूर्व सहायता की थी और अपने जवानों का बलिदान दिया था।

अफ्रीका में उपनिवेशवाद का अन्त और नए राज्यों का उदय

अफ्रीका महाद्वीप का परिचय

अफ्रीका लगभग 11,5,00 000 वर्गमील क्षेत्रफल वाला एशिया के बाद दूसरा सबसे बड़ा महाद्वीप है। यह आकार, लम्बाई और अन्य कई अर्थों में दक्षिण अमेरिका के समान है। उत्तरी अफ्रीका के अधिकांश निवासी गोरे हैं और शेष अफ्रीका के मूल निवासी काले हैं लेकिन दोनों के बीच एकता और प्रेम की भावनाएँ विकसित होती रही हैं। अफ्रीका दक्षिणी अमेरिका से बहुत सी बातों में समानता रखता है। ब्रून एवं मैमते (Brunn & Mamatey) के अनुसार—

"दोनों अपने उत्तर में एक विशाल भू-खण्ड से एक तंग भूडमरूमध्य द्वारा जुड़े हुए हैं, जो मानव-निर्मित नहरों द्वारा विभाजित है। दोनों लगभग त्रिकोणाकार

हैं जो दक्षिणी ध्रुव की ओर मुड़ते हुए एक पूर्ण कोण बनाते हैं। दोनों बीच में विपुवत्-रेखीय प्रदेशों की तरह बरसाती जंगलों और बड़ी नदियों से भरपूर हैं—अफ्रीका की कांगो नदी और दक्षिण अमेरिका की अमेजन नदी एक जैसी है। जनसंख्या का घनत्व लगभग एक-सा है, जिसमें एक वर्गमील क्षेत्र में सिर्फ 20 व्यक्ति रहते हैं। दोनों साधन-सम्पन्न हैं। खनिज, पैट्रोल और जलशक्ति इतनी है कि उनके विकास के लिए सिर्फ पूंजी की आवश्यकता है। दोनों में जनसंख्या की वृद्धि की दर ऊंची और जीवन-स्तर निम्नकोटि का है। दोनों यूरोपीय उपनिवेशवाद का शिकार रहे हैं और दोनों ने संघर्ष द्वारा आजादी प्राप्त की है। दक्षिण अमेरिका के लोगों ने स्वयं को स्पेनिश और पुर्तगाली शासन के शिकंजे से 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही मुक्त कर लिया था। अफ्रीका की जनता 19वी शताब्दी में अनेकों यूरोपीय शक्तियों की साम्राज्य-लिप्सा का शिकार थी, किन्तु उन्होंने 20वीं शताब्दी के मध्य में तेजी से स्वतन्त्रता प्राप्त की।"[1]

सन 1870 के बाद से ही यूरोपीय शक्तियों में अफ्रीका में उपनिवेशों की स्थापना की होड़ लग गई। सन् 1870 के बाद केवल 20 वर्ष की अल्पावधि में ही यूरोपीय शक्तियों ने अफ्रीका के लगभग 9/10 भाग को परस्पर विभाजित कर लिया। सन् 1880 में उनके पास 1 लाख वर्ग मील प्रदेश था जो 10 वर्ष बाद बढ़ कर 6 लाख वर्गमील हो गया। इस प्रकार 19वी सदी के अन्तिम चरण के समाप्त होते-होते समूचा अफ्रीका महाद्वीप यूरोपीय शक्तियों का उपनिवेश बन गया। प्रथम महायुद्ध से पूर्व केवल एबीसीनिया ही स्वतन्त्र राज्य रह गया था किन्तु सन् 1936 में इसकी स्वतन्त्रता भी इटली द्वारा समाप्त कर दी गई, हालांकि द्वितीय महायुद्ध में यह राष्ट्र पुन. स्वतन्त्र हो गया। जब द्वितीय महायुद्ध समाप्त हुआ तो सम्पूर्ण अफ्रीका में केवल एबीसीनिया, लाइबेरिया, दक्षिण अफ्रीकी संघ और मिस्र ही स्वतन्त्र या अर्द्ध स्वतन्त्र राज्य थे। अधिकांश अफ्रीका महाद्वीप विभिन्न यूरोपीय शक्तियों के मध्य इस प्रकार विभाजित था—

क्र स.	नाम	क्षेत्रफल (वर्गमील)	1961 के अनुसार जनसंख्या
1	फ्रांसीसी अफ्रीका	40,22,150	4,41,52,600
2	ब्रिटिश अफ्रीका	20 25,719	6,24,33,645
3	बेल्जियम अफ्रीका	9,24,300	1,20,00,000
4	पुर्तगीज अफ्रीका	7,78,000	95,00,000
5	स्पेनिश अफ्रीका	1,34,200	14,95,000

द्वितीय महायुद्ध के बाद स्वतन्त्रता की लहर (1945–1974)

द्वितीय महायुद्ध के बाद अफ्रीका, जिसे कभी अन्ध-महाद्वीप (Dark-Continent) कहा जाता था, कुछ ही वर्षों में स्वतन्त्रता के प्रकाश से आलोकित हो उठा। जिसे

1 *Brunn & Mematey* : The World in the Century (Hindi Ed), p. 364

तेजी से यूरोप के राष्ट्रों ने अफ्रीका में अपने साम्राज्य का निर्माण किया था, उससे भी कई गुना अधिक तेजी से अफ्रीका में उनके साम्राज्य का अन्त हो गया। 20 वर्ष के अल्पकाल में ही अफ्रीका के 90 प्रतिशत देश स्वतन्त्र हो गए। जाति, भाषा, इतिहास, परम्परा, धर्म आदि की विभिन्नताओं के बावजूद अफ्रीका में राष्ट्रवाद ने अंगड़ाई ली। यह एक विलक्षण घटना थी। इस राष्ट्रवाद के उदय और विकास मूल में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण कारण निहित थे—

1. यूरोप की गोरी जातियाँ अफ्रीका के अश्वेत लोगों को स्वयं से निम्न कोटि का मानती थीं। इस सिद्धान्त की तीव्र प्रतिक्रिया हुई और अफ्रीका में राष्ट्रवाद का प्रसार हुआ। राष्ट्रवाद की मुख्य प्रेरणा 'जातीय समानता' के सिद्धान्त से मिली, पाश्चात्य सम्पर्क और पाश्चात्य साहित्य के प्रवेश ने भी अफ्रीका के प्रबुद्ध लोगों में राष्ट्रवाद की ज्योति जगाने में सहायता की।

2 द्वितीय महायुद्ध के बाद भारत की स्वाधीनता के साथ ही एशिया के विभिन्न भागों में भी स्वाधीनता की लहर फैल गई। एशिया के राष्ट्र तेजी से स्वतन्त्र होते गए। स्वतन्त्रता की यह लहर अफ्रीका महाद्वीप से जा टकराई और इस महाद्वीप के करोड़ों लोग स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए आतुर हो उठे।

3. महायुद्धकाल के स्वतन्त्रता-प्रेमी अमेरिकियों के सम्पर्क ने भी अफ्रीका-वासियों में स्वतन्त्रता की आकांक्षा पैदा की। राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा उपनिवेशवाद के विरोध से भी अफ्रीका के राष्ट्रीय जागरण को बल मिला।

4 अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने भी अफ्रीका के देशों को स्वतन्त्रता प्राप्त करने में सहायता दी। महायुद्ध ने उपनिवेशवादी शक्तियों को अत्यन्त दुर्बल बना दिया। फ्रांस, ब्रिटेन आदि राष्ट्र इतने कमजोर हो गए कि उनमें अपने उपनिवेशों के स्वाधीनता आन्दोलनों का दमन करने की शक्ति नहीं रही। जब एशिया के उपनिवेश तेजी से उनके चंगुल से मुक्त होने लगे तो अफ्रीकी राष्ट्रवादियों में भी प्रबल आत्म-विश्वास जाग्रत हुआ।

द्वितीय महायुद्ध के बाद अफ्रीका महाद्वीप में एक एक करके स्वतन्त्रता की तीन उत्तरोत्तर जबर्दस्त लहरें आईं। महायुद्ध की समाप्ति पर अफ्रीका में केवल 4 राज्य स्वतन्त्र थे—एबीसीनिया, लाइबेरिया, दक्षिण अफ्रीकी संघ और मिस्र। यह 130 लाख वर्ग मील का क्षेत्र अफ्रीका महाद्वीप के कुल क्षेत्रफल का केवल 11% था और इसकी 28 करोड़ की आबादी अफ्रीका की कुल जनसंख्या का 26% थी। इसके बाद स्वतन्त्रता की पहली लहर आई। इस लहर ने केवल अल्जीरिया को छोड़ कर अरबों द्वारा आवासित शेष उत्तरी अफ्रीका से उपनिवेशवादी और साम्राज्यवादी शक्तियों का सफाया कर दिया। इस पहली लहर द्वारा स्वतन्त्र होने वाले राष्ट्रों में सन् 1951 में स्वतन्त्र होने वाला लीबिया और सन् 1956 में स्वाधीनता प्राप्त करने वाले सूडान, मोरक्को तथा ट्यूनीशिया थे। स्वतन्त्रता की दूसरी लहर ने काले अर्थात् नीग्रो लोगों द्वारा आवासित अफ्रीका को प्रभावित किया। सन् 1957 में ब्रिटेन द्वारा

घाना को स्वतन्त्रता प्रदान की गई और सन् 1958 में गिनी पचम फ्रेंच गणराज्य से पृथक् हो गया। सन् 1959 तक अफ्रीका में ग्यारह राज्य स्वाधीन हो गए, किन्तु अभी तक सहारा के दक्षिण का और जम्बेसी नदी के उत्तर का मध्य अफ्रीका पराधीन था। सन् 1960 में स्वतन्त्रता की तीसरी जबर्दस्त लहर ने इस क्षेत्र के अधिकांश गुलाम देशो को आजाद कर दिया। यह वर्ष अफ्रीका के स्वतन्त्रता का वर्ष कहा जाता है जिसमे 17 देशो ने स्वतन्त्रता प्राप्त की। इसके बाद एक-एक करके अफ्रीका के शेष देश भी स्वतन्त्र होते गए और आज केवल इनेगिने प्रदेशो को छोडकर सम्पूर्ण अफ्रीका महाद्वीप स्वतन्त्र हो चुका है। जो देश स्वतन्त्र हुए वे ये थे—

क्र. स.	नाम देश	स्वतन्त्रता पूव प्रशासकीय देश	स्वतन्त्र होने की तिथि
1.	लाइबेरिया	अमेरिका	1847
2.	इथोपिया	—	1941
3.	लीबिया	—	24 नवम्बर 1951
4.	इरिट्रिया	इटली	सितम्बर 1952
5.	सूडान	ब्रिटेन	जनवरी 1956
6	मोरक्को	फ्रास	मार्च 1956
7.	ट्यूनीशिया	फ्रास	मार्च 1956
8	घाना	ब्रिटेन	मार्च 1957
9.	गिनी	फ्रास	अक्तूबर 1958
10.	संयुक्त अरब गणराज्य	—	1959
11.	कैमरून	फ्रास	जनवरी 1960
12.	मोरक्को (कुछ अश)	स्पेन	मार्च 1960
13.	टोगो	फ्रास	अप्रेल 1960
14.	मालीसघ	फ्रास	जुलाई 1960
15.	कांगोली गणराज्य	बेल्जियम	जुलाई 1960
16.	सोमालिया	ब्रिटेन व इटली	जुलाई 1960
17.	मालागासी गणराज्य	फ्रास	जुलाई 1960
18.	छाद	फ्रास	अगस्त 1960
19.	नाइजर	फ्रास	अगस्त 1960
20.	आइवरी कोस्ट	फ्रास	अगस्त 1960
21.	वोल्टाई गणराज्य	फ्रास	अगस्त 1960
22.	बेनिन	फ्रास	अगस्त 1960
23.	डोमी	फ्रास	अगस्त 1960
24.	कांगो गणराज्य	—	अगस्त 1960
25.	मध्यवर्ती अफ्रीका	—	अगस्त 1960
26.	नाइजीरिया	ब्रिटेन	अक्तूबर 1960
27.	मारितेनिया	फ्रास	नवम्बर 1960
28.	सियरालियोन	फ्रास	अप्रेल 1961
29.	रुआंडा-उरुंडी	बेल्जियम	जुलाई 1962
30.	अल्जीरिया	फ्रास	सितम्बर 1962

क्र. स.	नाम प्रदेश	स्वतन्त्रता पूर्व प्रशासकीय देश	स्वतन्त्र होने की तिथि
31.	युगांडा	ब्रिटेन	अक्तूबर 1962
32	तगानिका	ब्रिटेन	दिसम्बर 1962
33	केनिया	ब्रिटेन	दिसम्बर 1963
34.	जंजीबार	ब्रिटेन	दिसम्बर 1963
35.	न्यासालैण्ड (मलावी)	ब्रिटेन	1964
36.	जेम्बिया (उत्तरी रोडेशिया)	ब्रिटेन	1964
37.	गैम्बिया	ब्रिटेन	1965
38	ब्रिटिश गियाना (नया नाम गुयाना)	ब्रिटेन	मई 1966
39.	बोत्सवाना (बचुआनालैण्ड)	ब्रिटेन	सितम्बर 1966
40	लेसोथो (बसुतोलैण्ड)	ब्रिटेन	अक्तूबर 1966
41.	बारबाडोस	ब्रिटेन	नवम्बर 1966
42.	मारिशस	ब्रिटेन	मार्च 1968
43.	ग्रेनाडा	ब्रिटेन	फरवरी 1974
44	गिनी बिसाऊ	पुर्तगाल	सितम्बर 1974
45	मोजाम्बिक	पुर्तगाल	जून 1975
46	केपवर्दे	पुर्तगाल	जुलाई 1975
47.	कोमोरो द्वीप समूह	पुर्तगाल	जुलाई 1957
48.	अंगोला	पुर्तगाल	नवम्बर 1975
49	सेशेल्स	ब्रिटेन	जून 1976

अफ्रीका महाद्वीप की राजनीतिक परम्पराएँ आरम्भ से ही अधिनायकवादी और सर्वसत्तावादी रही हैं। औपनिवेशिक युग आरम्भ होने से पहले अफ्रीका महाद्वीप मे एकतन्त्रात्मक शासन का बोलबाला था। कबीलों के सरदार स्वेच्छाचारी ढग से शासन करते थे। औपनिवेशिक युग के दौरान भी इस स्थिति मे कोई विशेष अन्तर नही आया। अफ्रीका के लोग साम्राज्यवादी शक्तियो के निरकुश शासन से पीडित रहे। अफ्रीका महाद्वीप के किसी भी देश मे स्वस्थ लोकतन्त्रीय परम्पराओं का विकास नही हो सका, किन्तु अब स्वतन्त्रता के इस युग मे अनेक अफ्रीकी देशो मे—विशेषकर भूतपूर्व ब्रिटिश उपनिवेशो मे, ससदीय लोकतन्त्र की स्थापना की गई है। यद्यपि उदार लोकतन्त्र अभी अधिक सफल नही हुआ है, तथापि अफ्रीका धीरे-धीरे लोकतान्त्रिक परम्पराओ और सस्थाओ के विकास की दिशा मे अग्रसर हो रहा है। कुछ देशो मे लोकतन्त्र की काफी प्रगति हुई है तो कुछ देशो मे निर्वाचित एकतन्त्र की स्थापना की गई है।

अफ्रीका मे साम्यवाद का प्रभाव अभी तक विशेष उग्र नही हो पाया है अफ्रीकी देशो के प्रति सोवियत सघ और चीन के दृष्टिकोण भिन्न रहे हैं। सोवियत सघ ने अफ्रीकावासियो को साम्राज्यवाद के विरुद्ध सघर्ष मे नैतिक और कूटनीतिक समर्थन दिया है जबकि चीन की नीति अफ्रीकी देशो पर दबाव डालने और उन्हें

अपनी शक्ति से आतंकित करने की रही है। यद्यपि दोनों ही देश चाहते हैं कि अफ्रीका में साम्यवाद का प्रसार हो, तथापि दोनों के ढंग भिन्न-भिन्न हैं। दोनों ही देशों के नेता अफ्रीका के विभिन्न देशों के दौरे करते रहे हैं।

राजनीतिक दृष्टि से स्वाधीनता प्राप्त कर लेने पर भी अफ्रीका के सामने एक बड़ी समस्या अपनी इस स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने की है। महाशक्तियाँ और कुछ अन्य बड़े देश अफ्रीका के पिछड़े देशों को अपने प्रभाव में लाने को उत्सुक हैं। आर्थिक दृष्टि से अफ्रीका बहुत पिछड़ा हुआ है, यद्यपि प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से यह एक समृद्ध है। अफ्रीका के देश चाहते हैं कि विकसित राष्ट्र उन्हें आर्थिक और प्राविधिक सहायता दें ताकि वे अपने प्राकृतिक साधनों का उपयोग कर सकें, लेकिन साथ ही वे यह भी चाहते हैं कि उनकी सम्प्रभुता और स्वतन्त्रता पर कोई आँच न आए। अब यह सम्भव नहीं है कि अफ्रीकी देश पाश्चात्य औद्योगिक उत्पादन के लिए बाजार बन कर रह जाएँ।

एशियायी राज्यों की तरह ही अफ्रीकी राज्य भी पारस्परिक फूट के शिकार हैं। विभिन्न राज्यों में पारस्परिक कलह का बोलबाला रहता है, कई बार सैनिक झड़पें भी होती हैं। सैनिक क्रान्तियाँ होना भी एक आम बात है। पृथकतावादी आन्दोलन भी जब तब जोर पकड़ते हैं। शिक्षा, सभ्यता और विज्ञान में पिछड़े हुए होने के कारण अफ्रीका के देशों में राष्ट्रवाद अभी इतना प्रभावशाली नहीं हो सका है जितना एशिया महाद्वीप में। ये सब बातें अफ्रीका महाद्वीप की एकता के लिए हानिकर हैं और इसीलिए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षितिज पर अफ्रीका का इतना शक्तिशाली चित्र अभी नहीं उभर सका है जितना उभरना चाहिए था। भविष्य में अफ्रीका के कुछ देशों में साम्यवादी आन्दोलन के जोर पकड़ जाने और स्थिति विस्फोटक बन जाने की सम्भावना से भी इंकार नहीं किया जा सकता। अफ्रीका के कई देशों जैसे काहिरा, अदिस अबाबा, प्रीटोरिया, किमोनरोविया आदि में साम्यवादियों के कूटनीतिक अड्डे हैं। अल्जीरिया, ट्यूनीशिया, फ्रांसीसी पश्चिमी अफ्रीका में स्थानीय साम्यवादी दलों का प्रभाव है। वैसे अफ्रीका के नेताओं में से बहुत कम ही साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित हैं।

एशिया और अफ्रीका के जागरण के कारण

एशिया और अफ्रीका महाद्वीप में जागरण की जो लहर उठी और विकसित हुई उसके कारण निम्नलिखित हैं—

1. द्वितीय महायुद्ध ने यूरोप के राष्ट्रों को आर्थिक, सैनिक और राजनीतिक दृष्टि से निर्बल बना दिया था। यूरोप स्वयं 'समस्या-प्रधान' (Problem Europe) महाद्वीप बन गया। जर्मनी और इटली नष्ट हो गए, ब्रिटेन और फ्रांस तीसरी श्रेणी के राष्ट्र बन गए। इस प्रकार ये उपनिवेशवादी शक्तियाँ इस योग्य नहीं रहीं कि अपने विशाल साम्राज्य का भार सम्भाल सकतीं।

2. महायुद्ध में गोरी जातियों को गहरी पराजयों का सामना करना पड़ा। अतः एशिया और अफ्रीका के लोगों के दिलों में यह बात बैठ गई कि गोरी जातियाँ

'अजेय' नहीं है। इस अनुभूति ने उनमें नव-जीवन का संचार किया जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय आन्दोलन तीव्र होते गए।

3. महायुद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका महाशक्ति के रूप में प्रकट हुआ। उसने दोहरी नीति अपनाई—एक ओर तो ब्रिटेन, फ्रांस आदि उपनिवेशवादी शक्तियों को आश्रय दिया और दूसरी ओर एशियायी देशों के मन में यह बात भी बैठानी चाही कि अमेरिका उनके स्वाधीनता-संग्राम का समर्थक एवं उपनिवेशवाद का विरोधी है। अमेरिका ने एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रीय आन्दोलनों का प्रकट रूप में विरोध नहीं किया था बल्कि यह कोशिश की थी कि इन महाद्वीपों के जागरण का अमेरिकी हितों में प्रयोग किया जाए, अतः परिणाम यह निकला कि अफ्रो-एशियायी राष्ट्रवाद जोर पकड़ गया।

4. अपार हानि के बावजूद सोवियत संघ भी महायुद्ध के बाद दूसरी महाशक्ति के रूप में उभरा। रूस ने एशिया और अफ्रीका के देशों का समर्थन प्राप्त करने के लिए उनके स्वाधीनता-आन्दोलनों को प्रेरणा दी। एक महाशक्ति का कूटनीतिक और नैतिक समर्थन पाकर महाद्वीपों के राष्ट्रीय आन्दोलन सफलता की ओर बढ़े।

5. महायुद्ध के बाद विश्व दो गुटों में बँट गया—पूँजीवादी और साम्यवादी। दोनों गुटों ने एशिया और अफ्रीका के पिछड़े राष्ट्रों को आर्थिक और प्राविधिक तथा समयोचित सैनिक सहायता देना शुरू किया। दोनों ने ही यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि वे एशिया और अफ्रीका के हित-चिन्तक हैं। इस प्रतिस्पर्द्धा का परिणाम यह हुआ कि अफ्रो-एशियाई राष्ट्र अपने राजनीतिक और सामरिक महत्त्व को अधिक अच्छी तरह समझने लगे। उनका साहस बढ़ गया और राष्ट्रीय आन्दोलनों का प्रसार हुआ।

6. संयुक्त राष्ट्रसंघ में उपनिवेशवाद के विरुद्ध आवाज उठाई गई और विश्व-जनमत एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रों के पक्ष में हो गया। न्याय-परिषद् ने ट्रस्टी राष्ट्रों पर संरक्षित प्रदेशों में संविधानिक सुधारों के लिए दबाव डाला और एक निर्धारित समय में उन्हें स्वतन्त्र कराने का कार्यक्रम तैयार किया। इसका परिणाम यह हुआ कि न्यास-संस्था के अन्तर्गत आज कोई प्रदेश नहीं है जबकि सन् 1945 में 11 प्रदेश थे।

7. आवागमन और संचार के वैज्ञानिक साधनों के फलस्वरूप दुनिया जिस तरह से सिकुड़कर छोटी हो गई उससे भी एशिया और अफ्रीका के आन्दोलन गतिमान हुए। विभिन्न राष्ट्रों के नेताओं में सम्पर्क बढ़ा तथा स्वाधीनता आन्दोलनों को सफल बनाने के लिए नीतियों का निर्धारण हुआ। दोनों महाद्वीपों के देश इस बात से अच्छी तरह परिचित हो गए कि यूरोपीय राष्ट्रों तथा अमेरिका की तुलना में वे आर्थिक और औद्योगिक दृष्टि से कितने पिछड़े हुए हैं। इस प्रकार की अनुभूति ने अफ्रीका और एशियावासियों को अपनी उन्नति के लिए प्रेरित किया। जो राष्ट्र स्वतन्त्र होते गए वे इस बात के लिए कटिबद्ध हो गए कि वे शीघ्रातिशीघ्र स्वावलम्बी बनें ताकि फिर से साम्राज्यवाद के शिकंजे में न फँस सकें।

8. अल्जीरिया के सफल स्वाधीनता संग्राम ने अफ्रीका महाद्वीप मे एक नई ज्योति जगाई ।

एशिया और अफ्रीका का जागरण वास्तव मे उस उभरते हुए राष्ट्रवाद का ही दूसरा नाम है जो इन महाद्वीपो के छोटे-बडे राष्ट्रो की विभिन्न आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक परिस्थितियो और मान्यताओ तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक घटना-चक्रों और विशेषताओ के बीच टकराव तथा आदान-प्रदान के फलस्वरूप विकसित हुआ है ।

एशिया तथा अफ्रीका के जागरण में समानताएं तथा अन्तर

समानताएँ

1. दोनो ही महाद्वीप जाग उठे हैं, गुलामी से लगभग मुक्त हैं तथा हर प्रकार के साम्राज्यवाद-उपनिवेशवाद के विरोधी है ।

2. सदियो तक परतन्त्र रहने के कारण दोनों महाद्वीप आर्थिक पिछड़ेपन और सामाजिक रूढिवादिता से ग्रस्त है । दोनो मे ही अशिक्षा का बोलबाला है तथा राजनीतिक चेतना अपरिपक्व है ।

3. महाशक्तियाँ दोनो ही महाद्वीपो के अनेक राज्यो की राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक कमजोरियो का लाभ उठाकर अपने 'आर्थिक उपनिवेशवाद' के लिए प्रयत्नशील हैं । अमेरिका अपने 'डॉलर साम्राज्यवाद' का प्रसार चाहता है तो रूस भी अपने आर्थिक प्रभावक्षेत्र के विस्तार का इच्छुक है, लेकिन अमेरिका की तुलना मे रूस की नीति कम उग्र है ।

4 महाशक्तियों की हस्तक्षेप-नीति ने दोनो ही महाद्वीपो मे सघर्ष के अनेक विस्फोटक केन्द्रो की स्थापना करदी है ।

5 दोनों महाद्वीपो मे अधिकाँश राज्यो का नेतृत्व पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त नेताओ के हाथो मे है । ये नेता अपने देशो को पाश्चात्य व्यवस्थाओ के अनुकूल ढालना चाहते हैं । अनेक देशो की जनता गरीबी की चक्की मे पिस रही है, लेकिन उन देशो का नेतृत्व वास्तविक स्थिति का मूल्यांकन नही कर पा रहा है ।

6. दोनो ही महाद्वीपो के देश राष्ट्रवाद की लहर से ओतप्रोत हैं, पर साथ ही साम्यवाद के प्रसार से भी आशकित है ।

7 अपने आर्थिक और प्राविधिक विकास के लिए दोनो ही महाद्वीप परमुखापेक्षी हैं, अतः सहायता देने वाली शक्तियो को सहायता प्राप्त देशो मे अपना राजनीतिक प्रभाव जमाने के अवसर सुलभ होने रहे हैं ।

8. सैनिक क्रान्तियाँ दोनो ही महाद्वीपो मे होती रहती है, तथापि लोकतन्त्रीय परम्पराओ और सस्थाओ का विकास होता जा रहा है ।

अन्तर

1 एशिया का राष्ट्रवाद अफ्रीकी राष्ट्रवाद की तुलना मे अधिक परिपक्व है ।

2. एशिया मे भारत, चीन, जापान, बर्मा जैसे विशालकाय और उन्नत देशो का अस्तित्व है जबकि अफ्रीका मे छोटे-छोटे राष्ट्रो की भरमार है । इसीलिए अन्तर्राष्ट्रीय जगत् पर जितना प्रभाव एशिया का है उतना अफ्रीका का नही ।

3. एशिया मे अफ्रीकी राष्ट्रो की तुलना मे शिक्षा का अधिक प्रसार है।

4. एशिया में लोकतन्त्र जितना आगे बढ चुका है, अफ्रीका में अपेक्षाकृत बहुत कम बढ पाया है। जहाँ भारत एशिया में लोकतन्त्र का गढ है वहाँ अफ्रीका मे ऐसा कोई देश नही है।

5. अफ्रीकी राष्ट्रवाद उग्र है जबकि एशियायी राष्ट्रवाद सामान्यत. शान्तिपूर्ण उपायो में विश्वास करता है। अपवाद की बात अलग है।

6. एशियायी में यूरोपीय उपनिवेशवादियो ने अस्थाई रूप से बसने की नीति अपनाई थी जबकि अफ्रीका में यूरोपीय जातियाँ स्थाई रूप से बस गईं। अतः एशिया की तुलना मे अफ्रीका में अधिक जटिल समस्याएँ उत्पन्न हो गईं जो आज भी अपना प्रभाव प्रदर्शित कर रही हैं।

7 रगभेद और कबीलावाद की समस्याएं एशिया की अपेक्षा अफ्रीका में निरन्तर अधिक गम्भीर रही हैं।

8 अफ्रीकी नेता, अन्तर्राष्ट्रीय रगमच पर एशियायी नेताओ की तुलना मे प्राय अधिक उग्र रहे हैं। इससे एफ्रो-एशियायी एकता आन्दोलन को बड़ा आघात पहुँचा है।

9 एशिया की तुलना मे अफ्रीका मे साम्यवाद का प्रभाव उग्र रूप मे नही हो पाया है। एशिया मे चीन दुनिया का सबसे बडा साम्यवादी देश है।

10. एशिया की तुलना मे अफ्रीका के देश आर्थिक और औद्योगिक दृष्टि से बहुत अधिक पिछडे हुए हैं।

एशिया और अफ्रीका के जागरण के प्रतीक महत्त्वपूर्ण संगठन और सम्मेलन

द्वितीय महायुद्ध के बाद एशिया और अफ्रीका महाद्वीप मे चेतना की जो लहर उठी उसके फलस्वरूप इन महाद्वीपो के विभिन्न राष्ट्रो ने पारस्परिक सम्पर्क का महत्त्व समझा। अत. समय-समय पर अफ्रेशियायी देशो के सम्मेलन हुए जिन्होने राष्ट्रीयता का प्रसार किया और उपनिवेशवाद की जडें खोखली कर दी। जागरण के सन्देशवाहक इन महत्त्वपूर्ण सम्मेलनो पर दृष्टिपात करना उचित होगा।[1]

प्रथम एशियायी सम्मेलन, 1947

भारत के प्रधान मन्त्री स्वर्गीय प नेहरू की प्रेरणा से इण्डियन कौंसिल ऑफ वर्ल्ड अफेयर्स ने मार्च अप्रेल 1947 मे एशियायी देशो के एक गैर-सरकारी सम्मेलन का आयोजन किया। इसमे 28 देशो के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। सदस्यों ने एशियायी देशो की राजनीतिक स्वतन्त्रता, उनके आर्थिक विकास, रगभेद आदि की विभिन्न समस्याओ पर विचार किया। इस बात पर सभी सदस्य-राज्य सहमत थे कि एशियायी देश आपस मे मिलकर ही अपनी समस्याओ का समाधान कर सकते हैं।

1. तटस्थ या गुट-निरपेक्ष देशो के जो सम्मेलन हुए (जैसे काहिरा सम्मेलन 1964, लुसाका सम्मेलन 1970, अल्जीरिया सम्मेलन 1973, आदि) उनका विवरण 'गुट-निरपेक्षता' अध्याय मे दिया गया है।

एशियायी सम्मेलन, 1949

भारत सरकार के आमन्त्रण पर दिल्ली में 20 से 30 जून, 1949 तक एशियायी देशों का द्वितीय सम्मेलन हुआ। इसका मूल उद्देश्य इण्डोनेशिया पर डच आक्रमण से उत्पन्न परिस्थितियों पर विचार करना था। इस सम्मेलन में डच कार्यवाही की कठोर शब्दों में निन्दा की गई। डच आक्रमण को असफल बनाने के लिए कुछ कार्यक्रम निर्धारित किए गए तथा सुरक्षा परिषद्, आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैण्ड का सहयोग प्राप्त कर हॉलैण्ड के प्रति कठोर नीति अपनाने का निश्चय किया गया।

बाण्डुंग सम्मेलन, 1955

इण्डोनेशिया के नगर बाण्डुंग में 18 अप्रेल से 27 अप्रेल, 1954 तक एशिया और अफ्रीका के 29 राष्ट्रों का सम्मेलन हुआ जिस पर पूर्व पृष्ठों में प्रकाश डाला जा चुका है। इस सम्मेलन ने अफ्रो-एशियायी राष्ट्रों में एक नया आत्मविश्वास जाग्रत किया। राज्यों के आपसी व्यवहार के दस सिद्धान्त निर्धारित किए गए जो पचशील का ही विस्तारमात्र थे। सम्मेलन ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक समस्याओं के प्रति एशिया और अफ्रीका का समान दृष्टिकोण प्रस्तुत किया।

मोशी सम्मेलन, 1963

फरवरी, 1963 में मोशी (टांगानिका) में अफ्रोशियायी एकता सम्मेलन हुआ। इसमें—(i) ब्रिटेन से अपील की गई कि बासुतोलैण्ड, बेचुआनालैण्ड तथा स्वाजीलैण्ड को तुरन्त बिना शर्त स्वतन्त्रता प्रदान कर दे; (ii) राष्ट्रों से अपील की गई कि उपनिवेशवादी शक्तियों के दमन से पीड़ित लोगों को राजनीतिक शरण दी जाए; (iii) इजरायल की इस बात के लिए निन्दा की गई कि वह एक नया उपनिवेशवादी अड्डा बनता जा रहा है; (iv) यह स्वीकार किया गया कि चीन को फारमोसा को मुक्त करने का अधिकार है, (v) सभी राष्ट्रों से अपील की गई कि पुर्तगाल के विरुद्ध आर्थिक और कूटनीतिक बहिष्कार लागू कराएँ और अगोला तथा मोजाम्बिक के स्वतन्त्रता आन्दोलनों को सहायता दें; (vi) दक्षिण रोडेशिया के लोगों को उनके मुक्ति-संग्राम में सहयोग देने की अपील की गई; (vii) वियतनाम में अमेरिका से आक्रामक कार्यवाहियाँ बन्द करने की अपील की गई; (viii) ब्रिटेन को सुझाव दिया गया कि वह सन् 1963 के अन्त तक जजीबार को स्वतन्त्र कर दे; एवं (ix) यह प्रस्ताव पारित किया गया कि संयुक्त राष्ट्रसंघ अमेरिकी साम्राज्यवाद का साधन न बने और इसका पुनर्गठन इस तरह किया जाए कि इसमें एशिया और अफ्रीका को समुचित प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सके।

अदिस अबाबा सम्मेलन, 1963

मई, 1963 में इथियोपिया की राजधानी अदिस अबाबा में 32 राष्ट्रों का अफ्रीकी सम्मेलन हुआ। इसमें संयुक्त अफ्रीका की स्थापना पर विचार किया गया। अफ्रीकी राष्ट्रों के एक स्थायी सचिवालय की स्थापना और सभी राज्यों के विदेश-मन्त्रियों की एक मन्त्रि-परिषद् की स्थापना पर विचार हुआ। इन निश्चयों के

अनुसार कार्य भी हुआ। सचिवालय का नाम 'अफ्रीकी एकता संगठन' रखा गया। अफ्रीकी राज्यों के बीच होने वाले विवादों के समाधान के लिए एक आयोग भी स्थापित किया गया। अफ्रीका के पराधीन देशों को औपनिवेशिक दासता से मुक्त करने और दक्षिण अफ्रीका की अश्वेत जनता को रंगभेद नीति के अत्याचारों से छुटकारा दिलाने के लिए एक मुक्ति-सेना और मुक्ति-कोष की स्थापना पर विचार हुआ। यह निर्णय लिया गया कि दक्षिण अफ्रीका और पुर्तगाल के विरुद्ध राजनीतिक तथा आर्थिक बहिष्कार की नीति अपनाई जाए। सम्मेलन की सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि उसमें अफ्रीकी एकता का एक घोषणापत्र स्वीकार किया गया जिसमें समूचे अफ्रीका महाद्वीप को दासता से मुक्त कराने की प्रतिज्ञा की गई। इसके लिए 9 अफ्रीकी देशों—टांगानिका अल्जीरिया, इथियोपिया, संयुक्त-अरब-गणराज्य, युगाण्डा, कांगो, गिनी, सेनेगल नेगा, नाइजीरिया को मिलाकर एक स्वाधीनता समिति (Liberation Committee) की स्थापना हुई। इसका प्रधान कार्यालय दारेस्सलाम में रखा गया।

अफ्रेशियायी एकता सम्मेलन, 1972

जनवरी, 1972 में काहिरा में अफ्रेशियायी एकता सम्मेलन का आयोजन हुआ जिसमें 69 देशों के प्रतिनिधि-मण्डलों ने भाग लिया। सम्मेलन पाकिस्तानी प्रतिनिधि-मण्डल के विरोधी रवैये के बावजूद भारत और बंगलादेश के न्यायोचित पक्ष में विसर्जित हुआ। लीबिया के अलावा अन्य मुस्लिम राज्यों ने नवोदित बंगलादेश का समर्थन किया और भारतीय उपमहाखण्ड की वास्तविकता को स्वीकार किया। सम्मेलन में बंगलादेश के प्रतिनिधि-मण्डल को भी आमन्त्रित किया गया जो इस बात का प्रमाण था कि एशिया और अफ्रीका के बहुसंख्यक देशों ने उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार कर लिया था। पश्चिम एशिया, हिन्द-चीन और अफ्रीका के मुक्ति-आन्दोलनों के बारे में भी खुलकर विचार-विमर्श हुआ। अफ्रेशियायी देशों का एक साझा बाजार बनाने की भी पेशकश की गई।

अफ्रीकी एकता संगठन

25 मई 1962 को 30 अफ्रीकी देशों ने अदिस अबाबा सम्मेलन में 'अफ्रीकी एकता संगठन' की स्थापना के घोषणापत्र पर हस्ताक्षर किए। वहीं इस संगठन का मुख्यालय है। संगठन का प्रधान उद्देश्य है—अफ्रीकी देशों के बीच एकता और सहयोग की वृद्धि, उपनिवेशवाद की समाप्ति तथा सदस्य-देशों की स्वाधीनता की रक्षा के लिए काम करना। समय-समय पर सदस्य देशों के विदेश-मन्त्रियों के अधिवेशन होते हैं। शिखर अधिवेशन भी होते हैं। इनके माध्यम से संगठन के महत्त्वपूर्ण निर्णय लिए जाते हैं और अफ्रीकी देशों के बीच उत्पन्न मतभेदों को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है।

पान-अफ्रीकावाद

अखिल अफ्रीकी भ्रातृत्व आन्दोलन अथवा पान-अफ्रीकावाद (Pan-Africanism) इस महाद्वीप के एकीकरण का एक बहुत प्राचीन आन्दोलन है। इस

आन्दोलन का ध्येय 'संयुक्तराज्य अफ्रीका' की स्थापना है। सबसे पहले सन् 1900 मे लन्दन मे पान-अफ्रीकी सम्मेलन हुआ और तब से समय समय पर ये सम्मेलन होते रहे हैं जिनमे अफ्रीका को औपनिवेशिक दासता से मुक्त कराने सम्बन्धी निर्णय लिए गए हैं। घाना के स्वतन्त्र होने पर अफ्रीका मे जब यह सम्मेलन हुआ (इसके पहले यह आन्दोलन अफ्रीका के बाहर ही था) तो इसके मुख्य उद्देश्यो का स्पष्टीकरण किया गया। ये उद्देश्य, सकेत रूप मे, इस प्रकार हैं—

1. अफ्रीका के सभी देशो के एक सघ का निर्माण जाए। क्षेत्रीय आधार पर भी संघ बनाए जा सकते हैं, जैसे—उत्तर अफ्रीका संघ, पश्चिम अफ्रीका संघ, केन्द्रीय अफ्रीका सघ, दक्षिण अफ्रीका सघ, आदि।

2. उपनिवेशवाद, जातिवाद और रंगभेदवाद का विरोध किया जाए।

3. अहिंसात्मक साधनों और तटस्थ नीति को प्रोत्साहन दिया जाए।

पहले पान-अफ्रीकी सम्मेलनो मे अफ्रीकी देशो की स्वतन्त्रता पर अधिक बल दिया जाता था, पर अब अफ्रीका महाद्वीप लगभग स्वतन्त्र हो चुका है, अतः सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य 'अफ्रीकी व्यक्तित्व' की कल्पना को साकार करना है। किन्तु इस लक्ष्य की पूर्ति सुगम नही है क्योकि अफ्रीका के देश आपसी फूट के शिकार हैं। इस महाद्वीप मे विभिन्न भाषाओ, सस्कृतियो, परम्पराओ और धार्मिक विचारों का पोषण होता है। अफ्रीका के देशो मे राजनीतिक अस्थिरता बनी रहती है, शिक्षा की दृष्टि से अफ्रीका के अधिकांश देश काफी पिछड़े हुए हैं, एव अधिकांश अफ्रीकी राज्यो के नेता उग्र तथा अस्थिर प्रकृति के हैं।

अरब लीग

अरब लीग अरबो की राष्ट्रीय जागृति की प्रतीक है। इसकी स्थापना सन् 1945 मे मिस्र, जोर्डन, लेबनान, सीरिया, सऊदी अरब, ईराक और यमन के बीच एक समझौते के फलस्वरूप हुई। बाद मे लीबिया, सूडान, मोरक्को आदि अनेक अरब देश इसमे सम्मिलित हो गए। लीग का मुख्य उद्देश्य अरब-देशो मे एकता और सहयोग का प्रसार करना है, लेकिन अरबो की आपसी फूट के कारण अभी तक इस दिशा मे उत्साहजनक प्रगति नही हो सकी है।

विश्व-राजनीति में तेल-उत्पादक अरब-देशों का महत्त्व बढ़ने के साथ-साथ उसके एकमात्र राजनीतिक सगठन के रूप मे अरब लीग का महत्त्व भी काफी बढ गया है। फलस्वरूप, 1974 मे अरब लीग के तत्वावधान मे अरब देशो के राष्ट्राध्यक्षो की रबात मे बैठक हुई जिसमे फिलिस्तीन राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे को फिलिस्तीनियो के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप मे मान्यता दी गई।

कंपाला सम्मेलन, जुलाई-अगस्त, 1975

अफ्रीकी एकता सगठन का 12वां सम्मेलन 28 जुलाई से 1 अगस्त, 1975 तक युगाण्डा की राजधानी कंपाला मे हुआ। जैसा पहले से ही सकेत मिल गया था, यह सम्मेलन अफ्रीकी एकता के बीच विद्यमान दरारो को व्यक्त करने वाला सिद्ध हुआ। सगठन के सदस्य-देशो की संख्या 45 है जबकि उसमें युगाण्डा सहित

20 देशों ने ही भाग लिया। अफ्रीकी एकता के दृढ़ स्तम्भ तंजानिया के राष्ट्रपति जूलियस न्येरेरे, जाम्बिया के केनेथ काउंडा, नवस्वाधीन मोज़ाम्बिक के राष्ट्रपति समोरा माशेल और बोत्स्वाना के प्रधानमन्त्री सर सेरेत्से खामा जैसे महत्त्वपूर्ण नेता सम्मेलन में शामिल नहीं हुए। सम्मेलन का बहिष्कार करने के पीछे तंजानिया का प्रबल तर्क यह था कि चूंकि सम्मेलन युगाण्डा में हो रहा है, अतः उसमें भाग लेने का अर्थ होगा कि सन् 1971 में सत्ता हथियाने के बाद राष्ट्रपति ईदी अमीन ने हजारों अफ्रीकियों की जो हत्या की, संगठन के सदस्य उसका समर्थन करते हैं। इस आरोप में वजन था और सम्भवतः इसीलिए संगठन के अधिसंख्यक सदस्य सम्मेलन में उपस्थित नहीं हुए।[1]

काफी विवाद के बाद युगाण्डा के राष्ट्रपति ईदी अमीन सम्मेलन के अध्यक्ष चुने गए। इस प्रकार उनकी महत्त्वाकांक्षा तो पूरी हो गई, लेकिन अफ्रीकी एकता संगठन को इससे भारी ठेस पहुँची। इजरायल के विरोध के सम्बन्ध में भी संगठन में एकता नहीं हो पायी। मिस्र ने प्रस्ताव किया कि जब तक इजरायल अरब भूमि खाली नहीं करता तब तक के लिए उसे संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता से 'वंचित' कर दिया जाना चाहिए। फिलिस्तीनी मुक्ति मोर्चे ने अपने प्रस्ताव में माँग की कि इजरायल को संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता से तुरन्त अलग कर दिया जाए। सम्मेलन ने दोनों ही प्रस्तावों पर विचार किया और सदस्य-देशों में काफी मतभेद उभर कर सामने आए। अन्त में मिस्र के प्रस्ताव को प्राथमिकता देते हुए इस आशय का प्रस्ताव पारित किया गया कि इजरायल पर दबाव बढ़ाना चाहिए और यदि वह अरब भूमि खाली न करे तो अन्ततः उसे संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता से वंचित किया जा सकता है। फिलिस्तीनी मुक्ति मोर्चे को बड़ा क्षोभ हुआ और उसके नेताओं ने सम्मेलन समाप्त होने के बाद मिस्र पर आरोप लगाया कि इजरायल की संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता का मिस्र ने 'असम्मानजनक बचाव' किया है और 'मुट्ठी भर सिनाय के बदले इजरायल का पक्ष लिया है।

सम्मेलन में दक्षिणी अफ्रीका और रोडेशिया के प्रश्न पर भी विचार किया गया और कहा गया कि जब तक वहाँ बहुमत का शासन स्थापित न हो जाए तब तक अफ्रीकी एकता संगठन को वहाँ के राष्ट्रवादियों के स्वाधीनता संघर्ष का समर्थन करते रहना चाहिए। अंगोला के गृहयुद्ध पर भी सम्मेलन में विचार किया गया और उसमें उलझे हुए विभिन्न पक्षों से तुरन्त युद्ध-विराम करने के लिए कहा गया।

इस बार सम्मेलन में विघ्न पड़ा। सम्मेलन के दूसरे दिन ही नाइजीरिया में रक्तहीन सैनिक क्रान्ति हो गई जिसके फलस्वरूप राष्ट्रपति गोवोन को सत्ताच्युत होना पड़ा। इससे न केवल राष्ट्रपति गोवोन ने सम्मेलन में आगे भाग लेना बन्द किया बल्कि 5 अन्य देशों के राष्ट्राध्यक्ष भी अगले दिन (30 जुलाई) अपने-अपने देशों को लौट गए। ये थे राष्ट्रपति अहमद अहिद्जो (कैमरून), अनवर सादात (मिस्र) सेयनी कूचे (नाइजर), उमर बोंगो (गैबोन) और मारियेन न्गोआबी (कांगो)।

1. दिनमान, 10 अगस्त, 1975, पृष्ठ 32

सम्मेलन में संगठन सम्बन्धी कई प्रश्नों पर कोई निर्णय नहीं हो सका। अफ्रीका के विभिन्न भागों में चालू मुक्ति संघर्षों के संचालन के लिए *उप-क्षेत्रीय* कार्यालय स्थापित करने के बारे में सम्मेलन में विचार किया गया लेकिन मतैक्य न होने के कारण सम्मेलन अपनी मुक्ति-समिति को आगामी फरवरी में *अदिस-अबाबा* में होने वाले सम्मेलन में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करने का निर्देश देकर समाप्त हो गया।[1]

अदिस-अबाबा का विशेष सम्मेलन (जनवरी, 1976) और अंगोला का गृहयुद्ध

11 नवम्बर, 1975 को पुर्तगाली साम्राज्यवाद से मुक्ति पाते ही अंगोला में पहले से ही प्रारम्भ गृहयुद्ध में तीव्रता आ गई और कुछ ही घंटों में तीनों प्रमुख दलों—'अंगोला जनमुक्ति आन्दोलन' (एम. पी. एल. ए.), अंगोला राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा (एफ. एन. एल. ए.) और अंगोला पूर्ण स्वाधीनता संघ (यूनीटा) ने अंगोला के विभिन्न भागों में अपनी स्वतन्त्र सरकारों की घोषणा कर दी।[2] अंगोला जनमुक्ति आन्दोलन ने सम्पूर्ण अंगोला पर अपनी प्रभुसत्ता घोषित करते हुए अपने अध्यक्ष अगस्टीनो नेतो को देश का राष्ट्रपति घोषित कर दिया। देश के आन्तरिक क्षेत्रों में नोवों लिसबुआ में दूसरे राजनीतिक दल अंगोला पूर्ण स्वाधीनता संघ (यूनीटा) ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी और शहर का नाम कुआंबो रख दिया। इसके बवाद में तीसरे राजनीतिक दल 'अंगोला राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे' (एफ. एन. एल. ए.) ने अंगोला के 'लोकप्रिय प्रजातान्त्रिक गणराज्य' की घोषणा कर दी।

इन तीनों राजनीतिक दलों ने अपनी अपनी सरकारों की घोषणा करने के बाद एक दूसरे पर आक्रमण-प्रत्याक्रमण शुरू कर दिए। लेकिन अनेक अफ्रीकी देशों, पूर्वी यूरोपीय देशों और सोवियत संघ से मान्यता प्राप्त होने तथा सैनिक और अन्य सहायता मिलने के कारण अंगोला की राजधानी लुआंडा स्थित अंगोला जनमुक्ति आन्दोलन की सरकार का पलड़ा अन्य दोनों दलों की सरकारों से भारी हो गया। राजधानी में अगस्टीनो नेतो की सरकार को उन सभी अफ्रीकी देशों ने मान्यता दे दी जो कभी पुर्तगाली शासन में थे।

अंगोला के गृहयुद्ध में महाशक्तियों का हस्तक्षेप चिन्ताजनक बात थी। अमेरिका ने अंगोला पर दूसरी सरकार का आधिपत्य स्थापित होने का हौवा खड़ा कर *अंगोला राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे की सरकार को सैनिक सहायता देना शुरू कर* दिया और रूस-विरोधी होने के कारण चीन ने भी राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे की सरकार का समर्थन करते हुए उसे सैनिक सहायता प्रदान की। इस तरह स्वतन्त्रता प्राप्त करते ही अंगोला महाशक्तियों की स्वार्थ-नीति और गृहयुद्ध का शिकार हो गया।

गृहयुद्ध को रोकने और अंगोला में पुनः एकता स्थापित करने के लिए

1. द हिन्दुस्तान टाइम्स, 3 अगस्त, 1975, पृष्ठ 1.
2. दिनमान, 23 नवम्बर, 1975, पृष्ठ 31.

अफ्रीकी एकता संगठन द्वारा 10 जनवरी,1976को इथियोपिया की राजधानी अदिस अबाबा में एक विशेष शिखर सम्मेलन का आयोजन हुआ, लेकिन उसमें अन्तिम रूप से समस्या का ऐसा कोई समाधान नहीं ढूंढा जा सका जो सभी पक्षों को मान्य होता। 46 अफ्रीकी राष्ट्रों के इस संगठन की बैठक में अनेक राजाध्यक्षों तथा प्रधान मन्त्रियों ने भाग लिया। इसके अलावा अंगोला के तीनों मुक्ति संगठनों के प्रतिनिधि भी बैठक में मौजूद थे। वैसे तो इस अभूतपूर्व बैठक का प्रमुख उद्देश्य गृहयुद्ध और विदेशी हस्तक्षेप से त्रस्त अंगोला में शान्ति स्थापित करने के उपाय ढूंढना था, किन्तु इसके साथ एक महत्त्वपूर्ण समस्या यह भी थी कि अफ्रीकी एकता संगठन अंगोला में विभिन्न मुक्ति आन्दोलनों द्वारा स्थापित सरकारों में से किस सरकार को मान्यता दे। 46 में से 22 देश अगस्टीनो नेतो की सरकार (लुआंडा स्थित अंगोला जनमुक्ति आन्दोलन की सरकार) को मान्यता दे चुके थे और चाहते थे कि अगस्टीनो के नेतृत्व में चल रहे एकता और शान्ति-अभियान को हर सम्भव सहायता दी जाए। इसके विपरीत अन्य 22 राजाध्यक्षों का मत था कि तुरन्त युद्ध-विराम के माध्यम से तीनों दलों की सभी प्रकार के विदेशी हस्तक्षेप से मुक्त एक राष्ट्रीय एकता सरकार स्थापित की जाए। शेष दो देशों इथियोपिया और युगाण्डा ने अधिकृत रूप से अपनी कोई राय जाहिर नहीं की।[1] राज्याध्यक्षों में विद्यमान बुनियादी मत-भेदों के कारण किसी तरह का निर्णय लिया जाना सम्भव नहीं हो सका, क्योंकि निर्णय होने की हालत में अफ्रीकी एकता संगठन के विघटन का खतरा था। अतः सम्मेलन में इस समस्या पर छः महीने बाद पुनः विचार करने का निश्चय किया गया। प्रतिनिधियों का विचार था कि तब तक स्थिति काफी स्पष्ट हो जाएगी और तब उस पर निर्णय लेना आसान होगा।

अधिकांश अफ्रीकी और अन्य देशों से मान्यता प्राप्त तथा सोवियत समर्थन और सहायता से लैस अंगोला जनमुक्ति आन्दोलन की सरकार की स्थिति निरन्तर सुदृढ़ होती गई और अंगोला राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे की सरकार जिसे अमेरिका और चीन का समर्थन प्राप्त था, पराजय के कगार पर पहुँच गई। फरवरी, 1976 में युगाण्डा में जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ उसका उद्घाटन राष्ट्रपति अगस्टीनो नेतो ने किया। उन्होंने घोषणा की कि हमारा संघर्ष तब तक चलता रहेगा जब तक अंगोला पूर्णतया स्वतन्त्र और एक नहीं हो जाता।

एशियन शिखर सम्मेलन (फरवरी, 1976)

इण्डोनेशिया के बाली द्वीप में पिछले दिनों (23–24 फरवरी) दक्षिण पूर्वेशियाई राष्ट्रों के संघ (एशियान) का पहला शिखर सम्मेलन हुआ। यह शिखर सम्मेलन आठ वर्ष में पहली बार हुआ था। इसका उद्घाटन इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति सुहर्तो ने किया। पाँच देशों—इण्डोनेशिया, मलेशिया, सिंगापुर, थाईदेश और फिलिपीन में यद्यपि कई तरह के विवाद विद्यमान थे और उन्हें सम्मेलन :

1. दिनमान, 18-24 जनवरी, 1976, पृष्ठ 32

भी उठाया गया लेकिन बातचीत मैत्री और सहयोगपूर्ण वातावरण मे हुई। कई प्रकार के अभाव अभियोग लगाए गए, लेकिन अन्तत: पाँचो देशों में इस बात पर सहमति हो गई कि 'भूलो ताहि बिसार दे आगे की सुधि ले' के आधार पर भावी सम्बन्धों को सुदृढ़ बनाना चाहिए ।[1] उल्लेखनीय है कि एशियान का गठन नौ साल पहले हुआ था। इस नौ साल मे इन देशों के सम्मेलन तो होते रहे लेकिन सहमति का अवसर शायद ही कभी आया हो।

अवसर यह सुनने मे आता था कि पाँच देशों का यह 'एशियान' यूरोप के नौ देशो के यूरोपीय आर्थिक समुदाय, जिसे साझा बाजार ही कहते हैं, के अनुरूप समान मण्डी के गठन के लिए प्रयास करेगा। सम्मेलन मे इस मुद्दे पर बहस जरूर हुई लेकिन अपने भाषण मे राष्ट्रपति सुहर्तो ने इस बात पर जोर दिया कि हमें राष्ट्रीय और क्षेत्रीय एकता को मजबूत करना चाहिए। साथ ही उन्होने यह बात भी स्पष्ट कर दी कि हमारा उद्देश्य सैनिक गुट की स्थापना नही है (इशारा शायद नाटो और वारसा की ओर था) किन्तु हम लोग यह जरूर चाहते हैं कि हमारी क्षेत्रीय अखण्डता कायम रहे ताकि हम लोग किसी भी तरह के आर्थिक खतरे का सामना शान्तिपूर्वक और दृढता के साथ कर सके। वियतनाम युद्ध समाप्त होने के बाद जिस तरह के नए राजनीतिक समीकरण दक्षिण पूर्वी एशिया मे बने थे उनके प्रति भी सचेत रहने पर जोर दिया गया।[2]

इस सम्मेलन की सबसे बडी उपलब्धि एक सयुक्त सन्धि थी जिसका उद्देश्य परस्पर सहयोग और मैत्री को बढावा देना था। आर्थिक क्षेत्रों मे दो कार्यक्रम स्वीकार किए गए—पेट्रो-रसायन, इस्पात, रबड, पोटाश और टिन प्लेट मे बडे पैमाने पर सयुक्त औद्योगिक सयन्त्रों की स्थापना और व्यापार मे एशियान देशो को प्राथमिकता देना। हालाँकि साझा बाजारनुमा मण्डी के गठन की बात अवश्य उठी, लेकिन नेताओ ने महसूस किया कि वह रूप धीरे-धीरे देना चाहिए।[3]

मैत्री और सहयोग के जिस समझौते पर एशियान के पाँच नेताओ ने हस्ताक्षर किए उसमे बीस अनुच्छेद हैं। पहले अनुच्छेद मे कहा गया गया है कि हमे निरन्तर शान्ति, सहयोग और मैत्री का वातावरण उत्पन्न करना चाहिए ताकि हमारे देश के लोगो मे अखण्डता, एकता और परस्पर प्रेम की भावना बलवती रहे। हम लोगो को एक दूसरे की स्वाधीनता, प्रभुसत्ता, क्षेत्रीय अखण्डता का सम्मान करना चाहिए। हर देश को अपनी आन्तरिक स्थिति और आन्तरिक समस्याओ से निपटने का अधिकार है और दूसरे देशो को उसके आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप नही करना चाहिए अपितु किसी भी बाह्य जोर जबरदस्ती की घटना की निन्दा करनी चाहिए और आपस मे प्रभावकारी सहयोग कायम रखना चाहिए।[4]

1. दिनमान, 14-20 मार्च, 1976, पृष्ठ 38.
2-4. वही, पृष्ठ 38.

एशियान सम्मेलन : अगस्त, 1977 [1]

अगस्त, 1977 में क्वालालम्पुर में एशियान देशों का शिखर सम्मेलन हिन्द-चीन देशों के साथ और अधिक सद्भाव तथा सहयोग बढ़ाने की अपील के साथ समाप्त हुआ। सम्मेलन में दक्षिणपूर्व एशियाई देशों की हालांकि कटु आलोचना की गई, तथापि अन्ततः एशियान शिखर सम्मेलन में भाग लेने वाले देशों के प्रतिनिधि इस बात पर सहमत थे कि दक्षिणपूर्व एशियाई देशों के साथ अधिकाधिक सहयोग समूचे एशियाई क्षेत्र के हित में है। इंडोनेशिया और फिलिपीन के राष्ट्रपतियों तथा मलेशिया, सिंगापुर और थाईदेश के प्रधानमन्त्रियों के हस्ताक्षर से दो दिन के सम्मेलन की समाप्ति के बाद संयुक्त विज्ञप्ति प्रसारित की गई जिसमें कहा गया कि पारस्परिक हितों की रक्षा तथा शान्ति के लिए एशियान क्षेत्र के देशों के बीच सहयोग बहुत आवश्यक है।

सम्मेलन में भाग लेने वाले पाँच देशों ने अपना संकल्प दोहराया कि हम समूचे दक्षिणपूर्व एशिया को शान्ति, स्वतन्त्रता और स्थिरता का एक क्षेत्र बनाएंगे। एशियान देशों ने सन् 1971 में यह प्रतिज्ञा की थी। एशियान को बड़े राष्ट्रों में केवल अमेरिका का ही समर्थन प्राप्त है। सोवियत संघ का विचार है कि एशियान गुट अमेरिका के सहयोग से एक सैनिक गुट बन जाएगा। शिखर सम्मेलन शुरू होने से पहले सोवियत संघ के एक प्रमुख समाचार ने एशियान सम्मेलन के आयोजन की कड़ी आलोचना की थी। उधर चीन के समाचार-पत्रों में इस सम्मेलन के समाचार तो छपे लेकिन चीनी समाचार-पत्रों ने सम्मेलन पर कोई टिप्पणी नहीं की।

एशियान के पाँच देशों के बीच आर्थिक सहयोग बढ़ाने के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। इस प्रश्न पर थाईदेश और फिलिपीन के समर्थन से सिंगापुर ने सुझाव रखा था कि व्यापार में रियायतें देने की एक योजना के सम्बन्ध में पाँचों देशों का एक आर्थिक क्षेत्र बनाया जाए। यह सुझाव स्वीकार नहीं किया गया। इस सम्बन्ध में संयुक्त विज्ञप्ति में केवल इतना ही उल्लेख किया गया कि योजना पर अगले वर्ष पहली जनवरी तक कोई निर्णय लिया जाएगा। स्पष्ट है आर्थिक सहयोग के बारे में सम्मेलन किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सका।

संयुक्त विज्ञप्ति में संकेत दिया गया कि एशियान के नेता ऑस्ट्रेलिया, जापान और न्यूजीलैंड के प्रधानमन्त्रियों से निकट भविष्य में जब भेंट करेंगे तो इसी बात पर जोर देंगे कि एशियान के देशों के तैयार और अर्द्धतैयार माल की खपत आस्ट्रेलिया, जापान और न्यूजीलैंड में अधिकाधिक होनी चाहिए। यह अनुरोध भी किया जाएगा कि एशियान देशों की निर्यात आय को स्थिर बनाने के लिए विशेष प्रयत्न किए जाने चाहिए। यही मांग एशियान देश अन्य विकसित देशों से करने वाले हैं। इस सम्बन्ध में यूरोपीय आर्थिक समुदाय से भी सन् 1977 के शुरू में परामर्श हुआ था।

1. दिनमान 14-20 अगस्त, 1977.

आर्थिक स्थिति के संदर्भ मे सम्मेलन मे इस बात पर गहरी चिन्ता व्यक्त की गई कि विकासशील देशो मे सरक्षण प्राप्त करने की भावना बढ रही है, जो इन देशो के लोगों के लिए हितकर नही है। विकासशील देशों से अनुरोध किया गया कि वे सरक्षण प्राप्त करने की भावना का जल्दी से जल्दी त्याग करे और आत्मनिर्भरता के अपने प्रयत्न जारी रखें।

शिखर सम्मेलन से पहले क्वालालम्पुर मे ही एशियान के विदेशमन्त्रियों का एक सम्मेलन हुआ जिसमे दक्षिणपूर्व और दक्षिणपश्चिम एशिया के देशों से स्वतन्त्रता और तटस्थता का क्षेत्र बनाने का अनुरोध किया गया। मिलजुल कर काम करने के अपने दृढ निश्चय को दोहराते हुए पाँचो देशो के विदेशमन्त्रियो ने आशा व्यक्त की कि तटस्थता और स्वतन्त्रता का क्षेत्र स्थापित करने के कार्य मे एशिया के सभी देश अपना योगदान करेंगे। विदेशमन्त्रियों का यह सम्मेलन शिखर सम्मेलन की तैयारी के लिए हुआ था।

दो दिन के शिखर सम्मेलन के पहले दिन फिलिपीन के राष्ट्रपति श्री फार्दीनाद मारकोस की इस घोषणा से काफी सद्‌भावनापूर्ण वातावरण बना कि मलेशिया के पूर्व स्थित सबाह पर वह अपने अधिकार का दावा छोड रहे हैं। फिलिपीन यह मामला संयुक्त राष्ट्र तक ले गया था जिसके कारण फिलिपीन और मलेशिया के बीच टकराव की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। सबाह ने अलग रहने के लिए पृथकतावादी आन्दोलन भी सचालित किया था। शिखर सम्मेलन में भाग लेने वाले शासनाध्यक्षो के भाषणो से स्पष्ट पता चल रहा था कि पाँचो देशो मे राजनीतिक और आर्थिक प्रश्नों पर अभी भी मतभेद है। शायद इसीलिए पाँचो देशो मे आर्थिक क्षेत्र बनाने के प्रश्न पर कोई सहमति नही हो सकी। लेकिन मलेशिया के प्रधानमन्त्री दातुक हुसेन ने यही दावा किया कि पाँचो देशो मे पिछले 10 वर्ष से चली आ रही गुटबन्दी समाप्त हो गई है और अब वे एक समूह के रूप मे उभर कर सामने आए हैं। थाईदेश के प्रधानमन्त्री डॉक्टर थानिया क्राविसेन ने विरोधी रवैया अपनाने के लिए वियतनाम की कटु आलोचना की। उन्होने यहाँ तक आरोप लगाया कि वियतनाम एशियान देशो मे फूट डालने की कोशिश कर रहा है। इस क्षेत्र के देशो से वह अलग-अलग समझौते करना चाहता है। एशियान के प्रति वियतनाम का विरोध सर्वविदित है। फिलिपीन के राष्ट्रपति मारकोस का स्वर कुछ भिन्न था। वह वियतनाम के प्रति शान्तिपूर्ण रवैया अपना रहे थे। उनका कहना था हमे अपने व्यवहार से एशियान के प्रति वियतनाम की सभी आशकाएँ दूर कर देनी चाहिए।

आर्थिक प्रश्नो पर सिंगापुर के प्रधानमन्त्री श्री ली क्वान यू ने अपने भाषण मे स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि पाँचो देशो के वित्तमन्त्री आर्थिक समस्याओ पर मतभेद दूर करने मे असफल रहे हैं। एशियान के पाँचो देशो ने फरवरी, 1976 की अपनी बैठक मे जिस सयुक्त औद्योगिक योजना पर कार्य प्रारम्भ करने का निर्णय लिया था वह अब तक लागू नही किया जा सका। उनका यह भी कहना था कि

"पाँचों देशों के बीच व्यापार में रियायतें देने की योजना कुछ वस्तुओं तक सीमित है। इस मामले में भी हम आगे नहीं बढ़ सके।"

एशियान देश पिछले काफी समय से जापान, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड के बाजारों में अपनी वस्तुओं की खपत की माँग करते रहे हैं। जापान की मण्डियों में ये देश अपने माल की अधिकाधिक खपत चाहते हैं क्योंकि एशियान देशों से कच्चा माल सबसे अधिक जापान को ही निर्यात होता है। इसके अतिरिक्त एशियान देश यूरोपीय आर्थिक समुदाय से भी व्यापार सम्बन्धी रियायतें प्राप्त करने को उत्सुक है।

आर्थिक प्रश्नों के अलावा एशियान देशों की कुछ राजनीतिक समस्याएँ भी हैं। वियतनाम से हटने के बाद अमेरिका की एशियान देशों में रुचि बढ़ना स्वाभाविक है। राष्ट्रपति कार्टर दक्षिण कोरिया से अपनी सेनाएँ हटाकर एशियान देशों के प्रति अपने रवैये का प्रमाण पहले ही दे चुके हैं। एशियान देशों में जापान की दिलचस्पी भी काफी बढ़ी है, पर यह स्पष्ट है कि एशियान देश अपने यहाँ किसी भी बड़े देश की सैनिक उपस्थिति नहीं चाहते। सम्मेलन से कुछ दिनों पूर्व ही फिलिपीन के राष्ट्रपति मारकोस ने कहा था कि जापान को एशियान देशों के साथ सहयोग के बारे में युद्ध से पहले जैसी स्थिति की बात नहीं सोचनी चाहिए। चाहे जो भी हो एशियान देशों के इस शिखर सम्मेलन से हिन्द-चीन के क्षेत्र में सहयोग और सद्भाव का एक नया युग शुरू हो सकता है। इन्डोनेशिया के विदेशमन्त्री श्री आदम मलिक ने कहा था कि एशियान सीटो की तरह का कोई सैनिक संगठन नहीं है यह तो इस क्षेत्र के देशों में एकता और सहयोग वृद्धि का एक माध्यम है। थाईदेश चाहता है कि एशियान देश इस क्षेत्र में कम्युनिज्म का विरोध करने के लिए एकजुट हो जाएँ, लेकिन संभवत अन्य देश इस विचार को अधिक पसन्द नहीं करते।

अन्य सम्मेलन

अफ्रेशियाई जागरण और एकता को सुदृढ करने वाले अन्य महत्वपूर्ण सम्मेलन थे—बेलग्रेड सम्मेलन (1961), काहिरा सम्मेलन (1964), नई दिल्ली सम्मेलन (1966), लुसाका सम्मेलन (1970), जार्ज टाउन सम्मेलन (1972), अल्जीरिया सम्मेलन (1973), अल्जीरिया सम्मेलन (1974), हवाना सम्मेलन (1975), कोलम्बो सम्मेलन (1976)। ये सभी सम्मेलन गुट-निरपेक्षता के समर्थक थे और इनका विस्तृत विवेचन गुट-निरपेक्षता सम्बन्धी अध्याय में किया जा चुका है।

अफ्रेशियाई एकता को हानि पहुँचाने वाले कुछ सम्मेलन

एशिया और अफ्रीका के कुछ ऐसे सम्मेलन भी हुए हैं जिनसे अफ्रेशियाई एकता को लाभ पहुँचाने की अपेक्षा हानि अधिक हुई है और आपसी फूट को प्रोत्साहन मिला है। इन सम्मेलनों पर भी एक दृष्टि डालना उपयुक्त होगा—

जद्दा सम्मेलन, 1972

मार्च, 1972 में 31 एशियायी विदेश इस्लामी मन्त्रियों का यह पाँच दिवसीय सम्मेलन सऊदी अरब की राजधानी जद्दा में हुआ। पाकिस्तान ने भारत के विरुद्ध

विष वमन किया लेकिन उसे निराश होना पड़ा । पाकिस्तान ने मांग की कि सम्मेलन की विज्ञप्ति मे बंगलादेश का उल्लेख न कर 'एक पाकिस्तान' की बात कही जाए, लेकिन सऊदी अरब के शाह फैजल (जिनकी मार्च, 1975 में हत्या कर दी गई) ने स्पष्ट कह दिया कि बगलादेश एक 'वास्तविकता' है और इसके सन्दर्भ मे ही बात की जानी चाहिए । सम्मेलन में बंगलादेश को मान्यता देने की बात भी उठी, किन्तु लीबिया, जोर्डन, इण्डोनेशिया और मलेशिया इसके पक्ष मे नही थे । वास्तव मे यह एक खेदजनक बात थी कि इस्लामी सम्मेलन मे बगलादेश के मुसलमानों के हितो की उपेक्षा की गई । इस्लामी देशो ने बंगलादेश के अपने ही जाति-भाइयो को 'काफिर' समझा और पाकिस्तान के अत्याचारो पर कोई टिप्पणी नही की । भारत-रूसी मैत्री पर भी पाकिस्तानी प्रतिनिधि तथा कुछ अन्य देशों के प्रतिनिधियो ने कठोर शब्दो का प्रयोग किया ।

इस्लामी सम्मेलन का एक उद्देश्य एक नए गुट का निर्माण भी था ताकि समय-समय पर इस गुट के सदस्य मिलकर आपसी हितो पर विचार कर सकें । सम्मेलन मे इस बात को मुस्लिम हितो के विरुद्ध समझा गया कि मुस्लिम जगत् मे यहूदियो और साम्यवादियो का प्रवेश हो । सम्मेलन मे यमन और ईराक शामिल नही हुए ।

कुल मिलाकर यह सम्मेलन एशियायी एकता मे दरारें डालने वाला सिद्ध हुआ । स्वय मुस्लिम देशो के हितो को भी सम्मेलन की कार्यवाही से हानि अधिक पहुँची, लाभ कम हुआ ।

इस्लामी शिखर सम्मेलन, 1974 ,

पाकिस्तान मे एक इस्लामी शिखर सम्मेलन 22 फरवरी से 24 फरवरी, 1974 तक लाहौर मे हुआ । पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री श्री जुल्फिकार अली भुट्टो ने अध्यक्षता की । सम्मेलन मे 36 मुस्लिम देशो के प्रतिनिधि-मण्डल सम्मिलित हुए । इस सम्मेलन को यद्यपि 'अन्तर्राष्ट्रीय इस्लामी राज्य सम्मेलन' की सज्ञा दी गई तथापि न तो इसका स्वरूप ही अन्तर्राष्ट्रीय था और न इसमे शामिल होने वाले सभी राज्य इस्लामी थे । टर्की, इण्डोनेशिया आदि देशो को भी इसमे आमन्त्रित किया गया था जिन्होने स्वय को विधिवत् इस्लामी राज्य घोषित नहीं किया है । यदि सम्मेलन का उद्देश्य धार्मिक था तो भारत सहित उन देशो को आमन्त्रित क्यो नही किया गया जहां बडी सख्या मे मुसलमान रहते हैं ? अफ्रीका महाद्वीप मे अनेक राज्यो मे *मुसलमान बड़ी सख्या मे रहते हैं, किन्तु लाहौर के इस सम्मेलन मे केवल* 13 *अफ्रीकी* देश ही शामिल हुए थे । इस प्रकार यह सम्मेलन अफ्रीका महाद्वीप के भी सभी मुसलमानो का प्रतिनिधित्व नहीं करता था ।

वास्तव मे लाहौर के इस्लामी सम्मेलन का स्वरूप राजनीतिक ही अधिक था । पाकिस्तान नही चाहता था कि सम्मेलन मे भारत के सात करोड़ मुसलमानो का प्रतिनिधित्व हो । उसे भय था कि ऐसा होने पर इस्लामी राज्यो का मुखिया बनने का उसका स्वप्न पूरा नही हो पाएगा । पाकिस्तान का दृष्टिकोण ऐसा था मानो मुस्लिम देशो का अस्तित्व पाकिस्तान के अस्तित्व के साथ जुडा हो ।

सम्मेलन में जो महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत हुए और सुझाव दिए गए, वे संक्षेप रूप में इस प्रकार थे—(i) दो महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पारित हुए—एक में यरूशलम से इजरायली सैनिकों की तुरन्त वापसी की माँग की गई। दूसरे में कहा गया कि इस्लामी देश मिस्र, सीरिया तथा जोर्डन के फिलिस्तीनियों को वैध स्थान दिलाने का प्रयास कर इजरायल द्वारा हथियाए गए क्षेत्रों की वापसी के लिए पूरी सहायता करें। (ii) पश्चिमी एशिया तथा तेल आदि विषयों पर भी प्रतिनिधियों ने अपने विचार व्यक्त किए। मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात और अल्जीरिया के राष्ट्रपति बूमेदीएन का यह सुझाव महत्त्वपूर्ण था कि इस्लामी सम्मेलन को तेल-विहीन विकासशील देशों के लिए सहायता की रकम निर्धारित कर देनी चाहिए। उन्होंने यह भी कहा कि तेल के वर्तमान भावों में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए। (iii) लीबिया के राष्ट्रपति कर्नल गद्दाफी ने एक तीन स्तरीय पद्धति का सुझाव दिया—औद्योगिक राष्ट्र वर्तमान भावों से तेल खरीदें, जबकि तीसरी दुनिया और इस्लामी देशों को उनके आकार और उनकी आवश्यकताओं के अनुसार रियायती दाम पर तेल दिया जाए। (iv) युगाण्डा के राष्ट्रपति ईदी अमीन ने सुझाव दिया कि ईराक और ईरान में सामान्य सम्बन्ध कायम करने के लिए इस्लामी देशों का एक सद्भावना आयोग दोनों देशों को भेजा जाए। (v) ईदी अमीन ने मुस्लिम देशों से यह भी अनुरोध किया कि वे इजरायल, रोडेशिया और दक्षिण अफ्रीका के विमानों को अपने हवाई अड्डों पर उतरने की आज्ञा न दें।[1]

लाहौर के इस्लामी शिखर-सम्मेलन से तीन बातें भली प्रकार स्पष्ट हो गईं—(1) पाकिस्तान का भारत-विरोधी रवैया और भारतीय मुसलमानों को 'काफिर' समझना, (2) मुस्लिम देशों की आपसी फूट और एशिया तथा अफ्रीका के अनेक मुस्लिम देशों का इस्लामी सम्मेलन में भाग न लेना, एवं (3) अनेक राष्ट्रों का आचरण जो अफ्रेशियायी एकता में फूट डालने वाला था।

अल्जीरिया का स्वाधीनता संग्राम

अफ्रीका महाद्वीप में अल्जीरिया ने फ्रांस के विरुद्ध जो लम्बा स्वाधीनता संग्राम किया वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के दृष्टिकोण से विशेष महत्त्व रखता है, क्योंकि—(1) अफ्रीका में यूरोपीय साम्राज्यवाद का सबसे निरंकुश और दर्दनाक पहलू अल्जीरिया में देखने को मिला, (2) अल्जीरिया का संघर्ष दुनिया के अन्य देशों के स्वाधीनता-संग्रामों के लिए एक उदाहरण बन गया, एवं (3) इस संग्राम ने पुनः इस बात की पुष्टि कर दी कि श्वेत जातियों से टक्कर लेकर उन्हें नाकों चने चबाए जा सकते हैं।

अल्जीरिया पर फ्रांस का अधिकार सन् 1830 में स्थापित हुआ था। फ्रांसीसियों ने यहाँ बसकर अल्जीरिया का हर प्रकार से शोषण किया। अल्जीरिया-वासियों के प्रत्येक विरोध का फ्रांस सदैव कठोरतापूर्वक दमन करता रहा। उन्हें

1. दिनमान, 3 मार्च, 1974, पृष्ठ 25-27.

शान्त करने के लिए कालान्तर में फ्रांस की राष्ट्रीय सभा में उनको प्रतिनिधित्व का अधिकार भी प्रदान किया गया, लेकिन अल्जीरियावासी सन्तुष्ट नहीं हुए। 1 जुलाई, 1951 को उन्होंने एक राष्ट्रीय मोर्चे का निर्माण किया जो 'राष्ट्रीय स्वाधीनता मोर्चा' (Front of National Liberation–F. N. L.) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। मोर्चे ने 1 नवम्बर, 1954 को स्वाधीनता संघर्ष आरम्भ किया जो लगभग सात वर्ष तक चला। इस युद्ध में लगभग 4,00,000 व्यक्तियों की जानें गईं। इनमें से लगभग 2,00,000 असैनिक अल्जीरियाई मुसलमान, 1,60,000 स्वतन्त्र अल्जीरियाई सरकार के सैनिक, 18,000 फ्रांसीसी सैनिक तथा 2,000 गोरे अल्जीरियाई निवासी थे। अल्जीरियाई राष्ट्रवादी इस संख्या को स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि फ्रांसीसी सेनाओं ने कम से कम दस लाख अल्जीरियाइयों को मौत के घाट उतार दिया। युद्ध-बन्दी के जो भी प्रयास हुए, व्यर्थ गए। फ्रांस के दुराग्रह के कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ में भी युद्ध-विराम के लिए कुछ नहीं किया जा सका। जून, 1958 में जनरल डिगॉल विस्तृत अधिकारों सहित फ्रेंच गणराज्य के राष्ट्रपति बने। उन्होंने फ्रांस की जनता को यह वचन दिया कि वे अल्जीरिया की समस्या को शीघ्र निपटा देंगे।

सितम्बर, 1959 में फरहत अब्बास के नेतृत्व में राष्ट्रीय स्वाधीनता मोर्चे ने काहिरा में एक समानान्तर सरकार की स्थापना की जिसे चीन द्वारा मान्यता भी प्रदान कर दी गई। परिस्थितियों से बाध्य होकर 4 नवम्बर, 1960 को जनरल डिगॉल ने अल्जीरिया को स्वतन्त्रता देने की घोषणा की। उन्होंने 'अल्जीरिया, अल्जीरियावालों के लिए' के प्रश्न पर जनमत कराने का प्रस्ताव रखा, किन्तु फरहत अब्बास ने इस प्रस्ताव को ठुकरा कर अपने अनुयायियों को मतदान में भाग न लेने का आदेश दिया। फिर भी 8 जनवरी,1961 को जनमत-संग्रह हुआ और फ्रांस तथा अल्जीरिया दोनों में विशाल बहुमत से डिगॉल की अल्जीरिया सम्बन्धी नीति का समर्थन किया गया। 27 मार्च, 1961 को फ्रांस और अल्जीरिया द्वारा शान्ति-वार्ता में भाग लेने की सहमति की घोषणा की गई, किन्तु अगले ही माह अप्रैल, 1961 में इस आगामी शान्ति-वार्ता के विरुद्ध जनरल सालाँ और अन्य जनरलों के नेतृत्व में फ्रेंच सैनिकों ने अल्जीरिया में विद्रोह कर दिया। डिगॉल ने विद्रोहियों के खिलाफ तेजी से कठोर कार्यवाही की। जनरल सालाँ पलायन कर गया और उसने एक गुप्त सेना (OAS) की स्थापना कर ली।

20 मई, 1961 को फ्रांस और अल्जीरिया में शान्ति-वार्ता आरम्भ हुई और तुरन्त ही भंग भी हो गई। शान्ति-वार्ता की आँख मिचौनी चलती रही। जनवरी, 1962 में ओ. ए. एस. आतंकवादियों ने अल्जीरिया भर में मुसलमानों पर आक्रमण किया, मुसलमानों ने भी जवाबी हमले किए और दोनों पक्षों के सैकड़ों व्यक्ति मारे गए। फरवरी, 1962 में शान्ति-वार्ता में प्रगति हुई और अन्त में 18 मार्च, 1962 को युद्ध-बन्दी के बाद दोनों पक्षों (अल्जीरिया और फ्रांस) के बीच समझौते की घोषणा की गई। 1 जुलाई, 1962 को अल्जीरिया स्वतन्त्र हो गया और इस तरह एक महान् स्वतन्त्रता संग्राम का अन्त हुआ। 20 सितम्बर, 1962 को अल्जीरिया

के एक दलीय चुनावों मे बेनवेला गुट की विजय हुई । विरोधी गुट वेनखेदा का था । स्थिति इतनी तनावपूर्ण हो गई कि गृह-युद्ध की आशका होने लगी, लेकिन अन्त मे दोनों नेताओं मे समझौता हो गया ।

दक्षिण रोडेशिया का संकट

जम्बेजी नदी तथा उत्तरी ट्रासवाल के मध्य स्थित दक्षिण रोडेशिया अफ्रीका का एक देश है । इस देश का क्षेत्रफल 390 हजार वर्ग किलोमीटर और जनसख्या लगभग 60 लाख है । इसमे 40 लाख से अधिक अफ्रीकी हैं, लगभग 2 लाख यूरोपीय हैं और शेष अन्य । दक्षिणी रोडेशिया का, जिसकी राजधानी सेलिसवरी है, मूल विवाद यह है कि यहाँ की गोरी सरकार बहुसख्यक अफ्रीकियो को देश के शासन मे साझीदार नही बनाना चाहती और राष्ट्रवादी अफ्रीकी इस बात के लिए निरन्तर सघर्ष कर रहे हैं कि दक्षिण रोडेशिया का शासन अफ्रीकियो के हाथ मे हो तथा गोरो की प्रभुसत्ता का अन्त हो ।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—सन् 1953 मे ब्रिटेन ने उत्तरी रोडेशिया (जिसका शासन उसने सन् 1924 में अपने हाथ में लिया था) दक्षिणी रोडेशिया और न्यासालैण्ड (रोडेशिया का पडोसी देश जिस पर ब्रिटेन ने सन् 1891 में अधिकार किया था) को मिला कर 'मध्य अफ्रीका सघ' (Central African Federation) की स्थापना की । उत्तरी रोडेशिया और न्यासालैण्ड की जनता ने सघ का विरोध किया लेकिन कोई परिणाम नहीं निकला । इस सघ में अफ्रीकी लोगो की बहुलता थी, लेकिन निर्वाचन-योग्यता इस प्रकार की थी कोई अफ्रीकी चुनाव में खडा नहीं हो सकता था । अत अफ्रीकियो मे असन्तोष बढता गया और धीरे-धीरे राष्ट्रवाद की लहर इतनी प्रबल हो गई कि ब्रिटेन अधिक समय तक जनता की उपेक्षा नहीं कर सका तथा सन् 1963 मे अफ्रीका सघ भग हो गया । न्यासालैण्ड और उत्तरी रोडेशिया स्वतन्त्र हो गए । आजादी के बाद उत्तरी रोडेशिया जाम्बिया कहलाने लगा और न्यासालैण्ड का नाम मलावी रखा गया । दक्षिणी रोडेशिया अब भी ब्रिटिश सप्रभुता के अधीन रहा और इयान स्मिथ वहाँ के नए प्रधानमन्त्री बने ।

दक्षिण रोडेशिया की गोरी सरकार द्वारा स्वतन्त्रता की एकपक्षीय घोषणा—प्रधानमन्त्री इयान स्मिथ ने ब्रिटेन को धमकी दी कि वह दक्षिणी रोडेशिया को स्वतन्त्र कर दे अन्यथा दक्षिण रोडेशिया की सरकार अपनी ओर से स्वतन्त्रता की घोषणा कर देगी । ब्रिटेन ने कहा कि स्वतन्त्रता तभी दी जा सकती है जब (1) सब अफ्रीकी लोगो को मताधिकार प्राप्त हो, एव (2) गोरे लोगो के लिए सुरक्षित विशेष प्रदेशों की व्यवस्था समाप्त कर दी जाए । स्मिथ सरकार ने ब्रिटिश शर्तों को अमान्य ठहरा कर 11 नवम्बर, 1965 को दक्षिण रोडेशिया की एकपक्षीय स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी जिससे रोडेशिया सम्बन्धी महान् सांविधानिक सकट उत्पन्न हो गया । इयान स्मिथ ने कहा कि सयुक्तराज्य अमेरिका के प्रारम्भिक तेरह उपनिवेश अठारहवीं शताब्दी मे ब्रिटेन के अधीन थे और उन्होंने भी विद्रोह करके अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की थी । दक्षिण रोडेशिया भी उन्ही का अनुसरण कर रहा

है। पर इयान स्मिथ यह भूल गए कि जहाँ अमेरिका में बहुसख्यक-अल्पसख्यक का कोई प्रश्न नही था वहाँ दक्षिणी रोडेशिया का मुख्य प्रश्न ही यह था कि क्या अल्पसख्यक गोरो को बहुसख्यक अफ्रीकियो पर शासन करने का अधिकार है। अनेक राजनीतिक क्षेत्रो मे यही सन्देह व्यक्त किया गया कि यह सारा काण्ड ब्रिटेन की गुप्त सहानुभूति के कारण ही सम्भव हो सका था और इसीलिए ब्रिटिश सरकार ने विद्रोह को दबाने के लिए कोई सैनिक कार्यवाही नही की।

असफल शान्ति वार्ताएँ और संघर्ष का दौर (सन् 1965–नवम्बर 1977)–दक्षिण रोडेशिया की कार्यवाही के प्रत्युत्तर मे ब्रिटिश गवर्नर ने स्मिथ सरकार को पदच्युत् कर दिया और ब्रिटेन ने दक्षिण रोडेशिया से अपने कूटनीतिक सम्बन्ध भग कर दिए तथा आर्थिक प्रतिबन्ध भी लगाए। नवम्बर, 1965 मे सयुक्त राष्ट्रसघ की महासभा के एक प्रस्ताव द्वारा स्मिथ सरकार के कार्य की निन्दा की गई और सदस्य-राज्यो से अनुरोध किया गया कि वे उसे न तो मान्यता दें और न ही उसके साथ व्यापार करें। आर्थिक प्रतिबन्धो और कूटनीतिक उपायो का स्मिथ सरकार पर कोई प्रभाव नही हुआ। राजनीतिक क्षेत्रो मे यह स्पष्ट विचार था कि ब्रिटेन की गुप्त सहानुभूति दक्षिण रोडेशिया की गोरी सरकार के साथ है। नवम्बर, 1967 मे महासभा ने शक्ति प्रयोग करने पर बल दिया, किन्तु ब्रिटेन ने प्रस्ताव पर कोई कार्यवाही नही की। मई, 1968 मे सुरक्षा परिषद् ने दक्षिण रोडेशिया के विरुद्ध पूर्ण आर्थिक नाकेबन्दी का प्रस्ताव पारित किया, लेकिन वह भी सफल नही हो सका क्योकि गुप्त रूप से स्मिथ सरकार को सभी आवश्यक सामग्री प्राप्त होती रही।

नवम्बर, 1969 मे दक्षिण रोडेशिया की संसद् ने (जिस पर गोरो का प्रभाव छाया हुआ था) एक विधेयक पास कर इयान स्मिथ सरकार का गोरा शासन स्थायी बना देने की व्यवस्था कर दी। ब्रिटेन और स्मिथ सरकार के बीच बातचीत के अनेक दौर चले किन्तु कोई परिणाम नही निकला। वस्तुत ब्रिटेन दक्षिण रोडेशिया की गोरी सरकार के विरुद्ध कोई भी कठोर कदम उठाने को प्रस्तुत नही था और न अब भी है। नवम्बर, 1971 मे ब्रिटिश विदेशमन्त्री डगलस ह्यूम और रोडेशियायी प्रधानमन्त्री स्मिथ के बीच एक समझौता हुआ जिसके द्वारा अफ्रीकी जनता के हितो पर भारी कुठाराघात किया गया। इस समझौते से स्मिथ सरकार के बने रहने का मार्ग प्रशस्त हो गया। अफ्रीकी बहुमत का शासन स्थापित करने का उल्लेख समझौते में किया गया, लेकिन इस बारे मे कोई निश्चित तिथि निश्चित नही की गई। राजनीतिक प्रेक्षकों के अनुसार यह अवधि 30 से 50 वर्ष तक की हो सकती थी। और भी अनेक ऐसे निर्णय किए गए जो स्मिथ सरकार के पक्ष मे थे। ब्रिटिश कम्पनियों को रोडेशिया के साथ व्यापार करने की छूट दे दी गई ताकि आर्थिक प्रतिबन्धो के कारण पिछले वर्षों का घाटा पूरा हो सके। यह लज्जाजनक समझौता इस बात का प्रमाण था कि ब्रिटेन किस प्रकार स्मिथ सरकार के हितो की रक्षा के लिए तत्पर था। समझौते पर जनता की राय जानने के लिए जनमत सग्रह जैसी किसी भी बात की उपेक्षा कर दी गई। अवश्य ही इस सम्बन्ध मे जनमत जानने

के लिए 'पियर्स आयोग' गठित किया गया। सम्भवतः यही आशा की गई थी कि पियर्स आयोग ऐसी रिपोर्ट देगा जो समझौते के लागू होने के पक्ष में होगी लेकिन जब 207 पृष्ठों की रिपोर्ट में यह कहा गया कि रोडेशिया के बहुसंख्यक अफ्रीकी समझौते प्रस्ताव से असहमत हैं और इसका समर्थन रोडेशिया के केवल लगभग ढाई लाख गोरे लोगों ने ही किया है, तो मामला बिगड़ गया। इयान स्मिथ ने तुरन्त ही रेडियो-प्रसारण में पियर्स-रिपोर्ट को गैरकानूनी ठहरा दिया और घोषणा कर दी कि नवम्बर, 1971 के समझौते के आधार पर अब कोई बातचीत नहीं की जा सकती। इस प्रकार एक निष्पक्ष रिपोर्ट को ठुकरा दिया गया और ब्रिटेन की मिलीभगत से रोडेशिया पर स्मिथ का शासन बना रहा।

दक्षिणी रोडेशिया के अफ्रीकी राष्ट्रवादियों का असन्तोष बढ़ता गया और उग्रवादी तत्त्व संघर्ष के लिए उतारू हो गए। छापामार युद्ध शुरू हो गया। सन् 1974 के अन्त में स्मिथ सरकार अफ्रीकी राष्ट्रवादी छापामारों के साथ युद्ध-विराम करके वार्ता करने के लिए तैयार हुई। 11 दिसम्बर, 1974 को लुसाका में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार कुछ अश्वेत नेताओं को मुक्त किया गया। बातचीत में चार अफ्रीकी संगठनों ने भाग लिया—अफ्रीकी नेशनल कौंसिल (एक मात्र ऐसा संगठन जिसे स्मिथ सरकार ने गैरकानूनी नहीं माना था), जिम्बाब्वे अफ्रीकी पीपुल्स यूनियन (जापु), जिम्बाब्वे मुक्ति मोर्चा (फ्रोलिमो), जिम्बाब्वे अफ्रीकन नेशनल यूनियन (जानो)। लुसाका समझौते के बाद ऐसा प्रतीत होने लगा कि रोडेशियाई प्रधानमन्त्री स्मिथ वक्त का तकाजा पहचान कर सांविधानिक बातचीत या तर्क संगत-समझौते के लिए तैयार हो गए हैं, लेकिन बाद में उन्होंने ऐसा कोई ठोस प्रमाण नहीं दिया। मार्च, 1975 में रोडेशिया के प्रमुख राष्ट्रवादी नेता रेवरैंड सिथोल की गिरफ्तारी कर स्मिथ ने यह स्पष्ट कर दिया कि उनकी अल्पमत गोरी सरकार फिलहाल रोडेशिया-समस्या के किसी समाधान के पक्ष में नहीं है। स्मिथ की हठधर्मी ने राष्ट्रवादी अफ्रीकी नेताओं को गोरी सरकार के विरुद्ध छापामार युद्ध और तेज करने के लिए विवश कर दिया। "वास्तव में स्मिथ सरकार ने सोचा था कि लुसाका वार्ता का लाभ उठा कर देश में छापामार गतिविधियों पर काबू पाया जा सकता है। इयान स्मिथ ने अपने कूटनीतिक दाउपेंच के अन्तर्गत एक तरफ तो राजनीतिक बन्दियों की रिहाई शुरू की और दूसरी तरफ अश्वेत बहुमत का शासन स्थापित करने के बारे में भ्रामक वक्तव्यों का सिलसिला जारी रखा। लुसाका वार्ता में युद्धविराम के लिए जिन शर्तों की घोषणा की गई थी उन्हें स्वीकार करने के बावजूद सरकार ने उनका उल्लंघन किया।"[1]

29 अप्रेल से 6 मई, 1975 तक जमैका की राजधानी किंग्सटन में 33 देशों के नेताओं का राष्ट्रकुल सम्मेलन हुआ। सम्मेलन पर एशियायी, अफ्रीकी और कैरिबियायी देशों का प्रभाव रहा। जिस मुद्दे को लेकर अधिक तीखी बहस हुई वह

1. दिनमान, 16 मार्च, 1975, पृष्ठ 34.

था—दक्षिण अफ्रीका में जातिवाद का। अफ्रीकी देशों ने दक्षिण अफ्रीकी बस्तियों और रोडेशिया से गोराशाही समाप्त करने की जो आवाज उठाई उसकी गूँज सारे सम्मेलन मे सुनाई दी। डॉ केनेथ काउंडा ने स्पष्ट शब्दो मे कहा कि ब्रिटेन और अमेरिका को गोरे शासको का पृष्ठपोषण नही करना चाहिए। यह घोषित किया गया कि जब शान्तिपूर्ण प्रयास असफल हो जाते हैं तो स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए हथियारो को उठाना जरूरी हो जाता है।

किंगसटन के राष्ट्रकुल सम्मेलन के निर्णय के बाद रोडेशिया मे घटना-क्रम ने तेजी पकडी। रोडेशिया के राष्ट्रवादी नेता जोसुआ नोकोमो ने प्रधानमन्त्री इयान स्मिथ के साथ सांविधानिक बातचीत की सम्भावना से इनकार कर दिया। उनका कहना था कि बातचीत ब्रिटिश सरकार और राष्ट्रवादी स्वाधीनता सेनानियो के बीच होनी चाहिए क्योंकि कानूनी रूप से रोडेशिया अभी भी ब्रिटिश उपनिवेश है। श्री नोकोमो ने आरोप लगाया कि इयानस्मिथ की सरकार शान्तिपूर्वक अफ्रीकियो को सत्ता सौंपना नही चाहती। इयान स्मिथ का रवैया भी अधिकाधिक कडा होता गया। दिसम्बर, 1975 मे इयान स्मिथ ने श्री नोकोमो से बातचीत का सुझाव तो स्वीकार कर लिया लेकिन उन्होने रोडेशिया के लिए बहुमत शासन सिद्धान्त रूप मे भी स्वीकार नही किया। बातचीत का कोई ठोस परिणाम नही निकला। उधर नवम्बर, 1975 मे संयुक्तराष्ट्र महासभा के इस प्रस्ताव से भी रोडेशिया के राष्ट्रवादियो के हाथ मजबूत हो गए कि बहुमत अफ्रीकी शासन का सिद्धान्त स्वीकार कर लेने पर ही रोडेशिया की स्वतन्त्रता के लिए बातचीत होनी चाहिए। महासभा के प्रस्ताव मे कहा गया कि अफ्रीकी राष्ट्रीय परिषद से बातचीत किए बिना रोडेशिया की समस्या का कोई समाधान नही निकल सकता क्योंकि यही संस्था रोडेशिया की जनता का प्रतिनिधित्व करती है। महासभा ने ब्रिटेन से यह अनुरोध किया कि रोडेशिया मे इयान स्मिथ की गैर-कानूनी सरकार को किसी भी हालत मे और कभी भी ब्रिटेन से मान्यता नहीं मिलनी चाहिए। महासभा ने अफ्रीकी जनता की स्वाधीनता की मांग का पूर्ण समर्थन किया और अफ्रीकी राष्ट्रीय परिषद् से कहा कि वह स्वाधीनता के लिए अपना आन्दोलन चालू रखे।

अफ्रीकी राष्ट्रीय परिषद्(ए एन सी) के एक गुट के नेता जोशुआ नोकोमो और रोडेशिया अल्पसख्यक गोरी सरकार के हठी प्रधानमन्त्री इयान स्मिथ के बीच सांविधानिक समझौते के लिए हुई बातचीत की विफलता, रोडेशिया के समाधान के लिए इयान स्मिथ द्वारा ब्रितानी प्रस्ताव की अस्वीकृति, लुसाका मे तनजानिया, बोत्स्वाना, मोजांबिक और जांबिया के राष्ट्रपतियों की विफल वार्ता, रोडेशिया मे क्यूबा और सोवियत सघ के हस्तक्षेप के विरुद्ध अमेरिकी विदेशमन्त्री हेनरी कीसिंगर की चेतावनी आदि मार्च, 1976 के अन्तिम सप्ताह की कुछ ऐसी घटनाएँ थी जिनसे रोडेशिया की समस्या और अधिक जटिल हो गई। इनसे यह सकेत भी मिला कि जहां इयान स्मिथ अफ्रीकी राष्ट्रीय परिषद् मे फूट डालकर अपना उल्लू सीधा करने की फिराक मे है वहां अमेरिका और उसके साथी स्मिथ पर उतना ही दबाव डालना

चाहते हैं जिससे कि दक्षिणी अफ्रीका में उनके हित सुरक्षित रहें। बहुसंख्यक काले लोगों को न्याय दिलाने की उनकी सद्इच्छा का उनके रवैये से कोई सबूत नहीं मिला ऐसी स्थिति में अफ्रीकी राष्ट्रवादियों के सम्मुख एक ही उपाय शेष था कि वे अपना सशस्त्र संघर्ष तीव्र करें और जातिवादी गोरे स्मिथ से अब तक बातचीत द्वारा प्राप्त नहीं कर सके वह बलात् प्राप्त करें।

रोडेशिया समस्या के समाधान में गतिरोध कायम रहा। सन् 1977 के प्रारम्भ में ब्रिटिश प्रतिनिधि ईवोर रिचर्ड ने निरन्तर एक महीने तक अफ्रीकी नेताओं, रोडेशियाई राष्ट्रीय मोर्चे के नेताओं तथा रोडेशिया के प्रधानमन्त्री इयान स्मिथ से बातचीत की पर स्मिथ के दुराग्रही रवैये के कारण वार्ता का कोई परिणाम नहीं निकल सका, तथापि लन्दन लौटकर रिचर्ड ने आशा व्यक्त की कि रोडेशिया में बहुसंख्यक कालों का शासन शीघ्र स्थापित होगा और अमेरिका तथा दक्षिण अफ्रीका की सहायता से वह इयान स्मिथ पर समझौते के लिए दबाव डालेंगे। रिचर्ड ने अपने प्रस्ताव में कहा था कि रोडेशिया के सम्बन्ध में जब तक कोई स्थायी समझौता नहीं हो जाता तब तक वहाँ कालों का शासन स्थापित किया जाएगा। जो सरकार स्थापित की जाएगी उसमें कालों और गोरों दोनों के प्रतिनिधि होंगे। परन्तु इसका मुखिया रोडेशिया स्थित ब्रिटिश उच्चायुक्त होगा। उसी के नेतृत्व में एक राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद् का गठन किया जाएगा जो देश की प्रतिरक्षा तथा कानून और व्यवस्था को अन्तरिम सरकार के सहयोग से चलाएगी। कालों और गोरों में भेद करने वाली भूमि सम्बन्धी तथा अन्य कानूनों को समाप्त कर दिया जाएगा। रिचर्ड की यह योजना अफ्रीका के 5 देशों और रोडेशियाई राष्ट्रीय मोर्चे को स्वीकार थी। अमेरिका के विदेशमन्त्री साइरस वैंस ने रोडेशिया अल्पमत गोरी सरकार को यह चेतावनी दी कि जब तक वह बहुसंख्यक कालों को सत्ता की राह में अड़चन डालती रहेगी, अमेरिका से उसे किसी तरह की सहायता नहीं मिलेगी। अमेरिका ने ब्रिटिश प्रस्ताव का पूर्ण समर्थन किया जिसके अनुसार दो वर्ष तक अस्थायी सरकार को ब्रिटेन की देख-रेख में काम करना था।

रोडेशिया की स्थिति दिनोदिन तनावपूर्ण होती गई और इयान स्मिथ ने एक संवाददाता सम्मेलन में कहा कि उनकी गोरी अल्पसंख्यक सरकार जब तक चाहेगी तब तक शासन में बनी रहेगी। अगस्त, 1977 के चुनावों में उसने अपने हथकण्डों से भारी विजय प्राप्त की। सन् 1974 के चुनाव की तरह इस बार के चुनाव में भी 66 सदस्यीय संसद् में सभी 50 यूरोपीय स्थानों पर उनके रोडेशिया फ्रंट ने कब्जा कर लिया। गोरों की मतदाता सूची में 86,000 मतदाता थे जिनमें से 80 प्रतिशत से भी अधिक ने मतदान में भाग लेकर इयान स्मिथ की स्थिति सुदृढ़ कर दी। दूसरी ओर कालों के 7 500 मतदाताओं में से केवल 25 प्रतिशत ने ही मतदान में भाग लिया। चुनाव में विजय के बाद स्मिथ की मुख्य चाल यह है कि कालों की एकता भंग कर दें। स्मिथ के हठी रवैये से ब्रिटेन और अमेरिका के उस शान्ति प्रस्ताव (सितम्बर, 1977) को आघात ही पहुँचा है जिसकी मुख्य धाराएँ हैं—

'इयान स्मिथ ब्रिटेन द्वारा नियुक्त एक प्रतिनिधि को सत्ता का हस्तान्तरण कर दे। यह अन्तरिम प्रशासन होगा (ब्रिटेन के भूतपूर्व सेनाध्यक्ष फील्ड मार्शल कारवेर के नाम की भी घोषणा कर दी है), स्मिथ अपनी गोरी सेना भंग कर दे और राष्ट्रीय छापामार स्वयं को निःशस्त्र कर लें। इन दोनों ही सेनाओं के भंग किए जाने के बाद रोडेशिया के कानून और व्यवस्था का दायित्व संयुक्तराष्ट्र की सेना को सौंपा जाए। यह सेना रोडेशिया में चुनाव होने तक रहगी। यह भी प्रस्ताव है कि चुनाव एक व्यक्ति एक मत के अनुसार हों और यह कार्य नए संविधान के अन्तर्गत अगले वर्ष के अन्त तक पूरा हो जाना चाहिए। इस प्रस्ताव में गोरों की सुरक्षा की गारण्टी का प्रावधान है। इस नव-स्वाधीन रोडेशिया में अल्पमत गोरों की सुरक्षा के लिए एक अरब डॉलर की निधि की व्यवस्था होगी। यह धन प्राथिक विकास पर व्यय होगा। साथ ही जो गोरे रोडेशिया छोड़कर जाना चाहें उन्हें निश्चित मुआवजा दिया जाएगा।''

end

8 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में समकालीन प्रवृतियाँ और विवाद

(CONTEMPORARY TRENDS AND ISSUES IN INTERNATIONAL POLITICS)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में समकालीन प्रवृत्तियाँ

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर जिस युग का सूत्रपात हुआ उसमें अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के व्यवहार-क्षेत्र के अनेक 'नूतन क्षितिज' उभरे हैं, प्रभुत्व-क्षेत्र बदल गए हैं नवीन प्रवृत्तियों और सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव हुआ है, अन्तर्राष्ट्रीय जगत् को नवीन समस्याओं का सामना करना पड रहा है, विदेश नीतियों के स्वरूप बदलते जा रहे हैं–संक्षेप में विश्व राजनीति का ताना-बाना महान् परिवर्तनों के दौर से गुजर चुका है और गुजरता जा रहा है। पहले हम कुछ प्रमुख प्रवृत्तियों का अवलोकन करेंगे—

1 युद्ध के भय की तीव्रता—द्वितीय महायुद्ध के अन्त में आणविक हथियारों के प्रयोग ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था कायम रखने की दिशा में एक नए तत्त्व का समावेश कर दिया है। वह तत्त्व है—युद्ध के भय की तीव्रता (Intensifying fear of war)। आज आणविक शक्ति-सम्पन्न राष्ट्रों में प्रत्यक्ष युद्ध को रोकने की आवश्यकता अन्य किसी भी समय से अधिक अनुभव की जा रही है। यह समझा जाने लगा है कि ऐसा कोई भी युद्ध समूची अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के लिए एक भयावह चुनौती है।

2. राज्य-व्यवस्था का विश्वव्यापी बनना—राज्य-व्यवस्था पूर्णरूप से विश्व-व्यापी बन चुकी है। आज विश्व का लगभग प्रत्येक राज्य अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था का सदस्य है और इस बात का व्यवस्था के अस्तित्व पर प्रभाव पड़ा है। यद्यपि दो सर्वोच्च महाशक्तियाँ एक-दूसरे पर विश्व-प्रभुत्व के प्रयत्नों का आरोप लगाती हैं, तथापि यह स्पष्ट हो चुका है कि किसी एक शक्ति द्वारा विश्व-साम्राज्य का यह भय यथार्थ न होकर काल्पनिक है।

3. क्षेत्रीय प्रभुत्व की चुनौती में उभार—आधुनिक परिस्थितियों में विश्व-साम्राज्य का भय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के अस्तित्व के लिए कोई वास्तविक

चुनौती नहीं रह गया है। हाँ, क्षेत्रीय साम्राज्य का भय अवश्य विद्यमान है और अनेक राज्यों की नीतियों को सक्रिय बनाए हुए है। यही कारण है कि आज के युग में क्षेत्रीय युद्ध (Regional Wars) सामान्य बन गए हैं। राज्यों में क्षेत्रीय हितों के लिए युद्ध होते रहते हैं। विलियम कोपलिन के अनुसार समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था को कायम रखने के लिए महाशक्तियों ने मुख्य रूप से तीन प्रकार की महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है—

(क) जिन क्षेत्रों मे उनके अपने हित हैं, वहाँ वे स्वयं स्थायित्व कायम रखने का प्रयत्न करते है।

(ख) कुछ क्षेत्रों मे वे संघर्ष और क्षेत्रीय साम्राज्य को रोकने मे परस्पर सहयोग करते हैं।

(ग) कुछ क्षेत्रों मे वे विरोधी पक्षों को समर्थन देकर एक दूसरे के साथ प्रतियोगिता करते हैं। उदाहरणार्थ, पश्चिमी एशिया मे संयुक्तराज्य अमेरिका इजरायल का पृष्ठ-पोषण करता है तो सोवियत संघ अरब राष्ट्रों का।

4. सुरक्षा संगठनों की तकनीक का विकास—वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था मे यह भी एक सामान्य बात हो गई है कि महाशक्तियाँ युद्ध छिड़ने से पहले ही बहुधा क्षेत्रीय मामलों मे उलझ जाती हैं। द्वितीय महायुद्धोत्तर युग मे 'क्षेत्रीय सुरक्षा संगठनों' (Regional Security Organisations) की तकनीक का विकास हुआ है जो बहुत कुछ क्षेत्रीय गठबन्धनों जैसी दिखाई देती है। संयुक्तराज्य अमेरिका ने नाटो केन्द्रीय सन्धि संगठन, अमेरिकी राज्य-संगठन, एंजुस परिषद् जैसे क्षेत्रीय सुरक्षा संगठनों की स्थापना की है तो दूसरी ओर सोवियत संघ ने वारसा पैक्ट का गठन किया है।

5. क्षेत्रीय राजनीति में हस्तक्षेपवादी नीति—महाशक्तियाँ गृहयुद्धों मे भाग लेकर भी क्षेत्रीय राजनीति मे हस्तक्षेप करती रही हैं। रूस और अमेरिका दोनों ही महाशक्तियों ने गृहयुद्धों मे प्रत्यक्ष हस्तक्षेप किए हैं। उन क्षेत्रों मे जहाँ महाशक्तियों ने महसूस किया कि किसी एक महाशक्ति का वहाँ अपना विशिष्ट हित है, हस्तक्षेप एकपक्षीय रहा है। उदाहरणार्थ, पश्चिमी गोलार्द्ध के किसी भी राज्य मे घरेलू अव्यवस्था की दशा मे अकेले संयुक्तराज्य अमेरिका का हस्तक्षेप सामान्यतः पर्याप्त समझा जाता रहा है। पूर्वी यूरोपीय राज्यों मे सोवियत संघ के विशेष हित हैं, अतः इन राज्यों मे घरेलू अव्यवस्था के प्रति वह विशेष रूप से चौकन्ना रहता है। सम्भवतः दोनों महाशक्तियों मे इस बात पर सहमति हो गई है कि अपने-अपने हित-क्षेत्रों मे यदि घरेलू राजनीतिक अस्थिरता की चुनौती प्रस्तुत हो तो अकेली महाशक्ति उस चुनौती से निबट ले चाहे दिखाने के लिए दोनों पक्ष सार्वजनिक रूप से एक दूसरे के विरुद्ध वक्तव्य दें। इस प्रकार जहाँ पश्चिमी गोलार्द्ध अकेले संयुक्तराज्य अमेरिका के लिए छोड़ दिया गया है वहाँ पूर्वी यूरोप में सोवियत संघ के लिए छूट है।

6. विश्वव्यापी चौकसी की व्यवस्था—क्षेत्रीय साम्राज्यों को रोकने के लिए

संयुक्तराज्य अमेरिका और सोवियत रूस दोनों ने विश्वव्यापी चौकसी की व्यवस्था (Universal Survellance) अपनायी है। महाशक्तियाँ इस बात पर दृष्टि रखती हैं कि क्षेत्र-विशेष में किसी महाशक्ति द्वारा चुनौती प्रस्तुत की गई है या किसी अन्य राज्य द्वारा। जब चुनौती किसी महाशक्ति की ओर से नहीं आती तो दोनों ही महाशक्तियाँ संयुक्त राष्ट्रसंघ के माध्यम से अथवा पर्दे के पीछे की कूटनीति से प्रायः परस्पर सहयोग करती हैं। जहाँ चुनौती दोनों में से किसी एक महाशक्ति द्वारा प्रस्तुत होती है, वहाँ प्रायः अवरोध (Deadlock) की स्थिति पैदा हो जाती है। बर्लिन, वियतनाम आदि के सन्दर्भ में इस प्रकार की अवरोधपूर्ण स्थितियाँ उत्पन्न हो चुकी हैं। अन्य राज्यों द्वारा क्षेत्रीय प्रभुत्व के प्रयत्नों को रोकने में रूस-अमेरिकी सहयोग के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ ने एक महत्त्वपूर्ण संस्थात्मक आधार-स्थल का काम किया है। दोनों महाशक्तियों ने किसी युद्ध-विराम को लागू करने के लिए कई बार महासचिव के सद्-प्रयासों का स्वागत किया है। साइप्रस, मध्य-पूर्व और भारत-पाक संघर्षों में ऐसा हो चुका है।

7. निःशस्त्रीकरण एक अधिक संयत प्रतिमान की दिशा में—समकालीन विश्व में दो महायुद्धों के बीच की अवधि की तुलना में निःशस्त्रीकरण ने एक अधिक संयत प्रतिमान (A more moderate pattern) का अनुसरण किया है। द्वितीय महायुद्धोत्तर युग में इस पर अधिक बल दिया जाने लगा है। अधिकांश समकालीन निर्णयकर्त्ता निःशस्त्रीकरण को एक ऐसा साधन या उपाय मानने लगे हैं जो युद्ध के खतरे को कम करता है। महाशक्तियों ने अपनी रण-नीतियों और व्यूह-रचनाओं को उग्र बनाने की नीति का अनुसरण किया है, लेकिन प्रत्यक्षतः एक दूसरे से संघर्ष की स्थिति को सदैव टाला है। यह स्थिति वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था कायम रखने में सहायक हुई है।

8. विवाद-क्षेत्रों का विभाजन—उन विवाद-क्षेत्रों की संख्या और विविधता बढ़ती जा रही है जिन पर राज्य परस्पर सौदेबाजी करते हैं। पुरातन युग में राज्य मुख्यतः उस क्षेत्र के नियन्त्रण पर सौदेबाजी करते थे जो उनकी भौगोलिक सुरक्षा से सम्बन्धित होता था, किन्तु आधुनिक राज्य एक दूसरे से व्यापक और विविध विवाद क्षेत्रों पर सौदेबाजी करते हैं जिनमें से अनेक का प्रादेशिक नियन्त्रण जैसे प्रश्नों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। उदाहरणार्थ, राज्यों के बीच अन्तर्सरकारी संगठनों के निर्माण और गतिविधि, आर्थिक विकास की नीतियों, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न समस्याओं का अन्तर्राष्ट्रीय ढाँचे में समाधान आदि प्रश्नों पर सौदेबाजी होती है, यहाँ तक कि कुछ राज्यों की आन्तरिक सामाजिक नीतियों (जैसे दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद नीति) पर भी राज्यों के मध्य सौदेबाजी होती है। जो प्रश्न प्रादेशिक नियन्त्रण और राष्ट्रीय सुरक्षा से सम्बन्धित हैं उन पर सौदेबाजी की स्थितियाँ अधिक पेचीदा बन जाती हैं। उदाहरणार्थ गुटनीति के सम्बन्ध में कोई समझौता केवल किन्हीं प्रादेशिक लक्ष्यों के सम्बन्ध में ही नहीं किया जाता या किसी समझौते का उद्देश्य केवल इतना ही नहीं होता कि एक राज्य या राज्यों के गु

विशेष के विरुद्ध सुरक्षा की जानी है, बल्कि उस समझौते में और भी व्यापक हित-प्रश्न सन्निहित होते हैं। नाटो सीटो, वारसा पैक्ट आदि संगठन केवल प्रादेशिक नियन्त्रण और राष्ट्रीय सुरक्षा जैसे प्रश्नों तक ही सीमित नहीं हैं बल्कि ऐसी प्रतिबद्धताओं में बँधे हुए हैं जिनसे अनेक प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं जैसे विदेशी सेनाओं की तैनाती, प्रशासकीय कर्मचारियों की नियुक्ति, आधार स्थलों की स्थिति, संगठन-सदस्यों के समर्थकों का आवटन, आदि। राष्ट्रीय सुरक्षा की राजनीति से शस्त्र-नियन्त्रण और निःशस्त्रीकरण जैसा विवाद-क्षेत्र या मसला उत्पन्न होता है और आज 20वीं शताब्दी की विदेश-नीति में यह मामला अधिक अधिकाधिक विवादास्पद बनता जा रहा है। अन्तर्सरकारी संगठनों के विकास से भी विवाद-क्षेत्रों की संख्या में वृद्धि हुई है। उदाहरण के लिए, इन संगठनों की राजनीति के प्रश्न, जिनमें सांविधानिक परिवर्तन, पदाधिकारियों के चुनाव, बजट सम्बन्धी आवटन, संगठनों में राज्यों की स्थिति आदि शामिल हैं, राज्यों की विदेशनीति के नए विवाद-क्षेत्र बन गए हैं। इसके अतिरिक्त अन्तर्सरकारी संगठन मानवाधिकारों, साम्यवाद बनाम पूँजीवाद, उपनिवेशवाद बनाम उपनिवेशवाद-विरोधी आदि समस्याओं पर मौखिक संघर्ष का रंगमंच प्रदान करते हैं।

9. विचारधाराओं का परिवर्तित रूप—वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विचारधाराओं का कठोर स्वरूप लचीला होता जा रहा है तथा परिवर्तित हो रहा है। इसके अनेक पक्ष हैं। एक ओर साम्यवाद तथा पूँजीवाद—इन दो परम्परागत और परस्पर विरोधी विचारधाराओं में संघर्ष शिथिल पड़ रहा है और रूस तथा अमेरिका सहअस्तित्व की बात करने लगे हैं, तो दूसरी ओर एक ही विचारधारा के बीच विभाजन की खाई चौड़ी हो रही है और चीन तथा रूस एक दूसरे को शत्रुता की दृष्टि से देख रहे हैं।

10. बहुकेन्द्रवाद की ओर प्रवृत्ति—वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत् बहुकेन्द्रवाद (Polycentrism) की ओर उन्मुख है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की भाषा में द्वि-ध्रुवीयता (Bipolarity) का अर्थ है विश्व का दो शक्ति-गुटों या केन्द्रों में विभाजन हो जाना और बहुकेन्द्रवाद का अर्थ है शक्ति के अनेक केन्द्रों का उदय हो जाना। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त संयुक्तराज्य अमेरिका और सोवियत रूस के नेतृत्व में दो शक्ति-गुटों का तेजी से उदय हुआ, पर सन् 1960 के आते-आते यह द्वि-ध्रुवीयता शिथिल पड़ने लगी और विश्व शनैः-शनैः बहुकेन्द्रवाद की ओर अग्रसर होने लगा। सबसे पहले द्वि-ध्रुवीयता को राष्ट्रीयता ने चुनौती दी। एशिया और अफ्रीका के नवजागरण के फलस्वरूप दोनों गुटों से पृथक् रहने की नीतियों को अपनाने से द्विकेन्द्रित व्यवस्था और अधिक शिथिल हो गई। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका भारत ने अदा की। इसके अतिरिक्त पश्चिमी यूरोप की शक्तियों ने अपने आर्थिक पुनर्निर्माण द्वारा स्वयं को पुनः शक्ति-सम्पन्न बनाकर यह निश्चय किया कि अब वे अमेरिका के पिछलग्गू बनकर नहीं रहेंगे। विशेषकर फ्रांस ने स्वर्गीय जनरल डिगॉल के नेतृत्व में विश्व की द्विध्रुवीय व्यवस्था को विशेष आघात पहुँचाया। इस

व्यवस्था को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप मे इस बात से भी आघात पहुँचा कि अणु आयुधों का एकाधिकार अमेरिका और रूस के पास से खिसकने लगा तथा ब्रिटेन फ्रांस और चीन भी अणुशक्ति सम्पन्न बन गए। नवोदित अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की रूपरेखा यद्यपि अभी सुस्पष्ट और सुनिश्चित नहीं है, तथापि दो शक्ति गुटों के स्थान पर अधिक शक्तिकेन्द्रों का स्पष्ट रूप से उदय हुआ है। अब विश्व की दो महाशक्तियों, रूस और अमेरिका के लिए एशिया मे भारत और चीन की उपेक्षा करना सम्भव नही है।

वस्तुतः वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था बहुकेन्द्रीय है जिसमे केवल पूँजीवादी, साम्यवादी और तटस्थतावादी गुट ही नही है बल्कि अन्य राष्ट्र और सयुक्त राष्ट्रसघ भी सम्मिलित हैं। आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ऐसी है कि उचित अवसर पर कमजोर से कमजोर राष्ट्र की आवाज भी अपना महत्त्व रखती है। मध्यपूर्व मे इजराइल और सयुक्त अरब गणराज्य भी शक्ति के ऐसे केन्द्र हैं जो अपने रवैये मे परिवर्तन द्वारा सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और महाशक्तियो के पारस्परिक संबधो को झकझोर सकते हैं। शक्ति-सन्तुलन की ऐतिहासिक परम्परा का आज विशेष महत्त्व नही रह गया है और सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था की बात अव्यावहारिक प्रतीत होने लगी है।

11 विभिन्न देशो के स्तरों में परिवर्तन—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति आज यूरोपीय देशो की राजनीति ही नही रह गई है। एशिया और अफ्रीका का नवजागरण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे नए महत्त्व, नए सम्बन्ध और नए प्रभाव का सूचक है। आज अफ्रेशियाई राष्ट्रो का भाग्य साम्राज्यवादी राष्ट्रो के साथ बँधा हुआ नही है, अब वे अपनी स्वतन्त्र विदेश-नीति का प्रयोग करने मे लगे हैं और सयुक्त राष्ट्रसघ मे उनकी आवाज की उपेक्षा करना किसी भी महाशक्ति के लिए सुगम नही है। इन राष्ट्रो के निर्णयों का आधुनिक राजनीति पर भारी प्रभाव पड़ता है। भारत और चीन नई महाशक्तियो के रूप मे उदित हो रहे हैं और अपने सिद्धान्तो के अनुरूप विश्व राजनीति पर व्यापक प्रभाव डाल रहे हैं। भारत एशिया मे लोकतन्त्र का गढ है तो चीन प्रादेशिक विस्तारवादी, सैन्यवादी तथा कुटिल राजनीति का खिलाडी है जो विश्व की सभी लोकतान्त्रिक महाशक्तियो के लिए चुनौती है। पाकिस्तान सैनिक तानाशाही के अधीन अपने ही हाथो अपने पैरो पर कुल्हाडी मार कर विखण्डित हो चुका है।

12 विश्व-संस्था के प्रति परिवर्तित रुख—विश्व-संस्था, सयुक्त राष्ट्रसघ के प्रति ससार के राष्ट्रो का दृष्टिकोण आज उतना उत्साहप्रद नही है जितना इस संस्था की स्थापना के समय अपेक्षित था। अधिकांश राष्ट्र इसके सिद्धान्तो के प्रति समुचित रूप मे निष्ठावान नही हैं और सुरक्षा-परिषद् महाशक्तियों के हाथो का खिलौना बन गई है। सयुक्त राष्ट्रसघ ने सफलता या तो उन मामलो मे प्राप्त की है जिनमे महाशक्तियों से इसे पूर्ण सहयोग मिला अथवा उन छोटे और कम महत्त्व के विवादो मे जिनसे महाशक्तियां प्रत्यक्षतः सम्बन्धित नही थी और जिनमे उनके हितो की

टकराहट नही थी। अतः अब अधिकांश देशो मे यह दृष्टिकोण बल पकड़ने लगा है कि सयुक्त राष्ट्रसंघ ईमानदारी से अपनी भूमिका निभाने मे सक्षम नही है। सयुक्त राष्ट्रसघ के प्रति सद्भावना और सक्रिय सहयोग की अपेक्षा राष्ट्रो का उदासीन रुख अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत् मे चिन्ता का विषय है।

13. मध्यपूर्व और सुदूरपूर्व की विशिष्ट स्थिति—महायुद्ध के उपरान्त एशिया के दो प्रदेश मध्यपूर्व और सुदूरपूर्व अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के क्षेत्र मे निरन्तर विशेष महत्त्व प्राप्त करते गए और आज भी ये विश्व का प्रधान सकटस्थल बने हुए हैं। मध्यपूर्व तेल के वृहद् भण्डारों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का आकर्षक केन्द्र है तो भारत और लाल चीन के उदय ने सुदूरपूर्व को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रदेशो की श्रेणी में ला खडा किया है। वास्तव मे आज एशिया विश्व-राजनीति का तूफानी केन्द्र बन चुका है।

14. साम्राज्यवाद का बदलता हुआ स्वरूप—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक नई विस्फोटक प्रवृत्ति यह है कि साम्राज्यवाद के नए परिवेश मे उभरने के आसार नजर आ रहे हैं। प्रादेशिक साम्राज्यवाद तो पतनोन्मुख हैं, लेकिन आर्थिक और राजनीतिक साम्राज्यवाद पैर पसारने के लिए प्रयत्नशील है। अफ्रीका इस नए साम्राज्यवाद का विशेष स्थल है, लेकिन अफ्रीकी जनता अब जाग उठी है और विभिन्न प्रकार से साम्राज्यवादो के विरुद्ध मोर्चा ले रही है। उप सघर्ष ने जहाँ एक ओर जन-आन्दोलनो का रूप ले लिया है, वहीं दूसरी ओर बुद्धिजीवियो का आन्दोलन भी इस मुक्ति-सघर्ष को तीव्र और स्थायी बनाने के लिए पृष्ठभूमि तैयार कर रहा है और बौद्धिक तथा वैचारिक स्तर पर नई दुनिया का सूत्रपात कर रहा है। यह एक शुभ लक्षण है।

15. गुट-निरपेक्ष देशो की उत्तरोत्तर बढ़ती भूमिका—गुट-निरपेक्षता आन्दोलन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे इतना प्रभावी होता जा रहा है कि महाशक्तियो और विश्व के पूँजीवादी तथा साम्यवादी शिविरो द्वारा गुट-निरपेक्ष देशो की आवाज को अब दबाया नही जा सकता। सन् 1961 के बेलग्रेड शिखर सम्मेलन के बाद गुट-निरपेक्षता आन्दोलन को उल्लेखनीय सफलताएँ प्राप्त हुई हैं। विश्व-शान्ति कायम रखने और विश्वयुद्ध तथा स्थानीय सघर्ष रोकने मे गुट-निरपेक्षता ने सैद्धान्तिक एवं स्थानीय सहयोग प्रदान किया है। साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और जातिवाद के विरुद्ध सघर्ष मे यह निरन्तर अग्रिम पक्ति मे रहा है। इसने विश्व के प्रमुख आर्थिक प्रश्नो की ओर ध्यान आकर्षित किया है और न्याय एव समानता के स्तर पर आधारित नव-आर्थिक समाज की स्थापना मे रचनात्मक योग दिया है। गुट-निरपेक्ष देशों की निरन्तर बढती हुई सख्या गुट-निरपेक्षता की लोकप्रियता का प्रमाण है। सितम्बर, 1961 के बेलग्रेड गुट-निरपेक्ष प्रथम शिखर सम्मेलन मे केवल 25 देशो ने भाग लिया था, सन् 1973 के अल्जीरिया सम्मेलन मे 76 देशों ने भाग लिया और अगस्त, 1976 के कोलम्बो सम्मेलन मे मालद्वीप निर्गुट राष्ट्र सगठन का 86वाँ सदस्य-देश

बना। कोलम्बो निर्गुट शिखर सम्मेलन में यह बात स्पष्ट हो गई कि गुट-निरपेक्ष देश किन्हीं भी दबावों के आगे नहीं झुकेंगे।

16 सम्प्रभु राज्यों की संख्या में वृद्धि—द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त उपनिवेशवाद के लोप के कारण सम्प्रभु राज्यों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। जहाँ सन् 1955 में संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों की संख्या केवल 51 थी, वहाँ अब यह 149 है। सम्प्रभु राज्यों की संख्या में इस अभूतपूर्व वृद्धि के फलस्वरूप विश्व-राजनीति का स्वरूप बहुत कुछ रूपान्तरित हो गया है और विभिन्न राज्यों के स्तरों तथा स्थितियों में तेजी से परिवर्तन आ रहा है। अफ्रेशियाई राष्ट्रों की आवाज विश्व संस्था में आज अधिक प्रभावी है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कुछ नवीनतम विवाद और घटना-चक्र

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक घटना-चक्र एक अविराम प्रवाहमान सरिता की भाँति है जिसमें नित नए परिवर्तनों के छोटे-मोटे बुलबुले उठते-गिरते रहते हैं, परिवर्तनों की लहरें हिलोरें मारती रहती हैं। कुछ परिवर्तन अपेक्षाकृत शान्त प्रकृति के होते हैं तो कुछ काफी उग्र और विस्फोटक। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विभिन्न सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पहलुओं, महाशक्तियों की विदेश-नीति, संयुक्त राष्ट्रसंघ, निःशस्त्रीकरण, शीतयुद्ध आदि के विस्तार से उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है। यहाँ हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अन्य उल्लेखनीय पहलुओं, अभिनव घटना-चक्रों तथा दृष्टि-कोणों को प्रस्तुत करेंगे।

निःशस्त्रीकरण पर ब्रेझनेव का प्रस्ताव, नवम्बर 1977

महायुद्धोत्तर युग में निःशस्त्रीकरण की दिशा में महाशक्तियों की ओर से जो प्रस्ताव-प्रतिप्रस्ताव किए जाते रहे हैं उनमें सोवियत संघ के राष्ट्रपति और कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव लियोनिद ब्रेझनेव का नवम्बर, 1977 का प्रस्ताव न केवल नवीनतम वरन् बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

'सोवियत अक्तूबर-क्रान्ति की 60वीं वर्षगाँठ के अवसर पर क्रेमलिन में आयोजित एक रैली को सम्बोधित करते हुए 2 नवम्बर को श्री ब्रेझनेव ने यह प्रस्ताव किया कि सभी देश एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के अन्तर्गत परमाणु अस्त्रों का निर्माण एक साथ रोक दें। उन्होंने यह आग्रह भी किया है कि एक निश्चित अवधि के लिए न केवल सभी प्रकार के परमाणु अस्त्रों के परीक्षणों पर प्रतिबन्ध लगाया जाए बल्कि साथ ही शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए किए जाने वाले परमाणु विस्फोटों को भी स्थगित कर दिया जाए। अमेरिका के साथ अपने सम्बन्धों को महत्त्वपूर्ण बताते हुए श्री ब्रेझनेव ने कहा कि आज की सबसे बड़ी और तात्कालिक आवश्यकता यह है कि उस शस्त्रास्त्र होड़ को रोका जाए जिसने सारे संसार को अपनी चपेट में ले लिया है। सैनिक संघर्षों को क्रमशः कम करने हेतु हम शस्त्रास्त्र होड़ को कम करने के पक्ष में हैं और इस प्रक्रिया को आरम्भ करना चाहते हैं। हम पहले तो परमाणु युद्ध की सम्भावनाओं को कम करना चाहते हैं और अन्ततः उन्हें समाप्त करना चाहते हैं। परमाणु युद्ध मानव-जाति का सबसे प्रबल शत्रु है।

"श्री ब्रेझनेव ने परमाणु युद्ध के संकट से मानव-जाति की मुक्ति के लिए यह सुझाव दिया है कि जिन देशों के पास परमाणु अस्त्रों के भण्डार हैं वे उसमें धीरे-धीरे कटौती करें और अन्त में उसे बिलकुल समाप्त कर दें। उनकी मान्यता है कि विश्व के देश दीर्घकाल से परमाणु अस्त्रों पर जिस प्रतिबन्ध की अपेक्षा कर रहे हैं, परमाणु परीक्षणों का स्थगन उसकी भूमिका होगी। उन्होंने आशा व्यक्त की कि इन कामों के हो जाने पर उन अनेक समस्याओं के समाधान की ओर ध्यान दिया जा सकेगा जिनका सामना मानव-जाति को करना पड़ रहा है। सबके लिए भोजन की व्यवस्था, कच्चे माल और ऊर्जा के स्रोतों को जुटाना, एशियायी, अफ्रीकी, लातीनी अमेरिकी देशों के पिछड़ेपन को दूर करना आदि महत्त्वपूर्ण समस्याएँ हैं जिनका समाधान नितान्त आवश्यक है।"

सोवियत राष्ट्रपति के इस प्रस्ताव से कुछ दिन पहले ही जापान ने आग्रह किया था कि सभी प्रकार के परमाणु परीक्षणों पर प्रतिबन्ध लगाया जाए क्योंकि शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए और सैनिक उद्देश्यों से किए जाने वाले परमाणु परीक्षणों में भेद करना तकनीकी दृष्टि से सम्भव नहीं है। जिन देशों के पास आज परमाणु अस्त्र नहीं हैं वे भी शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए विस्फोट कर अन्ततः परमाणु अस्त्र निर्माण की क्षमता अर्जित कर सकते हैं। अतएव सभी प्रकार के परमाणु परीक्षणों पर प्रतिबन्ध के अभाव में परमाणु अस्त्र निरोध सन्धि सार्थक नहीं बन पाएगी। जापान का यह तर्क उचित था। परमाणु शक्ति सम्पन्न होने की छूट देकर किसी देश से यह अपेक्षा कैसे की जा सकती है कि आवश्यकता होने पर भी वह अपनी उस शक्ति का उपयोग सैनिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए नहीं करेगा। जापान की इस माँग के सन्दर्भ में भी ब्रेझनेव का हाल का प्रस्ताव बहुत कुछ सार्थक है। परमाणु विस्फोटों का स्थगन अन्ततः पूर्ण प्रतिबन्ध का रूप ले सकता है, बशर्ते कि सम्बद्ध देश नेकनीयती का परिचय दें।

स्वाभाविक ही था कि ब्रेझनेव के प्रस्ताव पर अमेरिका अपनी प्रतिक्रिया तत्काल व्यक्त करता। अमेरिकी राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर ने उसी दिन रात को विश्व यहूदी कांग्रेस को सम्बोधित करते हुए ब्रेझनेव के प्रस्ताव का यह कहकर स्वागत किया कि "हमें आशा है कि शीघ्र ही हम परमाणु-परीक्षणों पर व्यापक प्रतिबन्ध लगाने में सफल होंगे जिससे पृथ्वी पर से इस (परमाणु शक्ति) का खतरा निर्मूल किया जा सकेगा।" हमारे प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई ने भी ब्रेझनेव के प्रस्ताव का हार्दिक स्वागत किया है।

ब्रेझनेव का प्रस्ताव अच्छा और व्यावहारिक है किन्तु वर्तमान परिस्थितियों में उसे क्रियान्वित करना निश्चय ही कठिन है। प्रस्ताव की सफलता के लिए जरूरी है कि वे सभी देश उसको क्रियान्वित करने के लिए बिना शर्त सहमत हों जिनके पास परमाणु अस्त्र हैं तथा वे भी जो परमाणु शक्ति सम्पन्न हैं यद्यपि फिलहाल उनके पास परमाणु अस्त्र नहीं हैं। इसका अर्थ यह होगा कि परमाणु अस्त्रों ने जिन्हें आज सर्वशक्तिवान् बना रखा है उनके और जो उनके समकक्ष पहुँचने के लिए प्रयत्नरत हैं

उन देशों के बीच वर्तमान शक्ति सन्तुलन रहेगा। यह स्थिति कम से कम वह देश तो स्वीकार नहीं करेंगे जो बड़ों की पंक्ति में बैठने के लिए निरन्तर परमाणु परीक्षण करते रहे हैं तथा कर रहे हैं। अतः यह आवश्यक है कि दोनों बड़े राष्ट्र दूसरों की सहमति की चिन्ता किए बिना इस दिशा में पहल करें। प्रश्न यह है कि क्या वे इसके लिए तैयार होंगे?

संयुक्त राष्ट्र महासभा के 31वें सत्र में निःशस्त्रीकरण पर विचार और भारत की भूमिका[1]

संयुक्त राष्ट्र महासभा के 31वें सत्र 1976 की कार्यसूची में निःशस्त्रीकरण, अन्तरिक्ष और परमाणु ऊर्जा के बारे में कुल 20 मदें थीं जिन पर 23 प्रस्ताव पारित किए गए। इनमें से भारत ने 6 प्रस्तावों को सहप्रवर्तित किया और ये सभी पारित हुए, इनमें से चार तो बिना मतदान के पारित हो गए। भारत ने दो अन्य प्रस्तावों में मत दिया, 4 में अनुपस्थित रहा और 1 के (दक्षिण एशिया में अणु ऊर्जा मुक्त क्षेत्र की स्थापना के प्रश्न पर पाकिस्तान द्वारा प्रवर्तित) विरोध में मत दिया। तीन अन्य प्रस्ताव बिना किसी मतदान के पारित हो गए।

निःशस्त्रीकरण पर विचार करने के लिए संयुक्त राष्ट्र महासभा का विशेष सत्र आयोजित करने का निर्णय निःशस्त्रीकरण के क्षेत्र में 31वें सत्र की हुई एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना थी। कोलम्बो शिखर सम्मेलन की सिफारिशों के अनुशीलन में भारत सहित अनेक गुट-निरपेक्ष देशों ने एक प्रस्ताव सहप्रवर्तित किया जो पारित हुआ। इसके अनुसार निःशस्त्रीकरण पर विचार करने के लिए संयुक्त राष्ट्र महासभा का मई-जून, 1978 में विशेष सत्र बुलाने का निर्णय लिया गया।

दक्षिण एशिया में अणु-शस्त्र-मुक्त क्षेत्र की स्थापना के प्रश्न पर पाकिस्तान ने पुनः एक प्रस्ताव सदन में रखा। भारत ने इस सत्र में कोई प्रस्ताव सदन में नहीं रखा क्योंकि इस विषय पर दिए गए अनेक वक्तव्यों में इसकी स्थिति पहले ही काफी स्पष्ट हो चुकी थी जिनसे विरोध का संकेत मिला था। 29 और 30वें सत्र में पाकिस्तान के प्रस्तावों के विरुद्ध भारत ने अपनी तरफ से वैकल्पिक प्रस्ताव रखे जिन्हें संयुक्त राष्ट्र महासभा में पारित किया। यथार्थ में 29वें सत्र में भारत और पाकिस्तान दोनों के प्रस्तावों पर मतदान हुआ। भारत के प्रस्ताव के पक्ष में पाकिस्तान के प्रस्ताव की अपेक्षा अधिक मत पड़े थे। फिर भी पाकिस्तान के प्रस्ताव की अस्वीकृति को दोहराने के लिए भारत ने पाकिस्तानी प्रस्ताव के विरोध में मत दिया था। कुल मिलाकर पाकिस्तानी प्रस्ताव के बारे में भारत की स्थिति यह थी कि दक्षिण एशिया में अणु शस्त्रमुक्त क्षेत्र की स्थापना करना तबतक सम्भव नहीं है जब तक एशिया और पैसिफिक में अणु शस्त्र विद्यमान हैं क्योंकि दक्षिण एशिया इसका अभिन्न अंग है।

परम्परागत निःशस्त्रीकरण के बारे में भारत ने अपना वही मत दुहराया कि परम्परागत शस्त्रों पर व्यापक नियन्त्रण होना चाहिए, उस पर आम एवं सम्पूर्ण

1. भारत सरकार : विदेश मन्त्रालय की वार्षिक रिपोर्ट, 1976–77, पृ 46-47.

निःशस्त्रीकरण के सन्दर्भ में विनम्र होना चाहिए और सर्वोच्च प्राथमिकता अणु शस्त्रो तथा वडे पैमाने पर विनाश करने वाले अन्य हथियारो की समाप्ति के प्रश्न को दी जानी चाहिए। इस स्थिति के अनुरूप भारत इस प्रस्ताव पर होने वाले विचार-विमर्श पर स्थगन लाने मे सफल हुआ जिसमे परम्परागत हथियारो के उत्पादन, उन्नत बनाने और सचय करने पर रोक लगाए बिना केवल उनके अन्तर्राष्ट्रीय हस्तान्तरण पर नियन्त्रण लगाने का प्रस्ताव था और साथ ही इसमे अणु निःशस्त्रीकरण एव बडे पैमाने पर विनाश करने वाले सभी हथियार सम्बन्धी लक्ष्य को सर्वोच्च प्राथमिकता भी नही दी गई थी।

सयुक्त राष्ट्र महासभा के 31वे सत्र मे निशस्त्रीकरण के प्रश्न के विभिन्न पहलुओ में कोई ठोस प्रगति नही देखी गई और अनेक समस्याओ, विशेषकर व्यापक अणु अस्त्र परीक्षा प्रतिबन्ध के निष्कर्ष एव प्राथमिकता के आधार पर रासायनिक हथियारो पर प्रतिबन्ध, आगे विचार-विनिमय के लिए सी सी डी को सौंपे गए।

महासभा के 31वें सत्र 1976 मे उपनिवेशवाद और पृथग्वासन का विरोध

महासभा का जो 31वां नियमित सत्र 21 सितम्बर से 21 दिसम्बर, 1976 तक न्यूयार्क मे हुआ उसमें दक्षिण सरकार की पृथग्वासन नीतियो और जिम्बाब्वे के गैर-कानूनी राज्य की कटु आलोचना हुई। पृथग्वासन के महत्त्व पर विशेष प्रकाश डालने के लिए इस पर पिछले वर्षों की तरह विशेष राजनीतिक समिति के बजाय पूर्ण सत्र मे विचार-विमर्श किया गया। इस वाद-विवाद मे 100 से अधिक प्रतिनिधियो ने भाग लिया और मात्र पृथग्वासन पर 11 प्रस्ताव पारित किए गए जिनमे से 8 भारत ने सह-प्रस्तावित किय। महासभा ने पहली बार दक्षिण अफ्रीका के पीडित लोगो के सशस्त्र युद्ध का समर्थन किया। इसने प्रिटोरिया राज्य को अवैध घोषित किया और दक्षिण अफ्रीका के लोगो द्वारा अपनी स्वतत्रता के लिए सभी साधनो से युद्ध करने के अधिकार की पुन पुष्टि की। इसके अलावा महासभा ने दक्षिण अफ्रीका के स्वतन्त्रता सघर्ष मे भाग लेने के कारण बन्दी बनाए गए सभी लोगो को तत्काल मुक्त करने की माँग की और सुरक्षा परिषद् से प्रिटोरिया राज्य के खिलाफ *शस्त्रो पर रोक लगाने का आदेश जारी करने की पुन माँग की। एक दूसरे प्रस्ताव मे प्रिटोरिया शासन के साथ किसी भी प्रकार के सहयोग की निन्दा की गई क्योंकि इसे दक्षिण अफ्रीका के पीडित लोगो के विरुद्ध विद्वेषपूर्ण कार्यवाही' माना* गया और शासन के साथ सहयोग करने वाले सभी देशो और विदेशी आर्थिक हित कायम रखने वालो की भर्त्सना की। इजराइल की भर्त्सना करते हुए एक प्रस्ताव 'दक्षिण अफ्रीका के जातिवादी शासन के साथ सहयोग बढ़ाने सम्बन्धी' स्वीकृत किया गया। महासभा ने विशेष समिति को पृथग्वासन के विरुद्ध सन् 1977 मे अफ्रीका (घाना) मे एक विश्व सम्मेलन गठित करने का अधिकार दिया जिसका कार्य सरकारो, विशेषीकृत अभिकरणो तथा अन्य सगठनो द्वारा अपनाए जाने योग्य साधनो की सूची तैयार कर एक कार्यक्रम तैयार करना था। इसने बिना किसी विरोध के एक निर्णय को

भी स्वीकृति प्रदान की जिसका उद्देश्य खेलकूद में पृथग्वासन के खिलाफ अन्तर्राष्ट्रीय-समवाय तैयार करने के लिए प्रारम्भ समिति गठित करना और दक्षिण अफ्रीका के लिए संयुक्त राष्ट्र ट्रस्ट निधि में, जो भेद-भावपूर्ण कानून से पीड़ित लोगों को मानवीय सहायता प्रदान करती है, उदारता से अंशदान देने की अपील करना था। इसके अलावा महासभा ने ट्रासकेई—दक्षिण अफ्रीका का एक बंतुस्तान (गृहविहीन) की स्वतन्त्रता की घोषणा को अस्वीकृत किया और उसे अवैध घोषित किया। बंतुस्तानों की स्थापना की भर्त्सना की गई और इन्हें पृथग्वासन को सुदृढ़ बनाने की एक चाल बताया गया जो गोरे अल्प लोगों का शासन कायम रखने और दक्षिण अफ्रीका के अहस्तान्तरणीय अधिकारों को छीनने के लिए चली गई थी। सरकारों को 'तथाकथित स्वतन्त्र ट्रासकेई' के किसी भी रूप को मान्यता नहीं देने और उनके साथ या अन्य किसी बंतुस्तान के साथ सभी प्रकार के सम्बन्धों में पृथक् रहने को कहा गया।

भारत ने उपनिवेशवाद और पृथग्वासन से सम्बन्धित विषयों पर, जैसा कि इन विषयों पर भारत का मत सर्व-विदित है, महासभा के विचार-विमर्श में सक्रिय भाग लिया। भारत उपनिवेशवाद की समाप्ति (24वीं समिति) के लिए संयुक्त राष्ट्र की विशेष समिति, पृथग्वासन पर विशेष समिति और नामिबिया परिषद् का सदस्य बना रहा।

सेशेल्स की ब्रिटिश साम्राज्यवाद से मुक्ति

28 जून की आधी रात को सेशेल्स द्वीपसमूह 160 वर्षों के ब्रितानी आधिपत्य से मुक्त हो गया। सेशेल्स के सबसे बड़े द्वीप माहे (जहाँ सेशेल्स की कुल आबादी का 90 प्रतिशत भाग बसा हुआ है) में राजधानी विक्टोरिया के राष्ट्रीय स्टेडियम में सेशेल्स की लगभग समूची जनसंख्या (65 हजार) इस ऐतिहासिक अवसर पर एकत्रित हुई। रानी एलिजाबेथ के प्रतिनिधि ग्लोस्टर के ड्यूक ने सेशेल्स के 36 वर्षीय राष्ट्रपति जेम्स मचम को नए संविधान के कागजात सौंप कर स्वतन्त्रता समारोह को अन्तिम रूप दिया। सेशेल्स जो अब राष्ट्रमण्डल का 35वाँ सदस्य है, के नए राष्ट्रपति ने अपने भाषण में गुट-निरपेक्ष नीति को अपनाने का वचन दिया। जेम्स मचम ने कहा कि हमारा देश एक अशान्त दुनिया में अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त कर रहा है। ऐसी स्थिति में सारी दुनिया को मेरा यह सन्देश है कि हमारे तट सुरक्षा की दृष्टि से कितने ही कमजोर क्यों न हों तथा हमारी आर्थिक स्थिति अभी भले ही ठीक न हो पर संयुक्त सेशेल्स को कभी पराजित नहीं किया जा सकेगा।

श्रीमती इन्दिरागाँधी ने नव-स्वतन्त्र राष्ट्र के नेताओं और जनता को अपने बधाई सन्देश में कहा कि 'भारत और सेशेल्स के अनेक ऐतिहासिक सम्बन्ध तथा समान स्मृतियाँ हैं। हिन्दमहासागर के इर्द-गिर्द के सभी देश अपने क्षेत्र को शान्ति का क्षेत्र बनाना चाहते हैं। हम इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए मिलकर काम करेंगे।"

अफ्रीका में बदलती शासन-प्रणाली

एशिया और अफ्रीका महाद्वीप राजनीति और प्रशासन के प्रयोग में अस्थिर रहे

हैं। अफ्रीका आज भी राजनीतिक अस्थिरता का शिकार है। जनवरी के दिनमान में अफ्रीका मे बदलती शासन-प्रणालियो का सक्षिप्त विवरण दिया गया है जो हमे अफ्रीका की राजनीतिक और शासनिक स्थिति का अच्छा आभास देता है—

4 दिसम्बर, 1976 को मध्य अफ्रीकी गणतन्त्र द्वारा राजशाही की घोषणा से केवल अफ्रीकी देशों मे ही नही विश्व के अन्य देशो मे भी पर्याप्त प्रतिक्रिया हुई है। इस घोषणा के अनुसार ज्याँ वेदेल बोकासा देश के सम्राट् होंगे। सम्राट् बनने से पूर्व बोकासा देश के राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री और प्रतिरक्षा मन्त्री थे। सन् 1972 में उन्होने देश के आजीवन राष्ट्रपति का पद ग्रहण किया। अब वह बोकासा से सलाउद्दीन अहमद बोकासा हो गए हैं। लोकतन्त्र मे देश को राजशाही की ओर ले जाने का निर्णय पिछले दिनो सत्तारूढ मेसोन (काले अफ्रीकी आन्दोलन पार्टी) ने किया था। अभी तक अफ्रीकी देशों मे उगाँडा के ईदी अमीन को महत्त्वाकांक्षी माना जाता रहा है लेकिन बोकासा उनसे भी एक कदम आगे निकल गए। दिलचस्प बात यह है कि उन्हे बधाई देने वाले लोगो मे सबसे पहले व्यक्ति अमीन ही थे।

मध्य अफ्रीकी गणतन्त्र पर कभी फ्रांसीसियो का अधिकार था। पिछले दिनों अफ्रीका की एकमात्र राजशाही इथियोपिया का अन्त हुआ था। अफ्रीकी देशो ने तब इस परिवर्तन को सही दिशा माना था, हालांकि जिस तरह से सम्राट् हेले सिलासी को सत्ता से हटाया गया था उस तरीके को अच्छा नही माना गया था, किन्तु हर देश की अपनी व्यवस्थाएँ और स्थापनाएँ होती है। उनके अनुसार ही वहाँ का शासनतन्त्र सचालित होता है। जहाँ तक अफ्रीकी देशो का प्रश्न है यदि बारीकी से अध्ययन किया जाए तो पता चलेगा कि आजाद होने के बाद इन देशो मे लोकतन्त्र और बहुत हद तक ससदीय लोकतन्त्र की परम्पराएँ ही शुरू मे कायम होती रही हैं। धीरे-धीरे एक कबीले और दूसरे कबीले मे जब मतभेद बढते चले जाते हैं तो नाते टूटने लगते हैं और इससे शासनतन्त्र की प्रक्रिया मे भी परिवर्तन होना आरम्भ हो जाता है। अतः इन देशो मे सैनिक क्रान्तियाँ और अस्थिरता कोई अनहोनी बात नही है।

जागरूक नेता—कुछ नेता जो अधिक जागरूक, सतर्क और चौकस थे, उन्होने या तो देश मे एकदलीय शासन प्रणाली कायम की या सविधान को अपने हितों के अनुरूप ढाल कर आजीवन राष्ट्रपति या राज्याध्यक्ष का पद प्राप्त कर लिया। लेकिन एक राज्याध्यक्ष द्वारा अपने आपको सम्राट् घोषित करने का कदम मध्य अफ्रीकी गणतन्त्र ने ही उठाया है। इस तरह के भी अवसर आए हैं कि स्वय को आजीवन राष्ट्रपति घोषित करने वाले नेताओ को केवल सत्ता से ही नही हटाया गया बल्कि उनका अन्त बड़े कठिन दौर मे और अपने देश से बाहर हुआ। इसका उदाहरण घाना के राज्याध्यक्ष डॉ क्वामे एन्क्रुमा हैं। नाइजीरिया से पहले बिग्रफा के अलगाव के प्रश्न पर पर्याप्त रक्तपात हुआ। इस दौर से पहले और इस दौर के बाद भी वहाँ राजनीतिक अस्थिरता कायम रही। पहले प्रधान मन्त्री तफावा बालेवा की हत्या हुई, उसके बाद कर्नल गोवोन जब सत्ता मे आए तो जनरल ईरोसी की हत्या हुई।

गोवोन विग्रफा लडाई तो लड़ गए लेकिन बाद मे जब उनकी जड मजबूत होने लगी तो जिस सैनिक शासन के बल पर वह सत्ता मे आए थे उसी सैनिक बल ने उन्हे सत्ता से हटा दिया। उगांडा के डॉ मिल्टन ओबोटे को भी अपने विषय मे कम भ्रम नही था। लेकिन उन्हीं के सेनाध्यक्ष जनरल ईदी अमीन ने उनकी अनुपस्थिति मे सत्ता हथिया ली। उगांडा मे भी स्वाधीनता के बाद राजशाही थी, लेकिन जब सन् 1966 मे मिल्टन ओबोटे ने एडवर्ड मुतेसा से सत्ता छीनी तो उन्होने राजशाही समाप्त कर दी। अफ्रीकी देशो मे यदि कहीं स्थिरता दिखायी दे रही है तो वे देश हैं—जांबिया, जहां के राष्ट्रपति केनेथ काउडा (24 अक्तूबर, 1964 से राष्ट्रपति) हैं, तांजानिया, जहां के राष्ट्रपति जूलियस न्येरेरे (26 अप्रेल, 1964 से राष्ट्रपति) हैं और केन्या, जहां जोमो केन्याटा (12 दिसम्बर, 1964 से राष्ट्रपति) सत्ता मे है। वैसे रक्तपात के दौर से जेयरे भी गुजरा है, लेकिन सन् 1966 से राष्ट्रपति मोबुतु के हाथ मे निरन्तर शासन की बागडोर है। सन् 1970 मे वह सात वर्षों के लिए राष्ट्रपति चुने गए थे। दक्षिण अफ्रीका और रोडेशिया दो ऐसे देश हैं जहां गोराशाही है। निस्सन्देह गोराशाही का अन्त करने की शुरुआत हो चुकी है लेकिन उसकी समाप्ति कब होगी कह पाना कठिन है। स्थिरता के नाम पर मॉरिशस में भी 12 मार्च, 1968 से राजनीतिक स्थिरता है। वहां पर ससदीय सरकार है, लेकिन 20 दिसम्बर, 1976 को जो चुनाव हुए हैं सम्भवत वे राजनीतिक अस्थिरता का कारण बन सकते हैं।

आसपास—मध्य अफ्रीका गणतन्त्र का क्षेत्रफल 6,25,000 वर्ग किलोमीटर है। इसकी जनसख्या 2,080,000 (1970 का आंकडा) है। राजधानी बांगुई है जिसकी जनसख्या 3,01,793 है। 13 अगस्त, 1960 को मध्य अफ्रीकी गणतन्त्र को स्वाधीनता प्राप्त हुई। अफ्रीका के चार फ्रांसीसी राज्यो मे मध्य अफ्रीकी गणतन्त्र भी एक राज्य था। जनवरी, 1959 के अन्य तीन अफ्रीकी फ्रांसीसी राज्यो के साथ मिल कर आर्थिक और तकनीकी सघ का गठन हुआ। 20 सितम्बर, 1960 को मध्य अफ्रीकी गणतन्त्र को सयुक्त राष्ट्र का सदस्य बनाया गया। पहले राष्ट्रपति डेविड डाका थे। जनवरी, 1960 मे अपने चुनाव के बाद उन्होने सभी राजनीतिक पार्टियो को भग कर दिया। जनवरी, 1965 मे उनका पुनर्निर्वाचन हुआ। चुनाव मैदान मे तब वह केवल एकमात्र उम्मीदवार थे। उस समय मध्य अफ्रीकी गणतन्त्र चीनी गतिविधियो का मुख्य केन्द्र बना हुआ था। जनवरी, 1966 को मध्य अफ्रीकी गणतन्त्र के सेनाध्यक्ष कर्नल जीन बेदेल बोकासा ने राष्ट्रपति डाको को सत्ताच्युत कर दिया। राष्ट्रपति बोकासा ने चीन से सभी तरह के राजनयिक सम्बन्ध-विच्छेद कर दिए। 8 मार्च, 1972 को वह देश के आजीवन राष्ट्रपति बन गए।

फ्रांस का प्रभाव—मध्य अफ्रीकी गणतन्त्र भूतपूर्व फ्रांसीसी उपनिवेश है। तब इसका नाम उबागी शारी था। यह गिनी की खाडी के 350 मील उत्तर-पूर्व मे स्थित है। मध्य अफ्रीकी गणतन्त्र चैड, सूडान, कांगो, जेयरे और कैमरून से घिरा हुआ है। इन देशो से घिरा होने के कारण यहां पर विस्थापितो की संख्या भी

काफी है—लगभग बीस हजार सूडान के और दो हजार कांगो के निवासी भी यहाँ रहते हैं। यहाँ की सरकारी भाषा फ्रांसीसी है लेकिन बांडा, मबाका जांदे तथा मांदजीया वाया कबीलों के लोग सांगो बोली बोलते हैं। मध्य अफ्रीकी गणतन्त्र की आय का मुख्य स्रोत हीरा है।

यूरोपीय आर्थिक समुदाय की 20वीं वर्षगाँठ, मार्च 1977

यूरोपीय आर्थिक समुदाय ने 25 मार्च को रोम में अपनी 20वीं वर्षगाँठ मनायी। इस अवसर पर सभी नौ सदस्य-देशों के प्रतिनिधियों ने समुदाय की गतिविधियों के लेखे-जोखे के अलावा संयुक्त यूरोप की परिकल्पना पर भी विचार-विमर्श किया। ऐसी आशा की गई थी कि रोम सम्मेलन में कुछ ऐसे निर्णय लिए जाएँगे जिनसे समुदाय की गतिविधियों को एक नई दिशा मिलेगी, जिससे समुदाय के देशों के पारस्परिक सम्बन्ध तो घनिष्ठ होंगे ही, अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में भी वह ठोस और प्रभावी आर्थिक-राजनीतिक भूमिका निभा सकेगा। किन्तु जो विज्ञप्ति प्रसारित की गई उसमें नया कुछ भी नहीं था, पुरानी नीतियों और आश्वासनों को ही दोहराया गया। संयुक्त यूरोप की परिकल्पना को कोई मूर्तरूप देना तो दूर रहा, सदस्य-देश कोई ऐसा प्रमाण देने में भी विफल रहे जिससे यह आश्वासन मिलता कि उनकी एकता अभंग है। सच तो यह है कि 20 वर्ष पहले की रोम सन्धि के लक्ष्य की पूर्ति की सम्भावना तो पहले से कम दिखायी पड़ी।

समुदाय के सदस्य देशों में व्याप्त राजनीतिक अस्थिरता के रहते उनके नेताओं से किसी ठोस निर्णय की आशा भी नहीं की जा सकती थी। यदि यूरोपीय आर्थिक समुदाय को प्रभावी बनाना है तो यह आवश्यक है कि सदस्य देशों के राष्ट्राध्यक्ष ऐसी संयुक्त यूरोपीय नीतियाँ तैयार करें जिनका पालन करने के लिए सभी सरकारें बाध्य हों और यदि समुदाय मन्त्रि-परिषद् किसी समझौते पर पहुँचने में विफल हो तो इस दशा में न्यायालय में अपील करने का प्रावधान हो। रोम सम्मेलन में इस दिशा में कोई प्रयास ही नहीं किया गया। जापान से व्यापार सम्बन्ध, इस्पात उद्योग को प्रोत्साहन, कच्चे माल की उपलब्धि आदि पर भी समुदाय के दृष्टिकोण में कोई नवीनता नहीं है।

25 मार्च, 1957 की रोम-सन्धि का एक मुख्य उद्देश्य यह था कि पश्चिमी यूरोप के सभी देशों को साझा बाजार में बराबर का अधिकार मिले। 20 वर्ष बीत जाने पर भी इस दिशा में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई है। आर्थिक समुदाय की गतिविधियों में अपना वर्चस्व बनाए रखने का प्रयास समुदाय के बड़े सदस्य-देश निरन्तर करते रहे हैं और अब भी कर रहे हैं। रोम सम्मेलन में चार बड़ों—ब्रिटेन फ्रांस, पश्चिम जर्मनी और इटली—ने छोटे सदस्य-देशों की बात प्रायः अनसुनी कर अपने इरादों को अभिव्यक्ति दी। वर्तमान में स्थिति यह है कि एक यूरोप के समर्थक तो बहुत हैं, किन्तु ऐसे यूरोप का नेतृत्व किसके हाथ में हो इसके लिए उनमें प्रतिस्पर्द्धा बनी हुई है। जब तक यह स्थिति रहेगी, संयुक्त यूरोप की स्थापना की दिशा में समुदाय कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं निभा सकेगा।

शिखर सम्मेलन : सात बड़ों का मिलन, मई, 1977

7 और 8 मई, 1977 को लन्दन में सात गैर-कम्युनिस्ट देशों का शिखर सम्मेलन सम्पन्न हुआ। यह सम्मेलन कई तरह से महत्त्वपूर्ण माना जाता है। पहली बार अमेरिका के राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर ने अपने देश से बाहर जाकर किसी सम्मेलन में भाग लिया था। पहली बार ही कार्टर और पश्चिम जर्मनी के चांसलर हेल्मूट श्मिड्ट में बातचीत हुई थी। यूरोप में ही (जिनेवा) में कार्टर ने सीरिया के राष्ट्रपति हाफिज असद से लम्बी वार्ता की थी और पश्चिमी एशिया की समस्या का जायजा लिया था। कार्टरी मुस्कान की पूरे सम्मेलन में चर्चा रही। राजनीतिक टिप्पणीकारों का विचार है कि कार्टर की उपस्थिति से सम्मेलन में एक नई तरह की ताजगी थी जो पहले बहुत कम देखने सुनने को मिला करती थी। शायद यही कारण था कि इस आर्थिक शिखर सम्मेलन न जो निर्णय लिए उन पर औद्योगिक और विकासशील देशों में अधिक तीखी प्रतिक्रिया नहीं हुई। यों विकासशील देश अधिक प्रसन्न भी नहीं थे।

इस दो दिवसीय सम्मेलन में भाग लेने वाले सदस्य-देश थे—अमेरिका (जिम्मी कार्टर), ब्रिटेन (जेम्स केलेहन), पश्चिमी जर्मनी (हेल्मूट श्मिड्ट), फ्रांस (जिस्कार द एस्तें) जापान (फुकुदा), कनाडा (पियेरे त्रूदो) और इटली (आंद्रियोनी)। इन देशों के नेताओं ने स्थिति का अवलोकन करते हुए महसूस किया कि सन् 1975 की अपेक्षा आर्थिक स्थिति में न्यूनाधिक सुधार हो हुआ है यद्यपि किसी न किसी प्रकार के गम्भीर मामले हर देश के सामने रहे हैं। इस समय सबसे प्रमुख मुद्दा मुद्रा-स्फीति की दर को कम कर रोजगार के नए क्षेत्रों को ढूँढना था। मुद्रा-स्फीति पर नियन्त्रण का अभिप्राय बेरोजगारी को कम करना तो है लेकिन इससे उसका समूल विनाश नहीं हो पाएगा। यह बात भी अनुभव की गई कि सन् 1974 में तेल की मूल्यवृद्धि से पश्चिमी देशों की अर्थ-व्यवस्था पर जो प्रतिकूल प्रभाव पड़ा था वह किसी न किसी रूप में अभी तक बना हुआ है और यही कारण है कि फालतू और कमी वाले देशों में तालमेल की बहुत आवश्यकता है। यह आवश्यकता है कि विभिन्न देशों की वृद्धि और स्थिरता के लक्ष्यों में परस्पर समन्वय बैठाया जाए।

मुख्य फैसले—ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री जेम्स केलेहन ने आर्थिक शिखर सम्मेलन के प्रमुख मुद्दों का हवाला देते हुए कहा—मुद्रा-स्फीति में कटौती के प्रयास और अधिक रोजगार की स्थितियाँ पैदा करना, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष में अतिरिक्त साधन जुटाना ताकि सदस्य-देशों की आर्थिक स्थिति को अच्छा बनाने की दिशा में कार्य किया जा सके; बहुपक्षीय व्यापार समझौतों द्वारा व्यापार में वृद्धि करना, ऐसा होने से कुछ देशों के प्रति जो 'संरक्षात्मक रवैया' अपनाया जाता रहा है उसे समाप्त किया जा सकेगा। ऊर्जा के संरक्षण में निश्चित प्रयास तथा ऊर्जा के नए साधनों को विकसित करना, परमाणु ऊर्जा की बढ़ोतरी के लिए आवश्यक अध्ययन करना, लेकिन इस बात का ख्याल रखा जाएगा कि परमाणु-हथियारों के उत्पादन की होड़ न लग जाए, विकासशील देशों को सहायता देने के लिए हर सम्भव प्रयास करना, एक अरब

डॉलर की एक विशेष निधि की स्थापना की गई है ताकि अतिनिर्धन देशों की सहायता की जाए और वे अपने ऋण के ब्याज का भुगतान कर सकें। इसके साथ ही इन गरीब देशों के उत्पादो जैसे काफी, टिन आदि की नियमित मुहैया करने के लिए समझौते भी शामिल हैं। इन समझौतो को कार्यरूप देने के लिए इन गरीब देशो की वित्तीय सहायता के लिए भी एक निधि की स्थापना करने का फैसला किया गया है। इस बात की भी कोशिश की जाएगी कि इन उत्पादनो के निर्यात से प्राप्त होने वाली आय को नियमित करने की व्यवस्था की जाए।

ऊर्जा के सम्बन्ध मे भी उपयोगी कदम उठाए गए। परमाणु प्रसार के सकट को कम करते हुए परमाणु ऊर्जा की वृद्धि पर भी जोर दिया गया। इस परमाणु ऊर्जा के विकास का अर्थ गरीब देशो की सहायता करना है। सम्मेलन मे यह भी महसूस किया गया कि सोवियत सघ तथा अन्य समाजवादी देशो के साथ सहयोग करने के प्रयास किए जाएँगे। यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देशो की तरह समाजवादी देशों का भी एक व्यापार समुदाय है जिसे 'कामिकान' कहा जाता है। 'कामिकान' के देशों के साथ व्यापार बढाने पर भी जोर देने की बात उठायी गई जिसे सभी देशों ने स्वीकार किया। इनके अलावा सात देशो के बीच अनुभव तथा नवीन तकनीको का आदान-प्रदान किया जाएगा। युवा वर्ग को अधिक सुविधाएँ प्रदान की जाएँगी। राष्ट्रपति कार्टर की मानवाधिकार सम्बन्धी नीतियो की मोटे तौर पर पुष्टि की गई।

मतभेद भी—प्रमुख मुद्दो की सहमति के बावजूद इन देशों के नेताओं मे असहमति के पुट भी दिखाई दिए। फ्रास के राष्ट्रपति जिस्कार द एस्तें ने कहा कि बेशक गरीब और विकासशील देशों की सहायता के लिए विशेष निधि की स्थापना सम्बन्धी कोष पर सहमति हो चुकी है लेकिन इससे इन देशो का कम भला होगा। सन् 1975 से उत्तर-दक्षिण के देशो मे जो सवाद चल रहा है, यदि इस वर्ष के अन्त तक वह किसी नतीजे पर नही पहुँचता तो अमीर और गरीब देशो के बीच केवल शका की परते ही मजबूत नही होगी, बल्कि परस्पर मतभेदो की खाई भी चौडी होती चली जाएगी और इसमे गरीब देशो को एक 'मनोवैज्ञानिक झटका' लगेगा।

परमाणु अस्त्रों पर विचार—इस तरह का मतभेद परमाणु अस्त्रो के निर्माण और उनकी बिक्री के बारे मे भी था। एक तरफ तो परमाणु अस्त्रो के प्रसार पर रोक लगाने की बातें की जाती हैं दूसरी ओर उनके निर्माण की गति में वृद्धि हो रही है। कार्टर-प्रशासन के सत्ता मे आने के बाद अमेरिका और रूस मे जो 'साल्ट' वार्ता हुई है उसे सफल नहीं कहा जा सकता। इससे दोनो देशो के बीच 'देतां' के सम्बन्धों को भी आघात पहुँचा है। अमेरिका की मानवाधिकार की परिभाषा से सोवियत सघ क्रुद्ध हुआ है। इससे पूर्वी और पश्चिमी देशो के बीच जिस निकटता की बात की जाती रही है उसमे भी दरारें पड सकती हैं। यह तो सर्वविदित है कि पश्चिम जर्मनी द्वारा ब्राजील को परमाणु संयत्र दिया जाना अमेरिका को स्वीकार नहीं। इस विषय पर दोनो देशो मे कहासुनी हो चुकी है। माना जाता है कि जब जिम्मी कार्टर ने हेल्मूट श्मिड्ट के सामने यह मुद्दा रखा तो श्मिड्ट ने कहा कि पुराने समझौते तोडने से

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उसकी साख गिरेगी। केवल परमाणु समझौता ही नहीं टूटेगा बल्कि बहुत से ऐसे व्यापारिक अनुबन्ध भी टूट सकते हैं जो कई वर्ष पहले केवल जर्मनी और ब्राजील के बीच ही नहीं अन्य देशों के साथ भी हुए हैं। किन्तु इस बात पर सहमति थी कि परमाणु ऊर्जा के विनाशकारी तरीकों पर रोक लगाने के लिए सभी देश मिलकर प्रयत्न करेंगे। फ्रांस द्वारा पाकिस्तान को परमाणु संयंत्र की जानकारी दिए जाने का भी हवाला दिया गया। इस समझौते को रद्द कराने के लिए भी अमेरिका के दबाव की आलोचना की गई। राष्ट्रपति कार्टर ने कहा कि निस्संदेह सभी देश परमाणु अस्त्रों के प्रसार पर रोक लगाने के इच्छुक हैं लेकिन यह मसला बहुत ही जटिल होता जा रहा है। लिहाजा शिखर सम्मेलन ने एक समिति का गठन किया जो परमाणु प्रौद्योगिकी के सुरक्षात्मक प्रयोग के तरीकों का अध्ययन करेगी। इसका उद्देश्य आणविक क्षमताओं के प्रसार पर नियन्त्रण करना है, लेकिन उनके ईंधन आदि के रूप में या शान्तिपूर्ण प्रयासों के लिए प्रयोग करने वाले देशों को इस तकनीक से वंचित करना नहीं है। यदि कहीं किसी मुद्दे पर मतभेद था तो यही एक मुद्दा था।

वैसे नाटो की भूमिका के बारे में भी फ्रांस और अमेरिका के तर्कों में सामंजस्य नहीं बैठा। कार्टर नाटो देशों से अच्छे सम्बन्ध बनाने के इच्छुक हैं जबकि द एस्तें तटस्थता का रवैया ही अपनाए रखना चाहते हैं। नाटो के जिन 20 देशों के नेताओं ने लन्दन में विचार-विमर्श किया उनमें द एस्तें उपस्थित नहीं थे। कार्टर ने कहा कि यदि नाटो देशों को सैनिक रूप में शक्तिशाली नहीं बनाया जाएगा तो वे सोवियत संघ की बढ़ती हुई सामरिक शक्ति का मुकाबला नहीं कर पाएँगे। लन्दन में इन वार्ताओं के बाद कार्टर ने जिनेवा में सीरिया के राष्ट्रपति हाफिज असद से वार्ता की तो अन्य नेता अपने-अपने देशों को लौट गए। कार्टर ने असद से वार्ता के बाद पश्चिमी एशिया की समस्या सुलझाने पर जोर दिया। उन्होंने यह भी कहा कि फिलिस्तीनियों को पृथक् राज्य दिए जाने की आवश्यकता है। ऐसा अनुमान है कि पश्चिमी एशिया के मामले पर जिनेवा में जो वार्ता होगी तब फिलिस्तीनियों की इस माँग पर विचार होगा।

(दिनमान, मई, 1977)

राष्ट्रकुल सम्मेलन, जून, 1977

सात जून से पन्द्रह जून 1977 तक राष्ट्रकुल देशों का 21वाँ शिखर सम्मेलन लंदन में हुआ। 36 सदस्य-देशों में से 34 देशों ने इसमें भाग लिया—उगांडा और सेशेल्स उपस्थित नहीं हुए। उगांडा के राष्ट्रपति ईदी अमीन की नीतियों के कारण उन्हें इस सम्मेलन में भाग लेने की अनुमति नहीं दी गई, या यों कहिए कि उनका निरन्तर विरोध हुआ और सेशेल्स में जेम्स माशेम का तख्ता पलट जाने पर लन्दन में रहते हुए भी वह सम्मेलन में उपस्थित नहीं हुए। यह परामर्श उन्हें मारिशस के प्रधानमन्त्री सर शिवसागर रामगुलाम ने दिया। वर्तमान राष्ट्रकुल सम्मेलन इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण रहा कि जब 34 देशों के प्रधानमन्त्री और राष्ट्रपति लन्दन पहुँचे तो ब्रिटेन महारानी एलिजाबेथ द्वितीय की सत्ता की रजत जयन्ती मना रहा था।

उद्घाटन भाषण—इस सम्मेलन में आकर्षण का मुख्य केन्द्र प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई थे। ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री जेम्स केलेहन के बाद वरिष्ठ सदस्य होने के कारण जांबिया के राष्ट्रपति केनेथ काउंडा ने अपना भाषण दिया और उसके बाद मोरारजी देसाई को पहले दिन अपना भाषण देने का अवसर प्रदान किया गया। इस सम्मेलन में सभी अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर खुल कर विचार हुआ। कभी-कभी गरमागरमी भी हुई, लेकिन कुल मिलाकर वातावरण सद्भावना पूर्ण रहा। लंकास्टर हाउस में हुए इस सम्मेलन के अपने उद्घाटन भाषण में जेम्स केलेहन ने कहा कि अमीर और गरीब देशों के बीच व्याप्त खाई, दक्षिण अफ्रीका में फैलते हुए संघर्ष आदि समस्याओं का सामूहिक बुद्धिमत्ता द्वारा समाधान करना है। उन्होंने पेरिस में सम्पन्न उत्तर-दक्षिण संवाद का भी उल्लेख किया जिसके अपेक्षित परिणाम प्राप्त नहीं किए जा सकते थे। हम हमेशा यह तो कहते हैं कि हमें परस्पर-निर्भर रहना चाहिए, किन्तु अमीरों और गरीबों के बीच खाई और दूरी बराबर बढ़ती जा रही है। संसार की 65 करोड़ जनसंख्या नितांत गरीबी में अपना जीवन बिताती है, उसकी वार्षिक आय 50 पाउंड प्रति व्यक्ति भी नहीं है। निस्संदेह यह हमारे युग और हमारे नेतृत्व को बहुत बड़ी चुनौती है। राष्ट्रकुल के विभिन्न भागों से सम्बन्ध रखने वाले हम सभी देशों को नितांत गरीबी का जीवन व्यतीत करने वाले लोगों के साथ मिल बैठ कर उनके उद्धार की दिशा में कार्य करना है। ब्रितानी प्रधानमन्त्री ने सभी तरह के जातिगत भेदभावों की निन्दा करते हुए कहा कि दक्षिण अफ्रीका में बहुसंख्यक लोगों के शासन की स्थापना सम्बन्धी समस्याओं का समाधान ढूंढना चाहिए। ब्रिटेन आशा करता है कि रोडेशिया और नामीबिया की समस्या का समाधान शीघ्र हो जाएगा। वास्तव में सारी अन्तर्राष्ट्रीय मानव शक्तियां इन देशों में बहुसंख्यक शासन स्थापना के लिए वचनबद्ध हैं। केलेहन के बाद केनेथ काउंडा ने महारानी एलिजाबेथ की भूमिका की प्रशंसा करते हुए कहा कि उन्होंने अपने कार्यों और प्रयासों द्वारा इसे ब्रितानी राष्ट्रकुल के स्थान पर जन-राष्ट्रकुल का रूप दे दिया है।

दार्शनिक दृष्टिकोण—काउंडा के बाद मोरारजी देसाई जब बोलने को खड़े हुए तो तालियों की गड़गड़ाहट से वातावरण गूंज उठा। उन्होंने सभी समस्याओं को मिलजुल कर सुलझाने पर जोर देते हुए कहा कि समय के साथ और बढ़ती हुई उम्र के कारण उन्होंने दार्शनिक रवैया अपनाना शुरू कर दिया है। अब तो मेरी एक ही आकांक्षा है कि हम अपनी समस्याओं को सामान्य समस्याएँ समझ कर उनका हल ढूंढें। ऐसा करने पर ही हम किसी परिणाम पर पहुँच सकेंगे वरना हमारी समस्याएं बढ़ती चली जाएंगी। राष्ट्रकुल को संयुक्त राष्ट्र का 'लघु रूप' बताते हुए उन्होंने कहा कि कालांतर में यह संस्था वैचारिक मंच स्थापित करेगी जिसमें संसार के सभी विचारों को प्रतिबिंबित किया जाएगा। विचारों के इस तरह बनने और उन पर विचार होने से ही हमें शक्ति मिलेगी और हम लोगों में एकता और भाईचारे की भावना विकसित होगी। श्री देसाई ने राष्ट्रकुल की भूमिका की चर्चा करते हुए कहा

कि विश्वयुद्ध के बाद चौकसी और सतर्कता का वातावरण बना था। उसमें हमारी सभ्यता में कुछ दरारें दिखने लगी थी, हमें उन दरारों को भरना है ताकि विश्व को गरीबी और विनाश से बचाया जा सके। आज अमीर और गरीब मिलकर रहते हैं। उनमें गरीबी और अमीरी की समस्या नहीं, समस्या मानवता की है। मानवता की इस समस्या को हम अपनी लगन और ईमानदारी से सुलझा सकते हैं। हमें जातिवाद, नस्लवाद, धर्म आदि के अवरोधों और बंधनों को तोड़कर एक ऐसे संसार का निर्माण करना चाहिए जहां परस्पर विश्वास और आस्था की भावना विकसित हो। ऐसा होने से हम उन्नति कर पाएंगे, नहीं तो चुनौती और विनाश के आतंक में हम अपना समय नष्ट कर देंगे। इसके लिए आज की सरकार और प्रशासन में अधिक खुलापन और उद्देश्यपूर्ण तौर-तरीका होना चाहिए। हमें अपने कार्यों को उचित ठहराते हुए लोगों का विश्वास प्राप्त करना चाहिए। यह सब काम शान्ति से ही सम्भव है और निस्सन्देह देर सवेर इसमें हमें सफलता मिलेगी।

रामफल की कार्यसूची—प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई के इस भाषण का इतना प्रभाव पड़ा कि अगले सभी वक्ताओं ने उन्हीं के भाषण से उद्धरण दिए। अफ्रीकी समस्या को सुलझाने के लिए मोरारजी देसाई के भाषण का सहारा लिया गया तो अमीर और गरीब देशों के बीच व्याप्त खाई को पाटने के लिए भी श्री देसाई के विचारों की सराहना की गई। राष्ट्रकुल के महासचिव श्रीधत रामफल ने सदस्य-देशों के प्रति सम्मेलन की कार्यसूची प्रस्तुत करते हुए कहा कि इस सम्मेलन को कुछ गम्भीर और आवश्यक विषयों पर विचार विमर्श करना है। राष्ट्रकुल इस संकट कालीन विश्व में शान्ति ला सकता है। इस तरह की आशा कुछ समय पहले पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने व्यक्त की थी।

परस्पर सम्बन्धों पर वार्ता—प्रधानमन्त्री श्री देसाई ने बंगलादेश के राष्ट्रपति जियाउर्रहमान से फरक्का तथा अन्य परस्पर समस्याओं पर दो बार वार्ता की। इसके अलावा कनाडा के प्रधानमन्त्री पियेरे त्रूदो से भी प्रधानमन्त्री ने बातचीत की तथा परमाणु परीक्षण से उत्पन्न भारत और कनाडा में जो तनावपूर्ण वातावरण पैदा हो गया था उस पर भी दोनों प्रधानमन्त्रियों ने विचार-विमर्श किया। इस बात की आशा हो चली है कि एक बार फिर भारत और कनाडा में सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध स्थापित होंगे। आस्ट्रेलिया के प्रधानमन्त्री माल्कम फ्रेजर से भी श्री देसाई ने बातचीत की। श्री देसाई का प्रस्ताव था कि एशियाई और यूरोपीय समुदायों को मिल बैठकर अपनी आर्थिक समस्याओं का समाधान ढूंढना चाहिए। अन्य एशियाई देशों की तरह आस्ट्रेलिया को भी अपने कृषिजन्य उत्पादनों को यूरोपीय और विशेष तौर पर यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देशों को खपाने में कठिनाई अनुभव हो रही है। इसके लिए उन्हें किसी विकल्प की खोज करनी होगी। मोरारजी देसाई ने सिंगापुर, मलयेशिया और जमैका के नेताओं से भी वार्ता की।

नाइजीरिया का आक्रोश—नाइजीरिया के विदेशमन्त्री ब्रिगेडियर जे. एन. गार्बा ने एक वक्तव्य प्रसारित करके कहा कि रोडेशिया में एक ही तरीके से बहुसंख्यक

लोगों का शासन स्थापित हो सकता है और वह तरीका है सशस्त्र संघर्ष का। उन्होंने कहा कि ब्रिटेन रोडेशिया को शान्तिपूर्ण ढग से सत्ता हस्तान्तरण के लिए सहमत नही कर पा रहा है। उसकी इस असमर्थता के कारण रोडेशियाई क्षेत्रों मे घुटन की भावना पैदा हो रही है। पिछले बारह वर्षों से ब्रिटेन निरन्तर प्रयत्न कर रहा है लेकिन अभी तक उसे सफलता नही मिल पाई है। ब्रिगेडियर गार्वा ने यह धमकी भी दी कि यदि ब्रिटेन अपने वचन को पूरा नही कर पाएगा तो वह राष्ट्रकुल की सदस्यता त्याग देगा। पिछले बारह वर्षों मे इयान स्मिथ की सरकार राष्ट्रकुल की अन्तरात्मा को कचोट रही है और आखिर धैर्य की भी कोई सीमा होती है। बारह साल तक इस राष्ट्रकुल सम्मेलन ने प्रस्ताव स्वीकार करने के अलावा और कुछ नही किया। अतः अब सशस्त्र संघर्ष के अतिरिक्त और कोई विकल्प नही रह जाता। काले पिस रहे हैं उन्हे राजनीतिक और नागरिक अधिकारो से वंचित कर दिया गया है और अल्पसख्यक गोरे उनकी इस स्थिति का उपहास करते हैं। इस तरह की स्थिति को हम राष्ट्रकुल-सदस्य-देश विश्व-शान्ति के लिए खतरा मानते हैं।

अन्य विषय—सिप्रस और बेलीज के बारे मे भी चर्चा हुई। सम्मेलन मे बताया गया कि बेलीज स्वाधीन होने के लिए तैयार नही। बेलीज ब्रितानी उपनिवेश है। बारबादोस के प्रधानमन्त्री जे. एम जी. आदम्स ने कहा कि बेलीज को तब तक स्वाधीनता प्रदान नही की जानी चाहिए जब तक उसका पडोसी देश ग्वाटेमाला उस पर अपना क्षेत्रीय दावा नही छोड़ देता। इसके अलावा यदि स्वाधीनता प्रदान करनी ही पडे तो बेलीज को ग्वाटेमाला से होने वाले सम्भावित आक्रमण की दिशा मे पूर्ण सहायता का आश्वासन दिया जाना चाहिए। इस मसले तथा ऐसे ही अन्य अनेक मसलो पर बाद मे ब्रिटेन से बाहर अनौपचारिक तौर पर भी बातचीत हुई।

सिप्रस के राष्ट्रपति मकारियोस ने सिप्रस की स्थिति का ब्यौरा देते हुए कहा कि तुर्क और यूनानी सिप्रियो मे सरकारी स्तर पर बातचीत तो हुई है लेकिन अभी किसी परिणाम पर पहुँचा नही जा सका है। दो वर्ष पूर्व किंग्स्टन सम्मेलन मे इस भूमध्यसागरीय द्वीप के बारे मे जो आठ सदस्यीय समिति गठित की गई थी उसकी रपट भी सम्मेलन मे पेश की गई। इस रपट पर भी औपचारिक और अनौपचारिक दोनों तरह से विचार-विमर्श हुआ।

इस सम्मेलन मे दो देश अनुपस्थित रहे—सेशेल्स और उगांडा। सेशेल्स के राष्ट्रपति जेम्स मांशेम को एक क्रान्ति मे सत्ताच्युत कर दिया गया और उनके स्थान पर एल्बर्ट रेने ने सत्ता सम्भाली लेकिन न रेने और न ही उनके किसी प्रतिनिधि ने लन्दन सम्मेलन मे प्रतिनिधित्व किया। जेम्स मांशेम लन्दन मे मौजूद थे। सत्ता उलटने की घटना पहले भी हो चुकी है। आज से छह वर्ष पूर्व जब सिंगापुर मे राष्ट्रकुल सम्मेलन मे भाग लेने के लिए मिल्टन ओबोटे गए थे तो ईदी अमीन ने उगांडा मे उनका तख्ता पलट दिया था। (दिनमान, जून, 1977)

अमेरिकी शस्त्र-नीति और भारतीय उपमहाद्वीप

रिटायर्ड कर्नल आर. रामाराव ने नवम्बर, 1977 के दिनमान मे प्रकाशित

अपने लेख में इस बात का ऐतिहासिक और तार्किक वर्णन दिया है कि अमेरिका की शस्त्र-नीति किस प्रकार भारतीय उपमहाद्वीप की शान्ति को भंग करती रही है और इस प्रकार की नीति से नि शस्त्रीकरण के प्रयासो को कितना आघात पहुँचा है। वर्तमान कार्टर प्रशासन भारत के प्रति मैत्रीपूर्ण है और आशा की जानी चाहिए कि भारतीय उपमहाद्वीप मे अमेरिका अपनी शस्त्र-नीति के इतिहास को अब नही दुहराएगा। कर्नल रामाराव का मूल्यांकन इस प्रकार है—

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के दिनो मे एक तकनीकी या सैनिक दृष्टि से उन्नत देश द्वारा शस्त्रास्त्र के इच्छुक देशो को उसकी आपूर्ति या इन्कार निश्चित रूप से इस तथ्य पर आधारित रहा है कि शस्त्रो की पूर्ति करने वाले देश की विदेश-नीति के उद्देश्य क्या हैं। इस मामले मे निस्सन्देह महत्त्वपूर्ण आर्थिक दृष्टिकोण भी काम करता है, लेकिन जहां तक बडी शक्तियो का सम्बन्ध है शस्त्र आपूर्ति सम्बन्धी निर्णय अन्ततः विदेश-नीति के उद्देश्यो से नियन्त्रित होते रहे हैं। अमेरिका के एक भूतपूर्व प्रतिरक्षा मन्त्री क्लार्क क्लीफोर्ड ने सदन की विदेशी मामलो की समिति के समक्ष गवाही देते हुए यह घोषणा की थी कि सैनिक साज-सामान की बिक्री का कार्यक्रम विदेश नीति के एक ठोस यन्त्र के रूप मे ही जारी रखा जाएगा। विदेश उपमन्त्री पॉलवार्न ने इस विषय को कुछ अधिक स्पष्ट करते हुए कहा था—"हमारा काम है सैनिक साज-सामान की बिक्री और सैनिक अनुदान कार्यक्रम के माध्यम से अमेरिका की विदेश-नीति को कार्यान्वित करना। हमारा मन्तव्य केवल हथियार देने के उद्देश्य से हथियारो को बेचना या देना नही है।"

सैनिक साजसामान के विक्रेता के रूप मे अमेरिका सबसे महत्त्वपूर्ण शक्तिशाली देश है। अमेरिका द्वारा भेजे जाने वाले कुल साज-सामान का एक बहुत छोटा अंश सैनिक सहायता के रूप मे दिया जाता है, शेष के सम्बन्ध मे विदेश-नीति के मुद्दे ही मुख्य कारक होते हैं। यह विदेश-नीति ही इस बात का फैसला करती है कि एक खास देश को कितनी मात्रा मे और किस किस्म के हथियार दिए जाएँ।

भारतीय उपमहाद्वीपीय क्षेत्र मे हाल मे घटित घटनाओं के सन्दर्भ में इस उपमहाद्वीप को हथियार देने की नीति अत्यधिक रुचि का विषय होना चाहिए, भारत के लिए तो यह विशेष रूप से चिन्तनीय और महत्त्वपूर्ण है।

इस सदी के छठवें दशक मे अमेरिका के राष्ट्रपति आइजनहावर प्रशासन ने पाकिस्तान के साथ एक सैनिक समझौता किया था जिसका मुख्य उद्देश्य था कि पाकिस्तान से सैनिक अड्डे बनाने की कुछ सुविधाएँ प्राप्त की जाएँ जिससे रूस और चीन की घटनाओं पर दृष्टि रखी जा सके। दूसरे उद्देश्यो मे पाकिस्तान में अपने सैनिक सलाहकार रखकर वहाँ के प्रशासको को अपने प्रभाव मे लाना था। अमेरिका के साथ समझौता करने के पीछे पाकिस्तान का उद्देश्य अमेरिका से प्रभावशाली सैनिक, राजनीतिक और आर्थिक सहायता प्राप्त करना था ताकि वह भारत से एक शक्तिशाली देश की हैसियत मे बातचीत कर सके।

यद्यपि अमेरिका ने पाकिस्तान द्वारा भारत पर आक्रमण की प्रक्रिया को पसंद नही किया, तथापि यह निश्चित है कि वह यह चाहता था कि भारत यदि कश्मीर का पूरा भाग नही तो कुछ पाकिस्तान को अवश्य दे दें। सन् 1962 मे भारत पर चीन के आक्रमण के बाद जब सन् 1965 मे पाकिस्तान ने आक्रमण किया तब अमेरिका के नीति नियोजकों के मन मे दक्षिण एशिया के प्रश्न पर इसलिए चिन्ता हो गई, क्योंकि आक्रमण से त्रस्त भारत के लिए रूस के अधिक निकट पहुँचने की सम्भावना बढ गई थी। इस स्थिति के कारण उपमहाद्वीप सम्बन्धी अमेरिकी नीति की पुनः समीक्षा हुई। इस समय तक अमेरिका के लिए पाकिस्तान के इस्तेमाल का महत्त्व काफी कम हो गया था। कारण यह था कि अमेरिका ने उपग्रह तकनीक मे काफी प्रगति कर ली थी और वह पेशावार को अड्डा बनाए बिना भी अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सकता था। इसके अलावा अमेरिका की अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर जो दिलचस्पी थी उसके महत्त्वपूर्ण परिणामो को ध्यान मे रखते हुए यह उपमहाद्वीप उसके लिए बहुत महत्वपूर्ण नही था यद्यपि इसके बावजूद उसने दक्षिण एशिया को युद्ध और अशान्ति से मुक्त रखना चाहा। इसी तर्क के आधार पर उसने सन् 1965 मे भारत और पाकिस्तान को हथियार देने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इस प्रतिबन्ध का वास्तव मे भारत पर कोई प्रभाव नही पडा, क्योंकि भारत ने उसके पहले के वर्षों मे अमेरिका से हथियार लिए ही नही थे। लेकिन अमेरिका की यह नीति उसके उद्देश्यों की पूर्ति मे सहायक हुई क्योंकि इसके कारण उसे विधिवत् यह कहने का अवसर मिल गया कि अमेरिकी स्रोतों से सचार सम्बन्धी उपकरण भी भारत को नहीं मिल सकेंगे। इस निर्णय के पीछे निश्चित रूप से यह तथ्य भी था कि अमेरिका ने आक्रान्ता को भारत के समकक्ष रख दिया। निश्चय ही अमेरिका ने वास्तविक स्थितियों पर अर्थात् पाकिस्तान के आक्रामक होने की दृष्टि से समस्या पर विचार नही किया।

पाकिस्तानी दृष्टिकोण से अमेरिका का यह निर्णय उसके लिए बहुत ही हानिकारक था क्योंकि उस निर्णय के अनुसार आधुनिक हथियारो की आपूर्ति का स्रोत समाप्त हो गया, इसके साथ ही समाप्त हो गया खुला राजनीतिक समर्थन। जो भी हो, पाकिस्तान के तत्कालीन विदेशमन्त्री भुट्टो ने राष्ट्रपति अय्यूब द्वारा उन्हे मन्त्रिमण्डल मे सम्मिलित किए जाने के बाद से ही, पाकिस्तान को अमेरिका से विलग न कर चीन और रूस से निकटता का सम्बन्ध बनाने की कोशिशें शुरू कर दी थीं। छठवें दशक के मध्य मे मुहम्मद अली बोगर चीन गए थे और वहाँ पर चाऊ-एन-लाई से एक प्रकार का समझौता हुआ था जिसमें यह तय हुआ था कि यदि पाकिस्तान कोई भी भारत विरोधी रवैया अपनाता है तो उसमे उसे चीन का समर्थन प्राप्त होगा। पाकिस्तान को रूस के कुछ अधिक निकट ले जाने के पीछे भुट्टो का उद्देश्य हथियारो की प्राप्ति के अलावा रूस को भारत का पूर्ण समर्थन करने से रोकना था।

इसमें कोई सन्देह नही कि श्री भुट्टो को इन दोनों ही मामलों मे सफलता मिली। उनके प्रयत्नों के परिणामस्वरूप पाकिस्तान को रूस से 225 टी-एस 4/55

किस्म के टैंक और पदाति सेना तथा तोपखाने मे प्रयुक्त होने वाला साजसामान मिला। इसी समय चीन ने भी काफी बडी मात्रा में पाकिस्तान को सैनिक साजसामान दिया, जैसे टैंक, तोप और बन्दूकें, बमवर्षक हवाई जहाज, निगरानी करने वाली तेज रफ्तार की नावें और पदाति सेना के दो तीन डिवीजन बनाने के लिए पूरा साजसामान। यह स्थिति ठीक सन् 1965 के बाद की थी। सन् 1968-69 तक पहुँचते-पहुँचते उसने सैनिक साजसामान की अपनी भारी क्षतिपूर्ति कर ली थी, लेकिन पाकिस्तान के शासको ने अमेरिका से और अधिक हथियारो की मांग की ताकि उसके साथ-साथ पाकिस्तान को स्वत राजनीतिक समर्थन भी मिल सके। अमेरिका मे डेमोक्रेटिक दल का प्रशासन समाप्त हो चुका था और उसकी जगह पाकिस्तान के समर्थन तथा भारत के प्रति अपने दुराग्रहपूर्ण रवैये के लिए विख्यात रिचर्ड निक्सन ने राष्ट्रपति पद सम्भाल लिया था। इसके साथ ही उसूरी की घटनाओ को लेकर चीन और रूस के बीच बढते हुए सघर्ष ने राष्ट्रपति निक्सन को यह अवसर प्रदान किया कि वह चीन के साथ निकट सम्बन्ध बढाने के लिए कुछ ठोस कदम उठाए। इस सम्बन्ध मे पाकिस्तान को भी अपनी भूमिका निभानी थी और अपवाद स्वरूप निक्सन ने हथियारो पर प्रतिबन्ध के पुराने निर्णय के बावजूद पाकिस्तान को बन्दूको और टैंको के रिसाले के अतिरिक्त पदाति के लिए तीन सौ गाडियाँ और एक स्क्वेड्रन के लिए बमवार हवाई जहाज दिए। पाकिस्तान को यह साजसामान मुद्रित मूल्य के 15 प्रतिशत पर ही दिया जाने वाला था जिसे अमेरिकी सेना ने पुराना, पिछडा हुआ या रद्दी मानकर अपने उपयोग के लिए अयोग्य ठहरा दिया था यद्यपि भारतीय उपमहाद्वीप की परिस्थितियो की दृष्टि से ये हथियार और साजसामान बहुत आधुनिक और प्रभावशाली थे।

सन् 1971 की घटनाएँ अब इतिहास बन चुकी हैं। उसके बाद के दिनो मे भारतीय उपमहाद्वीप को सैनिक हथियार और साजसामान देने की अमेरिकी नीति मे एक बडा परिवर्तन आया। उसने अलग-अलग मामलो के आधार पर पाकिस्तान को हथियार देने या न देने का निर्णय किया। यह निर्णय भी किया गया कि ये हथियार सैनिक सहायता कार्यक्रम के अन्तर्गत न दिए जाकर नकद बेचे जाएँगे। सिद्धान्त रूप मे भारत को हथियार देने का आधार भी यही होगा, हालांकि वास्तव मे अमेरिका भारत को उच्च तकनीक वाले मारक प्रभाव के हथियार नही देगा।

इस काल मे पश्चिमी एशिया के कुछ देशो के अलावा पाकिस्तान को हथियार देने वालो मे चीन एक प्रमुख देश रहा है। इन आपूर्तियो का पाकिस्तान ने कई कारणो से स्वागत किया। इनके कारण हथियार देने वाले देशो को राजनीतिक समर्थन देने की पाकिस्तान की दिलचस्पी बनी रही। इसी के कारण पाकिस्तान को अपने पडोसी से समझौते की बातचीत मे अपनी स्थिति को श्रेष्ठ साबित करने का अवसर मिलता रहा। भुट्टो को देश की आन्तरिक स्थिति को स्थायित्व देने मे सहायता मिली और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन हथियारो को प्राप्त करने मे चीन के सम्बन्ध में नकद भुगतान का भार नही था। इसका एक कारण यह भी

था कि चीन हमेशा यह कहता रहा कि वह हथियारो का व्यापारी नही है अत. मित्रो और सहयोगियो को जो भी हथियार दे रहा है वे उपहार स्वरूप हैं। दूसरी तरफ कुछ पश्चिम एशियाई देशो ने अपने यहाँ से 47/48 टैंक, एक 86 सैंवर जैट हवाई जहाज़ तथा दूसरे उपकरण पाकिस्तान को दिए। ये चीजें उन्हे पहले उत्पादक देशों से मिली थी लेकिन जब उन्हे अपनी सेनाओ के लिए अधिक आधुनिक टैंक और हवाई जहाज प्राप्त हो गए तो उन्होने पुराना माल क्रय मूल्य पर पाकिस्तान को दे दिया।

अक्तूबर, 1973 को योम किप्पूर युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियो मे उल्लेखनीय परिवर्तन आ गया। तेल की कीमतो मे चौगुनी वृद्धि हो जाने के कारण पश्चिम के औद्योगिक देशो की अर्थव्यवस्था को प्रारम्भिक झटका लगा था। लेकिन इससे सम्भलने के बाद उन्होने कुछ ऐसे प्रभावशाली उपाय ढूंढ निकाले जिससे तेल की बढी हुई कीमत के कारण खर्च किए हुए डॉलर दूसरे माध्यमो से वापस आ जाएँ। इन तरीको मे बड़े पैमाने पर हथियारो की बिक्री शामिल थी। इस प्रकार पश्चिम एशियाई देशो को सन् 1973–74 मे लगभग तीन अरब डॉलर मूल्य के जो हथियार प्रदान किए गए, उनका सन् 1976–77 मे मूल्य आठ अरब से भी ऊपर पहुँच गया। फ्रास और ब्रिटेन जैसे दूसरे पश्चिम यूरोपीय देशो ने भी उसी अनुपात मे पश्चिम एशियाई देशो को हथियारो की बिक्री बढा दी। तकनीकी रूप से उन्नत इन देशो के हथियार अत्यन्त आधुनिक थे। कुछ मामलो मे तो ये हथियार उन्होने अपनी सेनाओ तक मे सामान्य उपयोग के लिए नही दिए थे।

कई पश्चिम एशियायी देशो ने, जिन्होने आधुनिक हथियारो का आयात किया था, अपने यहाँ पाकिस्तानियो को परामर्शदाता या तकनीकी विशेषज्ञ के रूप मे नियुक्त किया ताकि वे इन नए हथियारो का रख-रखाव कर सके और उनके यहाँ के तकनीकी व्यक्तियो के प्रशिक्षण आदि मे सहायता दे सकें। इन देशो मे नए और उन्नत किस्म के आधुनिक हथियारो के आ जाने के बाद पुराने किस्म के जो हथियार निरर्थक और अनुपयोज्य ठहरा दिए गए थे वे पाकिस्तान को दे दिए गए।

इसी के साथ एक प्रमुख पश्चिमेशियायी देश ने आणुविक ईंधन सयन्त्र लगाने तथा आधुनिक हवाई जहाज खरीदने के लिए पाकिस्तान को बहुत उदार शर्तों पर ऋण दिया। इस प्रकार अमेरिका ने हथियारो की आपूर्त्ति पर जो रोक लगाई थी उसका पाकिस्तान पर कोई असर नही पडा, क्योंकि दूसरे माध्यमों से पाकिस्तान मे हथियारो का आना जारी रहा और वह भी पहले की तुलना मे ज्यादा तेज रफ्तार के साथ। इस प्रकार 1966 और 1972 के बीच पाकिस्तान को चीन से 270 टी–59 टैंक, 154 मिग, 19 बमबार लड़ाकू हवाई-जहाज, 4 आई एल–28 बमबार प्राप्त हुए। रूस ने उसे 225, टी–55 किस्म के टैंक देने के वायदे पर 170 टैंक और कुछ भारी किस्म के हेलिकोप्टर प्रदान किए। इटली से उसे एम–47 किस्म के मरम्मत किए गए 100 टैंक, फ्रास से 70 मिराज–315 बमबार लड़ाकू जहाज, पश्चिमी जर्मनी और ईरान से 90 एफ–86 हवाई जहाज उपलब्ध

हुए। 1974 में स्वीडन से उसे 47 एम. एफ-2, ईरान से 40 एफ-5 और युर्दान से 7 एफ-5 हवाई जहाज मिले। विश्वास किया जाता है कि 1974 के बाद चीन ने उसे 250 टी-59 टैंक, 70 मिग, 19 हवाई जहाज और 18 तेज गति वाली निगरानी नावें और मशीन बनाने का कारखाना खोलने के उपकरण दिए। कुछ लोगों का कहना है कि टैंकों की संख्या 500 है। अमेरिका ने 300 एम-113 किस्म के सैनिक वाहन दिए। ऐसा कहा जाता है कि पाकिस्तान ने 1970-71 में ही इसकी माँग की थी जिसे न केवल अमेरिका ने स्वीकार कर लिया था बल्कि उसका भुगतान भी ले लिया था। इसी के साथ-साथ अमेरिका ने पाकिस्तान को 2 विध्वंसक तथा संचार और पूर्व चेतावनी वाले उपकरण भी दिए।

फोर्ड-कीसिंगर प्रशासन के अन्तिम दौर में कीसिंगर ने यह कोशिश की थी कि श्री भुट्टो 110 ए-7 किस्म के आक्रमण कोर्सेयर हवाई जहाज लेना इस शर्त पर स्वीकार करलें कि आणुविक ईंधन बनाने के लिए फ्रांस से संयन्त्र लेने के समझौते को रद्द कर दें। भुट्टो ने यह शर्त स्वीकार करली थी, लेकिन इसके पहले कीसिंगर भुट्टो पर और दबाव डाल सकें, फोर्ड प्रशासन समाप्त हो गया और कार्टर ने राष्ट्रपति पद सम्भाल लिया। श्री कार्टर न केवल आणविक हथियारों के प्रसार के घोर विरोधी हैं, बल्कि वह तीसरी दुनिया के देशों में अत्याधुनिक हथियारों की आपूर्ति के भी विरुद्ध हैं। अत. पाकिस्तान को प्रस्तावित आक्रामक हवाई जहाज देने की योजना रद्द कर दी गई। श्री कार्टर ने इसके सम्भावित दुष्परिणामों को अच्छी तरह महसूस कर लिया था।

पाकिस्तान को ए-7 आक्रामक हवाई जहाज देने के प्रस्तावित निर्णय को स्वीकृति न देने की घोषणा के तुरन्त बाद ही अमेरिका स्थित पाकिस्तान समर्थकों ने अपनी गतिविधियां तेज कर दी। 1970 और 1972 में प्रायः एक तर्क दिया जाता था कि पाकिस्तान मित्रविहीन है, उसका भयभीत होना वास्तविक है। उसकी सेना के पास जो हथियार हैं वे अब बेकार हो चुके हैं और वे पर्याप्त भी नहीं हैं। उसकी आन्तरिक स्थिरता कायम रखने और एकता की सुरक्षा के उद्देश्य से अमेरिका को अनिवार्य रूप से अस्त्र-शस्त्र देने चाहिए। राष्ट्रपति कार्टर की घोषणा के तुरन्त बाद अमेरिका के बुद्धिजीवियों और कुछ अन्य लोगों की सहायता से उन्होंने पुन यही तर्क प्रस्तुत किया। इस तर्क की इस रूप में भी पुष्टि की गई कि पाकिस्तान के पास उसकी आवश्यकता से कम शस्त्रास्त्र हैं और उसकी शक्ति पहले की अपेक्षा क्षीण हो चुकी है। यही तर्क अभी हाल में अमेरिका के एक विद्वान् प्रोफेसर डॉक्टर स्टीफेन कोहेन द्वारा भी दिया गया था। किन्तु यह तर्क वास्तविकता की कसौटी पर खरा नहीं उतरता, क्योंकि स्वयं जुल्फिकार अली भुट्टो के ही अनुसार पाकिस्तान की सेना न केवल 1971 की तुलना में अधिक शक्तिशाली है बल्कि उसकी प्रतिबद्धताएँ भी पहले की अपेक्षा कम हैं। इसके अलावा अब पाकिस्तान का शस्त्र उद्योग काफी विकसित हो चुका है और वह अब काफी हद तक आत्मनिर्भर है। चीनी टैंकों और हवाई जहाजों की मरम्मत की सुविधाएँ प्राप्त हो गई हैं और इस रूप में पाकिस्तान सैन्य उपकरणों के

उत्तम उपयोग मे सक्षम है। पाकिस्तान के अमेरिकी समर्थको ने ए–7 जैसे शक्तिशाली लडाकू जहाजो की आपूर्ति का आग्रह नही किया था बल्कि इससे कम शक्ति के ए–4 और एफ–5 हवाई जहाज देने की बात कही थी। ये हवाई जहाज अमेरिकी सेना द्वारा वियतनाम मे प्रयुक्त किए गए थे और वे भी बहुत प्रभावकारी माने जाते हैं। यदि ये हवाई जहाज पर्याप्त सख्या मे पाकिस्तान को दिए जाते हैं तो पाकिस्तानी वायु सेना पूरे वायु क्षेत्र पर अपनी वरिष्ठता चाहे स्थापित न कर सके, इच्छित वायु क्षेत्रों पर तो निश्चित रूप से हावी हो सकती है।

अमेरिका की सैनिक लॉबी पाकिस्तान की सैनिक शक्ति की स्थिति के खराब होने और उसके कारण उसके कमजोर होने का जो तर्क देती है, वह भी निराधार है। इसका स्पष्ट प्रमाण जनरल जिया-उल-हक का हाल मे ही दिया गया वह वक्तव्य है जो उन्होने पाकिस्तान की घटनाओं के सन्दर्भ मे श्री जगजीवनराम द्वारा व्यक्त की गई चिन्ता के उत्तर मे दिया था। जनरल जिया-उल-हक ने लाहौर के एक समाचार-पत्र को दी गई एक भेंटवार्ता मे यह स्वीकार किया था कि भारतीय नेताओ का यह भय वास्तविक है कि पिछले वर्षो मे दोनो देशो के बीच युद्ध का कारण उस समय का पाकिस्तान का सैनिक प्रशासन था और आज का पाकिस्तान का सैनिक प्रशासन भी वैसा ही रुख अपना सकता है। जिया-उल-हक के कथन मे ऐसा कोई सकेत नही है कि पाकिस्तानी सेना को देश की सुरक्षा के लिए बडे पैमाने पर अत्याधुनिक शस्त्रास्त्र की वास्तविक आवश्यकता है।

अपनी आन्तरिक सुरक्षा की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निश्चय ही पाकिस्तान को शक्तिशाली सेना की आवश्यकता है, न कि बडे पैमाने पर आधुनिक किस्म के आक्रामक हवाई जहाजो, हवा के मार करने वाले प्रक्षेपास्त्रो, टैंको, और इलैक्ट्रानिक पद्धति से चलाए जाने वाले बमो की।

कुछ अमेरिकी बुद्धिजीवियो का पाकिस्तान को शस्त्रास्त्र देने का तर्क राष्ट्रपति कार्टर की इस नीति के विरुद्ध भी है कि तीसरी दुनिया मे पारस्परिक किस्म के खर्चीले शस्त्रास्त्र की आपूर्ति को नियन्त्रित किया जाना चाहिए। उन बुद्धिजीवियो का तर्क यदि साकार होता है तो उसके परिणामस्वरूप भारत के लिए खतरा बढ़ जाएगा जो अपने आर्थिक विकास के कार्यक्रमो की प्रगति मे सलग्न है। इसके कारण पाकिस्तान के भीतर भी तनाव पैदा होगा और पूरे क्षेत्र मे अस्थिरता का वातावरण उत्पन्न हो जाएगा।

अफ्रीका : धधकता ज्वालामुखी

महाशक्तियो को अपना शीतयुद्ध जारी रखने के लिए कोई न कोई ठिकाना चाहिए तनावपूर्ण यूरोप, तबाह वियतनाम, दिग्भ्रमित पश्चिमी एशिया, अस्थिर लातीनी अमेरिका, विक्षुब्ध हिन्दमहासागर, अविश्वासग्रस्त भारतीय उपमहाद्वीप आदि उनके शीतयुद्ध के ही तो परिणाम हैं जिसे वे सारे ससार को अपने बीच बाँटने के लिए लड रहे हैं। महाशक्तियो—अमेरिका, सोवियत सघ और चीन का अब ताजा लक्ष्य है अफ्रीका जहाँ के देश स्वाधीनता के नवविहान के साथ ही औपनिवेशिक शासको

के कुचक्र में फँसकर आपसी झगड़ों में उलझ गए थे—फिर चाहे वह अल्जीरिया की समस्या रही हो या काँगो की, नाइजीरिया का गृहयुद्ध रहा हो या अंगोला का दक्षिण अफ्रीका में काले और गोरे लोगों के बीच का संघर्ष रहा हो या रोडेशिया का, सर्वत्र इन बड़ों ने और इनके कुछ पिछलग्गुओं ने गर्म तवे पर अपनी रोटी सेंकी और युगांडा, इथियोपिया, सोमालिया आदि में आज भी वे यही कर रहे हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि दक्षिण अफ्रीका और रोडेशिया को छोड़कर शेष अफ्रीकी देशों में अमेरिका और उसके मित्र-देशों की पकड़ ढीली पड़ गई है, किन्तु यह भी एक तथ्य है कि इस नई स्थिति से साम्यवादी गुट ने लाभ उठाने में कोई चूक नहीं की। सोवियत संघ और चीन ने, जहाँ जिसको सुविधा मिली अफ्रीकी देशों में अपना प्रभाव बढ़ाने का अथक प्रयास किया।

चीन ने 1162 मील लम्बे उस दूहरे रेलमार्ग (जो तानजाम रेलमार्ग के नाम से जाना जाता है) का निर्माण किया जिसका बनाना पश्चिम के विशेषज्ञों के अनुसार 'असम्भव' था और विश्व बैंक, अमेरिका, ब्रिटेन आदि सब की ओर से निराश होकर कैनेथ काउण्डा (जाम्बिया) और जुलियस न्येरेरे (तनजानिया) ने चीन का दामन पकड़ा। चीन ने उन्हें निराश नहीं किया। धन और जन की सहायता देकर उसने जाम्बिया को समुद्र तट तक अपना ताँबा पहुँचाने के लिए यह वैकल्पिक मार्ग दिया।

चीन ने मात्र छह वर्ष के (1970 में काम आरम्भ हुआ और 14 जुलाई, 1976 को यह रेलमार्ग जाम्बिया की और तनजानिया की जनता को समर्पित कर दिया गया) अल्प समय में ही असम्भव को सम्भव कर दिखाया और जिस अफ्रीका में उसके पाँव जमने की दूर-दूर तक कोई सम्भावना नहीं थी वहाँ कुण्डली मार कर बैठ गया।

इस सफलता के बाद चीन अन्य दो बड़ी शक्तियों अमेरिका और सोवियत संघ के लिए अफ्रीका में एक प्रबल चुनौती बन कर उभरा और अब ये तीनों देश अफ्रीकी लोगों के मन पर उनकी भूमि, बन्दरगाहों, प्राकृतिक सम्पदा और उनके होने वाले मुनाफ़ों पर अपना-अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए जी-जान से जुटे हुए हैं।

अफ्रीका में सोवियत संघ का हस्तक्षेप चीन से बहुत पहले शुरू हो गया था। सोमालिया से उसका सम्बन्ध कोई 17 वर्ष पहले स्थापित हुआ था और आज भी उनके बीच कोई बड़ा मतभेद नहीं है। मिस्र, सूडान और दक्षिण यमन से भी उसके अच्छे सम्बन्ध रहे हैं। सन् 1971 में मिस्र से उसके सम्बन्ध अवश्य तनावपूर्ण हो गए थे किन्तु अब फिर सुधार आरम्भ हो गया है जिसका बहुत कुछ श्रेय सूडान के राष्ट्रपति कर्नल नुमेरी और जैरे के राष्ट्रपति मोबुटू को है।

इनके प्रयास से ही हाल में दोनों देशों के बीच सम्पर्क स्थापित हुआ। मिस्र के उपप्रधानमन्त्री और विदेशमन्त्री इस्माइल फ़ाहमी जून के दूसरे सप्ताह में सोवियत संघ की यात्रा पर गए और निकट भविष्य में सोवियत विदेशमन्त्री ग्रोमिको काहिरा की यात्रा करने वाले हैं।

पिछले वर्षों मे अफ्रीका मे सोवियत सघ के प्रभाव मे काफी वृद्धि हुई है। क्यूबा के माध्यम से उसने अगोला मे सशस्त्र हस्तक्षेप द्वारा जो सफलता प्राप्त की उससे उसका हौसला बढा है। हाल में क्यूबा के फिडेल कास्त्रो ने उगाण्डा को एक सैनिक मिशन भेजकर स्वेच्छाचारी ईदी अमीन की सरकार से भी सम्बन्ध स्थापित करने की पेशकश की है। बताया जाता है कि कास्त्रो के इस प्रयास के पीछे सोवियत सघ का हाथ है। सोवियत सघ द्वारा इथियोपिया के शासक ले. कर्नल मेगिस्तू हैले मरियम का समर्थन किया जाना भी एक चौकाने वाली घटना है क्योंकि इथियोपिया के सम्बन्ध उन सभी देशो के साथ तनावपूर्ण है जो सोवियत सघ के मित्र हैं या जिन्हे मित्र बनाने के लिए वह प्रयास कर रहा है। इनमे प्रमुख हैं सोमालिया, मिस्र, सूडान और उगाण्डा।

जहाँ तक अमेरिका का सम्बन्ध है कुछ वर्ष पहले तक वह स्वय को अफ्रीका का भाग्यविधाता मानता था क्योंकि प्राय सारा अफ्रीका किसी समय उसके मित्र-देशों ब्रिटेन, फ्रास, पुर्तगाल और स्पेन के अधीन था और स्वाधीन होने के बाद भी अपने औपनिवेशिक शासको पर अफ्रीकी देशो की निर्भरता कायम रही। सन् 1973 मे अगोला की स्वाधीनता और तदुपरान्त वहाँ छिड़ने वाले गृहयुद्ध मे क्यूबा और सोवियत सघ की निर्णायक भूमिका ने अमेरिका का अफ्रीका के प्रति मोहभग कर दिया और वहाँ सोवियत सघ और चीन के प्रभाव विस्तार को रोकने के लिए नए सिरे से सोचने पर विवश हुआ।

अफ्रीका के प्रति नई चिंता अमेरिका मे ही पैदा नही हुई, सोवियत सघ और चीन ने भी अपनी व्यूह रचना को नए आयाम दिए। उगाण्डा और इथियोपिया से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने की सोवियत सघ की आकांक्षा स्पष्ट है, उसने हाल मे चीन के प्रभाव वाले तनजानिया से भी मित्रता के लिए हाथ बढाया है। इससे चीन का सतर्क होना स्वाभाविक ही है क्योंकि वह अब भी सोवियत सघ को अपना सबसे बडा शत्रु मानता है। नव चीन समाचार समिति ने पिछले दिनो यह आरोप लगाया था कि जुलाई के प्रथम सप्ताह मे लिब्रेविले मे हुए अफ्रीकी एकता सगठन के 14वें अधिवेशन के बाद से दोनो महाशक्तियों का, विशेषकर सोवियत सघ का अफ्रीका मे हस्तक्षेप बहुत बढ गया है। उसके अनुसार अफ्रीका की स्वाधीनता और सुरक्षा के लिए सोवियत सघ की ओर से गम्भीर खतरा है। नवचीन समाचार समिति के इस आरोप मे यह ध्वनि निकलती है कि अफ्रीका मे सोवियत सघ के प्रभाव को रोकने के लिए चीन द्वारा अमेरिकी नीति का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष समर्थन किया जा सकता है।

अफ्रीकी जनमत की उपेक्षा करके सोवियत सघ और क्यूबा जिस प्रकार उगाण्डा, लीबिया और इथियोपिया से सम्बन्ध स्थापित कर रहे हैं उससे जहाँ विश्व का ध्यान पश्चिमी एशिया से हट कर अफ्रीका की घटनाओं पर केन्द्रित हुआ है, वहाँ उससे यह सकेत भी मिल रहा है कि आने वाले दिनो मे महाशक्तियों के बीच एक दूसरे के बीच प्रतिस्पर्द्धा इतनी तीव्र हो सकती है कि इनमे शत्रु-मित्र की पहचान करना कठिन हो जाएगा—कही चीन और अमेरिका मिलकर सोवियत सघ का

प्रतिरोध करते देखे जाएँ को कहीं अमेरिका और सोवियत संघ, चीन के विरुद्ध खड़े दिखाई देंगे।

पूर्वी अफ्रीका में इसके कुछ प्रमाण खोजे जा सकते हैं। सोमालिया के मार्क्सवादी शासन की 17 वर्ष पुरानी मैत्री के बावजूद इस वर्ष फरवरी में सोवियत सघ ने इथियोपिया के नव सैनिक नेता ले. कर्नल मेंगिस्तू को समर्थन देने का फैसला किया जिसका अमेरिका से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है और जिसके कारण उसकी अपने पड़ोसी सोमालिया, मिस्र और सूडान से कभी नहीं पटी। सोवियत सघ की इस नीति का एक स्वाभाविक परिणाम यह सामने आया है कि जहाँ एक ओर चीन से प्रोत्साहन पा कर सऊदी अरब, सूडान, यमन, अरब गणराज्य और मिस्र ने इथियोपिया के विरुद्ध 'पवित्र गठबन्धन' किया जबकि दूसरी ओर के गठबन्धन में सोवियत सघ, क्यूबा, लीबिया, इथियोपिया और एक हद तक इजरायल भी शामिल है। इन विषम गठबन्धनों के पीछे मात्र यह सिद्धान्त है कि अपने शत्रु का शत्रु अपना मित्र होता है।

इन गठबंधनों ने सोवियत सघ के दो विश्वस्त मित्रों, दक्षिणी यमन और सोमालिया को दिग्भ्रमित कर रखा है। इथियोपिया से उनके सम्बन्ध कभी अच्छे नहीं रहे। सोमालिया और इथियोपिया तो आज भी सीमा-विवाद में उलझे हुए हैं। सोमालिया स्वयं को इथियोपिया का समर्थन करने की स्थिति में नहीं पाता और न ही आर्थिक कारणों से वह फिलहाल सोवियत सघ से सम्बन्ध विच्छेद करने की स्थिति में है।

जहाँ तक सोवियत सघ का प्रश्न है उसने अपने इरादे इस वर्ष के शुरू में स्पष्ट कर दिए हैं। वह सोमालिया की विवशता को जानता है और इसलिए वह इथियोपिया से, जो फरवरी, 1974 से उत्तरोत्तर अमेरिका के विरुद्ध होता जा रहा है और 25 अप्रैल को अमेरिकी असैनिक कर्मचारियों को निष्कासित करके जिसने अमेरिका से अपने 30 वर्ष पुराने सम्बन्ध तोड़ने का विचार व्यक्त कर दिया है, मित्रता स्थापित करने में कोई खतरा नहीं मानता है। लालसागर पर प्रभुत्व स्थापित करने और हिन्द महासागर में अमेरिकी प्रभाव की काट के लिए इथियोपिया की मित्रता को वह अधिक उपयोगी मानता है। सोमालिया के बेरबेरा बंदरगाह में उसे जो नौसैनिक सुविधाएँ प्राप्त हो रही हैं अगर उनसे उसे हाथ धोना भी पड़ा तो इथियोपिया के मस्साबा और असाब बंदरगाहों से उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाएगी। सम्भवतः यही कारण था कि 4 मार्च को मास्को में ले. कर्नल मेंगिस्तू का भव्य स्वागत किया गया और इथियोपिया को क्यूबा के माध्यम से भारी मात्रा में शस्त्रास्त्र प्रदान किए गए। इसी सन्दर्भ में जिबूती और अस्मारा में जो क्रमशः इथियोपिया के एफार्स और इस्सास तथा इरीट्रिया प्रदेशों की राजधानियाँ हैं, जिबूती गत 27 जून को स्वाधीन हो गया और अस्मारा पर इन दिनों सरकार विरोधी गुट का नियन्त्रण है उसकी दिलचस्पी भी सहज ही समझ में आने वाली है।

सोवियत संघ के इथियोपिया प्रेम के बावजूद ऐसा लगता है कि सोमालिया

पश्चिमी गुट मे शामिल हो जाएगा। उसे अपने सघर्ष मे सूडान, मिस्र और सऊदी अरब की सहानुभूति और समर्थन प्राप्त है जिसका कारण इथियोपिया से इन देशो के सम्बन्ध मधुर न होना है। वह इनका दामन भी पकड सकता था, परन्तु मिस्र और सोवियत संघ के बीच सम्बन्ध सुधरने के बाद की स्थिति क्या होगी, यह भी वह जानता है। वह यह भी जानता है कि सोवियत सहायता से उसने अपनी आर्थिक, सैनिक, राजनीतिक और सामाजिक स्थिति को जो रूप दिया है उसे रातो रात बदला नही जा सकता, इसलिए सम्भावना यही है कि फिलहाल वह धैर्य से काम लेगा।

किन्तु इससे अफ्रीका एक व्यापक सकट से उबर नही सकता। वस्तुस्थिति यह है कि अफ्रीकी एक दोमुँहा ज्वालामुखी बना हुआ है—उसका एक मुँह रोडेशिया, दक्षिण अफ्रीका है जहाँ काले अफ्रीकियो और उनके अल्पसख्यक गोरे शासकों के बीच का सघर्ष कभी भी विस्फोटक रूप ले सकता है दूसरा मुँह पूर्वी अफ्रीका है जहाँ किसी भी पक्ष की मामूली सी भूल से विस्फोट हो सकता है।

पूर्वी अफ्रीका मे वर्तमान स्थिति की गम्भीरता का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि भूमध्य-सागर से लेकर हिन्द महासागर तक का और लालसागर से केन्या की उत्तरी सीमाओ तक का सारा क्षेत्र इन दिनो सैनिक, राजनीतिक और कूटनीतिक गतिविधियो का केन्द्र बना हुआ है। अन्य 'क्षेत्रीय' सघर्षों की तुलना मे यद्यपि सैनिक और सैनिक साज-सामान इस क्षेत्र मे कही कम है तथा कूटनीतिक गतिविधियो भी पश्चिमी एशिया अथवा वियतनाम जितनी नही हैं, तथापि स्थिति की गम्भीरता से कोई इकार नही कर सकता। सोमालिया के एक बुद्धिजीवी ने एक पश्चिमी पत्रकार से स्थिति की गभीरता को उजागर करते हुए कहा था कि "एक बात निश्चित है कि आने वाले महीनो मे इस क्षेत्र मे हजारो लोग मौत का शिकार बनेंगे।"

स्थिति की इस गम्भीरता के पीछे तीन मुख्य कारण है–(1) हिन्द महासागर और लालसागर की सीमाओ पर अन्तर्राष्ट्रीय नियत्रण का सामरिक प्रश्न जिसमे होकर यूरोप 90 प्रतिशत तेल आयात करता है (2) 2,80,00,000 की जनसख्या वाले देश इथियोपिया मे परम्परावादी क्रान्ति की सफलता या असफलता का सैद्धान्तिक प्रश्न। इसे उदार और 'उग्र' तत्त्वो के बीच का सघर्ष भी कहा जा सकता है। तीन अन्य अफ्रीकी देशो जेयरे, अगोला और पश्चिमी सहारा मे भी सघर्ष का प्रायः यही रूप है और (3) औपनिवेशिक शासन समाप्त होने के पश्चात् राष्ट्रवादी शक्तियो के पुनरेकीकरण का राजनीतिक प्रश्न।

महाशक्तियाँ एक अरसे से इन्ही मुद्दो के चारो ओर अपने प्रभाव-विस्तार की लडाई लडती रही हैं। हाल मे स्थिति मे कोई परिवर्तन आया है तो वह यह कि सोवियत सघ ने कुछ ऐसे कदम उठाए हैं जो उसके राष्ट्रीय हितो से मेल नही खाते। इथियोपिया को उसका समर्थन और उगांडा से मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने के उसके प्रयास का इस सदर्भ मे उल्लेख किया जाता है। प्रश्न उठता है कि सोवियत

संघ ऐसा क्यों कर रहा है। एक सम्भावित कारण यह बताया जा रहा है कि पश्चिमेशिया में उसकी भूमिका को सऊदी अरब के धन और मुस्लिम भूमिका ने पहले ही बहुत नगण्य बना दिया था, अब मुस्लिम इरीट्रिया और मुस्लिम सोमालिया को सहायता देकर उसने सोवियत संघ के लिए एक नयी चुनौती पैदा कर दी है। इस चुनौती का सामना करने के लिए सोवियत संघ को इथियोपिया को शह देनी पड़ी हो तो उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। किन्तु अमेरिका और चीन उसके इरादे पूरे होने देंगे ऐसा नहीं लगता। उनकी स्पर्द्धा किसी भी एक देश को केन्द्र बना कर सारे अफ्रीका को युद्ध में झोंक सकती है। (दिनमान, जुलाई 1977)

दक्षिण-पूर्वेशिया और प्रवासी भारतीय

एशिया, अफ्रीका, कैरेबियन द्वीपसमूह का शायद ही कोई देश ऐसा होगा कि जहां भारतीय मूल के लोग न रहते हों। इन भारतीयों के पूर्वज कई दशक पहले या तो ले जाकर बसाए गए थे या काम और व्यापार की खोज में वे स्वयं इन देशों में पहुंच गए थे। आरम्भ में इन भारतीयों के सामने जो कठिनाइयां आई वे थी—भाषा, संस्कृति या सामाजिक आचार व्यवहार की। कालान्तर में इन कठिनाइयों पर काबू पा लिया गया। इसके बाद अन्य कई तरह की समस्याएँ उत्पन्न होनी शुरू हुईं। ऐसी समस्याओं में स्थानीय लोगों के साथ समन्वय की भावना, राजनीतिक और आर्थिक अधिकारों की मांग, आदि थी। इन तरह की मांगों के कारण कई बार कटुता भी पैदा हो गई और तनाव अधिक हो जाने से सरकारी स्तर पर इस प्रश्न को उठाया भी जाता रहा।

यह बात सही है और विदेशी सरकारें स्वीकार भी करती हैं कि भारतीयों ने उनके देश के आर्थिक निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। अब कई देशों में दशा यह हो गई है कि वहां रहने वाले भारतीयों को अपने देश के बारे में उतना ही ज्ञान है जितना कि उस देश के नागरिकों को है। वहां पर जन्मे व्यक्ति का जिस तरह अपने देश के प्रति भावात्मक प्रेम होना चाहिए उतना नहीं बन पाता है। यही कारण है कि बहुत से लोगों ने इन देशों की नागरिकता स्वीकार कर ली है तो बहुत से लोग ऐसे भी हो सकते हैं जो किसी भी देश के नागरिक नहीं होंगे। ऐसे लोगों की समस्या पिछले दिनों श्रीलंका में रहने वाले भारतीयों के सम्बन्ध में पैदा हुई थी। इस समस्या का निदान पहले शास्त्री भंडारनायक समझौते के माध्यम से हुआ। बाद में श्रीमती सिरिमाओ भंडारनायक ने श्रीमती इन्दिरा गांधी से बात-चीत द्वारा समझौता कर इस मसले को हल करने का प्रयास किया। काफी हद तक यह समस्या हल हो चुकी है, लेकिन जिस तरह की स्थितियां पिछले दिनों श्रीलंका में उत्पन्न हुईं उनसे लगता है कि इस समस्या की जड़ें अभी भी काफी गहरी हैं। जहां तक अन्य देशों का सम्बन्ध है उनमें भारतीयों की स्थिति को उस तरह का खतरा नहीं है। थाईदेश में पिछले तीन वर्षों में सरकारें बदली हैं लेकिन भारतीयों के व्यापार या उनकी सांस्कृतिक गतिविधियों पर किसी प्रकार का अंकुश नहीं लगाया गया। उन्हें वर्तमान शासन की भी सद्भावना प्राप्त है। बर्मा में पिछले दिनों जब

विदेश मन्त्री गए थे तो वहाँ के भारतीयों के साथ बातचीत में उन्होने देखा कि भारतीयो की स्थिति सुखद है और उनके ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सम्बन्धो को सराहा ही जाता है।

राजदूत सम्मेलन—श्रीलंका की इन घटनाओं के बावजूद दक्षिण पूर्व एशिया तथा अन्य देशो में प्रवासी भारतीयो की आर्थिक स्थिति अच्छी है। इसके अलावा उन देशों की अर्थव्यवस्था को दृढ़ बनाने में भी प्रवासी भारतीयो ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। यही कारण है कि समय-समय पर इन लोगों को उन देशों में रह कर वहाँ की स्थितियों में घुलमिल जाने की सलाह दी जाती रही है। पिछले दिनो दिल्ली में राजदूतो के सम्मेलन (23 से 26 अगस्त, 1977) में प्रधान मन्त्री मोरारजी देसाई, विदेश मन्त्री अटल बिहारी बाजपेयी, गृह मन्त्री चरणसिंह, प्रतिरक्षा मन्त्री जगजीवनराम आदि ने बदली हुई परिस्थितियों में अपने व्यवहार और कार्य शैली में परिवर्तन का परामर्श दिया था। प्रधान मन्त्री ने स्पष्ट कहा कि हमारी विदेश नीति का मुख्य उद्देश्य विश्व में शान्ति स्थापना है। इसी से गुट निरपेक्षता की शुरूआत होती है जो न तो नकारात्मक है और न ही निष्क्रिय। यह तटस्थ भी नहीं हैं बल्कि शान्ति स्थापित करने की दिशा में निश्चित प्रयास है। प्रधान मन्त्री ने अपने भाषण में नशाबन्दी का उल्लेख करते हुए राजदूतों से तत्सम्बन्धी आचरण का आग्रह किया। विदेश मन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी ने राजदूतो को स्पष्ट और मुक्त विचारो के आदान-प्रदान की सलाह देते हुए कहा कि बदली हुई परिस्थितियों से हमें विदेशो में रहने वाले भारतीयो तथा वहाँ की सरकारों को अवगत कराना चाहिए। उन्होने यह भी कहा कि इस तरह का सम्मेलन औपचारिक सम्मेलन नही होना चाहिए बल्कि यह कठिनाइयो पर विस्तृत चर्चा की दिशा में उपयोगी मंच होना चाहिए। विदेश मन्त्री के एक और भाषण का भी उल्लेख किया गया जिसमें उन्होने विदेशों में रहने वाले भारतीयों को सम्बोधित करते हुए कहा था कि विदेशो में रहने वाले भारतीय मूल के लोगों के पारपत्रो का रग चाहे जैसा भी हो वे भारत माता के पुत्र और पुत्रियाँ हैं और हम उन्हें पराया नही समझते। वे कही भी रहें उनका दिल हमारे साथ है और भारत माता के आँचल में उन्हें हमेशा स्थान मिलेगा।

परिवर्तन—निःसन्देह यह बहुत बडा नीति परिवर्तन है। आज से तीस वर्ष पहले तक उन लोगो को जिन्होंने विदेशो की नागरिकता स्वीकार कर ली थी, सलाह दी जाती थी कि उन्हें किसी बात के लिए भारत की ओर नही देखना चाहिए। उनसे यह भी कहा जाता था कि वे तन मन से उसी देश की सेवा करें जिसे उन्होने अपना लिया है। जिनके पास विदेशी पारपत्र हैं उन्हे विदेशी ही माना जाता था। दक्षिण पूर्वी और पूर्वी एशिया के सोलह राजदूतों के सम्मेलन में शायद पहली बार उन्होने सभी भारतीय मूल के लोगो के लिए इस तरह के उद्गार सुने। यही कारण है कि राजदूतों ने अपनी समस्याएँ प्रस्तुत करते हुए कहा कि उनके पास यथोचित साहित्य नहीं है, प्रचार सामग्री की अधिक सुविधाएँ नही हैं तथा लोगो से

निकट सम्पर्क स्थापित करने के लिए उनके स्रोत और साधन नगण्य है। विदेश मन्त्री ने इन सभी अभावों की पूर्ति का आश्वासन दिया।

जहाँ तक दक्षिण पूर्व एशियाई देशों का सम्बन्ध है मलेशिया, सिंगापुर, थाईदेश, वियतनाम, इन्डोनेशिया, फिलिपीन आदि मे रहने वाले भारतीय मूल के लोगों की सख्या लगभग पन्द्रह लाख है। इनमे से लगभग पाँच लाख केवल मलेशिया मे रहते हैं। मलेशिया मे भारतीयो के अतिरिक्त अन्य जातियाँ हैं—चीनी और मलय। एक समय मलेशिया की राजधानी क्वालालम्पुर के जालान तुन पेराक की शतप्रतिशत दूकानें भारतीयों की थी। लेकिन अब स्थिति बदल गई है। इस क्षेत्र मे चीनियों का दखल और प्रभाव बढ गया है। यही दशा सिंगापुर व थाईदेश मे भी है। पहले इन्डोनेशिया मे भी चीनियों का बोलबाला था लेकिन सुकर्णो के पतन के बाद चीनियों की अब पहले जैसी स्थिति नहीं रही है।

प्रवासी भारतीयों का दायित्व—वास्तव मे भारतीय इन देशो मे श्रमिकों के रूप मे गए थे, अत स्थानीय लोगों से जिस तरह के सम्मान की अपेक्षा वे करते हैं वह उन्हे नही मिल पा रहा है। एक समय था जब मलेशिया के रबड बागानों मे भारतीयो का दबदबा रहता था किन्तु अब नही है। अब तो केवल सांस्कृतिक सम्बन्धो के माध्यम से ही वहाँ पर भारतीयो की साख है। जब मोरारजी देसाई ने इस मुद्दे पर जोर दिया तो उनके दिमाग मे शायद यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न था कि भारतीय सस्कृति द्वारा वहा के रहने वाले भारतीय वर्तमान सरकार के प्रति अधिक सद्भावना और आदर की स्थितियाँ तैयार कर सकते है। निःसन्देह आपात्कालीन स्थिति म यहाँ रहने वाले भारतीयो ने आपात्कालीन स्थिति के विरोध मे काफी काम किया था। न केवल वहाँ से साहित्य ही प्रकाशित होता रहा बल्कि आपात्कालीन स्थिति-विरोधियो की सहायता भी की गई। जो लोग इन देशो मे गए उनको हर तरह से सहायता प्राप्त हुई।

योगदान—इसके अतिरिक्त इन देशो मे रहने वाले भारतीय मूल के लोगो को पिछले दिनो भारत मे धन भेजने और उनको सयत्रो मे लगाने का आश्वासन दिया गया था। इस क्षेत्र मे काफी लोग पहले आए भी थे। वर्तमान सरकार नि सन्देह जहाँ इस तरह के प्रस्ताव के कार्यान्वयन पर जोर दे सकती है, वहाँ रहते हुए सरकारी तन्त्र में भी भारत सरकार के प्रति सद्भावना का वातावरण पैदा कर सकती है। इनके अतिरिक्त भारत मे जाने वाले सांस्कृतिक प्रतिनिधि मण्डल भी इस दिशा मे महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं। इन प्रतिनिधि मण्डलो मे धार्मिक प्रतिनिधि मण्डल भी सम्मिलित हैं। विदेशो मे रहने वाले भारतीय अवकाश के दिनो मे सामान्यतः धार्मिक स्थलो पर ही एकत्र होकर अपने और भारत की समस्याओ पर अपने विचारो का आदान-प्रदान करते हैं। यदि भारत से जाने वाले सांस्कृतिक प्रतिनिधि मण्डल इन लोगो से सम्पर्क स्थापित कर उनकी समस्याएँ भारत तक पहुँचाएँ तो निस्सन्देह सरकार और भारतीय मूल के लोगो मे सपर्क की कमी की जो शिकायत की जाती है वह दूर हो जाएगी। राजदूत सम्मेलन में भी इसी बात पर जोर दिया गया था।

(दिनमान, सितम्बर 1977)

लेटिन अमेरिका की अस्थिर राजनीतिक स्थितियाँ

लेटिन अमेरिका महाद्वीप को अस्थिरता का महाद्वीप माना जाता है। पच्चीस देशों के इस महाद्वीप मे शायद दो-चार देश ही ऐसे होगे जहाँ पिछले एक दशक मे स्थिर सरकारें काम कर रही हों अन्यथा जहाँ निर्वाचित सरकारें अपनी पूरी अवधि तक सत्तारूढ़ रही हों। यदि हम लेटिन अमेरिका के नक्शे पर दृष्टिपात करें तो जो प्रमुख देश सामने आते हैं वे क्यूबा, मेक्सिको, कैरेबियन द्वीपसमूह मे सूरिनाम, गयाना या एक दो देश और। क्यूबा की स्थिर स्थिति का कारण प्रधानमन्त्री फिडेल कास्त्रो का रुतबा, दबादबा और बलिदानी व्यक्तित्व के अलावा वहाँ का राजनीतिक ढाँचा भी हैं। वहाँ के लोगो ने भी अपने आप को समाजवादी ढाँचे में ढाल लिया है। जहाँ तक मेक्सिको का प्रश्न है वहाँ यदाकदा प्रदर्शन या हड़तालें तो हुई है लेकिन पिछली लगभग आधी शताब्दी से हर छह साल बाद राष्ट्रपति का चुनाव निर्बाध होता रहा है। सूरिनाम और गयाना मे भी अभी तक चुनाव निश्चित समय पर हुए हैं।

विभिन्न स्थितियाँ—लेकिन स्थिरता के बजाय लेटिन अमेरिकी देशो मे अस्थिरता के समाचार ही अधिक सुनने में आते हैं। वास्तव मे लेटिन अमेरिका के देशो का अध्ययन बड़ा ही दिलचस्प है। उपनिवेश की जकड से छूटने के बाद इन देशो मे सामान्यत लोकतन्त्रीय सरकारें ही अस्तित्व मे आती रही हैं, लेकिन ये सरकारें साल दो साल या तीन साल तक ही कायम रह पाती है, उसके बाद सैनिक क्रान्ति हो जाती है। सैनिक क्रान्ति का प्रभाव भी दो चार साल तक ही रहा। फिर लोकतन्त्र को बहाल करने का नारा लगने लगता है, चुनाव होते हैं, सरकारें बनती हैं, ससदें अस्तित्व में आती हैं तथा नए सविधान बनते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि देश मे लोकतान्त्रिक व्यवस्था स्थापित हो गई है, तथापि तीन वर्ष बाद पहले जैसी गतिविधियाँ और एक बार फिर अस्थिरता। कुल मिलाकर लेटिन अमेरिकी देशो की ऐसी ही तस्वीर सामने आती है। जब तक राजनीतिक अस्थिरता रहेगी उस देश की अर्थव्यवस्था चौपट रहेगी। जब तक अर्थव्यवस्था डांवाडोल रहेगी वहाँ के लोगो का जीवन-स्तर निश्चित रूप से अस्त-व्यस्त रहेगा। जब तक आम लोगों का जीवन-स्तर अच्छा नही होगा गरीबी और पिछड़ेपन की स्थिति बनी रहेगी। इस समय लेटिन अमेरिकी देशो मे मेक्सिको, वेनेजुएला, ब्राजील जैसे कुछ देश ही है जहाँ की अर्थ-व्यवस्था को अधिक जर्जर कोटि में नही रखा जा सकता। क्यूबा की अर्थव्यवस्था दूसरे ढग की है यह सोवियत सघ की अर्थव्यवस्था पर आधारित है। जब फिडेल कास्त्रो ने इस ढंग का आर्थिक निर्माण शुरू किया तो वे चाहते थे कि क्यूबा की राजनीतिक स्थिति का प्रभाव लेटिन अमेरिका के कुछ अन्य देशो पर भी पड़े। उस समय उन्हे दो व्यक्ति समान विचारो के मिल गए थे—चे ग्वेवारा और रेजिस देब्रू। चे ग्वेवारा ने बोलिविया के जगलो मे रहकर छापामार युद्ध द्वारा वहाँ की सरकार को गिराने की कोशिश की। इन गतिविधियों से सरकारें परेशान जरूर हुई थी लेकिन अपनी छापामार गतिविधियो द्वारा वे उनका पतन नही करवा सके। बोलिविया की सरकार का अन्त करते-करते स्वयं ग्वेवारा का अन्त बोलिविया के जंगलों में हो गया।

क्यूबा की बात और है—जहाँ तक साम्यवादी विचारधारा का प्रश्न है, चीले मे भी जब साल्वादोर आयेंजे (जुलाई, 1971 से 11 सितम्बर, 1973) की सरकार बनी थी तो उसका स्वागत करने वाले सबसे पहले व्यक्ति फिडेल कास्त्रो ही थे। लेटिन अमेरिका मे समान विचारों का एक और व्यक्ति उन्हे मिल गया। इस बीच दोनो देशो मे व्यापार तथा सद्भावना की वृद्धि हुई। इस बात के भी समाचार प्राप्त होने लगे कि इन दो नेताओ का प्रभाव लेटिन अमेरिका के अन्य देशो पर भी पड़ेगा क्योकि लेटिन अमेरिका के सभी देशो मे कम्युनिस्ट पार्टियाँ है, आवश्यकता केवल उन्हे सगठित नेतृत्व प्रदान करने की है। लेकिन क्रान्ति के इस महाद्वीप की बलिवेदी पर डॉ. आयेंदें भी चढा दिए गए। उसके बाद जनरल पीनोचेत की सरकार सत्ता मे आई। अभी तक वहाँ अस्थिरता और राजनीतिक रिक्तता की स्थिति बनी हुई है। कहा जाता है कि चीले मे वामपथी तो दूर कोई बुद्धिजीवी भी खुलकर अपना परिचय नहीं देता, काफी बडी सख्या में उनका सफाया कर दिया गया है। जहाँ इस तरह का आतकपूर्ण वातावरण रहेगा वहाँ के लोगो की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक स्थितियाँ कैसी होगी इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। इस तरह की तथा हर साल दो साल मे शासन परिवर्तन की स्थिति मे लोगो की कितनी भलाई हो सकती है, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

गए, आए, फिर गए—लेटिन अमेरिकी कुछ देशो की स्थितियो का जायजा लेना उचित होगा। अमेरिका का सबसे बडा देश ब्राजील है और दूसरे स्थान पर आता है अर्हेंतीना (क्षेत्रफल 10,72,067, जनसख्या 2,50,50,000—राजधानी ब्यूनिस आयर्स)। अर्हेंतीना मे स्थिति काफी अस्थिर रही है। पहले लोकतन्त्र, फिर सैनिकवाद, फिर लोकतन्त्र और सैनिक क्रान्ति से लोकतन्त्र की समाप्ति। सन् 1946 मे हुआन पेरोने का राष्ट्रपति के पद पर निर्वाचन हुआ। वह एक सैनिक अधिकारी थे। लोकतन्त्र के बाद उन्होने अधिनायकवादी सरकार की स्थापना की। उन्होने शुरू मे श्रमिको को कुछ सुविधाएँ देकर अपने समर्थको की सख्या तो काफी बढा ली,लेकिन उसके बाद उन्होने अभिव्यक्ति, समाचारपत्रो, धार्मिक स्कूलो आदि पर प्रतिबन्ध लगा कर लोगो की नाराजगी भी मोल ले ली। देश ऋणग्रस्त हो गया। लोगो मे क्रोध और आशका का माहौल पनपने लगा और 16 सितम्बर, 1955 को एक सशस्त्र क्रान्ति मे पेरोन को सत्ता से हटा दिया गया। वह देश छोडकर स्पेन चले गए। सैनिक जुंता ने अस्थायी सरकार का गठन किया। उसने नागरिक स्वतन्त्रता बहाल की। पेरोनवादी पार्टी को भग कर दिया गया और एक ऐसा समय आया जब पेरोन का नामोनिशान भी नहीं बचा। 22 फरवरी, 1958 को 12 वर्ष बाद चुनाव हुए। डॉ फ्रांदीजी राष्ट्रपति चुने गए। लोगो ने समझा कि देश मे लोकतन्त्र बहाल हो गया है। लेकिन सैनिको के विभिन्न गुटो की हरकत फिर शुरू हुई और 29 मार्च, 1962 को एक सैनिक क्रान्ति में चुनाव द्वारा निर्वाचित डॉ फ्रांदीजी को पदच्युतकर दिया गया। एक बार फिर चुनाव हुए और चुनाव के बाद फिर सैनिक क्रान्ति का दौर शुरू हुआ। अन्तत: मार्च, 1971 मे जनरल लानूसे राष्ट्रपति बने। उन्होने

नागरिक सरकार बहाल करने का आदेश प्रसारित किया। इस बीच पेरोनवादी तत्वों का गठन हो गया। मार्च, 1973 में पुनः चुनाव हुए तथा पेरोन समर्थक डॉ. हैक्टर कैंपोरा राष्ट्रपति बने। 13 जुलाई, 1973 को कैंपोरा ने त्यागपत्र दे दिया। 77 वर्षीय पेरोन स्वदेश लौट आए थे। उसी वर्ष 23 सितम्बर को वह राष्ट्रपति चुने गए और उनकी तीसरी पत्नी मारिया अस्तेला पेरोन उपराष्ट्रपति। 1 जुलाई, 1974 को पेरोन की मृत्यु हो गई। श्रीमती पेरोन राष्ट्रपति बनीं। लेटिन अमेरिकी देशों में वह पहली महिला राष्ट्रपति थी। उनके सत्ता में आने के बाद पेरोन समर्थक दो गुटों वामपंथी और दक्षिणपंथी मे विभाजित हो गए। हिंसा और आतंकवाद का चक्र आरम्भ हो गया और अन्ततः श्रीमती पेरोन को सत्ता से हटा दिया गया। जनरल विदेला सत्तारूढ हुए। श्रीमती पेरोन इस समय जेल में हैं।

चे का असफल अभियान—अर्जेंटीना की यह राजनीतिक कहानी लेटिन अमेरिका के अन्य बहुत से देशों की भी कहानी है। चीले, पैरागुए, उरुग्वे, पेरू में भी इसी तरह की स्थिति रही है। जब क्यूबा मे फिडेल कास्त्रो सत्तारूढ हुए थे तो उनके सहयोगी चे ग्वेवारा ने बोलिविया को अपना निशाना बनाया। वहां भी वह क्यूबा जैसी राजनीतिक स्थिति पैदा करना चाहते थे। बोलिविया एक समय स्पेन के अधीन था। 6 अगस्त, 1825 को उसे स्वाधीनता प्राप्त हुई। सन् 1967 को बोलिविया (क्षेत्रफल : 4,24,162 वर्गमील, जनसख्या 54,70,000, राजधानी सुक्री) का 16वां संविधान बना जिसमें कार्यपालिका को अधिक शक्तिशाली बनाया गया, खानों का राष्ट्रीकरण कर दिया गया और कृषि सम्बन्धी सुधार किए गए। डॉ. विक्टर पाज 31 मई, 1964 को तीसरी बार राष्ट्रपति चुने गए। उस समय तक ऐसा प्रतीत हो रहा था कि बोलिविया मे भी स्थिरता आ रही है, लेकिन 4 नवम्बर को एक सैनिक क्रान्ति मे उन्हे सत्ता से हटा दिया गया। सैनिक और गैर-सैनिक कम्युनिस्ट विरोधी सेनाओं ने कर्नल हूगो बांजेर के नेतृत्व मे सत्ता सम्भाली। उसके बाद हिंसा की कई घटनाएँ घटी। ब्राजील से मिलकर उन्होंने इस्पात, सीमेंट और पेट्रो-रासायनिक संयन्त्रों के निर्माण सम्बन्धी अनुबन्धों पर हस्ताक्षर किए। लेकिन लोगों का विरोध बढने लगा क्योंकि अधिक समय तक एक शासन को न तो सैनिक और न ही गैर-सैनिक तत्त्व बर्दाश्त कर सकते थे। अतः सन् 1974 मे बांजेर ने अपने मन्त्रि-मण्डल से गैर सैनिक सदस्यों को बर्खास्त कर दिया। राजनीतिक पार्टियों और मजदूर संघों पर प्रतिबन्ध लगा और सन् 1980 तक चुनाव स्थगित कर दिए गए। लेटिन अमेरिका मे यह दूसरी तरह की शासन-व्यवस्था है।

अस्थिरता तो यहां भी है—जहाँ तक क्षेत्रफल और जनसख्या का प्रश्न है ब्राजील लेटिन अमेरिका का सबसे बड़ा देश है (क्षेत्रफल : 32,85,472 वर्गमील, जनसख्या : 10,76,61,000, राजधानी ब्राजीलिया) ब्राजील मे सन् 1930 मे सैनिक शासन था। गेतुलियो वरगास को सन् 1933 तक कार्यकारी राष्ट्रपति नियुक्त किया गया। नए संविधान के अनुसार सन् 1945 मे वह राष्ट्रपति बने और 1950 मे उनका

पुनःनिर्वाचन हुआ लेकिन सन् 1954 में सेना के दबाव के कारण उन्हें अवकाश प्राप्त करना पड़ा। सन् 1954 से 1960 तक कई राष्ट्रपति आए और गए—सैनिक और असैनिक दोनों, लेकिन विभिन्न आर्थिक और सामाजिक समस्याओं पर जिन व्यक्तियों ने सफलता प्राप्त की वह थे जोआओ गोलार्ट। वह भी तीन साल तक सत्ता में रहे। सन् 1967 में जनरल कास्तेलो ब्लांको राष्ट्रपति चुना गया। सन् 1967 में नए संविधान का निर्माण हुआ जिसमें संसद के अधिकार कम कर राष्ट्रपति के अधिकार बढ़ा दिए गए। राष्ट्रपति ब्लांको ने अपने एक विश्वस्त सैनिक अधिकारी कोस्ता ईसिल्वा को अपना उत्तराधिकारी चुना। सन् 1969 में राष्ट्रपति सिल्वा की मृत्यु हो गई। सैनिक नेताओं ने जनरल मेडीसी को राष्ट्रपति बनाया, लेकिन सेना के आपसी गुटों में मतभेद पैदा हो गया और मेडीसी को अपने पद से हटना पड़ा। उनके स्थान पर जनरल गीजेल नए राष्ट्रपति बने। बाद में सन् 1974 में संसद और राज्य विधानसभाओं के सदस्यों ने उन्हें अपना विधिवत् राष्ट्रपति चुन लिया। इस चुनाव के बाद वहाँ अस्थिरता का वातावरण छा गया जिसके कारण सन् 1980 तक चुनाव स्थगित कर दिए गए।

भूकम्प की चपेट में—इन प्रमुख देशों के अलावा कुछ और लेटिन अमेरिकी देश हैं। निकारगुआ (क्षेत्रफल 57,183 वर्गमील, जनसंख्या 2,080,000 और राजधानी मानागुआ) में प्राकृतिक आपदाओं के अलावा राजनीतिक अस्थिरता भी रही है। 23 दिसम्बर, 1972 के भयंकर भूकम्प में 10 हजार व्यक्तियों की मृत्यु हुई और दो लाख लोग बेघरबार हो गए। संविधान वहाँ तीन बार बदला जा चुका है। सन् 1967 में जनरल सोमोजा देबएले राष्ट्रपति चुने गए। सन् 1972 में उन्होंने त्यागपत्र दे दिया और तीन सदस्यीय 'राष्ट्रीय जुंता' का गठन किया गया। लेकिन पिछले दिनों पेरू (क्षेत्रफल 496,222 वर्गमील, जनसंख्या 15,380,000 राजधानी लीमा) में सैनिक योजना की जो रूपरेखा प्रसारित की गई उससे यह बात समझ में आती है कि जिस तरह प्राकृतिक अस्थिरता से यह देश अस्थिर रहता है, राजनीतिक अस्थिरता भी उसको कम परेशान नहीं करती। 31 मई, 1970 के भूकम्प में लगभग पचास हजार से अधिक लोगों की मृत्यु हुई। 3 अक्तूबर, 1967 को यहाँ भी एक सैनिक क्रान्ति हुई। राष्ट्रपति टेरी को जनरलहुआन अलवारेदो ने सत्ता से हटा दिया।

लेटिन जातिवाद—निःसंदेह लेटिन अमेरिकी देशों के बारे में जो तस्वीर उभरती है उससे पता चलता है कि अधिकतर देशों में दक्षिणपंथी सैनिक सरकारें हैं। वामपंथ की लहर सीमित है, लगभग हर देश में कम्युनिस्ट पार्टियाँ हैं लेकिन हर देश में उनका चरित्र भिन्न-भिन्न है। बावजूद सैनिक उथल-पुथल के लेटिन अमेरिका में जातिवाद कम नहीं है। सैनिक स्तर तक या निचले स्तर तक यहाँ के मूल निवासियों की काफी संख्या है, किन्तु सरकार के किसी भी महत्त्वपूर्ण अधिकारी पद पर उन्हें नियुक्त नहीं किया जाता। कुछ देश ऐसे हैं जहाँ काले और इण्डियन मूल निवासी बिखरे पड़े हैं, जैसे आर्जेंटीना, चीले, उरुग्वे, पैरागुए की कुल 4 करोड़ 20

लाख की जनसख्या का केवल दो प्रतिशत ही कालों और इन मूलनिवासियों का है। लेकिन कुछ वेनेजुएला, कोलोम्बिया, इक्वाडोर और पेरू जैसे देश भी है जहाँ मिश्रित स्पानी या कालो की सख्या ज्यादा है। वोलिविया मे इण्डियन मूल के लोगों को दबा कर रखा जाता है। जहाँ तक ब्राजील का प्रश्न है, करीब 11 करोड़ की आबादी मे 5 करोड 20 लाख गोरे हैं, 20 प्रतिशत काले और शेष काले-गोरे इण्डियन मिश्रित हैं। गयाना और सूरिनाम को छोड़कर किसी भी देश मे काले व्यक्ति को काबीना स्तर का मन्त्री नही बनाया गया है, ब्राजील मे भी नही। सेना मे अधिकारी वर्ग की बागडोर तोगोरो के हाथ मे है जबकि सैनिक काले या इण्डियन हैं।

आर्थिक मन्दी का दौर—इस तरह की अस्थिर स्थिति का ही कारण है कि लेटिन अमेरिका मे अर्थव्यवस्था बिगडी हुई है। मुद्रा स्फीति की दर भी अधिक है। ब्राजील मे मुद्रा-स्फीति की दर 45 प्रतिशत है। ब्राजील के राष्ट्रपति ग्जेल ने घोषणा की थी कि सन् 1976 मे सरकारी खर्च मे साढे तीन अरब डॉलर की कमी की जाएगी, लेकिन वह केवल घोषणा ही रही। ब्राजील के बजट का 80 प्रतिशत खर्च तेल खरीदने मे ही किया जाता है। विदेशी कम्पनिया यहाँ काफी सक्रिय हैं और इस देश मे उनका प्रभाव और दबदबा दिनो-दिन बढता जा रहा है। ब्राजील ने अपने कृषि कार्यक्रम को विकसित करने मे पर्याप्त सफलता प्राप्त की है, तथापि उसके कॉफी के निर्यात मे कमी आई है। ब्राजील की काफी विश्व प्रसिद्ध है। ब्राजील के अलावा मेक्सिको को भी राजनीतिक दृष्टि से अस्थिर देश माना जाता रहा है। पिछले वर्ष दिसम्बर मे मुद्रा अवमूल्यन किए बिना ही 'पैसो' की कीमत आधी कर दी। इससे वहाँ की अर्थव्यवस्था डावाँडोल हो गई है। नए राष्ट्रपति जोस लोपेज पोलिलो के समक्ष जो आर्थिक सकट पैदा हो गया है उसका प्रभाव आर्थिक तथा सामाजिक सुधार कार्यों पर बहुत पड़ेगा। अमरिका और मैक्सिको मे अच्छे व्यापारिक सम्बन्ध हैं। पिछले वर्ष अमेरिका मे आर्थिक मन्दी की स्थिति थी, तो भी मेक्सिको बदली हुई परिस्थितियों में अमेरिका के साथ व्यापारिक सन्तुलन कायम नही रख सका। आर्हेंतीना की सरकार ने आयात करने मे जो उदारवादी रवैया अपनाया था उसका शिकार वहाँ के वर्तमान शासन रहे है। श्रीमती पेरोन की सरकार के सत्ता से हट जाने के बाद वहाँ विदेशी पूँजी भी कम लग रही है। जो मजदूर सघ मजदूरी मे वृद्धि की माँग करते थे उनकी मजदूरी पहले जैसी ही है जबकि कीमतें आसमान छू रही है। इससे देश मे पर्याप्त असन्तोष है। लगभग ऐसी ही स्थिति चीले मे है। वेनेजुएला और इक्वाडोर के अतिरिक्त इन देशो मे तेल की कमी है। इनके बजट का अधिकतर पैसा तेल के आयात पर खर्च होता है। वेनेजुएला ने पिछले दिनो अपने तेल उद्योग का राष्ट्रीयकरण कर दिया था, अतः राष्ट्रपति कारदोस पेरेज तेल से होने वाली आय का प्रयोग अपनी अर्थव्यवस्था सुदृढ बनाने के लिए करना चाहते है। जहाँ पिछले वर्ष ब्राजील की कॉफी के निर्यात में मन्दी रही, वहाँ कोलोम्बिया की कॉफी के निर्यात मे वृद्धि हुई। अतः उस देश की अर्थव्यवस्था मे भी सुधार हुआ। इन आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक कठिनाइयों के होते हुए भी बहुउद्देश्यीय

निगमें और अन्य अन्तर्राष्ट्रीय और गैर-सरकारी साहूकार लेटिन अमेरिकी देशों की सहायता के लिए अक्सर तैयार रहते हैं। इस सहायता के उपलक्ष में वे कुछ उनसे अपेक्षा भी करेंगे और जब इस तरह की स्थिति पैदा होती है तो तनाव और अस्थिरता का वैसा ही वातावरण पैदा हो जाता है जिसे पिछले साल सी. आई. ए. की गतिविधियों के प्रश्न पर लेटिन अमेरिका के कई देशों में पैदा हो गया था।

(दिनमान, फरवरी, 1977)

पश्चिमी एशिया : शान्ति के नए प्रयास (दिसम्बर 1977 तक)

2 जनवरी, 1973 के अरब-इजराइल युद्ध ने यह तथ्य पुनः स्पष्ट कर दिया था कि पश्चिमी एशिया का मामला तलवार से हल न होकर शान्ति वार्ताओं से ही हल हो सकता है। अमेरिका के भूतपूर्व विदेशमन्त्री कीसिंगर की कूटनीति ने इजराइल और अरब राष्ट्रों के बीच समझौते का मार्ग प्रशस्त कर दिया। मिस्र के राष्ट्रपति सादात ने इजराइल के अस्तित्व को मान्यता दे दी और इजराइल ने सिनाई क्षेत्र से हट जाने की बात स्वीकार ली। सीरिया, लीबिया और अन्य अरब देश सादात से अप्रसन्न हो गए लेकिन मिस्री राष्ट्रपति ने अपने शान्ति प्रयत्नों को चालू रखा। सन 1977 पश्चिम एशिया में शान्ति स्थापना की दिशा में विशेष महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। राष्ट्रपति सादात की मान्यता है कि इजराइल अपनी घरेलू स्थितियों के कारण शान्ति-स्थापना का इच्छुक है। सन 1977 के अन्तिम महीनों में इजराइली और मिस्री नेताओं ने एक-दूसरे के प्रति सद्भावना पूर्ण वक्तव्य प्रकाशित किए और इजराइली प्रधानमन्त्री बेगिन ने तो एक कदम आगे बढ़कर सादात को रस्मी तौर पर यरुशलम आने का निमन्त्रण भी भेज दिया। सादात के अलावा बेगिन ने सीरिया के राष्ट्रपति सारकिश को भी निमन्त्रण-पत्र भेजे। बेगिन ने अपने निमन्त्रण-पत्र में कहा कि राष्ट्रपति सादात जब और जिस दिन चाहें यरुशलम आकर इजराइली ससद् (नेसेट) को सम्बोधित कर सकते हैं। सादात की प्रतिक्रिया थी कि वह इजराइज ससद् के 120 सदस्यों से बातचीत कर पश्चिमी एशिया के बारे में उन्हें अपने दृष्टिकोण से परिचित करना चाहते हैं। बेगिन ने कहा कि इजराइल की कोई शर्त नहीं है, वह केवल यह चाहता है कि सम्मेलन में खुलकर बातचीत हो ताकि पश्चिमी एशिया में वास्तविक शान्ति स्थापित हो सके। सादात ने इजराइली ससद् (नेसेट) को सम्बोधित करने पर सहमत होते हुए सवाददाताओं को स्पष्ट किया कि यदि इजराइल सन् 1969 में हस्तगत अरब क्षेत्रों को वापस कर दे और एक फिलिस्तीनी राज्य की स्थापना की गारंटी दे दे तो सभी अरब देश उसके साथ समझौता करने को तैयार हैं। इजराइली प्रधानमन्त्री बेगिन ने मिस्रियों को पहली बार अपील करते हुए कहा, आप हमारे पड़ोसी हैं और हमेशा ही पड़ोसी रहेंगे। वास्तव में शाह फारुक ने सन् 1948 में मिस्र को इजराइल के खिलाफ युद्ध में झोंका था। निःसन्देह युद्धों में समस्याओं का समाधान नहीं होता। उसके बाद उन्होंने मिस्रियों को याद दिलाया कि हम लोगों ने ब्रिटेन से देश को मुक्त कराया और स्वाधीनता की नींव रखी। यद्यपि बेगिन ने सादात को जून, 1967 से पहले की स्थिति को लौट आना

असम्भव बताया, तथापि यह सुझाव दिया कि जिनेवा शान्ति सम्मेलन में वह अपने प्रस्तावों को प्रस्तुत कर सकते हैं। किसी तरह की शान्ति वार्ता से पूर्व हमें अपनी शर्तें नहीं रखनी चाहिए। उन्होंने यह भी कहा कि यदि सादात यरूशलम आने को तैयार हैं तो मैं काहिरा किसी भी समय आ सकता हूँ। हमारा उद्देश्य पश्चिमी एशिया में शान्ति स्थापित करना है।"

अरब राष्ट्रों की अप्रसन्नता की परवाह न करते हुए मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात ने इजराइल जाने का फैसला कर लिया। 29 वर्ष की घोर शत्रुता और युद्ध को ताक पर रखकर 20 नवम्बर, 1977 को उन्होंने इजराइली संसद् से पश्चिमी एशिया में शान्ति स्थापित करने में सहायता का अनुरोध किया। इजराइली संसद् में भाषण देते हुए सादात ने कहा—"उनकी यात्रा से विश्व के अनेक नेता क्रुद्ध हो गए हैं लेकिन मैं पूरी दृढ़ता के साथ आपके पास आया हूँ ताकि हम शान्ति के नए रिश्ते तथा खुदा की इस धरती पर सभी के लिए शान्ति स्थापित कर सकें।" सादात ने घोषणा कि "हमने विश्व के सभी लोगों के लिए दिल खोल दिए हैं जिससे यह समझा जा सके कि हम न्याय और शान्ति चाहने वाले लोग हैं।" सादात ने इजराइल संसद् से आगे कहा, "हम मिस्रवासी और मुसलमान यरुशलम को कितना महत्त्व देते हैं और उसे कितना पवित्र मानते हैं इस बारे में आपको कोई सन्देह नहीं होना चाहिए।" उन्होंने फिलिस्तीन समस्या के सम्बन्ध में कहा कि कोई भी इस बात से इंकार नहीं कर सकता कि यही सारी समस्या की जड़ है। कोई व्यक्ति इजराइल में प्रचारित नारों को स्वीकार और फिलिस्तीन लोगों के अस्तित्व की उपेक्षा नहीं कर सकता। उन्होंने कहा—"फिलिस्तीनी लोगों के बिना कोई शान्ति कायम नहीं हो सकती। इस पहलू की उपेक्षा करना अथवा टालना भारी गलती होगी।"

राष्ट्रपति सादात ने इजराइली संसद् में अपना एक शान्ति-प्रस्ताव प्रस्तुत किया जिसमें निम्नलिखित बातें थीं—

(1) फिलस्तीनी लोगों के अधिकारों को मान्यता। इन अधिकारों में अपना देश कायम करने का भी अधिकार शामिल है।
(2) सभी देशों को अपनी सीमाओं के अन्तर्गत शान्ति से रहने का अधिकार।
(3) सभी देशों में संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणापत्र के आधार पर सम्बन्धों की स्थापना।
(4) पश्चिमी एशिया में युद्ध स्थिति की समाप्ति।

मिस्र के जानकार सूत्रों ने कहा है कि "इजराइल और उसके तीन प्रमुख पड़ोसी अरब देशों (मिस्र, सीरिया और जोर्डन) के बीच राजनीतिक समझौता हो जाने के तीन महीने बाद मिस्र युद्ध स्थिति समाप्त करने के लिए राजमन हो सकता है।"

9 संयुक्तराज्य अमेरिका की विदेश नीति

(FOREIGN POLICY OF U.S.A.)

> "मेरा विचार है कि संयुक्तराज्य अमेरिका के लिए यह उचित नहीं होगा कि वह पश्चिमी यूरोप में नाटो से अपनी सेनाएँ हटा ले। इसके विपरीत मेरा दृढ़ विश्वास है कि हमें सोवियत संघ और वारसा पैक्ट के उसके साथियों के साथ सैन्य शक्ति में पारस्परिक और सन्तुलित कमी पर विचार-विमर्श करना चाहिए।"[1]
>
> —राष्ट्रपति फोर्ड

संयुक्तराज्य अमेरिका को विश्व का सबसे अधिक शक्तिशाली और सम्पन्न देश माना जाता है। सोवियत संघ के साथ उसकी मुख्य प्रतिस्पर्द्धा है। दोनों ही महाशक्तियाँ विश्व-नेतृत्व की आकांक्षी हैं। पूँजीवादी शिविर में अमेरिका सर्वोपरि है और साम्यवादी गुट में सोवियत संघ, तथापि हाल ही के वर्षों में अपने ही गुटों में उनके नेतृत्व को चुनौती दी जाने लगी है।

प्रथम महायुद्ध के बाद संयुक्तराज्य अमेरिका अपनी परम्परागत पृथकतावादी नीति पर लौट आया था, लेकिन द्वितीय महायुद्ध के कुछ वर्ष पूर्व से ही यह भली प्रकार स्पष्ट हो गया था कि अमेरिका, बदली हुई परिस्थितियों में, विश्व-राजनीति से तटस्थ नहीं रह सकता। द्वितीय महायुद्ध में अमेरिका ने मित्रराष्ट्रों को आर्थिक और सैनिक दोनों रूपों में भरपूर सहायता दी—अमेरिका के पूरे उत्साह के साथ महायुद्ध में उतर आने के फलस्वरूप अधिनायकवादी शक्तियों (जर्मनी, इटली और जापान) की पराजय अवश्यम्भावी हो गई। महायुद्ध की समाप्ति के बाद अमेरिका सर्वोच्च शक्ति के रूप में प्रकट हुआ और विश्व-राजनीति में खुलकर भाग लेने लगा। उसने पृथकतावादी नीति को पूर्णरूप से त्याग दिया। इस नीति पर लौटना अब सम्भव भी नहीं था क्योंकि साम्यवादी रूस एक महान् शक्ति के रूप में अपने प्रभाव-विस्तार के लिए कटिबद्ध था। शूमैन के अनुसार—

1. Span, September 1974, p 4

"प्रथम महायुद्ध के बाद अमेरिका आसानी से पार्थक्यवादी नीति का अनुसरण कर सकता था क्योंकि धुरीराष्ट्रों की पराजय के बाद यूरोप और एशिया में एक नया शक्ति सन्तुलन स्थापित हो गया था किन्तु द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त अमेरिका के लिए पृथकतावादी नीति का अनुसरण करना सम्भव नहीं था क्योंकि नाजी राष्ट्रों के त्रि-गुट की हार के बाद यूरोप और एशियायी देशों पर साम्यवादी राष्ट्रों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था।"

संयुक्तराज्य अमेरिका की विदेश नीति का काल-विभाजन

द्वितीय महायुद्धोत्तरकालीन अमेरिकी विदेश नीति को समय-समय पर नया रूप दिया जाता रहा है। प्रत्येक नए राष्ट्रपति के कार्यकाल में विदेश-नीति को कुछ नया मोड़ मिला है, एक नयी दृष्टि प्राप्त हुई है। सामान्यतः द्वितीय महायुद्ध के बाद की अमेरिकी विदेश-नीति को इन चरणों या कालों में विभाजित किया जाता है—

(1) सहयोग और अनुकूलता की नीति का काल (अगस्त, 1945 से अगस्त, 1946);

(2) आर्थिक सहायता द्वारा साम्यवाद के प्रसार को अवरुद्ध करने की नीति का काल (अगस्त, 1946 से जून, 1950);

(3) खुले संघर्ष और सैनिक सन्धियों की नीति का काल (जून, 1950 से जुलाई, 1953);

(4) नवीन दृष्टिकोण का काल (जुलाई, 1953 से जनवरी, 1961); एवं

(5) सह-अस्तित्व की नीति का काल (जनवरी, 1961 से आज तक)

युद्धोत्तर युग में अभी तक अमेरिका की बागडोर छः राष्ट्रपतियों के हाथ में रही है—ट्रूमैन, आइजनहॉवर, कैनेडी, लिण्डन बी. जॉनसन, रिचर्ड निक्सन, जेराल्ड फोर्ड। प्रत्येक राष्ट्रपति ने अमेरिका की विदेश-नीति के आधारभूत तत्वों की रक्षा करते हुए अपने कार्यकाल में समयानुकूल परिवर्तन किए और अधिक उचित यही होगा कि हम इन राष्ट्रपतियों के कार्यकाल के अनुसार अमेरिका की विदेश-नीति की विवेचना करते चलें।

ट्रूमैन-युग
(1945–1952)

द्वितीय महायुद्ध के बाद सन् 1952 तक के अपने कार्यकाल में राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अमेरिकी विदेश-नीति की जो आधारशिलाएँ रखीं वे आज भी मार्गदर्शक बनी हुई हैं। भावी राष्ट्रपतियों ने समय के अनुसार अपनी विदेश-नीतियों को नए मोड़ दिए, लेकिन ट्रूमैनकालीन तत्व आज भी सजीव हैं। साम्यवाद के प्रसार को सीमित करने का जो दृढ़ निश्चय राष्ट्रपति ट्रूमैन ने व्यक्त किया था, वही निश्चय भावी राष्ट्रपतियों ने किया और साम्यवाद पर अंकुश रखने के लिए नए-नए कदम उठाए। विश्व-राजनीति में अमेरिकी नेतृत्व को सर्वोच्चता देने का जो प्रयत्न ट्रूमैन ने किया, वही प्रयत्न भावी राष्ट्रपति भी करते रहे हैं। ट्रूमैन-काल में अमेरिका यह

मानकर चला कि सोवियत संघ उसका मुख्य प्रतिद्वन्द्वी है और अमेरिका का भावी इतिहास भी यही बताता है कि बहुत कुछ सोवियत संघ को प्रमुख लक्ष्य मानकर ही अमेरिका की विदेश-नीति संचालित होती रही है।

राष्ट्रपति ट्रूमैन का व्यक्तित्व विशेष आकर्षक नहीं था, परन्तु वह ईमानदार कर्मठ, कर्त्तव्यनिष्ठ, उदार और साहसी था। जाति अथवा धर्म-विभेद की भावनाएँ उसे छू तक नहीं गई थीं। साहित्य में उसकी इतनी गहरी पैठ थी कि कभी-कभी वह प्रकाण्ड विद्वानों को भी चकित कर देता था। वह इतना निर्भीक राष्ट्रपति था कि बड़े से बड़े अधिकारियों को पद से हटाने में तनिक भी संकोच नहीं करता था। उसने गृह और विदेश-नीति के क्षेत्र में दृढ़ संकल्प और कठोर निष्ठा का परिचय दिया।

ट्रूमैन के कार्यकाल में अमेरिकी विदेश-नीति की मुख्य प्रवृत्तियाँ

ट्रूमैन-युग में अमेरिकी विदेश-नीति में जिन प्रवृत्तियों अथवा तत्वों पर जोर दिया गया उन्हें इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

1. अमेरिका विश्व-राजनीति में खुलकर भाग लेने लगा। यूरोप तो उसकी दिलचस्पी का प्रधान केन्द्र बना ही, विश्व के अन्य क्षेत्रों में भी अमेरिका की महत्त्वाकांक्षा स्पष्ट हो गई। एक महाशक्ति के रूप में अपना नेतृत्व स्थापित करने के लिए अमेरिका ने एक के बाद एक अनेक कदम उठाए।

2. महायुद्ध के बाद अगस्त, 1946 के आस-पास तक ट्रूमैन ने 'सहयोग और अनुकूलता की नीति' (Policy of Co-operation and Accommodation) का अनुसरण किया। अमेरिकी विदेश-नीति के निर्माता यह मानकर चले कि युद्ध-काल में मित्रराष्ट्रों में जो सहयोग था वह युद्ध के बाद भी कायम रहेगा। 'सहयोग और अनुकूलता की नीति' के इस काल को 'मधु-रात्रि काल' (The Honey-Moon Period) भी कहते हैं।

3. अमेरिका का यह प्रयत्न रहा कि तनाव का क्षेत्र समाप्त करने के लिए महायुद्ध में पराजित राष्ट्रों के साथ शीघ्र से शीघ्र शान्ति-सन्धियाँ सम्पन्न की जाएँ।

4. सोवियत संघ के साथ सहयोग की नीति असफल होते देखकर ट्रूमैन ने अगस्त, 1946 में अमेरिकी विदेश नीति को एक नई दिशा प्रदान की। ऐसी नीति के अनुसरण का निश्चय किया गया जिससे साम्यवादी प्रसार को प्रभावशाली रूप में तुरन्त 'अवरुद्ध' कर दिया जाए। चूँकि यह पिछली नीति को त्यागकर एक नई दिशा की ओर मुड़ने का निश्चय था, अतः अगस्त, 1946 से जून, 1950 तक की अवधि को नवीन दिशान्वेषण काल' (Period of New Departure) कहा जाता है। इस युग में साम्यवाद के कठोरतापूर्वक अवरोधन की नीति अपनाई गई, अतः इसे 'अवरोधन नीति का काल' (Period of the Policy of Containment) भी कहते हैं। फिर भी राष्ट्रपति ट्रूमैन और उपराष्ट्रपति हैनरी वैलास का यह मत रहा कि अमेरिका और सोवियत संघ का मूल हित इसी बात में है कि शान्ति कायम रखी जाए ताकि विश्व के सभी देश पुनर्निर्माण-कार्यों में सफल हों। यह

विचार व्यक्त किया गया कि सोवियत संघ भयभीत है और पश्चिमी आक्रमण के विरुद्ध आश्वासन चाहता है।

5. ज्यों-ज्यों संघ निरन्तर शक्तिशाली होता गया स्टालिन अधिकाधिक उग्र होता गया। तब सन् 1950 मे अमेरिका ने सैनिक स्तर पर भी साम्यवादी प्रसार के अवरोधन का प्रयत्न प्रारम्भ किया। इस नीति के अनुसार 'नाटो' (NATO) की स्थापना की गई। इसे 'अवरोधन रण-नीति' (The Strategy of Containment) की सज्ञा दी गई। ज्यों-ज्यों साम्यवाद का खतरा बढ़ता गया, अमेरिका सैनिक सन्धियो और प्रतिरक्षा सगठनो के निर्माण की ओर उन्मुख होता गया। सन् 1950 मे ही उत्तर कोरिया ने दक्षिण कोरिया पर आक्रमण कर दिया। उत्तर कोरिया की पीठ पर साम्यवादी शक्तियाँ थी। अमेरिका ने दक्षिण कोरिया का पक्ष लेकर इस साम्यवादी आक्रमण को विफल कर देने का सकल्प किया और सयुक्त राष्ट्रसघ की सेनाओ के रूप मे अमेरिकी सेनाएँ युद्ध-क्षेत्र मे कूद पड़ी। कोरिया का युद्ध जून, 1950 से जुलाई, 1953 तक चला और इस अवधि को अमेरिकी विदेश-नीति के इतिहास मे 'खुले सघर्ष का काल' (Period of Open Conflict) कहा जाता है।

6. ट्रूमैन-युग मे अमेरिका की यह स्पष्ट नीति थी कि वह अणु शक्ति का एकछत्र स्वामी बना रहे। अणु-शक्ति के नियन्त्रण की योजनाएँ भी बनाई गई।

सारांश रूप में ट्रूमैन-युग मे विदेश-नीति के मुख्य चरण ये रहे—'सहयोग और अनुकूलता की नीति', 'अवरोधन नीति', 'सैनिक सन्धियो की नीति' और 'खुले सघर्ष का काल'।

सहयोग और अनुकूलता की नीति (अगस्त, 1945—अगस्त, 1946)

प्रारम्भ मे अमेरिका ने यह सोचा कि मित्रराष्ट्रो का युद्धकालीन सहयोग शान्तिकाल मे भी बना रहेगा, अतः राष्ट्रपति ट्रूमैन ने 'सहयोग और अनुकूलता की नीति' (Policy of Co-operation and Accommodation) का अनुसरण किया। अमेरिका ने चाहा कि युद्धकालीन विनाश के चिह्नो को शीघ्रातिशीघ्र मिटा दिया जाए, पराजित राष्ट्रो के साथ शान्ति-सन्धियाँ सम्पन्न की जाएँ और चारो ओर शान्ति का वातावरण उत्पन्न किया जाए। अमेरिका ने यह भी चाहा कि किसी देश की प्रादेशिक अखण्डता को भग न किया जाए और कोई भी विदेश-शक्ति किसी देश मे बलपूर्वक किसी सरकार को न थोपे। अमेरिका ने युद्धोत्तरकालीन सभी समस्याओ का निदान मिल-जुलकर करने का निश्चय किया। पर इसका यह अर्थ नही है कि अमेरिका ने सभी काम पूरी ईमानदारी के साथ किए। प्रत्येक देश अपने राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि मानता है और अमेरिका की विदेश-नीति भी इसी लक्ष्य से सचालित हुई कि सोवियत सघ की तुलना मे अमेरिका के प्रभाव-क्षेत्र का निरन्तर विस्तार होता जाए।

'बारह सूत्री' उद्देश्यों की घोषणा, 1945—सहयोग और अनुकूलता की नीति की व्याख्या करते हुए राष्ट्रपति ट्रूमैन ने 28 अक्तूबर, 1945 को 'बारह

सूत्री' (Twelve Points) उद्देश्यों की घोषणा की। ये उद्देश्य संक्षेप में इस प्रकार थे—

1. अमेरिका प्रादेशिक विस्तार नहीं चाहता, वह किसी देश पर आक्रमण नहीं करेगा।

2. अमेरिका का मत है कि जिन देशों से सर्वोच्च प्रभुता के अधिकार बलपूर्वक छीन गए थे, वे उन्हें वापस किए जाने चाहिए।

3. अमेरिका किसी मित्रदेश में जनता की स्वतन्त्र सहमति के अभाव में किए गए किसी प्रादेशिक परिवर्तन को स्वीकार नहीं करेगा।

4. अमेरिका का यह विश्वास है कि स्वशासन में समर्थ देशों को बिना किसी विदेशी हस्तक्षेप के अपने शासन का स्वरूप निर्धारित करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। यह सिद्धान्त यूरोप, एशिया, अफ्रीका और पश्चिमी गोलार्द्ध में समान रूप से लागू होता है।

5 अमेरिका का लक्ष्य अपने साथियों के साथ सहयोग करते हुए पराजित देशों मे शान्तिपूर्ण लोकतन्त्रीय शासन की स्थापना करना है।

6. अमेरिका विदेशी शक्ति द्वारा किसी देश मे बलपूर्वक थोपी गई सरकार को मान्यता नहीं देगा।

7 सब देशों को अनेक देशों मे से होकर गुजरने वाली नदियों तथा समुद्रों मे आवागमन की निर्बाध स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

8. विश्व मे कच्चे माल की प्राप्ति तथा व्यापार मे सब देशों को स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

9 अमेरिका का मत है कि पश्चिमी गोलार्द्ध के राज्यों को इस गोलार्द्ध के बाहर की किसी शक्ति के हस्तक्षेप के बिना पड़ोसियों की भाँति अपनी सामान्य समस्याओं का समाधान करना चाहिए।

10. अमेरिका चाहता है कि समूचे विश्व मे दरिद्रता और अभाव को दूर करने तथा जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए सब देशों मे पूर्ण आर्थिक सहयोग हो।

11 अमेरिका विश्व मे विचार-अभिव्यक्ति तथा धर्म की स्वतन्त्रता के विस्तार के लिए प्रयत्न करेगा।

12. अमेरिका का दृढ़ विश्वास है कि राष्ट्रों मे शान्ति स्थापित रखने के लिए ऐसे संयुक्त राष्ट्रसंघ की आवश्यकता है जिसके सदस्य शान्ति-प्रेमी हों और शान्ति-स्थापना के लिए आवश्यकता पड़ने पर सैनिक कार्यवाही करने के लिए भी तैयार हों।

सैनिक संख्या मे कमी—विश्व-शान्ति के अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करने के लिए अमेरिका ने अपने सैनिकों की संख्या मे कमी करना शुरू कर दिया। लगभग दो वर्ष के अन्तर्गत ही 1 करोड़ 20 लाख सैनिकों की संख्या से घटाकर 15 लाख कर दी गई। अमेरिका की आशा थी कि रूस भी सहयोग करेगा और अनुकूल

उत्तर देगा। लेकिन यह आशा गलत सिद्ध हुई। अमेरिका तत्कालीन विश्व-राजनीति के दो महत्त्वपूर्ण पहलुओं को समझने में भूल कर बैठा—प्रथम, सोवियत संघ की आक्रमणकारी चालें; एवं द्वितीय, एशिया महाद्वीप में क्रान्ति।

सोवियत संघ से उग्र मतभेद और सहयोगपूर्ण नीति का परित्याग—कुछ ही समय में सभी क्षेत्रों में यह प्रकट हो गया कि रूस और अमेरिका परस्पर-विरोधी हैं और विश्व की हर समस्या पर दोनों में उग्र मतभेद हैं। दोनों शक्तियों में किसी प्रकार का समझौता और सहयोग सम्भव नहीं है। विशेषत पाँच क्षेत्रों में सोवियत-अमेरिकी मतभेद अत्यधिक उग्र हो गए—

(i) जर्मनी के समीकरण का प्रश्न,

(ii) पोलैण्ड में रूस द्वारा याल्टा सम्मेलन में दिए गए वचनों के उल्लघन की अमेरिकी शिकायत,

(iii) इटली, हंगरी, रूमानिया, बल्गेरिया तथा फिनलैण्ड के साथ शान्ति-सन्धियों का प्रश्न,

(iv) सयुक्त राष्ट्रसघ तथा उसमें रूस द्वारा निषेधाधिकार के प्रयोग का प्रश्न, तथा

(v) ईरान टर्की और यूनान में रूसी महत्त्वाकांक्षाओं का प्रश्न।

इन उग्र मतभेदों और अन्य असहमतियों के कारण दोनों शक्ति गुटों में 'शीतयुद्ध' आरम्भ हो गया। रूसी असहयोग से अमेरिका के आशावादी नेताओं को बड़ा आघात पहुँचा। एशिया महाद्वीप में उपनिवेशवाद के विरुद्ध एक क्रान्ति हो रही थी और रूस ने एशियायी देशों के मुक्ति-आन्दोलनों को समर्थन देकर उन्हें अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। रूसी चालों से बाध्य होकर अमेरिका के विदेश-नीति निर्माताओं ने अगस्त, 1946 के लगभग सहयोग और अनुकूलता की नीति का परित्याग कर दिया।

अवरोध की नीति (अगस्त, 1946—जून, 1950)

सन् 1946 के मध्य तक रूस की ओर से अमेरिका निराश होता जा रहा था और राष्ट्रपति ट्रूमैन के मुख्य परामर्शदाता एवरिल हैरीमैन तथा विदेश-विभाग के रूसी विशेषज्ञ जार्ज केनन ने रूस के साथ सहयोग की नीति में स्पष्ट रूप से सन्देह प्रकट किया। उनका विचार था कि "मास्को सहयोग और समझौते की नीति को दुर्बलता का लक्षण समझता है। वह केवल शक्ति की ही परवाह करता है, अतः उसके विरुद्ध दृढ़ता की नीति पर चलना चाहिए।"

अब अमेरिका ने यह निश्चय कर लिया कि साम्यवादी प्रसार को अविलम्ब 'अवरुद्ध' किया जाए। इस निश्चय के साथ ही 'अवरोध नीति' (Policy of Containment) पर अमल किया जाने लगा। अमेरिका के आशावादी नेताओं का अब भी विश्वास था कि सोवियत सघ भयभीत है और केवल पश्चिमी आक्रमण के विरुद्ध आश्वासन चाहता है। यदि उसे यह विश्वास दिला दिया जाए तो वह सहयोग करने लगेगा। लेकिन प्रधानता इस विचार की थी कि रूस पर विश्वास नहीं किया

जा सकता । गोपनीयता, अस्पष्टता, सन्देहशीलता, कथनी और करनी मे भेद धोखा-घडी आदि सोवियत नीति के प्रधान लक्षण थे । अमेरिकी सरकार पर यह भी दबाव पड़ा कि लोकतन्त्र की रक्षा के लिए वह साम्यवाद के विरुद्ध सैद्धान्तिक सघर्ष भी छेड दे । उस समय रूस दुनिया भर के देशो मे 'साम्यवादी धर्म' का जोर-शोर से प्रचार करने मे लगा हुआ था । अमेरिकी विदेश-विभाग इस बात से भी चिन्तित हो गया कि चीन और पूर्वी यूरोपीय देशो मे साम्यवाद का प्रसार अमेरिका की सुरक्षा के लिए गम्भीर खतरा हो सकता था ।

'अवरोधन' की अमेरिकी विदेश-नीति के मुख्य तथ्य ये थे—

ट्रूमैन सिद्धान्त—मध्य-पूर्वी क्षेत्र मे यूनान, टर्की, ईरान आदि देशो को साम्यवादी बनने से बचाने के लिए ट्रूमैन ने इन्हे आर्थिक सहायता देने की नीति अपनाई । इसी नीति को 'ट्रूमैन-सिद्धान्त' (Truman Doctrine) कहा जाता है । महायुद्ध के बाद चारो ओर आर्थिक सकट की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई । यूनान, टर्की और ईरान मे साम्यवादी आन्दोलन ने विशेष जोर पकड लिया । यह आशका पैदा हो गई कि यदि तुरन्त ही इन देशो की आर्थिक सहायता न की गई तो वे साम्यवाद के प्रभाव मे चले जाएँगे । अतः मार्च, 1947 मे राष्ट्रपति ट्रूमैन ने काँग्रेस (अमेरिका की ससद्) से अपील की कि साम्यवाद का प्रसार रोकने के लिए यूनान और टर्की के लिए आर्थिक सहायता स्वीकार की जाए । यूनान को 25 करोड डॉलर और टर्की को 15 करोड डॉलर देने की सिफारिश की गई । कांग्रेस ने विधेयक को स्वीकार कर लिया और 22 मई, 1948 को उस पर राष्ट्रपति के हस्ताक्षर हो गए। ट्रूमैन-सिद्धान्त के अन्तर्गत प्राप्त विपुल आर्थिक सहायता के बल पर सन् 1950 के अन्त तक यूनान और टर्की ने साम्यवादी दबाव से सफलतापूर्वक मुक्ति प्राप्त कर ली।

वास्तव मे ट्रूमैन-सिद्धान्त ने अमेरिकी विदेश-नीति के इतिहास मे एक *असाधारण कीर्तिमान की स्थापना की* । इस नीति ने घोषणा की कि "जहाँ कहीं भी शान्ति भग करने वाला प्रत्यक्ष या परोक्ष आक्रामक कार्यवाही होगी, उसे अमेरिका की सुरक्षा के लिए सकट माना जाएगा और अमेरिका उसे रोकने का भरसक प्रयत्न करेगा ।" ट्रूमैन-सिद्धान्त के फलस्वरूप अमेरिकी विदेश-नीति का कार्यक्षेत्र विश्व-व्यापी हो गया । इस सिद्धान्त ने अमेरिका की विदेश-नीति मे मौलिक परिवर्तनो का सूत्रपात किया तथा उसे विकास की एक नई दिशा प्रदान की । माइकेल डोनेलन के शब्दो मे, "ट्रूमैन-सिद्धान्त निश्चिय ही सम्पूर्ण स्वतन्त्र विश्व के लिए मुनरो-सिद्धान्त था । इसने पुराने सिद्धान्त को नई परिस्थितियो के साथ आवश्यकतानुसार समायोजित कर दिया और पश्चिमी गोलार्द्ध की सीमाओ का विस्तार स्वतन्त्र-विश्व की सीमाओं तक कर दिया ।"[1] ट्रूमैन सिद्धान्त निम्नलिखित दृष्टियो से अत्यधिक प्रभावकारी सिद्ध हुआ—

1. इसने स्पष्ट कर दिया कि अमेरिका अब पृथकतावादी नीति का परित्याग कर अन्तर्राष्ट्रीय जगत् की समस्याओ के प्रति सक्रिय हो गया है ।

1. *Michael Donelan :* The Ideas of American Foreign Policy, p 749.

2. यह रूस को उसकी विस्तारवादी चेष्टाओं के विरुद्ध एक चेतावनी थी, उसके साथ शीतयुद्ध की घोषणा थी और मास्को के प्रति सहयोगपूर्ण नीति का परित्याग था।

3. यह सिद्धान्त 'अवरोधन' नीति के विकास का प्रथम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चरण था।

4. यह 'मुनरो-सिद्धान्त' का व्यापक रूप था जिसने स्पष्ट कर दिया कि अमेरिका पूर्वी और पश्चिमी गोलार्द्ध में स्वतन्त्रता की आकांक्षी जनता को उसके स्वाधीनता संघर्ष का समर्थन करेगा।

5. यह सिद्धान्त इस तथ्य की स्वीकृति थी कि भूमध्यसागर और मध्यपूर्व में उत्पन्न हुई 'शक्ति शून्यता' का रूस द्वारा लाभ उठाए जाने से पूर्व अमेरिका लाभ उठाने का इच्छुक है।

6. इस सिद्धान्त का मूल उद्देश्य बलकान प्रायद्वीप में रूसी प्रसार को रोकने के लिए और साथ ही रूस को घेरने के लिए यूनान और टर्की को महत्त्वपूर्ण सैनिक अड्डे के रूप में सुरक्षित रखना तथा मध्यपूर्व के विशाल तेल भण्डारों को अपने अधिकार में रखना था।

7. यह सिद्धान्त रूस के प्रति अमेरिकी विरोध की स्थूल अभिव्यक्ति था।

ट्रूमैन-सिद्धान्त को विभिन्न क्षेत्रों से कटु आलोचनाओं का सामना करना पड़ा। अमेरिका की आर्थिक और सामरिक सहायता देने की नीति को साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का एक नवीन रूप बताया गया। इस सिद्धान्त का उद्देश्य लोकतन्त्र की रक्षा न होकर पश्चिमी एशिया के तेल भण्डारों को रूसी प्रभाव से अछूता रखना था। ट्रूमैन-सिद्धान्त से संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थिति को आघात पहुँचा क्योंकि यूनान और टर्की को संघ के माध्यम से सहायता न दी जाकर पृथक् रूप से दी गई। स्वयं अमेरिकियों की दृष्टि में ट्रूमैन-सिद्धान्त मुनरो सिद्धान्त का ही विकसित रूप था।

युद्धोपरान्त की प्रारम्भिक नीतियों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों के फलस्वरूप अब यह स्पष्ट हो गया कि अमेरिकी विदेश-नीति का मौलिक उद्देश्य साम्यवाद और सोवियत प्रसार को रोकना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसने अपनी विदेशी नीति में तीन बातों को स्थान दिया—प्रथम, आर्थिक; द्वितीय, राजनीतिक एवं तृतीय सैनिक। आर्थिक तत्त्व के अन्तर्गत आर्थिक सहायता और आर्थिक पुनर्निर्माण के कार्यक्रम अपनाए गए। राजनीतिक तत्त्व को सम्पादित करने के लिए पश्चिमी यूरोपीय संघ की स्थापना की दिशा में कार्यवाही की गई और सैनिक तत्त्व के अन्तर्गत सैनिक संगठनों की स्थापना पर बल दिया जाने लगा।

मार्शल योजना (Marshall Plan)—'*अवरोध की नीति*' (Policy of Containment) का दूसरा चरण '*मार्शल योजना*' थी। इस योजना के अन्तर्गत युद्ध से ध्वस्त यूरोप को सहायता देने की बात कोई सर्वथा नई नहीं थी। द्वितीय महायुद्ध काल में वह उधार पट्टा-कार्यक्रम (Land Lease Programme) के अन्तर्गत तथा सन् 1945 में इस कार्यक्रम की समाप्ति के बाद 'संयुक्त राष्ट्र सहायता और

पुनर्वास प्रशासन' (U N R R A.) के माध्यम से यूरोप को आर्थिक सहायता देता रहा था।

अमेरिका के विदेश मन्त्री मार्शल ने मास्को के शान्ति-सम्मेलनों में देखा कि रूसी हर बात में अड़गेबाजी की नीति अपना कर शान्ति-सन्धियों में विलम्ब कर रहे हैं। मार्शल शीघ्र ही समझ गया कि रूसियों के सन्धि चर्चा में देर लगाने का परिणाम यूरोप में क्रान्तियों द्वारा साम्यवाद की स्थापना हो जाना है ताकि फिर समझौता करने में कठिनाई न हो। अत 26 अप्रैल, 1947 को वाशिंगटन लौटने पर मार्शल ने इस बात पर बल दिया कि यदि अविलम्ब यूरोप के आर्थिक पुनरुद्धार के प्रयास न किए गए तो वह साम्यवादी हो जाएगा। अपने सहकारियों के साथ परामर्श करने के उपरान्त राष्ट्रपति ट्रूमैन ने भी इस प्रकार की सहायता देने का निश्चय कर लिया और तब 5 जून, 1947 को विदेश-मन्त्री मार्शल ने हार्वर्ड विश्वविद्यालय में अपने सुप्रसिद्ध भाषण में कहा—

'हमारी नीति किसी देश या सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है। यह भूख, दरिद्रता, निराशा और अव्यवस्था के विरुद्ध है। इसका उद्देश्य विश्व में एक ऐसी अर्थव्यवस्था का पुनरुत्थान करना है जिससे स्वतन्त्र संस्थाओं को विकसित करने वाली राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकें। संयुक्तराज्य अमेरिका की सरकार द्वारा यूरोप को सहायता दिए जाने से पहले यह आवश्यक है कि यूरोपीय देशों की इस सहायता की आवश्यकताओं के विषय में समझौता हो जाए। इस सरकार के लिए न तो यह अच्छा होगा और न प्रभावशाली कि यूरोप को अपने पैरों पर खड़ा करने वाले आर्थिक कार्यक्रमों का निर्माण करें। यह यूरोपीयों का कार्य है। इसकी पहल यूरोप से होनी चाहिए। हमारा कार्य सहायता देना है।"

मार्शल ने अपने भाषण में साम्यवादी और गैर-साम्यवादी देशों में कोई भेद नहीं किया, बल्कि प्रकट रूप में यही कहा कि उनके देश की नीति किसी देश अथवा सिद्धान्त विशेष से संघर्ष की नहीं, बल्कि भूख, निर्धनता, साधनहीनता और अव्यवस्था का सामना करने की है। परिणामस्वरूप सोवियत संघ को भी पुनर्निर्माण के इस कार्यक्रम में हिस्सा लेने के लिए आमन्त्रित किया गया। परन्तु मास्को और उसके साथी राज्यों ने इस प्रस्ताव को अमेरिकी साम्राज्यवाद की एक नई चाल - बताकर ठुकरा दिया।

पश्चिमी देशों के राष्ट्रों ने मार्शल योजना का उत्साहपूर्वक स्वागत किया। ब्रिटेन और फ्रांस की पहल पर जुलाई, 1947 में पेरिस में 16 यूरोपीय देशों (इंग्लैंड, फ्रांस, आस्ट्रेलिया, बेल्जियम, डेनमार्क, ग्रीस, आइसलैण्ड, इटली, नार्वे, लक्जमबर्ग स्वीडन, स्विट्जरलैण्ड, पुर्तगाल, नीदरलैण्ड और टर्की) के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ। इसमें एक यूरोपीय आर्थिक सहयोग समिति (Committee of European Economic Co-operation) की स्थापना की गई और यूरोपीय पुनरुद्धार का चार वर्षीय सहयोगात्मक कार्यक्रम तैयार किया गया।

यूरोपीय आर्थिक सहयोग समिति ने संयुक्तराज्य अमेरिका को एक रिपोर्ट

समर्पित की जिसमें कहा गया कि अमेरिका यदि 1·3 बिलियन डॉलर धन राशि खर्च करने को तैयार हो तो सन् 1951 तक एक आत्मनिर्भर यूरोपीय अर्थ-व्यवस्था (Economy) की स्थापना की जा सकती है। यह रिपोर्ट 'मार्शल योजना' के नाम से प्रसिद्ध हुई। दिसम्बर, 1947 में राष्ट्रपति ट्रूमैन ने कांग्रेस के समक्ष 'मार्शल योजना' से सम्बन्धित व्यय का अनुमान प्रस्तुत किया जिसमें सवा चार वर्ष की अवधि के लिए 17 अरब डॉलर और 15 महीनों के लिए 6 अरब 80 करोड़ डॉलर के व्यय का अनुमान लगाया गया। इस प्रस्ताव के उद्देश्य (Motive) की व्याख्या करते हुए ट्रूमैन ने कहा—"मेरा प्रस्ताव यह है कि अमेरिका उन 16 राज्यों को, जो उसी की तरह स्वतन्त्र संस्थाओं की सुरक्षा एवं राष्ट्रों के बीच स्थायी शान्ति के लिए दृढ संकल्प है, उनके पुनर्निर्माण कार्यों में सहायता देकर विश्व-शान्ति एवं अपनी सुरक्षा में योगदान करें।"

'मार्शल योजना' को, जो अधिकृत रूप में 'यूरोपीय राहत कार्यक्रम (European Relief Programme) के नाम से जानी गई, कांग्रेस ने पास कर दिया। 3 अप्रेल, 1948 को कांग्रेस ने 'विदेशी सहायता अधिनियम' पारित कर मार्शल योजना को मूर्त रूप प्रदान किया और इसको कार्यान्वित करने के लिए 'यूरोपीय आर्थिक सहयोग संगठन' (Organization for European Economic Co-operation) की स्थापना की गई।

'मार्शल योजना' से रूस और पश्चिम का विरोध पहले की अपेक्षा और भी अधिक उग्र हो गया। इस योजना के अन्तर्गत चार वर्षों (1947-1951) में अमेरिका ने यूरोप को लगभग 11 मिलियन डॉलर की सहायता दी। इस योजना के बल पर एक ओर तो पश्चिमी यूरोप आर्थिक पतन और साम्यवादी आधिपत्य से बच गया तथा दूसरी ओर संयुक्तराज्य अमेरिका पाश्चात्य जगत् का सर्वमान्य नेता बन गया। अमेरिका ने यूरोप के देशों को आर्थिक सहायता देते हुए यह शर्त लगाई कि वे अपनी सरकारों में साम्यवादी तत्वों का उन्मूलन करेंगे। सन् 1946–47 तक फ्रांसीसी सरकार में साम्यवादी थे, परन्तु सन् 1946 में जब ब्लुम फ्रांस के लिए ऋण उपलब्ध करने हेतु वाशिंगटन गया तो उस पर यह दबाव डाला गया कि इसे प्राप्त करने के लिए फ्रेंच सरकार से साम्यवादियों का निष्कासन आवश्यक है। इसी प्रकार इटली में मार्शल सहायता पाने वाली सरकार को मन्त्रिमण्डल से साम्यवादियों को निकालना पड़ा।

'मार्शल योजना' एक प्रकार से ट्रूमैन-सिद्धान्त का ही विकसित रूप थी जिसने ट्रूमैन सिद्धान्त में प्रतिपादित 'अवरोधन-नीति' को तीन प्रकार से आगे बढ़ाया—

(i) जहाँ ट्रूमैन-सिद्धान्त में अलग-अलग राज्यों की सहायता देने की व्यवस्था की गई थी, वहाँ मार्शल योजना में यूरोप को समग्र रूप से सहायता देने की व्यवस्था की गई।

(ii) मार्शल योजना ने 'अवरोध की नीति' में आर्थिक तत्वों के महत्त्व को अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया।

(iii) इसके द्वारा पहली बार अमेरिकी आर्थिक सहायता को एक सहयोगी एवं योजनाबद्ध रूप दिया गया।

मार्शल योजना का प्रत्युत्तर रूस ने सितम्बर, 1947 में 'कोमिनफोर्म' की स्थापना के रूप में दिया।

आर्थिक स्तर पर साम्यवाद के अवरोध की नीति के अनुसार अमेरिका ने जर्मन अर्थ-व्यवस्था को भी पुनर्गठित करने का प्रयास किया। सन् 1948 में पश्चिमी शक्तियों द्वारा जर्मनी के अपने क्षेत्रों में कुछ मुद्रा सम्बन्धी सुधार किए गए, जिनके विरोध में रूस द्वारा बर्लिन की 'कुख्यात नाकेबन्दी' की गई जो अन्ततः असफल सिद्ध हुई। पश्चिमी शक्तियों के मुद्रा-सुधारों और बर्लिन-संकट पर उनकी दृढ़ता ने जर्मन जनता को आश्वस्त किया कि पश्चिमी शक्तियाँ उनके हितों की रक्षा करने के लिए उत्सुक और समर्थ हैं।

चार-सूत्री कार्यक्रम (Four Point Programme)—मार्शल योजना का उद्देश्य केवल यूरोप की आर्थिक अस्त-व्यस्तता को पुनः सुधारना था, लेकिन चीन में साम्यवादियों की महान् विजय से अमेरिकी और अन्य पश्चिमी राजनेता इस बात से चिन्तित हो गए कि विश्व के अल्पविकसित देश साम्यवादी प्रसार के उत्तम क्षेत्र सिद्ध हो सकते हैं। अतः राष्ट्रपति ट्रूमैन ने ऐसे प्रदेशों में साम्यवादी प्रसार के अवरोध के लिए, अमेरिकी विदेश-नीति के 'चार सूत्री कार्यक्रम'(Four Point Programme) की घोषणा करते हुए 20 जनवरी, 1949 को कहा कि—"आगामी वर्षों में शान्ति और स्वतन्त्रता के कार्यक्रम में चार प्रधान बातों पर बल दिया जाएगा—

(i) संयुक्त राष्ट्रसंघ का पूर्ण समर्थन

(ii) विश्व के आर्थिक पुनरुद्धार के कार्य करते रहना,

(iii) आक्रमण के विरुद्ध स्वतन्त्रता-प्रेमी राष्ट्रों को सुदृढ़ बनाना, एवं

(iv) अल्पविकसित देशों के उत्थान के लिए प्राविधिक (Technical) सहायता देना।"

कांग्रेस ने सन् 1950 के अन्तर्राष्ट्रीय विकास अधिनियम (Act for International Development) द्वारा इस कार्यक्रम को स्वीकार कर लिया। रिचर्ड स्टेबिंस (Richard P Stebbins) के शब्दों में, "यह कानून अमेरिकी विदेश-नीति का एक महत्वपूर्ण मील का पत्थर था।" इस योजना द्वारा प्रथम बार तकनीकी सहायता प्रदान करने की आवश्यकता धीरे-धीरे बढ़ने लगी क्योंकि अर्द्ध-विकसित देशों की आवश्यकताएँ बहुत अधिक थीं तथा इसके द्वारा अमेरिका के राष्ट्रीय हितों की साधना होती थी। आलोचकों द्वारा चार-सूत्री कार्यक्रम को शीतयुद्ध का ही अस्त्र माना गया। कहा गया कि यह अर्द्ध-विकसित देशों का समर्थन प्राप्त करने तथा उनमें आवश्यक रणनीति का सामान प्राप्त करने का एक तरीका है।

नाटो : अवरोध की रणनीति (NATO : The Strategy of Containment)—राजनीतिक तथा आर्थिक स्तर के साथ संयुक्तराज्य अमेरिका ने सैनिक स्तर पर भी साम्यवादी प्रसार के अवरोध का प्रयत्न किया। उसने दूसरे देशों के

साथ सैनिक सन्धियों और पारस्परिक प्रतिरक्षा सहायता कार्यक्रम (Mutual Defence Assistance Programme) का तरीका अपनाया जो अमेरिकी विदेश-नीति मे एक नवीन प्रयोग था। सैनिक अवरोध की व्यवस्था को विशेष प्रभावशाली बनाने के लिए अमेरिका द्वारा नाटो का संगठन किया गया और 4 अप्रैल, 1949 को संयुक्तराज्य, कनाडा, इटली, आइसलैण्ड, नार्वे, डेनमार्क और पुर्तगाल के बीच यह प्रथम सैनिक सन्धि सम्पन्न हो गई। यह उत्तरी अटलांटिक सन्धि अनेक तरह से एक 'नया परिवर्तन' (Innovation) थी। यह प्रथम सन्धि थी जिसके प्रति अमेरिका ने स्वय को वचनबद्ध किया। इसी के साथ यूरोपीय देशो की रणशक्ति बढाने के लिए पारस्परिक प्रतिरक्षा कार्यक्रम भी अपनाया गया।

संयुक्तराज्य अमेरिका को तेजी से सैनिक सन्धियो के मार्ग पर अग्रसर करने के लिए उत्तरदायी एक और महत्त्वपूर्ण घटना यह थी कि सोवियत रूस ने सन् 1949 मे ही एटम बम (Atom Bomb) के रहस्यो को खोज निकाला था जिन्हे संयुक्त-राज्य अमेरिका ने सोवियत रूस से सर्वथा गुप्त रखा था। रूस की इस खोज से सयुक्त राज्य अमेरिका के अणुशक्ति पर एकाधिकार (Monopoly) का अन्त हो गया और उसकी सर्वोच्च शक्ति को खतरा पैदा हो गया।

खुले संघर्ष का काल (जून 1950–जुलाई 1953)

साम्यवाद का खतरा ज्यों-ज्यों बढता गया, सयुक्तराज्य अमेरिका महत्त्वपूर्ण सैनिक सन्धियो और प्रतिरक्षा सगठनो की ओर उन्मुख होता गया। जून, 1950 में दक्षिणी कोरिया पर उत्तरी कोरिया का आक्रमण हो जाने से जिसमे सयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत अमेरिकी सेनाओं ने ही लगभग पूर्ण युद्ध लड़ा, अमेरिकी विदेश-नीति में सैनिक शक्ति का महत्त्व द्विगुणित हो गया। श्लीचर (Schleicher) के शब्दों में, "अमेरिकी सैनिक शक्ति के लिए विनियोग तिगुने से भी अधिक हो गया, यूरोप को दिए जाने वाले सहयोग की अपेक्षा सैनिक शक्ति पर जोर दिया जाने लगा तथा मार्शल योजना की मदें 'सुरक्षा समर्थन की मद' बन गई।"

कोरिया युद्ध जून 1950 से जुलाई 1953 तक चालू रहा। यह अवधि शीतयुद्ध के स्थान पर खुले सघर्ष अथवा सक्रिय युद्ध की थी, इसलिए अमेरिकी युद्धोत्तर विदेश-नीति के इतिहास मे यह एक प्रकार का 'खुले सघर्ष का काल' (Period of Open Conflict) रहा। इस अवधि मे अवरोध-नीति के राजनीतिक और आर्थिक पक्ष की अपेक्षा सैनिक पक्ष को विशेष महत्त्व देते हुए 30 अगस्त, 1951 को अमेरिका ने फिलिपाइस के साथ एक प्रतिरक्षा समझौता किया, 1 सितम्बर, 1951 को ऑस्ट्रेलिया एव न्यूजीलैण्ड के साथ एञ्जस समझौता किया और इसी तरह 8 सितम्बर, 1951 को जापान के साथ एक प्रतिरक्षा-सन्धि की।

स्पष्ट है कि अमेरिकी प्रशासन मे सैनिक शक्ति के उपयोग एव सैनिक तथा प्रतिरक्षा समझौतो के महत्त्व की विचारधारा बलवती हुई। इस तरह अमेरिका अपनी विदेश-नीति मे अब आर्थिक और सैनिक दोनों ही तत्त्वों को प्रधानता देने लगा। ये दोनों ही तत्त्व आज भी अमेरिकी विदेश-नीति के प्रधान अग बने हुए हैं।

आइजनहॉवर-युग
(1953–1960)

जनवरी सन् 1953 मे 24 वर्षों मे प्रथम बार एक रिपब्लिकन राष्ट्रपति के रूप में जनरल आइजनहॉवर ने ह्वाइट हाउस में प्रवेश किया। इसके पूर्व ही मार्च 1953 में सोवियत अधिनायक स्टालिन की मृत्यु हो चुकी थी। आइजनहॉवर-काल में सोवियत नेतृत्व मे भी दो परिवर्तन हुए—स्टालिन के तुरन्त बाद मोलेकोव रूस का प्रधानमन्त्री बना और फरवरी सन् 1955 मे उसके पतन के बाद ख्रुश्चेव-युग (1955–1964) प्रारम्भ हुआ।

आइजनहॉवर-काल में अमेरिकी विदेश-नीति के मुख्य बिन्दु

आइजनहॉवर-युग में अमेरिकी विदेश-नीति मे कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुए, केवल कुछ सामयिक परिवर्तन किए गए और ट्रूमैन-सिद्धान्त की भाँति ही मध्यपूर्व के लिए 'आइजनहॉवर-सिद्धान्त' प्रतिपादित किया गया। आइजनहॉवर काल मे अमेरिकी विदेश-नीति का स्वरूप निम्नानुसार रहा—

1 यथासम्भव युद्ध का बहिष्कार किया गया। आइजनहॉवर के समय में ही जुलाई सन् 1953 में कोरिया-युद्ध समाप्त हुआ।

2 दूसरे देशो के साथ सहयोग की नीति अपनाई गई, लेकिन कही दुर्बलता प्रकट नहीं की गई। आइजनहॉवर के समय अमेरिका ने कही भी तुष्टिकरण की नीति (Policy of Appeasement) नही अपनाई।

3 साम्यवाद के प्रसार को सीमित या समाप्त करने के लिए आर्थिक और सैनिक सहायता की नीति जारी रखी गई। मैत्रीपूर्ण सैनिक सन्धियो की नीति भी चालू रही।

4. अमेरिकी सेनाओ का आधुनिकीकरण किया गया, लेकिन विश्व के देशों को यह आश्वासन दिया गया कि अमेरिका अपनी सैन्य-शक्ति का दुरुपयोग नहीं करेगा।

5. विश्व के उत्पादन और लाभपूर्ण व्यापार को प्रोत्साहन देने की नीति अपनाई गई।

6 यूरोपीय एकता को प्रोत्साहन दिया गया और पश्चिमी गोलार्द्ध के देशो के साथ अधिकाधिक सहयोग की नीति का अनुसरण किया गया।

7. संयुक्त-राष्ट्रसंघ का समर्थन करते रहने और इसका साम्यवाद के विरुद्ध एक साधन के रूप में प्रयोग मे लाने की नीति अपनाई गई।

आइजनहॉवर युग की विदेश-नीति की मुख्य घटनाएँ

साम्यवाद के साथ शक्ति-परीक्षण, कोरिया-युद्ध की समाप्ति—सन् 1949 मे सोवियत संघ द्वारा अणुबम के रहस्य को खोज निकालने और अमेरिका के आणविक एकाधिकार को समाप्त करने के बाद से ही संयुक्तराज्य अमेरिका मे विशेष चिन्ता व्याप्त हो गई थी। इसीलिए यह निश्चय किया गया था कि इसके पहले कि सोवियत संघ अधिक शक्तिशाली हो जाए, उसको युद्ध मे फँसाकर कमजोर बना दिया

जाए तथा उसकी सामरिक शक्ति का विनाश कर दिया जाए। यह 'प्रतिकारात्मक युद्ध' (Preventive War) की भावना थी। जून सन् 1950 मे छिड़ने वाला कोरियाई युद्ध इसी नीति का परिणाम था। लेकिन जब युद्ध मे अमेरिका की प्रतिष्ठा तक पर आँच आने लगी तो अमेरिका का जनमत विक्षुब्ध हो गया। आइजनहॉवर ने राष्ट्रपति-पद के चुनावों मे जनता को वचन दिया कि वह कोरियाई युद्ध को समाप्त कर देंगे। राष्ट्रपति बनते ही आइजनहॉवर ने एक ओर तो पूरी शक्ति के साथ युद्ध करने की ओर दूसरी ओर समझौते के द्वार खुले रखने की नीति अपनाई। जुलाई, 1953 मे कोरिया मे युद्ध-विराम हो गया, लेकिन यह भी स्पष्ट हो गया कि साम्यवादी-विश्व से खुली टक्कर में निर्णायक विजय प्राप्त करना अमेरिका के लिए असम्भव है।

पश्चिमी यूरोप के एकीकरण, अणुशक्ति पर नियन्त्रण आदि के प्रयत्न— मई सन् 1953 मे फ्रास, ब्रिटेन, रूस और अमेरिका का शिखर-सम्मेलन हुआ। पश्चिमी-यूरोप को एकीकृत करने के प्रयत्न किए गए। सन् 1954 मे इतने अधिक सम्मेलन हुए कि विदेश-सचिव जान फोस्टर डलेस को यात्री राज्य-सचिव की सज्ञा दी जाने लगी। पश्चिमी यूरोप को एकीकृत करने के प्रयत्नों के फलस्वरूप इसी वर्ष पश्चिमी यूरोपीय सघ (Western European Union) की स्थापना की गई और जर्मनी को नाटो का सदस्य बना लिया गया। सोवियत सघ द्वारा सन् 1953 मे हाइड्रोजन बम का परीक्षण कर लेने के बाद दिसम्बर सन् 1953 मे आइजनहॉवर ने संयुक्त राष्ट्रसघ की महासभा मे अणु-शक्ति पर नियन्त्रण और उसका शान्ति के प्रयोग का प्रस्ताव रखा।

साम्यवाद के अवरोध के लिए सीटो तथा बगदाद-पैक्ट की स्थापना— सन् 1954 मे साम्यवादी चीन की सहायता से साम्यवादी छापामारो द्वारा हिन्द चीन मे गम्भीर स्थिति उत्पन्न कर दी गई। फलस्वरूप जुलाई मे हिन्द चीन, फ्रास, साम्यवादी चीन, रूस और ब्रिटेन के प्रतिनिधियो ने जेनेवा सम्मेलन मे हिन्द चीन को विभाजित करने का निर्णय किया। इसके उत्तरी भाग मे वियतमिन्ह (बाद मे उत्तर वियतनाम) का साम्यवादी राज्य स्थापित किया गया और दक्षिणी भाग को लाओस, कम्बोडिया और दक्षिण वियतनाम के तीन गैर-साम्यवादी राज्यो मे विभाजित कर दिया गया। इस घटना-चक्र ने संयुक्तराज्य अमेरिका को साम्यवादी चीनी प्रसार को अवरुद्ध करने के लिए दृढ सकल्प बना दिया। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उसने सितम्बर सन् 1954 में थाईलैण्ड फिलिपाइस पाकिस्तान, ब्रिटेन, फ्रास, ऑस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड के साथ 'दक्षिण-पूर्वी एशिया सामूहिक सुरक्षा सन्धि' पर हस्ताक्षर कर सीटो (SEATO) की स्थापना की।

इसी प्रकार पश्चिमी एशिया के देशो की साम्यवाद मे रक्षा के लिए सन् 1955 में बगदाद समझौते (Bagdad Pact) का सूत्रपात हुआ। इस सैनिक सन्धि में अमेरिका सहित ब्रिटेन, टर्की, ईरान, पाकिस्तान आदि सम्मिलित हुए।

मध्य-पूर्व और आइजनहॉवर सिद्धान्त— पश्चिमी एशिया अथवा मध्य-पूर्व मे

बगदाद-पैक्ट की स्थापना साम्यवाद के विरुद्ध विशेष प्रभावकारी सिद्ध नहीं हुई, पर शीघ्र ही अमेरिका को इस दिशा मे अग्रसर होने का एक और सुअवसर मिल गया। जब सन् 1956 में स्वेज-नहर के प्रश्न पर ब्रिटेन, फ्रांस और इजरायल ने मिलकर मिस्र पर आक्रमण किया तो अमेरिका ने उन्हें स्पष्ट परामर्श दिया कि वे अपना मिस्र पर आक्रमण समाप्त कर दें। उधर रूस ने भी चेतावनी दी। परिस्थितियों से बाध्य होकर आक्रमणकारियों को स्वेज से हटाना पड़ा और मध्यपूर्व मे अमेरिका के लिए सहानुभूति बढ गई। इस समय स्थिति यह थी कि ब्रिटेन और फ्रांस के हट जाने से मध्य-पूर्व में 'शक्ति शून्यता' पैदा हो गई थी और भय था कि रूस अपना प्रभाव स्थापित कर लेगा। अत अमेरिका ने इस 'शक्ति-शून्यता' को भरना चाहा और इस क्षेत्र में साम्यवादियों का प्रसार रोकने के लिए 'आइजनहॉवर-सिद्धान्त' (Eisenhover Doctrine) प्रतिपादित किया गया। इस सिद्धान्त की घोषणा 5 जनवरी, 1957 को राष्ट्रपति आइजनहॉवर द्वारा काँग्रेस को भेजे गए एक सन्देह में की गई। इस घोषणा के आधार पर बने कानून पर राष्ट्रपति ने 9 मार्च, 1958 को हस्ताक्षर कर दिए। इस कानून द्वारा अमेरिकी राष्ट्रपति को मध्यपूर्व के किसी भी देश में साम्यवादी आक्रमण को रोकने के लिए अपने विवेक से फौज भेजने और सैनिक कार्यवाही करने का व्यापक अधिकार मिल गया। काँग्रेस ने आइजनहॉवर सिद्धान्त के अन्तर्गत अमेरिकी सहायता के इच्छुक मध्यपूर्वी देशों की सहायता के लिए 200 मिलियन डॉलर की विशाल धनराशि स्वीकृत की।

आइजनहॉवर-सिद्धान्त के प्रति मिश्रित प्रतिक्रियाएँ हुई। जोर्डन, लेबनान, ईराक, ईरान, सऊदी अरब, पाकिस्तान आदि ने इसका स्वागत किया जबकि मिस्र, सीरिया आदि ने इसे एक साम्राज्यवादी चाल बतलाया। उन्होंने आरोप लगाया कि अमेरिका अरब राष्ट्रवाद को कुचलने और इजरायल को अरबों पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहता है। सोवियत संघ ने इसे विदेशी हस्तक्षेप और संकट की संज्ञा दी। वास्तव मे आइजनहॉवर सिद्धान्त ट्रूमैन सिद्धान्त का ही एक विकसित रूप था जिसमें सहायता का क्षेत्र आर्थिक और सैनिक दोनों प्रकार का था। ट्रूमैन सिद्धान्त की भाँति यह भी अमेरिका के 'नवीन साम्राज्यवाद' का सूत्र था।

आइजनहॉवर-सिद्धान्त की घोषणा के बाद शीघ्र ही अमेरिका के सामने ऐसे अवसर उपस्थित हुए जब उसे इस सिद्धान्त के प्रयोग का अवसर प्राप्त हुआ। लेबनान और जोर्डन में इस सिद्धान्त का प्रयोग हुआ, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह अधिक सफल नहीं हो सका। सर्वप्रथम सन् 1958 में लेबनान के राष्ट्रपति ने अपने विरुद्ध विद्रोह के दमन के लिए अमेरिका से सैनिक सहायता की माँग की। सुरक्षा-परिषद् मे शिकायत की गई कि सीरिया और मिस्र विद्रोहियों की सहायता कर रहे हैं। जुलाई में अमेरिकी सेनाएँ लेबनान मे उतर गई। अगस्त 1948 में संयुक्तराष्ट्र-महासभा के एक प्रस्ताव द्वारा माँग की गई कि अमेरिका लेबनान मे अपनी सेनाएँ वापस बुला ले, लेकिन अमेरिका ने ऐसा करने से साफ इकार कर दिया। लेबनान मे गृह-युद्ध जारी रहा और विद्रोही नए राष्ट्रपति का निर्वाचन कराने में सफल हुए। नई

सरकार की मांग पर अमेरिका को 26 अक्तूबर, 1958 को लेबनान खाली कर देना पड़ा। जुलाई, 1958 में ईराकी क्रान्ति से जोर्डन के शाह को आशंका हुई कि कहीं जोर्डन में भी सैनिक विद्रोह न हो जाए, अतः ब्रिटेन और अमेरिका से सैनिक सहायता मांगी गई। ब्रिटेन ने अपनी सेनाएँ जोर्डन भेजी तो अमेरिका ने शाह हुसैन को 75 लाख डॉलर की नई आर्थिक सहायता प्रदान की। पर दोनों ही कार्यवाहियाँ अप्रभावी रही क्योंकि संयुक्तराष्ट्र महासभा के अगस्त 1958 के प्रस्ताव के अनुसार ब्रिटेन को अपनी सेनाएँ जोर्डन से वापस बुलानी पड़ी। ब्रिटिश सहायता से 'आइजनहॉवर सिद्धान्त' का जो सैनिक प्रयोग जोर्डन में किया गया वह निष्फल रहा।

वास्तव में 'आइजनहॉवर सिद्धान्त' को मध्यपूर्व में साम्यवादी प्रभाव को रोकने में सफलता नहीं मिली, इसके विपरीत लेबनान और जोर्डन में सैनिक हस्तक्षेप के फलस्वरूप मास्को के प्रभाव-क्षेत्र मे वृद्धि हुई। 'आइजनहॉवर सिद्धान्त' से संयुक्त राष्ट्रसंघ की प्रतिष्ठा को भी आघात पहुँचा। यह सिद्धान्त विश्व-संस्था को निर्बल बनाने वाला सिद्ध हुआ। यह क्षोभ की बात थी कि राष्ट्रपति आइजनहॉवर ने मध्यपूर्व में नवीन राष्ट्रीयता के जागरण की उपेक्षा की। इजराइल के विरुद्ध अरबों के तीव्र विरोध ने भी इसकी सफलता के मार्ग में बाधा उपस्थित की। व्यावहारिक दृष्टि से आइजनहॉवर सिद्धान्त को मामूली सफलता प्राप्त हो सकी।

शीतयुद्ध में शिथिलता (1959–60)—आइजनहॉवर सिद्धान्त के कारण शीतयुद्ध तीव्र हो गया, लेकिन सितम्बर, 1959 में जब अमेरिकी राष्ट्रपति के निमन्त्रण पर सोवियत प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव ने अमेरिका की राजकीय यात्रा की, तो वातावरण में सुधार हुआ। दोनों नेताओं ने यह निर्णय लिया कि पारस्परिक मतभेदों के प्रश्नों पर वार्ता के लिए अमेरिका, रूस, ब्रिटेन और फ्रांस का एक शिखर सम्मेलन आयोजित किया जाए। अमेरिकी राष्ट्रपति ने सन् 1960 के बसन्त-काल में रूस की यात्रा का निमन्त्रण भी स्वीकार किया।

शिखर सम्मेलन की सफलता—काफी विचार-विमर्श के बाद 16 मई, 1960 को प्रस्तावित शिखर-सम्मेलन होना निश्चय हुआ। दुर्भाग्यवश सम्मेलन के पूर्व ही मुख्य रूप से दो अपशकुन हो गए—

(i) जर्मनी से सम्बन्धित विवाद, एवं (ii) यू-2 विमान काण्ड।

(i) पहला अपशकुन जर्मनी के सम्बन्ध में हुआ। 14 जनवरी, 1960 को पश्चिमी जर्मनी के चान्सलर एडेनोर ने आरोप लगाया कि रूसी बर्लिन पर हमला कर रहे हैं तथा शिखर-सम्मेलन का मुख्य विषय जर्मनी के स्थान पर निःशस्त्रीकरण का प्रश्न होना चाहिए। ख्रुश्चेव ने धमकी दी कि "यदि पूर्व और पश्चिम की वार्ता से बर्लिन की स्थिति में कोई परिवर्तन न हुआ तो वह पूर्वी जर्मनी से पृथक् सन्धि कर लेगा और पोलैण्ड तथा चेकोस्लोवाकिया के साथ उसकी सीमा का निर्धारण कर देगा।"

फरवरी, 1960 में रूस ने बर्लिन में एक नया संकट पैदा कर दिया। पूर्वी जर्मनी में विद्यमान पश्चिमी देशों के सैनिक मिशनों को दिए जाने वाले वीसा पूर्वी

जर्मन सरकार के नाम से जारी कर दिए गए जबकि अब तक ये पूर्वी जर्मनी के सोवियत अधिकारियों द्वारा जारी किए जाते थे। इस नई व्यवस्था का उद्देश्य यह था कि रूस इस प्रकार पश्चिमी देशों से पूर्वी जर्मनी की सरकार को 'वास्तविक मान्यता' (Defacto Recognition) दिलवाना चाहता था। अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस के दृढ़ विरोध के पश्चात् अन्त में 14 मार्च, 1960 को सोवियत रूस इस बात पर सहमत हो गया कि पश्चिमी देशों के सैनिक अधिकारियों को पूर्वी जर्मनी की यात्रा के लिए जो वीसा दिए जाएँगे उन पर सोवियत अधिकार-क्षेत्र (Zone of Soviet Occupation) अंकित रहेगा।

इसके बाद फिर तनाव पैदा हुआ। 16 मार्च को पश्चिमी जर्मन-चान्सलर ने घोषणा की कि 16 मई को शिखर सम्मेलन होने से पहले ही पश्चिमी बर्लिन में इस बात पर जनमत संग्रह लिया जाए कि लोग बर्लिन में यथा स्थिति बनाए रखने के पक्ष में हैं अथवा नहीं। इसके विरोध में दूसरे पक्ष की ओर से कहा गया कि इस प्रकार का जनमत संग्रह बर्लिन के दोनों भागों में होना चाहिए।

स्पष्ट ही ऐसे वातावरण में दोनों पक्षों में एक दूसरे के प्रति सन्देह पूर्वापेक्षा अधिक बढ़ गया जिसका कुप्रभाव शिखर-सम्मेलन पर पड़ा।

(ii) शिखर-सम्मेलन के मार्ग में दूसरा सबसे बड़ा अपशकुन यू-2 विमान-काण्ड हुआ। 5 मई, 1960 को सोवियत प्रधानमन्त्री ने रोषपूर्ण शब्दों में घोषणा की कि रूस के हवाई अड्डों की जासूसी करते हुए एक यू-2 अमेरिकी विमान को 1 मई, 1960 को रॉकेट द्वारा नीचे गिरा दिया गया है। रूस ने अमेरिका पर कटु-प्रहार किए और बाद में राष्ट्रपति आइजनहॉवर की इस घोषणा ने आग में घी का काम किया कि "अमेरिका की जासूसी उड़ानें न्याय-संगत हैं और पर्लहार्बर पुनरावृत्ति रोकने के लिए उड़ानें आवश्यक हैं।" सोवियत रूस ने आइजनहॉवर के इस चुनौती भरे शब्दों को अपना राष्ट्रीय अपमान समझा।

यू-2 विमान काण्ड से दोनों महाशक्तियों के बीच तनाव चरम सीमा पर पहुँच गया और शिखर सम्मेलन की सफलता की आशा धूमिल हो गई, लेकिन ख्रुश्चेव की इन घोषणाओं में फिर भी आशा बनी रही कि "अन्तर्राष्ट्रीय दबाव कम करने के प्रयत्नों में शिथिलता नहीं आने देनी चाहिए और शिखर सम्मेलन में यू-2 का विषय नहीं उठाया जाएगा।"

लेकिन जब 16 मई को शिखर सम्मेलन प्रारम्भ हुआ तो सोवियत प्रधानमन्त्री ने अचानक ही यू-2 काण्ड के लिए अमेरिका की निन्दा करते हुए निम्नलिखित माँगें पेश करदीं—

(क) अमेरिका को अपने उत्तेजनात्मक कार्य की निन्दा करनी चाहिए, इसके लिए क्षमा माँगनी चाहिए, इस कार्य को बन्द करना चाहिए, और इस काण्ड के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों को दण्डित करना चाहिए।

(ख) यदि ऐसा नहीं किया जाता तो रूस की दृष्टि में शिखर सम्मेलन में अमेरिका के साथ बातचीत करना व्यर्थ है और वह इसमें भाग नहीं ले सकता।

ख्रुश्चेव ने यह भी कहा कि सम्मेलन को 6 या 8 महीने के लिए स्थगित कर दिया जाए ताकि अमेरिकी राष्ट्रपति के चुनावों के बाद जनवरी, 1961 में यह आयोजित हो सके। आइजनहॉवर द्वारा जासूसी उड़ानों को भविष्य में स्थगित कर देने के आश्वासनों के बावजूद ख्रुश्चेव अपनी माँग पर अड़े रहे। 17 मई को सम्मेलन आरम्भ होने पर ख्रुश्चेव जब नहीं आए तो यह घोषणा करदी गई कि "ख्रुश्चेव द्वारा अपनाए गए रुख के कारण शिखर सम्मेलन आरम्भ करना सम्भव नहीं है।"

कैनेडी-युग (1960-1963)

नवम्बर 1960 में सीनेटर जॉन एफ. कैनेडी अमेरिका के राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। कैनेडी एक विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे। एक इतिहासकार के शब्दों में, "कैनेडी में लिंकन का राजनीतिक बोध, थियोडोर रूजवेल्ट का चुम्बकीय आकर्षण और चमत्कारी तेज, ऐंड्रयू जैक्सन का ठण्डा रोष, विल्सन का पैना विवेक तथा वाक्पटुता और फ्रैंकलिन रूजवेल्ट का नीति-कौशल सब एक ही साथ विद्यमान थे।" कई दिशाओं में कैनेडी इनसे भी बढ़कर थे। व्यापक ज्ञान, विचारों की सुस्पष्टता, गहरी पैठ, आदर्शवाद और क्रियावाद का सुन्दर सन्तुलन उनकी अपनी ही विशेषताएँ थीं। उनके संकल्पों की दृढ़ता और उनकी कार्य-पद्धति लोगों को चकित कर देती थी। उनकी वाणी में ओज, उनके विचारों में साहस, उद्देश्यों में बल और भाषणों में आकर्षण था। राष्ट्रपति पद पर कैनेडी की विजय डेमोक्रेटिक दल की विजय थी।

कैनेडी-युग में अमेरिकी विदेश-नीति को नया मोड़

कैनेडी ने कुछ दृष्टियों से अमेरिका की विदेश-नीति को नया मोड़ दिया, नई गति दी। विदेश-नीति के पुराने तत्त्व भी कैनेडी-युग में अधिक प्राणवान बन गए। मूल सिद्धान्तों में परिवर्तन चाहे न हुए हों, किन्तु कैनेडी के समय वे इतने सजीव बन गए कि ऐसा लगने लगा मानो विदेश-नीति में एक नई जान आ गई हो। कैनेडी-युग की अमेरिकी विदेश नीति के मुख्य बिन्दु ये थे—

1. समझौतों और वार्ताओं द्वारा पूर्व और पश्चिम के मतभेदों को कम किया जाए पर साथ ही साम्यवादी खतरे के विरुद्ध साहस और दृढ़ता की नीति अपनाई जाए।

2. विश्व में साम्यवाद के अतिरिक्त गरीबी और अन्य तानाशाहियाँ भी शत्रु हैं। विश्व की परेशानियों का कारण केवल साम्यवाद ही नहीं है और अमेरिका को साम्यवाद का मुकाबला करने के साथ-साथ विश्व के आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों की ओर भी ध्यान देना चाहिए।

3. विश्व में डॉलर का मूल्य सुरक्षित रखा जाए तथा इसकी साख में कमी न होने दी जाए।

4. ऐसे प्रयत्न बराबर किए जाएँ कि महाशक्तियाँ एक दूसरे के निकट आएँ तथा एक दूसरे को समझें। महाशक्तियाँ अपने पारस्परिक सम्बन्धों को अधिक समय तक ढीला और कटु नहीं रख सकतीं।

5. दोनों गुटों के बीच अस्पष्टता और गलत-फहमी के कारण अनेक संकट पैदा हो जाते हैं किन्तु विचारों के स्पष्ट आदान-प्रदान द्वारा इन्हें मिटाया जा जा सकता है।

6. साम्यवाद को सीमित करने के लिए पूरे विश्व को यहाँ तक कि लौह-दीवार के अन्दर के प्रदेशों को भी राजनीतिक एवं आर्थिक गतिविधियों का क्षेत्र बनाया जाए।

7. पूर्ण दृढ़ता और साहस की नीति का अनुसरण करते हुए तथा साम्यवादी छल-प्रपंच के प्रति सचेत रहते हुए यथा-साध्य सह्अस्तित्व की प्रणाली पर बल दिया जाए।

कैनेडी-युग में विदेश-नीति सम्बन्धी मुख्य घटनाएँ

कैनेडी शासन-काल में अमेरिकी विदेश-नीति का विश्लेषण निम्नलिखित सन्दर्भों में किया जाना उपयुक्त होगा—

मानव-अधिकार और कैनेडी—कैनेडी ने मानव-अधिकारों के प्रति दृढ़ निष्ठा व्यक्त की और इसे अमेरिकी विदेश-नीति की प्रेरक शक्ति बताया। 20 सितम्बर, 1963 को उन्होंने नागरिक अधिकारों के प्रश्न पर संयुक्त राष्ट्रसंघ में विचार-विमर्श किया और आशा प्रकट की कि अमेरिका सहित विश्व के सभी राष्ट्र वर्ण-भेद, जाति-भेद आदि को मिटाकर सभी व्यक्तियों को कानून के समक्ष समान सुरक्षा प्रदान करेंगे।

शान्ति और सह-अस्तित्व में विश्वास—10 जून, 1963 को अपने भाषण में कैनेडी ने विश्व-शान्ति को सबसे महत्वपूर्ण विषय बतलाते हुए घोषणा की कि यह शान्ति विश्व पर अमेरिकी शस्त्रास्त्रों से थोपी हुई अमेरिकी शान्ति नहीं होगी बल्कि यह ऐसी शान्ति होगी जिससे पृथ्वी पर जीवन जीने योग्य बने और राष्ट्रों तथा व्यक्तियों को विकास का अवसर उपलब्ध हो। कैनेडी ने शान्ति और निःशस्त्रीकरण के प्रति रूसी दृष्टिकोण की भर्त्सना नहीं की, बल्कि शान्ति की दिशा में रूस के सम्भावित प्रभावों को उभारा। कैनेडी में सहअस्तित्व की हार्दिक और उत्कट भावना थी।

पुराने मित्रों के प्रति वफादारी—रूसी-साम्यवादी व्यवस्था के प्रति सहअस्तित्व का नारा बुलन्द करने के साथ ही कैनेडी ने 'वफादार मित्रों के प्रति निष्ठा' रखने का भी वचन दिया और उसे निभाया भी। उन्होंने नाटो (NATO) का आर्थिक और राजनीतिक आधार मजबूत करने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाए तथा जर्मनी के प्रश्न पर झुकने से इंकार कर दिया। जून, 1961 में जब ख्रुश्चेव ने पूर्वी जर्मनी के साथ एक पृथक् सन्धि पर हस्ताक्षर करने की धमकी दी और कहा कि इससे अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस के लिए पश्चिमी बर्लिन में जाने के अधिकार समाप्त हो जाएँगे, तो कैनेडी ने सोवियत धमकी का जवाब विवेकपूर्ण अस्वीकृति में दिया। उनके नेतृत्व में पश्चिमी शक्तियों ने रूस को स्पष्ट शब्दों में बता दिया कि रूस की एकपक्षीय कार्यवाही उन्हें किसी भी अवस्था में मान्य नहीं होगी। अमेरिका और

उसके मित्रराष्ट्रो की इस दृढ़ता का परिणाम यह हुआ कि रूस ने अपनी धमकी को कार्यान्वित नही किया ।

क्यूबा संकट और कैनेडी—राष्ट्रपति कैनेडी के कार्यकाल मे क्यूबा के संकट ने केवल अमेरिकी राष्ट्र को ही नही बल्कि सारे विश्व को हिला दिया । इस घटना मे कैनेडी की विदेश-नीति की दृढ़ता स्पष्ट रूप से उजागर हुई । क्यूबा लम्बे समय तक अमेरिका का समर्थक था, लेकिन जून, 1959 मे फिडेल कास्ट्रो के नेतृत्व में हुई एक क्रान्ति के बाद वह रूस-समर्थक बन गया । 3 सितम्बर, 1962 को इस रूसी घोषणा ने भावी सकट का संकेत दिया कि वह क्यूबा को साम्राज्यवादियों से रक्षा के लिए शस्त्रास्त्रो की पूर्ण सहायता देगा । उधर राष्ट्रपति कैनेडी ने कहा कि रूस ने क्यूबा को प्रक्षेपणास्त्रो, पनडुब्बियो तथा रॉकेट आदि से सज्जित किया है जिनसे अमेरिका की सुरक्षा को भारी खतरा पैदा हो गया है । 7 सितम्बर को अमेरिकी कांग्रेस ने राष्ट्रपति को डेढ़ लाख रिजर्व सैनिको को आवश्यकता पडने पर सैनिक सेवा के लिए बुला लेने का अधिकार दिया । 16 सितम्बर, 1962 को कैनेडी ने क्यूबा की हवाई जाँच-पडताल के आदेश दिए जिनसे पुष्टि हो गई कि वहाँ प्रक्षेपणास्त्रो का भारी संग्रह हो रहा है। 22 अक्तूबर को कैनेडी ने अपने चेतावनी-पूर्ण भाषण मे स्पष्ट कर दिया कि अमेरिका की विदेश-नीति मे सुरक्षा का तत्त्व कितना प्रबल है और मैत्री तथा सहयोग का आकांक्षी अमेरिका किस हद तक सैनिक कार्यवाही का आश्रय ले सकता है । 23 अक्तूबर को कैनेडी ने क्यूबा की नाकेबन्दी की घोषणा कर दी । यह आदेश रूस को स्पष्ट चेतावनी थी कि उसके शस्त्रास्त्रो से सज्जित जहाज क्यूबा नही पहुँच सकते, अन्यथा युद्ध होगा ।

इस घोर सकट के समय सोवियत प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव ने भी बडी दूरदर्शिता से काम लिया । 23 अक्तूबर को ही ख्रुश्चेव द्वारा घोषणा की गई कि रूस क्यूबा से अपने प्रक्षेपणास्त्र वापस मँगाने की आज्ञा दे रहा है और वह उस द्वीप पर स्थित सभी प्रक्षेपणास्त्र अड्डो को सयुक्त राष्ट्रसघ की देखरेख मे समाप्त करने को सहमत है । सोवियत प्रधानमन्त्री ने यह भी कहा कि रूस भविष्य मे इस प्रकार की सामग्री क्यूबा न भेजने का भी आश्वासन देता है । राष्ट्रपति कैनेडी ने ख्रुश्चेव की घोषणा का तुरन्त उत्तर दिया—"यह एक सच्चे नेता सरीखा निर्णय है ।"

कैनेडी की दृढ़ता और तत्परता तथा ख्रुश्चेव के विवेक और संयम के फलस्वरूप क्यूबा सकट से उदीयमान अणुयुद्ध की आशंका टल गई । क्यूबा के अन्तर्राष्ट्रीय सकट के बहुत व्यापक परिणाम हुए—(1) रूस-चीन के सैद्धान्तिक मतभेद बढ़ गए। चीन ने आरोप लगाया कि रूस अमेरिका से डर कर पीछे हटा है (2) क्यूबा-सकट ने भारत पर चीन के आक्रमण को प्रेरित किया । चीन ने सोचा कि अमेरिका और रूस सघर्ष मे उलझेंगे, भारत को पश्चिम से सहायता नही मिल सकेगी और चीन भारत के बडे भू-भाग पर कब्जा कर लेगा, (3) क्यूबा-संकट के निवारण के फलस्वरूप पश्चिम से भारत को तेजी से सहायता मिली तथा गुट निरपेक्षता और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति को बल मिला ।

अणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि, 1963—कैनेडी और ख्रुश्चेव के विवेक से दोनों देशों का विरोध कम हुआ और सन् 1963 में अणु-परीक्षण-प्रतिबन्ध-सन्धि ने मास्को तथा वाशिंगटन के बीच सौहार्द्रपूर्ण वातावरण की सृष्टि की। कैनेडी ने निःशस्त्रीकरण के लिए भरसक प्रयास किए। इस सम्बन्ध में अमेरिका की ओर से निम्नलिखित प्रस्ताव प्रस्तुत किए गए—(1) सभी राष्ट्र परीक्षणों पर प्रतिबन्ध की सन्धि पर हस्ताक्षर करें। प्रतिबन्ध लगाने की वार्ता शुरू करने के लिए आम निःशस्त्रीकरण होने की प्रतीक्षा करना आवश्यक नहीं है और न करनी चाहिए, (2) अस्त्रास्त्रों में प्रयुक्त होने वाले विस्फोटक पदार्थों का उत्पादन बन्द किया जाए और इस समय जिन राष्ट्रों के पास परमाणु अस्त्र नहीं हैं, उन्हें इन विस्फोटक पदार्थों को हस्तान्तरण न किया जाए, (3) उन राष्ट्रों को परमाणु-अस्त्रों पर नियन्त्रण हस्तान्तरित करने से रोका जाए जिनके पास परमाणु अस्त्र नहीं हों, (4) परमाणु-अस्त्रों को अन्तरिक्ष में नए युद्ध-क्षेत्रों के बीज बोने से रोका जाए, (5) इस समय तक जो परमाणु-अस्त्र बन चुके हैं उन्हें धीरे-धीरे नष्ट कर दिया जाए और उनमें लगी सामग्री को शान्तिपूर्ण कार्यों में प्रयुक्त किया जाए, (6) परमाणु-अस्त्रों को ले जाने वाले सामरिक महत्त्व के वाहनों के उत्पादन और असीमित परीक्षण पर रोक लगायी जाए व धीरे-धीरे उन्हें भी नष्ट कर दिया जाए।

काफी प्रयत्न के बाद अन्त में 25 जुलाई, 1963 को अमेरिका, ब्रिटेन और रूस के बीच एक परमाणु-परीक्षण प्रतिबन्ध-सन्धि पर हस्ताक्षर हो गए जिस पर बाद में फ्रांस और चीन को छोड़कर, विश्व के लगभग सभी राष्ट्रों ने भी हस्ताक्षर कर दिए। सन्धि से कुछ ही दिवस पूर्व 15 अप्रैल, 1963 को अमेरिका और रूस के बीच सीधा टेलीफोन और रेडियो सम्पर्क स्थापित करने का समझौता (U. S Soviet Hot Line Agreement) हुआ जिसका उद्देश्य क्यूबा जैसे संकटों के समय दोनों देशों में सीधा सम्पर्क स्थापित कर गलती या आकस्मिक घटना से छिड़ने वाले युद्ध के संकट का निवारण करना था।

लेटिन अमेरिका और कैनेडी—कैनेडी ने लेटिन अमेरिका के प्रति उदार और मैत्रीपूर्ण नीति अपनायी। कैनेडी से पहले 'अमेरिकी राज्यों के संगठन' (O.A.S.) द्वारा सैनिक तथा कूटनीतिक सहयोग पर अधिक बल दिया जाता था पर कैनेडी ने आर्थिक सहयोग पर अधिक बल देना शुरू किया। मार्च, 1961 में उन्होंने अमेरिकी गणराज्यों के राजनयिक प्रतिनिधियों के समक्ष 'प्रगति के लिए मैत्री' (Alliance for Progress) का प्रस्ताव रखा जिसके अनुसार अन्य स्वतन्त्र देशों, विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं और व्यक्तिगत पूँजीपतियों से मिलकर संयुक्तराज्य अमेरिका ने लेटिन अमेरिका के आर्थिक विकास एवं जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए 20 हजार मिलियन डॉलर की सहायता तथा ऋण देने की पेशकश की। अपने उद्घाटन भाषण में राष्ट्रपति कैनेडी ने पश्चिमी गोलार्द्ध के राष्ट्रों के प्रति एक विशेष प्रतिज्ञा ली कि "वे संयुक्तराज्य अमेरिका के अच्छे शब्दों को 'प्रगति के लिए मैत्री' के रूप में अच्छे कामों में परिणत करेंगे जिससे स्वतन्त्र लोगों तथा स्वतन्त्र सरकारों को निर्धनता की जंजीरें तोड़ फेंकने में सहायता दी जा सके।"

कैनेडी ने दक्षिणी अमेरिका के देशो के प्रति सहायता की नीति अपनायी जिसका अच्छा परिणाम निकला। दक्षिणी अमेरिका के देश अल्पकाल मे ही आर्थिक और सामाजिक विकास के पथ पर अग्रसर होने लगे।

भारत-पाकिस्तान तथा कैनेडी—कैनेडी ने भारत के प्रति सहानुभूति और सदाशयता की नीति अपनायी, यद्यपि 'दबाव डालने और अमेरिका के पक्ष मे लाने' की नीति का परित्याग नही किया गया। भारत-भूमि पर उपनिवेशवाद के अन्तिम चिह्न पुर्तगाली बस्तियो को जब भारत द्वारा मुक्त कराया गया तो अमेरिका प्रशासन की वही उपनिवेशवादी प्रतिक्रिया हुई। न केवल सुरक्षा परिषद् मे भारत के विरुद्ध निन्दा का प्रस्ताव लाया गया वरन् अमेरिकी प्रशासन ने भारत की आर्थिक सहायता भी रोक दी। भारत के विरुद्ध कश्मीर के प्रश्न का उपयोग करने का भी प्रयत्न किया गया। जब विश्व बैंक के अध्यक्ष यूजीन ब्लैक द्वारा मध्यस्थता के सुझाव को भारत ने स्वीकार नही किया तो कैनेडी ने थोडे दिनो के लिए भारत की आर्थिक सहायता स्थगित कर अपना रोष प्रकट किया। इस प्रकार मौलिक रूप से कैनेडी प्रशासन भी भारत को अमेरिकी विदेश-नीति का दास बनाने की नीति पर चलता रहा। फिर भी कैनेडी का रुख भूतपूर्व अमेरिकी राष्ट्रपतियो की तुलना मे भारत के प्रति अधिक उदार रहा। सन् 1962 मे चीनी आक्रमण के समय बिना शर्त भारत को अविलम्ब सैनिक सहायता भेजकर कैनेडी ने भारत मे अमेरिकी विरोधी भावना को बहुत कुछ शान्त कर दिया।

कैनेडी और वियतनाम—कैनेडी को दक्षिण वियतनाम के विरुद्ध वियतकाँग की सफलता सहन नही हुई और उन्होंने दक्षिण वियतनामी सरकार की सहायता करने का निश्चय किया। सन् 1961 मे दक्षिण वियतनाम मे केवल 700 के लगभग अमेरिकी सैनिक थे जिन्हे सन् 1963 मे बढाकर 16 500 कर दिया गया। धन और अस्त्र-शस्त्रों से भी दक्षिण वियतनाम की दियम सरकार की सहायता की गई। कैनेडी की विदेश-नीति मे यह नया मोड था और शीघ्र ही वह समय आ गया जब दक्षिण वियतनाम का युद्ध वास्तव मे अमेरिका का युद्ध बन गया।

जॉनसन युग
(1964–1968)

22 नवम्बर, 1963 को राष्ट्रपति कैनेडी की हत्या के बाद तत्कालीन उपराष्ट्रपति लिंडन बी जॉनसन ने संयुक्तराज्य अमेरिका के राष्ट्रपति का पद सँभाला और बाद मे सन् 1964 के निर्वाचन मे विजय प्राप्त कर पुन: राष्ट्रपति पद पर आसीन हुए। राष्ट्रपति पद-ग्रहण करने के तुरन्त बाद जॉनसन ने घोषणा की कि विदेश-नीति के क्षेत्र मे वे दिवगत राष्ट्रपति कैनेडी की नीति का अनुसरण करेगे और अमेरिकी विदेश-नीति मे कोई मौलिक परिवर्तन नहीं किया जाएगा।

जॉनसन की घोषणा प्रारम्भ मे तो बहुत-कुछ यथार्थ-सी प्रतीत हुई थी, किन्तु बाद मे इसकी यथार्थता क्रमश: कम होती गई। जॉनसन ने एक ओर तो शीत-युद्ध

विस्तार रोकने का दिखावा किया और दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे उग्र और आक्रामक दृष्टिकोण अपनाया।

जर्मन एकीकरण और बर्लिन सम्बन्धी प्रश्न—जर्मनी और बर्लिन के प्रश्न पर युद्ध के बाद से ही अमेरिका और सोवियत सघ के बीच गम्भीर मतभेद चले आ रहे थे। जॉनसन के प्रशासन-काल मे भी अमेरिका की नीति लगभग पहले जैसी ही रही। अमेरिका का कहना था कि जर्मनी के दोनो भागो और बर्लिन मे स्वतन्त्र मतदान द्वारा विधान-निर्मात्री सभा की स्थापना की जाए और यह सभा एक केन्द्रीय जर्मन सरकार की स्थापना करे जो विजेता-शक्तियो के साथ सन्धि करे जिससे पोलैण्ड एव रूस द्वारा हथियाये गए प्रदेशो का अन्तिम बँटवारा हो। इसके विपरीत सोवियत दृष्टिकोण भी पहले के समान ही था कि पश्चिमी देश पूर्वी जर्मनी को एक प्रभुत्वसम्पन्न राज्य स्वीकार कर लें और फिर पश्चिमी और पूर्वी जर्मनी के दोनो गणराज्य अपने एकीकरण के लिए परस्पर प्रत्यक्ष वार्ता करें। दोनो ही पक्षो की ओर से जर्मन एकीकरण के लिए रचनात्मक कदम उठाए जाने की अपेक्षा कूटनीतिक दाव-पेचो से उलझे हुए सुझाव पेश किए जाते रहे।

साम्यवादी चीन को मान्यता का प्रश्न—जॉनसन ने भी साम्यवादी चीन को मान्यता देने से इकार कर दिया। वह यह मानते रहे कि जिस लाल चीन ने आज तक हिंसा और युद्ध का आश्रय लिया है सयुक्त-राष्ट्रसघ से युद्ध किया है, तिब्बत की स्वतन्त्रता का अपहरण किया है और जो अमेरिका के विनाश की बात करता है, उसे सघ मे प्रवेश के योग्य एक शान्तिप्रिय राष्ट्र नही माना जा सकता तथा अमेरिका उसे मान्यता नही दे सकता।

निःशस्त्रीकरण का प्रश्न—जॉनसन के शासन काल मे आंशिक परमाणु-परीक्षण रोकने की सन्धि के पश्चात् नि शस्त्रीकरण की दिशा मे कोई विशेष प्रगति नही हुई, यद्यपि इस दिशा मे प्रयत्न अवश्य किए गए। परमाणु-शस्त्रो के प्रसार के निषेध के लिए काफी विचार-विमर्श के बाद एक सन्धि का प्रारूप भी तैयार किया गया जो उनके शासन काल की एक उपलब्धि है।

यूरोपीय सुरक्षा का प्रश्न—यूरोपीय सुरक्षा की दृष्टि से भी जॉनसन के शासन काल मे अमेरिकी विदेश-नीति को काफी हानि उठानी पडी। जनरल डिगॉल के नेतृत्व मे फ्रास अमेरिका के प्रभाव से निकल गया जिसके फलस्वरूप विवश होकर अमेरिका को नाटो का मुख्यालय पेरिस से हटाकर बेल्जियम की राजधानी ब्रूसेल्स स्थानान्तरित करना पडा।

वियतनाम का प्रश्न—जॉनसन के शासन काल मे वियतनाम-युद्ध को अमेरिका ने अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया और उत्तर-वियतनाम पर अधिकाधिक उग्र एवं विनाशकारी बमवर्षा की गई। मार्च, 1968 तक जॉनसन-प्रशासन वियतनाम-समस्या पर झुकने के लिए तैयार नही हुआ। सन् 1968 के आरम्भ से ही जब उत्तर वियतनामी सेना तथा वियतनामी छापामारो के हाथो अमेरिकी सेना को अपमानजनक पराजय सहनी पडी और अमेरिका सहित विश्व के विभिन्न भागो मे

युद्ध का तीव्र विरोध होने लगा, तो 31 मार्च, 1968 को जॉनसन ने राष्ट्र के नाम अपने एक सन्देश मे यह नाटकीय घोषणा की कि वियतनाम मे शान्ति-वार्ता का मार्ग प्रशस्त करने के लिए उत्तर वियतनाम पर आंशिक रूप से बमबारी बन्द कर देने के आदेश दे दिए गए हैं और आगामी चुनावो में वह राष्ट्रपति-पद के लिए प्रत्याशी नही बनेंगे। यद्यपि इस घोषणा से शान्ति-स्थापना के लिए हनोई की शर्तें पूरी नही हुईं, तथापि इससे राजनीतिक वातावरण मे एक निश्चित परिवर्तन आया।

लेटिन अमेरिका सम्बन्धी नीति—जॉनसन प्रशासन लेटिन अमेरिका के सदर्भ मे 'प्रगति के लिए मैत्री' (Alliance for Agreement) कार्यक्रम को प्रभावी रूप से कार्यान्वित करने मे असफल रहा। उसकी मौलिक नीति यही रही कि राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वियो की भौगोलिक दूरी का लाभ उठाकर लेटिन अमेरिका को हर तरह से अमेरिकी प्रभाव-क्षेत्र मे रखा जाए। स्वर्गीय कैनेडी क्यूबा से चोट खाकर यह नही चाहते थे कि लेटिन अमेरिका मे साम्यवाद पनपे, लेकिन उनके उत्तराधिकारी राष्ट्रपति जॉनसन ने उदार नीति छोड़कर कठोर रवैया अपनाया। लेटिन अमेरिका के प्रति उनकी नीति 'कथनी और करनी' मे भिन्न रही।

कोरिया और प्यूब्लो-काण्ड—तोपनौका की अमेरिकी कूटनीति की असफलता का पहला जीता-जागता प्रमाण जॉनसन-प्रशासन-काल मे मिला। राष्ट्रपति जॉनसन ने 'अन्तर्राष्ट्रीय चौकीदारी' की नीति को न केवल जारी रखा वरन् उसका कार्यक्षेत्र और भी बढ़ा दिया तथा इस नीति ने शीघ्र ही एक ऐसा सकट पैदा कर दिया जिसमे अमेरिका को बहुत अपमानित होना पडा। अमेरिका के एक जासूसी पोत प्यूब्लो (Peublo) को 23 जनवरी, 1968 को उत्तरी कोरिया ने अधिकारियो व कर्मचारियो सहित अपनी प्रादेशिक जल-सीमा मे पकड़ लिया जिसके अन्त मे अमेरिका को लिखित क्षमा-याचना करनी पडी। जॉनसन ने उत्तरी कोरिया को भयभीत करने के लिए विशाल पैमाने पर सैनिक तैयारियाँ की, मामले को सुरक्षा-परिषद् में उठाने का सकेत दिया, भीषण परिणामो की चेतावनी दी लेकिन उत्तरी कोरिया नहीं झुका। लाज बचाने के लिए मास्को की सलाह पर अमेरिकी विदेश सचिव डीन रस्क ने कूटनीतिक भाषा मे अपनी गलती स्वीकार करते हुए कहा कि "प्यूब्लो जासूसी पोत भूल से उत्तरी कोरिया के प्रादेशिक जल मे भटक गया था।" इस स्वीकारोक्ति से पूर्व अमेरिकी सरकार का यही कहना था कि प्यूब्लो सूचना सग्रह का सहायक पोत' था जिसे जापान सागर में समुद्र तट से 25 मील दूर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पकडा गया। अमेरिका की स्वीकारोक्ति के बाद उत्तरी कोरिया ने प्यूब्लो को छोड दिया।

पश्चिम एशिया का सकट—जून, 1967 के अरब-इजरायल सघर्ष मे जॉनसन प्रशासन ने पूर्णत: अरब-विरोधी रुख अपनाया। जॉनसन-प्रशासन की यह नीति पश्चिम एशिया के संकट को अधिक तीव्र करने मे सहायक हुई। सघर्ष छिड़ने पर भी अमेरिका ने इस बात से अपनी अनभिज्ञता प्रकट की कि आक्रमणकारी कौन है। सुरक्षा-परिषद् मे अमेरिका द्वारा यह भी प्रस्ताव रखा गया कि अरब क्षेत्रो से

इज़रायली सेना की वापसी सशर्त हो। अमेरिका को सोवियत रूस का यह प्रस्ताव मान्य नहीं हुआ कि इजरायल अरब क्षेत्रों से वापस हटे और इजरायली आक्रमण की निन्दा की जाए।

अरब-इजरायल संघर्ष में जॉनसन प्रशासन ने जो नीति अपनायी, वह स्वयं अमेरिकी हितों के भी अनुकूल नहीं थी। अमेरिका ने अरब राज्यों की नाराजगी मोल ले ली। अरब देशों ने अमेरिका के साथ अपने कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ लिए और अपने देश में रहने वाले अमेरिकी नागरिकों को अविलम्ब वापस चले जाने के आदेश दे दिए। किन्तु इन सब विरोधों के बावजूद जॉनसन प्रशासन के अरब विरोधी रवैये में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इतना ही नहीं 25 नवम्बर, 1968 को अमेरिका ने इजरायल को अमेरिकी हथियार बेचने का निर्णय ले लिया। जॉनसन प्रशासन का प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रोत्साहन इजरायल को प्राप्त होता रहा।

भारत-विरोधी रवैया—राष्ट्रपति जॉनसन ने भारत के प्रति उस उदार रवैये को समाप्त कर दिया जो स्वर्गीय कैनेडी ने अपनाया था। सन् 1964 में तत्कालीन रक्षामन्त्री चह्वाण जब अमेरिका गए तो उन्हें कहा गया कि भारत को अपनी सुरक्षा-शक्ति अवश्य ही बढ़ानी चाहिए, लेकिन आर्थिक विकास की कीमत पर कुछ नहीं किया जाना चाहिए। भारत को तो यह सीख दी गई जबकि पाकिस्तान को सिर से पैर तक शस्त्र-सज्जित किया जाता रहा। सब तर्कों का सार यह था कि अमेरिका भारत को उन्नत किस्म के हवाई जहाज नहीं देना चाहता था। राष्ट्रपति जॉनसन ने वियतनाम पर अमेरिकी बमबारी सम्बन्धी भारत की आलोचना सहन नहीं की और प्रधानमन्त्री शास्त्री की अमेरिकी यात्रा स्थगित कर दी। पाकिस्तान ने कच्छ के रन में और फिर सन् 1965 के युद्ध में भारत के विरुद्ध अमेरिकी हथियारों का प्रयोग किया, लेकिन जॉनसन प्रशासन का वरदहस्त पाकिस्तान के सिर पर रहा। सन् 1968 में भारत को दी जाने वाली आर्थिक सहायता नगण्य हो गई। अमेरिका के भारत विरोधी रवैये से क्षुब्ध होकर ही अक्तूबर, 1968 में संयुक्तराष्ट्र अधिवेशन के लिए न्यूयॉर्क पहुँच कर भी श्रीमती गांधी वाशिंगटन गए बिना ही दिल्ली चली आईं क्योंकि उनके शब्दों में "वहाँ जाने में कोई सार्थकता नहीं थी।"

कुल मिला कर यह कहना चाहिए कि जॉनसन शासनकाल में विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति अपनाए गए दृष्टिकोण के कारण न सिर्फ अमेरिका को काफी हानि हुई बल्कि उसे अपनी लोकप्रियता से भी हाथ धोना पड़ा। इस तथ्य को बाद में स्वयं जॉनसन ने भी स्वीकार किया।

निक्सन युग
(1969–अगस्त, 1974)

20 जनवरी, 1969 को रिचार्ड निक्सन संयुक्तराज्य अमेरिका के 37वें राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। अपने उद्घाटन भाषण में उन्होंने विश्व शान्ति की स्थापना के लिए दुनिया के हर राष्ट्र के साथ सहयोग करने की इच्छा व्यक्त की और कहा कि जहाँ भी शान्ति अस्थायी है वहाँ वे उसे स्थायी बनाने का प्रयत्न करेंगे। निक्सन

का कार्यकाल अमेरिका के इतिहास में 'क्रान्तिकारी' माना जाएगा क्योंकि उन्होंने साम्यवादी जगत् के प्रति अमेरिका की नीति को एक नयी दिशा प्रदान की थी तथा और भी अनेक दृष्टियों से अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में अमेरिकी विदेश-नीति को मुखर बनाया। सुदीर्घ-कालान्तर से चला आ रहा वियतनाम युद्ध उन्हीं के कार्यकाल में समाप्त हुआ (यद्यपि कालान्तर में यह पुनः भड़क उठा) और महाशक्ति रूस के साथ निःशस्त्रीकरण वार्ताओं में काफी प्रगति हुई। पूँजीवादी और साम्यवादी जगत् में 'सह-अस्तित्व' को सम्भावनाओं को जितना अधिक बल निक्सन के कार्यकाल में मिला उतना पहले कभी नहीं मिला था। कुछ दृष्टियों से निक्सन की विदेशी-नीति 'खतरनाक बिन्दुओं' को स्पर्श करने लगी, लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि निक्सन ने अमेरिका को 'बहुमूल्य सेवाएँ' अर्पित कीं। दुर्भाग्यवश निक्सन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक रंगमंच पर 'ईमानदार राजनेता' के रूप में नहीं उभर सके और अपने ही देश में 'वाटरगेट' ने उनकी प्रतिष्ठा को मिट्टी में मिला दिया। संयुक्तराज्य अमेरिका के सम्पूर्ण इतिहास में निक्सन पहले राष्ट्रपति थे जिन्हें इस तरह अपमानजनक रूप से पद-त्याग करने के लिए बाध्य होना पड़ा था और आने वाले राष्ट्रपति को उन्हें क्षमादान देना पड़ा था। निक्सन युग में अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में संयुक्तराज्य अमेरिका की गतिविधि तथा विदेश-नीति के मुख्य विचार-बिन्दु इस प्रकार हैं—

यूरोप की सद्भावना यात्रा

राष्ट्रपति बनने के लगभग छः सप्ताह बाद ही निक्सन ने यूरोप की सद्भावना यात्रा की जिसका उद्देश्य एक 'नए यूरोप' की खोज करना था। निक्सन यूरोपीय देशों के नेताओं के साथ वियतनाम, पश्चिमी एशिया आदि समस्याओं पर विचारों का आदान-प्रदान करना चाहते थे तथा अमेरिका के दृष्टिकोण को व्यक्तिगत रूप से प्रस्तुत कर उनकी प्रतिक्रिया जानना चाहते थे। निक्सन की यात्रा पर यूरोप में कोई विशेष उत्साह नहीं दिखाया गया। फ्रांस में तीव्र विरोध हुआ तो पश्चिमी जर्मनी अणु-प्रसार-निरोध-सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिए तैयार नहीं हुआ। अपनी यूरोपीय यात्रा में बेल्जियम को छोड़कर हर जगह राष्ट्रपति निक्सन को अमेरिका-विरोधी नारों की गूँज सुनाई दी। निक्सन समझ गए कि शीतयुद्ध में पश्चिमी यूरोप अब संयुक्तराज्य अमेरिका को अपना पूरा समर्थन नहीं देगा।

उत्तरी कोरिया में अमेरिकी जासूस

'अन्तर्राष्ट्रीय चौकीदारी' का पृष्ठपोषण निक्सन-प्रशासन ने भी किया जिसके फलस्वरूप अप्रेल, 1969 में 'प्यूब्लो जासूसी काण्ड' से भी अधिक भयंकर जासूसी घटना घटी। उत्तरी कोरिया ने अमेरिका के एक जासूसी विमान ई. सी. 121 को मार गिराया। अमेरिका का कहना था कि जहाज उत्तरी कोरिया की सीमा में प्रविष्ट नहीं हुआ, जब कि उत्तरी कोरिया का आरोप था कि विमान उसकी सीमा में प्रवेश कर जासूसी कर रहा था। कुछ समय बाद ही निक्सन-प्रशासन ने दम्भपूर्वक घोषणा की कि दक्षिणी कोरिया तथा प्रशान्त महासागर में अमेरिका के हितों की रक्षा के लिए और उत्तरी कोरिया की सैनिक तैयारियों से अवगत रहने के लिए अमेरिका

इस प्रकार की जासूसी कार्यवाही भविष्य में भी जारी रखेगा। 'चोरी और सीनाजोरी' का यह एक अच्छा उदाहरण था।

जर्मन-समझौते की दिशा में अमेरिकी नीति

निक्सन ने जर्मनी के एकीकरण की समस्या पर यद्यपि वही रुख अपनाया जो जॉनसन ने अपनाया था तथापि 3 सितम्बर, 1971 को चतुर्शक्ति बर्लिन समझौता (The Four Power Berlin Settlement) सम्पन्न हो गया जिससे बर्लिन-समस्या का एक उत्साहवर्द्धक समाधान निकल आया। यह समझौता मुख्यत. इसीलिए हो सका कि सोवियत रूस बढ़ती हुई चीनी-अमेरिकी मैत्री से आशंकित था कि कहीं इसका लाभ उठाकर चीन रूस पर अपना दबाव बढ़ाने का प्रयत्न कर युद्ध का सकट पैदा न कर दे। अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रास और सोवियत संघ के बीच सम्पन्न हुए इस समझौते के अनुसार पश्चिमी तथा पूर्वी बर्लिन के बीच आवागमन की पूरी स्वतन्त्रता प्रदान करदी गई और यह निश्चय किया गया कि इस क्षेत्र में विवादों का शान्तिपूर्ण ढग से समाधान किया जाएगा। सोवियत सघ को पश्चिमी बर्लिन मे राजनयिक प्रतिनिधित्व दिया गया जिसके अनुसार उसने वहाँ अपना महावाणिज्य दूतावास खोला। समझौते मे यह भी घोषणा की गई कि पश्चिमी-बर्लिन पश्चिमी जर्मनी का मूल भाग नही है, दोनो क्षेत्रो के बीच सम्बन्धो को विकसित किया जाएगा। समझौते पर अमेरिका के तत्कालीन विदेशमन्त्री रोजर्स की टिप्पणी थी—"हम एक कदम आगे बढे हैं इससे यूरोप मे शान्ति-सुरक्षा की सम्भावना बढ गई है।" यदि परिस्थितियो पर विचार किया जाए तो बर्लिन-समस्या का समाधान अमेरिकी विदेश नीति की सफलता का उतना द्योतक नही था जितना सोवियत सघ की अपनी पश्चिमी सीमाओ को सुरक्षित करने की चिन्ता से मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा का। जर्मन समस्याओ पर महाशक्तियो ने जो सहयोगपूर्ण रुख अपनाया उसका एक शुभ परिणाम यह निकला कि सयुक्त-राष्ट्रसघ मे दोनो जर्मनियो (पश्चिमी जर्मनी और पूर्वी जर्मनी) मे प्रवेश का मार्ग प्रशस्त हो गया और दोनो राज्यो को विश्व-सस्था की सदस्यता भी प्राप्त हो गई।

निक्सन-प्रशासन और वियतनाम

राष्ट्रपति निक्सन ने प्रारम्भ मे बमवर्षा सीमित कर समयान्तर से अमेरिकी सैनिको को काफी बडी सख्या मे स्वदेश वापस बुला लिया; किन्तु साथ ही वियतनाम मे अमेरिकी तकनीकी सामरिक शक्ति को इस ढग से कायम रखा कि उत्तरी वियतनाम दक्षिणी वियतनाम पर हावी न हो सके। पर कुछ ही समय बाद निक्सन का रुख अधिकाधिक कठोर हो गया और दिसम्बर 1971 मे अमेरिका ने उत्तरी वियतनाम पर व्यापक हवाई आक्रमण आरम्भ कर दिए। निक्सन की नीति यह थी कि एक ओर समझौता वार्ता के लिए द्वार खुले रखे जाएँ और दूसरी ओर सैनिक शक्ति से उत्तर वियतनाम को समझौता करने के लिए विवश किया जाए। वियतनाम उत्तरी अमेरिकी हवाई हमलो के आगे नही झुका और 26 अप्रैल, 1972 को निक्सन ने घोषणा की—'हम पराजित नही होगे और न ही हम अपने मित्रो को साम्यवादी

आक्रमण के समक्ष घुटने टेकने देंगे।" उत्तरी वितनाम की राजधानी हनोई भी अमेरिकी हवाई हमले के घेरे मे आ गई। संघर्ष और वार्ता का दौर चलता रहा और आखिर 27 जनवरी, 1973 को वितनाम मे युद्धबन्दी-समझौते पर हस्ताक्षर हो गए। पर युद्ध विराम के उल्लघन की घटनाएँ चालू रही और जुलाई-अगस्त, 1974 मे तो कुछ गम्भीर झड़पो में दोनों पक्षों के काफी सैनिक भी हताहत हुए। निक्सन-प्रशासन द्वारा दक्षिणी वियतनाम को प्रचुर आर्थिक सहायता दी जाती रही, लेकिन वह अपनी सेना और अर्थव्यवस्था मजबूत नही कर सका। वियतनाम युद्ध-विराम स्थायी नही रह सका और निक्सन के जाने के कुछ ही माह बाद युद्ध पुन: भडक उठा।

भूमध्यसागर मे अमेरिकी नीति

सन् 1967 के अरब-इजरायल सघर्ष के बाद से ही भूमध्यसागर मे सोवियत नौशक्ति के विस्तार के फलस्वरूप अमेरिकी नौसेना भी इस दिशा मे सक्रिय हो गई और आज भूमध्यसागर इन दोनो बडी शक्तियों के नौसैनिक विस्तार की आकांक्षा का केन्द्र बना हुआ है। नाटो के सदस्य-देश भौगोलिक स्थिति के कारण बहुत हद तक इस क्षेत्र से संबद्ध हैं। भूमध्यसागर मे अमेरिकी हित बहुत व्यापक हैं। इजरायल के पृष्ठ-पोषण के लिए भी अमेरिका भूमध्यसागर मे अपनी नौ-शक्ति के विकास को आवश्यक मानता है। अगस्त, 1970 मे अमेरिका और स्पेन के बीच एक सैनिक समझौता हुआ जिसका उद्देश्य अमेरिकी छठे बेडे की भूमिका को और अधिक प्रभावशाली बनाना था। भूमध्यसागर मे अमेरिकी और यूरोपीय हितो मे कोई समानता नही है; लेकिन सोवियत संघ की चुनौती अमेरिका और यूरोप दोनो के लिए समान है। इसी बात को ध्यान मे रखते हुए भूमध्यसागर के प्रति अमेरिका अपनी नीति निर्धारित करता है। यदि उत्तरी एटलांटिक-सन्धि-सगठन किसी हद तक अपनी भूमिका निभाने के लिए तैयार है, तो भूमध्यसागर मे अमेरिकी बेडे की सहायता की उस हर हालत मे आवश्यकता होगी।

निक्सन और पश्चिमी एशिया

पश्चिमी-एशिया-सकट पर निक्सन प्रशासन का रवैया अरब-विरोधी और इजरायल-समर्थक रहा। जनवरी, 1972 मे अमेरिका ने इजरायल को बहुचर्चित फैंटम विमान पुन: देने का भी निर्णय ले लिया और यह भी ठीक उस समय जब इजरायल स्वय को समझौते के लिए तैयार कर रहा था। अमेरिका की यह कार्यवाही पश्चिमी एशिया की समस्या को और भी जटिल बनाने वाली थी। अक्तूबर, 1973 मे अरब-इजरायल-युद्ध मे इजरायल को अमेरिका का समर्थन प्राप्त हुआ तथा दोनो महाशक्तियो—अमेरिका और रूस की जबरदस्त कूटनीतिक सरगर्मी से युद्ध-विराम सम्भव हुआ। इसके बाद डॉ. कीसिंगर स्थायी समझौता कराने के लिए कूटनीतिक प्रयास करते रहे, पर अगस्त, 1974 मे निक्सन के पतन के कारण वाञ्छित-परिणाम न निकल सके।

इजरायल के समान ही ईरान को भी अधिकाधिक युद्ध-सामग्री से लैस करने

की नीति अपनाई गई। ईरान को अरबों रुपयों के हथियार देने के मूल में 'ईरान-पाकिस्तान धुरी' को शक्तिशाली और स्थिर बनाना था। ईरान के माध्यम से अमेरिकी शस्त्रास्त्रों का भंडार पाकिस्तान पहुँचना एक बड़ा जटिल और बहुद्देशीय कूटनीतिक खेल था। वाशिंगटन-पिण्डी-पेकिंग धुरी के समान ही वाशिंगटन-तेहरान-पिण्डी धुरी का निर्माण अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में विस्फोटक स्थिति पैदा करने वाली चालें थीं। न केवल विपुल सैन्य सामग्री बल्कि अमेरिकी सैनिक-असैनिक प्रशिक्षक भी मई, 1973 से ही अधिकाधिक संख्या में तेहरान पहुँचने लगे। इस दिशा में अमेरिकी विदेश-नीति के लक्ष्यों पर 27 मई, 1973 के दिनमान की यह सम्पादकीय टिप्पणी उल्लेखनीय है—

'अपनी इजरायल नीति के कारण तेल-उत्पादक अरब-देशों में दाल न गलती देख कर अमेरिका ने ईरान के रजाशाह पहलवी को इस क्षेत्र में अपने हितों का पोषक बनाने का फैसला किया है। यद्यपि अमेरिका की प्रमुख रुचि ईरान और फारस की खाड़ी के देशों से खनिज तेल का प्रवाह खुला रखने में है, तथापि उसका इतना ही महत्त्वपूर्ण राजनीतिक लक्ष्य भी है—आन्तरिक मतभेदों से त्रस्त पाकिस्तान के लिए गैरसाम्यवादी स्थानीय संरक्षण की तलाश के साथ-साथ भारत और सोवियत संघ से राजनैतिक आर्थिक प्रभाव का विकल्प पैदा करना। अमेरिकी शस्त्रास्त्र पर आधारित ईरान की सामरिक शक्ति अरब-विरोधी भी होगी क्योंकि ईरान की ईराक से परम्परागत शत्रुता चली आ रही है। इसी तरह अमेरिका ने ईरान को अपना कृपा-भाजन बनाकर इस क्षेत्र में रूस के भारी होते पलड़े को फिलहाल हलका साबित कर दिया है। इस स्थिति के दूरगामी परिणाम काफी दिलचस्प साबित होंगे।"

निक्सन की युद्धपोत-राजनीति

युद्धपोत अथवा तोपनौका की अमेरिकी कूटनीति की असफलता का प्रमाण उत्तरी कोरिया में 'प्यूब्लो-काण्ड' के सिलसिले में मिल चुका था। लेकिन इससे कोई शिक्षा न लेते हुए राष्ट्रपति निक्सन ने अमेरिकी युद्धपोत राजनय का खेल फिर खेला और भारत-पाक युद्ध के समय दिसम्बर, 1971 में पाकिस्तान के समर्थन के लिए बंगाल की खाड़ी में अपना सातवाँ बेड़ा भेज दिया और बहाना यह बनाया कि ढाका में स्थित 15 अमेरिकियों को जिन्होंने सम्भवतः स्वेच्छा से ढाका में रहने का निर्णय लिया था निकालना है। यह समझ में न आनेवाली बात थी कि इने-गिने अमेरिकियों को ढाका से निकालने के लिए शक्तिशाली नौसैनिक बेड़े की क्या आवश्यकता थी जिसमें अमेरिका का एकमात्र परमाणु शक्तिचालित विमानवाही (एण्टर-प्राइज) भी शामिल था।

स्वतन्त्र बंगलादेश के दमन में पाकिस्तान को समर्थन देने और पाक-चीन गठबन्धन के साथ स्वयं को भी पूरी तरह जोड़ने के सम्बन्ध में ही राष्ट्रपति निक्सन ने सम्भवतः भारत के विरुद्ध अपनी युद्धपोत की राजनीति खेली ताकि मनोवैज्ञानिक रूप से भारत भयभीत होकर बंगलादेश से अपनी सेनाएँ हटा ले अथवा पाकिस्तान के साथ अमेरिकी योजनाओं के अनुरूप तुरन्त युद्ध-विराम स्वीकार कर ले और इस प्रकार पाकिस्तान का विभाजन बच जाय।

निक्सन और चीन

राजनीति में न कोई स्थायी मित्र होता है और न कोई स्थायी शत्रु। जिस साम्यवादी चीन को अमेरिका अपना शत्रु नम्बर एक मानता था उसी के प्रति मैत्री के हाथ बढ़ाकर राष्ट्रपति निक्सन ने अमेरिकी कूटनीति को एक क्रान्तिकारी मोड़ दिया, इसमे सन्देह नही। अप्रेल, 1971 मे अमेरिका के टेबिल टेनिस खिलाडियों का चीन पहुँचना कोई सामान्य मनोरंजन का विषय नही था बल्कि राजनयिक क्षेत्रों मे यह एक गम्भीर बात थी। इस घटना से जिस 'पिंग-पांग राजनय' का सूत्रपात हुआ, उससे अन्त मे जाकर यह सम्भावना प्रकट होगई कि दीर्घकालीन दो शत्रु देशों के बीच परस्पर घनिष्ठ सम्पर्क और सहयोग का सिलसिला शुरू हो गया है। राष्ट्रपति निक्सन ने अत्यन्त साहसी कदम उठाकर चीन के साथ सम्बन्ध सुधारने की दिशा मे पहल की और विश्व-राजनीति मे यह सम्भावना पैदा कर दी कि अमेरिका और चीन मित्र बनकर के विश्व शक्ति-सन्तुलन मे एक अभूतपूर्व क्रांति ला देंगे।

राष्ट्रपति निक्सन ने प्रारम्भ मे ऐसे कई कदम उठाये जिससे यह आभास मिला कि अमेरिका दक्षिण-पूर्वी एशिया से किसी न किसी प्रकार छुटकारा पाना चाहता है, वियतनाम युद्ध से सम्मानपूर्ण पलायन चाहता है और इसके लिए वह चीन के सहयोग का आकांक्षी है। चीन के सम्बन्ध मे राष्ट्रपति निक्सन ने निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण कदम उठाये—

(1) "अमेरिकी पर्यटकों को चीन निर्मित वस्तुएँ खरीदने की इजाजत दी गई।

(2) अमेरिकी व्यावारिक संस्थानो की अधीनस्थ व्यापार संस्थाओं को जनवादी चीन के साथ असामरिक वस्तुओं मे व्यापार करने की अनुमति दी गई।इससे पहले न केवल अमेरिकी व्यापारी बल्कि विदेशों मे काम करने वाले उनके आश्रित व्यापारी भी ऐसा नही कर सकते थे।

(3) अमेरिका मे निर्मित या अमेरिकी संस्थाओं द्वारा लाइसेंस प्राप्त वस्तुओं विशेषकर मशीनों के पुर्जे इत्यादि चीन को भेजे जाने की अनुमति दे दी गई। अमेरिकी तेल कम्पनियों को इस बात की अनुमति दी गई कि वे गैरसाम्यवादी देशों के यानों को चीन के बन्दरगाहों तक जाने के लिए तेल बेचें बशर्ते कि इन जलयानों मे किसी प्रकार की युद्ध सामग्री न हो।"

एकपक्षीय सुविधाओं द्वारा निक्सन-प्रशासन ने चीन के साथ पहली किश्त मे व्यापारिक सम्बन्ध और दूसरी किश्त मे राजनीतिक तथा मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने की नीति अपनायी। राष्ट्रपति निक्सन का यह कदम विवेकपूर्ण ही था क्योंकि एशिया मे अपना बोझ हल्का करने और साथ ही चीन के साथ प्रत्यक्ष मुठभेड की सम्भावना कम करने के लिए अमेरिका के लिए चीन को अपने निकट लाना आवश्यक था।

निक्सन प्रशासन ने चीन की ओर मित्रता का जो हाथ बढाया उसके फलस्वरूप संयुक्त-राष्ट्रसंघ मे चीन की सदस्यता का मार्ग कुछ सुगम हो गया क्योंकि अनेक देशों

पर यह मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ा कि अब लाल चीन की राष्ट्रसंघ की सदस्यता के मार्ग में रोड़े अटकाना लाभप्रद नहीं है। अक्तूबर, 1971 में संयुक्त राष्ट्र महासभा ने राष्ट्रवादी चीन (ताइवान) को संयुक्त-राष्ट्रसंघ से निष्कासित कर उसके स्थान पर जनवादी चीन (कम्युनिस्ट चीन) को सदस्य बनाने का अल्बानिया का प्रस्ताव 35 के विरुद्ध 76 मतों से स्वीकार कर लिया। 26 अक्तूबर, 1971 का महासभा का यह निर्णय अमेरिका की विदेश-नीति और राजनय की पहली बड़ी हार, थी और चीन के अध्यक्ष माओत्से तुंग की क्रान्तिकारी राजनय की पहली बड़ी जीत थी। इस घटना से राष्ट्रपति निक्सन स्तब्ध रह गये। फिर भी चीन और अमेरिका की ओर से ऐसे कोई प्रयास नहीं किये गये जिससे राष्ट्रपति निक्सन की सम्भावित यात्रा खटाई में पड़ जाये।

अमेरिका और चीन दोनों ने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में एक-दूसरे के निकट आने की नीति अपनाई थी जिसका ज्वलन्त प्रमाण बंगलादेश के मुक्ति-आन्दोलन और भारत-पाक संघर्ष के समय मिला। मानवता और लोकतन्त्र के विरुद्ध इससे बड़ी दुरभि-सन्धि और क्या हो सकती थी कि स्वार्थ में अन्धे होकर अमेरिका और चीन ने अपने बैर-भाव भुलाते हुए संयुक्त-राष्ट्रसंघ में और इसके बाहर पाकिस्तान का खुला समर्थन किया—कूटनीतिक स्तर पर भी और सामरिक सहायता देकर भी। दोनों ही देशों ने बंगला देश में पाक सेना द्वारा किये गये जाति-संहार को न केवल चुपचाप देखा बल्कि याहिया सरकार को प्रोत्साहित भी किया।

मार्च, 1972 में राष्ट्रपति निक्सन ने पेकिंग-यात्रा की। इस पर लगभग सवा करोड़ रुपया खर्च हुआ। अपनी सात दिवसीय चीन-यात्रा के दौरान राष्ट्रपति निक्सन ने चीन की मित्रता प्राप्त करने के लिए उसे दो रियायतें दीं, लेकिन बदले में कुछ लेने की विशेष परवाह नहीं की। निक्सन-चाऊ का पहला शिकार ताइवान बना जिसे अमेरिका के साथ अपनी दोस्ती का दम्भ था। अपने चीन-प्रवास काल में निक्सन ने यह स्पष्ट संकेत दे दिया कि यदि चीनी नेता अमेरिका से सहयोग करेंगे तो वह ताइवान की समस्या के हल में रुकावट नहीं डालेगा। ताइवान को चीन का एक हिस्सा मान कर ताइवान स्थित अमेरिकी सेनाओं और सैनिक अड्डों को धीरे-धीरे हटाने की इच्छा व्यक्त कर ताइवान समस्या को चीनी स्वयं सुलझाएं' कहकर निक्सन ने चीन के प्रति अपनी भावी नीति स्पष्ट कर दी। संयुक्त विज्ञप्ति से यह प्रकट था कि हिन्द-चीन, कोरिया और वियतनाम के प्रश्न पर दोनों देशों में मतभेद बने रहे। अगर कहीं दोनों में पूरा मतैक्य देखने को मिला तो वह था भारतीय उपमहाद्वीप के प्रश्न पर। विज्ञप्ति में "न केवल भारत और पाकिस्तान को समान पलड़ों में रखते हुए उनसे कश्मीर में अपनी-अपनी सेनाओं को युद्ध-विराम रेखा तक लौट आने का आग्रह किया गया बल्कि भारत के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने की भी धृष्टता की गई।" चीन ने जम्मू-कश्मीर के लोगों के आत्म-निर्णय के अधिकार का भी समर्थन किया। मतैक्य का एक मुद्दा यह भी रहा कि दोनों ही देशों ने बंगलादेश के बारे में कुछ भी नहीं कहा, मानो इतिहास के सबसे बड़े नरसंहार का विश्व-शान्ति और

मानवता से कोई सम्बन्ध नही था। राष्ट्रपति निक्सन की चीन-यात्रा की सफलता का समस्त मूल्यांकन तो भविष्य मे ही किया जा सकेगा, हाँ, यह अवश्य हुआ कि लगभग 23 वर्ष पुराने वैर-भाव के बावजूद दोनों देशों के बीच सवाद और सम्पर्क के सूत्र कायम हो गए।

प्रश्न उठता है कि लगभग 23 वर्षों से सम्पूर्ण विश्व मे चीन के विरुद्ध मोर्चाबन्दी करने वाले अमेरिकी प्रशासन के मन में चीन से मैत्री की भावना क्यों प्रबल हुई और चीन भी उसकी तरफ क्यो झुका और आज भी यही प्रवृत्ति क्यों विकासमान है ? कारण स्पष्ट हैं—

1. सोवियत सघ के बढ़ते हुए सैनिक और राजनीतिक प्रभाव ने अमेरिका को विवश किया है कि चीन को अपने पक्ष में करे।

2 चीन और सोवियत सघ के सम्बन्ध पिछले कुछ वर्षों से काफी तनावपूर्ण हो गए है, अतः अमेरिका ने यह उचित समझा है कि रूस से निबटने के लिए चीन को मोहरा बनाया जाए। चीन भी रूस के साथ अपनी प्रतिद्वन्द्विता मे अमेरिका के सहयोग का आकांक्षी है।

3. अमेरिका दक्षिण-पूर्व एशिया से स्वय हटकर वहाँ चीन की उपस्थिति के अधिक पक्ष मे है। कम से कम चीन और अमेरिका दोनों ही इस बात पर तो सहमत हैं कि दक्षिण पूर्व एशिया से अमेरिका के हटने के बाद रिक्त स्थान की पूर्ति सोवियत सघ द्वारा नहीं होनी चाहिए।

4. चीन को यह विश्वास हो रहा है कि पूर्वी एशिया मे अमेरिका की सैनिक उपस्थिति अस्थायी है जबकि जापान शक्तिशाली होकर वहाँ स्थाई रूप से छा जाने की कोशिश कर रहा है। इस सन्दर्भ मे अमेरिका ही सन्तुलन कायम रख कर सोवियत सघ के मुकाबले पूर्वी एशिया मे चीन की सैनिक उपस्थिति की सम्भावनाओं को दृढ़ कर सकता है। चीन को अपने पक्ष मे रखकर अमेरिका दिन प्रतिदिन शक्तिशाली बनकर भारत पर अपनी दबाव-नीति जारी रख सकता है।

5. सयुक्तराज्य अमेरिका के व्यापारिक विशेषज्ञ इस बात पर दबाव डालते रहे हैं कि 70 करोड़ की आबादी के किसी देश को अमेरिकी व्यापार के प्रभाव-क्षेत्र से अलग रखना अमेरिकी हित मे नही। यह भावना तब से जोर पकड़ गई जब से यह आभास मिलने लगा कि चीन अमेरिकी माल खरीदने के लिए उत्सुक हैं।

साम्यवादी विश्व के साथ सह-अस्तित्व की जिस नीति को कैनेडी-प्रशासन ने बल प्रदान किया था उसे बहुत कुछ आगे बढाने का श्रेय राष्ट्रपति निक्सन ने प्राप्त किया। निक्सन ने मई, 1972 में मास्को की यात्रा की। 22 मई, 1972 को वे दल-बल सहित मास्को पहुँचे। निक्सन की यह 6 दिवसीय मास्को यात्रा ऐतिहासिक थी क्योंकि सन् 1945 मे याल्टा सम्मेलन के बाद दोनो महाशक्तियो के राष्ट्राध्यक्षों की यह पहली भेंट थी।

रूसी नेताओं के साथ वार्ता के उपरान्त जो 'संयुक्त घोषणा' प्रकाशित हुई उसमे दोनों देशो ने 'शान्तिपूर्ण सम्बन्ध' विकसित करने की आवश्यकता पर बल

किया। यह कहा गया कि संकट से बचने और परमाणु युद्ध से दूर रहने का भरसक प्रयत्न किया जाएगा। सहमति का एक मुद्दा यह था कि संयुक्तराष्ट्र सुरक्षा-परिषद् के दोनों सदस्य (रूस तथा अमेरिका) और अन्य स्थायी सदस्य ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न करेंगे कि सभी देश शान्ति और सुरक्षा से रह सकें और उनके आन्तरिक मामलों में बाहरी हस्तक्षेप न हो सकें। दोनों देश इस बात पर भी सहमत थे कि वे अपनी हितों के मामले पर विचार विनिमय की परम्परा आगे बढ़ाएँगे और अस्त्र-परिसीमन की नई सम्भावनाएँ खोजेंगे तथा यह सब 'अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा-दृष्टि' से किया जाएगा। दोनों देशों ने घोषणा की कि अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में किसी विशेष अधिकार का न वे स्वयं कोई दावा करते हैं और न किसी अन्य देश को ऐसा करने देंगे, क्योंकि दोनों ही देश सभी राज्यों की प्रभुसत्ता की समानता का स्तर प्रदान करते हैं। कुल मिलाकर संयुक्त विज्ञप्ति में यही ध्वनित हुआ कि एक ओर सिद्धान्तवादिता है तथा दूसरी ओर पहले से ओढ़ी गई जिम्मेदारियों की मजबूरी की उच्चना है तथा विज्ञप्ति की आचार संहिता केवल महाशक्तियों के पारस्परिक उपयोग के लिए है, अन्य सभी छोटे-बड़े देशों के न्यायसंगत हित दबाए जाने योग्य हैं।

मास्को यात्रा के दौरान रूस और अमेरिका के बीच अस्त्र-परिसीमन की एक ऐतिहासिक सन्धि हुई। इस पंचवर्षीय सन्धि में, जो राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल सिद्ध होने पर किसी भी पक्ष द्वारा 6 महीने के नोटिस पर रद्द की जा सकती है, स्वीकार किया गया कि—

1. "इस वर्ष की पहली जुलाई के बाद नए अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों का निर्माण नहीं किया जाएगा।

2. कोई भी पक्ष हल्के या पुराने किस्म के भू-प्रक्षेपास्त्र-स्थलों को सुधार कर भारी अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्रों के प्रयोग के योग्य नहीं बनाएगा।

3. दोनों पक्ष पनडुब्बियों के प्रक्षेपास्त्रों और प्रक्षेपकों तथा प्रक्षेपास्त्रयुक्त आधुनिक पनडुब्बियाँ नहीं बनाएँगे, हालांकि निर्माणाधीन पनडुब्बियों का काम पूरा करने की छूट रहेगी।

4 इस अन्तरिम सन्धि की व्यवस्थाओं को ध्यान में रखते हुए दोनों देशों को आक्रामक प्रक्षेपास्त्रों और प्रक्षेपकों का आधुनिकीकरण करने अथवा स्थानापन्न अस्त्र बनाने का अधिकार रहेगा।

5 सन्धि के परिपालन की जाँच के लिए हर राष्ट्र केवल वही विधियाँ अपनाएगा जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मान्य सिद्धान्तों के अनुरूप हो। दोनों पक्षों ने स्वीकार किया कि वे अस्त्र-शस्त्र निर्माण को गुप्त रखने के लिए जानबूझ कर ऐसी व्यवस्थाएँ नहीं करेंगे जिनसे सन्धि की भावना को ठेस पहुँचे दूसरे देश को निगरानी रखने में कठिनाई हो।"

दोनों देशों के बीच अन्तरिक्ष-अभियान-सहयोग-सन्धि भी हुई जिसमें निश्चय किया गया कि दोनों देशों के दलदस्ते एक साथ आकाश-विहार करेंगे और देय जानकारी का आदान-प्रदान करेंगे। एक अन्य सैनिक सन्धि के अनुसार अमेरिका ने रूस की बढ़ी हुई नौसैनिक शक्ति को स्वीकार किया।

जून, 1973 में सोवियत नेता ब्रेझनेव ने अमेरिका-यात्रा की और दोनों देशों में कुछ सन्धियां हुई। एक सन्धि मे दोनों देशो ने सकल्प किया कि उनमे से कोई भी परमाणु-युद्ध नही करेगा। एक दूसरी सन्धि परमाणु-अस्त्र-शस्त्र की सीमा और परमाणु-शक्ति के शान्तिपूर्ण उपयोग से सम्बन्धित थी। नि.शस्त्रीकरण की दिशा में यह एक नए दौर का प्रादुर्भाव थी कि दोनो देशो ने सिद्धान्त रूप मे सन् 1974 तक परमाणु-आयुधो के निर्माण पर रोक लगाने और परमाणु-शक्ति के शान्तिपूर्ण उपयोग के क्षेत्र मे परस्पर सहयोग करने का निश्चय किया। दोनों देशो के पारस्परिक सम्बन्ध तब और घनिष्ठ हुए जब 27 जून, 1974 को राष्ट्रपति निक्सन मास्को यात्रा पर गए और 3 जुलाई, 1974 को प्रतिप्रक्षेपास्त्र प्रणालियों तथा आक्रामक-परमाणु अस्त्रो को और सीमित करने तथा भूमिगत परीक्षणों पर कुछ प्रतिबन्ध लगाने सम्बन्धी समझौतो पर हस्ताक्षर किए गए। इस शिखर-वार्ता मे ही 29 जून को दोनो देशो मे एक महत्त्वपूर्ण 10 वर्षीय व्यापार समझौता हुआ जिसे सन् 1972 के व्यापार-समझौते का पूरक बताया गया। सन् 1972 के व्यापार-समझौते पर अमेरिकी कांग्रेस ने यह निर्णय किया था कि जब तक यहूदियों के विस्थापन के बारे मे सोवियत संघ उदार नही होता तब तक समझौते की पुष्टि नही की जाएगी। सोवियत प्रवक्ता ने कहा कि सोवियत-अमेरिकी व्यापार का तथाकथित यहूदी समस्या से कोई सम्बन्ध नही है। वास्तव मे निक्सन तीन मुख्य उद्देश्य लेकर सोवियत संघ की यात्रा पर निकले थे—(1) विश्व की दो महान् शक्तियो के बीच द्विपक्षीय सम्बन्ध विकसित करना, (2) विश्व के कुछ भागो मे उनके बीच संघर्ष की सम्भावनाओ को कम करना, एवं (3) परमाणु-अस्त्र परिसीमन के क्षेत्र मे कुछ प्रगति करना। कम से कम पहला उद्देश्य प्राप्त करने में वह बहुत कुछ सफल हुए। शेष दोनो उद्देश्यो की दिशा मे भी उत्साहवर्द्धक प्रगति हुई। शिखर-वार्ता मे पश्चिमी एशिया, भारत के परमाणु परीक्षण, यूरोप मे सेनाओ मे कटौती, यूरोपीय सुरक्षा आदि महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर भी निक्सन और ब्रेझनेव के बीच विचार-विमर्श हुआ, किन्तु इसके निष्कर्षों को गोपनीय रखा गया।[1]

भारत, पाकिस्तान और बंगलादेश के प्रति निक्सन का रवैया

निक्सन-प्रशासन-काल मे अमेरिका का भारत-विरोधी रवैया विशेष उग्र रहा और निक्सन के समय दोनो देशों के बीच सम्बन्ध जितने कटु रहे, पहले उतने कभी नही रहे थे। निक्सन ने भारत को न केवल आर्थिक सहायता ही रोकी, बल्कि सैनिक साज-सामान देना भी बन्द कर दिया और हर प्रकार भारत के प्रति अमैत्री प्रदर्शित की। बंगलादेश के मुक्ति-आन्दोलन को कुचलने मे तत्कालीन याहिया सरकार को अमेरिका और चीन का जो प्रोत्साहन मिला वह लोकतन्त्र के नाम पर कलंक था। भारत-पाक युद्ध छिड़ने पर और चीन द्वारा पाकिस्तान को शस्त्रास्त्र सहायता दिए जाने पर निक्सन-प्रशासन ने भारत को न केवल किसी प्रकार की सहायता ही देने में

1. दिनमान, 7 जुलाई, 1974.

असमर्थता प्रकट की बल्कि बंगाल की खाड़ी में अपना शक्तिशाली नौ-बेड़ा भेज कर भारत को आतंकित करने की भी कोशिश की। अगस्त, 1974 में राष्ट्रपति निक्सन के पद-त्याग तक ऐसी कोई उज्ज्वल आशा नहीं बन बन सकी कि निकट भविष्य में भारत-अमेरिका सम्बन्धों में ठोस सुधार हो सकेंगे।

राष्ट्रपति फोर्ड और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अमेरिका (अगस्त 1974–जनवरी 1977)

'महाबली निक्सन को वाटरगेट काण्ड ले डूबा' और 9 अगस्त, 1974 को उनके औपचारिक पद-त्याग के बाद उसी दिन उपराष्ट्रपति जेराल्ड फोर्ड ने अमेरिका के 38वें राष्ट्रपति के रूप में शपथ ली। नए राष्ट्रपति ने कहा कि वे इस संकल्प के साथ राष्ट्रपति-पद ग्रहण कर रहे हैं कि अमेरिका और विश्व के लिए जो कल्याणकारी होगा वही करेंगे। साथ ही उन्होंने कहा कि शान्ति के लिए निक्सन-प्रशासन ने अब तक जो कुछ किया वे भी उसी मार्ग का अनुसरण करेंगे। अमेरिका के इतिहास में 61 वर्षीय फोर्ड दूसरे राष्ट्रपति थे जो इस पद पर निर्वाचित न हो सके। अगस्त, 1974 में राष्ट्रपति पद सम्भालने के बाद से जनवरी, 1977 में जिम्मी कार्टर के पदारूढ़ होने तक उनके राष्ट्रपतित्व काल में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक रंगमंच पर अमेरिका की भूमिका को अग्रांकित बिन्दुओं में रखा जा सकता है—

पश्चिम-एशिया

अरब-इजराइल समस्या के समाधान के लिए अमेरिका के विदेश-मन्त्री डॉ॰ कीसिंगर ने अपने कूटनीतिज्ञ प्रयास जारी रखे। मार्च, 1975 तक ये प्रयत्न निराशाजनक रूप से असफल रहे और फोर्ड प्रशासन ने स्वीकार किया कि इजरायल और मिस्र के मतभेद ऐसी स्थिति में पहुँच गए थे कि उन्हें दूर करना सम्भव नहीं था।[1] फिर भी अमेरिका के शान्ति-प्रयास जारी रहे और अन्तत 4 सितम्बर, 1975 को डॉ॰ कीसिंगर मिस्र और इजरायल के बीच एक अन्तरिम समझौता कराने में सफल हुआ। समझौते की मुख्य बातें ये थीं[2]—

1 सिनाई पर्वतमाला के दर्रों और उनके आस-पास 8 निगरानी चौकियाँ होंगी—एक चौकी पर इजरायल का पूर्ण नियन्त्रण होगा और एक पर मिस्र का। शेष 6 चौकियों पर अमेरिकी तकनीकी कर्मचारी तैनात रहेंगे। ये निगरानी चौकियाँ किसी भी पक्ष की ओर से किए जाने वाले आक्रमण की पूर्व सूचना देने का काम करेंगी।

2 अबूरूदी तेल क्षेत्र जिससे इजरायल को अपनी आवश्यकता का 55 प्रतिशत तेल प्राप्त होता था मिस्र के अधिकार में आ जाएगा। इजरायल अब पूरी तरह तेल के आयात पर निर्भर रहेगा लेकिन इस आयात में कोई व्यवधान पड़ने पर अमेरिका उसकी जरूरत पूरी करेगा। मिस्र ने वचन दिया कि वह इजरायल को जाने वाले टैंकरों को रोकने के लिए लालसागर की नाकेबन्दी नहीं करेगा।

1. हिन्दुस्तान 24 मार्च 1975, सम्पादकीय पृष्ठ 4.
2. दिनमान 7 सितम्बर 1975, पृष्ठ 33.

3. इजरायल का माल किसी भी तीसरे देश के जहाज मे स्वेज नहर मे होकर नि शुल्क भेजा जा सकेगा। इजरायल के लिए यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण सुविधा थी जिसे पिछले 27 वर्षों मे अरबो से चार युद्ध करने के उपरान्त भी वह अभी तक प्राप्त नही कर पाया था।

4. नए गलियारे (बफर क्षेत्र) मे मिस्र, अमेरिका, इजरायल और संयुक्त राष्ट्र की शान्तिरक्षक सेनाओं के बीच सहयोग की व्यवस्था होगी।

उपर्युक्त अन्तरिम समझौते पर मिस्र और इजरायल ने संयुक्तराष्ट्र के प्रतिनिधि की साक्षी मे हस्ताक्षर किए। सोवियत सघ ने समझौते के प्रति अपना विरोध व्यक्त करते हुए हस्ताक्षर-समारोह का बहिष्कार किया। सोवियत सघ के विरोध का मुख्य मुद्दा सिनाय मे निगरानी चौकियो पर अमेरिकी तकनीकी विशेषज्ञों की नियुक्ति का प्रावधान था। रूस की दृष्टि मे यह व्यवस्था 'एक नया जटिल तत्त्व' थी। राजनीतिक क्षेत्रो मे सिनाय समझौते को अमेरिकी कूटनीति की विजय माना गया। 10 अक्तूबर, 1975 को मिस्र और इजरायल के अधिकारियों ने 4 सितम्बर के समझौते को विधिवत् कार्यान्वित करने और पश्चिमी एशिया मे शान्ति स्थापना की दिशा मे एक पूर्ण समझौता किया। तदनुसार यह निश्चय किया गया कि अमेरिकी काँग्रेस द्वारा इस समझौते के अनुमोदन के बाद "सिनाई से जो मिस्री और इजरायली हटेंगे उनकी जगह अमेरिकी सैनिको की सात चौकियाँ स्थापित की जाएँगी। ये चौकियाँ, जिन्हे पूर्व सूचना-केन्द्र का नाम दिया गया है, तनाव की दिशा मे एक दूसरे देश को सावधान करेंगी।" यह पूर्ण समझौता हो जाने से इजरायल ने रास सुदार नामक तेलकूपो को मिस्री हितो को देखने वाले अमेरिकी प्रतिनिधियो को हस्तान्तरित कर दिया। इस समझौते के फलस्वरूप वह मतभेद भी बहुत कुछ समाप्त हो गया जो अमेरिकी और अरब पक्षो के बीच पैदा हो गया था। 2 नवम्बर, 1975 को अमेरिका द्वारा मिस्र को नाभिकीय भट्टी देने का निश्चय किया। 30 नवम्बर को मास्को मे सयुक्त विज्ञप्ति मे यह निश्चय प्रकट किया गया कि पश्चिमी एशिया मे स्थायी शान्ति के लिए इजरायली सेना को सभी अधिकृत क्षेत्रो को खाली करना होगा। 5 मार्च, 1976 को अमेरिका ने इजरायल से आग्रह किया कि उसे पूरा सिनाई क्षेत्र खाली कर देने पर सहमत हो जाना चाहिए। अमेरिका व मिस्र के सुधरते हुए सम्बन्धो मे एक नई कडी तब और जुड गई जब 15 मार्च, 1976 को मिस्र के राष्ट्रपति सादात द्वारा सोवियत सघ से मैत्री-सन्धि रद्द कर दी गई। 27 मई, 1976 को सीरिया और इजरायल गोलन पहाडियो पर सयुक्तराष्ट्र सेनाएँ 6 महीने और रखने पर सहमत हो गए। 30 मई को मिस्र का अमेरिका से 10 करोड 20 लाख डॉलर की सहायता का समझौता हुआ। फोर्ड प्रशासन मे अमेरिका और मिस्र के सम्बन्धो मे सुधार जारी रहा।

वियतनाम

वियतनाम मे फोर्ड प्रशासन निक्सन के पद-चिह्नों पर चलता रहा। सन् 1975 का नया वर्ष वियतनामी जनता के लिए अशुभ सन्देश लेकर आया और

युद्ध पुनः तेजी से भड़क उठा। अप्रैल के आरम्भ में यह लगभग स्पष्ट हो गया कि दक्षिण वियतनाम राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे के हाथों में चला जाएगा। 11 अप्रैल, 1975 को फोर्ड ने अपने एक विशेष सन्देश में कांग्रेस से दक्षिण वियतनाम के लिए एक अरब डॉलर की सहायता का प्रस्ताव रखा, पर कांग्रेस ने राष्ट्रपति की इस माँग को अव्यावहारिक ठहराया।[1] आखिर 30 अप्रैल, 1975 को अमेरिका समर्थित दक्षिण वियतनामी सरकार ने राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया और इस प्रकार कई पीढ़ियों से चला आ रहा वियतनाम का ऐतिहासिक युद्ध समाप्त हो गया। जन-धन के भारी बलिदान के बावजूद अमेरिका को वियतनाम से हटना पड़ा। यह महायुद्धोत्तर इतिहास में अमेरिकी विदेश-नीति की सबसे गहरी और लज्जाजनक पराजय थी। वियतनाम के प्रति अमेरिका का आक्रोश मिटा नहीं और अगस्त, 1975 में उसने सुरक्षा परिषद् में निषेधाधिकार का प्रयोग कर उत्तर वियतनाम तथा दक्षिण वियतनाम के संयुक्त राष्ट्र में प्रवेश में बाधा उपस्थित की।[2] अमेरिका का निषेधाधिकार प्रयुक्त करना अप्रत्याशित नहीं था। अमेरिकी प्रतिनिधि ने पहले ही यह स्पष्ट कर दिया था कि यदि सुरक्षा परिषद् दक्षिणी कोरिया को संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाने के लिए सहमत होगी तभी अमेरिका दोनों वियतनामों की सदस्यता का समर्थन करेगा। लेकिन सुरक्षा परिषद् ने उससे पहले ही दक्षिणी कोरिया के आवेदनपत्र पर विचार करने से इन्कार कर दिया था। अमेरिका ने अपनी कार्यवाही के समर्थन में यह तर्क दिया था कि यह चुनींदा आधार पर सार्वभौमिकता के सिद्धान्त के विरुद्ध है। अमरिकी राजदूत डेनियल पैट्रिक मोनिहन ने अपने नपतुले भाषण में कहा, 'हमें उस चुनींदा सार्वभौमिकता से कुछ लेना-देना नहीं है जो व्यवहार में केवल उन्हीं नए सदस्यों को प्रवेश दिलाती है जो अधिनायकवादी राज्यों को स्वीकार्य होते हैं।" उन्होंने कहा कि दक्षिणी कोरिया को यह अधिकार भी नहीं दिया गया कि उनके मामले पर विचार हो। 1 नवम्बर, 1976 को सुरक्षा-परिषद् में यह प्रश्न पुनः प्रस्तुत हुआ कि वियतनाम गणतन्त्र को संयुक्त राष्ट्रसंघ का 146वाँ सदस्य बना लिया जाए। सोवियत संघ, चीन, ब्रिटेन और फ्रांस ने प्रस्ताव का जोरदार समर्थन किया, किन्तु अमेरिका ने यह स्पष्ट कर दिया कि वर्तमान परिस्थितियों में यह वियतनाम को संयुक्त राष्ट्रसंघ में प्रवेश के लिए समर्थन देने को तैयार नहीं है। हिन्द-चीन पर साम्यवादियों का पूर्ण अधिकार हो जाने के बाद फोर्ड प्रशासन अमेरिका की एक विशेष उपलब्धि यह मानी जाएगी कि वह हनोई और वाशिंगटन के बीच किसी न किसी स्तर पर सम्बन्ध बनाए रखने में सफल रहा।

पाकिस्तान को हथियार

भारत के प्रति फोर्ड प्रशासन का रवैया निक्सन-प्रशासन से भी एक कदम आगे बढ़ा–विशेष रूप से तब जब फरवरी 1975 में अमेरिकी सरकार ने पाकिस्तान को हथियार देने पर 10 वर्ष से लगी पाबन्दी को हटाने के अपने निर्णय की सूचना

1. दिनमान 20 अप्रैल 1975, पृष्ठ 30.
2. दिनमान 24 अगस्त 1975, पृष्ठ 32.

औपचारिक रूप से भारत सरकार को दे दी। अमेरिका सरकार ने अपने निर्णय को इस आधार पर उचित ठहराने की कोशिश की कि भारत ने गत वर्ष अणु-विस्फोट किया था और अमेरिका की इस क्षेत्र मे शक्ति-सन्तुलन बनाए रखने में गहरी रुचि है। राष्ट्रपति फोर्ड इस तथ्य को भुला बैठे कि मुख्यतः अमेरिकी हथियारो ने ही पाकिस्तान को भारत से बार-बार युद्ध करने के लिए प्रेरित किया है।

अमेरिका के इस कदम की भारत मे तीव्र प्रतिक्रिया हुई और भारतीय विदेश मन्त्री ने अपनी प्रस्तावित अमेरिका यात्रा भी स्थगित कर दी। 13 अप्रेल, 1975 को रक्षा-मन्त्री स्वर्णसिंह ने स्पष्ट शब्दो में चेतावनी दी कि पाकिस्तान *'अन्तर्राष्ट्रीय षड्यन्त्र' का शिकार हो गया है तथा उसे भारी मात्रा मे दिए जा रहे* अमेरिकी हथियार स्वय उसी के लिए खतरा है।[1]

इन व्यवधानो के बावजूद भारत सरकार का यह प्रयत्न रहा कि अमेरिका के साथ सम्बन्ध सुधारे जाएँ। अतः "एक दूसरे को अधिक अच्छी तरह समझने के लिए भारत-अमेरिका के बीच वार्ता और आदान-प्रदान का कार्यक्रम सन् 1975 मे जारी रहा। आम तौर पर यह अनुभव किया गया कि समस्याओं के बावजूद दोनो देशो के बीच राष्ट्रीय हित के स्तर पर कोई विवाद नही है। अक्तूबर, 1975 मे भारत के विदेश-मन्त्री ने अमेरिका की यात्रा की। भारत सरकार ने अमेरिका को स्पष्ट किया कि पाकिस्तान को उन्नत अमेरिकी हथियार मिलने से शिमला समझौते के अन्तर्गत सम्बन्धो के सामान्यीकरण की प्रक्रिया पर बुरा असर पड सकता है और इस क्षेत्र मे हथियारो की होड बढ सकती है। सितम्बर, 1976 मे श्री केवलसिंह अमेरिका मे भारत के नए राजदूत नियुक्त हुए। अक्तूबर, 1976 अमेरिका में राष्ट्रपतीय चुनावो की सरगर्मी का महीना रहा और 3 नवम्बर, 1976 को डेमोक्रेटिक उम्मीदवार जिम्मी कार्टर रिपब्लिकन राष्ट्रपति फोर्ड को हराकर अमेरिका के 39वें राष्ट्रपति चुने गए। भारतीय राजदूत केवलसिंह ने भारत सरकार के संस्थानों तथा अमेरिका स्थित प्रतिष्ठानो को सलाह दी कि वे नए प्रशासन की स्थापना के बाद अमेरिका से व्यापारिक तथा अन्य सम्बन्ध मजबूत बनाने का प्रयास करें। उन्होने कहा कि कुछ मामलो मे नया प्रशासन पुराने प्रशासन से भिन्न होगा और हमें यह कोशिश करनी चाहिए कि नए प्रशासन के साथ हम अपने सम्बन्ध अधिक मजबूत बनाएं। श्री केवलसिंह ने कहा कि अमेरिका मे, जहाँ कुछ दिनो पूर्व *भारत विरोधी रुख बना हुआ था, आज स्थिति बदल रही है। अब भारत की प्रगति* की वहाँ भी सराहना की जा रही है। आर्थिक क्षेत्र मे हुई प्रगति को सामान्यतया स्वीकार किया गया है।

कम्बोडिया

अमेरिका वियतनाम मे भी पिटा और कम्बोडिया मे भी। 18 अप्रेल, 1975 को समाचार प्रकाशित हुए—"कम्बोडिया युद्ध का अन्त—ख्मेर सेना का नोमपेन्ह पर कब्जा और सरकार का समर्पण, कार्यवाहक राष्ट्राध्यक्ष व प्रधानमन्त्री

1. हिन्दुस्तान 13 अप्रेल 1975, पृष्ठ 1.

भागे।" वस्तुतः कम्बोडिया मे भी अमेरिका को किसी प्रकार अपनी इज्जत बचाने की ही चिन्ता रही और वह पराजित सरकार को गुमराह करने वाले आश्वासन देता रहा। अमेरिका की नीति जो भी रही हो, यह प्रसन्नता की बात थी कि पिछले पाँच वर्ष से 70 लाख कम्बोडिया नागरिको के जीवन को अस्त-व्यस्त कर देने वाला तथा अगणित लोगों की बलि लेने वाला युद्ध समाप्त हो गया।

अमेरिका-रूस : सुधरते सम्बन्धों का मूल्यांकन

सन् 1972 (22 से 30 मई) मे रिचर्ड निक्सन ने सोवियत संघ की पहली यात्रा कर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक नयी दिशा प्रदान की थी। उनके उत्तराधिकारी राष्ट्रपति फोर्ड ने भी इस यात्रा-कूटनीति को जारी रखा और रूस के साथ सम्बन्ध सुधार के प्रयत्न चालू रहे। 23-24 नवम्बर, 1974 को फोर्ड की सोवियत नेता ब्रेझनेव से पहली भेंट ब्लाडीवोस्टक मे हुई। इस शिखर-वार्ता के दौरान सामरिक अस्त्र-परिसीमन के लिए समझौते के एक दूसरे चरण की रूपरेखा तैयार की गई और डॉ कीसिंगर ने कहा कि जून, 1975 मे ब्रेझनेव की अमेरिका-यात्रा के समय प्रस्तावित समझौते पर हस्ताक्षर हो जाएंगे। नया समझौता सन् 1977 मे प्रथम समझौते की (जो 1972 मे हुआ था) अवधि समाप्त होने पर लागू होगा और सन् 1985 तक क्रियान्वित रहेगा। राष्ट्रपति फोर्ड ने कहा—'हमने अस्त्र-दौड़ पर रोक लगायी है जिसके कारण सोवियत संघ को अपने नियोजित कार्यक्रम मे कटौती करनी होगी और यह कटौती अमेरिकी कार्यक्रम से कुछ अधिक ही होगी।"

सोवियत-संघ और अमेरिका के अधिकारियों मे विभिन्न स्तरों पर बातचीत का सिलसिला चलता रहा—कभी मास्को से और कभी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन-स्थलों पर। जुलाई-अगस्त, 1975 मे हैलसिंकी सम्मेलन को सफल बनाने मे रूस और अमेरिका ने एक-दूसरे का दृष्टिकोण समझने की कोशिश की। जुलाई, 1975 मे अन्तरिक्ष-यात्रियों का मिलन वास्तव मे रूस और अमेरिका के मध्य बढ़ती हुई सद्भावना का परिचायक था। इस सफल संयुक्त परियोजना से परस्पर मैत्री की भावना दृढ़ हुई और यह आशा की जाने लगी कि दो महाशक्तियों के बढ़ते हुए सहयोग से विश्व-राजनीति मे व्याप्त तनाव कम होगा। 9 अप्रैल, 1976 को अमेरिका और सोवियत संघ आणविक परीक्षणों का निरीक्षण करने पर सहमत हो गए और 13 मई, 1976 को शान्ति के लिए परमाणु विस्फोट के आकार आदि पर दोनों पक्षों मे एक समझौता हुआ। दोनों महाशक्तियों के आर्थिक सम्बन्ध भी उत्तरोत्तर सुधरते गए। सन् 1976 के मध्य तक उनके बीच व्यापार मे चार सौ प्रतिशत से भी अधिक की वृद्धि आँकी गई थी।

अमेरिका-चीन सम्बन्ध : बदलते पहलू

निक्सन ने चीन की ओर अमेरिकी दोस्ती का हाथ बढ़ाया था और फोर्ड ने भी अगस्त 1974 मे सत्तारूढ़ होते ही अगले माह नवम्बर 1974 मे विदेश मंत्री डॉ कीसिंगर को पुनः चीन यात्रा पर भेजा था। यह उनकी सातवीं पीकिंग यात्रा

थी। लेकिन इस बार ऐसा प्रतीत हुआ कि अमेरिका और चीन के सम्बन्ध ठण्डे हो चले हैं। वास्तव में चीन को यह अच्छा नहीं लगा कि अमेरिका रूस के अधिक निकट आये। फोर्ड-ब्रेझनेव वार्ता के लिए ब्लाडीवोस्टक के चुनाव से चीन की भावनाओं को विशेष ठेस पहुँची क्योंकि यह स्थान कभी चीन का भाग था। चीन ने सोचा कि उसे चिढ़ाने के लिए ब्लाडीवोस्टक को वार्ता-स्थल चुना गया है। चीन के आक्रोश का एक कारण यह भी था कि अमेरिका ने ताइवान के प्रश्न पर शघाई-समझौते पर अमल नहीं किया जो साल भर पहले डॉ किसिंगर की छठी यात्रा के समय दोनों पक्षों के बीच हुआ था। चीन के नये विदेश मन्त्री चिआओ कुआनहुआ ने भूतपूर्व राष्ट्रपति निक्सन की सराहना की और कहा कि उन्होंने चीन-अमेरिका सम्बन्ध सुधारने में भारी योग दिया था। इस सराहना के माध्यम से चीनी नेताओं ने राष्ट्रपति फोर्ड को जता दिया कि अब अमेरिका की ओर से चीन को कुछ अनिश्चितता महसूस होने लगी है। चार-दिन के प्रवास के बाद कीसिंगर खाली हाथ लौट आये।

डॉ कीसिंगर की आठवीं चीन यात्रा (19-23 अक्तूबर, 1975) के दौरान भी चीन के नेताओं ने बड़े ठण्डे दिल से अमेरिकी विदेश मन्त्री का स्वागत किया। राजनीतिक क्षेत्रों में यहाँ तक आशंका व्यक्त की गयी कि सम्भवतः राष्ट्रपति फोर्ड की चीन यात्रा खटाई में पड़ जायेगी। अध्यक्ष माओ ने भूतपूर्व अमेरिकी राष्ट्रपति निक्सन की प्रशंसा की और उनसे पुन मिलने की इच्छा प्रकट करके यह संकेत दिया कि चीन को फोर्ड आचार-विचार पसन्द नहीं हैं। माओ और अन्य चीनी नेता तो यह चाहते थे कि निक्सन ने चीन-अमेरिका सम्बन्ध की प्रक्रिया जहाँ पर छोड़ी थी फोर्ड वहीं से उसे आगे बढ़ाये। लेकिन फोर्ड के सामने नई परिस्थितियाँ थी और वे निक्सन का अनुकरण नहीं कर सकते थे। डॉ कीसिंगर के फीके स्वागत के बावजूद राष्ट्रपति फोर्ड ने दिसम्बर 1975 में चीन की यात्रा की। वह 1 से 4 दिसम्बर तक राजधानी पीकिंग में रहकर इण्डोनेशिया और फिलिप्पीन होते हुए स्वदेश लौट गये। फोर्ड की चीन-यात्रा फीकी रही। यात्रा की समाप्ति पर कोई संयुक्त वक्तव्य प्रसारित नहीं किया गया, क्योंकि दोनों ही पक्षों ने इसकी जरूरत नहीं समझी। चीनी नेताओं ने इसे विवेकशील गोपनीयता को 'एक नई शैली' की संज्ञा दी। अमेरिकी राष्ट्रपति के फीके स्वागत के बावजूद चीन-अमेरिका में वार्ता टूटने की नौबत नहीं आयी। फरवरी, 1976 में भूतपूर्व अमेरिकी राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन ने चीन की यात्रा की जहाँ उन्हें राज्याध्यक्ष जैसा सम्मान दिया गया। रिचर्ड निक्सन के इस सम्मान द्वारा चीनी नेताओं ने अमेरिकी राष्ट्रपति फोर्ड को यह संकेत दे दिया कि 'चीन को फोर्ड नहीं निक्सन चाहिए'। 15 अगस्त, 1976 को अमेरिका ने ताइवान की अपेक्षा चीन से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने का निश्चय व्यक्त किया।

अमेरिका और जापान

राष्ट्रपति पद की शपथ लेने के बाद 18 नवम्बर, 1974 को फोर्ड की पहली

विदेश यात्रा जापान की राजधानी टोकियो की थी। फोर्ड के पहुँचने से पहले ही टोक्यो की सड़कों पर फोर्ड विरोधी नारे लगने लगे और वामपंथी युवकों की पुलिस से मुठभेड़ हुई। जब निक्सन आये थे तो भी ऐसा ही हुआ था। जापान में वस्तुतः अमेरिका-विरोधी भावना बहुत उग्र है। फोर्ड का स्वागत कड़ी सुरक्षा के अन्तर्गत किया गया। उनकी अगवानी के लिए हवाई अड्डे पर न तो सम्राट् ही आये और न प्रधानमन्त्री ही। जापान को इस बात से गहरा आक्रोश है कि एक तो ओकीनावा द्वीप बहुत विलम्ब से और भारी हील हुज्जत के बाद लौटाया गया और दूसरे चीन की ओर अपनी दोस्ती का हाथ बढ़ाने में पहले अमेरिका ने जापान को विश्वास में नहीं लिया। जापानी प्रधानमन्त्री तनाका और फोर्ड के बीच वार्ता में जापान ने अमेरिका से अनाज की माँग की जो अमेरिका ने स्वीकार कर ली। कीसिंगर ने, जो फोर्ड के साथ थे, अपनी पाँच सूत्री योजना प्रस्तुत की जिसमें सभी औद्योगिक राष्ट्रों से अपील की गयी थी कि वे मिलकर प्रतिदिन 30 लाख बैरल तेल की खपत कम करें ताकि तेल-संकट को पार किया जा सके। अमेरिका-जापान की सन् 1960 की सुरक्षा-संधि को दोनों देशों के बीच मैत्री-सम्बन्धों के लिए पुनः महत्वपूर्ण बताया गया।

टोक्यो की यात्रा के बाद राष्ट्रपति फोर्ड दक्षिणी कोरिया की यात्रा पर गये और फिर वहाँ से ब्लाडीवोस्टक में रूसी नेताओं से मिले।

लेटिन अमेरिका : क्यूबा के प्रति नीति परिवर्तन

कोस्टारिका की राजधानी सान जोस में 29 जुलाई, 1975 को काफी रात गये अमेरिकी राज्यों के 21 सदस्यीय संगठन में यह प्रस्ताव स्वीकार किया गया कि पिछले 11 सालों से क्यूबा के विरुद्ध जो सामूहिक राजनयिक और व्यापारिक प्रतिबन्ध लगा रखे थे उन्हें अब समाप्त कर दिया जायेगा। अमेरिका समेत 16 देशों ने इस प्रस्ताव के पक्ष में मतदान किया। इस प्रस्ताव में कहा गया था कि प्रत्येक अमेरिकी राज्य क्यूबा के साथ अपने व्यापारिक और राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए स्वतन्त्र है। उल्लेखनीय है कि विधिवत तौर पर यह प्रस्ताव पारित होने के पहले कई देशों ने क्यूबा के साथ एकतरफा सम्बन्ध स्थापित कर भी लिये थे। इन देशों का दबाव अमेरिका पर इतना बढ़ गया कि अमेरिकी-राज्य-संगठन में फूट की स्थिति दृष्टिगोचर होने लगी। कई सदस्यों ने अमेरिकी प्रशासन से अनुरोध किया कि वह क्यूबा के विरुद्ध अवास्तविक नीतियों को अपनाना छोड़ दे। कई क्षेत्रों में यह प्रस्ताव अमेरिकी नीतियों की पराजय समझा गया।

राष्ट्रपति कैनेडी ने क्यूबा को अन्य देशों से पृथक् रखने का प्रयास किया था। लेकिन उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई। क्यूबा न केवल लेटिन अमेरिकी देशों में ही नहीं, बल्कि तीसरी दुनिया के देशों में भी सम्मानपूर्ण स्थान बना लिया और गुटनिरपेक्ष देशों का वह एक महत्वपूर्ण सदस्य माना जाने लगा। क्यूबा की राजनीतिक और आर्थिक स्थिति को देखते हुए अमेरिकी राजनीतिज्ञों ने प्रशासन पर दबाव डाला कि समय आ गया है जब क्यूबा के साथ सम्बन्ध सुधारे जायें। क्यूबा

के साथ सम्बन्ध सुधारने का दौर निक्सन-काल से ही शुरू हो गया था और फोर्ड के सत्ता मे आने के बाद उन पर दबाव और बढ गया।

सन् 1974 में फ्रांस के राजनीतिक जीवन मे कई महत्त्वपूर्ण मोड आये। अक्तूबर 1973 मे अरब इजराइल-युद्ध के बाद अरब-देशो द्वारा तेल का मूल्य बढाकर तेल आपूर्ति नियंत्रित करने से विश्व मे जब तेल-संकट उत्पन्न हुआ तो अमेरिका ने तेल का उपयोग करने वाले देशो की संयुक्त कार्रवाई द्वारा उसका सामना करने की जो योजना बनायी, फ्रास के राष्ट्रपति जार्ज पोम्पिदू ने उससे फ्रास को पृथक् रखा। अप्रैल 1974 मे पोम्पिदू की मृत्यु के बाद गिस्टार्ड गिस्तांग राष्ट्रपति चुने गये। उन्होंने भी अरब देशो पर सयुक्त रूप से दबाव डालने के बजाय द्विपक्षीय आधार पर सहयोग की नीति अपनायी। बाद मे अमेरिकी राष्ट्रपति श्री फोर्ड के साथ गिस्तांग की भेंट के बाद फ्रास ने भी तेल उपभोक्ता देशों के साथ सहयोग करने के लिए सहमति व्यक्त कर दी। गिस्तांग 20 मई, 1974 को फ्रास के नये राष्ट्रपति चुने गये तथा बाद मे जैक्स चिराक प्रधानमन्त्री नियुक्त हुए। फ्रास ने अरब इजरायल युद्धकाल से पश्चिमी एशिया के देशो द्वारा शस्त्रो के निर्माण पर प्रतिबन्ध लगा दिया था जो अगस्त 1974 मे उठा लिया गया।

राष्ट्रपति कार्टर और अमेरिकी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

20 जनवरी, 1977 को डेमोक्रेटिक पार्टी के 53 वर्षीय जेम्स अर्ल (जिम्मी) कार्टर (जन्म 1 अक्तूबर, 1924, प्लेन, जार्जिया) ने अमेरिका के 39वें राष्ट्रपति के रूप मे जब सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश वॉरेन बर्जर से शपथ ग्रहण की तो उनकी आंखो मे एक विशेष प्रकार की चमक थी जो अमेरिका के भविष्य का सदेश दे रही थी। कार्टर ने अपने उद्घाटन भाषण मे कहा—

"हम सब को मिल कर परस्पर एकता और विश्वास की एक नई राष्ट्रीय भावना का सूत्रपात करना है। आप लोगो की शक्ति मेरी कमजोरियो को बल प्रदान करेगी। आप लोगो की बुद्धिमत्ता मेरी गल्तियो को कम करने मे सहायक सिद्ध होगी। हम सबको एक साथ मिल कर सीखना है, एक साथ मिल कर हँसना है, एक साथ मिल कर काम करना है और एक साथ मिल कर प्रार्थना करनी है। मुझे विश्वास है कि हमको अन्ततः विजय प्राप्त होगी। हमे एक बार फिर अपने देश मे पूर्ण विश्वास की भावना जाग्रत करनी है। हमारा यह भी विश्वास है कि अमेरिका पहले से अच्छा होगा और पहले से हम कही अधिक शक्तिशाली होंगे। मानवाधिकारो के प्रति हमारी प्रतिबद्धता पूर्ण होनी चाहिए। हमारे कानून निष्पक्ष होने चाहिए। शक्तिशाली कमजोर का गला न दबाए इस बात का ख्याल रखते हुए हमे मानवीय गरिमा मे वृद्धि करनी चाहिए। विदेशो मे हमारा देश तभी शक्तिशाली होगा यदि हम अपने घर मे शक्तिशाली होगे। हम जानते हैं कि अपनी स्वाधीनता और अपनी लोकतन्त्रीय पद्धति एव मूल्यो का इस धरती पर ही हम प्रमाण दे सकते हैं। विदेशों में हमे इस तरह व्यवहार नहीं करना चाहिए जिससे हमारे घर के आयामो और नियमों का उल्लंघन होता हो। हम एक शक्तिशाली

राष्ट्र की शक्ति को बनाए रखेंगे। हम अपनी शक्ति को केवल संघर्ष या युद्ध के क्षेत्र मे ही उजागर नही करेंगे बल्कि गरीबी, अज्ञानता और अन्याय के विरुद्ध लड़ने के लिए इसका प्रयोग करेंगे। हम अपने गौरवपूर्ण आदर्शों के लिए दुनिया भर में जाने जाते हैं लेकिन हमारे आदर्शों का तात्पर्य हमारी कमजोरी नही है। हम स्वाधीन हैं अतः हम अन्य राष्ट्रो की स्वाधीनता की भावना के विरुद्ध नही हो सकते।"

"आज दुनिया अस्त्रो की दौड़ मे लगी हुई है। अपनी शक्ति को वह अस्त्रो के पैमाने से नापती है। हम अपनी ओर से विश्व मे अस्त्रो को सीमित करने के प्रयास की प्रतिज्ञा करते हैं। हम यह भी प्रतिज्ञा करते हैं कि इस वर्ष के अन्त तक हम अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेंगे तथा इस धरती से सभी परमाणु अस्त्रो की समाप्ति कर देंगे। हम सभी देशो और लोगो से इस प्रयास मे सहयोग का अनुरोध करते हैं। इसकी सफलता का अर्थ जीवन है, मृत्यु नही। मेरा विश्वास है कि संसार के राष्ट्र यह कहने पाए जाएँगे कि हमने एक ऐसे शान्तिपूर्ण वातावरण की सृष्टि की है जो युद्ध के अस्त्रों पर आधारित न होकर अन्तर्राष्ट्रीय नीतियो पर आधारित है जो हमारे बहुमूल्य मूल्यो को प्रतिबिम्बित करती है।"[1]

दिसम्बर, 1977 तक कार्टर प्रशासन का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक रवैया क्या रहा इसे हम निम्नलिखित शीर्षको मे व्यक्त कर सकते है—

नए रिश्तो की शुरुआत

20 जनवरी, 1977 को सत्ता सम्भालने के बाद राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर ने चुनाव अभियान मे किए गए वादो पर अमल शुरू कर दिया। पहले उन्होने वियतनाम के युद्ध मे जबरन लामबन्दी का विरोध करने वाले लोगो को क्षमादान सम्बन्धी आदेश प्रसारित किया। उपराष्ट्रपति वाल्टर मांडेल को 23 जनवरी से 31 जनवरी तक सात देशो की यात्रा पर भेजा और संयुक्त राष्ट्र मे स्थायी प्रतिनिधि एड्रू यंग को 3 फरवरी से 12 फरवरी को तांजानिया तथा नाइजीरिया की दस दिवसीय यात्रा पर भेजा।

यंग का आश्वासन—एड्रू यंग ने तांजानिया के राष्ट्रपति जूलियस न्येरेरे को अमेरिका के राष्ट्रपति की सद्भावना व्यक्त करते हुए कहा कि हम अमेरिकी अपने प्रभाव और शक्ति के प्रयोग से दक्षिण अफ्रीका भर में बहुसंख्यक और बहुजातीय शासन की सम्भावनाओ पर विचार कर सकते है। दरअसल दक्षिण अफ्रीका के समस्याओं का समाधान अफ्रीकियो द्वारा स्वयं होना चाहिए, हम लोग तो केवल सहायता कर सकते हैं। इस सहायता में हमे रक्तपात और विनाश के विकल्प के स्थान पर स्थायी शान्ति का विकल्प ढूंढा जाना चाहिए। यंग ने इन अफ्रीकी नेताओं को विश्वास दिलाया कि वह वायरर्ड संशोधन मे परिवर्तन करा कर रोडेशिया क्रोम का आयात बंद करने की सिफारिश करेंगे। एड्रू यंग की इस यात्रा से अफ्रीका में अमेरिका प्रशासन के प्रति एक नई तस्वीर स्थापित होगी।

1 दिनमान 30 जनवरी—5 फरवरी, 1977, पृष्ठ 31.

मांडेल की बातचीत—उपराष्ट्रपति वाल्टर मांडेल ने बेल्जियम, पश्चिम जर्मनी, इटली, ब्रिटेन, फ्रांस और जापान की नौ दिवसीय यात्रा मे इन देशो से पारस्परिक सम्बन्धों के बारे मे वार्ता की। साथ ही यूरोपीय आर्थिक समुदाय और नैटो के अमेरिका के साथ सम्बन्धों का जायजा लिया। वाशिंगटन वापसी पर उन्होंने कहा कि वह आश्वस्त हो कर स्वदेश लौटे हैं। उन्होंने इटली की जर्जर अर्थव्यवस्था मे सुधार का आश्वासन दिलाया और नैटो के प्रति अमेरिका की प्रतिबद्धता व्यक्त की। पश्चिम जर्मनी के नेताओ से द्विपक्षीय और बहुपक्षीय व्यापारिक समझौतों पर वार्ता तथा ब्राजील को परमाणु जानकारी देने के बारे में विशेष विचार हुआ।

पश्चिम एशिया और कार्टर प्रशासन

कार्टर प्रशासन ने पश्चिम एशिया की समस्या के निदान के लिए पूर्वापेक्षा अधिक व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया। कार्टर के पदारूढ होने के बाद से ही अरब नेता समस्या के हल के लिए अमेरिका की ओर ताकने लगे थे। वैसे भी अरब देशो को और विशेषकर मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात को अमेरिका और उसके नेताओ पर बहुत भरोसा है। उनकी मान्यता है कि यदि पश्चिमी एशिया मे स्थिति सामान्य हो सकती है और शत्रुतापूर्ण वातावरण की समाप्ति हो सकती है तो वह केवल अमेरिकियो की मध्यस्थता से ही सम्भव है।

सन् 1977 के प्रारम्भिक चरण मे पश्चिमी एशिया मे एक बार फिर तनाव की स्थिति पैदा हो गई। तनावपूर्ण वातावरण को छोड कर मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात ने पश्चिमी जर्मनी के चांसलर हेल्मूट शिम्डट से स्पष्ट कहा कि पश्चिमी एशिया के मसले पर जिनेवा मे होने वाले सम्मेलन मे फिलिस्तीनियों को अवश्य भाग लेना चाहिए। समस्या मुख्यतया उन्ही की है और उनके प्रतिनिधियो को सुनना सभी के लिए उपयोगी रहेगा। राष्ट्रपति सादात ने सन् 1977 का वर्ष पश्चिमी एशिया के लिए निर्णायक माना। उन्होंने इस बात की भी आशा व्यक्त की कि काफी समय से स्थगित जिनेवा सम्मेलन जल्दी आरम्भ होगा।

जब सादात अमेरिका पहुंचे तो पहले विदेश मन्त्री साइरस वैस और उसके बाद प्रतिरक्षा मन्त्री केरल्ड ब्राउन ने उन्हे कुछ उसी प्रकार का आश्वासन दिलाया। अनवर सादात ने राष्ट्रपति कार्टर को यह बात स्पष्ट रूप से बता दी कि जब तक फिलिस्तीनियो का पृथक् राज्य नहीं बन जाता तब तक अरब-इजराइल संघर्ष पूरी तरह समाप्त नही हो सकता। यह काम केवल अमेरिका ही कर सकता है। इसके अलावा सादात ने अमेरिकी हथियारो की खरीद के बारे मे भी वार्ता की। राष्ट्रपति सादात और राष्ट्रपति कार्टर ने सन् 1977 के उत्तरार्द्ध मे जेनेवा सम्मेलन आयोजित करने के लिए प्रयास करने की बात दोहरायी। सादात को कार्टर की नीयत पर संदेह न होना स्वाभाविक था। कार्टर प्रशासन द्वारा इजरायल को बमवर्षक बेचने की कार्यवाही रद्द करना और विदेश मन्त्री साइरस वैस को पश्चिमी एशिया की तथ्यान्वेषण का उत्तरदायित्व सौंपना, ये दो ऐसी घटनाएँ थीं जिन्हे सादात समस्या के समाधान के प्रति अमेरिकी राष्ट्रपति की ईमानदारी का प्रमाण मान सकते थे।

सादात के अमेरिका-यात्रा के बाद ही पश्चिमी एशिया की राजनीति मे तेजी से नए मोड आए। इजरायल मे मोशे बेगिन के नेतृत्व मे लिकुड और नेशनल रिलीजियेस पार्टी ने सत्ता ग्रहण की तो मिस्र के विदेश मन्त्री इस्माइल फाहमी ने सोवियत सघ की यात्रा की। मिस्र और इजराइल के नेता पश्चिमी एशिया की राजनीति को एक नई दिशा देने के प्रयत्न मे लगे रहे। उधर अमेरिका के राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर ने इजरायल के नए शासको को स्पष्ट रूप से बता दिया कि अरबो की हथियाई हुई भूमि उन्हे लौटानी होगी।

अक्तूबर, 1977 मे अमेरिका, सोवियत सघ, अरब देश और इजरायल के बीच एक अनौपचारिक समझौता हुआ जिसमे उस गतिरोध को समाप्त कर दिया जो पिछले एक अर्से से जिनेवा सम्मेलन बुलाने मे बाधक बना हुआ था। समझौते के अनुसार इजरायल इस बात पर सहमत हो गया कि अरब देशों के प्रतिनिधि मण्डल मे फिलिस्तीनियो का प्रतिनिधि भी सम्मिलित हो सकता है—यानी मिस्र, सीरिया, जोर्डन, लेबनान और फिलिस्तीन का एक सयुक्त प्रतिनिधि मण्डल भविष्य मे होने वाले जिनेवा सम्मेलन मे अरब पक्ष का प्रतिनिधित्व कर सकेगा। यह एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी, क्योंकि अब तक इजरायल इस बात पर अड़ा हुआ था कि वह ऐसे किसी सम्मेलन मे भाग नही लेगा जिसमे फिलिस्तीनी प्रतिनिधि उपस्थित होगा।

अमेरिका और विशेष कर राष्ट्रपति कार्टर मे विश्वास रखते हुए मिस्री राष्ट्रपति सादात ने पश्चिमी एशिया मे शान्ति की स्थापना के लिए इजरायल की यात्रा का निर्णय ले लिया। 19 नवम्बर, 1977 को सादात जब यरूशलम पहुँचे तो 29 साल पूर्व अस्तित्व मे आए इजरायल आन वाले वह प्रथम अरब नेता थे। जब इजरायली प्रधानमन्त्री मोशे बेगिन से उन्होने हाथ के ऊपर हाथ रख कर मिलाया तो एक टिप्पणीकार बरबस कह उठा— मैं दोनो को देख रहा हूँ लेकिन विश्वास नही हो पा रहा है कि क्या वास्तविकता है, क्या यह मिलन सम्भव है।" राष्ट्रपति सादात ने 20 नवम्बर को इजरायली ससद (नेसेट) को सम्बोधित किया और पश्चिमी एशिया मे शान्ति के लिए कुछ उदार शर्तें रखी। सादात ने इजरायली संसद-सदस्यो को आश्वासन दिलाते हुए कहा कि फिलिस्तीन राज्य की स्थापना से उन्हे डरना नही चाहिए। वस्तुत, उसके अस्तित्व मे आने से उसे तो दुनिया से सहायता की आवश्यकता होगी। अमेरिका ने भी फिलिस्तीनी राज्य की वास्तविकता और वैधानिकता को मान्यता प्रदान की है। सादात ने यह भी कहा कि वह बिना अन्य अरब देशों से विचार-विमर्श किए यरूशलम आए हैं। यदि हम एक दूसरे से मिल बैठ कर अपनी समस्याएँ सुलझा लेंगे तो इससे हम छोटे नही हो जाएँगे। मैं खुले दिमाग से यहाँ आया हूँ। इसके साथ ही उन्होने इजरायल के अस्तित्व को मान्यता देने की भी घोषणा की, लेकिन उन्होने इस बात से इंकार कर दिया कि वह इजरायल के साथ एकतरफा समझौता करना चाहते थे। यह बात सही है कि इजरायल के अधिकार मे मिस्र का अधिक क्षेत्र है और सीरिया का उससे कम,

लेकिन अनवर सादात ने यह स्पष्ट कर दिया कि मिस्र के अलावा सीरिया और जोर्डन से भी समझौता किया जाना चाहिए।[1]

अमेरिका और वियतनाम

जिम्मी कार्टर के राष्ट्रपतित्वकाल के प्रारम्भिक कुछ महीनों में ही वियतनाम के प्रति अमेरिका का दृष्टिकोण अधिक व्यावहारिक बन गया। अप्रेल-मई, 1977 में पेरिस वार्ता का दौर चला। जो बात-चीत वियतनाम और अमेरिका के बीच हुई उसमें अमेरिका के रिचर्ड होलब्रूक ने विश्वास दिलाया कि अमेरिका अब वियतनाम के संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बनने में बाधा न डालेगा। पिछली चार बार अमेरिका ने संयुक्त राष्ट्रसंघ में अपने निषेधाधिकार का प्रयोग कर वियतनाम को विश्व-संस्था का सदस्य नहीं बनने दिया। अमेरिका अकेला ही इस बात पर वियतनाम का विरोध कर रहा था। पेरिस-वार्ता में अमेरिका ने वियतनाम में अपने दूतावास स्थापित करने की बात उठायी। वियतनाम ने दो मुख्य बातों पर जोर दिया। पहली, अमेरिका सन् 1973 के अमेरिका-वियतनाम समझौते की 29वीं धारा के अनुसार युद्ध में आहत देश के पुनर्निर्माण में आर्थिक सहायता दे और दूसरी, अमेरिका वियतनाम के साथ व्यापार करने पर लगाए गए सब प्रतिबन्धों को तुरन्त हटा ले। पेरिस बातचीत के दौरान यह प्रश्न उठा कि कौन-सी बात पहले तय की जाए—अमेरिका द्वारा एक दूसरे के देश में दूतावास स्थापित करने की बात पहले रखी गई जबकि वियतनाम में अमेरिका द्वारा की गई क्षति को पूरा करने के लिए अमेरिका की वियतनाम को आर्थिक सहायता तथा वियतनाम के साथ व्यापार करने पर लगाए सब प्रतिबन्धों को उठाने, की मांग वियतनाम ने पहले की। जहां तक युद्ध में लापता अमेरिकी सैनिकों का प्रश्न था वियतनाम का कहना था कि मृतकों के शव ढूंढना, उनका पता लगाना तथा उनको अमेरिका भेजना वह अपना कर्त्तव्य समझता है। इस सम्बन्ध में वियतनाम अब तक बम वर्षा द्वारा गिराए गए अमेरिकी विमानों के 23 चालकों तथा सैनिकों की अस्थियां व शव अमेरिकी प्रतिनिधियों को वापस ले जाने के लिए सौंप चुका है। वियतनाम ने संगोन पर कब्जा करने के बाद वहां शेष सब अमेरिकियों को भी वापस अपने देश लौट जाने दिया था। वियतनाम ने युद्ध-क्षति को पूरा करने के अमेरिका द्वारा मंजूर प्रस्ताव को कार्यान्वित करने पर सबसे अधिक जोर दिया।

20 सितम्बर 1977 को संयुक्त राष्ट्र महासभा का 32वां अधिवेशन विश्व-संस्था में दो नए सदस्यों के प्रवेश साथ आरम्भ हुआ। ये सदस्य थे—वियतनाम और जिबूती। वियतनाम का रास्ता ठीक दो महीने पहले 20 जुलाई को सुरक्षा परिषद् की बैठक में ही साफ हो पाया था जबकि भारत द्वारा प्रस्तुत एक प्रस्ताव को सर्वसम्मति से पारित कर परिषद् ने संयुक्त राष्ट्र में वियतनाम के प्रवेश की अनुमति दी थी।

1. दिनमान 23-29 अक्तूबर 1977, पृष्ठ 31.

कार्टर प्रशासन और रोडेशिया की समस्या

रोडेशिया की समस्या के प्रति कार्टर-प्रशासन ने यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया है। इसका प्रमाण सन् 1977 के प्रारम्भ में रोडेशिया की अल्पमत गोरी सरकार को अमेरिकी विदेश मन्त्री साइरस वैंस द्वारा दी गई चेतावनी से मिलता है। वैंस ने इयान स्मिथ की सरकार को स्पष्ट शब्दों में बता दिया कि जब तक वह बहुसंख्यक कालों की सत्ता के राह में अड़चन डालती रहेगी, अमेरिका से उसे किसी तरह की सहायता नहीं मिलेगी। उन्होंने इयान स्मिथ द्वारा कालों को सत्ता हस्तान्तरण का ब्रिटिश प्रस्ताव रद्द करने के निर्णय को घातक बताया और कहा कि इसका प्रभाव दक्षिण अफ्रीका पर भी बड़े पैमाने पर पड़ेगा। अमेरिका ने ब्रिटिश प्रस्ताव का पूर्ण समर्थन किया जिसमें दो वर्ष तक अस्थायी सरकार ब्रिटेन की देखरेख में काम करेगी। रोडेशिया वार्ता में राष्ट्रवादी आन्दोलन के सभी नेताओं को शामिल किया जाना चाहिए, तथाकथित आन्तरिक मामला कह देने से समस्या का समाधान नहीं हो जाता। वैंस के अलावा यूरोपीय आर्थिक समुदाय के विदेश मन्त्रियों ने भी इयान स्मिथ द्वारा ब्रिटिश प्रस्ताव को अस्वीकार किए जाने पर गहरा क्षोभ व्यक्त किया।

अमेरिका और पनामा : पनामा को पनामा मिल गयी

3 नवम्बर 1903 तक पनामा दक्षिण अमरीका के कोलम्बिया राज्य का एक प्रांत था। 3 नवम्बर 1903 को पनामा निवासियों ने विद्रोह कर दिया और स्वतन्त्र पनामा राज्य की स्थापना की। स्वतन्त्र होने में अमरीका ने उसकी सहायता की। 13 नवम्बर को अमरीका ने पनामा राज्य को मान्यता दे दी। इसके बाद धीरे-धीरे बहुत से राष्ट्रों ने इसे मान्यता दे दी। सन् 1914 में कोलम्बिया ने भी उसे एक पृथक् राष्ट्र मान लिया। पनामा गणराज्य क्षेत्र का क्षेत्रफल 31890 वर्गमील है और उसकी जनसंख्या 10 लाख के लगभग है। इसके बीचों बीच जाने वाली नहर देश को दो भागों में विभाजित करती है तथा दोनों ओर के प्रशान्त और अतलान्तक महासागरों को मिलाती है। नहर क्षेत्र की आबादी 60 हजार के लगभग है। इनमें 38000 लोग अमरीकी हैं। नहर के कारण इस राज्य के निवासियों में अनेक जातियों के लोग आकर बस गए हैं। यह नहर सन् 1914 में बन कर तैयार हुई थी और उसे 15 अगस्त 1914 को व्यापारिक कार्यों के लिए चालू कर दिया गया था। इससे पूर्व जहाजों को दक्षिण अमरीका का कई हजार मील का जो चक्कर लगा कर दूसरी ओर जाना पड़ता था, वह बच गया। पनामा नहर के दोनों ओर पांच-पांच मील चौड़ा और अतलान्तक महासागर से प्रशान्त महासागर तक फैला हुआ क्षेत्र सन् 1904 से अमरीकी सरकार के अधिकार में है। इस क्षेत्र का प्रशासन नहर-क्षेत्र सरकार और नहर का संचालन पनामा नहर कम्पनी के हाथों में है। इस नहर कम्पनी की स्थापना 1 जुलाई 1951 को हुई थी। अमरीकी नौसेना के मन्त्री के हाथों ही नहर कम्पनी के सारे शेयर रहते हैं।[1] 11 अगस्त 1977 को

1. हिन्दुस्तान दिनांक 25 अगस्त, 1977—पी के हरिवंश का लेख पनामा पर अमेरिकी नियन्त्रण।

अमेरीका ने पनामा के साथ एक नये समझौते की घोषणा की जिसके अनुसार, समझौता लागू होते ही, पनामा नहर क्षेत्र पर से अमरीकी सैनिक दबाव धीरे-धीरे समाप्त हो जायेगा और 31 दिसम्बर 1999 तक यह समूचा क्षेत्र पूरी तरह पनामा के नियन्त्रण में आ जायगा। सन्धि के द्वारा पनामा ने यह स्वीकार कर लिया है कि नहर क्षेत्र पर अमेरिका का नियन्त्रण समाप्त होते ही नहर की रक्षा के लिए पनामा अमेरिका की दृष्टि से भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायेगा। परन्तु बताया जाता है कि इस प्रकार की भूमिका सन्धि की कोई धारा नहीं है, इसके लिए अमेरिका से अलग ही समझौता किया जायेगा। सन्धि में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि नहर की तटस्थता को कायम रखा जायेगा और सभी राष्ट्रों के जहाज उसमें आ जा सकेंगे। वर्तमान संधि 1903 की संधि का स्थान ले लेगी। 1903 की संधि ने ही अमेरिका को नहर और उसके सीमा-क्षेत्र के नियन्त्रण का अधिकार हमेशा के लिए दे दिया था।[1]

पनामा के मामले में सबसे बड़ी उलझन पनामा की आर्थिक मांग को पूरा करना था। पनामा की मांग थी कि उसे 46 करोड़ डॉलर का मुआवजा दिया जाय। यह मुआवजा सन् 1903 से आज तक का होगा और आज से इस शताब्दी के अन्त तक, जबकि नहर को पूर्णतः पनामा को दे दिया जाएगा, 15 करोड़ रुपए वार्षिक की पूर्ति की जाए। अगस्त 1977 के नये समझौते के अनुसार सन् 2000 तक पनामा को 4 से 5 करोड़ डॉलर प्रतिवर्ष तक मुआवजे के रूप में दिया जायेगा। इसके अतिरिक्त अमेरिका पनामा को आर्थिक सहायता के रूप में कोई 30 करोड़ डालर और सैनिक सहायता के रूप में 5 करोड़ डॉलर देगा।

पनामा समझौते से यद्यपि पनामा की प्रतिष्ठा में वृद्धि होगी पर अमेरिका का नियन्त्रण 2000 तक बना रहेगा। इतने में क्या हो जाय, कौन कह सकता है।

भारत के प्रति कार्टर का दृष्टिकोण

अमरीका के राष्ट्रपति श्री कार्टर का कहना है कि भारत-अमरीका सम्बन्धों को वे रचनात्मक रूप देना चाहते हैं। श्री कार्टर ने भारत के नये राजदूत श्री नानी पालकीवाला द्वारा अपना परिचय-पत्र पेश किये जाने के अवसर पर भाषण करते हुए कहा कि शायद भारत तथा अमरीका बहुत समय से एक-दूसरे को पूर्व निर्धारित दृष्टिकोण से देखते रहे हैं। अमरीका राष्ट्रपति ने बदलती परिस्थितियों तथा बदलते सामाजिक परिवेश को ध्यान में रखते हुए दोनों देशों के बीच सम्बन्ध विकसित करने पर बल दिया। अपनी ओर से श्री पालकीवाला ने भी दोनों देशों के सम्बन्ध घनिष्ठ बनाने के लिए अनुकूल वातावरण की ओर ध्यान आकर्षित किया।

नये राजदूत के परिचय-पत्र पेश करने के अवसर पर ऐसी भावनाओं का प्रदर्शन स्वाभाविक है। वैसे भी भारत में जनता पार्टी की स्थापना के बाद अमरीका से सम्बन्ध सुधारने तथा उन्हें सुदृढ़ बनाने की सम्भावनाएँ उजागर हुई हैं, इससे कोई

1. दिनमान, 21-27 अगस्त 1977, पृष्ठ 33.

इन्कार नहीं कर सकता। जनता पार्टी की विजय का मुख्य कारण आपात स्थिति रही है। नई सरकार ने अनेक बार अपने आलोचकों की आलोचनाओं का उत्तर देते हुए इस ओर ध्यान आकर्षित किया है कि कुछ ही महीनों के अन्दर जनता पार्टी ने लोकतन्त्र को पुनः स्थापित कर दिया है, प्रेस की स्वतन्त्रता कर दी गई है तथा मानव अधिकारों के मूल्यों की पुनर्स्थापना की गई है। अमरीका प्रेस की स्वतन्त्रता, लोकतन्त्र तथा मानव अधिकारों का सदा जोरदार समर्थक रहा है। श्री कार्टर सिर्फ अमरीका में ही नहीं बल्कि रूस में भी मानव अधिकारों के हनन पर चिन्तित हैं। इसमें कितनी राजनीति है और कितनी वास्तविक चिन्ता है, यह अलग विवाद का विषय है। किन्तु इतना स्पष्ट है कि जनता पार्टी जिन आदर्शों की पुनर्स्थापना के दावे कर रही है वे अमरीका को भी सदा प्रिय रहे हैं। ऐसी स्थिति में निस्संदेह भारत तथा अमरीका के सम्बन्धों में सुधार के अनुकूल वातावरण पैदा हुआ है।

किन्तु भारत की स्वतन्त्रता के बाद अमरीका के साथ सम्बन्धों में बिगाड़ के लिए कांग्रेस सरकार की नीति बाधक रही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। आपात स्थिति तो 1975 में आरम्भ हुई और 19 महीनों तक ही रही। किन्तु भारत और अमरीका के सम्बन्ध तब भी मधुर नहीं थे जब प० नेहरू की लोकतन्त्र में आस्था तथा मानवीय मूल्यों में विश्वास अपने-आप में एक मिसाल है। नेहरूजी का मानवीय दृष्टिकोण तथा लोकतन्त्रीय मान्यताएँ भी अमरीका को भारत की नेकनीयती का विश्वास नहीं दिला पायीं। स्पष्टतः उस समय अमरीकी नेताओं का विश्वास था कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जो उसके साथ नहीं है, वह उनके विरुद्ध है। कुछ ही वर्ष पूर्व राष्ट्रपति निक्सन के शासनकाल तक भारत के प्रति अमरीका का यही रुख रहा। यह किसी व्यक्तिविशेष की नीति होने के बजाय पूरे प्रशासन का सुविचारित दृष्टिकोण था। इन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए भारत तथा अमरीका के बीच सही अर्थों में रचनात्मक सहयोग के लिए दृष्टिकोण में बुनियादी परिवर्तन की आवश्यकता है।

भारत तथा अमरीका विश्व के दो सबसे बड़े लोकतांत्रिक राष्ट्र हैं। भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम के दिनों में अमरीकी जनता तथा प्रशासन की सहानुभूति स्पष्टतः स्वातन्त्र्य सेनानियों के साथ थी। फिर भी सन् 1947 में भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद दोनों राष्ट्र एक-दूसरे से दूर हटते गये। यह एक क्रूर सत्य के रूप में तब प्रकट हुआ जब सन् 1971 में भारत-बंगला देश संघर्ष के समय अमरीका ने भारत के विरुद्ध बंगाल की खाड़ी में अपना नौसैनिक बेड़ा भेजा।

किन्तु समय और परिस्थितियों के साथ अमरीकी दृष्टिकोण में कुछ हद तक परिवर्तन आया है। विश्वास किया जाना चाहिए कि राष्ट्रपति कार्टर भारत तथा अमेरिका के बीच दीर्घकालीन सहयोग की आधारशिला रखेंगे। जहाँ तक भारत का प्रश्न है यह कहने की आवश्यकता नहीं कि अमेरिका जैसे समृद्ध तथा सबल राष्ट्र के साथ सहयोग उसके लिए हितकर होगा।

कार्टर की शान्तिप्रियता

अमेरिका के कार्टर प्रशासन ने निश्चय किया है कि ईरान अमेरिका से जो 250 एफ-18 एल लड़ाकू विमान खरीदना चाहता है, वे उसे न बेचे जाएं। इससे पूर्व कार्टर-प्रशासन पाकिस्तान को 110 ए-7 लड़ाकू विमान बेचने से भी इन्कार कर चुका है। ये दोनों कदम श्री कार्टर के इस कथित संकल्प के अनुकूल हैं कि अमेरिका ससार का प्रमुख हथियारों का सौदागर नही बनना चाहता और वह समार के किसी भी भाग मे शस्त्रास्त्रों की प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहित नही करेगा। जहां तक पाकिस्तान को ए-7 विमान न देने के निर्णय का प्रश्न है, भारत के तो यह सर्वथा अनुकूल है और भारत मे उसका स्वागत होगा स्वाभाविक है। पिछले लगभग दो दशक से भारत और अमेरिका के बीच सम्बन्धो मे पाकिस्तान द्वारा अमेरिकी हथियारों की प्राप्ति के प्रश्न पर ही तनाव आता रहा है। बंगला देश के मुक्ति-संघर्ष के समय हुए भारत-पाक युद्ध के दौरान श्री निक्सन की पाकिस्तान की ओर झुकाव की स्पष्ट घोषित नीति के फलस्वरूप उसके बाद से तो दोनो देशो के सम्बन्ध काफी बिगड़े रहे हैं और तब से अमेरिका ने भारत को कोई आर्थिक सहायता भी नहीं दी। श्री कार्टर से पूर्व अमेरिकी प्रशासन एक तो साम्यवाद के प्रसार को रोकने और दूसरे भारतीय उपमहाद्वीप मे तथाकथित शक्ति सन्तुलन कायम रखने के नाम पर पाकिस्तान को उसकी प्रतिरक्षा की आवश्यकताओं से कही अधिक हथियार देता रहा है। इसका परिणाम भारतीय उपमहाद्वीप मे तनाव का निरन्तर जारी रहना ही नही था, बल्कि दोनो की शक्ति शस्त्रास्त्र खरीदने मे लगी रहने से उनका विकास और आर्थिक उन्नति तब तक सम्भव नही है जब तक कि पूंजी और ससाधन आर्थिक विकास मे लगने के बजाय शस्त्रास्त्र प्रतिस्पर्द्धाओं मे लगते रहेंगे। इसलिए श्री कार्टर की शान्तिप्रियता की यह नीति, जिसकी झलक पाकिस्तान और ईरान सम्बन्धी उपर्युक्त निर्णयों से मिलती है, विश्व शान्ति पर अनुकूल प्रभाव डालेगी और इससे भारत के साथ अमेरिका के सम्बन्ध भी और अधिक सुधरेंगे।

कार्टर प्रशासन और चीन : बदलते समीकरण

कार्टर-प्रशासन चीन के साथ अमेरिका के सम्बन्ध सुधारने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है। इसी दिशा मे पहल करते हुए 22 से 27 अगस्त 1977 तक अमेरिकी विदेशमन्त्री साइरस वेंस ने चीन की यात्रा की थी। पर यह यात्रा दोनों देशों के बीच सम्बन्ध सुधारने मे सहायक नही हुई। ताइवान सम्बन्धी मतभेद के कारण अन्तर्राष्ट्रीय तथा द्विपक्षीय सहयोग के अन्य मुद्दों पर भी मतैक्य नहीं हो सका। अमेरिकी विदेशमन्त्री ताइवान से सम्बन्ध तोड़ने को तैयार नहीं हुए और चीन उसके बिना मित्रता का प्रदर्शन करने के लिए भी भला क्यो तैयार होता ? परिणाम यह हुआ कि अमेरिकी राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर को यह कहने का अवसर मिला कि चीन को पूर्ण मान्यता देने मे अभी वर्षों लगेंगे।

श्री वेंस की यात्रा की समाप्ति पर कोई संयुक्त विज्ञप्ति प्रसारित नहीं की गई फिर भी ऐसा वातावरण दिखाई देने लगा कि दोनो पक्ष अन्ततः ताइवान पर

समझौता कर लेंगे। किन्तु लगभग दो सप्ताह बाद 6 सितम्बर को चीन के उप-प्रधानमन्त्री तेङ् सिम्राम्रो पिङ ने ऐसोसिएटेड प्रेस को दी गई एक भेंट वार्ता में ऐसा प्रभाव पैदा करने का दोष अमेरिका पर मढ़ते हुए कहा कि "अमेरिका अपने पहले वायदे से मुकर गया है जिसके कारण चीन और अमेरिका के कूटनीतिक सम्बन्धों को सामान्य बनाने के प्रयास को धक्का लगा।" उनके अनुसार बातचीत के दौरान श्री वैंस ने जो कुछ कहा वह भूतपूर्व राष्ट्रपति फोर्ड और भूतपूर्व विदेशमन्त्री डॉ किसिंगर के प्रस्तावों के ठीक विपरीत था। श्री तेङ् ने कहा कि दिसम्बर, 1975 में अपनी चीन यात्रा के समय तत्कालीन राष्ट्रपति फोर्ड ने यह वचन दिया था कि यदि वह पुनः निर्वाचित हो गए तो वह ताइवान से सम्बन्ध विच्छेद कर चीन के साथ राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करेंगे। श्री तेङ् के अनुसार तब अमेरिका ने सम्बन्ध सामान्य बनाने के लिए तीन कार्य करने का आश्वासन दिया था—(*i*) ताइवान से अपने राजनयिक सम्बन्ध तोड़ना, (*ii*) अमेरिका-ताइवान सुरक्षा सन्धि रद्द करना, और (*iii*) ताइवान स्थित 12,000 अमेरिकी सैनिकों को वापस बुलाना। किन्तु श्री तेङ के अनुसार श्री वैंस ने यह कहा कि अमेरिका चीन के साथ तो पूर्ण राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए तैयार है किन्तु वह ताइवान में एक राजनयिक सम्पर्क कार्यालय भी स्थापित करना चाहता है। श्री तेङ ने इस प्रस्ताव को यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि इससे अमेरिका और ताइवान के बीच राजनयिक सम्बन्ध कायम रहेगा। चीन ताइवान को अपना अभिन्न अंग मानता है और उसे अमेरिका से अपने सम्बन्धों का मुख्य आधार मानकर चल रहा है। माओ के समय में चीन की यही नीति रही और अब सत्ता बदलने पर भी उसकी यही नीति है। सच तो यह है कि चीन में सत्ता परिवर्तन का प्रभाव अभी तक उसकी विदेश नीति में स्पष्ट परिलक्षित नहीं हुआ है। भारत के साथ उसके सम्बन्धों को देखते हुए भी ऐसा ही आभास मिलता है।

विदेश-मन्त्री वैंस की चीन यात्रा के परिणामों से अमेरिकी राष्ट्रपति कार्टर को कोई निराशा नहीं हुई है। चीन के प्रति अपनी नीति में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करते हुए उन्होंने चीनको विभिन्न किस्मों के हथियारों तथा विद्युत-आणविक उपकरणों के निर्यात पर लगे प्रतिबन्धों में ढील देने का निश्चय किया है। अब तक ये हथियार आम तौर पर निर्यात नहीं किए जाते थे। दोनों कम्युनिस्ट दिग्गज-सोवियत संघ और चीन कतिपय सूक्ष्म उपकरणों के क्षेत्र में अमेरिकी तकनीकी जानकारी प्राप्त करने तथा प्रौद्योगिकी तैयार माल प्राप्त करने के लिए उत्सुक है। सोवियत संघ आम तौर पर तकनीकी जानकारी प्राप्त करने को ही उत्सुक है परन्तु चीन इस आशा के साथ तैयार माल भी प्राप्त करना चाहता है ताकि उसके प्रौद्योगिकी विशेषज्ञ उस माल से उसके निर्माण की तकनीक जान सकें।

अमेरिका और सोवियत संघ : कार्टर की नैतिकता की राजनीति

कार्टर-प्रशासन सोवियत संघ के साथ अपने देश के उत्तरोत्तर सम्बन्ध सुधार के लिए सचेष्ट है। कार्टर मानवाधिकार का पृष्ठपोषण कर रहे हैं और नैतिकता

की राजनीति से लैटिन अमेरिका, अफ्रीका और साम्यवादी देशों को प्रभावित करना चाहते हैं। सोवियत लेखक सखारोव के मानवाधिकारों की वकालत सम्बन्धी पत्र के प्रश्न पर सोवियत संघ और अमेरिका में सन् 1977 के प्रथम चरण में कुछ तनाव भी उत्पन्न हो गया था। सोवियत प्रचार माध्यमों ने यह आरोप लगाया था कि कार्टर अन्य देशों मे जिन मानवाधिकारों की वकालत कर रहे हैं उनका हनन स्वयं अमेरिका में बड़े पैमाने पर हो रहा है। राजनीतिक क्षेत्रों मे कहा जा रहा है कि *राष्ट्रपति कार्टर की अपनी कार्य-शैली है—अमेरिकी विदेश नीति में कीसिंगर युग* समाप्त हो गया है और नया प्रशासन अपना नया मार्ग निर्धारित कर रहा है। राष्ट्रपति कार्टर की नैतिकता की राजनीति से सबसे अधिक साम्यवादी देश प्रभावित होंगे। बताया जाता है कि श्री सखारोव को श्री कार्टर द्वारा लिखे पत्र को प्रसारित किए जाने के बाद से सोवियत संघ मे किसी असन्तुष्ट व्यक्ति को बंदी नही बनाया गया। कार्टर से मिलने वाले रोमानिया के एक वरिष्ठ राजनेता ने भी राष्ट्रपति कार्टर को यह विश्वास दिलाया कि उनकी सरकार विपक्ष के प्रति उतनी अनुदार नही है जितनी वह समझते हैं। सोवियत संघ के प्रति कार्टर-प्रशासन की नई नीति का मूलाधार यह बताया जाता है कि अमेरिकी जनमत को सोवियत संघ पर विश्वास नही है और वह वहाँ हो रहे दमन पर अमेरिकी चुप्पी को नापसद करता है। राष्ट्रपति कार्टर का विचार है कि अमेरिकी जनमत का समर्थन मिलने पर ही वह *सोवियत संघ से अपनी शर्तों पर समझौता करने मे सफल हो सकते हैं। वह चाहते* है कि अगले दशक मे दोनो महाशक्तियो के परमाणु-अस्त्रों मे भारी कटौती हो और सोवियत संघ तथा पश्चिमी गुट के देशो के बीच नए आर्थिक सम्बन्ध विकसित हों।

यह एक कारण हो सकता है कि सोवियत विरोधी अमेरिकी जनता का समर्थन प्राप्त करने के उद्देश्य से राष्ट्रपति कार्टर ने सोवियत संघ के असन्तुष्टों की ओर से बोलना शुरू किया है किन्तु इससे भी व्यापक और महत्त्वपूर्ण उद्देश्य यह है कि ऐसा करके वह सोवियत संघ पर अपनी पकड़ मजबूत करना चाहते हैं। असन्तुष्टों *के प्रति यदि सोवियत सरकार ने अपना रवैया नही बदला तो अमेरिका मे सोवियत* विरोध और बढ़ेगा और उस दशा मे सोवियत संघ के विरुद्ध कुछ प्रतिबधात्मक कदम उठाने मे राष्ट्रपति कार्टर को कोई कठिनाई नही होगी। ये प्रतिबधात्मक कदम क्या हो सकते है इसका सकेत भी उन्होने इथियोपिया, अर्हेंतीना और ऊरुग्वे को दी जाने वाली आर्थिक सहायता में कटौती की घोषणा करके दे दिया है।

सोवियत संघ समेत सभी साम्यवादी देशो को अपने आर्थिक विकास के लिए अमेरिकी प्रौद्योगिकी की आवश्यकता है और एक मात्र इस मुद्दे को लेकर अमेरिका उन पर व्यापक प्रभाव डाल सकता है। अमेरिका के पास विश्व के अत्याधुनिक प्रौद्योगिक उपकरण हैं जिनकी साम्यवादी देशों मे भारी माँग है। राष्ट्रपति कार्टर इसे दबाव का साधन बनाना चाहते हैं। साम्यवादी देश अपने असन्तुष्ट लोगों के साथ अच्छा व्यवहार करें और विदेश मे अमेरिका के विरुद्ध मोर्चा न खोलें तभी उन्हें *अमेरिका से प्रौद्योगिक उपकरण उपलब्ध हो सकते हैं। श्री कार्टर की नैतिकता की*

राजनीति का यही मूल स्वर जान पड़ता है। सोवियत संघ तथा अन्य साम्यवादी देशों पर दबाव डालने के लिए साम्यवादी देशों को दिए जाने वाले अमेरिकी ऋण में कटौती करने का कदम भी वह देर सवेरे उठा सकते हैं और अपने इस अभियान में अपने यूरोपीय मित्रों और जापान को भी सम्मिलित कर सकते हैं, यद्यपि ऐसा करना उनके लिए आसान नहीं होगा क्योंकि सोवियत संघ को उधार माल देकर पश्चिमी देश येन केन प्रकारेण अपने बेरोजगारी के बोझ को हल्का बनाए रहे हैं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं लगाया जाना चाहिए कि कार्टर प्रशासन ऐसा सभी प्रकार के समझौतों के मार्ग तब तक के लिए बन्द कर देना चाहता है जब तक सोवियत संघ उसकी नैतिकता की राजनीति से सहमत न हो जाए।

निश्चय ही राष्ट्रपति कार्टर ने अपने कार्यकाल के कुछ ही महीनों में रूस-अमेरिका सम्बन्धों का समीकरण बदल दिया है। अब तक सोवियत संघ यह मानकर चल रहा था कि वह परमाणु अस्त्रों में अग्रता प्राप्त कर लेगा और अपने यहाँ के असन्तुष्टों का अमेरिका की अप्रसन्नता के बिना दमन कर सकेगा। उसे आशा थी कि इस सबके बावजूद वह अमेरिका के आर्थिक सहयोग से लाभान्वित होता रहेगा। अब कार्टर ने यह स्पष्ट कर दिया है कि परमाणु-अस्त्रों के बारे में वह उचित समानता चाहेंगे और अमेरिका से आर्थिक सहयोग स्थापित रखने के लिए सोवियत संघ को घर में और बाहर अपना आचरण बदलना होगा। कार्टर की इस नीति ने सोवियत संघ को दुविधा में डाल दिया है।

कार्टर की इच्छा रूस अमेरिका सम्बन्धों को जो भी मोड़ देने की हो, इस तनातनी के वातावरण में फिलहाल हथियारों की होड़ एक बार फिर शुरू हो गई है। अमेरिका ने बी–1 बमवर्षक न बनाने का निर्णय तो लिया है, साथ ही यह फैसला भी किया है कि वह 'क्रूज' प्रक्षेपास्त्र का निर्माण करेगा। इससे पहले उसने न्यूट्रान बम का परीक्षण भी किया था। अमेरिका का उद्देश्य सोवियत संघ को शायद यह जतलाना है कि परमाणु अस्त्रों के क्षेत्र में वह ज्यादा अच्छी स्थिति में है। साथ ही वह अपनी शर्तों पर सामरिक अस्त्रों के प्रसार पर रोक लगाने सम्बन्धी वार्ता (साल्ट) में अपने तर्कों को भी प्राथमिकता देना चाहता है। लेकिन सोवियत संघ ने इन नए हथियारों की आलोचना करते हुए कहा कि यह कैसे सम्भव हो सकता है कि एक तरफ तो आप शान्ति और मानवाधिकारों के प्रति प्रेम बतलाएँ और दूसरी ओर नए हथियारों का निर्माण कर सारी मानवता को विनाश के कगार पर लाकर खड़ा करें। यह सब काम अमेरिका ही कर सकता है। रूसी टिप्पणीकारों का विचार है कि सभी विश्लेषणकर्त्ता अनुभव करते हैं कि ऐसे नए हथियारों के निर्माण से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में जटिलता ही पैदा होगी तथा सोवियत संघ और अमेरिका के बीच सामरिक हथियारों पर प्रतिबन्ध लगाने सम्बन्धी वार्ता में गतिरोध उत्पन्न होगा।

अमेरिकी विदेश-नीति का मूल्यांकन
(Evaluation of American Foreign Policy)

युद्धोत्तरकालीन अमेरिकी विदेश-नीति के विश्लेषण से यही स्पष्ट होता है

कि घोषणाओं के अलावा वास्तव में वह कभी भी उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का विरोधी नहीं रहा है और यदि कभी उसने ऐसा किया भी है तो राष्ट्रीय स्वार्थों से प्रेरित होकर ही। सत्य तो यह है कि आर्थिक और सैनिक सहायता द्वारा अमेरिका ने अपना एक अदृश्य साम्राज्य स्थापित करने की चेष्टा की है जिसमें वह काफी हद तक सफल भी हुआ है। लेटिन अमेरिका और पूर्वी एशिया उसके साम्राज्य-विस्तार के मुख्य क्षेत्र रहे हैं। उसने विश्व के देशों में अपने अनेक सैनिक अड्डे स्थापित कर रखे हैं तथा अनेक देशों के साथ असमान आर्थिक और सैनिक समझौते किए हैं। अरब-इजरायल संघर्ष के माध्यम से उसने पश्चिमी एशिया में पाए जाने वाले अपार तेल-भण्डारों पर अपना नियन्त्रण रखने की चेष्टा की है। ट्रूमैन सिद्धान्त, आइजनहॉवर सिद्धान्त, आदि इस उद्देश्य की पूर्ति के ही साधन रहे हैं। पूर्वी एशिया में भी उसने कुछ समय पूर्व तक पद-दलित शासक च्यांग-काई-शेक को चीन के शासक के रूप में मान्यता दे रखी थी। वह वियतनाम और कम्बोडिया में कठपुतली सरकारों का संचालन करता रहा है तथा पश्चिमी एशिया में इजरायल को अपनी हठधर्मी पर अड़े रहने में सहायता दे रहा है। यूरोप में वह भूतपूर्व फासिस्टों और नाजियों का समर्थन कर रहा है। उसके इन सब कार्यों के फलस्वरूप विश्व-शान्ति की कड़ियाँ मजबूत होने के बजाय विश्व-युद्ध का तनावपूर्ण वातावरण ही विकसित होता जा रहा है।

पिछले बीस वर्षों में अमेरिका विश्व की सबसे बड़ी सैन्य-शक्ति के रूप में सामने आया है। उसके पास सबसे बड़ा सशस्त्र सैनिक दस्ता है, चीन से भी बड़ा जो कि संसार का सबसे घना बसा देश है। उसकी सैनिक संख्या अपने निकटतम प्रतिद्वन्द्वी रूस से भी अधिक है। 42 से भी अधिक देशों के साथ उसके सैनिक समझौते हैं और 33 देशों में 2,000 से अधिक स्थानों पर सैनिक अड्डे हैं। पिछले बीस वर्षों में उसने अपने राष्ट्रीय राजस्व का आधे से अधिक भाग इन सैनिक समझौतों पर व्यय किया है। अपने इन दायित्वों को निभाने में अगर वह अब संकोच करता है और यूरोप या सुदूर-पूर्व से वह हटता है तो उसके रिक्त स्थान की पूर्ति करने को दो अजगर तैयार खड़े हैं—रूस और चीन। यह बात अमेरिका को सहन नहीं।

अमेरिकी विदेश-नीति के अध्येता को ऐसा लगेगा मानो नैतिकता और विश्व-शान्ति के लिए क्या आवश्यक है इसका निर्णय करने का ठेका केवल अमेरिका ने ही ले लिया है। एशिया में तो अमेरिकी विदेश-नीति बड़ी-बड़ी गलतियों की शृंखला के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वास्तव में अमेरिका ने एशिया को पाश्चात्य औपनिवेशिक शक्तियों के चश्मे से ही देखने का प्रयत्न किया है और अफ्रेशियायी देशों के प्रति राजनीति के निर्धारण में पुरानी दकियानूसी नीति का प्रयोग कर रहा है। निक्सन-प्रशासन ने जो कुछ किया, फोर्ड-प्रशासन भी उसी लीक पर चला। 20 जनवरी, 1977 को राष्ट्रपति पद जिम्मी कार्टर ने सम्भाला और तब से अमेरिका की नीति कुछ यथार्थवादी और उदार बनी है। नए राष्ट्रपति की अपनी कार्य-शैली है। कार्टर-प्रशासन ने भारतीय उपमहाद्वीप में अमेरिकी शस्त्र नीति पर

पुनर्विचार किया है और भारत के दृष्टिकोण को समझने का प्रयास किया है। कार्टर-प्रशासन यह समझने लगा है कि एशिया में भारत लोकतन्त्र का गढ़ है और भारतीय हितों की कीमत पर अमेरिका को अपनी सकीर्ण नीतियों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। कार्टर ने मानवाधिकार पर बल दिया है और अपनी नैतिकता की राजनीति को विश्व में प्रभावी बनाना चाहते हैं। पश्चिमी एशिया में शान्ति-स्थापना की दृष्टि से कार्टर-प्रशासन की भूमिका विशेष महत्त्वपूर्ण रही है। रोडेशिया की समस्या के समाधान के लिए ब्रिटिश प्रस्ताव को समर्थन देकर अमेरिका ने इयान स्मिथ की अल्पमत गोरी सरकार को एक व्यावहारिक चुनौती दी है। कार्टर-प्रशासन चीन के साथ सम्बन्ध सुधारने को प्रयत्नशील है और विश्व-शान्ति को स्वर्गीय राष्ट्रपति कैनेडी की भाँति ही प्राथमिकता दे रहा है। यह आशा की जानी चाहिए कि कार्टर के राष्ट्रपतित्व में अमेरिकी विदेश-नीति नई दिशाएँ ग्रहण करेगी और अमेरिका की प्रतिष्ठा में वृद्धि होगी। वैसे राष्ट्रपति बदल जाने से किसी राष्ट्र के बुनियादी हितों में परिवर्तन नहीं होता और प्रत्येक राष्ट्रपति का प्रथम लक्ष्य इन हितों की रक्षा करना होता है, तथापि राष्ट्रीय हितों की रक्षा करते हुए भी नीतियों में परिवर्तन की व्यापक सम्भावनाएं रहती हैं। राष्ट्रपति कार्टर के सामने विदेश-नीति के सन्दर्भ में मुख्य समस्या होगी रूस और चीन के साथ सम्बन्ध। राष्ट्रपति निक्सन तथा राष्ट्रपति फोर्ड के विदेशमन्त्री डॉ. हेनरी किसिंजर ने चीन को रूस के निकट नहीं आने देने की सदा कोशिश की थी।

10 सोवियत संघ की विदेश नीति

(FOREIGN POLICY OF U. S. S. R)

"रूस की नीति अपरिवर्तनीय है······ उसके साधनों, उसकी चालों तथा कूटनीति में परिवर्तन आ सकता है, परन्तु उसकी नीति का मार्ग-दर्शक गृह-विश्व-प्रभुता, एक अविचल और ध्रुव सत्य है।" —कार्ल मार्क्स

सन् 1917 की बोल्शेविक क्रान्ति के फलस्वरूप वर्तमान साम्यवादी रूस अस्तित्व में आया। रूस के नए शासन ने अपने देश को महायुद्ध से पृथक् कर लिया। दो महायुद्धों के बीच की अवधि में रूस उत्तरोत्तर शक्तिशाली होता गया। द्वितीय महायुद्ध कालीन घोर विनाश के बावजूद अन्त में सोवियत रूस ने महान् राजनीतिक और प्रादेशिक लाभ अर्जित किए। महायुद्ध के उपरान्त संयुक्तराज्य अमेरिका की टक्कर का यदि कोई देश था तो वह सोवियत संघ ही था, किन्तु आणविक शक्ति पर एकाधिकार के कारण रूस की अवहेलना करना अमेरिका के लिए आसान था। यह स्थिति कुछ ही वर्ष बाद पलट गई क्योंकि रूस भी अणु शक्ति का स्वामी बन गया। महायुद्ध के बाद लगभग तीन दशकों के उपरान्त आज स्थिति यह है कि अमेरिका और रूस दोनों लगभग समान टक्कर की महाशक्तियां हैं। धन-सम्पन्नता में अमेरिका अग्रणी है, *सैनिक दृष्टि से भी कुछ राष्ट्र अमेरिका को उच्चतर समझते हैं, लेकिन* यह कहना वस्तुतः कठिन है कि सोवियत शक्ति अमेरिका की तुलना में कहाँ तक कम है। दोनों ही महाशक्तियां एक-दूसरे के सम्पूर्ण विनाश में समर्थ हैं और इसलिए विगत कुछ वर्षों से दोनों सह-अस्तित्व की दिशा में अग्रसर हुए हैं। चीन और भारत दो महान् सन्तुलनकारी शक्तियां हैं जिनमें चीन अमेरिका के पक्ष में झुकता जा रहा है और भारत तथा रूस घनिष्ठ मित्रता के मार्ग पर अग्रसर हैं।

द्वितीय महायुद्ध के बाद सोवियत संघ की विदेश-नीति को दो प्रमुख भागों में बांटा जा सकता है—

(क) उग्रवादी नीति का स्टलिन युग (1945–1953)

(ख) शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति का स्टालिनोत्तर युग (1953 से अब तक)—मोलेंकोव काल (1953–54), ख्रुश्चेव काल (1954–64), ब्रेझनेव-कोसीगिन काल (1964–77)।

स्टालिन युग
(1945–1953)

महायुद्ध-काल में स्टालिन ने मित्र-राष्ट्रों को पूर्ण सहयोग दिया, लेकिन महायुद्ध के बाद पश्चिम के प्रति शंकालु होकर उसने अत्यन्त उग्र हठी विदेश-नीति अपनाई। स्टालिन ने शीतयुद्ध को चरम सीमा पर पहुँचा दिया। पामर एवं पर्किन्स के शब्दों में, "युद्धोत्तर सोवियत नीति कम से कम 8 वर्ष अर्थात् 1953 तक पश्चिम के प्रति शत्रुता, असहयोग और अलगाव की ओर बढ़ती हुई प्रवृत्तियाँ, सोवियत प्रभाव-क्षेत्र के दृढ़ीकरण तथा सामान्य हठधर्मिता की विशेषताओं से युक्त रही थी।"[1] जिन प्रमुख कारणों से स्टालिन ने उग्रवादी नीति अपनाई, वे ये थे—

1. महायुद्ध-काल में ही पश्चिमी राष्ट्रों ने सोवियत साम्यवाद के विरुद्ध विषैला प्रचार शुरू कर दिया था।

2. पश्चिमी देशों ने रूस को सैनिक सहायता बहुत कम दी। स्टालिन के मन में यह बात बैठ गई कि पश्चिमी राष्ट्र वास्तव में यह चाहते थे कि रूस जर्मनी के साथ संघर्ष में बिलकुल कमजोर हो जाए।

3. अमेरिका ने अणु-बम के आविष्कार को सोवियत रूस से गुप्त रखा और स्टालिन ने इसे विश्वासघात माना।

4. युद्ध के बाद अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रूमैन ने सोवियत-संघ को 'लैण्ड-लीज एक्ट' के अन्तर्गत दी जानेवाली आर्थिक सहायता भी एकाएक बन्द कर दी।

5. युद्ध के बाद अमेरिका और उसके साथी पश्चिमी राष्ट्रों ने जो नीति अपनाई उससे यही प्रतीत हुआ कि वे सोवियत संघ के विरुद्ध षड्यन्त्र रच रहे हैं।

6. युद्ध की समाप्ति पर सोवियत संघ की स्थिति सामरिक और अन्य दृष्टियों से बहुत अच्छी थी। रूसी सेनाएँ मध्य यूरोप तक के प्रदेश पर अधिकार जमाए बैठी थी। पश्चिमी यूरोप आर्थिक संकट में था और साम्यवाद के प्रसार के लिए वहाँ अच्छी सम्भावनाएँ थीं। एशिया और अफ्रीका में यूरोपीय साम्राज्यवाद के विरुद्ध असन्तोष का सागर उमड़ रहा था। अत. स्टालिन ने सोचा कि चारों ओर स्थितियाँ ऐसी हैं कि साम्यवाद अपने पैर जमा सकता है। यदि पश्चिमी देशों और अमेरिका के साथ सहयोग की नीति अपनाई गई तो रूस लूट-खसोट और जोर-जबरदस्ती द्वारा राजनीतिक और प्रादेशिक लाभ उठाने से वंचित रह जाएगा।

इन अनुकूल परिस्थितियों में स्टालिन ने यही उपयुक्त समझा कि पश्चिम पर आरोप लगाए जाएँ, पुरानी बातों को कुरेदा जाए, शीतयुद्ध को तीव्र कर पश्चिम के प्रस्तावों के प्रति अड़गेबाजी की नीति से अधिकाधिक लाभ उठाया जाए। 6 नवम्बर, 1947 को तत्कालीन रूसी विदेशमन्त्री मोलोटोव ने कहा—"हम ऐसे युग में रह रहे हैं जिसमें सब सड़कें साम्यवाद की ओर जाने वाली हैं।"

1 *Palmer and Perkins* : International Relations, p 65

स्टालिनकालीन विदेश-नीति के मुख्य तत्त्व या विशेषताएँ

स्टालिन युग में सोवियत विदेश-नीति के निम्नलिखित तत्त्व थे—

1. पूर्वी यूरोप में सोवियत प्रभाव का विस्तार किया जाए।

2. विश्व में साम्यवादी क्रान्ति का प्रसार किया जाए।

3. पश्चिमी राष्ट्रों के प्रति विरोधी रुख अपना कर शीतयुद्ध को तीव्र बनाकर अधिकाधिक राजनीतिक लाभ उठाया जाए।

4. लौह-आवरण की नीति को अपनाकर ऐसी व्यवस्था की जाए कि साम्यवादी जगत् में पश्चिमी राष्ट्रों का प्रचार प्रवेश न कर सके।

5. एशिया, अफ्रीका आदि में उपनिवेशवाद का विरोध किया जाए और शान्तिवादी आन्दोलन छेड़ दिया जाए।

6. संयुक्त राष्ट्रसंघ को शीतयुद्ध का मंच बना दिया जाए, तथा वहाँ बाधा उपस्थित कर राजनीतिक हितों की रक्षा की जाए। सुरक्षा-परिषद् में वीटो के प्रयोग से पश्चिमी राष्ट्रों के प्रस्तावों को निरस्त किया जाए।

सोवियत विदेश-नीति के इन तत्त्वों से ऐसा प्रतीत होता है मानो स्टालिन ने ही अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण को गन्दा बनाया और पश्चिमी देशों के न्यायपूर्ण रुख को ठुकराया, पर वास्तव में बात ऐसी नहीं थी। स्टालिन के सामने रूसी हित तो सर्वोपरि थे ही, पश्चिमी देशों का रवैया भी इस प्रकार का रहा कि स्टालिन को उन पर विश्वास नहीं हुआ। स्टालिन की जगह यदि किसी अन्य व्यक्ति के हाथ में नेतृत्व होता तो वह भी तत्कालीन परिस्थितियों में पश्चिमी देशों के साथ सहयोग न कर पाता। विजय के नशे में फूले हुए अमेरिका और उसके साथी राष्ट्रों ने निरन्तर सोवियत रूस को दबाए रखने की नीति अपनाई तथा साम्यवाद के विनाश की चालें खेलीं। बाध्य होकर सोवियत संघ ने भी ईंट का जवाब पत्थर से दिया। स्टालिन अपने शासनकाल में सदैव कठोर और निर्मम रहा था, अतः उससे यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वह पश्चिमी देशों के प्रति उदार होगा।

1. पूर्वी यूरोप में सोवियत प्रभुता का विस्तार—द्वितीय महायुद्ध ने रूस को पूर्वी यूरोप में अपनी प्रभुता के विस्तार के स्वप्न की पूर्ति का स्वर्ण अवसर प्रदान किया। महायुद्धकाल में पूर्वी यूरोप के लगभग सभी देशों को लाल सेना ने जर्मन-दासता से मुक्ति दिलाई थी और इन देशों की साम्यवादी पार्टियों ने जर्मनी के विरुद्ध छापामार संघर्षों का नेतृत्व किया था। युद्धोपरान्त इन देशों में राजनीतिक सत्ता भी साम्यवादियों के हाथ में आई और सोवियत रूस के लिए इस क्षेत्र में अपने प्रभुत्व-विस्तार का मार्ग सरल हो गया। युद्ध के उपरान्त सन् 1948 तक की तीन वर्ष की अल्पावधि में ही यूरोप के सात देश पूरी तरह 'लाल' बन गए। फरवरी, 1945 के याल्टा सम्मेलन में रूजवेल्ट, स्टालिन और चर्चिल ने 'मुक्त यूरोप सम्बन्धी घोषणा' (Declaration of the Liberated Europe) पर हस्ताक्षर किए थे, लेकिन स्टालिन ने याल्टा भावना को कठोरतापूर्वक कुचल डाला और पूर्वी यूरोप में सोवियत प्रभुत्व का विस्तार कर लिया। वह फिनलैण्ड को भी अधीन करने से नहीं चूका।

सन् 1947 में उसने फिनलैण्ड के साथ शान्ति-सन्धि की और अप्रेल 1948 में मैत्री सन्धि। इन सन्धियों द्वारा स्टालिन ने फिनलैण्ड की स्वतन्त्रता तो स्वीकार की, लेकिन फिनलैण्ड से यह वचन ले लिया कि वह रूस विरोधी विदेश-नीति नहीं अपनाएगा। स्टालिन ने पूर्वी यूरोप में साम्यवादी सरकारों की स्थापना कर सोवियत राष्ट्रीय सुरक्षा को सुदृढ बनाने में सफलता प्राप्त की। इन देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्धों के विकास के लिए समझौते किए गए। सन् 1947 की 'मोलोटोव योजना' मे इन देशों के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए औद्योगीकरण पर बल दिया गया। जनवादी गणतन्त्रों की स्थापना अथवा दूसरे शब्दों में साम्यवादी शासन-सत्ता की स्थापना के फलस्वरूप इन देशों का पश्चिम के साथ व्यापार भी पूर्वापेक्षा नगण्य रह गया।

6 मार्च, 1941 को रूस और पोलैण्ड के बीच तथा 12 जुलाई, 1947 को चेकोस्लोवाकिया के साथ व्यापारिक सन्धि सम्पन्न हुई। चेकोस्लोवाकिया के साथ ही सन् 1948 में एक अन्य समझौता हुआ जिसमें रूस ने उसे ऋण के रूप मे एक बडी राशि देना स्वीकार किया। सन् 1948 में हंगरी के साथ भी दो व्यापारिक सन्धियाँ की गईं। सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के देशों के बीच आर्थिक सहयोग को अधिकाधिक घनिष्ठ बनाने के लिए सन् 1949 मे 'पारस्परिक आर्थिक सहायता परिषद' (Council for Economic Mutual Assistance : Com. Con) की स्थापना की गई। इस 'कोम कोन' को पश्चिम द्वारा स्थापित 'यूरोपीय पुनर्निर्माण कार्यक्रम' (European Recovery Programme : E.R P.) का प्रत्युत्तर कहा जा सकता है।

राजनीतिक क्षेत्र में पूर्वी यूरोप पर सोवियत प्रभाव स्थापित होने का आघात तो पश्चिमी शक्तियों को लगा ही था, आर्थिक क्षेत्र में भी रूस के व्यापक प्रभुत्व से पश्चिमी देशों और रूस के तनावों में वृद्धि हुई। पूर्वी यूरोप परम्परा से पश्चिमी देशों को खाद्यान्न एवं कच्चे माल का निर्यात करता था। पश्चिम के कुछ देश तो अपनी अत्यन्त आवश्यक वस्तुओं के लिए पूर्वी यूरोप पर आश्रित थे। सोवियत नीति का यह स्वाभाविक परिणाम हुआ कि पश्चिमी देशों में सोवियत संघ और पूर्वी-यूरोप के साम्यवादी शासन-तन्त्रों के प्रति पूर्ण कटुता उत्पन्न हो गई। स्टालिन की नीति ने शीतयुद्ध को तेज कर दिया।

सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के देशों के बीच मैत्री और पारस्परिक सहायता की अनेक सैनिक सन्धियाँ भी हुईं। पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया तथा यूगोस्लाविया के साथ तो सैनिक सन्धियाँ युद्धकाल मे ही की जा चुकी थीं। इसके बाद 18 मार्च, 1946 से 16 अप्रेल, 1949 तक 17 द्विपक्षीय सन्धियाँ (Bilateral Treaties) की गईं। इन सन्धियों को सम्भावितः जर्मन आक्रमणों को रोकने के लिए किया गया। बाद मे 14 मई 1955 को इन देशो ने वारसा पैक्ट पर हस्ताक्षर कर सोवियत संघ के साथ स्वयं को और भी घनिष्ठ मैत्री मे आबद्ध कर लिया।

2 विश्व में साम्यवादी क्रान्ति का प्रसार—द्वितीय महायुद्ध के बाद मास्को

ने साम्यवादी क्रान्ति के प्रसार की नीति का अनुसरण आरम्भ कर दिया। साम्यवादी क्रान्ति को दूसरे देशों मे फैलाने के लिए स्टालिन के नेतृत्व मे सोवियत संघ द्वारा सभी प्रकार के उपायों का सहारा लिया गया। यूनान के गृहयुद्ध मे यूनानी साम्यवादियो को पडोसी साम्यवादी देशो—अल्बानिया, बल्गेरिया और युगोस्लाविया द्वारा सहायता पहुँचायी गई। तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय (Third International) के विश्वव्यापी क्रान्ति के कार्यों को प्रतिरुद्ध करने के लिए सन् 1947 मे वारसा म एकत्रित युगोस्लाविया, बल्गेरिया, रूमानिया, हंगरी, पोलैण्ड, रूस, फ्रास, चेकोस्लोवाकिया और इटली की साम्यवादी पार्टियो के नेताओ ने 'बेलग्रेड में साम्यवादी सूचना सस्थान' या कोमिनफोर्म (Communist Information Bureau: Cominform) की स्थापना की। इस सस्थान की स्थापना के घोषणा-पत्र मे कहा गया था कि "सयुक्तराज्य अमेरिका द्वारा पिछला युद्ध विश्व मण्डियों मे प्रतियोगिता की समाप्ति के लिए लड़ा गया था, किन्तु रूस ने यह युद्ध यूरोप मे लोकतन्त्र के पुनर्निर्माण और उसे सुदृढ बनाने के लिए लडा था।" कोमिनफोर्म का उद्देश्य विश्वव्यापी साम्यवादी आन्दोलन का नेतृत्व करना था।

द्वितीय महायुद्ध के बाद रूस ने ऐसी नीति का अनुसरण किया जिससे पूर्व और पश्चिम मे रूसी साम्राज्य का विस्तार हो, रूसी सीमाओ पर रूस समर्थक राज्यो की सरकारें स्थापित हो, पुराने बुर्जुआ साम्राज्यो का विनाश हो और इस साम्यवादी विचारधारा के आधार पर नवीन सोवियत साम्राज्य का निर्माण हो। अपने इन्ही उद्देश्यो को प्राप्त करने के लिए स्टालिन ने युद्धोत्तर विश्व समस्याओं के समाधान मे शीघ्रता नही की। वह अड़गेबाजी द्वारा शान्ति-व्यवस्था मे विलम्ब करना चाहता था ताकि ससार की स्थिति सोवियत सघ के लिए और भी अनुकूल बन जाय।

3. टर्की, ईरान, यूनान और युगोस्लाविया पर सोवियत दबाव—स्टालिन काल में सोवियत सघ और पूर्वी यूरोप के पारस्परिक सम्बन्धो मे जहाँ हर प्रकार से सफलता का पलडा रूस के पक्ष मे भारी रहा, वहाँ रूस को टर्की, ईरान, यूनान और युगोस्लाविया के सम्बन्ध मे निश्चित असफलताओ का सामना करना पडा। सोवियत दबाव की नीति अन्ततोगत्वा सफल न हो सकी।

(क) टर्की—पूर्वी यूरोप के देशो को अनुगामी बनाकर रूस पश्चिम से होने वाले सम्भावित आक्रमणो के प्रति तो सुरक्षित हो गया, लेकिन रूस के विरुद्ध युद्ध करने का दूसरा पुराना मार्ग अभी खुला था और वह मार्ग पूर्वी भूमध्यसागर तथा फारस की खाड़ी के निकटवर्ती देशो-यूनान, टर्की और ईरान से होकर था। दक्षिण से होने वाले आक्रमण के विरुद्ध सोवियत सुरक्षा की मुख्य समस्या बोसफोरस और डार्डनलीज जलडमरुमध्य पर नियन्त्रण की थी। सोवियत नेताओ ने द्वितीय महायुद्ध का आरम्भ होते ही इस समस्या पर विचार किया और समय के साथ अपनी योजना को व्यावहारिक रूप देना शुरू कर दिया। युद्ध-काल मे रूस ने जलडमरुमध्य की संयुक्त सुरक्षा के लिए टर्की से सैनिक अड्डे बनाने की अनुमति चाही, लेकिन ब्रिटेन

और फ्रांस को अपनी पीठ पर देख कर टर्की ने सोवियत माँग ठुकरा दी। यद्यपि फरवरी 1945 में टर्की ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर मित्रराष्ट्रों का साथ दिया, लेकिन 'देरी से अपनाये गये इस रुख के कारण' वह सोवियत दबाव से मुक्त नहीं रह सका। रूसी समाचार-पत्रों ने टर्की के विरुद्ध अपना अभियान छेड़ा लेकिन टर्की दबाव में नहीं आया—क्योंकि एक तो ब्रिटेन और फ्रांस का उसे समर्थन प्राप्त था और दूसरे टर्की में साम्यवादी दल के रूप में 'पंचमार्गी' मौजूद नहीं थे जो रूस के पक्ष में टर्की सरकार पर दबाव डालते। युद्ध के उपरान्त जब 'शीत-युद्ध' आरम्भ हुआ तो पश्चिमी राष्ट्रों ने दृढ़ता से टर्की का समर्थन किया। अक्तूबर 1946 में सोवियत-टर्की समझौता-वार्ता भंग हो गई, पर टर्की रूसी दबाव को सहन कर गया।

(ख) ईरान—यहाँ भी सोवियत नीति असफल रही। सन् 1941 में रूस और ब्रिटेन की संयुक्त सेना ने ईरान पर अधिकार कर लिया था। युद्ध-काल में रूस ने अपने अधिकृत प्रदेश में एक गुप्त साम्यवादी दल 'तुदेह दल' को प्रोत्साहित किया जिसने ईरानी अजरबेजान को जो रूसी अजरबेजान के निकट था, पृथक्करण के लिए आन्दोलन किया। युद्धोपरान्त सन् 1946 के प्रारम्भ में अमेरिका और ब्रिटेन की सेनाओं ने ईरान खाली कर दिया, लेकिन सोवियत सेना डटी रही। मामला सुरक्षा परिषद् में प्रस्तुत हुआ लेकिन प्रत्यक्ष वार्ता द्वारा 24 मार्च, 1946 को एक समझौता हुआ जिसमें रूस ने उत्तरी ईरान में तेल सम्बन्धी सुविधा प्राप्त कर अपने सैनिकों को ईरान से हटाना स्वीकार कर लिया। सोवियत सेना के लौट जाने के बाद ईरानी सैनिकों ने अजरबेजान-प्रदेश में प्रवेश किया और पृथकतावादी आन्दोलन को समाप्त कर दिया। इसके बाद ही ईरान की संसद् ने सोवियत रूस को दी गई तेल-सम्बन्धी सुविधा को स्वीकृत करने से इंकार कर दिया। रूस ने ईरान के विरुद्ध प्रचार-अभियान छेड़ा और ईरान में रूसी हस्तक्षेप का खतरा पैदा हो गया; लेकिन अमेरिका ने, जो 'ट्रूमैन सिद्धान्त' के अनुसार पहले से ही यूनान और टर्की को सैनिक तथा आर्थिक सहायता दे रहा था, ईरान को 2 करोड़ 50 लाख डॉलर की सैनिक सहायता और ईरानी सेना को सगठित करने के लिए सैनिक प्रतिनिधि मण्डल भेजने का वचन दिया जिसके फलस्वरूप ईरान में रूस हस्तक्षेप का संकट टल गया।

(ग) यूनान—यहाँ भी साम्यवादी शासन की स्थापना के रूसी प्रयत्न असफल रहे। सन् 1944 में चर्चिल और स्टालिन ने मास्को में यह स्वीकार किया था कि यूनान ब्रिटिश प्रभाव-क्षेत्र में रहेगा, लेकिन युद्ध की समाप्ति के बाद मित्र-राष्ट्रों का सहयोग बिखर गया। सम्भवतः रूसी स्वीकृति से मई, 1946 में साम्यवादियों ने पूरी शक्ति से गृह-युद्ध छेड़ दिया और ब्रिटिश सरकार ने, जो यूनान-सरकार को निरन्तर सहायता दे रही थी, अमेरिका को सूचित किया कि वह यूनान को और अधिक सहायता देने में असमर्थ है और अमेरिका ने 'ट्रूमैन सिद्धान्त' के अन्तर्गत यूनान को सहायता देने का निश्चय किया। पर सहायता से पूर्व ही अमेरिका का एक सैनिक प्रतिनिधिमण्डल यूनान पहुँच गया ताकि यूनानी सेना को

सहायता की जा सके। "साम्यवादियों ने एथेंस की सरकार को अमेरिकी साम्राज्य की कठपुतली कहकर निन्दा की और जनरल मार्कों वेफीकेड के नेतृत्व में अस्थायी मुक्त यूनान सरकार ने शक्ति अर्जित करली, लेकिन धीरे-धीरे एथेंस सरकार ने अमेरिकी सरकार की सहायता से अपनी सेना को सुसंगठित कर लिया और अक्तूबर, 1949 से साम्यवादी आन्दोलन समाप्त हो गया।"

(घ) यूगोस्लाविया—सबसे अधिक घातक असफलता रूस को यूगोस्लाविया के मामले में प्राप्त हुई, क्योंकि कुछ समय तक रूसी गुट में बने रहने के बाद यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति टीटो ने रूस के प्रभुत्व को स्वीकार करने से इकार कर दिया और जून, 1948 में यूगोस्लाविया रूसी गुट से पृथक् हो गया। स्टालिन ने मार्शल टीटो पर हर प्रकार से दबाव डालने की कोशिश की, किन्तु वह टीटो को अपने नियन्त्रण में नहीं ला सका। टीटो को यह बिलकुल पसन्द नहीं था कि यूगोस्लाविया स्थित लाल सेना यूगोस्लाविया के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करे, अतः उसने सोवियत नागरिक और सैनिक अफसरों पर कड़ी निगरानी रखते हुए स्टालिन से स्पष्ट शब्दों में माँग की कि रूसी फौजें यूगोस्लाविया क्षेत्र से हटा ली जाएँ।

स्टालिन और टीटो के मतभेद बढ़ते गए। फलस्वरूप 28 जून, 1948 को कोमिनफोर्म (Communist Information Bureau : Cominform) ने यूगोस्लाव साम्यवादी पार्टी पर यह आरोप लगाकर उसे अपनी सदस्यता से वंचित कर दिया कि उसकी नीतियाँ मार्क्सवाद एवं लेनिनवाद के सिद्धान्तों के प्रतिकूल हैं। प्रस्ताव में कुछ और भी आरोप लगाए गए। 29 जून को यूगोस्लाव नेताओं ने कोमिनफोर्म द्वारा लगाए गए आरोपों को अस्वीकार कर दिया। इसके बाद सोवियत संघ और यूगोस्लाविया के बीच शीतयुद्ध की स्थिति पैदा हो गई जो स्टालिन की मृत्युपर्यन्त (मार्च, 1953) चालू रही। वास्तव में स्टालिन ने टीटो को अपने समकक्ष मानने से इकार कर दिया और उसके प्रति पूर्ण विरोध की नीति अपनाई।

अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन के 'भाईचारे' के विरुद्ध किए गए टीटो के इस विद्रोह का पश्चिमी देशों ने स्वभावतः मुक्त कंठ से स्वागत किया। इस विद्रोह को 'सोवियत साम्राज्यवाद के विरुद्ध पूर्वी यूरोप के विद्रोह का सूचक' समझा गया। जुलाई, 1948 में संयुक्तराज्य अमेरिका ने यूगोस्लाविया की 6 करोड डॉलर की सम्पत्ति उसे लौटा दी। यूगोस्लाविया ने भी अमेरिका को 1 करोड 80 लाख डॉलर का भुगतान दिया। अन्य पश्चिमी देशों के साथ भी इसी तरह के सद्भावनापूर्ण और लेनदेन की भावना के समझौते किए गए। मार्शल टीटो ने सोवियत रूस से क्षुब्ध होकर पूर्वी यूरोप के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की अपेक्षा पश्चिमी देशों के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया, किन्तु यह सदैव ध्यान रखा कि उनका राष्ट्र पूर्णतः सोवियत या पश्चिमी प्रभाव से मुक्त एक स्वतन्त्र राष्ट्र रहे।

4. पश्चिम का विरोध और शीतयुद्ध की उग्रता—सोवियत रूस द्वारा पूर्वी यूरोप के देशों में साम्यवादी शासन की स्थापना के प्रयत्नों और पश्चिमी शक्तियों

द्वारा रूसी प्रभाव के प्रसार को रोकने की चेष्टाओं के कारण सोवियत संघ और पश्चिम की 'विचित्र मैत्री' का अन्त हो गया तथा युद्ध समाप्त होने के तीन वर्ष के अन्दर ही दोनों गुटों में उग्र शीतयुद्ध प्रारम्भ हो गया। पराजित राज्यों के साथ सन्धियों की शर्तें, इटली के उपनिवेशों तथा राष्ट्रसंघ के मेण्डेट वाले प्रदेशों का विभाजन, जर्मनी का निःशस्त्रीकरण और एकीकरण, पश्चिमी देशों तथा रूस के लोकतन्त्र सम्बन्धी विचारों में मौलिक अन्तर, क्षतिपूर्ति, मध्यपूर्व में प्रमुत्व के लिए तीव्र प्रतियोगिता आदि के सम्बन्ध में दोनों पक्षों में शीतयुद्ध की तीव्रता बढ़ी। पश्चिमी राष्ट्र कोमिनफ्रेमं की गतिविधियों और स्टालिन की हठधर्मी से आशंकित हो गए। उधर सोवियत संघ का यह विश्वास दृढ़ होता गया कि पश्चिमी राष्ट्र उसके उन्मूलन का षड़यन्त्र रच रहे हैं। रूस की दृष्टि में ट्रूमैन-सिद्धान्त, मार्शल योजना, बर्लिन के घेरे के समय दी गई हवाई सहायता, जापान व जर्मनी का पुन. शस्त्रीकरण, शूमैन एवं प्लेवन योजनाएँ, कोरिया युद्ध आदि कार्य शत्रुतापूर्ण थे।

स्टालिन ने अपनी नीति को शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व का जामा पहनाया, परन्तु उसकी कार्यवाहियों से यह स्पष्ट हो गया कि 'शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व' की नीति से उसका अभिप्राय केवल इतना था कि दोनों पक्षों में सशस्त्र युद्ध नहीं होना चाहिए। एक प्रचारात्मक वाग्युद्ध और कोरिया जैसे स्थानीय युद्धों को वह इस नीति के विरुद्ध नहीं समझता था। स्टालिन की इस नीति का एक अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे पश्चिमी और साम्यवादी शक्तियों में तनाव बढ़ता चला गया।

5. लौह आवरण की नीति—महायुद्ध के उपरान्त स्टालिन ने 'लौह आवरण' (Iron Curtain) की नीति अपनायी ताकि साम्यवादी जगत् को सभी प्रकार के पाश्चात्य प्रभावों से मुक्त रखा जा सके। अमेरिका और उसके पश्चिमी मित्रराष्ट्रों ने साम्यवादी देशों के आसपास अज्ञात रेडियो स्टेशन स्थापित करके साम्यवाद के विरुद्ध जहरीला प्रचार शुरू कर दिया। इन रेडियो स्टेशनों के नाम 'आजाद हंगरी रेडियो', 'आजाद पोलैण्ड रेडियो' आदि रखे गए। स्टालिन समझ गया कि पश्चिमी देश साम्यवादी व्यवस्था का उन्मूलन करना चाहते हैं, अत. उसने पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों और रूस के चारों ओर कठोर प्रतिबन्धों की ऐसी व्यवस्था की कि उनके भीतर अमेरिका एवं अन्य पश्चिमी राष्ट्रों का प्रचार न पहुँच सके। स्टालिन ने निर्णय कर लिया कि वह रूस एवं पूर्वी यूरोप के साम्यवादी जगत् को गैर-साम्यवादी देशों के सम्पर्क से पृथक् रखेगा। सन् 1945 से ही ऐसे कानून बनाए जाने लगे जिनसे बाह्य जगत् के साथ रूसियों का सम्पर्क रुक जाए। एक कानून के द्वारा यह व्यवस्था की गई कि युद्ध के समय रूस में आए हुए विदेशी सैनिकों के साथ जिन रूसी स्त्रियों ने विवाह किया था वे अपने पतियों के साथ विदेश नहीं जा सकेंगी। एक अन्य कानून द्वारा विदेशियों के साथ सोवियत नागरिकों के विवाहों को निषिद्ध ठहरा दिया गया। विदेशी राजदूतों तथा पत्र-प्रतिनिधियों के साथ भी बहुत कठोरता का व्यवहार किया गया। विदेशों में स्थित सोवियत राजदूतों

पर कठोर अनुशासनात्मक प्रतिबन्ध लगाए गए तथा रूसी प्रेस पर भी कठोर नियन्त्रण लगा दिया गया।

6. अफ्रीका तथा एशिया के प्रति सोवियत नीति एवं शान्ति आन्दोलन—अफ्रीका एवं एशिया के प्रति स्टालिन की नीति विवेकपूर्ण किन्तु अनुदार थी। उसने मध्यपूर्व में साम्यवादी प्रभाव में वृद्धि करने की चेष्टा की और दक्षिणी कोरिया को साम्यवादी बनाने के लिए कोरिया युद्ध की प्रेरणा दी। यद्यपि स्टालिन कम साम्राज्यवादी नहीं था, तथापि उसने एशिया और अफ्रीका में पराधीन राष्ट्रों के स्वतन्त्रता आन्दोलनों का समर्थन किया और साम्राज्यवाद की निन्दा की। पश्चिमी राष्ट्रों का दृष्टिकोण यह रहा कि एशिया और अफ्रीका की जनता को यह महसूस हुआ कि ये राष्ट्र अप्रत्यक्ष रूप से उपनिवेशवाद का समर्थन कर रहे हैं।

साम्राज्यवाद विरोधी नीति के साथ ही सोवियत संघ ने 'शान्ति-आन्दोलन' (Peace Offensive) आरम्भ किया और पश्चिम को युद्ध-लोलुप (War Monger) कह कर बदनाम करने की चेष्टा की। स्टालिन का 'शान्ति आन्दोलन' एक चातुर्य-पूर्ण और सफल चाल सिद्ध हुई। सोवियत संघ की प्रेरणा पर सन् 1950 में स्टॉकहोम में विश्व-शान्ति सम्मेलन की बैठक हुई जिसमें आणविक आयुधों पर बिना शर्त प्रतिबन्ध लगाने की अपील की गई। अपील में कहा गया—

"हम इस बात की माँग करते हैं कि मानव-जाति के सामूहिक उन्मूलन और आतंक के अस्त्र के रूप में आणविक आयुधों पर बिना शर्त प्रतिबन्ध लगाना चाहिए। हम यह माँग करते हैं कि इस पर कठोर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण स्थापित किया जाए। हम उस सरकार को युद्ध-अपराधी समझेंगे जो किसी देश के विरुद्ध इस शस्त्र का प्रयोग करने में पहल करेगी।"

प्रचार की दृष्टि से यह आन्दोलन बहुत सफल और लोकप्रिय सिद्ध हुआ। अपील पर कुछ समय में ही लगभग 50 करोड़ व्यक्तियों के हस्ताक्षर प्राप्त किए गए। शान्ति आन्दोलन ने एशिया और अफ्रीका की विशाल जनसंख्या को बहुत प्रभावित किया। वे साम्यवाद की ओर आकर्षित हुए तथा सोवियत रूस को पश्चिम की अपेक्षा अधिक शान्तिप्रिय और उपनिवेशवाद-विरोधी मानने लगे।

7. संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रति सोवियत नीति—स्टालिन के नेतृत्व में सोवियत संघ ने संयुक्त-राष्ट्रसंघ के निर्माण में सक्रिय भाग लिया। संयुक्त-राष्ट्रसंघ इसी विश्वास पर आधारित था (और है) कि महाशक्तियाँ, विशेषतः सोवियत संघ और संयुक्तराज्य अमेरिका सहयोगपूर्वक कार्य करते हुए संघ के उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायक बनेंगी; परन्तु दुर्भाग्यवश यह आशा पूरी न हो सकी। अपने जन्म के कुछ ही समय उपरान्त संघ शीतयुद्ध का प्रधान अखाड़ा बन गया। लगभग प्रत्येक समस्या पर दोनों गुट दो विरोधी दृष्टिकोण लेकर संघ के मंच पर उपस्थित हुए। संघ में पश्चिमी शक्तियों और उनके समर्थकों का स्पष्ट बहुमत था और सोवियत रूस ने स्वयं को एक स्थायी एवं निरन्तर अल्पमत में पाया। ऐसी स्थिति में अपनी इच्छा के प्रतिकूल होने वाले निर्णयों को रोकने के लिए उसके पास इसके अतिरिक्त

कोई उपाय न था कि वह सुरक्षा परिषद् में अपने निषेधाधिकार का दृढ़ता से प्रयोग करे। कोरिया युद्ध के समय अल्पकाल के लिए रूस ने संयुक्त राष्ट्रसंघ की बैठकों का बहिष्कार कर दिया लेकिन वह बहिष्कार उसके लिए घाटे का सौदा सिद्ध हुआ, क्योंकि इस बहिष्कार के कारण ही संयुक्त राष्ट्रीय सेनाएँ दक्षिणी कोरिया की सहायता के लिए भेजी जा सकी। इस घटना से रूस ने समझ लिया कि संयुक्त राष्ट्र संघ से बाहर रहकर प्रयत्न करने की अपेक्षा वह संयुक्त-राष्ट्रसंघ की कार्यवाहियों में भाग लेकर तथा परिषद् की बैठकों में उपस्थित होकर पश्चिमी राष्ट्रों के इरादों को अधिक अच्छी तरह विफल कर सकता है। इस अनुभूति के बाद फिर कभी रूस ने ने संघ की बैठकों का बहिष्कार नहीं किया। इस बात से इकार नहीं किया जा सकता कि सोवियत संघ ने सुरक्षा परिषद् में अपने निषेधाधिकार के प्रयोग से पश्चिम के अनेक अन्याय-पूर्ण प्रस्तावों को, जिनमें कश्मीर-प्रस्ताव भी शामिल है, धराशायी किया।

स्टालिन की विदेश-नीति का मूल्यांकन

यद्यपि स्टालिन ने पूर्वी यूरोप पर सोवियत प्रभुत्व की स्थापना द्वारा रूसी महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा कर लिया, परन्तु उसकी हठधर्मी की नीति सोवियत संघ के लिए कुल मिलाकर अलाभकारी ही सिद्ध हुई। स्टालिन की आक्रामक नीति से पश्चिमी शक्तियाँ सशंकित हो गईं और उन्होंने बढ़ते हुए सोवियत प्रभाव को रोकने तथा साम्यवाद के प्रसार को प्रतिरुद्ध करने के लिए अनेक उपाय किए। ट्रूमैन सिद्धान्त, मार्शल योजना, डकर्क, ब्रुसेल्स सन्धियाँ, नाटो पैक्ट, पश्चिमी यूरोप की एकता के लिए निर्मित विभिन्न संगठन आदि स्टालिन की कठोर नीति का करारा जवाब था। सन् 1945–47 तक यूरोप की स्थिति स्टालिन के लिए अत्यन्त अनुकूल थी, लेकिन सन् 1953 तक यह स्थिति बदल गई। सन् 1949 में चीन में साम्यवादी विजय तथा सन् 1950 में कोरिया-युद्ध के प्रारम्भ ने पश्चिमी शक्तियों को कोरिया, जापान, फारमोसा और दक्षिणी-पूर्वी एशिया में साम्यवादी प्रसार को रोकने के लिए विवश कर दिया। मध्यपूर्व में टर्की और यूनान में हस्तक्षेप के कारण सोवियत रूस को वैसी ही बदनामी हाथ लगी जैसी बाद में आइजनहॉवर-सिद्धान्त के प्रयोग से अमेरिका को। एशिया और अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रों के प्रति भी स्टालिन की नीति अनुदार रही। अपनी हठधर्मी के कारण वह इन राष्ट्रों की दोनों शक्ति गुटों के प्रभाव से बचने की इच्छा और नीति को नहीं समझ सका। वह उन्हें साम्यवाद का शत्रु मानने लगा। इससे उसने एक बड़ी सीमा तक इन राष्ट्रों का समर्थन खो दिया। तटस्थ देशों के प्रति स्टालिन ने विरोधी नीति का अनुसरण किया। उदाहरणार्थ भारत को उसकी तटस्थता के कारण ही स्टालिन रूस-विरोधी समझता रहा था। इसीलिए स्टालिन-काल के रूसी विश्वकोष में भारत के स्वाधीनता संग्राम को और महात्मा गाँधी को पूँजीवाद का समर्थक बताया गया था।

स्टालिन की उग्रवादी कठोर नीति ने स्वयं साम्यवादी गुट में भी काफी क्षोभ उत्पन्न कर दिया। जब यूगोस्लाविया में मार्शल टीटो ने सोवियत संघ का

अन्धीनुकरण करने मे इंकार कर दिया तो स्टालिन के शिकंजे से निकलने के लिए अन्य साम्यवादी देशो मे भी राष्ट्रवादी प्रवृत्तियों को अधिक समर्थन मिलने लगा। इसकी अभिव्यक्ति बाद मे सन् 1956-57 मे पोलैण्ड तथा हगरी के उपद्रवों में हुई। स्टालिन की 'लौह आवरण' की नीति से अन्य देशो मे रूस के प्रति सन्देह और अविश्वास की धारणाओ को बल मिला। जार्ज एफ. केनन (George F. Kennen) का मत है कि सन् 1952 तक सोवियत नीति 'अनुर्वर' हो गई थी और सन् 1953 में स्टालिन के उत्तराधिकारियो के लिए उसमे परिवर्तन करना अनिवार्य हो गया।

कुछ लोग स्टालिन की विदेश-नीति मे रूढ़िवाद (Conservatism) की झलक पाते हैं। उनके मतानुसार वह पश्चिम पर शक्ति के बल पर हावी नही होना चाहता था, बल्कि उसने पश्चिमी शक्ति एव सम्मान को गिराने तथा अपने साम्राज्य को शक्ति एव स्थायित्व देने के प्रयास किए। अधिराज्यो मे व्याप्त असन्तोष के प्रति वह सजग था, तो भी उसने सोवियत शक्ति के विस्तार के प्रत्येक अवसर का लाभ उठाया। सन् 1953 का वर्ष पश्चिमी विचारकों द्वारा सौभाग्यशाली माना जाता है जब स्टालिन इस ससार से विदा हो गया। कहा जाता है कि स्टालिन ने रूस जैसे पिछड़े व अविकसित देश को दुनिया की महान् औद्योगिक एव सैनिक शक्ति बना दिया तथा चगेजखां और तैमूरलग जैसा साम्राज्य स्थापित कर दिया।

शान्तिपूर्ण प्रतियोगिता का स्टालिनोत्तर युग : मोलेंकोव काल (1953-54)

स्टालिन की मृत्यु से पूर्व ही सोवियत विदेश-नीति मे गतिरोध की स्थिति उत्पन्न हो गई थी, किन्तु बाद मे उसकी नीति मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ और वह फिर से विकासोन्मुखी बनी। स्टालिन के बाद तीन मुख्य बातो ने सोवियत संघ की शक्ति मे वृद्धि की। पहला विकास यह था कि पूर्वी यूरोप मे सोवियत साम्राज्य मे स्थायित्व आ गया। दूसरे, सोवियत सघ की आर्थिक तथा सैनिक शक्ति तेजी के साथ बढने लगी। तीसरे रूस के दक्षिणी क्षेत्र मे उसका प्रभाव बढने लगा, मध्य-पूर्व, दक्षिणी एशिया और अफ्रीका के विकासशील देश उसके प्रभाव क्षेत्र बन गए। विश्व का सन्तुलन एक प्रकार से साम्यवाद की ओर झुक गया। स्टालिन के बाद यद्यपि सोवियत साम्राज्य मे वृद्धि नही हुई सोवियत संघ की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति इतनी उन्नत हो गई जितनी पहले कभी नहीं थी। स्टालिन के उत्तराधिकारियो को जिन चुनौतियों का सामना करना था, वे थी—सोवियत साम्राज्य की रक्षा करना, पूर्वी यूरोप में सोवियत शासन के स्थायित्व पर पाश्चात्य स्वीकृति प्राप्त करना तथा जहाँ तक सम्भव हो सके वहाँ तक सोवियत सुरक्षा को खतरे मे न डालते हुए देश की शक्ति का विस्तार करना। साम्राज्य की रक्षा करना उसे प्राप्त करने से अधिक कठिन होता है, इसीलिए उन्होंने अधिराज्यों को स्थानीय स्वायत्तता प्रदान की, आर्थिक सम्बन्धो को कम शोषणयुक्त बनाया तथा जीवन स्तर के आधुनिक विकास को प्रोत्साहन दिया। स्टालिन के बाद सोवियत रूस को बर्लिन-समस्या का सामना करना पडा, साम्यवादी चीन के साथ इसका सैद्धान्तिक विवाद बढ़ा, मार्शल टीटो

के साथ मतभेदों में उतार-चढ़ाव आया, पोलैण्ड और हंगरी में क्रान्तियाँ हुई तथा एशिया एवं अफ्रीका महाद्वीपों में क्रान्तिकारी परिवर्तन एवं संघर्ष हुए और इन सबके कारण सोवियत संघ की विदेश नीति की गति काफी तेज हो गई।

स्टालिन की उग्रतावादी कठोर विदेश-नीति के जो परिणाम निकले और पाश्चात्य देशों एवं तटस्थ देशों में उसकी जो प्रतिक्रियाएँ हुई, उनके फलस्वरूप अब सोवियत नीति का एक नवीन दिशा में उन्मुख होना स्वाभाविक तथा अनिवार्य था। इसलिए स्टालिन के अविलम्ब उत्तराधिकारी मोलेंकोव ने दिवंगत नेता के अन्त्येष्टि-संस्कार में ही घोषणा की कि—"लेनिन और स्टालिन की शिक्षाओं के अनुसार साम्यवादी तथा पूँजीपति देशों में शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व स्थापित करने के लिए पूर्ण प्रयत्न किया जाएगा।" मोलेंकोव का यह आश्वासन इस बात का संकेत था कि स्टालिन के उत्तराधिकारी पश्चिमी एवं गैर-साम्यवादी देशों के प्रति उग्रता और कठोरता में कमी लाना चाहते थे। इसके तुरन्त बाद ही 15 मार्च, 1953 को सुप्रीम सोवियत में सोवियत प्रधानमन्त्री ने कहा—"अब सोवियत विदेश-नीति का संचालन व्यापार की वृद्धि और शान्ति को सुदृढ बनाने की दृष्टि से किया जाएगा। कोई ऐसा विवाद नहीं है जिसे शान्तिपूर्वक हल न किया जा सकता हो। यह सिद्धान्त संयुक्त राष्ट्र अमेरिका सहित विश्व के सब देशों के सम्बन्ध में समान रूप से लागू होता है।" सोवियत रूस की नीति में परिवर्तन का संकेत देने वाली इन विभिन्न घोषणाओं के कारण अमेरिका और पश्चिमी राष्ट्रों में रूस के विरुद्ध प्रचार में कमी आई। इसी के परिणामस्वरूप अब तक पश्चिम के विरुद्ध आग बरसाने वाले रूसी विदेश मन्त्री विशिंस्की ने संयुक्त राष्ट्रसंघीय महासभा की बैठक में भाषण देते हुए पश्चिम को निमन्त्रण दिया कि "आप मित्रता की सुरंग में आधे रास्ते तक आगे बढ़कर हमसे मिलें।" इसके साथ ही पश्चिमी देशों के विरुद्ध रूस द्वारा किए जाने वाले विरोधी प्रचार की उग्रता में भी कमी आ गई।

रूस की नई विदेश नीति के सुखद परिणाम भी शीघ्र ही प्राप्त होने प्रारम्भ हो गए। अक्तूबर 1952 से चालू कोरियाई युद्ध का गतिरोध खत्म हो गया और 10 अप्रेल 1953 को पानमुनजोन में रुग्ण एवं घायल युद्धबन्दियों के बारे में समझौता होने पर युद्ध भी समाप्त हो गया। रूस द्वारा टर्की और जर्मनी के प्रति उदार नीति अपनाई गई। 15 मई 1955 को आस्ट्रिया के सम्बन्ध में शान्ति-सन्धि हो गई। फिनलैण्ड के सैनिक अड्डे सोवियत सैनिकों द्वारा खाली कर दिए गए, सोवियत सेना में 1 लाख 80 हजार सैनिकों की कमी की गई। सन् 1954 में जेनेवा-सम्मेलन द्वारा हिन्दचीन की समस्या का शान्तिपूर्ण हल निकाला गया। सोवियत संघ ने यूनान और इजरायल के साथ पुनः कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किए। यूगोस्लाविया के साथ मतभेदों को दूर कर उसे पुनः साम्यवादी परिवार में लाने की चेष्टा की गई। 29 अप्रेल 1953 को मोलेंकोव ने यूगोस्लाव प्रतिनिधि से कूटनीतिक सम्बन्धों की पुनर्स्थापना के सम्बन्ध में बातचीत की और मई 1953 में दोनों देशों के बीच कूटनीतिक सम्बन्ध पुनः कायम हो गए, इसके उपरान्त सोवियत

नेताओं ने यूगोस्लाव साम्यवादी पार्टी के साथ भी अपने सैद्धान्तिक मतभेदों को दूर करने के प्रयत्न किए।

मोलेकोव के नेतृत्व मे सोवियत रूस की लौह-आवरण की नीति मे भी शिथिलता आई। बाह्य दुनिया से सम्पर्क कायम करने का प्रयास किया गया ताकि सोवियत संघ लोहे की दीवार मे बन्द न समझा जाए। स्टालिन विश्व को दो विरोधी गुटों मे विभाजित मानता था, लेकिन नई नीति के अनुसार इसको शक्ति-सन्तुलन की प्रक्रिया माना गया और अपने पक्ष मे करने के लिए तटस्थ-राष्ट्रों की सद्भावना प्राप्त करने की चेष्टा की गई।

खु श्चेव-काल (1955–64)

इस समय सोवियत संघ मे अन्दर ही अन्दर नेतृत्व के लिए संघर्ष चल रहा था। मोलेंकोव इस संघर्ष मे पराजित हुए और 8 फरवरी, 1955 को उन्हे प्रधान-मन्त्री पद त्यागना पड़ा। अब मार्शल बुल्गानिन नए सोवियत प्रधानमन्त्री बने तथा खु श्चेव पार्टी के महासचिव नियुक्त हुए।

सन् 1955 से 1963 तक की सोवियत विदेश नीति का युग खु श्चेव युग कहलाता है क्योंकि फरवरी, 1955 से मार्च, 1958 तक के बुल्गानिन के प्रधान-मन्त्रित्व काल मे भी वास्तविक प्रभाव एक प्रकार से खु श्चेव का ही था। इस युग मे सोवियत विदेश-नीति मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए।

खु श्चेवकालीन विदेश-नीति की मुख्य प्रवृत्तियाँ

(1) लौह आवरण की नीति उत्तरोत्तर शिथिल होती गई तथा 'यात्रा-कूटनीति' का महत्त्व बढ़ता गया।

(2) पश्चिम के प्रति उग्र नीति का शनैः-शनैः परित्याग किया जाने लगा। सोवियत नेता शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की ओर अग्रसर हुए। विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान पर अधिकाधिक बल दिया जाने लगा पर शीतयुद्ध का परित्याग नही किया गया। अनुकूल परिस्थितियो मे शीतयुद्ध को उभार कर राजनीतिक और प्रचारात्मक लाभों को प्राप्त करने के प्रयत्न चलते रहे।

(3) अल्पविकसित देशो को आर्थिक, प्राविधिक और सैनिक सहायता देने की नीति अपनाई गई। इसमे उत्तरोत्तर विकास होता चला गया।

(4) सोवियत प्रभाव-विस्तार की उत्कंठा रखते हुए भी उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद विरोधी प्रचार को तीव्र कर दिया गया। सोवियत नीति यह रही कि एशिया और अफ्रीका की जनता की अधिकाधिक सहानुभूति प्राप्त कर इन महाद्वीपो मे साम्यवाद के प्रसार के अनुकूल वातावरण तैयार किया जाए। सोवियत शक्ति और प्रभाव-विस्तार के मुख्य आकर्षण केन्द्र तीन क्षेत्र रहे—एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका।

(5) अणु आयुधो मे अमेरिका से समानता तथा उससे आगे निकल जाने के प्रयत्न अनवरत चलते रहे। इसी लक्ष्य को ध्यान मे रखते हुए निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी रण-नीति रची गई।

यह उपयुक्त होगा कि ख्रुश्चेव-युग में सोवियत विदेश नीति के मुख्य पहलुओं का विस्तार से विवेचन किया जाए और देखा जाए कि इस नीति का व्यवहार में क्रियान्वयन किस प्रकार हुआ।

1. लौह आवरण में शिथिलता, यात्राओं की कूटनीति—इस युग में सोवियत लौह आवरण की नीति में पर्याप्त शिथिलता आई और 'यात्रा-कूटनीति' का महत्त्व बढ़ा। सोवियत संघ के विभिन्न सांस्कृतिक तथा संसदीय शिष्टमण्डल विदेशों में जाने लगे और विदेशों के ऐसे ही शिष्टमण्डल साम्यवादी देशों में आमन्त्रित किए जाने लगे। स्टालिन बाह्य देशों के साथ सम्पर्क का घोर विरोधी था और सम्भवतः केवल एक बार तेहरान सम्मेलन के समय अपने देश से बाहर गया था अन्यथा युद्ध सम्मेलनों में ही उसकी चर्चिल और रूजवेल्ट से भेंट हुई थी। लेकिन अब ख्रुश्चेव, बुल्गानिन आदि उच्चतम स्तर के सोवियत नेता दूसरे देशों की सद्भावना और मैत्री अर्जित करने के लिए विभिन्न देशों की यात्राएँ करने लगे और उन देशों के नेताओं को अपने यहाँ आमन्त्रित करने लगे।

जून, 1955 में भारतीय प्रधानमन्त्री नेहरू सोवियत रूस द्वारा आमन्त्रित किए गए और नवम्बर, 1955 में ख्रुश्चेव तथा बुल्गानिन ने भारत-यात्रा की। इससे दोनों देशों में सद्भाव और मैत्री की वृद्धि हुई तथा सोवियत नेताओं की भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति के प्रति स्टालिनकाल से जो सन्देह बना हुआ था वह दूर हो गया। अप्रेल, 1956 में दोनों नेता ग्रेट ब्रिटेन गए। 1959 के आरम्भ में प्रथम सोवियत उप-प्रधानमन्त्री मिकोयान ने 15 दिन तक अपने घोर विरोधी समझे जाने वाले अमेरिका की यात्रा की और 17 जनवरी को राष्ट्रपति आइजनहॉवर द्वारा अमेरिका में सन् 1954 में मोलेंकोव के बाद पहली बार व्हाइट हाउस में किसी रूसी राजनीतिज्ञ का स्वागत हुआ। सोवियत उप-प्रधानमन्त्री ने दोनों देशों में व्यापार-वृद्धि को आवश्यक बताया और इस बात पर बल दिया कि 'शीतयुद्ध' (Cold-War) का स्थान 'शान्तिपूर्ण-प्रतियोगिता' (Peaceful Competition) को लेना चाहिए। स्वदेश वापस लौटने पर मिकोयान ने 31 जनवरी, 1959 को सोवियत साम्यवादी पार्टी के 21वें अधिवेशन में मास्को में कहा कि उन्होंने अमेरिकी राजनीतिज्ञों और नेताओं के साथ जो भी वार्तालाप किया उसमें उन्हें कहीं सोवियत साम्यवाद के 'निरोध' (Containment), 'पीछे धकेलने' (Roll Back) तथा 'साम्यवाद की दासता से मुक्ति' (Liberation) की कोई चर्चा नहीं सुनाई दी। मिकोयान द्वारा अमेरिका की अपनी यात्रा से उपयुक्त वातावरण तैयार कर दिए जाने बाद सितम्बर 1959 में सोवियत प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव ने अमेरिका की यात्रा की। फरवरी-मार्च, 1960 में ख्रुश्चेव ने दक्षिण-पूर्वी एशिया के विभिन्न देशों—भारत, बर्मा, इण्डोनेशिया, अफगानिस्तान आदि की यात्रा की।

सोवियत नेताओं द्वारा लौह-आवरण शिथिल किए जाने और विश्व के विभिन्न देशों की यात्रा करने से अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में निश्चित रूप से कमी हुई और दोनों विरोधी पक्ष एक दूसरे के प्रति उतने अधिक शंकालु न रहे जितने स्टालिनकाल में थे।

अपनी यात्राओं में रूसी नेताओं ने शासनाध्यक्षों के शिखर-सम्मेलन आयोजित करने पर बार बार बल दिया। ऐसा एक सम्मेलन जुलाई, 1953 मे जेनेवा मे हुआ जिसमे हिन्दचीन की समस्या को महत्त्व दिया गया। दूसरा सम्मेलन मई, 1960 मे हुआ जो दुर्भाग्यवश यू–2 विमानकाण्ड से उत्पन्न वातावरण का शिकार बनकर असफल हो गया।

2. शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व और विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान की नीति—स्टालिन की मृत्यु के बाद शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति का शुभारम्भ मोलेकोव के प्रधानमन्त्रित्व-काल मे ही हो चुका था, किन्तु इसमे निखार ख्रुश्चेव तथा इसके परवर्ती युग मे आया। फरवरी, 1956 मे रूसी साम्यवादी दल की 20वी कांग्रेस ने स्टालिन तथा उसकी नीतियो की कटु आलोचना की तथा इसके और साम्यवादी देशों से युद्ध की अनिवार्यता के लेनिन-सिद्धान्त को संशोधित कर शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व को सोवियत नीति का आधार बनाया।

ख्रुश्चेव की प्रेरणा से उनके समय जो विदेश नीति अंगीकृत की गई उसकी 5 प्रमुख विशेषताएँ थी—

प्रथम, जहाँ स्टालिन के शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का अर्थ केवल युद्ध का न होना मात्र था, वहाँ ख्रुश्चेव ने इसका अर्थ यह माना कि सभी गैरसाम्यवादी राष्ट्र, विशेषकर एशिया और अफ्रीका के तटस्थ राष्ट्र, सोवियत संघ के शत्रु नही हैं।

दूसरे, अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान पर बल दिया गया।

तीसरे, यात्राओ की कूटनीतिक स्वीकार की गई और यह माना गया कि दूसरे देशो से अच्छे सम्बन्धो की स्थापना करने के लिए सोवियत नेताओ को अन्य देशो की यात्राएँ करनी चाहिएँ तथा लौह-आवरण को शिथिल कर साम्यवादी एवं गैरसाम्यवादी देशो के मध्य सम्पर्क को प्रोत्साहन देना चाहिए।

चौथे, सोवियत संघ द्वारा विश्व के अल्प-विकसित देशो को आर्थिक सहायता देने की आवश्यकता अनुभव की गई।

पाँचवें पश्चिमी शक्तियो को साम्राज्यवादी तथा उपनिवेशवादी बता कर उनकी निन्दा करते हुए भी उनके साथ खुले संघर्ष की नीति का परित्याग किया गया।

शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नवीन सोवियत नीति के अनुसार गैर-साम्यवादी देशो को तीन वर्गों मे विभक्त किया गया है—(1) संयुक्तराज्य अमेरिका, (2) अमेरिका के समर्थक और सहयोगी देश, एवं (3) तटस्थ देश, जैसे—भारत, इण्डोनेशिया बर्मा, मिस्र, सीरिया यूगोस्लाविया, अफगानिस्तान व स्विट्जरलैण्ड। दूसरे शब्दों मे, पहले रूस दुनिया मे दो रंग के रूप देखता था—लाल और सफेद। अब वह इसमे लाल, पीले, नीले, हरे विभिन्न प्रकार के फूल देखने लगा। पहले उसकी नीति लाल रंग के फूलो के सिवा सब तरह के फूलो के समूलोन्मूलन की थी, अब वह सबके साथ-साथ रहने के 'शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व' की बात करने लगा। 12 अक्तूबर, 1954 को सोवियत संघ और चीनी सरकारो की एक संयुक्त घोषणा

मे स्पष्ट कहा गया कि वे समस्त देशो के साथ पंचशील के सिद्धान्तो के आधार पर मैत्री-सम्बन्ध कायम करना चाहते हैं।

शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त के अन्तर्गत रूसी विदेश नीति मे एक निश्चित लचीलापन (Flexibility) आया। इण्टरनेशनल न्यूज सर्विस एजेंसी के मुख्य सम्पादक डब्ल्यू आर. हर्स्ट (W R. Hearst) को एक इटरव्यू मे ख्रुश्चेव ने स्पष्ट किया था कि यदि सयुक्तराज्य अमेरिका का शासक वर्ग इस असदिग्ध तथ्य को स्वीकार कर ले कि विश्व मे एक समाजवादी जगत् का अस्तित्व है जो अपने आदर्शों के अनुरूप उन्नति के मार्ग पर अग्रसर है एव इस समाजवादी दुनिया के अतिरिक्त एक पूंजीवादी दुनिया भी है तो वह (सोवियत रूस) इन दो विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओ के बीच सह-अस्तित्व की सम्भावनाओ को स्वीकार कर लेगा। अपने इसी इटरव्यू मे ख्रुश्चेव ने दृढ शब्दो मे यह स्पष्ट कर दिया कि रूस इस बात को किसी दशा मे स्वीकार नही कर सकता कि ससार के प्रत्येक देश पर सयुक्तराज्य अमेरिका हावी होने की चेष्टा करे।

स्टालिन की मृत्यु के उपरान्त अन्तर्राष्ट्रीय विवादो के शान्तिपूर्ण समाधान और सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को मानने के सोवियत रूस ने निश्चित प्रमाण भी प्रस्तुत किए। उदाहरणार्थ, जुलाई, 1953 को कोरिया युद्ध की समाप्ति मे रूसी सहयोग प्राप्त हुआ, जनवरी-फरवरी, 1954 मे चार बडो के विदेश मन्त्रियो का सम्मेलन हुआ जिसके निश्चय के अनुसार अप्रैल मे जो जेनेवा सम्मेलन हुआ उसमे वियतनाम की समस्या को शान्तिपूर्ण ढग से सुलझाया गया। 15 मई, 1955 को आस्ट्रिया के साथ शान्ति स्थापित हुई। जुलाई, 1955 मे चार बडो का शिखर-सम्मेलन हुआ जो सन् 1945 के पोट्सडाम सम्मेलन के बाद चार बडो की पहली बैठक थी। इसमे हिन्दचीन के प्रश्न का शान्तिपूर्ण समाधान हुआ। इसी बीच 15 जून, 1954 को सोवियत सघ ने कालेसागर के प्रदेश मे टर्की के विरुद्ध अपनी प्रादेशिक मांगो का परित्याग करने की घोषणा की।

सोवियत सघ ने सयुक्त राष्ट्रसघ के महासचिव की नियुक्ति पर अपने पहले के दुराग्रही रवैये को छोडकर डाग हैमरशोल्ड को महासचिव के रूप मे स्वीकार कर लिया। 1 जुलाई, 1955 मे भारत के प्रयत्नो और रूस के समर्थन से साम्यवादी चीन ने 11 बन्दी अमेरिकी विमान चालको को रिहा कर दिया। रूस द्वारा अपनाई गई इस सहयोगपूर्ण और उदार नीति का सयुक्त राष्ट्रसघ पर भी अनुकूल प्रभाव पड़ा। रूसी सहयोग से वह अब अधिक प्रभावशाली रूप मे कार्य करने लगा। नवम्बर-दिसम्बर, 1955 मे एक तरफ सोवियत रूस ने और दूसरी तरफ फ्रास, ब्रिटेन एव सयुक्तराज्य अमेरिका ने यह निश्चय किया कि एक दूसरे के द्वारा प्रस्तावित राज्यो को सयुक्त राष्ट्रसघ का सदस्य बनाने के प्रस्तावो का विरोध नही करेंगे। इस निश्चय के परिणामस्वरूप 8 दिसम्बर, 1955 को 18 राज्यो को सयुक्त राष्ट्रसघ की सदस्यता प्रदान की गई। सोवियत नेताओ ने दूसरे देशो की सदभावना यात्राएँ करना आरम्भ किया। 18 अप्रेल, 1956 को कोमिनफोर्म को भग कर दिया गया। जुलाई-अगस्त,

1963 में अणु-परीक्षण-प्रतिबन्ध-सन्धि सम्पन्न की गई जिसे सन् 1922 की वाशिंगटन सन्धियों के पश्चात् नि:शस्त्रीकरण के प्रयत्नों की दिशा में प्रथम सफलता कहा जा सकता है। अगस्त में ही मास्को और वाशिंगटन के मध्य सीधा टेलिफोन तथा रेडियो सम्पर्क स्थापित करने का समझौता (U. S. Soviet Hot Line Agreement) सम्पन्न हुआ जिसका उद्देश्य यह था कि किसी भी संकटकालीन स्थिति में दोनों राष्ट्रों के अध्यक्ष एक-दूसरे से सीधी वार्ता द्वारा विश्व को आणविक युद्ध का शिकार होने से बचा सकेंगे।

ख्रुश्चेव काल में 'पूर्व' और 'पश्चिम' के सम्बन्धों में निश्चित रूप से सुधार हुआ, किन्तु राजनीतिक शत्रु के रूप में दोनों की स्थिति यथापूर्व रही और कूटनीतिक दावपेचों द्वारा अपना-अपना प्रभाव-क्षेत्र बढ़ाने में दोनों ही पक्ष अग्रसर रहे। मूल अन्तर केवल यही रहा कि स्टालिनशाही उग्रवादी नीति का स्थान चातुर्यपूर्ण और गहन कूटनीतिक उदार नीति ने ले लिया जिसमें प्रत्येक अनुकूल अवसर से लाभ उठाने की चेष्टा जारी रही। मौके बेमौके ऐसे अवसर उपस्थित होते रहे और ऐसी घटनाएँ घटीं जिनमें समय-समय पर शीतयुद्ध में तेजी आई और दोनों पक्षों में कटुता व्याप्त हुई। उदाहरणार्थ 1955 में स्वेज नहर और हंगरी के प्रश्न पर दोनों गुटों में अत्यधिक उग्रता उत्पन्न हो गई। मई, 1960 में यू-2 विमान की घटना ने शीतयुद्ध में ज्वार ला दिया और सन् 1962 में क्यूबा के संकट ने दोनों महाशक्तियों को संघर्ष के इतने निकट ला दिया कि तृतीय महायुद्ध के विस्फोट की सम्भावना से विश्व की सम्पूर्ण शान्तिप्रिय जनता आशंकित हो उठी। फिर भी इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि संकट के प्रत्येक अवसर को टालने में न्यूनाधिक रूप से दोनों ही पक्षों ने विवेक और धैर्य का परिचय दिया तथा रस्सी को इतना नहीं खिंचने दिया कि वह टूट जाए।

3. अविकसित राष्ट्रों को आर्थिक सहयोग—मोलेंकोव और ख्रुश्चेव युग में सोवियत संघ ने भी अल्प-विकसित देशों को आर्थिक, प्राविधिक और सैनिक सहायता देने की नीति अपनाई जो आज तक सोवियत विदेश नीति का एक प्रमुख अंग बनी हुई है। संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा सन् 1948 में ही ट्रूमैन सिद्धान्त और मार्शल योजना के अन्तर्गत अल्प-विकसित देशों के लिए आर्थिक सहायता का कार्यक्रम चालू था ताकि उन देशों में बढ़ते हुए साम्यवादी प्रभाव को रोका जा सके। इसके प्रत्युत्तर में स्टालिनोत्तर युग में सोवियत रूस ने अल्पविकसित देशों को विकसित करने की अपेक्षा उनमें साम्यवाद के प्रचार और तोड़-फोड़ के सिद्धान्त को अपनाया था। परन्तु स्टालिनोत्तर युग में नवीन नीति का आरम्भ हुआ जिसके अनुसार रूस द्वारा अल्पविकसित देशों के आर्थिक विकास पर बल दिया जाने लगा। इसके परिणामस्वरूप जनवरी, 1954 से जनवरी, 1963 तक दोनों ही देशों द्वारा अल्पविकसित एवं अविकसित राष्ट्रों को आर्थिक सहायता देने की एक प्रतियोगिता-सी प्रारम्भ हो गई।

अविकसित देशों को आर्थिक सहायता देने की नीति, अपनाने के साथ

सोवियत रूस ने उत्पादन और सैनिक शक्ति में स्वयं को पश्चिमी देशों से श्रेष्ठतर सिद्ध करने का पूर्ण प्रयास किया। ख्रुश्चेव का स्पष्ट मत था कि "अब सबसे महत्वपूर्ण समस्या पूँजीवाद को पराजित करना है। जो बड़े पैमाने पर उत्पादन के द्वारा अधिक पैदा करेगा वह विजयी होगा।" इस नीति के फलस्वरूप रूस के उत्पादन में भारी वृद्धि हुई। सैनिक शक्ति में भी सोवियत संघ तेजी से आगे बढ़ा। सन् 1957 में स्पूतनिक और सन् 1961 में 50 मेगावाट बम का निर्माण कर वह रॉकेट तथा प्राणविक शस्त्रों की दौड़ में संयुक्तराज्य से भी आगे निकल गया।

4. उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का विरोध—ख्रुश्चेव ने एशिया और अफ्रीका के देशों तथा असलग्न विश्व (Uncommitted World) की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद-विरोधी प्रचार को और भी तीव्र कर दिया। संयुक्त राष्ट्रसंघ और अन्यत्र वह साम्राज्यवादी शक्तियों की तीव्र निन्दा करने लगा और उपनिवेशों तथा गुलाम राष्ट्रों को स्वतन्त्र कराने के सभी प्रस्तावों और आन्दोलनों को पूर्ण समर्थन प्रदान करने लगा। रूसी नेताओं की मान्यता थी कि इस नीति से उन्हें दोहरा लाभ मिलता है। पहला तो यह कि उसे एशिया और अफ्रीका की साम्राज्यवाद से पीड़ित जनता की सहानुभूति प्राप्त होती है और दूसरे, साम्राज्यवाद के विघटन से रूस के प्रबल एवं कट्टर शत्रु पूँजीवादी पश्चिम की प्रभुता क्षीण होती है।

वास्तव में स्टालिन की मृत्यु के बाद ही विशेषकर ख्रुश्चेव के प्रभाव में आने के उपरान्त से एशिया और अफ्रीका के अल्पविकसित या अविकसित देशों और उपनिवेशों के प्रति सोवियत नीति के प्रमुख लक्ष्य निम्नलिखित थे—

(i) भूतपूर्व उपनिवेशों अथवा अर्द्ध-उपनिवेशी देशों के सन्देह एवं राष्ट्रीय सम्मान का अच्छी प्रकार से ध्यान रखते हुए इनके प्रति पूरी तरह मित्रता एवं सौहार्द्र प्रदर्शित करना,

(ii) इन देशों के पश्चिम के साथ अतीत के कटु सम्बन्धों का लाभ उठाकर इन्हें पश्चिम से विमुख करना,

(iii) न केवल उपनिवेशवाद विरोधी वरन् जातिवाद विरोधी प्रवृत्तियों को भी उभारना;

(iv) राजनीतिक तटस्थता की प्रवृत्ति को बढ़ावा देना,

(v) औद्योगीकरण द्वारा उनकी अपनी अर्थ-व्यवस्था को विकसित करने की महत्त्वाकांक्षा को बल देना, हो सके तो सोवियत एवं पारस्परिक व्यापारों के सम्बन्धों की ओर उनको झुकाना;

(vi) उनके पश्चिम के साथ प्रत्येक सम्भावित विवाद को उकसाना;

(vii) विदेशी पूँजी या सहायता को उनकी स्वतन्त्रता एवं सम्मान के विरुद्ध बता कर सन्देह की भावना उकसाना,

(viii) उनकी आँखों के सामने सोवियत रूस के द्रुत औद्योगीकरण को आदर्श के रूप में प्रस्तुत करना ताकि स्थानीय लोग यह समझ सकें कि केवल साम्यवाद ही बहुत कम समय में ऐसी उपलब्धियों को साकार कर सकता है।

सोवियत संघ के शक्ति एवं प्रभाव के विस्तार के मुख्य आकर्षक केन्द्र तीन हैं—अफ्रीका, एशिया एव लेटिन अमेरिका। शिपलोव (Shepilove) ने पूर्व के सम्बन्ध में कहा था कि सोवियत जनता पूर्वी राष्ट्रों के समाप्त प्राय. उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष को सहानुभूति तथा सम्मान प्रदान करती है। उन्होंने एक बार कहा था कि हमारा विश्वास है कि राष्ट्रीय स्वाधीनता तथा आत्म-निर्णय प्रत्येक देश की जनता (People) का अभिन्न अधिकार है।

ख्रुश्चेव का पतन, उसकी नीति का मूल्यांकन

ख्रुश्चेव के समय सोवियत नीति मे जो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आए और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे वह जिन नई दिशाओ की ओर उन्मुख हुई उसका विवेचन किया जा चुका है। ख्रुश्चेव ने सोवियत नीति को जो मोड़ दिया वह उसके पतन के बाद भी जारी रहा। बाद मे सोवियत नेताओ की नीति ख्रुश्चेववादी ही रही। प्रधानमन्त्री कोसीगिन एव राष्ट्रपति ब्रेझनेव ने रूस की इस सह-अस्तित्व एव शान्तिवादी नीति को गति प्रदान की। गत वर्षों के इतिहास से इस आशा का सचार हुआ है कि सोवियत रूस अपनी उदार नीति पर आरूढ रहेगा।

श्री हुये और उन्ही के समान कुछ अन्य विद्वानो का मत है कि उदारवाद रूस की अल्पकालीन नीति है अर्थात् उनकी मूल नीति मे कोई परिवर्तन नहीं आया है। स्टालिन के समय के शुद्धि-आन्दोलनो मे अनेक बडे नेताओं की जो पदावनति होती थी, वह आज भी होती है। रूस के मामलो मे विशेष रूप से सिद्धहस्त अनेक पाश्चात्य कूटनीतिज्ञो की मान्यता है कि रूसी विदेश-नीति का प्रमुख ध्येय पूंजीवादी समाज का उन्मूलन है जिसमे शायद ही कोई मूल परिवर्तन आए। पर आज का रूस तो व्यवहार मे स्वय को सह-अस्तित्व का सच्चा समर्थक सिद्ध कर रहा है और अनेक मसलो पर पश्चिमी राष्ट्रो तथा अमेरिका की अपेक्षा अधिक शान्तिवादी होने का परिचय दे रहा है।

ब्रेझनेव–कोसीगिन काल (1964–1977)

ख्रुश्चेव के पतन के बाद अक्तूबर, 1964 मे सोवियत संघ का नेतृत्व ब्रेझनेव और कोसीगिन के हाथो मे आया। यह आशका व्यक्त की गई कि नया नेतृत्व स्टालिनवादी होगा और सोवियत नीति मे पुन प्रतिगामी परिवर्तन आएगा। लेकिन नए सोवियत नेताओ ने ख्रुश्चेववादी नीति अपनाते हुए शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त पर चलने का आश्वासन दिया और उसे निभाया भी। ब्रेझनेव-कोसीगिन ने सोवियत कूटनीति को कुछ नई दिशाएँ भी प्रदान की हैं। वर्तमान जटिल और परिवर्तनशील अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे सोवियत विदेश-नीति का मुख्य लक्ष्य साम्यवादी चीन और सयुक्तराज्य अमेरिका के दोहरे खतरे का मुकाबला करते हुए साम्यवादी जगत् में रूसी नेतृत्व और विश्व मे सोवियत प्रतिष्ठा को कायम रखना है। चीन-अमेरिका-धुरी के सफल मुकाबले के लिए भारत की मैत्री के महत्त्व को हाल ही के वर्षो मे सोवियत नेता भली-भांति आंक चुके हैं और पाकिस्तान-भारत

सम्बन्धो में वर्तमान सोवियत विदेश-नीति का बहुत-कुछ इसीलिए पुनर्मूल्यांकन हुआ है।

सह-अस्तित्व और यात्रा-कूटनीति—रूस के नए नेतृत्व ने ख्रुश्चेवकालीन यात्राओं की कूटनीति जारी रखी है। अक्तूबर, 1966 में सोवियत विदेशमन्त्री ग्रोमिको ने राष्ट्रपति जॉनसन से मिलकर नि:शस्त्रीकरण और वियतनाम के प्रश्न पर वार्ता की। जून, 1967 में अमेरिका और रूस के सर्वोच्च नेताओं का शिखर सम्मेलन हुआ तथा पश्चिमी एशिया के संकट पर संयुक्तराष्ट्र-महासभा के अधिवेशन में भाग लेने के लिए रूसी प्रधानमन्त्री कोसीगिन स्वयं उपस्थित हुए। ग्लासबरो में जॉनसन और कोसीगिन ने विभिन्न समस्याओं पर विचारों का आदान-प्रदान किया। इसके बाद भी यही क्रम चालू रहा और सोवियत नेताओं ने भारत-पाकिस्तान, अमेरिका तथा अरब प्रदेशों की यात्राएँ की। इन यात्राओं से सोवियत नेता विश्व के राष्ट्रों के समक्ष सोवियत विदेश-नीति के विवादग्रस्त पहलुओं की स्पष्ट व्याख्या दे सके जिससे सह-अस्तित्व और समस्याओं के शान्तिपूर्ण निदान का मार्ग प्रशस्त हुआ है।

ताशकन्द : सोवियत कूटनीति में नया मोड़—सितम्बर, 1965 में भारत-पाक संघर्ष का अन्त कराने में उल्लेखनीय प्रयास करने के उपरान्त दोनों देशों के बीच विवाद सुलझाने के लिए मध्यस्थता कर रूस ने अपनी विदेश-नीति के नए पैंतरे से समूचे राजनीतिक विश्व को स्तब्ध कर दिया। सोवियत संघ ने इससे पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान में मध्यस्थता के सिद्धान्त को कभी स्वीकार नहीं किया था। जनवरी, 1966 में 'ताशकन्द वार्ता' को सफल बनाने में सोवियत कूटनीति अत्यन्त सक्रिय रही जिसके फलस्वरूप 10 जनवरी, 1966 को रात्रि के लगभग 9 बजे तालियों की गड़गड़ाहट के बीच तत्कालीन पाक राष्ट्रपति अयूब खाँ और भारतीय प्रधानमन्त्री लाल बहादुर शास्त्री ने सोवियत प्रधानमन्त्री कोसीगिन की उपस्थिति में एक समझौते पर हस्ताक्षर किए जिसे 'ताशकन्द घोषणा' (Tashkent-Declaration) कहा गया। इस समझौते के कारण उस समय कश्मीर-विवाद ठण्डा पड़ गया, भारत पाकिस्तान सम्बन्ध सामान्य होने लगे तथा यह निश्चय हुआ कि दोनों पक्षों की सेनाएँ उन स्थानों पर लौट जाएँगी जहाँ वे अगस्त, 1965 में युद्ध प्रारम्भ होने से पहले थी। सभी मतभेदों पर बातचीत चालू रखने का निर्णय किया गया।[1] सोवियत राजनय की इस सफलता के मूल में प्रमुख कारण थे—(i) भारत और पाकिस्तान को एक निष्पक्ष वातावरण में समझौता-वार्ता के लिए क्रियाशील करना (ii) समझौता कराने के प्रश्न को सोवियत रूस द्वारा अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बन लेना, (iii) सोवियत रूस की भौगोलिक स्थिति और एशिया में शान्ति व्यवस्था रखने में उसकी रुचि, एवं (iv) पाकिस्तान को चीन-अमेरिकी गुट में जाने से रोकने की प्रबल रूसी उत्कण्ठा।

पाकिस्तान के प्रति नवीन दृष्टिकोण किन्तु शीघ्र ही भूल सुधार—ताशकन्द समझौते के मूल में सोवियत संघ की भारत और पाकिस्तान के प्रति बदलती हु

1. *J. A. S Grenville* : The Major International Treaties 1914-73, p 435

नीति के बीज छिपे थे—यह शीघ्र ही स्पष्ट हो गया। रूस के नये नेतृत्व का रुख ताशकन्द समझौते के उपरान्त कुछ वर्षों तक भारत के प्रति उतना मैत्रीपूर्ण नहीं रहा जितना ख्रुश्चेव के समय था। कश्मीर के प्रश्न पर भी सोवियत रूस में पाकिस्तान के पक्ष मे कुछ नरमी आयी। जुलाई, 1968 मे रूस ने पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने का जो निर्णय किया वह भारत की मित्रता और आशाओं पर एक करारी चोट थी। सोवियत रवैये ने भारत को इस बात के लिए विवश किया कि "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे कोई किसी का स्थायी मित्र या शत्रु नहीं होता।" फिर भी भारत का रुख सहनशीलता और 'प्रतीक्षा करो और देखो' का रहा। उधर सोवियत नेता पाकिस्तान की दुरंगी चालो से क्षुब्ध हो गये। उनकी यह धारणा बनी कि अमेरिका, चीन और रूस तीनो में से पाकिस्तान किसी का भी विश्वसनीय मित्र नहीं हो सकता। जो हथियार दे, वही उसका मित्र है। पाकिस्तान ने ताशकन्द समझौते के जो गम्भीर उल्लंघन किये उनसे भी पाकिस्तान की ईमानदारी मे सोवियत नेताओं का विश्वास टूट गया। दूसरी ओर भारत की गम्भीरता और दृढ़ता ने तथा रूस के प्रति अपरिवर्तित दृष्टिकोण ने सोवियत नेताओ को यह अनुभव करा दिया कि रूस के लिए अमेरिकी और चीनी खतरे के विरुद्ध भारत जैसे शक्ति-सम्पन्न राष्ट्र के हाथो मे कितनी सन्तुलनकारी शक्ति है। जब बंगलादेश (उस समय पूर्वी पाकिस्तान) की घटनाएँ घटी तो रूसी सहानुभूति भारत और बंगला देश के न्यायपूर्ण पक्ष की ओर रही।

भारत और सोवियत-विदेश नीति—स्टालिन ने, जो कठोर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का समर्थक था, भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति को 'निर्बल तथा अवसरवादी नीति' का ही प्रतिरूप समझा। भारत के पश्चिमी देशों के साथ सहयोग स्थापित करने के प्रयत्नो की सोवियत रूस मे आलोचना हुई, लेकिन सन् 1949 के अन्त तक भारत और रूस के सम्बन्धो मे सुधार होने लगा। मास्को मे भारतीय राजदूत डॉ० राधाकृष्णन् के सद्प्रयासो से दिल्ली-मास्को के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो के विकास मे बहुत सहायता मिली।

इस बढ़ती हुई मैत्री को जून 1950 मे कोरिया-युद्ध छिड़ने पर झटका लगा। भारत न्याय और निष्पक्षता के पक्ष मे था, अतः उसने उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित करने मे कोई हिचक नही दिखायी। इससे सोवियत संघ मे भारत के प्रति रोष पैदा हो गया, किन्तु जब कोरिया-समस्या के आगामी चरण मे भारत ने संयुक्त-राष्ट्रसंघीय सेनाओ को 38वीं अक्षांश रेखा पार करने तथा चीन को आक्रमणकारी घोषित करने के विरुद्ध चेतावनी दी तो स्टालिन को विश्वास हो गया कि भारत की निर्णय-शक्ति स्वतन्त्र है, वह पश्चिमी के दबाव से प्रेरित नहीं है। दोनो देश इसलिए भी एक-दूसरे के निकट आये कि सितम्बर, 1951 मे भारत ने जापानी शान्ति सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया क्योंकि यह सन्धि जापान को साम्राज्यवादी शिकंजे मे जकड़ने की एक चाल थी।

मोलेंकोव और फिर बुल्गानिन-ख्रुश्चेव काल मे भारत और रूस के सम्बन्ध

अधिक घनिष्ठ रहे। सन् 1954 में रूस ने 'पंचशील' के प्रति अपनी आस्था प्रकट की। जून, 1955 में श्री नेहरू ने सोवियत संघ की यात्रा की तथा रूसियों को अपने सह-अस्तित्व की विचारधारा से अत्यधिक प्रभावित किया। सन् 1955-56 में बुल्गानिन और ख्रुश्चेव ने भारत की यात्रा की। उपनिवेशवाद और जातीय भेदभाव से सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नों पर दोनों देशों के दृष्टिकोण समान थे। कश्मीर विवाद पर सोवियत संघ भारत को खुला समर्थन देता रहा और सुरक्षा-परिषद् में भारत विरोधी पश्चिमी राष्ट्रों के प्रस्ताव पर 'वीटो' का प्रयोग करता रहा। निःशस्त्रीकरण के क्षेत्र में भी दोनों देशों के दृष्टिकोण में समानता रही।

अक्तूबर, 1962 में चीनी आक्रमण के प्रारम्भ में रूसी रुख भारत के लिए निराशाजनक रहा, लेकिन धीरे-धीरे भारत पर चीनी आक्रमण के सम्बन्धों में सोवियत दृष्टिकोण बदलने लगा और दिसम्बर, 1962 में तो सुप्रीम सोवियत के सामने श्री ख्रुश्चेव ने भारत पर चीनी आक्रमण की खुली निन्दा तक की। सन् 1963 में चीन द्वारा कोलम्बो प्रस्ताव ठुकरा देने पर भी रूस ने चीन की कटु आलोचना की। रूस द्वारा भारत को मिग विमान दिये गये और रूसी सहयोग से मिग-विमान का कारखाना भी भारत में स्थापित किया गया।

26 अक्तूबर, 1964 को ख्रुश्चेव के पतन के पश्चात् रूस में ब्रेझनेव और कोसीगिन के नये नेतृत्व का उदय हुआ जो आज भी सत्तारूढ़ हैं। बाद के कुछ वर्षों में भारत को रूस का वैसा समर्थन प्राप्त नहीं हो सका जैसा ख्रुश्चेव ने दिया था। सितम्बर, 1965 में भारत-पाक संघर्ष के समय सोवियत नेतृत्व की नीति किसी न किसी प्रकार संघर्ष को शान्त करने की रही और रूस ने पाकिस्तान के कार्यों का पहले के समान विरोध नहीं किया।

ताशकन्द समझौते के बाद दोनों देशों के सम्बन्धों में थोड़ा-सा तनाव तब आया जब रूस ने पाकिस्तान को हथियार बेचने का निश्चय किया। सोवियत कूटनीति की यह 'नयी दिशा' भारत के हितों पर विपरीत प्रभाव डालने वाली थी। सौभाग्यवश रूस को अपने 'दिशा-भ्रम' का शीघ्र ही अहसास हो गया और भारत-रूस सम्बन्धों में उत्तरोत्तर विकास होता रहा। बंगलादेश के सम्बन्ध में रूस का रवैया भारत-समर्थक था। सन् 1971 में पाकिस्तान ने बंगलादेश के जन-आन्दोलन को कुचलने में कोई कसर नहीं रखी और रूस ने पाकिस्तान को स्पष्ट कर दिया कि वह नरसंहार समाप्त कर समस्या के राजनीतिक हल के पक्ष में बंगलादेश के संकट काल में पेकिंग पिण्डी-वाशिंगटन धुरी के निर्माण की सम्भावनाओं और उससे उत्पन्न खतरे को देखकर भारत ने 9 अगस्त, 1971 को सोवियत संघ के साथ मैत्री-सन्धि पर हस्ताक्षर किये। इस तरह भारत और सोवियत संघ चीन-अमेरिकी सम्बन्धों से भविष्य में उत्पन्न होने वाले परिणामों का सामना करने के लिए और अधिक निकट आ गये। इस सन्धि द्वारा केवल भारत ही लाभान्वित नहीं हुआ अपितु सोवियत संघ भी एशिया में एक महाशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हो गया और यह उसकी वर्तमान विदेश नीति की एक बड़ी सफलता मानी जा सकती है।

इस सन्धि की सबसे बड़ी बात इस निश्चय में है कि यदि कोई तीसरा देश दोनों में से किसी एक पर आक्रमण करता है तो वे उसके प्रतिकार के लिए एक दूसरे से परामर्श करेंगे। इसका सीधा अभिप्राय यह अवश्य ही नही है कि उनमे से एक आक्रमणकारी पर आक्रमण कर देगा, परन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह अर्थशून्य है। जब आक्रमण होगा तो आक्रमण के प्रतिकार का उपाय सोचा जायगा। इसका अर्थ सैनिक सहायता भी हो सकता है। सहायता का कोई अन्य स्वरूप भी हो सकता है। लक्ष्य आक्रमण के निराकरण का है। यदि यह पूर्ण हो जाता है तो शान्ति के लिए और क्या अभीष्ट है।

दिसम्बर 1971 के भारत-पाक युद्ध तथा बंगलादेश के उदय के समय यह पुनः स्पष्ट हो गया कि भारत की स्वतन्त्र निर्णय शक्ति पर किसी भी अंकुश अथवा सन्देह की कल्पना करना भ्रामक है तथा सोवियत रूस भारत का सच्चा हितैषी और सकट मे काम आने वाला मित्र है। सुरक्षा-परिषद् मे भी रूस ने पाकिस्तान और उसके 'बड़े आका' अमेरिका के मनसूबो पर पानी फेर दिया। युद्ध के दौरान उसने स्पष्ट चेतावनी दी कि कोई भी विदेशी ताकत हस्तक्षेप करने का दुस्साहस न करे। इतना ही नही, जब अमेरिका का सातवाँ बेड़ा 'रहस्यमय इरादे' से बंगाल की खाडी की ओर चल पडा तो रूस ने भी हिन्द महासागर मे अपने युद्धपोत इस दृष्टि से तैयार कर दिये कि भारत के विरुद्ध अमेरिका द्वारा नौ-सैनिक कार्यवाही करने पर उसका उचित उत्तर दिया जाय। रूसी सहयोग के फलस्वरूप अमेरिका और चीन को यह भली प्रकार स्पष्ट हो गया कि भारत-सोवियत मैत्री सन्धि कोरी कागजी कार्यवाही नही है वरन् एक सच्ची सन्धि है। सन् 1972, 1973 एव अगले वर्षों मे इस मैत्री-सन्धि की वर्षगांठ मनाकर दो महान् राष्ट्र एक दूसरे के और भी निकट आये हैं।

भारत और सोवियत सघ की मैत्री नवम्बर 1973 मे ब्रेझनेव की भारत यात्रा से और अधिक पुष्ट हुई। ब्रेझनेव ने भारत की सिद्धान्तनिष्ठ नीतियों की सराहना की और राजनीतिक क्षेत्रों मे स्पष्ट मत व्यक्त किया गया कि सोवियत नेता की इस यात्रा से एशियायी देशो के शान्ति और सुरक्षा के लिए सामूहिक सघर्ष के प्रयासों को और बल मिला है। ब्रेझनेव की इस यात्रा से स्पष्ट हो गया कि भारत-सोवियत सघ मैत्री 'दो देशो की परस्पर-सन्धि' के दायरे से बढ़कर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सहयोग के क्षेत्र में प्रवेश कर रही है और आर्थिक तथा विकास सम्बन्धी योजनाओ के क्षेत्र मे देश अधिकाधिक रूस पर निर्भर करने लगा है। रूसी नेता की चार-दिवसीय ऐतिहासिक यात्रा के दौरान 30 दिसम्बर, 1973 को भारत और सोवियत सघ के बीच एक 15 वर्षीय आर्थिक और व्यापारिक समझौता हुआ जिसमे यह निश्चय किया गया कि सोवियत सघ भारत को आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनाने के लिए भारी उद्योगो व विकास-कार्यक्रमो के लिए विशाल सहायता देगा। समझौते के अन्तर्गत यह निश्चय प्रकट किया गया कि सन् 1980 तक दोनो देशो के बीच व्यापार को डेढ़ गुना या दुगुना बढ़ा दिया जायगा और इसके

लिए दोनों देश आवश्यक कदम उठायेंगे। 30 नवम्बर को ब्रेझनेव वापस अपने देश लौट गये। विमान से रवाना होने के बाद उन्होंने श्रीमती इन्दिरा गाँधी को विमान पर से सन्देश भेजा कि "हमारी बातचीत एशिया और समूचे विश्व की स्थिति पर ठोस प्रभाव डालेगी तथा दोनों देशों के बीच मैत्री-सम्बन्ध अधिक विकसित तथा सुदृढ करने के लिए जोरदार प्रेरणा का काम करेगी।"[1] दोनों देशों का सहयोग उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। जब फरवरी 1975 में पाकिस्तान को अमेरिकी हथियार प्रदान करने की घोषणा की गई तो रूस ने इस पर गहरी चिन्ता व्यक्त की और इसे भारतीय उपमहाद्वीप की शान्ति के लिए घातक बताया।

भारत और सोवियत संघ के बीच मित्रता, सूझ-बूझ और परस्पर लाभकारी सहयोग के सम्बन्ध निरन्तर विकसित और सुदृढ होते गये। मास्को में दोनों देशों के बीच नवम्बर 1975 में विदेश कार्यालयों के बीच नियमित द्विपक्षीय वार्षिक परामर्श हुआ तथा वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर पारस्परिक हित की दृष्टि से लाभकारी आदान प्रदान हुआ। सर्वोच्च सोवियत की सर्वोच्च परिषद् के उपाध्यक्ष एस बी नियाजबेकोव के नेतृत्व में एक सोवियत संसदीय प्रतिनिधि मंडल ने 10 से 17 अप्रेल 1975 तक भारत की यात्रा की। दीर्घकालीन व्यापार समझौता वार्ता के सम्बन्ध में भारत के वाणिज्य मंत्री श्री चटोपाध्याय नवम्बर 1975 में मास्को गये। विज्ञान और तकनीकी क्षेत्र में भी भारत को उल्लेखनीय सोवियत सहयोग मिला। अप्रेल 1975 में सोवियत रॉकेट की सहायता से भारत का पहला कृत्रिम उपग्रह (आर्य भट्ट) सोवियत संघ से छोड़ा गया। यह उस समझौते के अन्तर्गत था जो दोनों देशों के बीच मई 1972 में हुआ था। कृत्रिम उपग्रह और अन्तरिक्ष खोज के पर्यवेक्षण सम्बन्धी पारस्परिक सहयोग के कार्यक्रम पर दोनों देशों के बीच नवम्बर 1975 में एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए। जनवरी 1976 में दोनों देशों ने 1976 व 77 दो वर्षों के लिए एक प्रोटोकोल पर हस्ताक्षर किये जिसका विषय-कृषि एवं जन्तु विज्ञान में वैज्ञानिक और तकनीकी सहयोग था। 1976 व 80 की अवधि के लिए अप्रेल 1976 में एक नया व्यापार-समझौता हुआ जिससे भारत से परम्परागत निर्यात वस्तुओं के अतिरिक्त कुछ ऐसी वस्तुओं के निर्यात का मार्ग भी खुल गया जिनका सम्बन्ध आधुनिक मशीन और उपकरण-निर्माण से है। इसे भारत की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि कहा जायगा क्योंकि अभियान्त्रिकी के क्षेत्र में भारत की प्रगति को सोवियत संघ जैसे विकसित देश और पूर्वी यूरोप के अन्य देशों में मान्यता प्राप्त हुई है।

भारत और सोवियत संघ के बीच मैत्रीपूर्ण एवं परस्पर लाभकारी सहयोग के सम्बन्धों में अनेक उच्चस्तरीय यात्राओं के विनिमय तथा महत्त्वपूर्ण करारों पर हस्ताक्षर के माध्यम से और भी प्रगति हुई। इनमें व्यापार, व्यापारिक नौपरिवहन और सांस्कृतिक विनिमय कार्यक्रम समझौते शामिल हैं। उच्चस्तरीय यात्राओं के

1. दिनमान, 25 अप्रेल-1 मई 1976, पृष्ठ 19.

माध्यम से भी निकट सम्बन्धों को कायम रखा गया। इन यात्राओं में जून 1976 में प्रधानमन्त्री और मंगोलियाई लोक गणराज्य की यात्रा के अवसर पर विदेश मन्त्री की सोवियत संघ की यात्रा भी सम्मिलित है। अप्रैल 1977 में सरकार के नये नेताओं से विचार-विनिमय के लिए सोवियत विदेश मन्त्री श्री ग्रोमिको भारत आये। इस यात्रा से अनेक अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं तथा आपसी हित के मामलों पर विचार-विनिमय करने का अवसर मिला। इस यात्रा के दौरान आर्थिक एवं तकनीकी सहयोग, व्यापार एवं दूरसचार सम्बन्धों की स्थापना से सम्बन्धित तीन समझौतों पर हस्ताक्षर हुए। इनसे दोनों देशों के बीच सहयोग वृद्धि की और भी सम्भावना है। यात्रा के दौरान दोनों देशों के नेताओं ने संस्कृति, कला, साहित्य, शिक्षा, खेल-कूद और पर्यटन के क्षेत्र में अपने सम्बन्धों को और भी सुदृढ बनाने और विकसित करने की इच्छा व्यक्त की। बातचीत के दौरान अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के बारे में दोनों देशों के समान विचार पाये गये। अक्तूबर 1977 में प्रधानमन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने रूस की यात्रा की। कांग्रेस शासन के दौरान भारत तथा रूस के बीच जो विशेष सम्बन्ध विकसित हुए थे, जनता-पार्टी की नयी सरकार ने उन्हें आगे बढ़ाया है। श्री देसाई की यात्रा का मूल उद्देश्य दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्धों को और सुदृढ बनाना था जिसमें उन्हें निश्चित सफलता प्राप्त हुई। श्री देसाई की इस यात्रा के बाद यह अधिक स्पष्ट हो गया कि दोनों देश अपने पारस्परिक हितों को ध्यान में रखते हुए परम्परागत मैत्री-सम्बन्धों का निर्वाह करते रहेंगे।

पूर्वी यूरोपीय साम्यवादी देशों के प्रति सोवियत नीति—रूस पूर्वी यूरोप के साम्यवादी जगत् पर अपना संयुक्त प्रभाव बनाये रखने के पक्ष में है ताकि वहाँ में पश्चिमी यूरोपीय राजनीति में प्रभावपूर्ण ढंग से हस्तक्षेप किया जा सके। अतः पूर्वी यूरोपीय देशों में पनप रही सोवियत विरोधी प्रवृत्तियों का सामना करने के लिए उसने वारसा पैक्ट को पहले की अपेक्षा और अधिक कठोर तथा शक्तिशाली बना लिया है। सन् 1968 में चैकोस्लोवाकिया में रूस विरोधी विद्रोह को कुचलने में उसके तथा अन्य वारसा पैक्ट के देशों द्वारा निर्वाह की गई भूमिका से यह स्पष्ट है। सोवियत नेताओं का कहना है कि रूस और उसके साथियों का सैनिक हस्तक्षेप चैकोस्लोवाकिया में साम्यवाद के विरुद्ध की जाने वाली क्रान्ति को विफल बनाने के लिए आवश्यक था।

वास्तव में सन् 1967 से ही चैकोस्लोवाकिया में उदारवादी प्रवृत्ति जोर पकड़ने लगी थी और जनवरी, 1968 में दुबचेक के नेतृत्व में चैकोस्लोवाकियाई साम्यवादी दल ने समाजवादी लोकतन्त्रीकरण के सिद्धान्त को स्वीकार कर, उदारवाद के पक्ष में बहुत से सुधार प्रस्तावित किये थे। जब चैकोस्लोवाकिया के नेताओं ने रूसी अप्रसन्नता की कोई परवाह नहीं की तो 21 अगस्त, 1968 की रात्रि को सोवियत रूस तथा वारसा पैक्ट के चार अन्य देशों—पोलैण्ड, हंगरी, पूर्वी जर्मनी और बल्गेरिया की शक्तिशाली सेनाओं ने चैकोस्लोवाकिया पर आक्रमण कर कुछ ही घण्टों में राजधानी प्राग सहित अन्य बड़े नगरों पर अधिकार कर लिया। अन्त में काफी विचार-विमर्श के बाद मास्को में दोनों पक्षों के बीच एक समझौता

हुआ जिसमें सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि चैकोस्लोवाकिया सरकार ने वचन दिया कि वह चैकोस्लोवाकिया में समाजवाद को सुदृढ़ बनाने के लिए आवश्यक कदम उठायेगी। सितम्बर, 1968 के मध्य तक प्राग से सोवियत सेनाएँ वापस लौट गईं। अप्रैल, 1969 में दुबचेक के नेतृत्व का अन्त हो गया और सोवियत रूस समर्थक सरकार की स्थापना हुई। आक्रमण की कटु स्मृतियाँ धीरे-धीरे धूमिल पड़ गई और आज दोनों देशों के सम्बन्ध सामान्य हैं। अल्बानिया अवश्य चीन के प्रभाव में है, किन्तु रूमानिया में रूस ने अपनी स्थिति पुन. सम्भाल ली है। पोलैण्ड, हंगरी, पूर्वी जर्मनी, बल्गेरिया आदि देशों के साथ रूस के सम्बन्ध यथावत हैं।

यद्यपि साम्यवादी शिविर में स्वैच्छिक एकता का तो अभाव ही रहा है तथापि 1977 का वर्ष इस दृष्टि से नयी आशाओं का संचार करता है। निश्चय ही सन् 1977 की राजनीतिक दुनिया सन् 1948 से भिन्न है। पिछले तीस वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनय में कई समीकरण बने और बिगड़े हैं, उनमें कई उतार-चढ़ाव आये हैं और महाशक्तियों ने सीधे मशस्त्र संघर्ष को टालने के लिए 'शीतयुद्ध' और फिर 'देता' की कूटनीति अपनायी है। स्वाभाविक था कि इस दौरे में कम्युनिस्ट देश भी अपने पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करते और शायद पुनर्विचार का ही यह परिणाम है कि कम्युनिस्ट गुट में आपसी विवादों का अन्त करने की चिन्ता उत्पन्न हुई है। इसलिए यह कोई संयोग नहीं है कि यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो एक लम्बे अन्तराल के बाद अगस्त 1977 की 16 तारीख को आठ दिन की राजकीय यात्रा पर सोवियत संघ गये और वहाँ से उत्तर कोरिया होते हुए 30 अगस्त को पहली बार चीन पहुँचे। अवश्य ही यह एक संयोग है कि जिन मार्शल टीटो ने अठारह वर्ष पूर्व सन् 1949 में सोवियत संघ से सम्बन्ध विच्छेद कर कम्युनिस्ट गुट में स्वतन्त्र नीति अपनाने की बुनियाद रखी थी वही टीटो अब कम से कम तीन शिविरों में विभक्त कम्युनिस्ट जगत की एकता की मुहिम पर निकले।

साम्यवादी आन्दोलन को सगठित करने अथवा कम से कम उसे और विघटन से रोकने की भूमिका में मार्शल टीटो कम्युनिस्ट जगत् में अपना विशेष महत्व रखते हैं। सोवियत संघ उनसे संवाद स्थापित करने की पहल भी कर चुका था। इस संवाद को शुरू करने का अवसर जुटाया कम्युनिस्ट और मजदूर पार्टियों के सम्मेलन ने, जो 28 जून, 1976 को बर्लिन में हुआ था। उस सम्मेलन के अवसर पर ब्रेझनेव और टीटो के बीच मैत्री वार्ता हुई थी। इस वार्ता का परिणाम शीघ्र ही सामने आया। यूगोस्लाविया के टीटोवाद-विरोधी लगभग 130 सोवियत समर्थकों को टीटो सरकार द्वारा दण्डित किये जाने के बावजूद श्री ब्रेझनेव 15 नवम्बर, 1976 को श्री टीटो से बातचीत करने बेलग्रेड पहुँचे। सोवियत संघ सन् 1975 से ही यूगोस्लाविया से नौसेना के लिए बन्दरगाह की तथा कुछ अन्य सुविधाएँ देने का अनुरोध कर रहा था। ब्रेझनेव ने सितम्बर 1977 की अपनी बेलग्रेड यात्रा के अवसर पर दिये गये इस आश्वासन को दोहराया कि सोवियत संघ यूगोस्लाविया

की स्वाधीनता का आदर करता रहेगा और यात्रा के बाद जारी की गयी विज्ञप्ति मे दोनो देशों के बीच 'स्वैच्छिक सहयोग' की बात अंकित की गयी। सोवियत सघ ने एक तरह से समाजवाद का अपना मार्ग अपने आप तय करने के यूगोस्लाविया के आग्रह को भी मान्यता दे दी।

16-24 अगस्त 1977 के अपने मास्को प्रवास के समय मार्शल टीटो ने सोवियत नेताओ से पारस्परिक सम्बन्ध और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ पर व्यापक विचार विमर्श किया। दोनो देशो की इस शिखर वार्ता मे समूचे विश्व की गहरी रुचि थी। स्वागत समारोहो तथा प्रीतिभोज के अवसर पर सोवियत नेता श्री ब्रेझनेव ने विश्व मे मित्रता और सद्भाव का वातावरण स्थापित करने के साथ-साथ सभी प्रकार के आक्रमणो और शीतयुद्ध चालू रखने के प्रयत्नों की कड़े शब्दों मे निन्दा की। श्री ब्रेझनेव का कहना था कि आज के विश्व मे क्रान्तिकारी और प्रगतिशील आन्दोलनो की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका है। समाजवादी देशों और गुटनिरपेक्ष देशो को आज सक्रिय होना चाहिए, क्योंकि उनका उद्देश्य साम्राज्यवादियो का मुकाबला करना और शान्तिपूर्ण प्रयत्नो द्वारा विश्व में शान्ति स्थापित करना है। श्री ब्रेझनेव का यह भी कथन था कि कुछ साम्राज्यवादी देशों ने समाजवादी देशो के विरुद्ध अपना प्रचार तेज कर दिया है। इस प्रचार का उद्देश्य दुनिया मे तनाव कायम रखना है। ये साम्राज्यवादी देश चाहते हैं कि विश्व के दो शिविरो मे परस्पर विश्वास न बढे और अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण मे तनाव बना रहे। श्री ब्रेझनेव ने अपने भाषण में अमेरिकी राष्ट्रपति श्री कार्टर के इस वक्तव्य का भी उल्लेख किया कि अमेरिका सोवियत सघ से अपने सम्बन्ध घनिष्ठ बनाना चाहता है। श्री ब्रेझनेव का कहना था कि अमेरिका की ओर से पहले भी इस प्रकार के प्रयत्न होते रहे हैं लेकिन इन विचारो को जब तक कार्यरूप मे परिणत न किया जाये तब तक इनका कोई अर्थ नही है। हम चाहते हैं कि अमेरिका सोवियत-सघ की समस्याओ के समान समाधान के लिए सहमत हो। जहाँ तक यूगोस्लाविया का सम्बन्ध है हमारे सम्बन्ध परस्पर विश्वास, स्वतन्त्रता तथा समानता के सिद्धान्तो पर आधारित हैं। सोवियत सघ और यूगोस्लाविया समान लक्ष्य के लिए कार्य कर रहे है। हमारी पार्टियाँ केवल समाजवाद को समर्पित है। दोनों देशों की पार्टियो मे कोई मतभेद नही है। सोवियत नेता का यह भी कहना था कि यूरोपीय सुरक्षा, पश्चिमी एशिया तथा दक्षिण अफ्रीका मे जातिभेद के विरुद्ध सघर्ष जैसे प्रश्नों पर यूगोस्लाविया और सोवियत सघ का दृष्टिकोण समान है।

पश्चिमी सूत्रो के अनुसार यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो की कम्युनिस्ट देशो की यह यात्रा विश्व कम्युनिस्ट शिखर सम्मेलन की तैयारी के सम्बन्ध मे थी। मार्शल टीटो विश्व के कम्युनिस्ट आन्दोलन को विघटन से बचाने के लिए चीन और सोवियत नेताओ से गम्भीर विचार विमर्श करने के पक्ष मे है। इस समय दुनिया का साम्यवादी आन्दोलन तीन भागो मे बँट गया है—सोवियत साम्यवाद माओवादी साम्यवाद, और यूरोपीय साम्यवाद। सोवियत सघ पिछले कई

वर्षों से विश्व साम्यवादी सम्मेलन के लिए प्रयत्नशील रहा है, लेकिन दुनिया की साम्यवादी पार्टियों में मतभेद इतने उग्र थे कि वे इस प्रकार के सम्मेलन में भाग लेने के लिए तैयार नहीं हुए। काफी समय से दुनिया की साम्यवादी पार्टियों की धारणा बनी हुई है कि किसी भी साम्यवादी विश्व सम्मेलन को सोवियत प्रभुत्व से नहीं बचाया जा सकता। इसी आशंका को दूर करने के लिए यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो काफी समय से प्रयत्नशील हैं। इधर यूरोपीय साम्यवाद विषयक नयी प्रवृत्तियों से सोवियत संघ काफी चिंतित रहा है क्योंकि अभी तक अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन का नेतृत्व सोवियत संघ ही करता रहा है। अभी कुछ समय पहले यूरोपीय साम्यवादी नेताओं का सम्मेलन पूर्वी बर्लिन में हुआ था जिसमें इस आशय के निबन्ध पढ़े गये थे कि हर देश को अपने-अपने ढंग का साम्यवाद लाने का अधिकार है। इन प्रवृत्तियों से चिन्तित होकर सोवियत संघ ने साम्यवादी जगत् में तनाव कम करने के अभियान का सूत्रपात किया। मार्शल टीटो ने इसमें स्वयं को अग्रणी रूप में प्रतिष्ठित किया है। सोवियत संघ और यूगोस्लाविया की वर्तमान वार्ता तथा अन्य प्रमुख देशों से मार्शल टीटो के इस परामर्श के क्या परिणाम निकलेंगे यह कहना तो अभी कठिन है, परन्तु सोवियत संघ का सिद्धान्त रूप में यह स्वीकार कर लेना कि हर देश को अपने-अपने ढंग का साम्यवाद लाने का पूर्ण अधिकार है, साम्यवादी इतिहास की एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण घटना है।[1]

लेटिन अमेरिका तथा अफ्रीका के सम्बन्ध में सोवियत नीति—वर्तमान समय में सोवियत संघ ने अपना ध्यान यूरोप और एशिया की ओर केन्द्रित रखा है। लेटिन अमेरिका और अफ्रीका के सम्बन्ध में उसकी विदेश नीति विशेष सक्रिय नहीं है। इसके मुख्यतः दो कारण हैं—प्रथम, लेटिन अमेरिका और अफ्रीका भौगोलिक दृष्टि से सोवियत संघ से बहुत दूर हैं। द्वितीय, इन क्षेत्रों में स्थित कांगो, क्यूबा, घाना, सूडान आदि देशों में उसे यह कटु अनुभव हो गया है कि साम्यवाद का स्वागत करने के लिए लेटिन अमेरिकी और अफ्रीकी देश अभी पूर्ण रूप से तैयार नहीं है।

सोवियत रूस के अमेरिका तथा पश्चिमी गुट से सम्बन्ध—सोवियत-अमेरिकी सम्बन्धों का इतिहास मुख्यतः तनाव और संघर्ष का इतिहास रहा है जिसमें कुछ समय से सहयोग के बीज अंकुरित हो रहे हैं। रूसी नेताओं का यह विश्वास पनपा है कि अमेरिका और साथी राष्ट्रों से सोवियत संघ को कोई तात्कालिक सैनिक या राजनैतिक खतरा नहीं है। अमेरिका के साथ उलझने और शीतयुद्ध को पुनः तीव्र करने के अवसर आये हैं, लेकिन सोवियत नेताओं ने, स्टालिन के समान, स्थिति को बिगाड़ने का प्रयास नहीं किया है। उत्तरी कोरिया में जॉनसन और निक्सन प्रशासन के समय हुए अमेरिकी जासूसी काडों के समय भी सोवियत रूस ने संयम ही प्रदर्शित किया और ऐसी कोई कार्रवाई नहीं की जिसमें युद्ध का खतरा बढ़े अथवा शीतयुद्ध

1. दिनमान सितम्बर 1977, पृष्ठ 33-34

का प्रसार हो। वियतनाम-समस्या पर भी रूस का यही रुख रहा कि वार्ता द्वारा समस्या का समाधान हो जाय। उत्तर वियतनाम को विशाल सैनिक सहायता देते हुए भी रूसी नेताओं ने ऐसा वातावरण उत्पन्न नहीं किया जिससे अमेरिका के साथ समझौता-वार्ता के द्वार बन्द हो जायें। सन् 1972 मे लम्बे गतिरोध के उपरान्त, वियतनाम समस्या पर जो पेरिस वार्ता हुई वह बहुत कुछ सोवियत राष्ट्रपति श्री पोदगर्नी की हनोई यात्रा और अमेरिका तथा रूस की मास्को-शिखर-वार्ता का परिणाम थी और अन्त मे वियतनाम मे युद्ध-विराम मे भी सोवियत कूटनीति का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा। दोनो देशों के नेताओ द्वारा सहयोगपूर्ण दृष्टिकोण अपनाने के फलस्वरूप ही सितम्बर, 1971 मे 'बर्लिन समझौता' सम्पन्न हो सका। रूस-अमेरिकी सम्बन्धो और उपर्युक्त विशिष्ट समस्याओ पर दोनों देशो के बीच हुए समझौतो आदि पर अमेरिकी विदेश नीति के सन्दर्भ मे विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

यहाँ इतना ही लिखना पर्याप्त है कि पश्चिमी एशिया का संकट, जर्मनी की समस्या, निःशस्त्रीकरण का प्रश्न, परमाणु शक्ति का विस्तार आदि सभी पहलुओं पर दोनों पक्षों की ओर से अनुकूल वातावरण बनाने की चेष्टा की जा रही है। संयम बरतने की इस कूटनीति से यही संकेत मिलता है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति सह-अस्तित्व की बढती हुई भावना के हाथो सुरक्षित है। तनाव के केन्द्र खड़े होते है, जैसे दिसम्बर 1971 के भारत-पाक युद्ध के दौरान हिन्दमहासागर मे अमेरिका और रूसी जहाजो बेड़ो की हलचल से उत्पन्न हुए थे, लेकिन दोनो पक्ष दूरदर्शिता से काम लेकर स्थिति को अधिक बिगडने से बचाने का प्रयास करते हैं। यह विश्व-शान्ति की दिशा मे एक शुभ संकेत है।

महाशक्तियों के बीच शीर्षस्थ नेताओ के सम्पर्क ने तनाव-बिन्दुओ को शिथिल बनाया है और सहअस्तित्व के आयाम को विस्तृत किया है। इससे निःशस्त्रीकरण के प्रयासो को भी बल मिला है। 22 मई, 1972 को भूतपूर्व अमेरिकी राष्ट्रपति निक्सन की मास्को-यात्रा अपने आप मे एक ऐतिहासिक घटना थी। किसी भी अमेरिकी राष्ट्रपति की सोवियत संघ म यह पहली यात्रा थी और इस प्रथम यात्रा के दौरान ही दोनो देशो के बीच कई महत्त्वपूर्ण सन्धियो पर हस्ताक्षर हुए। 23 मई को शिखर-वार्ता मे कैंसर तथा हृदय रोगो और वायु तथा जल-दूषण के विरुद्ध संघर्ष मे सहयोग के लिए दो समझौते हुए और 24 मई को वाह्य अन्तरिक्ष की खोज तथा विज्ञान एवं टैक्नोलॉजी के क्षेत्र मे सहयोग सम्बन्धी दो अन्य समझौतो पर हस्ताक्षर हुए। 26 मई को दोनो देशो के बीच 'यौद्धिक शस्त्रास्त्र परिसीमन सन्धि' (Strategic Arms Limitation Treaty—SALT) सम्पन्न हुई जिसमे दोनो महाशक्तियो ने एक-दूसरे की शक्ति के सामने झुकते हुए भय मिश्रित आत्म विश्वास का एक नया सन्तुलन कायम किया। इन सभी सन्धियो का विस्तृत विवेचन संयुक्त-राज्य अमेरिका की विदेश नीति से सम्बन्धित अध्याय मे किया जा चुका है। निक्सन की यात्रा की समाप्ति पर संयुक्त विज्ञप्ति मे शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के प्रति गहरी

आस्था व्यक्त करते हुए घोषित किया गया कि सैनिक संघर्ष को टालने के लिए दोनों देश यथाशक्ति प्रयत्न करते रहेंगे।

मतभेदों के बावजूद 1972 के वर्ष में दोनों देशों के सम्बन्धों में और अधिक सुधार हुआ। अगस्त, 1972 में सोवियत संघ ने भारी मात्रा में गेहूँ खरीदने के लिए अमेरिका से एक दीर्घकालीन समझौता किया और 18 अक्तूबर, 1972 को दोनों देशों के बीच हुई एक व्यापारिक सन्धि में रूस ने सहमति व्यक्त की कि द्वितीय महायुद्ध के समय उसने अमेरिका से जो उधार-पट्टा-ऋण लिया था उस राशि को वह चुका देगा। इस सन्धि के बाद हुई एक अन्य सन्धि में यह तय हुआ कि अगले तीन वर्षों में दोनों देशों के आपसी व्यापार में तीन गुना वृद्धि करदी जायगी। ये दोनों व्यापारिक सन्धियाँ इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण थीं कि द्वितीय महायुद्ध के बाद से ही दोनों देशों के बीच आर्थिक तथा व्यापारिक सम्बन्ध नगण्य थे।

अगले ही वर्ष 18 जून, 1973 को सोवियत साम्यवादी पार्टी के महासचिव ब्रेभनेव ने अमेरिका की नौ दिवसीय यात्रा की। हवाई अड्डे पर स्वागत करते हुए निक्सन ने कहा कि सैद्धान्तिक मतभेदों और सामाजिक प्रणालियों में अन्तर के बावजूद दोनों देश सामान्य सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। उत्तर में सोवियत नेता ने कहा कि सोवियत-अमेरिकी सम्बन्धों में सुधार किसी भी रूप में किसी तीसरे देश के हितों के विरुद्ध नहीं हैं। ब्रेभनेव की अमेरिकी यात्रा के समय भी दोनों देशों के बीच कुछ महत्त्वपूर्ण समझौते हुए। सिद्धान्तत: यह स्वीकार कर लिया गया कि सन् 1974 तक दोनों महाशक्तियाँ परमाणु शस्त्रों के निर्माण पर स्थायी रोक लगा देंगी तथा परमाणु शक्ति के शान्तिपूर्ण उपयोग के क्षेत्र में सहयोग पूर्वक काम करेंगी। व्यापारिक और आर्थिक सम्बन्ध बढ़ाने का संकल्प भी किया गया जिसके कारण अन्य क्षेत्रों में भी परस्पर सहयोग का मार्ग प्रशस्त हुआ। विज्ञान एवं तकनीकी क्षेत्र में सहयोग करने का निश्चय किया गया। दोनों देशों के बीच अनिश्चित काल के लिए एक सन्धि भी हुई जिसका उद्देश्य परमाणु युद्ध को रोकना था। सन्धि के अन्तर्गत दोनों पक्षों की ओर से यह संकल्प किया गया कि उनमें से कोई भी परमाणु युद्ध नहीं करेगा परस्पर एक-दूसरे को अथवा साथी देशों या अन्य देशों को न तो धमकी देगा और न ही बल प्रयोग करेगा। दोनों देशों ने युद्ध की स्थिति उत्पन्न न होने देने और परमाणु युद्ध भड़क उठने जैसी कार्यवाही न करने का भी संकल्प किया। इन संकल्पों की सार्थकता तो समय की कसौटी पर ही परखी जा सकेगी, लेकिन दोनों महाशक्तियों के शीर्षस्थ नेताओं की इस वार्ता की सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि 'युद्ध से नहीं बल्कि पारस्परिक सहयोग से दोनों को लाभ हो सकता है' के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया। अगस्त, 1973 में दोनों देशों के बीच पुन: एक समझौता हुआ जिसके अनुसार सन् 1975 में दोनों देशों द्वारा संयुक्त अन्तरिक्ष उड़ानों का कार्यक्रम चालू करने का निश्चय किया गया। आपसी तनाव कम करने और सम्पर्क व सहयोग-सूत्र जारी रखने के लिए 27 जून, 1974 को राष्ट्रपति निक्सन ने पुन: सोवियत संघ की यात्रा की और इस अवसर पर भी दोनों देशों के बीच कुछ समझौते

सम्पन्न हुए। अमेरिका की विदेश नीति के सन्दर्भ में इन समझौतों का विवेचन किया गया है। नवम्बर, 1975 के ब्लाडीवोस्टक में फोर्ड-ब्रेझनेव शिखर वार्ता हुई। जुलाई, 1975 में अपोलो-सोयुज संयुक्त अन्तरिक्ष कार्यक्रम में दोनों ने सहयोग किया। 1977 की समाप्ति तक दोनों देश सम्बन्ध-सुधार की दिशा में निरन्तर प्रयत्नशील हैं तथापि सम्बन्धों में उतनी सौहर्द्रता नहीं है जितनी निक्सन और फोर्ड प्रशासन के दौरान रही थी।

यूरोप के विभिन्न राष्ट्रों के साथ भी सोवियत रूस ने सपर्क और सहयोग-सूत्र विकसित करने के प्रयत्न जारी रखे। जून, 1973 में वाशिंगटन से स्वदेश लौटते हुए ब्रेझनेव फ्रांस में राष्ट्रपति पोम्पिदू से मिले। फ्रांस ने सोवियत नेता को यह अहसास करा दिया कि रक्षा-सेनाओं में कटौती और यूरोप के भविष्य के बारे में वियना के आगामी सम्मेलन में भाग लेने के विषय में भी फ्रांस ने कोई विशेष रुचि नहीं दिखायी, तथापि दोनों शीर्षस्थ नेताओं के मिलने से अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की सम्भावनाओं को बल मिला। दोनों देशों के सम्बन्ध सुधरते गये और 24 अक्तूबर से 18 अक्तूबर, 1975 तक फ्रांस के राष्ट्रपति वालेरी जिस्कार द एस्तें ने सोवियत संघ की राजकीय यात्रा की। इस यात्रा से दोनों देशों के दृष्टिकोणों में अधिक निकटता आयी। वास्तव में फ्रांस और रूस की दोस्ती काफी पुरानी है। इस दोस्ती को मजबूत करने का श्रेय निश्चित तौर पर जनरल डिगॉल को है। जब पश्चिमी यूरोपीय देशों से फ्रांस कुछ अलग पड़ गया था अर्थात् जब फ्रांस ने पश्चिमी यूरोप के अन्य देशों की अधिक परवाह करनी छोड़ दी थी तब रूस और फ्रांस एक-दूसरे के अधिक निकट आये थे। इस बढ़ती हुई निकटता की वजह से ही अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन ने चीन के साथ मित्रता का हाथ बढ़ाया था। फ्रांस और रूस दोनों देशों के नेताओं ने विश्व की समस्याओं को सुलझाने में गतिशील रवैया अपनाने का सकल्प किया। वैसे 15 अक्तूबर को मास्को में रूसी नेता ब्रेझनेव ने यह बात स्पष्ट कर दी कि पश्चिम के साथ हमारी सैद्धान्तिक लड़ाई बनी रहेगी लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय मसलों पर वे ऐसी नीति अपनायेंगे जिससे विश्व के सभी देशों में अलगाव के स्थान पर सहयोग की भावना विकसित हो।

जून 1977 में सोवियत साम्यवादी पार्टी के महासचिव ब्रेझनेव ने सोवियत संघ के राष्ट्रपति का पद भी सभाल लिया। राष्ट्रपति बनने के बाद ब्रेझनेव ने सबसे पहली यात्रा पेरिस की की। फ्रांस के राष्ट्रपति वालेरी जिस्कार द'एस्तें से दोनों देशों के सम्बन्धों पर विस्तार से बातचीत हुई। वास्तव में फ्रांस रूस में मित्रता की जड़ें ग्यारह वर्ष पूर्व जनरल डिगॉल ने मजबूत की थी। यही वजह है कि फ्रांस को रूस यूरोप में एक महत्त्वपूर्ण मित्र और भागीदार मानता है। डिगॉल द्वारा रूस की ओर झुकने का कारण अमेरिका से अनबन थी। नाटो के सम्बन्ध में फ्रांस और अमेरिका के दृष्टिकोण में मतभेद बेशक नहीं हैं लेकिन उस तरह की सद्भावना भी नहीं है जो जॉन कैनेडी के समय थी। इसके अतिरिक्त अमेरिका के नये राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर द्वारा मानवाधिकार की परिभाषा के प्रश्न पर दोनों देश निकट आने के

बजाय दूर हुए हैं। कार्टर ने रूस के दो असन्तुष्ट साहित्यकारों को जो पत्र लिखे तथा रूस मे मानवाधिकारो के उल्लघनो के सम्बन्ध मे जो वक्तव्य दिये उनसे भी दोनों देशो के बीच खाई चौडी हुई है। परमाणु अस्त्रो के विस्तार पर रोक लगाने सम्बन्धी वार्ता मे जिसे 'साल्ट' भी कहते हैं। अमेरिकी और रूसी प्रतिनिधि मण्डलों मे उस तरह की सद्भावना दिखायी नही दी जो रिचर्ड निक्सन और जेराल्ड फोर्ड के प्रशासन काल मे रूसी और अमेरिकी नेताओ के बीच रही थी। राजनीतिक प्रेक्षकों की यह भी मान्यता है कि देता की जडें भी कमजोर हुई हैं। अमेरिका और रूस के सम्बन्धो मे जो दुराव की स्थिति उत्पन्न होने लगी है उसको देखते हुए ब्रेझनेव ने एक बार फिर फ्रास के साथ अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता महसूस की।

फ्रास के अलावा पश्चिम जर्मनी के साथ भी रूस के सम्बन्ध सुधरे हैं। वास्तव मे पश्चिम जर्मनी के भूतपूर्व चासलर (प्रधानमन्त्री) विलि ब्रांट ने पूर्वी और पश्चिमी देशो मे सद्भावना की जो शुरुआत की थी यह उसका प्रतिफल है। इस दिशा मे लियोनिद ब्रेझनेव का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। यही कारण है कि फ्रास के अलावा पश्चिम जर्मनी के साथ वह अपने सम्बन्धो को अच्छे और महत्वपूर्ण मानते हैं। लेकिन रूसी नेता को इन पश्चिमी देशो के राजनेताओ से इतनी शिकायत नही जितनी साम्यवादी पार्टी से है। यूरोप मे साम्यवादी पार्टियो का जिस तरह विकास हो रहा है। उससे सोवियत नेता अधिक खुश नही हैं। स्पेन, इटली और फ्रास की साम्यवादी पार्टियो ने सोवियत सघ की साम्यवादी पार्टी से अलग रवैया अपनाना शुरू कर दिया है। इससे सोवियत सघ हीनता का अनुभव करता है। शायद यही कारण था कि पेरिस मे होते हुए भी ब्रेझनेव फ्रासीसी साम्यवादी पार्टी के नेता जार्ज मार्शे से नही मिले। पहले ऐसा कभी नही होता था। शायद इन नेताओ की आकाक्षा है कि यदि सोवियत सघ पश्चिमी देशो के प्रति उदार नीति अपना रहा है तो इस तरह की नीतियाँ अपनाने का अवसर हगरी, चैकोस्लोवाकिया, बुल्गारिया आदि देशो को भी दिया जाना चाहिए।

रूस और बंगलादेश—बगलादेश के प्रति रूस की आरम्भ से ही सहानुभूति रही। बगलादेश के मुक्ति-संघर्ष के लिए रूस ने अपना नैतिक और राजनीतिक समर्थन दिया और एक स्वाधीन गणराज्य के रूप मे बगलादेश का उदय होते ही उसे मान्यता प्रदान की। यही नहीं, रूस ने बगलादेश के आर्थिक पुनर्निर्माण मे रुचि लेकर पारस्परिक आयात-निर्यात सम्बन्धी समझौता भी सम्पन्न किया। मार्च, 1972 मे शेख मुजीब ने सोवियत सघ की यात्रा के समय रूसी नेताओ से महत्वपूर्ण मामलों पर विचार-विमर्श किया और राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक, प्राविधिक सभी क्षेत्रो मे दोनों देशो के बीच पारस्परिक सहयोग का मार्ग प्रशस्त हुआ। दोनो पक्षो के बीच एक समझौता भी हुआ जिसके अन्तर्गत रूस ने बंगलादेश को 3 अरब 33 करोड रुपए की सहायता देने का आश्वासन दिया। रूस ने यह आश्वासन भी दिया कि वह सयुक्तराष्ट्रसघ मे बगलादेश को प्रवेश दिलाने का पूरा प्रयत्न करेगा।

विश्व संस्था में बंगलादेश के प्रश्न पर जो संघर्ष हुआ उसमें रूस ने बंगलादेश को पूर्ण समर्थन दिया था।

रूस और जापान—द्वितीय महायुद्ध के शत्रु इन दोनों राष्ट्रों में विगत कुछ वर्षों से परस्पर निकट आने की उत्सुकता होती जा रही है। जापान के कुछ राजनीतिक क्षेत्रों का तर्क है कि रूस के साथ आर्थिक सहयोग न बढ़ाया जाए अन्यथा चीन की नाराजगी बढ़ेगी जिससे जापान के लिए कुछ अन्य आर्थिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाएँगी, लेकिन अधिसंख्यक राजनीतिक क्षेत्र का विश्वास है कि सोवियत संघ के साथ आर्थिक सहयोग जापान के हित में है। इससे जापान की स्थिति काफी सुदृढ होगी और चीन जापान से सम्बन्ध सुधारने का प्रयत्न करेगा।

रूस और भूमध्यसागर—पश्चिमी एशिया पर अपना प्रभाव जमाने के लिए रूस प्रारम्भ से ही भूमध्यसागर में प्रवेश का इच्छुक रहा है और जून, 1967 के अरब-इजरायल-संघर्ष के बाद से सोवियत संघ के नौसैनिक बेड़े को इस सागर में अपने विस्तार के लिए पर्याप्त सुविधाएँ तथा अवसर सुलभ हो गए हैं। रूसी प्रयत्न यह है कि इस क्षेत्र में उसके समर्थक देश भूमध्यसागर में अमेरिका की उपस्थिति समाप्त करने की नीतियाँ अपनाएँ। सोवियत संघ चाहता है कि वह भूमध्यसागर के तटवर्ती देशों की सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था पूर्वी यूरोप के देशों जैसी ही बनादे ताकि इन देशों के साथ मास्को के सम्बन्ध पूर्वी यूरोप के देशों जैसे हो जाएँ। भूमध्यसागर में अधिकाधिक प्रवेश से सोवियत संघ ने अपनी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में काफी वृद्धि करली है और यदि इस क्षेत्र की उन्नति के बारे में कोई योजना सामने आए तो सोवियत संघ का इसमें महत्त्वपूर्ण स्थान होगा।

सोवियत रूस और एशियायी सुरक्षा तथा एशिया में रूसी लक्ष्य—एशिया में अपने प्रभाव-क्षेत्र के विस्तार के लिए सोवियत कूटनीति ने हाल ही के कुछ वर्षों में 'ब्रेझनेववाद' का सहारा लिया है। यह विचार सन् 1969 में सोवियत नेता श्री ब्रेझनेव ने रखा था जिसमें अस्पष्ट रूप से एशियायी देशों के लिए एक सुरक्षा योजना प्रस्तुत की गई थी। सन् 1972 में इस योजना को पुनः प्रस्तुत किया गया और अफ़गान-प्रधानमन्त्री के स्वागत पर बोलते हुए कोसीगिन ने कहा—' एशिया की सुरक्षा का सही उपाय सैनिक गुट नहीं है और न ही कुछ राष्ट्रों द्वारा दूसरे का विरोध करना, बल्कि यह उपाय देशों के बीच अच्छे पड़ोसी का वातावरण पैदा करना है।" पर साथ ही उन्होंने यह भी जोड़ दिया कि शान्ति स्थापित करने का सोवियत संघ का तरीका सबसे अच्छा है। उन्होंने कहा—"सोवियत विदेश-नीति की सबसे महत्त्वपूर्ण दिशा राष्ट्रों की आजादी और स्वशासन का अतिक्रमण करने वाले साम्राज्यवादियों को पराजित करने के लिए युद्ध और संघर्ष स्थलों को समाप्त करना है।" इस व्याख्या से यह आभास होता है कि रूसी नेताओं का सुरक्षा सिद्धान्त एक नया 'पंचशील' होने के बावजूद सैनिक हस्तक्षेप या सैनिक समाधान से रहित नहीं है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यद्यपि ब्रेझनेव अथवा कोसीगिन ने एशियायी सुरक्षा की इस योजना को यहीं तक सीमित रखा, लेकिन उनके सलाहकारों और प्रतिनिधियों ने योजना को स्पष्टतः पश्चिम-विरोधी रंग दिया। सोवियत

प्रतिनिधि-मण्डल के सदस्य प्रो. गफरोव ने इस सुरक्षा-योजना पर टिप्पणी करते हुए कहा था कि हिन्द-महासागर चारों ओर से साम्राज्यवादियों के सैनिक अड्डों से घिरा हुआ है, अतः सभी शान्ति-प्रिय देशों की सामरिक सुरक्षा आवश्यक है। नवम्बर 1973 में अपनी भारत-यात्रा के समय ब्रेझनेव ने पुनः एशियायी सामूहिक सुरक्षा योजना पर चर्चा की। भारत ने अभी इस योजना के प्रति कोई उत्साह नहीं दिखाया है और यह नहीं कहा जा सकता कि यह योजना साकार रूप ले सकेगी।

एशियायी देशों के प्रति सोवियत मैत्री और सहयोग स्वागत योग्य है तथापि एशिया के देशों को रूस का सही सदपरामर्श अपेक्षित है कि वे किसी भी प्रकार की सैनिक गुटबन्दी में न उलझें। हाल ही के कुछ वर्षों में एशिया में नए शक्ति-सन्तुलनों का विकास हुआ है। ब्रेझनेव सिद्धान्त में एशियायी सुरक्षा-व्यवस्था तो निहित है, पर साथ ही इसके लक्ष्य अमेरिका और चीन भी हैं। पुनश्च, रूस हिन्दमहासागर पर अपने प्रभाव का आकांक्षी है। 15 सितम्बर, 1970 के 'लन्दन टाइम्स' ने इस क्षेत्र में रूसी लक्ष्यों पर टिप्पणी करते हुए कहा था—"हिन्दमहासागर में रूसी नौसेना की मौजूदगी का मुख्य कारण पश्चिमी स्वार्थों को चुनौती देना नहीं बल्कि चीन के विरुद्ध भारत को समर्थन देना और सामान्यतः एशिया तथा अफ्रीका में चीनी प्रभाव को रोकना है।" रूस इस तथ्य से परिचित है कि हिन्दमहासागर पर जिसका नियन्त्रण हो जाएगा उसी का प्रभाव प्रशान्त महासागर पर भी शीघ्र ही पड़ने लगेगा। एशिया में अपने पैर मजबूत करने के लिए हिन्दमहासागर पर अपना प्रभाव बढ़ाने के साथ-साथ रूस ने दक्षिण-पूर्व के देशों के साथ भी अपने सम्बन्ध तेजी से सुधार लिए हैं।

वियतनाम के प्रति सोवियत नीति—30 अप्रेल, 1975 को वियतनाम-युद्ध की समाप्ति और वहाँ से अमेरिका के पलायन के बाद वियतनाम की संघर्षपूर्ण कहानी समाप्त हो चुकी है। दक्षिण और उत्तर वियतनाम के संघर्ष में साम्यवादी शक्तियाँ उत्तरी वियतनाम की पीठ पर रही थीं। सोवियत रूस ने वियतनाम को भरपूर सैन्य-सामग्री पहुँचाई। अनुमानतः उत्तर वियतनाम को दी जाने वाली सैन्य-सहायता में रूस का भाग 80 प्रतिशत और चीन तथा अन्य साम्यवादी देशों का लगभग 20 प्रतिशत था। उत्तर वियतनाम को लगभग 10 अरब डॉलर की सहायता रूस और चीन से मिली जो दक्षिण वियतनाम को अमेरिका से मिलने वाली सहायता की तुलना में काफी कम थी। सोवियत नीति वियतनाम-संघर्ष के शान्तिपूर्ण समाधान की थी और सन् 1972 में सोवियत राष्ट्रपति पोदगर्नी ने अपनी हनोई यात्रा में उत्तर वियतनामी नेताओं को इस बात के लिए सहमत किया कि वे शान्ति-वार्ता का द्वार खुला रखें। रूस-अमेरिका के समझौतावादी रुख और वियतनाम के सम्बन्धित पक्षों के विवेक के फलस्वरूप जनवरी 1973 में युद्ध-विराम हुआ और ऐतिहासिक पेरिस समझौते पर हस्ताक्षर किए गए। लेकिन जनवरी, 1976 में पेरिस समझौता भंग हो गया तथा वियतनाम-युद्ध पुनः भड़क उठा। अन्त में राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे की अन्तिम विजय के साथ ही वियतनाम-युद्ध समाप्त हो गया। सोवियत भूमिकाओं की इस दृष्टि से सराहना की जाएगी कि अमेरिका के समान सोवियत सैनिकों ने उत्तर

वियतनाम की ओर से युद्ध में प्रत्यक्ष भाग नही लिया और इस प्रकार वियतनाम-युद्ध के विस्तार को सीमित रखा।

सोवियत रूस और अरब जगत्—पश्चिमी एशिया से ब्रिटेन के हटने के बाद से ही यह क्षेत्र रूस और अमेरिका के प्रभाव-विस्तार का अड्डा बनता जा रहा है। रूसी नीति अरब राष्ट्रो को कूटनीतिक, आर्थिक और सैनिक सहयोग देने की रही है जबकि अमेरिका इजरायल को हर प्रकार की सहायता देता आया है। सन् 1948 के फिलिस्तीनी संघर्ष मे रूस ने इजरायल का समर्थन करते हुए अरब-आक्रमण की निन्दा की थी लेकिन इसके बाद रूस ने अनुभव किया कि मध्यपूर्व के अरब राष्ट्रो के लिए रूसी सहयोग के द्वार खुल गए और बाद के सभी अरब इजरायल संघर्षो मे रूस अरबो के पक्ष मे रहा। सन् 1967 के युद्ध में अरबो की घोर पराजय हुई और वे इस बात पर क्रुद्ध थे कि अरब देशो को सोवियत संघ का वाञ्छित सैनिक समर्थन नही मिल सका। अत अरबो को प्रसन्न करने के लिए ही जून, 1967 मे सोवियत राष्ट्रपति ने स्वय काहिरा पहुँच कर संयुक्त अरब गणराज्य को आधुनिकतम शस्त्रास्त्र देने का आश्वासन दिया। सितम्बर, 1967 में रूस ने एक शान्ति-योजना प्रस्तावित की जो इजरायल ने स्वीकार नही की। 28 मई, 1971 को मिस्र और रूस के बीच एक 15 वर्षीय मैत्री-सन्धि सम्पन्न हुई, लेकिन सन् 1972 मे दोनो देशो के सम्बन्धो में तनाव आ गया और जुलाई मे राष्ट्रपति सादात ने रूसी सैनिक विशेषज्ञो को मिस्र छोड देने का आदेश देकर रूस को आघात पहुँचाया। मिस्र का आरोप था कि रूस ने उसे अति-आधुनिक हथियार नही दिए। बिगाड का यह दौर अधिक नही चला और जब अक्तूबर, 1976 में चौथा अरब-इजरायल युद्ध हुआ तो अरबो ने रूसी शस्त्रास्त्रो की सहायता से अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा पुन. प्राप्त कर ली।

युद्ध-विराम के बाद अमेरिका तथा सोवियत रूस के प्रयास से 21 दिसम्बर, 1973 को जेनेवा मे पहली बार अरब-इजरायल शान्ति वार्ता आरम्भ हुई। सीरिया ने इसमे भाग नहीं लिया। मिस्र तथा इजरायल के बीच स्वेज क्षेत्र से सेना पीछे हटाने पर समझौता हो जाने के बाद सीरिया तथा इजरायल के बीच गोलन क्षेत्र मे भी सेना को पृथक् करा दिया गया। सन् 1974 मे सोवियत रूस तथा अमेरिका की ओर से समस्या के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए लगातार प्रयत्न किए जाते रहे। इस बीच अरब देशो ने तेल का राजनीतिक अस्त्र के रूप मे प्रयोग कर तेल के लिए अरब देशो पर निर्भर रहने वाले अमेरिका तथा पश्चिमी यूरोप के देशो पर दवाव डालना शुरू कर दिया। इस नए राजनीतिक अस्त्र के प्रयोग से यूरोप के देशो ने इजरायल के समर्थन मे ढील दिखाई और वे अरब देशों के साथ सम्बन्ध सुधारने को उत्सुक दिखाई देने लगे। अरब-इजरायल समस्या के समाधान में अमेरिका रूस से बाजी मार ले गया और अनेक अरब तेल उत्पादक देशो ने सन् 1974 मे अमेरिका पर से तेल सम्बन्धी प्रतिबन्ध उठा लेने का निश्चय कर लिया। अमेरिकी विदेश-नीति के अध्याय मे बताया जा चुका है कि सितम्बर, 1975 में अमेरिका, अरब और इजरायल के बीच एक अन्तरिम समझौता कराने मे सफल हुआ। मिस्र पर प्रभाव के सन्दर्भ मे रूसी कूटनीति अन्ततोगत्वा अमेरिकी कूटनीति के समक्ष

परास्त हो गई लगती है जिसका सबसे ज्वलन्त प्रमाण यह है कि 14 मार्च, 1976 को मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात ने सोवियत संघ से अपनी पाँच वर्षीय मैत्री-सन्धि को भंग कर दी। सादात की इस कार्यवाही से विश्व के राजनीतिक क्षेत्रों में कई तरह की प्रतिक्रिया हुई। सोवियत संघ ने मिस्र की इस कार्यवाही की आलोचना की जबकि अमेरिका, इजरायल, चीन आदि देशों में इस पर प्रसन्नता व्यक्त की गई। सादात की इस कार्यवाही से निश्चित रूप से रूस के हितों को ठेस पहुँची है। क्या इस सन्धि के भंग होने का प्रभाव अरब जगत् के अन्य देशों पर भी पड़ेगा—यह तो वक्त ही बतलाएगा लेकिन मिस्र के विदेशमन्त्री ने यह जरूर कहा है कि मैत्री-सन्धि में हथियारों के फालतू पुर्जे देने की जो धारा दर्ज थी उस पर अमल न होने के कारण ही इस मैत्री सन्धि को भंग किया गया है।[1] राष्ट्रपति सादात ने मिस्र की 360 सदस्यीय संसद् में अपने नीति सम्बन्धी वक्तव्य में कहा कि "वह सोवियत संघ के बिल्ली-चूहे खेल से तंग आकर पाँच अरब डॉलर के ऋण की पुनः व्यवस्था में भी झिझक रहा था। अब स्थिति यह है कि अगले 18 महीनों में सोवियत सैनिक साजसामान मिस्र के लिए कबाड़ बन कर रह जाएगा। जब उन्हें सन्धि के अनुसार फालतू पुर्जे नहीं मिलते हैं तो इस सन्धि का उनके लिए कागज के एक टुकड़े से अधिक महत्त्व नहीं है और कागज के इस टुकड़े को हम अपने पास नहीं रखना चाहते।"[2]

मिस्र और सोवियत संघ के इस सन्धि-विच्छेद का प्रभाव अन्य अरब देशों पर रूस के प्रतिकूल नहीं पड़ता क्योंकि उनके साथ रूस की घनिष्ठ मित्रता बनी रही है। रूस के अरब दोस्तों में इराक, लीबिया सीरिया आदि प्रमुख हैं। लीबिया और मिस्र में अनबन है और यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि 14 मार्च 1976 को तो मिस्र सोवियत संघ-समझौता भंग हुआ और उसके पहले 7 मार्च को ही सोवियत संघ ने लीबिया को 25 मिग–25 लड़ाकू विमान देने के समझौते पर हस्ताक्षर किए। इसके अलावा सोवियत संघ ने लीबिया को प्रतिरक्षा समर्थक प्रदान करने के सम्बन्ध में भी समझौता किया। सीरिया और सोवियत संघ की मैत्री भी काफी सुदृढ़ हुई है। जोर्डन भी जिस प्रकार सोवियत संघ के निकट आया उससे अमेरिका की आकुलता बढ़ी। जोर्डन में सन् 1976 के प्रारम्भ में रूस-निर्मित सैम विमानभेदी प्रक्षेपास्त्र जार्डन लगाए गए—यह दोनों देशों की बढ़ती हुई मैत्री का प्रमाण है। इसके अलावा फिलिस्तीनी छापामारों को सभी आधुनिक हथियारों से न केवल रूस लैस करता है बल्कि उनके लिए अन्य कई प्रशिक्षण केन्द्र भी अरबों की भूमि या सोवियत संघ में स्थित हैं। कुवैत का झुकाव भी रूस की ओर हो रहा है। 7 मार्च 1976 को कुवैत ने भी रूस से हथियार लेने के बारे में एक समझौते पर हस्ताक्षर किए। सोमालिया में भी रूसी प्रभाव बढ़ रहा है और वहाँ पर रूसी शासन स्थापित किए जाने की भी चर्चा है। अल्जीरिया में भी रूस के प्रति रुचि बढ़ी है। अलहादपर में रूस की सहायता से एक इस्पात कारखाना लगाया गया है।

सन् 1977 ने रूस और मिस्र के सम्बन्धों में सुधार के संकेत दिए हैं। समय

1-2 दिनमान 28 मार्च, 1976, पेज 28.

की आवश्यकता महसूस करते हुए मिस्र और सोवियत संघ ने अपने बिगड़े हुए सम्बन्धों में सुधार लाने की दिशा में काम करना शुरू किया है। मिस्र के विदेशमन्त्री इस्माइल फाहमी ने मास्को की तीन दिन की (9 से 11 जून, 1977) राजकीय यात्रा की। अपनी इस यात्रा के समय दोनो विदेशमन्त्रियो ने बीती ताहि बिसार दे को आधार बना कर बातचीत की। यद्यपि कोई ठोस और रचनात्मक आधार स्थापित नही हो सका, तथापि इस तरह के सकेत जरूर मिलते हैं कि तीन वर्षों बाद दोनो देशों का यह मिलन व्यर्थ तथा प्रभावहीन नही रहा है। रूसी नेता शायद यह मानते हैं कि मिस्र और सोवियत सघ मे गलतफहमी बढ़ाने मे निकोलाई पोदगर्नी ने भूमिका निभाई थी और अब परिवर्तित हुए सन्दर्भों मे उस अप्रीतिकर स्थिति को सद्‌भावना और मैत्री मे बदलना चाहते हैं। आज भी मिस्र के पास उसके अस्त्र भण्डारो मे काफी बडी सख्या मे रूसी विमान और सैनिक साज समान भरा पडा है। पुराने और क्षतिग्रस्त हथियारो की मरम्मत के लिए रूस मिस्र की सहायता कर सकता है। तीन वर्ष पहले उसने जो अति-आधुनिक हथियार चाहे थे उनकी पूर्ण या आंशिक पूर्ति भी कर सकता है। मिस्र मे मुद्रास्फीति की स्थिति है अतः रूसी नेताओ ने उसको आर्थिक सहायता का भी इस्माइल फाहमी को विश्वास दिलाया। रूसी नेताओ ने उसकी सहायता से बने इस्पात कारखाने के लिए पांच लाख से सात लाख टन प्रति वर्ष कोयला देने की बात भी मान ली है। राष्ट्रपति ब्रेझनेव ने इस्माइल फाहमी को स्पष्ट तौर पर यह विश्वास दिलाया कि वह रूस-मिस्र सम्बन्धो मे पूरी तरह से सुधार करने के लिए तैयार है। निस्सदेह आज से सात साल पूर्व की सद्‌भावना दोनो देशो मे उत्पन्न नही हो पायी है लेकिन उस तरह की कटुता भी नही है जो तीन वर्ष पहले उत्पन्न हो गई थी। मिस्र और सोवियत सघ को निकट लाने मे जेयरे के राष्ट्रपति मोबुतु और सूडान के राष्ट्रपति नुमेरी ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात के अनुसार रूसी नेताओ और विदेशमन्त्री इस्माइल फाहमी की बातचीत को सफल नही माना जा सकता। उन्होंने एक लेबनानी पत्र को बताया कि हमारी तीन मुख्य मांगें थी। अतिरिक्त पुर्जों की मांग, ऋण का पुनर्निर्धारण तथा नए आधुनिक हथियारो की सप्लाई। इन तीनो ही मुद्दो पर रूस ने किसी प्रकार की प्रतिबद्धता व्यक्त नहीं की। रूसी नेताओ ने केवल मुस्करा कर यही कहा कि इस दिशा मे नए सिरे से सोच विचार किया जाएगा। रूस और मिस्र मे परस्पर सशय की जो शुरुआत तीन वर्ष पहले हुई उसको इतनी जल्दी सद्‌भावना में बदल देना कठिन दिखाई देता है। राष्ट्रपति सादात ने यह बात भी साफ तौर पर कही थी कि बडी शक्तियो को अरब और अफ्रीकी देशो मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही करना चाहिए, न ही वह चाहते है कि जेयरे जैसी घटना की पुनरावृत्ति हो। रूस इथियोपिया और लीबिया को जिस तरह हथियारो से लैस कर रहा है उससे अरब राष्ट्र सशकित हैं। यही कारण है कि वे बार-बार यह कहते हैं कि लाल सागर केवल अरबो के लिए ही सुरक्षित होना चाहिए। अरबो का तो यहाँ तक मानना है कि लीबिया और मिस्र तथा लीबिया और सूडान की सीमाओ पर क्यूबा के सैनिक तैनात

हैं। ऐसा क्यों ? राष्ट्रपति सादात ने तो यहाँ तक सन्देह व्यक्त किया है कि रूस तथा उसके समर्थक देश मिस्र को अपने पड़ोसी देशों से पृथक् कर देना चाहते हैं। रूस की इस तरह की धारणा के पीछे अमेरिका की पश्चिमी एशिया सम्बन्धी नीति है। मगर यह भी मानते हैं कि पश्चिमी एशिया की समस्या का 90 प्रतिशत समाधान केवल अमेरिका ही कर सकता है। राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर पहले अमेरिकी राष्ट्रपति हैं जिन्होंने फिलीस्तीनियों के लिए पृथक् राज्य की माँग का समर्थन किया है।

रूस-टर्की मैत्री का शुभारम्भ—सन् 1975 का वर्ष सोवियत संघ और टर्की के सम्बन्धों में मैत्री और सहयोग के सकल्प का नया अध्याय जोड़ने के साथ समाप्त हुआ। वर्ष के अन्तिम दिनों में सोवियत प्रधानमन्त्री कोसीगिन लगभग 10 वर्ष के अन्तराल के बाद पुन टर्की गए और उन्होंने चार दिन (26 से 29 दिसम्बर, 1975) के अकारा-प्रवास काल में दोनों देशों की मित्रता का शिलान्यास किया। 28 दिसम्बर, 1975 को सोवियत प्रधानमन्त्री ने टर्की के भूमध्यसागरीय बन्दरगाह मिरन्दरिया में सोवियत सहायता से निर्मित इस्पात सयत्र का उद्घाटन किया। अकारा-प्रवास काल में कोसीगिन ने तुर्की के प्रधानमन्त्री सुलेमान दमिरेल तथा अन्य प्रमुख नेताओं से विस्तृत विचार-विमर्श किया। उनकी यात्रा की समाप्ति पर जो सयुक्त वक्तव्य प्रसारित किया गया वह इस तथ्य का द्योतक है कि कोसीगिन ने अपनी नौ वर्ष पहले की तुर्की यात्रा के दौरान दोनों देश के सम्बन्ध सुधारने की दिशा में जो पहल की थी उसम अन्ततः उन्हें सफलता मिली। सयुक्त वक्तव्य में कहा गया, "दोनों पक्ष तुर्की और सोवियत सघ के बीच मैत्री और सहयोग सम्बन्धी एक राजनीतिक दस्तावेज तैयार करने पर सहमत हो गए हैं। इस दस्तावेज पर निकट भविष्य में होने वाली एक उच्चस्तरीय बैठक में हस्ताक्षर किए जाएंगे।"[1] सयुक्त वक्तव्य में यह नहीं बताया गया कि प्रस्तावित राजनीतिक दस्तावेज के मुद्दे क्या होंगे।

रूस के साथ मैत्री के शुभारम्भ से यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि टर्की और अमेरिका के बीच मैत्री सम्बन्ध फीके पड़ गए हैं। 26 मार्च, 1976 को वाशिंगटन में टर्की और अमेरिका के बीच एक चार वर्षीय सैनिक समझौता हुआ (जो अमेरिकी काँग्रेस की स्वीकृति प्राप्त होने पर लागू होगा) जिसका मुख्य मुद्दा यह है कि इस वर्ष के अन्त तक टर्की अपने यहाँ स्थित अमेरिका के उन 26 हवाई अड्डों और गुप्तचर केन्द्रों को फिर खोल देगा जिन्हें उसने पिछले वर्ष जुलाई में अमेरिका से झगड़ा हो जाने पर बन्द कर दिया था। बदले में अमेरिका उसे अगले चार वर्ष में एक अरब डॉलर से भी अधिक की सैनिक सहायता देगा। साथ ही, अमेरिकी निर्यात-आयात बैंक से भी उसे भारी मात्रा में ऋण मिलेगा। रूस के साथ बढ़ते हुए सम्बन्धों से टर्की की नाटो की सदस्यता पर भी कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। नाटो और अमेरिका की प्रतिरक्षा की व्यवस्था के लिए टर्की का अत्यधिक महत्व है और

1. दिनमान, 18 जनवरी, 1976, पृष्ठ 30

इसीलिए अमेरिका किसी भी मूल्य पर टर्की को सोवियत गुट में न जाने देने के लिए कटिबद्ध है।

पश्चिमी जर्मनी के साथ समझौता—शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति का उपयोग करते हुए सोवियत रूस ने पश्चिमी जर्मनी के साथ अपने सम्बन्धों में सुधार किया है यूरोप में तनाव कम करने की दिशा में पश्चिमी जर्मनी के चांसलर श्री विली ब्रांट की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। सामान्य सम्बन्ध बनाने की आकांक्षा से ही 12 अगस्त, 1970 को मास्को में विली ब्रांट तथा कोसीगिन ने एक सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर किए जिसे 'मास्को-बोन सन्धि' कहा जाता है। युद्धोत्तरकाल में सोवियत कूटनीति की यह सबसे बड़ी उपलब्धि मानी जा सकती है। इस सन्धि से सोवियत संघ को सबसे बड़ा लाभ यह हुआ है कि बोन ने जर्मनी की वर्तमान सीमाओं को मान्यता प्रदान करदी जिसका स्पष्ट आशय है कि बोन सरकार ने पहली बार पोलैण्ड तथा पूर्वी जर्मनी को ओडरनिसी नदी सीमा को स्वीकार कर लिया है तथा यह भी माना है कि युद्ध पूर्व के जर्मनी के वे क्षेत्र जो ओडरनिसी नदियों के पूर्व में थे—पोलैण्ड के अंग हैं, लेकिन ओडरनिसी सीमा रेखा को मान्यता देने का यह अर्थ नहीं है कि पश्चिमी जर्मनी ने पूर्वी जर्मनी को राजनयिक मान्यता दे दी है। इस सन्धि में निहित अर्थ यही है कि पश्चिमी जर्मनी ने जर्मनी के पूर्वी भाग पर एक अलग सरकार के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया है। पश्चिमी जर्मनी के साथ यह समझौता यूरोप में एक आम समझौते और शान्ति का आधार बन सकता है। यूरोप में शान्ति होने पर ही सोवियत रूस अपनी शक्ति को चीन के विरुद्ध लगा सकेगा।

शान्ति की दिशा में तब एक कदम और आगे बढ़ा गया जब 3 सितम्बर, 1971 को अमेरिका, रूस, ब्रिटेन और फ्रांस के प्रतिनिधियों ने बर्लिन समझौते पर हस्ताक्षर कर दिए। इस समझौते का वर्णन अमेरिकी विदेश-नीति के सन्दर्भ में किया जा चुका है। समझौते की कुछ सामान्य धाराओं से यह स्पष्ट है कि बर्लिन के कानूनी स्तर और चारों राष्ट्रों की स्थिति पर इस समझौते की शर्तों का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। अन्य व्यावहारिक धाराएँ इन बातों से सम्बन्धित है—(1) बर्लिन तक और बर्लिन से असैनिक यातायात, (2) संघीय जर्मनी के साथ पश्चिमी बर्लिन के सम्बन्ध, (3) बर्लिन के पश्चिमी क्षेत्र और पूर्वी क्षेत्र तथा पूर्वी जर्मनी के साथ संचार-सम्बन्ध, एवं (4) बर्लिन का विदेशों में प्रतिनिधित्व। बर्लिन में प्रवेश के प्रश्न पर चारों राष्ट्रों ने तय किया है कि पूर्वी जर्मनी के मार्ग से यातायात बे-रोकटोक होगा और यह यातायात सीधे सामान्य ढंग से होता रहेगा। अभी तक बर्लिन यातायात में पूर्वी जर्मन अधिकारियों द्वारा बाधा डाली जाती थी जिससे गम्भीर संकट उत्पन्न हो जाते थे। अगस्त, 1961 में बर्लिन दीवार बन जाने के बाद से ही पूर्वी जर्मन अधिकारियों ने पश्चिम बर्लिनवासियों पर नगर के पूर्वी भाग में अपने सम्बन्धियों और मित्रों से मिलने पर प्रतिबन्ध लगा रखे थे।

रूस-अफ्रीका : बदलते समीकरण

सन् 1977 के प्रथम चरण में सोवियत संघ के तत्कालीन राष्ट्रपति निकोलाई

पोदगर्नी ने अफ्रीका के कुछ महत्त्वपूर्ण देशो की यात्रा की। अपनी 12 दिवसीय यात्रा मे पोदगर्नी ने तांजानिया, जाम्बिया, मोजांबिक और सोमालिया के नेताओ से परस्पर सम्बन्धो तथा अफ्रीकी समस्याओ पर वार्ता की। इस यात्रा का उद्देश्य अफ्रीका के इन महत्त्वपूर्ण देशो को रूस द्वारा आर्थिक, सामरिक सभी तरह की सहायता का आश्वासन था। रूस के किसी बडे नेता की यह पहली अफ्रीकी-यात्रा थी। इसलिए इस यात्रा का विश्व की बडी शक्तियो ने ही नही, विकासशील देशो ने भी बडी बारीकी से अध्ययन किया। पोदगर्नी ने अफ्रीका के राष्ट्रीय आन्दोलनो से सम्बन्धित कुछ नेताओ से भी बातचीत की जैसे जिबाब्वे अफ्रीकी सघ के (जापू) जोशुआ न्कोमो, दक्षिण पश्चिम अफ्रीकी सगठन (स्वापो) के अध्यक्ष साम नूजोमा और दक्षिण अफ्रीका के अफ्रीकी राष्ट्रीय कांग्रेस (ए. एन. सी.—एस. ए.) के अध्यक्ष क्लाइवर टाँबो। इन नेताओ से पोदगर्नी की मुलाकात मे बातचीत हुई। उन्हे विश्वास दिलाया गया कि सोवियत सघ दक्षिण अफ्रीका के उपनिवेशवाद और जातिवाद के के इस आखिरी 'धब्बे' को हमेशा के लिए मिटा देना अपना महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व मानता और समझता है। सोवियत जनता भविष्य मे दक्षिण अफ्रीका की मुक्ति के लिए सघर्षरत लोगो को अपना स्थायी समर्थन प्रदान करेगी। उन्होने इस समाचार को निराधार बताया कि उनकी इच्छा किसी भी अफ्रीकी देश मे किसी प्रकार का सैनिक अड्डा स्थापित करने की है। रूसी सहायता का अर्थ दूसरे देशो के आन्तरिक मामलो मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही है।

अफ्रीका महाद्वीप के देशो मे सभी बडी शक्तियाँ चीन, अमेरिका और सोवियत सघ अपना प्रभाव बढाने की कोशिश मे हैं। अमेरिका के राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर द्वारा अपने प्रतिनिधि एड्रू यग को अफ्रीकी देशो की यात्रा पर भेजने का उद्देश्य कालो का सहयोग और समर्थन प्राप्त करना था। उसके बाद बेयर्ड विधेयक मे सशोधन कर उन्होंने अपने आश्वासन को विश्वास का रूप दे दिया। इस कानून के स्वीकृत होने से अमेरिका रोडेशिया से क्रोम और क्रोम उत्पाद नही खरीदेगा। निकोलाइ पोदगर्नी ने इन देशो को यग जैसा विश्वास तो दिलाया ही रोडेशिया और दक्षिण अफ्रीका सरकार के विरुद्ध लडने वाले राष्ट्रीय मोर्चो को भी धन और शस्त्र दोनो को देने का वायदा किया। सोवियत नेताओ की मान्यता है कि पश्चिमी देश रोडेशिया और दक्षिण अफ्रीका मे बहुसख्यक कालो को सत्ता सौंपने के प्रयास मे ईमानदारी का रवैया नहीं अपना रहे हैं। अगर ऐसा होता तो जिनेवा सम्मेलन के कुछ न कुछ परिणाम अवश्य निकलते। अमेरिका के प्रभाव को नियन्त्रित करने के उद्देश्य से रूसी नेता के मार्क्सवादी देशो को अपनी मैत्री का पूरा यकीन दिलाना चाहते हैं। उन्होने इथियोपिया और सोमालिया को इस तरह का विश्वास दिलाया है। सम्भवतः सोवियत सघ के आग्रह पर ही फिडेल कास्त्रो ने सोमालिया की यात्रा की थी। शायद यही कारण है कि बरबरा स्थित सोमालिया में रूसी साज-सामान जैसे एक हवाई अड्डा, एक शुष्क बदरगाह, ईंधन टैंक, सचार-केन्द्र तथा अस्त्र भण्डार आदि अधिक हैं। अन्य कई देशो मे रूसियो को

'सुविधाएँ' तो अवश्य प्राप्त हैं लेकिन अमेरिका की भाँति उनके अड्डे नहीं हैं। अंगोला में युद्ध का समर्थन करने के लिए रूस ने कोनाकारी, गिनी और पोटे–नोमर (कांगो) बंदरगाहों का प्रयोग किया था। जब उगांडा में ईदी अमीन ने अमेरिकियों के प्रति जेहाद छेड़ा था तो अमेरिका ने मोंबासा और केन्या स्थित अपने अड्डों को सतर्क कर दिया था। उगांडा को रूस का मित्र माना जाता है। कुछ प्रेक्षकों का यह भी मत है कि रूसी सक्रियता का कारण अफ्रीकी बंदरगाहों में अमेरिकी और पश्चिमी देशों के असैनिक बेड़ों पर दृष्टि रखना है। लेकिन इस तरह के विचार को उन्नीसवीं सदी की विचारधारा माना जाता है। आज तो किसी एक देश का दूसरे देशों के जहाजों से टकरावका अर्थ युद्ध है।यही कारण हैकि आज कोई देश इस तरह की स्थिति पैदा नहीं होने देना चाहते। आजकल आर्थिक व सामरिक सहायता तथा लम्बी अवधि के समझौतों द्वारा बड़ी शक्तियाँ छोटे तथा गरीब और विकासशील देशों में अपना प्रभाव स्थापित रखना चाहती हैं।

राष्ट्रपति पोदगर्नी ने तांजानिया की राजधानी दारेस्सलाम से अपनी चार दिवसीय यात्रा (23 मार्च से 26 मार्च, 1977) शुरू की। उन्होंने राष्ट्रपति जूलियस न्येरेरे को यह स्पष्ट रूप से कहा कि सोवियत संघ किसी तरह की रियायतें, सैनिक अड्डे और विशेषाधिकार न तो किसी अफ्रीकी देश में और न ही अन्य कहीं चाहता है। इस तरह की अफवाह पश्चिमी देशों की 'शरारत' है। हम समान सहयोग के आधार पर मैत्री सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं। हमारा लक्ष्य निजी स्वार्थ नहीं बल्कि पूरी मानव स्वाधीनता और शान्ति स्थापना का प्रयास है। सोवियत संघ और तांजानिया साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद तथा जातिवाद के विरुद्ध संघर्ष करते हुए शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा के समान हितों की दिशा में प्रयास करने के लिए संकल्परत है। तांजानिया के कभी चीन से बहुत अच्छे सम्बन्ध थे और चीन ने उसे 35 करोड़ 80 लाख डॉलर की सहायता दी थी जबकि रूस और अमेरिका से कुल 20 करोड़ डॉलर की सहायता मिली। बहुचर्चित तान-जा रेल भी चीन की सहायता से बन रही है। इस बात की भी चर्चा है कि पोदगर्नी की यात्रा ढाई वर्ष पहले हो जानी चाहिए थी लेकिन रूस द्वारा दीर्घकालीन मैत्री समझौते पर जोर और न्येरेरे की इंकारी की वजह से यह सम्भव नहीं हो सकी। पोदगर्नी की इस यात्रा काल में तांजानिया क्रान्तिकारी पार्टी के क्षेत्रीय सचिव अब्दुल रहमान सुलेमान का यह वक्तव्य महत्त्वपूर्ण था—"अफ्रीका यह सीख रहा है कि समाजवादी संसार से सहयोग के बिना न तो साम्राज्यवाद का प्रभावकारी प्रतिरोध किया जा सकता है और न ही आर्थिक विकास सम्भव है।"

तांजानिया के बाद पोदगर्नी की जांबिया की राजधानी लुसाका की यात्रा (26 से 29 मार्च, 1977) भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं थी। दोनों नेताओं में परस्पर मैत्री और सहयोग का जायजा लेते हुए जांबिया द्वारा अफ्रीका में अदा की जाने वाली भूमिका की प्रशंसा की। डॉ. केनेथ काउंडा ने नवम्बर, 1974 में रूस की यात्रा की थी। दोनों देशों में आर्थिक, तकनीकी और सांस्कृतिक समझौते के प्रसार

पर भी जोर दिया गया। दक्षिण अफ्रीका और दक्षिण रोडेशिया की नस्ली अमानवीय नीतियों की भर्त्सना करते हुए कहा गया कि जब तक अफ्रीकी बहुसंख्यकों को सत्ता नहीं सौंपी जाती तब तक अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और मानवीय सुरक्षा को खतरा बना रहेगा। दक्षिण अफ्रीका से नामीबिया को स्वतन्त्रता देने तथा स्मिथ से बिना शर्त कालों को सत्ता सौंपे जाने की मांग की। नामीबिया के बारे में संयुक्त राष्ट्र के फैसले को पूरी तरह से लागू करने की मांग की गई। जब तक दक्षिण अफ्रीका और रोडेशिया में बहुसंख्यक कालों का शासन नहीं होगा तब तक अंगोला, बोत्स्वाना, मोजांबिक तथा जांबिया जैसे पड़ोसी देशों में हमेशा खतरा बना रहेगा। दोनों देशों ने घोषणा की कि इन अवैध सरकारों के खिलाफ न्यायपूर्ण संघर्ष में सभी देशों को राष्ट्रीय आन्दोलनों को सहयोग देना चाहिए। इसके साथ ही स्पष्टवादी काउंडा अंगोला के गृहयुद्ध में सोवियत संघ और क्यूबा के हस्तक्षेप पर भी अपना रोष व्यक्त किए बिना नहीं रहे। आज स्थिति यह है कि अंगोला रूसी ऋण भार से दबा जा रहा है। रूस ने अंगोला को 30 करोड़ डॉलर की सहायता दी और इस समय अंगोला में लगभग 13,000 क्यूबाई सैनिक और तकनीकी अधिकारी हैं।

मोजांबिक के राष्ट्रपति और फ्रेलिमो पार्टी के नेता समोरा माशेल से भी पोदगर्नी ने परस्पर और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर वार्ता की। मोजांबिक के साथ 15 वर्षीय मैत्री-समझौता भी किया गया है। अफ्रीका के वर्तमान राजनीतिक दौर में मोजांबिक ने जो स्थिति प्राप्त कर ली है उसका भी जायजा लिया गया। पोदगर्नी ने अपने भाषणों में मोजांबिक द्वारा अपनाए जाने वाले वैज्ञानिक समाजवाद का भी उल्लेख किया। प्रारम्भ में मोजांबिक का झुकाव चीन के प्रति था लेकिन आज वह सोवियत संघ की निरन्तर मित्रता की ओर हाथ बढ़ाता जा रहा है। मोजांबिक में रोडेशिया के लगभग आठ हजार छापामारों का अड्डा है जिसे सोवियत संघ का समर्थन मिल रहा है।

सोवियत विदेश नीति का मूल्यांकन
(Evaluation of Soviet Foreign Policy)

युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की जटिलताओं में सोवियत विदेश नीति अभी तक जितनी सफल और प्रभावकारी रही है, उतनी अमेरिकी विदेश नीति नहीं। पश्चिमी एशिया, दक्षिण-पूर्वी एशिया, पूर्वी यूरोप आदि सभी क्षेत्रों में सोवियत रूस ने अपना प्रभाव बढ़ाया है और अमेरिका तथा उसके साथी राष्ट्रों की चुनौतियों का सफलतापूर्वक मुकाबला किया है। महायुद्ध के बाद तीन वर्षों में ही सोवियत रूस ने पूर्वी यूरोप को 'लाल' बना देने में सफलता प्राप्त की। पश्चिमी एशिया में अरब जगत् पर सोवियत रूस आश्चर्यजनक ढंग से छा गया और भारत तो उसका प्रगाढ़ मित्र है। भारत के साथ रूसी मैत्री की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि रूस ने भारत की गुट-निरपेक्षता को पूरा सम्मान देते हुए उसकी मित्रता स्वीकार की है। भूमध्यसागर और हिन्दमहासागर में सोवियत नौ-शक्ति का प्रभावी वर्चस्व है। जापान के साथ भी रूस के सम्बन्ध मधुर बनते जा रहे हैं और दोनों पक्षों में

आर्थिक सहयोग की नींव पर राजनीतिक सम्बन्धों का महल खड़ा किया जाने लगा है। पश्चिमी जर्मनी से समझौता करके भी रूस ने अपनी स्थिति सुदृढ़ की है। फ्रांस गत कुछ वर्षों से रूस के पक्ष में जितना झुका है वह स्थिति अमेरिकी गुट की अपेक्षा रूस के लिए अधिक उत्साहवर्द्धक है। अमेरिका के अतिरिक्त केवल चीन ही रूसी विदेश नीति के लिए सबसे बड़ी चुनौती है, लेकिन अमेरिका और रूस मे पर्दे के पीछे परस्पर सहयोग और सह-अस्तित्व की जो गुप्त वार्ताएँ चल रही हैं उनसे अधिकतर यही अनुमान है कि निकट भविष्य में चीन रूस के साथ प्रतिद्वन्द्विता त्याग कर पुनः सहयोग की नीति का अनुसरण करने लगेगा। भारत जिस शक्तिशाली रूप मे उभरा है उससे भी चीन की मनोवृत्ति मे परिवर्तन होगा, इस सम्भावना से भी इंकार नही किया जा सकता।

सोवियत संघ के शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व के नारे पर अनेक राजनीतिक क्षेत्रों मे सन्देह प्रकट किया जाता है, लेकिन यदि हम अमेरिका के रवैये को देखें तो शायद रूस से भी अधिक सन्देह उस पर किया जाना चाहिए। बंगलादेश के लोकतान्त्रिक जन-आन्दोलन को कुचलने मे अमेरिका ने जो लज्जाजनक भूमिका अदा की, वह अमेरिकी लोकतन्त्र के नाम पर कलंक है। भारत के न्यायोचित पक्ष का गला घोटने और युद्ध-पिपासु पाकिस्तानी तानाशाहों को हथियारों से लैस करने में भी अमेरिका की भूमिका निंदनीय रही है। फिर आज का युग आणविक अस्त्रों का युग है जिसमे युद्ध की दशा मे परमाणु-अस्त्र न विजेता की लाज रखेंगे न विजित की। अतः सह-अस्तित्व का विकल्प सह-विनाश ही रह गया है और शायद कोई भी महाशक्ति इस मार्ग को अपनाना पसन्द नही करेगी। यही कारण है कि चीनी अजगर, जो युद्ध की फूंकारें मारता था, अब युद्ध और शान्ति की मिश्रित फूंकारें छोड़ने लगा है।

11 भारत की विदेश नीति

(THE FOREIGN POLICY OF INDIA)

"जहाँ स्वतन्त्रता के लिए खतरा उपस्थित हो, न्याय को धमकी दी जाती हो अथवा जहाँ आक्रमण होता हो वहाँ न तो हम तटस्थ रह सकते हैं और न ही तटस्थ रहेंगे।" —जवाहरलाल नेहरू

भारत 15 अगस्त, 1947 को स्वतन्त्र हुआ, किन्तु भारत की विदेश-नीति का सूत्रपात 2 सितम्बर, 1946 से माना जा सकता है जबकि एक 'अन्तरिम सरकार' का निर्माण हो गया और यह समझा जाने लगा कि भारत वास्तव में अपनी विदेश-नीति का अनुसरण करने में स्वतन्त्र है।

भारतीय विदेश नीति का ऐतिहासिक आधार

मार्च, 1950 में लोकसभा में भाषण देते हुए पण्डित नेहरू ने कहा था—"यह नहीं समझा जाना चाहिए कि हम विदेश-नीति के क्षेत्र में एकदम नई शुरूआत कर रहे हैं। यह एक ऐसी नीति है जो हमारे अतीत के इतिहास से और हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन से सम्बन्धित है। इसका विकास उन सिद्धान्तों के अनुसार हुआ है जिनकी घोषणा अतीत में हम समय-समय पर करते रहे हैं।"

भारतीय विदेश-नीति का निर्धारण तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से ही नहीं हुआ वरन् इसके निर्माण में भारतीय प्राचीन-प्रणाली की प्राचीन परम्परा और स्वाधीनता संग्राम के उच्च आदर्शों का भी ध्यान रखा गया। भारतीय चिन्तन और दर्शन में सदैव भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरों को स्वीकार किया गया है और सहिष्णुता उसका स्वभाव रहा है, अतः जब भारत ने अपनी विदेश नीति में गुट-निरपेक्षता और विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के तत्त्वों को सर्वोपरि महत्त्व दिया तो इसका कारण भारत की यही परम्परा थी। भारतीय विदेश-नीति में उपनिवेशवाद, जातिवाद, फासिज्म आदि का विरोध सन्निहित है, उसे भी स्वाधीनता संघर्ष काल में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अनेक प्रस्तावों द्वारा स्पष्ट कर चुकी थी। इस प्रकार यह दावा करना सर्वथा उपयुक्त है कि भारत की विदेश नीति कोई

आकस्मिक उपज नहीं है, बल्कि इसके ऐतिहासिक आधार हैं। पामर एवं पर्किंस के शब्दों मे "भारत की विदेश नीति की जड़ें विगत कई शताब्दियों में विकसित सभ्यताओं के मूल में छिपी हैं और इसमें चिन्तन-शैलियों, ब्रिटिश नीतियों की विरासत, स्वाधीनता आन्दोलन तथा वैदेशिक मामलों मे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की पहुँच, गांधीवादी दर्शन के प्रभाव, अहिंसा तथा साध्य और साधनों के महत्त्व के गांधीवादी सिद्धान्तों आदि का प्रभावशाली योग रहा है।"[1]

भारतीय विदेश-नीति के आधारभूत उद्देश्य और लक्ष्य

भारत की विदेश-नीति के आधारभूत उद्देश्य सरल और स्पष्ट हैं। भारत सरकार के एक प्रकाशन 'स्वतन्त्र भारत के बढते कदम' के अनुसार इन उद्देश्यों में स्वतन्त्रता की प्राप्ति मे अब तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। ये उद्देश्य हैं—

प्रथम, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम रखना और उसे प्रोत्साहन देना।

द्वितीय, सभी पराधीन देशों की स्वतन्त्रता को प्रोत्साहन देना क्योंकि भारत की दृष्टि से उपनिवेशवाद केवल मूल मानव अधिकारो का उल्लंघन ही नही बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का सतत् कारण भी है।

तृतीय, जातिवाद का विरोध और ऐसे साम्यवादी समाज के विकास का समर्थन जिसमे रग, जाति और वर्ग के किसी भेदभाव के लिए कोई स्थान न हो।

चतुर्थ, अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण समझौते द्वारा समाधान।

पचम, इन उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए और सम्पूर्ण मानवता के व्यापक हित को ध्यान मे रखते हुए सभी अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों और विशेष रूप से सयुक्त राष्ट्रसंघ को सक्रिय सहयोग देना।

पामर एवं पर्किंस ने भारतीय विदेश नीति के आधारभूत लक्ष्य इस प्रकार गिनाये हैं[2]—

(1) जातीय भेदभाव और साम्राज्यवाद का प्रबल विरोध;

(2) साम्यवाद अथवा शक्ति-राजनीति की अपेक्षा राष्ट्रों के आधारभूत आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक विकास पर बल;

(3) एशियायी देशो की उपेक्षा न करने और उन पर बलात् कुछ न थोपने पर आग्रह;

(4) स्वतन्त्रता अथवा असंलग्नता की नीति पर बल;

(5) सयुक्त राष्ट्रसंघ और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग मे विश्वास;

(6) शीतयुद्ध और क्षेत्रीय सुरक्षा सगठनों से बचना; एवं

(7) अन्तर्राष्ट्रीय तनावों को कम करने वाले और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की सम्भावनाएँ बढ़ाने वाले प्रयत्नों में आस्था।

1-2. *Palmer and Perkins* : International Relations, p. 709.

भारत की विदेश-नीति के उपर्युक्त उद्देश्यो और लक्ष्यों मे आदर्शवाद और यथार्थवाद का सुन्दर समन्वय है। प्रत्येक राष्ट्र अपनी नीतियो से राष्ट्रीय हितो को सर्वोपरि महत्त्व देता है और विदेश नीति की सफलता की सबसे बड़ी कसौटी इस बात मे है कि वह राष्ट्रीय हित की रक्षा करने मे कहां तक सफल हुई है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् 30 वर्षों मे, घोर कठिनाइयो के बावजूद, भारत की विदेश नीति ने राष्ट्रीय हितो का पोषण और सवर्द्धन किया है। इजरायल के विरुद्ध अरब राष्ट्रो का समर्थन, हगरी और चैकोस्लोवाकिया मे रूसी दमन-चक्र के विरोध मे शिथिलता, अमेरिका की तुलना मे सोवियत सघ को प्राथमिकता, आदि कुछ बातो के कारण भारतीय विदेश-नीति मे विरोधाभास का आरोप लगाया जाता है। लेकिन गम्भीरता से सोचने पर विदित होगा कि भारत ने प्रत्येक अवसर पर गुट-निरपेक्षता और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति का अनुपालन किया है। भारत ने सदैव न्याय का पक्ष लिया है और इस दृष्टि से ही अपना समर्थन और विरोध प्रकट किया है। यदि कभी कुछ विरोधाभास या व्यतिक्रम दिखायी भी दिया है तो उसके मूल मे राष्ट्रीय हित सर्वोपरि रहा है। राष्ट्रीय हित की दृष्टि से किसी देश की विदेश-नीति को कठोरता का जामा नहीं पहनाया जा सकता। यदि राष्ट्र के हित को ध्यान मे रखते हुए विदेश-नीति मे सामयिक मोड दिए जाते हैं तो यह सर्वथा युक्तिसगत है। पर ये सामयिक हेरफेर विदेश-नीति के आधारभूत उद्देश्यो और तत्वो को नष्ट नही करते। भारत सन् 1947 मे गुट-निरपेक्ष देश था और आज भी गुट-निरपेक्ष है। भारत ने सन् 1947 मे सह-अस्तित्व मे विश्वास प्रकट किया था और वर्तमान मे भी वह सह-अस्तित्व का प्रबल समर्थक है। इसी प्रकार भारत ने सदैव जातिवाद, उपनिवेशवाद, रगभेद आदि का विरोध किया है। सयुक्त राष्ट्रसघ मे भारत ने जो आस्था रखी है और सघ के कार्यों मे जो सहयोग दिया है वह अपने आप मे एक उदाहरण है। किसी भी देश की विदेश-नीति का मूल्यांकन करते समय स्वर्गीय श्री नेहरू के ये शब्द, जो उन्होने 4 दिसम्बर, 1947 को सविधान-सभा मे कहे थे, सदैव ध्यान मे रखने होगे—

'आप चाहे कोई भी नीति अपनायें, विदेश-नीति का निर्धारण करने की कला राष्ट्रीय हित के सम्पादन मे ही निहित है। हम अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सहयोग और स्वतन्त्रता की चाहे कितनी ही बातें करें और उनका कैसा ही अर्थ लगायें, किन्तु अन्ततोगत्वा एक सरकार अपने राष्ट्र की भलाई के लिए ही कार्य करती है और कोई भी सरकार ऐसा कोई कदम नही उठा सकती जो उसके राष्ट्र के लिए अहितकर हो। अत. सरकार का स्वरूप चाहे साम्राज्यवादी हो या साम्यवादी अथवा समाजवादी, उसका विदेश मन्त्री मूलत राष्ट्रीय हित मे ही सोचता है।"

पुनश्च, पैडलफोर्ड एव लिंकन के शब्दो मे—

"विदेश नीतियो का निर्माण सूक्ष्म सिद्धान्तों के आधार पर नही होता, वरन ये राष्ट्रीय हितों के क्रियात्मक विचारो का परिणाम होती हैं।"

भारत की विदेश-नीति के मौलिक तत्त्व आज भी वही हैं जो पहले थे।

अन्तर केवल इतना ही आया है कि नेहरू युग में आदर्शवाद पर अधिक बल रहा, यद्यपि अपने जीवन की संध्या में नेहरू भी यथार्थवाद को महत्त्व देने लगे, शास्त्री युग में यथार्थवाद को अधिक महत्त्व देकर तुष्टिकरण की नीति के दुर्बल चिह्नों को मिटाया जाने लगा और तत्पश्चात् श्रीमती इन्दिरा गांधी के नेतृत्व में भारत की विदेश-नीति में आदर्शवाद और यथार्थवाद का सुन्दर सन्तुलन दृष्टिगोचर हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की जटिलताओं को श्रीमती गांधी ने अच्छी तरह समझा और देश की विदेश-नीति के आदर्शवादी सिद्धान्तों की रक्षा करते हुए उसे पहले की तुलना में अधिक व्यावहारिक, दृढ़ और आत्मविश्वासपूर्ण बनाया। पहले बंगला देश के सन्दर्भ में,फिर पाकिस्तान के प्रति और साथ ही रूस एवं अमेरिका जैसी महाशक्तियों के प्रति श्रीमती गांधी ने विदेश-नीति का कुशल संचालन किया। भारत ने उपनिवेशवाद और जातिभेद का विरोध किया और गुट-निरपेक्षता तथा सह-अस्तित्व के आन्दोलन को पूर्वापेक्षा सबल बनाया।

मार्च, 1977 में कांग्रेस शासन के पतन के साथ ही जनता पार्टी की सरकार सत्ता में आई। प्रधानमन्त्री पद श्री मोरारजी देसाई ने और विदेशमन्त्री पद श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने सम्भाला। विदेश-नीति के सन्दर्भ में नई सरकार ने अपना स्पष्ट और सुदृढ़ विचार व्यक्त किया कि भारत सक्रिय गुट-निरपेक्षता के मार्ग पर चलता रहेगा। 4 अप्रैल, 1977 को राष्ट्र के नाम सन्देश प्रसारित करते हुए प्रधान-मन्त्री श्री देसाई ने कहा—

'हम पूरे दिल से शान्ति कायम रखने में विश्वास रखते हैं, शान्ति के नारे में नहीं। हम शान्ति को ऐसा साधन मानते हैं जो हम सबके लिए कल्याणकारी है और जिससे इस पृथ्वी की सुरक्षा हो सकती है। मैं यह भी कहना चाहूँगा कि शान्ति हम तभी रख सकते हैं जब हम बिना किसी डर या पक्षपात के या किसी का बुरा सोचे बिना, गुट-निरपेक्षता के सही रास्ते पर चलें। दुनिया की आर्थिक और सामाजिक समस्याओं को मिलकर और आपसी सहयोग से हल करने का सिद्धान्त ही हमारी विदेश-नीति का निर्देशक सिद्धान्त होगा। दुनिया के शेष भागों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर और सहयोग की भावना रखकर हम इस मार्ग का अनुसरण करेंगे और दुराग्रह नहीं रखेंगे। आने वाले समय में बढ़ते हुए आर्थिक और मानवीय सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में राजनीतिक सम्बन्धों की जगह लेंगे। हम इस विकास में अपनी भूमिका तभी निभा सकते हैं जब हम खुद आर्थिक दृष्टि से मजबूत हों।"[1]

भारत की विदेश नीति के निर्धारक तत्त्व

भारत की विदेश नीति के भौगोलिक, ऐतिहासिक, आर्थिक, वैचारिक आदि तत्त्वों पर विस्तृत विवेचन अपेक्षित है—

भौगोलिक तत्त्व

भारत एक सुविशाल देश है जिसकी लगभग 3500 मील लम्बी समुद्री सीमा और 8200 मील लम्बी स्थल सीमा है। समुद्री सीमा का तीन दृष्टियों से विशेष

1. भारत सरकार की प्रेस विज्ञप्ति 4 अप्रैल, 1977.

महत्त्व है—प्रथम, हिन्द महासागर पर अधिकार रखने वाली शक्तियाँ भारत की सुरक्षा को खतरा उत्पन्न कर सकती हैं, द्वितीय, भारत का अधिकांश विदेशी व्यापार हिन्दमहासागर द्वारा होता है; एवं तृतीय, विशाल समुद्र तट की रक्षा के लिए अनिवार्य है कि भारत शक्तिशाली नौ-शक्ति का विकास करे। भारत की स्थल सीमाएँ पाकिस्तान, चीन, नेपाल, अफगानिस्तान और बर्मा से मिलती हैं। हिमालय अब देश की सुरक्षा का विश्वसनीय प्रहरी नहीं रहा है, चीन के आक्रमण ने भारत की आँखें खोल दी हैं।

अपनी विशिष्ट भौगोलिक परिस्थितियों के फलस्वरूप भारत की विदेश नीति का निर्धारण निम्नलिखित हितों को ध्यान में रखकर हुआ है—(1) जिन सीमावर्ती एवं अन्य देशों से देश की सुरक्षा को भय हो, उनके साथ तटस्थता अथवा मित्रता का व्यवहार। ये देश हैं—ईरान, ईराक, अफगानिस्तान, हिन्द-चीन, साम्यवादी चीन आदि। (2) मध्यपूर्व, बर्मा, डच, ईस्ट इण्डीज आदि से तेल की प्राप्ति (3) सीमावर्ती राज्यों में बसने वाले भारतीयों का कल्याण और भारतीय व्यापार का विस्तार। (4) हिन्दमहासागर में भारत की सुरक्षा और व्यापार के आधारभूत समुद्री तथा हवाई मार्गों की सुरक्षा। (5) अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में तथा प्रभुतासम्पन्न राष्ट्रों के मामलों में अपने देश के इतिहास, हित और संस्कृति के अनुरूप महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करना।

आर्थिक एवं सैनिक तत्त्व

सदियों की गुलामी में भारत का आर्थिक शोषण होता रहा, अतः स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश की विदेश-नीति के निर्धारण में आर्थिक और सैनिक तत्त्वों का विशेष महत्त्व रहना स्वाभाविक था और आज भी है। यह बात निम्नलिखित तथ्यों से अधिक स्पष्ट हो जाएगी—

(i) भारत ने गुट निरपेक्षता की नीति अपनायी ताकि विश्व शान्ति को प्रोत्साहन देते हुए वह दोनों ही गुटों से आर्थिक सहायता प्राप्त करता रहे।

(ii) भारत के नीति-निर्माताओं ने यह भली प्रकार समझ लिया कि उनका देश विश्व के पूँजीवादी और साम्यवादी शिविरों के बीच सन्तुलनकारी भूमिका निभाकर दोनों को अपनी ओर आकर्षित कर सकता है। अतः भारत ने यही नीति अपनायी कि किसी भी पक्ष के साथ सैनिक-सन्धि में न बँधा जाए, किसी भी गुट के साथ ऐसी सन्धि न की जाए जिससे देश की गुट-निरपेक्षता और सम्प्रभुता पर आँच आए। भारत ने विदेशों से जो भी आर्थिक और प्राविधिक सहायता प्राप्त की वह राजनीतिक शर्तों से मुक्त रही।

(iii) नवोदित भारत सैनिक दृष्टि से निर्बल था, अतः विदेश नीति के निर्धारकों ने यह उपयुक्त समझा कि दोनों गुटों की सहानुभूति अर्जित की जाए। यह तभी सम्भव था जब गुट निरपेक्षता और सह-अस्तित्व की नीति अपनायी जाती।

(iv) भारत जैसे सुविशाल और महान् देश के लिए यह स्वाभाविक था कि

वह ऐसी विदेश नीति का अनुसरण करता जिससे उसकी स्वयं की निर्णय-शक्ति पर कोई विपरीत प्रभाव न पड सके।

जिन आर्थिक और सैनिक तत्वों ने सन् 1947 में भारत की विदेश-नीति के निर्धारण में योग दिया वे तत्त्व आज भी उतने ही सजीव हैं। सन् 1978 का भारत आर्थिक और सैनिक दृष्टि से सन् 1947 के मुकाबले कहीं अधिक सबल है, लेकिन गुट-निरपेक्षता और शान्ति की नीति भयकर कठिनाइयों में भी भारत के लिए इतनी हितकारी सिद्ध हुई है कि उसके परित्याग का कोई प्रश्न नहीं उठता। पाकिस्तान अपने जन्मकाल से ही सैनिक गुटों से प्रतिबद्ध रहा है लेकिन इस नीति के परिणाम उसके लिए दुःखदायी सिद्ध हुए हैं। वह चीन, अमेरिका जैसे राष्ट्रों के हाथ लगभग बिक चुका है तथा उनके शिकंजे से निकलना उसके लिए यदि असम्भव नहीं तो अति कठिन अवश्य है। विश्व के अनेक दूसरे देशों का इतिहास भी साक्षी है कि गुटों के साथ बँधकर उन्होंने अपनी राजनीतिक सम्प्रभुता के साथ खिलवाड की है। एक गुट-निरपेक्ष देश के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक रंगमच पर भारत की जो आवाज है वह सैनिक सन्धियों और गुटों में आबद्ध अधिकांश देशों की आवाज से कहीं अधिक बलशाली और प्रभावकारी है।

ऐतिहासिक परम्पराएँ

अतीत से ही भारत सहिष्णु और शान्तिप्रिय देश रहा है। इतिहास साक्षी है कि भारत ने कभी किसी देश पर राजनीतिक प्रभाव लादने या उसकी प्रादेशिक अखण्डता को भग करने की चेष्टा नहीं की। यह ऐतिहासिक परम्परा भारत की विदेश-नीति का महत्त्वपूर्ण निर्माणक तत्त्व है। स्वाधीन भारत के तीन दशक पूरे हो गये हैं और इस सम्पूर्ण अवधि में भारत ने सभी देशों के साथ समानता और मित्रता की नीति निभायी है। पाकिस्तान ने भारत पर एक के बाद एक आक्रमण किए किन्तु फिर भी भारत की नीति उसके साथ मैत्री और सह-अस्तित्व की रही है। प्रत्येक युद्ध में भारत ने पाकिस्तान को हराया, किन्तु फिर भी उस पर अपनी शर्तें नहीं लादी। सन् 1965 के युद्ध में पाकिस्तान का जो भू-भाग छीन लिया गया था वह ताशकन्द के समझौते द्वारा लौटा दिया गया। सन् 1971 में पाकिस्तान को मुँह की खानी पडी, लेकिन शिमला समझौते द्वारा भारत ने समस्त हस्तगत भूमि पुनः पाकिस्तान को सौंप दी, यहाँ तक कि अनेक रियायतें और सुविधाएँ देकर भी पाकिस्तान की मित्रता की आकांक्षा की। इसे दुर्भाग्यपूर्ण ही कहा जाएगा कि पाकिस्तान भारत की तुष्टिकरण की नीति को, शान्तिपूर्ण और सह-अस्तित्व की विचारधारा को उसकी दुर्बलता का चिह्न मानता है। पाकिस्तान के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री जुल्फिकार अली भुट्टो भारत को युद्ध की धमकियाँ देते रहे है, भारत से हजार वर्ष लडने की बात करते रहे हैं, फिर भी भारत भड़काने में नहीं आता, पाकिस्तान के प्रति एक बडे भाई जैसा आचरण करता है। लेकिन यदि सिर पर ही आ पडी तो अब की बार, जैसा कि हमारे नेता चेतावनी दे चुके हैं, पाकिस्तान को ऐसा सबक सिखाया जाएगा कि वह हमेशा के लिए याद रखेगा। साम्यवादी चीन भी भारत के प्रति

और शत्रुतापूर्ण रवैया अपनाता है। सन् 1962 में अचानक विशाल पैमाने पर आक्रमण कर चीन ने एक मित्र की पीठ में छुरा भोंका और भारत की कुछ भूमि हड़प ली। उस समय भारत सैनिक दृष्टि से सबल नहीं था, लेकिन वह किसी भी आक्रमण का मुँह तोड़ उत्तर देने में सक्षम है तथापि शान्तिवादी भारत ने यह कभी प्रयत्न नहीं किया कि सैनिक शक्ति के बल पर अपनी भूमि वापस प्राप्त की जाए। यह बात भारत की दुर्बलता का चिह्न नहीं है बल्कि एक महान् देश की सहनशीलता का प्रमाण है।

वैचारिक तत्त्व

सहिष्णुता, उदारता आदि तत्त्वों को ऐतिहासिक परम्परा के साथ वैचारिक तत्त्वों में भी रखा जा सकता है। इनके अतिरिक्त भारत की विदेश-नीति गाँधीवाद से काफी प्रभावित है। इस पर मार्क्सवाद का प्रभाव भी कम नहीं है। समाजवादी शिविर के प्रति भारत की सहानुभूति बहुत कुछ मार्क्सवादी प्रभाव का परिणाम मानी जा सकती है। गृह-नीति के क्षेत्र में भी भारत ने समाजवादी ढाँचे के समाज की स्थापना का लक्ष्य सामने रखा है। पश्चिम के उदारवाद का भी भारत की विदेश-नीति पर काफी प्रभाव है। हमारी विदेश-नीति के कर्णधार स्वर्गीय श्री नेहरू पाश्चात्य लोकतन्त्रीय परम्पराओं से बहुत प्रभावित थे। वे पश्चिमी लोकतन्त्रवाद और साम्यवाद दोनों की अच्छाइयों को पसन्द करते थे और उनकी बुराइयों से बचना चाहते थे। इस प्रकार की समन्वयकारी विचारधारा ने गुट-निरपेक्षता की नीति को प्रोत्साहित किया।

राष्ट्रीय संघर्ष

भारत के स्वाधीनता संघर्ष ने विदेश-नीति के निर्धारण में उल्लेखनीय योग दिया क्योंकि—(i) इसके कारण भारत में महाशक्तियों के संघर्ष का मोहरा बनने से बचने का विचार उत्पन्न हुआ; (ii) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षेत्र में गुट-निरपेक्ष रहते हुए महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करने की भावना जाग्रत हुई; (iii) हर प्रकार के उपनिवेशवाद, जातिवाद और रंग-भेद का विरोध करने का अद्भुत साहस उत्पन्न हुआ; एवं (iv) स्वाधीनता-आन्दोलनों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न हुई।

वैयक्तिक तत्त्व

भारत की विदेश-नीति पर वैयक्तिक तत्त्वों का, विशेषकर पण्डित नेहरू का व्यापक प्रभाव रहा है। पं. नेहरू साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और फासिस्टवाद के विरोधी तथा विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के समर्थक थे। वे मैत्री, सहयोग और सह-अस्तित्व के पोषक थे, लेकिन अन्यायपूर्ण आक्रमण को रोकने के लिए शक्ति के प्रयोग को भी उतना ही महत्त्व देते थे। महाशक्तियों के संघर्ष में भारत के लिए वे असंलग्नता की नीति को सर्वोत्तम मानते थे। अपने इन्हीं विचारों के अनुरूप उन्होंने भारत की विदेश-नीति का निर्माण किया। इसका वर्तमान स्वरूप पण्डित नेहरू के विचारों का ही प्रतीक है। पण्डित नेहरू के अतिरिक्त डॉ. राधाकृष्णन, कृष्णमेनन, पणिक्कर के नाम भी उन विशिष्ट व्यक्तियों में सम्मिलित किए जाते हैं

जिन्होंने भारत की विदेश-नीति को प्रभावित किया। साम्यवादी चीन के प्रति भारत की प्रारम्भिक नीति के निर्धारण में सरदार पणिक्कर का विशेष हाथ रहा था। उनके गलत मूल्यांकन के कारण ही तिब्बत और चीन के बारे में भारत की विदेश-नीति पथ-भ्रष्ट हो गई तथा चीन पर अन्धविश्वास कर बैठी। पणिक्कर चीन में भारत के राजदूत थे और उनकी रिपोर्टों के आधार पर पण्डित नेहरू चीन के प्रति भारत की नीति का निर्धारण करते रहे। सन् 1962 के चीनी आक्रमण ने सभी की आंखें खोल दी और उसके पश्चात् विदेश-नीति यथार्थवाद की ओर उन्मुख हुई। स्वर्गीय शास्त्री और भूतपूर्व प्रधानमन्त्री श्रीमती गांधी के नेतृत्व में भारत की विदेश-नीति में अधिक निखार आया और आज सन् 1978 में प्रधानमन्त्री श्री देसाई और विदेश मन्त्री श्री अटल बिहारी बाजपेयी के नेतृत्व में अपने मौलिक तत्त्वों को पूर्ववत् कायम रखते हुए, यह पिछले किसी भी समय की तुलना में अधिक व्यावहारिक है। भारत की शान्ति-प्रियता, सहिष्णुता, मैत्री और सहयोग की भावना आज भी उतनी ही बलवती है, जितनी पहले थी, केवल अन्तर यह आया है कि भारत इस बात को समझ चुका है कि केवल शान्ति के नारों से काम नहीं चल सकता, शत्रु-राष्ट्रों से रक्षा के लिए भारत को एक शक्तिशाली सैनिक राष्ट्र भी बनना होगा। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत की आवाज तभी बुलन्द रह सकेगी जब सैनिक दृष्टि से भी वह सुदृढ़ हो। भारत की किसी प्रकार की आक्रामक या विस्तारवादी महत्त्वाकांक्षा नहीं है, लेकिन आत्म-रक्षा के लिए सैनिक सुदृढ़ता अनिवार्य है।

राष्ट्रीय हित

विदेश-नीति का निर्माण सूक्ष्म सिद्धान्तों के आधार पर नहीं होता। यह राष्ट्रीय हितों के क्रियात्मक विचारों का परिणाम होती है। भारत की विदेश-नीति में राष्ट्रीय हित को सदैव सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है और दिया जाता रहेगा। राष्ट्रीय हित समय और परिस्थितियों के साथ परिवर्तित होते रहते हैं, अतः भारत की विदेश-नीति में कभी जड़ता नहीं आई है। भारत न किसी साम्राज्य का आकांक्षी है, न उसे अपने किसी उपनिवेश की रक्षा करनी है। भारत ने न अन्तर्राष्ट्रीय मार्क्सवाद-माओवाद की क्रान्ति का बीड़ा उठाया है और न ही किसी विचारधारा अथवा शासन-प्रणाली के विरोध में कोई सैनिक संगठन स्थापित किया है। भारत का राष्ट्रीय हित तो इस बात में निहित है कि राष्ट्र की एकता, अखण्डता और स्वतन्त्रता की रक्षा की जाए, देश में लोकतन्त्र को सुदृढ़ बनाया जाए, देश के नागरिकों को आर्थिक और सामाजिक न्याय प्रदान किया जाए और पड़ोसी एवं अन्य राष्ट्रों के साथ यथासम्भव मैत्री का विकास किया जाए। भारत ने स्वाधीनता के अपने लगभग 30 वर्षों में इन्हीं लक्ष्यों की साधना की है। बाह्य आक्रमण से रक्षा करना राष्ट्र के अस्तित्व की पहली शर्त है और इतिहास साक्षी है कि भारत ने देश पर आए हर संकट का मुँहतोड़ जवाब दिया है।

गुट-निरपेक्षता और सह-अस्तित्व की नीति के प्रयोग का सर्वेक्षण (1947—1977)

सन् 1947 में जब भारत का स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में उदय हुआ, उस समय

अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर दो विरोधी शक्तियाँ विद्यमान थीं। अपनी परम्परा के अनुरूप भारत ने सभी शक्ति-गुटों से तटस्थ या पृथक् रहने और किसी का पिछलग्गू न बनने का निर्णय किया। प. नेहरू ने कहा था—"जहाँ तक सम्भव हो, हम उन शक्ति-गुटों से अलग रहना चाहते हैं जिनके कारण पहले भी महायुद्ध हुए हैं और भविष्य में भी हो सकते हैं।"

किन्तु गुटों से पृथक् रहने की नीति का अर्थ अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में तटस्थता कदापि नहीं है। निश्चित रूप से इसका यह भी अर्थ नहीं है कि हम संसार की घटनाओं से उदासीन रह कर तमाशा देखते रहेंगे और दुनिया से कटे रहेंगे। इसका मतलब है ऐसी स्पष्ट, क्रियात्मक तथा रचनात्मक नीति अपनाना जिससे संसार में शान्ति स्थापना को बल मिले। वास्तव में सामूहिक सुरक्षा इसी पर निर्भर है। वस्तुतः गुट-निरपेक्षता का अर्थ है अपनी स्वतन्त्र रीति-नीति का अनुसरण। गुटों से अलग रहने से हर प्रश्न के औचित्य-अनौचित्य को देखा जा सकता है। किसी गुट के साथ मिलकर, उचित-अनुचित का ख्याल किए बिना उनका अन्धानुकरण करना होता है।

गुट-निरपेक्षता की नीति पर कायरता का आरोप निराधार है। जो नीति स्वतन्त्रता, न्याय और मानव मूल्यों का अपमान न सह सकती हो, अन्याय के विरुद्ध शक्ति के प्रयोग से भी पीछे न हटती हो, हर कीमत पर राष्ट्रीय हित की रक्षा करने में समर्थ हो, उसे कायरता की संज्ञा नहीं दी जा सकती। गुट-निरपेक्षता के सम्बन्ध में पण्डित नेहरू के ये शब्द आज भी सजीव हैं—

"जहाँ स्वतन्त्रता के लिए खतरा उपस्थित हो, न्याय को धमकी दी जाती हो अथवा जहाँ आक्रमण होता हो, वहाँ न तो हम तटस्थ रह सकते हैं और न ही तटस्थ रहेंगे।"

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद से ही भारत ने जिस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में सक्रिय भूमिका निभायी है, आर्थिक और सैनिक उपनिवेशवाद का विरोध किया है, जातिवाद और रंगभेद से लोहा लिया है, मुक्ति-आन्दोलनों को समर्थन दिया है, विश्व-संस्था के मंच से एशिया और अफ्रीका की आवाज को बुलन्द किया है, पूर्वी पाकिस्तान (अब बंगलादेश) की जनता को पश्चिमी पाकिस्तान के अत्याचारों से मुक्त कर उसे स्वाधीन राष्ट्र के रूप में उदय होने में ऐतिहासिक भूमिका अदा की है, उन सबसे यही सिद्ध होता है कि गुट-निरपेक्षता निर्भीकता की नीति है, साहस और आत्म विश्वास की नीति है, नैतिक मूल्यों की रक्षा करते हुए राष्ट्रीय हितों का पोषण करने की नीति है। गुट-निरपेक्षता और सह-अस्तित्व की नीति शान्तिवाद में विश्वास करती है, लेकिन अन्याय और आक्रमण के विरुद्ध तलवार उठाने में भी संकोच नहीं करती। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद से कुछ प्रमुख घटनाचक्रों के प्रति भारत का जो रुख रहा उससे गुट-निरपेक्षता की नीति के कार्यान्वियन पर भली प्रकार प्रकाश पड़ सकेगा।

प्रारम्भिक अस्पष्टता (1947–1950)—स्वाधीनता प्राप्ति के तुरन्त बाद

के कुछ वर्षों में भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति अस्पष्ट-सी रही। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में भारत का झुकाव पश्चिमी देशों की ओर रहा। इसके कई कारण थे—प्रथम, सुरक्षा के मामले में भारत पूरी तरह पश्चिमी गुट पर आश्रित था; द्वितीय, भारतीय शिक्षित वर्ग की सहानुभूति ब्रिटेन और उसके साथी राष्ट्रों के साथ थी; तृतीय, भारत के तत्कालीन व्यापारिक सम्बन्ध केवल पश्चिमी देशों के साथ थे और देश के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए सहायता मुख्यतः ब्रिटेन और अमेरिका से ही प्राप्त हो सकती थी; चतुर्थ, सोवियत संघ का कर्णधार स्टालिन था जो उग्र और दुराग्रही था और भारत के नेता आश्वस्त नहीं थे कि भारत-रूस सहयोग का विकास हो सकेगा।

उपर्युक्त परिस्थितियों में सन् 1947 से 1950 तक भारत का झुकाव अमेरिका और पश्चिमी देशों के प्रति रहा। इसके समर्थन में कुछ उदाहरण दिए जा सकते हैं। विभाजित जर्मनी में एक को (पश्चिमी जर्मनी को) जो पश्चिमी-गुट से सम्बन्धित था कूटनीतिक मान्यता प्रदान की गई जबकि पूर्वी जर्मनी को मान्यता नहीं दी गई। भारत का यह तर्क वजनदार नहीं था कि पूर्वी जर्मनी को यदि मान्यता दी जाती तो इसका अर्थ जर्मनी के विभाजन को स्वीकार कर लेना होता। कोरिया-युद्ध के प्रारम्भ में भी भारत का रुख कुछ पक्षपातपूर्ण सा रहा। अमेरिका और पश्चिमी देशों की भाँति भारत ने भी तुरन्त उत्तरी कोरिया को आक्रामक घोषित कर दिया जबकि वस्तु-स्थिति यह थी कि पश्चिमी देश आज तक अपने कथन के समर्थन में पूर्ण विश्वसनीय प्रमाण नहीं दे सके हैं। यह बहुत सम्भव है कि आक्रामक दक्षिणी कोरिया रहा हो। भारत का निर्णय कोवडाणी की रिपोर्ट पर आधारित था और यह रिपोर्ट उसके व्यक्तिगत विचारों से अत्यधिक प्रभावित थी।[1]

कोरिया-युद्ध में बाद की भूमिका—भारत ने उत्तर कोरिया को आक्रामक घोषित करने में जल्दबाजी दिखायी, लेकिन कुल मिलाकर कोरिया-युद्ध के समय उसे दुनिया के सामने अपनी गुट-निरपेक्षता की नीति प्रदर्शित करने का पहला अवसर मिला। भारत ने उस समय युद्ध-बन्दियों को लौटाने के लिए तटस्थ राष्ट्रों के प्रत्यावर्तन आयोग के अध्यक्ष की हैसियत से महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी और एक अति कठिन कार्य को बड़ी सफलतापूर्वक पूरा कर दिखाया।

गुट-निरपेक्षता की नीति में निखार, रूस के साथ सम्बन्धों में सुधार का आरम्भ—कोरिया-युद्ध के बाद से ही भारत की विदेश-नीति में अधिक निखार आने लगा। सोवियत संघ की तुलना में पश्चिमी देशों की ओर अधिक झुकाव की प्रवृत्ति कम होने लगी। सन् 1953 में स्टालिन की मृत्यु के बाद सोवियत संघ में कुछ उदार तत्वों का समावेश हुआ और भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति को सोवियत नेता कुछ अधिक विश्वास और सम्मान की दृष्टि से देखने लगे। उधर अमेरिका ने पाकिस्तान को भारत के विरुद्ध शक्तिशाली बनाने की नीति पर अमल शुरू कर दिया।

1. *Karunakar Gupta* : Indian Foreign Policy, p. 11.

सन् 1954 में अमेरिका और पाकिस्तान के बीच एक सैनिक सन्धि हुई जिसके अन्तर्गत भारत के विरोध के बावजूद पाकिस्तान को विशाल पैमाने पर शस्त्रास्त्र देने का निर्णय किया गया। गोआ-समस्या के प्रति अमेरिका का रवैया भी भारतीय जनमत को विक्षुब्ध करने वाला था। विदेश सचिव जॉन फॉस्टर डलेस ने सार्वजनिक रूप से गोआ में पुर्तगाल की उपनिवेशवादी सरकार का समर्थन किया। अमेरिका और उसके साथी पश्चिमी राष्ट्रों की वास्तविक सहानुभूति भारत के प्रति नहीं रही। भारतीय नेताओं ने इस स्थिति का मूल्यांकन किया और समझ लिया कि देश के लिए यही हितकर है कि भारत गुट-निरपेक्षता की नीति पर आरूढ़ रहे। पश्चिमी देशों की तुलना में सोवियत संघ के प्रति उदासीन रहना भारत के लिए अहितकर था। सोवियत संघ ने गोआ के प्रश्न पर भारत का समर्थन किया और दोनों देशों के बीच व्यापारिक सम्बन्धों में भी वृद्धि हुई। भारत को सोवियत संघ से ठोस आर्थिक सहायता भी प्राप्त होने लगी। इस तरह पश्चिम पर भारत की निर्भरता कम होती गई। दोनों गुटों से आर्थिक सहायता प्राप्त होते रहना भारत की गुट-निरपेक्ष नीति की सफलता की द्योतक थी। भारतीय प्रधानमन्त्री नेहरू को सोवियत रूस जाने और सोवियत नेता ख्रुश्चेव की भारत-यात्रा से भी रूस और भारत के बीच सहयोग में वृद्धि हुई।

हिन्द-चीन का संकट—भारत को गुट-निरपेक्ष नीति की उपयोगिता को प्रदर्शित करने का एक ठोस अवसर हिन्द-चीन संघर्ष के समय (फ्रांस और हिन्द-चीनी देशभक्तों में) मिला। यद्यपि भारत जेनेवा कॉन्फ्रेंस का सदस्य नहीं था, किन्तु शान्ति के लिए जो समझौता हुआ उसमें उसने महत्वपूर्ण योगदान किया। सन् 1954 के जिनेवा समझौते को कार्यान्वित कराने में भारत का पूर्ण सहयोग रहा। हिन्द-चीन-विवाद के शान्तिपूर्ण हल के लिए भारत ने एक छः सूत्री योजना प्रस्तुत की। जेनेवा समझौते का पालन कराने के लिए जो अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग बना उसका भारत चेयरमैन बनाया गया।

पंचशील—गुट-निरपेक्षता की नीति द्वारा शान्ति-क्षेत्र-विस्तार के भारत के संकल्प का चरम उत्कर्ष सन् 1954 में हुआ, जब उसने सह-अस्तित्व के सिद्धान्त की घोषणा की। श्री नेहरू ने कहा—"गरम या ठण्डा चाहे जैसा युद्ध हो, इसका विकल्प शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व ही है।" 29 अप्रैल, 1954 को भारत और चीन के तिब्बत-क्षेत्र के बीच व्यापार और आवागमन आदि के बारे में भारत-चीन समझौते द्वारा इस विचार को प्रतिष्ठा मिली और इसे विश्वव्यापी मान्यता प्राप्त हुई। इस समझौते की प्रस्तावना में 5 सिद्धान्तों का समावेश किया गया जो आगे चलकर 'पंचशील' के नाम से विख्यात हुए। ये हैं—एक दूसरे की क्षेत्रीय अखण्डता तथा प्रभुसत्ता का सम्मान; अनाक्रमण; एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना; समानता तथा एक दूसरे के हित का ध्यान और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व। इन सिद्धान्तों के बारे में श्री नेहरू के ये शब्द आज भी सजीव हैं—"मैं समझता हूँ कि यदि इन सिद्धान्तों को सभी देश स्वीकार कर लें तो आज की दुनिया की बहुत-सी मुसीबतें शायद काफी हद तक दूर हो जाएँगी।"

अप्रैल, 1955 में वाण्डुंग सम्मेलन मे पंचशील के इन सिद्धान्तों को पुनः विस्तृत रूप दिया गया। बांण्डुंग सम्मेलन के बाद विश्व के अधिसंख्य राष्ट्रो ने पंचशील सिद्धान्तो को मान्यता दी और उसमे आस्था प्रकट की।

पंचशील के सिद्धान्तों की श्रेष्ठता से कोई इंकार नही कर सकता। प्रथम तीन सिद्धान्त घोषित करते हैं कि सभी राष्ट्रों को एक-दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और सर्वोच्चता का सम्मान करते हुए परस्पर आक्रमण और आन्तरिक मामलों मे हस्तक्षेप नही करना चाहिए। चौथे सिद्धान्त का आशय है कि प्रत्येक राष्ट्र को छोटे-बड़े सभी राज्यो के साथ समानता का व्यवहार करते हुए पारस्परिक हितो को आगे बढ़ाना चाहिए। पांचवां शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का सिद्धान्त तो आधुनिक जटिल अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की मांग है। सह-अस्तित्व को ठुकराने का विकल्प केवल सहविनाश ही हो सकता है। विभिन्न पद्धति वाले राष्ट्रो मे शान्तिपूर्ण और रचनात्मक प्रतियोगिता चल सकती है, विनाशक प्रतियोगिता नही।

पंचशील के सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के लिए निःसन्देह आदर्श भूमिका का निर्माण करते हैं, पर इनका मूल्य तभी है जब विश्व के राष्ट्र इनमे व्यावहारिक आस्था रखें। एक राष्ट्र तो इनका पालन करे और दूसरा राष्ट्र इन्हे ठुकराए तो बात नही बन सकती। भारत पर पाकिस्तान और चीन के आक्रमण यह सिद्ध कर चुके हैं कि केवल शब्द-जाल से ही अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना नही की जा सकती। किन्तु हमे यह नही भूलना चाहिए कि किसी सिद्धान्त का यदि कोई पालन न करे तो इसमे सिद्धान्त का दोष न ी है . यह तो अपनी इच्छा पर है कि हम किसी आदर्श की रक्षा करें या उसे ठुकरा दें। पचशील के सिद्धान्त पारस्परिक विश्वास के सिद्धान्त हैं और यदि पारस्परिक विश्वास की भ.वना ही किसी को पसन्द न हो तो क्या किया जा सकता है।

यदि भारत-भूमि पर आक्रमण होता है, भारत की अखण्डता पर आघात होता है, भारत की प्रभुता को हानि पहुँचाई जाती है, भारत की मैत्री-भावना को कमजोरी का चिह्न समझा जाता है तो पचशील के सिद्धान्त यह नहीं कहते कि भारत अपने हितो की रक्षा के लिए सन्नद्ध न हो। पचशील के सिद्धान्त वे आदर्श हैं जिन्हे व्यावहारिक जीवन मे उतारने का प्रयत्न करना चाहिए। इनसे हमें नैतिक शक्ति मिलती है और नैतिकता के बल पर हम न्याय और आक्रमण का प्रतिकार कर सकते हैं। पाकिस्तान के आक्रमणो का मुँह तोड उत्तर देकर भारत ने जहाँ अपने मान-सम्मान की रक्षा की है, वहाँ पहले ताशकन्द समझौते और फिर शिमला समझौते द्वारा अपनी दोस्ती का हाथ बढ़ा कर उसने पचशील के सिद्धान्तो मे आस्था भी प्रदर्शित की है।

हंगरी की घटना, 1955 तथा स्वेज संकट, 1956—इन दोनो घटनाओ के सन्दर्भ मे भारत की भूमिका ने उसकी गुट-निरपेक्षता की पुष्टि की। सन् 1955 मे हंगरी मे सोवियत संघ के हस्तक्षेप पर भारत ने नैतिक विरोध प्रकट कर यह सिद्ध कर दिया कि वह अपने स्वतन्त्र निर्णय में किसी गुट से प्रभावित नहीं है।

इस घटना से दोनो देशो के सम्बन्धो मे कुछ तनाव अवश्य पैदा हो गया, लेकिन यह अल्पकालिक ही रहा क्योंकि सोवियत संघ इस बात को समझ गया कि भारत का कार्य अमैत्रीपूर्ण नही था। दोनो देशो के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो के विकास मे कोई विशेष उलझन पैदा नही हुई और दोनो के बीच आर्थिक तथा राजनीतिक सहयोग बढ़ता चला गया।

सन् 1956 मे स्वेज पर ब्रिटेन, फ्रास और इजरायल के आक्रमण की ससार भर मे भारी प्रक्रिया हुई। भारत सरकार ने एग्लो-फ्रेंच आक्रमण की तीव्र आलोचना की और आक्रमण को समाप्त करने तथा मिस्र से आक्रमणकारी सेना को हटाने के मामले मे सोवियत सघ के साथ पूर्ण सहयोग किया। इस सकट के समाधान मे भारत की भूमिका बडी महत्त्वपूर्ण थी। अन्त मे जो समझौता हुआ उसमे वही सिद्धान्त थे जो भारत ने सुझाए थे।

चीन का आक्रमण, 1962—नवम्बर, 1962 मे भारत पर चीन का विश्वासघाती आक्रमण हुआ और गुट-निरपेक्षता की नीति की अग्नि-परीक्षा हुई। अधिकांश क्षेत्रो मे यह माँग की जाने लगी कि गुट-निरपेक्षता की नीति असफल हो चुकी है, अतः इसका यथाशीघ्र परित्याग होना चाहिए। लेकिन प्रधानमन्त्री नेहरू ने स्पष्ट घोषणा की कि भारत अपनी गुट-निरपेक्षता की नीति पर आरूढ़ रहेगा। आकस्मिक आक्रमण के कारण भारत को कुछ गम्भीर सैनिक पराजयो का सामना करना पडा। भारत की अपील पर अमरिका तथा ब्रिटेन से काफी मात्रा मे सैनिक सामग्री प्राप्त की गई। विरोधियो ने आरोप लगाया कि भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति अव्यावहारिक है क्योंकि एक ओर तो भारत साम्यवादी गुट के प्रमुख सदस्य चीन के साथ युद्धरत है और दूसरी ओर उसका सामना करने के लिए अमेरिकी गुट से सैनिक सहायता ले रहा है। पण्डित नेहरू विरोधियो के सामने परास्त नही हुए। चीन का आक्रमण उनके लिए एक गहरा आघात था, लेकिन उन्होने गुट-निरपेक्षता की नीति मे दृढ विश्वास प्रकट किया। उनका सबल तर्क यह था कि आक्रमणकारी का मुकबला करने के लिए भारत ने जो भी शस्त्रास्त्र की सहायता ली है, उसके साथ किसी प्रकार की राजनीतिक या अन्य शर्त नही है। किसी बन्धनमुक्त सहायता लेने का अभिप्राय गुट-निरपेक्षता की नीति से दूर हटना नही कहा जा सकता। पण्डित नेहरू ने यह भी कहा कि यदि इस नीति का परित्याग कर दिया गया तो भारत और चीन का सीमा-सघर्ष शीतयुद्ध का एक अग बन जाएगा और भारत-चीन विवाद का कोई शान्तिपूर्ण समाधान नही निकल सकेगा। उन्होने आगे कहा कि इतिहास इस बात का साक्षी है कि गुटो की नीति कभी भी सही रूप मे फलदायक नही हो सकी है। अमेरिका के समर्थन के बावजूद न तो कोरिया और जर्मनी का एकीकरण हो सका है और न ही पाकिस्तान को काश्मीर मिल सका है। इसलिए यह आशा करना निरी मूर्खता होगी कि यदि भारत पाश्चात्य राष्ट्रो के गुट मे या साम्यवादी गुट मे मिल गया तो इसे उसके खोये हुए प्रान्त वापस मिल जाएँगे। भारत सरकार की ओर से एकदम स्पष्ट कर दिया गया कि देश अपनी रक्षा के

लिए सभी मित्र राज्यों से सहायता लेगा, परन्तु गुट-निरपेक्षता की नीति का परित्याग नही करेगा।

पाकिस्तान का आक्रमण, 1965—सितम्बर, 1965 मे भारत और पाकिस्तान के युद्ध में गुट-निरपेक्षता की नीति की शक्ति एक बार फिर सही सिद्ध हुई। पाकिस्तान सीएटो और सैंटो जैसे शक्तिशाली सैनिक गुटों का सदस्य होने पर भी किसी से कोई प्रत्यक्ष महायता प्राप्त नही कर सका। टर्की और ईरान ने उसे सैनिक सहायता देने का आश्वासन तो दिया, किन्तु अन्य राज्यो के विरोध के कारण पाकिस्तान की सहायतार्थ स्वयं नहीं आये। इस युद्ध से पाक दृष्टिकोण के बारे मे यह सिद्ध हो गया कि राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए गुटो मे सम्मिलित होने की नीति गलत है। बात यही तक सीमित नही रही। पाकिस्तान के बहुत बडे समर्थक संयुक्तराज्य अमेरिका ने भारत और पाकिस्तान दोनो पर आर्थिक प्रतिबन्ध लगा दिए और यह घोषणा की कि जब तक दोनो पक्ष युद्ध बन्द नही कर देंगे तब तक उन्हें किसी भी प्रकार की सैनिक सहायता नहीं दी जाएगी। स्पष्ट ही अमेरिका ने अपनी इस घोषणा द्वारा एक साथी-राज्य और गुट-निरपेक्ष राज्य को एक ही कोटि मे रखा। जब गुटों में सम्मिलित होने से पाकिस्तान को भी लाभ नही पहुँच सका तो फिर भारत को लाभ पहुँचने की क्या आशा की जा सकती थी। वास्तव मे यह गुट-निरपेक्षता की नीति का ही परिणाम था कि संकट की अवस्था मे भारत को अनेक क्षेत्रों से पूर्ण समर्थन प्राप्त हुआ और युद्ध के समय उसकी कूटनीतिक स्थिति किसी तरह कमजोर नहीं हुई। सुरक्षा परिषद् मे युद्ध पर बहस के दौरान भी सोवियत संघ से उसे पर्याप्त समर्थन प्राप्त हुआ। भारत-पाक युद्ध ने असलग्नता की नीति की श्रेष्ठता को फिर सिद्ध कर दिया।

वास्तव मे 27 मई, 1964 को भारत के महान् नेता श्री नेहरू की मृत्यु के बाद यह आशंका व्यक्त की गई थी कि भारत गुट-निरपेक्षता की नीति पर नही चल पाएगा, लेकिन उनके उत्तराधिकारी स्वर्गीय श्री शास्त्री ने इस प्रकार की आशंकाओं को निर्मूल सिद्ध कर दिया। न केवल युद्ध-काल मे बल्कि युद्ध के बाद भी ताशकन्द समझौते के माध्यम से गुट-निरपेक्षता की नीति की पुष्टि हुई। समझौते से भारत को काफी हानि हुई तथापि वह भारत की गुट-निरपेक्षता और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति का परिचायक था। श्री शास्त्री अपने अल्प प्रधानमन्त्रित्व काल मे किसी भी महाशक्ति के दबाव मे नहीं आए। उन्होने अपने देश की स्वतन्त्र निर्णय-शक्ति को प्रतिष्ठा प्रदान की।

श्रीमती गांधी के नेतृत्व में गुट-निरपेक्षता की नीति (1966–मार्च, 1977)–जनवरी, 1966 में श्री शास्त्री के आकस्मिक निधन के बाद पण्डित नेहरू की इकलौती पुत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने प्रधानमन्त्री पद संभाला और उनके नेतृत्व मे भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति और भी सशक्त रूप मे निखरी। श्रीमती गांधी ने गुट-निरपेक्षता की नीति के आधारभूत सिद्धान्तो की रक्षा करते हुए अपने राष्ट्रीय हितों के अनुसार उसे बदलती हुई अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियो मे सफलतापूर्वक सचालित किया।

विभिन्न दबावों के बावजूद श्रीमती गांधी किसी भी महाशक्ति अथवा गुट-विशेष के प्रभाव से दूर रहीं। आवश्यकतानुसार उन्होंने पश्चिमी राष्ट्रों की भी आलोचना की और सोवियत संघ की भी। अमेरिका की अप्रसन्नता के बावजूद वियतनाम में भारत ने अपनी पूर्ववर्ती नीति जारी रखी तो चैकोस्लोवाकिया की घटना पर भारत रूसी कार्यवाही के विरुद्ध अपना गहरा क्षोभ प्रकट करने से नहीं चूका।

प्रारम्भ में ही अमेरिका ने श्रीमती गांधी के प्रति दबाव की नीति अपनायी, लेकिन वह उन्हें अपनी धमकियों से नहीं ला सका। बंगलादेश के सन्दर्भ में श्रीमती गांधी ने अमेरिका को कूटनीतिक पराजय दी तो दूसरी ओर रूस के मैत्रीपूर्ण रुख का स्वागत किया। रूस के साथ अगस्त, 1971 में मैत्री-सन्धि की गई, लेकिन गुट-निरपेक्षता और स्वतन्त्र निर्णय-शक्ति पर आंच नहीं आने दी। सन्धि की धारा 4 में यह स्पष्ट उल्लेख है कि सोवियत संघ भारत की गुट-निरपेक्ष नीति को स्वीकार करता है और उसे विश्व-शान्ति के लिए उपयोगी मानता है। सन्धि के सभी अनुच्छेदों की शब्दावली शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की विचारधारा को पुष्ट करने वाली, सैनिक गठबन्धनों का विरोध करने वाली तथा विवादों को 'पारस्परिक सम्मान और सूझबूझ द्वारा द्वि-पक्षीय ढंग से' निपटाने की समर्थक है। सन्धि सम्पन्न होने के उपरान्त अभी तक दोनों पक्षों की ओर से ऐसी कोई बात नहीं हुई है जो गुट-निरपेक्षता के विपरीत हो या किसी भी रूप में सैनिक गठबन्धन को समर्थन देती हो। दिसम्बर, 1971 में बंगलादेश के प्रश्न पर जो भारत-पाक युद्ध हुआ उसने गुट निरपेक्षता की नीति को पुन: सही सिद्ध कर दिया, पाकिस्तान को हथियार देने वाले पाकिस्तान को अंगूठा दिखा गए और देखते-देखते पाकिस्तान अपने एक भू-खण्ड को अपनी ही मूर्खता से खो बैठा।

उत्तर-वियतनाम के साथ जनवरी, 1972 में दौत्य सम्बन्धों की घोषणा कर श्रीमती गांधी ने अपनी स्वतन्त्र नीति का परिचय दिया। अक्तूबर, 1973 में चौथा अरब इजरायल युद्ध छिड़ने पर भारत का स्पष्ट मत रहा कि तनाव का मूल कारण इजरायल का अड़ियल रुख था। चूंकि अरबों का असन्तोष विस्फोटक सीमा तक पहुंच चुका था, अत: युद्ध के दायित्व के लिए उन्हें दोषी नहीं माना जा सकता। भारत का दृष्टिकोण यह था कि इजरायल अरब क्षेत्र से हट जाए, इजरायल को प्रभुत्वसम्पन्न देश के रूप में जीवित रहने का अधिकार प्राप्त हो और फिलिस्तीनी जनता के अधिकारों का समुचित समाधान खोजा जाए। भारत का यह दृष्टिकोण सन्तुलित और निष्पक्ष था और पहले ही की भांति गुट-निरपेक्ष नीति के अनुरूप था। युद्ध के बाद अरबों ने अपने 'तेल-अस्त्र' का प्रयोग कर विश्व के देशों के लिए विशेष-कर अल्प-विकसित राष्ट्रों के लिए—सङ्कट उत्पन्न कर दिया। भारत के प्रति भी कोई रियायत नहीं की गई। एक मित्रदेश के प्रति इस प्रकार के व्यवहार से भारतीय लोकमत काफी क्षुब्ध हो गया, किन्तु फिर भी भारत अरबों को अपना कूटनीतिक समर्थन देता रहा। अप्रेल, 1975 में कम्बोडियाई और वियतनामी युद्ध की समाप्ति और वहां से अमेरिका की लज्जाजनक पराजय ने भारत के इस मत

की पुष्टि की कि बड़े राष्ट्रों को दूसरे देशों के घरेलू मामलों मे हस्तक्षेप नही करना चाहिए और यदि छोटे देश गुट-निरपेक्ष नीति का अनुसरण करें तो इस प्रकार के हस्तक्षेप से बहुत कुछ बचा जा सकता है। पाकिस्तान और चीन के साथ सम्बन्ध सामान्य करने के लिए सन् 1976 में भारत ने जो पहल की वह इस नीति के प्रयोग का पुनः स्पष्ट प्रमाण था। 24 मई, 1976 को ससद् मे विदेश मन्त्रालय के कार्यों पर बहस के समय आम तौर से स्वीकार किया गया कि भारत और पाकिस्तान के बीच राजनयिक सम्बन्ध पुन कायम करने तथा चीन के साथ राजनयिक सम्बन्धो का दर्जा बढ़ाने के निर्णय भारत की विदेश नीति की प्रभावशाली उपलब्धि है। जुलाई, 1976 मे भारत-पाक के बीच विधिवत् राजदूत स्तर पर सम्बन्ध पुनः स्थापित हो गए और 20 सितम्बर, 1976 को जनवादी चीन गणराज्य के राजदूत श्री चेन चाऊ युवान ने भारत के राष्ट्रपति को अपना परिचय-पत्र प्रस्तुत कर दिया।

वास्तव में 1976 का सम्पूर्ण वर्ष भारत की गुट-निरपेक्ष नीति के जयघोष के साथ समाप्त हुआ। इस सन्दर्भ मे भारत सरकार के विदेश मन्त्रालय की 1976-77 की वार्षिक रिपोर्ट के कुछ महत्वपूर्ण अशों का उल्लेख उपयुक्त होगा—

"तनाव से अपेक्षाकृत मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के परिप्रेक्ष्य मे, समीक्षाधीन वर्ष मे भारत अपने पडोसियो, विकासशील विश्व तथा विकसित देशों के साथ सम्बन्ध सुधारने की दिशा में अपनी ओर से कुछ उद्देश्यपूर्ण कदम उठा सका। बहुत दिनो से चली आ रही कुछ समस्याओ का निराकरण हुआ और कुछ को बढने से रोका गया। भारत के रचनात्मक रवैये की अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय द्वारा प्रशसा की गई और शान्ति स्थापित करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढाने की दिशा मे इसे ठोस सहयोग माना गया। असुरक्षा अथवा शका की भावना मन मे लाए बिना, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र मे भारत ने कई अवसरो पर अपनी ओर से पहल की; जो वह एक तो अपनी अर्थ-व्यवस्था की गतिशीलता और लचीलेपन के कारण और दूसरे स्वातंत्र्योत्तर दशाब्दियो मे शिल्प विज्ञान और वैज्ञानिक आन्तरिक-सरचना के कारण ही कर सका। स्वतन्त्र और निष्पक्ष चुनावो के बाद मार्च, 1977 मे सरकार में शान्तिपूर्ण परिवर्तन हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इसका अनुकूल प्रभाव पडा और इससे सुदृढ लोकतन्त्रात्मक परम्पराओ पर आधारित हमारी दृढता और स्थिरता की एक तस्वीर उजागर हुई।"

"मतभेदो के बावजूद सयुक्त राज्यअमेरिका और सोवियत सघ ने तनाव-शैथिल्य की भावना मे अपना विश्वास पुनः व्यक्त किया। अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के विभिन्न पक्षो की दृष्टि से भारत ने शान्ति, स्वतन्त्रता और सुरक्षा की स्थिति को सुदृढ करने मे महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। यह स्वीकार करते हुए कि तनाव-शैथिल्य किसी एक क्षेत्र तक ही सीमित नही रहना चाहिए और इसका विस्तार ससार के सभी भागों मे होना चाहिए, भारत ने हिन्दमहासागर में विदेशी सैनिक उपस्थिति और अड्डों की स्थापना का विरोध किया। उसने इस नीति का समर्थन किया कि हिन्दमहासागर शान्ति-क्षेत्र रहना चाहिए जैसा कि अधिकांश तटवर्ती राज्य चाहते हैं और जैसा कि

संयुक्तराष्ट्र महासभा द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव मे भी कहा गया है । इसके अतिरिक्त वह हथियारो की होड रोकने को और सार्वभौम निरस्त्रीकरण तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे शक्ति का प्रयोग न किए जाने को अन्तर्राष्ट्रीय तनाव कम करने की दिशा में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कदम मानता है । उसने इस बात पर भी जोर दिया कि राष्ट्रो के बीच अहस्तक्षेप, समानता और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के आधार पर सहकारितापूर्ण सम्बन्ध स्थापित किए जाने चाहिए ।"

"अपने सभी पडोसियो के साथ सम्बन्ध सामान्य और अच्छे बनाने के प्रयत्नो द्वारा भारत ने स्वय अपने क्षेत्र मे तनाव-शैथिल्य की प्रक्रिया को आगे बढाने का प्रयास किया । द्विपक्षीय वार्ता के माध्यम से बहुत से मसले सुलझाये गए । श्रीलंका के साथ एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए जिसके आधार पर उसके साथ मिलने वाली समुद्री सीमा अंकित कर दी गई । मालदीव और भारत के बीच की समुद्री सीमा के परिसीमन के लिए मालदीव के साथ एक समझौता सम्पन्न हुआ । अफगानिस्तान और नेपाल के साथ सम्बन्ध मित्रतापूर्ण रहे । अफगानिस्तान और नेपाल के साथ मन्त्री और अधिकारी-स्तर पर यात्राओ के विनिमय से और इन यात्राओं के दौरान जो बातचीत हुई उसमे समझ बूझ और सद्भावना की भावना का परिचय मिला । चीन के साथ सम्बन्ध सामान्य करने की दिशा मे पहल की गई और राजदूत के स्तर पर उस देश के साथ राजनयिक सम्बन्ध पुन: स्थापित किए गए । पाकिस्तान के साथ भारत के सम्बन्धो मे जो परिवर्तन आया वह भी इस वर्ष की एक महत्त्वपूर्ण बात थी । सन् 1972 के शिमला-समझौते मे सामान्यीकरण के लिए जो कदम उठाने की बात सोची गई थी और जो किसी न किसी कारण स्थगित होती जा रही थी, वह इस वर्ष के मध्य मे एक ही राजनयिक बैठक मे निश्चित कर दी गई और इसमे दोनो देशो ने पूर्ण सहयोग दिया । जुलाई, 1976 मे दोनो देशो के बीच राजदूत स्तर पर पुन सम्बन्ध स्थापित हुए । इसके साथ ही दोनो देशो के बीच रेल-सम्पर्क भी पुनः स्थापित हुआ और निजी व्यापार भी फिर से चालू हो गया । बगला देश के साथ भी भारत अपने सम्बन्धो को सामान्य बनाने और उन्हे सुधारने की दिशा मे प्रयत्न करता रहा तथा आर्थिक एव वाणिज्यिक मामलो मे उसे कुछ हद तक सफलता भी मिली ।"

"अपने निकटतम पडोसियो के अतिरिक्त भारत दक्षिण-पूर्वी एशिया और पश्चिमी-एशिया के देशों के साथ द्विपक्षीय सम्बन्धो को सुदृढ करने तथा आर्थिक सहयोग के क्षेत्रो का पता लगाने के लिए निरन्तर कार्य करता रहा । इडोनेशिया के साथ समुद्री सीमा के सम्बन्ध में एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए । विदेश उपमन्त्री ने थाईलैण्ड, मलेशिया, सिंगापुर और फिलीपीन्स के साथ अपने मैत्री सम्बन्धो को सुदृढ करने तथा आर्थिक एव सास्कृतिक सहयोग की सम्भावनाओं का पता लगाने के उद्देश्य से इन देशो की यात्रा की । 'एसीयन' के माध्यम से क्षेत्रीय सहयोग के लिए इस क्षेत्र के देशो के प्रयास का भारत ने स्वागत किया तथा दक्षिण-पूर्व एशिया को शान्ति, स्वतन्त्रता और तटस्थता का क्षेत्र बनाने के सकल्प का समर्थन किया ।

लाम्रोस के राष्ट्रपति की भारत यात्रा से निकटतर आर्थिक सहयोग की सम्भावनाओं के द्वार खुले। भारत ने वियतनाम के दोनों क्षेत्रों के एकीकरण का स्वागत किया और वियतनाम के संयुक्त राष्ट्र में प्रवेश के लिए अपना समर्थन दोहराया। प्रधानमन्त्री के विशेष दूत की यात्राओं से तथा वियतनाम के विदेश मन्त्री की भारत यात्रा से दोनो देशों के बीच बहुत से क्षेत्रो मे अधिक सहयोग के द्वार खुले। पूर्वी एशिया मे भारत-जापान व्यापार सहयोग समिति और दोनों देशो के मन्त्रालयो के अधिकारियो की सलाहकार समिति की बैठकों के माध्यम से जापान के साथ निकट व्यापारिक और राजनयिक सम्बन्ध स्थापित हुए। कोरिया गणराज्य तथा कोरियाई लोक गणराज्य के साथ सम्बन्ध मित्रतापूर्ण रहे। जहाँ तक पश्चिमी एशिया का प्रश्न है, भारत ने अरबो के पक्ष के प्रति अपना समर्थन पुन: व्यक्त किया तथा इस क्षेत्र के सभी देशो के साथ निकटतर सम्बन्धो के लिए कार्य किया। भारत का यह दृढ विश्वास है कि अरबो के जो प्रदेश इजरायल के गैर-कानूनी अधिकार मे हैं उन प्रदेशो मे यदि इजरायल वापस हट जाए और फिलिस्तीनी लोगों को उनके वैध अधिकार पुन प्रदान कर दिए जाएँ तो अरब-इजरायल समस्या का एक स्थायी और न्यायोचित समाधान निकल सकता है। भारत और पश्चिम एशियाई देशो के बीच आर्थिक और वाणिज्यिक सम्बन्धो मे वृद्धि हुई। माल और तथ्यों के आदान-प्रदान के अतिरिक्त भारत ने इस क्षेत्र के लिए तकनीकी और अर्द्ध-कुशल जनशक्ति की आपूर्ति बहुत बडी मात्रा मे बढा दी जो अरब देशो के साथ भारतीय सहयोग की एक विशेष बात है। इस क्षेत्र के साथ अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की एक नई विशेषता यह थी कि भारत ने सामग्री और तकनीकी ज्ञान प्रदान कर इस क्षेत्र के औद्योगीकरण मे अत्यधिक योगदान दिया।"

"अफ्रीका मे तजानिया और जाम्बिया के साथ व्यापक पैमाने पर तकनीकी और आर्थिक सहयोग किया गया। अन्तर्सरकारी सहयोग के अन्तर्गत हजारो भारतीय विशेषज्ञो को चुनकर इन देशो के आन्तरिक सरचना के विकास की विभिन्न शाखाओ मे नियोजित किया गया। अफ्रीका मे पुर्तगाल के अधीनस्थ जो उपनिवेश थे उनकी स्वतन्त्रता के बाद अन्तर्राष्ट्रीय जगत् का ध्यान जिम्बाबवे के मुक्ति-सघर्ष पर केन्द्रित हुआ। प्रभावी बहुसख्यक-शासन का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए सघर्षरत जिम्बाबवे के लोगो को सभी सम्भव सहायता देने के अपने वचन को भारत ने पुन: दोहराया। इसी प्रकार भारत ने दक्षिणी अफ्रीकी सरकार द्वारा नामिबिया पर निरन्तर गैर-कानूनी अधिकार की निन्दा की और कहा कि 'स्वापो' के नेतृत्व मे आजादी के लिए वैध सघर्ष करने वाले नामिबियाई लोगो का समर्थन करेगा। दक्षिण अफ्रीका मे जातीय पृथग्वासन के विरुद्ध सघर्ष मे भारत के योगदान की सराहना करने के लिए सयुक्त राष्ट्र मे जातीय पृथग्वासन विरोधी समिति ने एक विशेष बैठक बुलायी जो एक असाधारण सद्भावनापूर्ण बात थी।"

"समीक्षाधीन अवधि मे भारत और यूरोपीय आर्थिक समुदाय तथा पश्चिमी यूरोप के अन्य देशो के बीच वर्तमान सहयोग के लिए वाणिज्यिक, प्रौद्योगिक और

आर्थिक सम्बन्ध और अधिक विकसित हुए। राजनीतिक क्षेत्र में उच्च स्तर पर यात्राओं के विनिमय के माध्यम से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध कायम रखे गए। अप्रैल, 1977 में जर्मन संघीय गणराज्य के विदेश मन्त्री की यात्रा से उस देश के साथ बेहतर समझ-बूझ और सहयोग की सम्भावनाएँ दृष्टिगोचर हुईं।"

"संयुक्तराज्य अमेरिका के साथ सहयोग विकसित करने के तरीके और उपाय खोजने के लिए विभिन्न स्तरों पर हुई बातचीत उस देश के साथ भारत के सम्बन्धों की दिशा में एक विशेष बात थी। अमेरिका ने मुक्त और निष्पक्ष चुनावों के परिणामस्वरूप लोकतन्त्रात्मक उपायों से सरकार में शान्तिपूर्ण परिवर्तन की सराहना की और उत्तम समझ-बूझ का परिचय दिया। भारत को आशा है कि समानता, सद्भाव और पारस्परिक लाभ के आधार पर संयुक्तराज्य के साथ निकट सम्बन्धों का विकास हो सकेगा। गुट-निरपेक्ष समूह के सदस्य के रूप में दक्षिण और मध्य अमेरिका के कई देशों के साथ भारत के सम्बन्धों के सहयोग की अधिक सम्भावनाएं दृष्टिगोचर हुईं। भारत ने कई द्विपक्षीय समझौतों पर हस्ताक्षर किए तथा इस क्षेत्र के देशों के साथ अपना सहयोग बढ़ाने के लिए यात्राओं के विनिमय के माध्यम से अपने सम्बन्ध विकसित किए।"

"गरीब और अमीर देशों के बीच की असमानता के कारण विश्व समुदाय के समक्ष जो आर्थिक चुनौतियाँ हैं उनकी ओर भारत का ध्यान निरन्तर केन्द्रित रहा। बाहरी दबाव का मुकाबला करने के लिए यह आवश्यक है कि विकासशील देशों में आत्मविश्वास और परस्पर सहयोग हो और इसके लिए यह जरूरी है कि संसार के अर्थतन्त्र की निर्णयात्मक प्रक्रिया में कुछ पुनर्वितरण करने के प्रयास किए जाएँ।"

"जुलाई, 1976 में नई दिल्ली में प्रेस एजेन्सी पूल के सम्बन्ध में गुट निरपेक्ष देशों के मन्त्रि-स्तर सम्मेलन में भारत ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी जिसमें गुट-निरपेक्ष देशों की प्रेस एजेन्सियों का एक पूल बनाने की सिफारिश की गई। कोलम्बो शिखर-सम्मेलन में भारत ने गुट-निरपेक्षता की अपेक्षा और गुट-निरपेक्ष देशों के बीच एकता और सहयोग के महत्त्व पर बल दिया।"

श्री मोरारजी देसाई के नेतृत्व में गुट निरपेक्षता की नीति (मार्च-दिसम्बर, 1977)—प्रधानमन्त्री श्री देसाई ने अपनी सरकार द्वारा गुट-निरपेक्षता और सह-अस्तित्व की नीति का अनुसरण करते रहने की घोषणा की। कुछ राजनीतिक क्षेत्रों में यह महसूस किया जा रहा था कि नई सरकार सामयिक समस्याओं पर तटस्थ राष्ट्रों के दृष्टिबिन्दु के प्रति मित्रतापूर्ण दृष्टिकोण नहीं रखेगी, गुट-निरपेक्षता की नीति पर पहले की भाँति न चलकर अमेरिका परस्त हो जाएगी, आदि। लेकिन प्रधानमन्त्री श्री देसाई और विदेश मन्त्री श्री वाजपेयी ने इन भ्रान्तियों को दूर कर दिया। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि भारत की विदेश-नीति में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं होगा। अप्रैल, 1977 में नई दिल्ली में 25 राष्ट्रों के तटस्थ सम्मेलन में नई सरकार की घोषणा की जांच हुई। 25 सदस्यों के ब्यूरो को सम्बोधित करते हुए

श्री देसाई ने स्पष्ट शब्दों मे कहा कि गुट-निरपेक्षता अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की मुख्य धारा बन गई है। भारत के लिए यह राष्ट्रीय मतैक्य की बात है और भारत सच्चे अर्थ में गुट-निरपेक्ष रहेगा। विदेश मन्त्री ने कहा कि कोलम्बो शिखर-सम्मेलन के निर्णय को ठोस और समन्वित ढंग मे क्रियान्वित करने की आवश्यकता है। उन्होंने कहा कि गुट-निरपेक्ष देशों के समक्ष आज चुनौती इस बात की है कि अपनी सामूहिक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए उनमे कितनी प्रबल शक्ति है, कितनी समन्वय-शक्ति है, कितनी आपस मे बांट लेने की शक्ति है और यदि आवश्यकता पड जाए तो सामूहिक प्रयास और आत्म-विश्वास के माध्यम से इन्हे प्राप्त कर लेने के लिए कितना त्याग करने की शक्ति है। भारत का यह विश्वास है कि विकासशील देशों को पारस्परिक सहयोग तथा आत्मविश्वास के माध्यम से अपने हितों की रक्षा करनी चाहिए, लेकिन यह भी आवश्यक है कि पारस्परिक लाभ पर आधारित न्यायोचित अन्योन्याश्रयता विकसित की जाए जिसमे ऐसी नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के द्वार खुले जिसमे समग्र शान्ति और समृद्धि पर आधारित आर्थिक और राजनीतिक स्थिरता की नींव रखी जा सके।"

नई सरकार के नेतृत्व मे सन् 1977 की समाप्ति तक यह बात निःसंदिग्ध रूप मे स्पष्ट हो गई है कि भारत गुट-निरपेक्षता की नीति पर दृढ़ है। विश्व के समक्ष निर्गुट नीति की अनिवार्यता मे कोई सन्देह नही रहा है। निर्गुट नीति पर चलते हुए ही अमेरिका के साथ भारत के सम्बन्धो मे तेजी से सुधार हो रहा है और जनवरी, 1978 के प्रथम सप्ताह मे अमेरिकी राष्ट्रपति कार्टर की भारत-यात्रा की सम्भावना है। अक्तूबर, 1977 मे प्रधानमन्त्री श्री देसाई ने सोवियत संघ की यात्रा की थी और दोनो देशो ने शान्ति, विकास और सहयोग के लिए गुट-निरपेक्ष-नीति को अपना सुदृढ समर्थन दिया था। विदेश मन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने भी अक्तूबर, 1977 मे संयुक्तराष्ट्र महासभा को सम्बोधित करते हुए भारत की विदेश नीति के महत्त्वपूर्ण पहलुओं को विस्तार से स्पष्ट किया था। श्री वाजपेयी के भाषण मे नई सरकार के दृष्टिकोण और भारतीय विदेश-नीति की सार्थकता का सबल स्पष्टीकरण हुआ।

संयुक्तराष्ट्र महासभा में विदेश मन्त्री श्री वाजपेयी का नीति-सम्बन्धी भाषण

न्यूयार्क मे 4 अक्तूबर, 1977 को संयुक्तराष्ट्र महासभा को सम्बोधित करते हुए विदेशमन्त्री, श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने कहा—

"भारतवर्ष मे हाल ही में एक ऐतिहासिक और अहिंसात्मक क्रान्ति हुई। गत मार्च मे हुए चुनावो मे भारतीय जनता ने मानव की दुर्दम्य आत्मशक्ति का परिचय दिया और एक स्वतन्त्र और उन्मुक्त समाज मे अपनी आस्था की पुष्टि की। उन्होंने लोकतन्त्र को नष्ट करने के तामसी तथा निरंकुश शक्तियों के धूर्ततापूर्ण प्रयत्नों को निर्णायक रूप से पराजित कर दिया। सारे देश की 60 करोड जनता के लिए मार्च की यह क्रान्ति स्पष्टतया दूरगामी महत्त्व की है, साथ ही समस्त संसार के स्वतन्त्रता प्रेमी लोगों के लिए भी यह उतनी महत्त्वपूर्ण है।

"हमारी जनता ने निर्भीक होकर उन मूलभूत सिद्धान्तों, जीवन-मूल्यों तथा आकांक्षाओं की पुष्टि की जिन पर लगभग 30 वर्ष पहले संयुक्त राष्ट्रसंघ की आधारशिला रखी गई थी। भारत के लोगों ने अपनी खोई हुई स्वतन्त्रता और मूलभूत मानव-अधिकार पुन: प्राप्त कर लिए। मैं भारतीय जनता की ओर से संयुक्त राष्ट्रसंघ के लिए शुभकामनाओं का सन्देश लाया हूँ। महासभा के इस 32वें अधिवेशन के अवसर पर मैं संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारत की दृढ़ आस्था को पुनः व्यक्त करना चाहता हूँ। हमारा विश्वास है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ विश्व में शान्ति और सुरक्षा कायम रखने और राष्ट्रों के बीच सहयोग के माध्यम से समानता, न्याय और समता पर आधारित शान्तिपूर्ण प्रगति को प्रोत्साहित करने का उपकरण बनेगा।

"जनता सरकार शान्ति, गुट-निरपेक्षता और सब देशों के साथ मैत्री की नीति का दृढ़ता से अनुसरण कर रही है। ये नीतियाँ सदा से भारत के राष्ट्रीय मंतव्य और परम्परा पर आधारित रही हैं। गुट-निरपेक्षता अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में राष्ट्रीय सम्प्रभुता का विस्तार है। इसका मूल तत्व तटस्थता न होकर स्वाधीनता है जो उपनिवेशवाद के विरुद्ध हमारे राष्ट्रीय संघर्ष और दासता तथा दमन से मानव-चेतना की मुक्ति का सहज परिणाम है। हम राष्ट्रों की सच्ची स्वतन्त्रता में विश्वास रखते हैं। हमारी मान्यता है कि हर देश को अपने सर्वोत्तम राष्ट्रीय हितों के अनुकूल नीति अनुसरण करने तथा प्रत्येक समस्या पर गुणों के आधार पर विचार करने तथा निर्णय लेने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

"नई सरकार के शासन सम्भालते ही न केवल गुट-निरपेक्षता के मार्ग पर चलते रहने की अपितु उसके मौलिक तथा सकारात्मक रूप को पुन: प्रतिष्ठित करने की घोषणा की। यह सन्तोष का विषय है कि वास्तविक गुट-निरपेक्षता पर हमारे द्वारा दिए गए जोर और इस नीति को उत्साह और गतिशीलता से आगे बढ़ाने के हमारे निर्णय को सही अर्थों में देखा और समझा गया है।

"वसुधैव कुटुम्बकम' की परिकल्पना पुरानी है। भारतवर्ष में सदा से हमारा इस धारणा में विश्वास रहा है कि संसार एक परिवार है। अनेकानेक प्रयत्नों और प्रयोगों के बाद संयुक्त राष्ट्रसंघ के रूप में इस स्वप्न के अब साकार होने की सम्भावना है क्योंकि संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता लगभग विश्वव्यापी हो गई है और वह 400 करोड़ लोगों का जो विभिन्न जातियों, रंगों और समुदायों के हैं, प्रतिनिधित्व करता है, तथापि यह आवश्यक है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ केवल सरकारी प्रतिनिधि-मण्डलों का मिलन मंच मात्र न रहे। हमें इस लक्ष्य को ध्यान में रखना चाहिए कि किसी प्रकार राष्ट्रों की महासभा मानवता के सामूहिक विवेक और इच्छा-शक्ति का प्रतिनिधित्व करने वाली मानव की संसद् का रूप ले सके।

"संयुक्त राष्ट्रसंघ का घोषणापत्र केवल राष्ट्रों की ओर से या राष्ट्रों के लिए किया गया आह्वान मात्र नहीं है। यह संसार के समस्त लोगों द्वारा किया गया उद्घोष है कि अपनी भावी पीढ़ियों की युद्ध की विभीषिका से रक्षा की जाए और वास्तविक स्वतन्त्रता के वातावरण में एक नई विश्व-व्यवस्था की रचना की जाए।

"हमारी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे निरन्तर सर्वोच्च स्थान मनुष्य, उसके सुख और कल्याण तथा मानव की आधारभूत एकता को मिलना चाहिए। मेरा अभिप्राय किसी आकृतिहीन मानव से नही है जो अतीतकाल से निरकुशता को थोपने का बहाना रहा है, मेरा मतलब जीते जागते मानव से है। उसकी सवेदनाएँ और अपेक्षाएँ, उसका सुख और दुःख हमारे प्रयत्नो का केन्द्र-बिन्दु होना चाहिए।

"हम विश्व-शान्ति के, ऐसी शान्ति के जो जीवन्त है, प्रबल समर्थक हैं। विश्व-शान्ति हमारे सब प्रयत्नो की आधारशिला है। शान्ति की परिभाषा केवल युद्ध न होना मात्र ही नही है। विश्व-शान्ति का ताना-बाना किसी समय भी छिन्न-भिन्न हो सकता है। उसका सरक्षण तो केवल उन सामूहिक प्रयत्नो से हो सकता है जो राष्ट्रो के बीच विद्यमान असमानता और असन्तुलन को मिटा सकें, एक राष्ट्र पर दूसरे राष्ट्र के प्रभुत्व और शोषण का अन्त कर सकें और ससार के समस्त लोगो को समानता के आधार पर अवसर और अधिकार प्रदान कर सकें।

"निःसदेह हर देश अपने राष्ट्रीय हितो का सरक्षण और सवर्धन करना चाहता है। पर कोई देश सबसे अलग-थलग होकर अपनी चहारदीवारी के भीतर नही रह सकता। हमे यह समझना होगा कि विश्व के देशों मे पारस्परिक निर्भरता के अतिरिक्त कोई और चारा नही है। इसी मे विश्व के मानव का कल्याण है। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम सब अपने-अपने राष्ट्रीय क्षितिजो के पार दृष्टि दौडाएँ। पारस्परिक सहकारिता और त्याग की प्रवृत्ति को बल देकर ही मानव-समाज प्रगति और समृद्धि का पूरा-पूरा लाभ उठा सकता है।

"अध्यक्ष महोदय, महासभा के समक्ष जो कार्यसूची है उसमे ससार की कई महत्त्वपूर्ण समस्याएँ सम्मिलित हैं। मै इनमे से कुछ ऐसे विशिष्ट प्रश्नो का उल्लेख करना चाहूँगा जितना तात्कालिक महत्त्व है और जिनको हमारे इस सामूहिक विचार-विनिमय मे प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

"हमारे सामने सबसे बडी समस्या दक्षिणी अफ्रीका मे मानव-अधिकारों और स्वतन्त्रता के लिए हो रहे महान् सघर्ष की है। भारत ने सदैव ही राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे अनावश्यक रक्तपात और हिसा का विरोध किया है। हम अहिसा मे आस्था रखते हैं और चाहते हैं कि विश्व के सघर्षों का समाधान शान्ति और समझौते के मार्ग से हो। स्वाधीनता के अन्धकारपूर्ण काल मे भी भारत अपने आधारभूत सिद्धान्तो पर दृढ था। ये सिद्धान्त थे औपनिवेशिक दमन का तीव्र विरोध और रगभेद के प्रत्येक रूप तथा मानव-अधिकारों के प्रत्येक हनन की पूर्ण अस्वीकृति। इन सिद्धान्तो के प्रति स्वतन्त्र भारत की श्रद्धा आज भी अधिक गहरी है।

"अफ्रीका मे चुनौती स्पष्ट है। प्रश्न यह है कि किसी जनता को स्वतन्त्रता और प्रतिष्ठा से रहने का अपरिहार्य अधिकार है या रगभेद में विश्वास रखने वाला अल्पमत किसी विशाल बहुमत पर हमेशा अन्याय और दमन करता रहेगा। निःसंदेह रंगभेद के सभी रूपो का जड़ से उन्मूलन होना चाहिए। रगभेद निश्चित रूप से

समाप्त होना चाहिए। इसका अस्तित्व मानवता पर कलंक और संयुक्त राष्ट्रसंघ पर गम्भीर आक्षेप है।

"भारत चाहता है कि जिम्बाबवे की समस्या का शान्तिपूर्ण ढंग से प्रतिशीघ्र समाधान हो। भारत ने इसी सन्दर्भ में आंग्ल अमेरिकी प्रस्तावों के उन अंशों का स्वागत किया है जो एक विशिष्ट समयावधि में वास्तविक बहुमत शासन की स्थापना की ओर इंगित करते हैं। आशा है कि इस विषय पर हाल ही में सुरक्षा परिषद् में स्वीकृत प्रस्ताव से युद्ध-विराम होगा और अन्ततोगत्वा समस्या का समाधान निकलेगा। यह अधिकांश इस बात पर निर्भर है कि इयान स्मिथ का अवैधानिक शासन दुराग्रह और अक्खड़ त्यागने तथा विवेकशील दृष्टिकोण अपनाने को तैयार है या नहीं।

'जब तक स्मिथ सरकार हटा नहीं दी जाती और जब तक लम्बे समय से त्रस्त जनता को स्वाधीनता पुनः प्राप्ति नहीं हो जाती, हम यह कैसे आशा कर सकते हैं कि स्वतन्त्रता के सेनानी अपने हथियार रख देंगे। भारत जिम्बाबवे में अपनी स्वतन्त्रता के लिए संघर्षरत देशभक्त-शक्तियों के प्रति अपने ठोस समर्थन की पुनः पुष्टि करता है जो अत्यन्त विषम परिस्थितियों में अपनी मुक्ति के लिए बहादुरी से संघर्ष कर रहे हैं। अगर सत्तारूढ़ बने रहने के निष्फल प्रयास में इयान स्मिथ विश्व-जनमत की जानबूझ कर अवहेलना करेगा तो संयुक्त राष्ट्रसंघ को अपने समस्त अधिकारों का प्रयोग कर अवैधानिक और अल्पमत वाली सत्ता और उसके समर्थक दक्षिण अफ्रीका के विरुद्ध अनिवार्य प्रतिबन्धों को अधिक व्यापक बनाना होगा। इसी से अवैधानिक शासन का अन्त निकट आएगा और जिम्बाबवे की जनता को अपने भाग्य के स्वयं निर्णय का अधिकार प्राप्त होगा।

"नामीबिया में भी, जिसे अन्तर्राष्ट्रीय राज्य क्षेत्र का स्तर प्राप्त है, संयुक्त राष्ट्रसंघ की सत्ता विश्वसनीयता और प्रतिष्ठा को समान चुनौती का सामना करना पड़ रहा है। अभी यह देखना शेष है कि पाश्चात्य देशों के प्रयत्न दक्षिण अफ्रीकी सरकार को नामीबिया छोड़ने के लिए कहाँ तक तैयार करते हैं ताकि संयुक्त राष्ट्र के प्रस्ताव क्रियान्वित हो सकें। वालविस वे की, जो नामीबिया का एक भाग है, में स्मिथ के प्रान्त में शामिल करने के दक्षिण अफ्रीका के निर्णय की हम निन्दा करते हैं। उसी तरह नामीबिया के एक क्षेत्र का अणु परीक्षण के लिए कथित उपयोग करने की योजना की भी हम भर्त्सना करते हैं।

"हम पूर्ण रूप से स्वापो (दक्षिणी, पश्चिमी अफ्रीकी जन संस्था) के साथ हैं और सभी देशों को उसके प्रतिनिध्यात्मक स्वरूप को स्वीकार करने की अपील करते हैं। यदि स्वतन्त्रता प्राप्ति का यही एक मात्र उपाय रह जाता है तो हम नामीबिया की जनता से यह अपेक्षा नहीं कर सकते कि वह अपना सशस्त्र संघर्ष छोड़ दे। किन्तु हम समस्या का समाधान केवल स्वापो के प्रयत्नों और संघर्ष पर ही नहीं छोड़ सकते। इस कार्य में संयुक्त राष्ट्रसंघ का सामूहिक और प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व है संयुक्त राष्ट्रसंघ ने दक्षिण अफ्रीकी सरकार को नामीबिया से पूर्ण रूप से हट जाने के लिए बाध्य करने की अपनी सामर्थ्य का निश्चय ही अभी तक पूरा उपयोग नहीं किया है।

"जब दक्षिण अफ्रीका में हम उपनिवेशवाद और रंगभेद के निकृष्टतम रूप का सामना कर रहे हैं। पश्चिमी एशिया में विश्वशान्ति को और भी अधिक विस्फोटक खतरा है। यहाँ भी कुछ मूलभूत सिद्धान्तों का प्रश्न है। प्रथम, किसी को भी आक्रमण के लाभों का उपयोग करने की छूट नहीं दी जा सकती। दूसरे, किसी भी जनसमूह को अपने ही देश में रहने के अपरिहार्य अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता। तीसरे, सीमा सम्बन्धी सभी विवाद शक्ति-प्रयोग द्वारा नहीं बल्कि बातचीत द्वारा सुलझाए जाने चाहिएं।

"इस दृष्टि से देखा जाए तो स्पष्ट है कि इजरायल ने बल-प्रयोग द्वारा जिन क्षेत्रों पर अवैध रूप से कब्जा किया है उसे मान्यता नहीं दी जा सकती। आक्रमण समाप्त होना ही चाहिए। यह भी आवश्यक है कि फिलिस्तीन के अरब लोगों को, जिन्हें बलपूर्वक अपने घरों से निष्कासित कर दिया गया है, पुन: अपने देश में लौटने के अपहरणीय अधिकार का उपयोग करने दिया जाए। इस क्षेत्र के सभी लोगों और राज्यों को अपने पड़ोसियों के साथ शान्ति और मेल-मिलाप से रहने का अधिकार है। इस भूखण्ड की समस्याओं के स्थायी समाधान के लिए यह एक आवश्यक शर्त है। अभी हाल में इजरायल ने वेस्ट बैंक और गाजा में नई बस्तियां बसाकर अधिकृत क्षेत्र में जनसंख्या परिवर्तन का जो प्रयत्न किया है संयुक्त राष्ट्रसंघ को उसे पूरी तरह अस्वीकार और रद्द कर देना चाहिए।

"यदि इन समस्याओं का सन्तोषजनक और त्वरित समाधान नहीं होता तो इसके दुष्परिणाम इस क्षेत्र के बाहर भी फैल सकते हैं। यह अति आवश्यक है कि जिनेवा सम्मेलन का शीघ्र ही पुनः आयोजन किया जाए और उसमें पी. एल. ओ. को प्रतिनिधित्व दिया जाए।

"साइप्रस की स्थिति का भी समाधान शेष है। हमें अब भी आशा है कि द्विपक्षीय सामुदायिक वार्ताएँ पुनः आरम्भ होंगी और समस्या का ऐसा हल निकलेगा जो साइप्रस गणराज्य की क्षेत्रीय अखण्डता, सार्वभौमिकता और गुट-निरपेक्षता के अनुरूप होगा।

"अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में आर्थिक समस्याओं का महत्व अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है। समानता और न्याय पर आधारित एक नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की परिकल्पना को विश्व-समाज में मान्यता प्राप्त हो गई है। अब इसे मूर्तरूप देने की दिशा में शीघ्र अग्रसर होना है जिससे विश्व के सभी नर-नारियों को अधिक न्यायसंगत और समुचित अवसर तथा अपने श्रम के लाभ प्राप्त हों।

"इसमें संदेह नहीं कि विकसित देशों की अपनी आन्तरिक सामाजिक और आर्थिक समस्याएं हैं। लेकिन उनके लिए अपने दृष्टिकोणों और नीतियों को तात्कालिक तथा संकीर्ण राष्ट्रीय हितों के ऊपर उठाना आवश्यक है। यह पूछा जा सकता है कि क्या विकसित देशों को आर्थिक ढांचे की समस्याओं के समाधान का युक्तिसंगत और प्रबुद्ध उपाय यह नहीं है कि इन देशों से विकासशील देशों में विशिष्ट मात्रा में वित्तीय और औद्योगिक क्षमता का स्थानान्तरण किया जाए। समृद्ध देशों की

बेरोजगारी और आर्थिक उथल-पुथल का समुचित समाधान संसार के तीन अरब लोगों की क्रय-शक्ति में वृद्धि होने पर ही हो सकता है।

"भारत ने इस विषय में अन्तर्राष्ट्रीय विचार-विमर्श में उत्साह और ईमानदारी से भाग लिया है। हमारी मान्यता रही है कि ससार के आर्थिक रोगों का निवारण संघर्ष की भावना को बल देने से नहीं, वरन् अन्तर्राष्ट्रीय पारस्परिक निर्भरता और सहयोग की नई भावना जाग्रत करने से होगा।

"भारत सब देशों से मैत्री चाहता है और किसी पर प्रभुत्व नहीं चाहता। जनता सरकार सभी देशों के साथ स्नेह, सहयोग और समझदारी के सेतु निर्माण करने के लिए सक्रिय है। सर्वप्रथम हमारा ध्यान निकटस्थ पड़ोसी देशों के साथ सम्बन्ध सुदृढ़ करने की ओर गया है। मैं यह मैत्री-सन्देश लेकर हाल ही में नेपाल, बर्मा और अफगानिस्तान गया था। पाकिस्तान के साथ सम्बन्धों को सामान्य बनाने की प्रक्रिया को हम सुदृढ़ करना चाहते हैं जिससे न केवल स्थायी शान्ति कायम हो बल्कि लाभदायक सहयोग में भी वृद्धि हो।

"चार दिन पूर्व 30 सितम्बर, 1977 को भारत और बंगलादेश के प्रतिनिधियों ने गंगाजल की समस्या पर हुए एक समझौते पर प्रथम हस्ताक्षर किए हैं। यह एक व्यापक समझौता है जिसमें अल्पकालीन समस्या का समाधान किया गया है और दीर्घकालीन समस्या के समाधान की नींव डाली गई है। इससे दोनों देशों की समुचित आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकेगी।

'पिछले एक वर्ष में दक्षिण एशिया के देशों में अनेक राजनीतिक परिवर्तन हुए हैं। फिर भी इन देशों के लोगों को इस बात का श्रेय मिलना चाहिए कि दक्षिण एशिया पिछले कई दशकों की अपेक्षा आज तनाव से अधिक मुक्त है। यदि सचमुच दक्षिण एशिया में शान्ति और सहयोग का मार्ग प्रशस्त हो जाए तो हम सब, जिन पर विकास का समान बोझ है, अपने विकास की ओर अधिक ध्यान दे सकेंगे और अपने ससाधनों को विनाश से हटाकर विकास में लगा सकेंगे।

'वस्तुत हम यह विशेष अपील करते हैं कि हमारे चारों तरफ के हिन्द महासागर के विशाल क्षेत्र को बड़ी शक्तियों की प्रतिद्वन्द्विता और सैनिक अड्डों से मुक्त रखा जाए जिनका उपयोग आक्रमण के लिए हो सकता है। विस्तृत परिप्रेक्ष्य में भारत तनाव-शैथिल्य के प्रयत्नों का स्वागत करता है। भारत चाहता है कि तनाव-शैथिल्य केवल यूरोप तक ही सीमित न रहकर विश्वव्यापी हो और उसके लाभ विश्व के सब देशों और लोगों को प्राप्त हों।

"वर्षानुवर्ष संयुक्त राष्ट्रसंघ में अनगिनत प्रस्ताव पारित किए गए हैं जिनमें पूर्ण नि शस्त्रीकरण, विशेषकर आणविक नि शस्त्रीकरण की माँग की गई है। अणु शस्त्रों की दौड़ बहुत भयावह स्थिति में पहुँच गई है। विनाशकारी हथियारों के अम्बार ने संसार को भारी दुविधा में डाल दिया है। हमसे कहा जाता है कि युद्ध रोकने के लिए आणविक शस्त्र आवश्यक हैं और यह कि इन शस्त्रों के प्रयोग का डर ही युद्ध की रोकथाम करने में समर्थ हो सकता है। हम इस दावे को स्वीकार नहीं करते।

"हमारी धारणा यह है कि आणविक शस्त्र खतरनाक हैं, भले ही वे एक देश के पास हों, कुछ देशों के पास हो या कई देशों के पास हों। हम केवल आणविक शस्त्रों के विस्तार के विरुद्ध नहीं है, वस्तुतः हम तो आणविक शस्त्रों के ही विरुद्ध हैं। भारत सदा से ही आणविक शस्त्रों को प्राप्त करने और उन्हे विकसित करने का विरोधी रहा है।

"तथ्य तो यह है कि भारत पहला देश था जिसने संयुक्त राष्ट्रसंघ मे 20 वर्ष पूर्व समस्त आणविक शस्त्रों के परीक्षण पर रोक लगाने का मामला उठाया था। उस समय बड़ी शक्तियाँ हमारी बात को सुनने के लिए तैयार नही थी। जब वे तैयार हुई तो उन्होने केवल आंशिक परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि (पार्शल टेस्ट बैन ट्रीटी) पर हस्ताक्षर किए। यह 15 वर्ष पूर्व की बात है। उस समय विश्व मे हर्ष की लहर दौड़ गई और यह आशा बलवती हुई कि व्यापक परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि (कम्प्रिहेंसिव टेस्ट बैन ट्रीटी) पर भी जल्दी ही समझौता हो जाएगा। किन्तु हम अभी भी उसकी राह देख रहे हैं। आंशिक प्रतिबन्ध लागू करने के बाद, पहले की बजाय अधिक अणुशस्त्र परीक्षण हुए है। भूमिगत शस्त्र परीक्षण तो अभी भी जारी हैं। आणविक निःशस्त्रीकरण की दिशा मे कोई प्रगति नही हुई है।

"भारत न तो आणविक शस्त्र-शक्ति है और न बनना चाहता है। नई सरकार ने असंदिग्ध शब्दो मे इस बात की पुनर्घोषणा की है। हमारे प्रधानमन्त्री, श्री मोरारजी देसाई ने कहा है कि यदि विश्व के अन्य सभी देश आणविक शस्त्रों का निर्माण करने लगें तब भी भारत आणविक शस्त्रों के निर्माण की ओर अग्रसर नही होगा। हमने अणु-शस्त्रों के प्रसार को रोकने वाली सन्धि (एन पी टी) पर हस्ताक्षर नही किए क्योकि हम उसे एक असमान और भेदमूलक सन्धि समझते हैं। यह सन्धि दस वर्ष पूर्व तैयार हुई थी। जब से अब तक ऐसी कोई घटना नही घटी जिसके कारण हमें अपने दृष्टिकोण मे परिवर्तन करने की आवश्यकता अनुभव हुई हो।"

पाकिस्तान के साथ भारत के सम्बन्ध

भारत के विभाजन की कीमत पर अगस्त, 1947 मे पाकिस्तान अस्तित्व मे आया। यह आशा की गई थी कि देश के विभाजन से शान्ति और मैत्री को प्रोत्साहन मिलेगा लेकिन दुर्भाग्यवश पाकिस्तान का रवैया उसके जन्मकाल से अब तक भारत के प्रति शत्रुतापूर्ण रहा है। सीमा-उल्लंघन, तोड़-फोड़, जासूसी आदि की घटनाओं की तो गिनती ही नही, भारत के विरुद्ध पाकिस्तान चार बार आक्रामक कदम भी उठा चुका है—पहली बार सन् 1947 मे, दूसरी बार अप्रैल, 1965 मे कच्छ पर आक्रमण द्वारा, तीसरी बार सितम्बर, 1965 मे और चौथी बार दिसम्बर, 1971 मे। भारत ने इन आक्रमणों के बावजूद भी पाकिस्तान के प्रति मैत्री, सहयोग और उदारता का परिचय दिया है। ताशकन्द और शिमला समझौते इस बात के जीते-जागते प्रमाण हैं; तथापि इसे पुन. दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि भारत के प्रति पाकिस्तान का रवैया फिर भी शत्रुतापूर्ण है और युद्ध तथा धमकी की भाषा मे बात करता है। हाल ही मे फरवरी, 1975 मे श्री भुट्टो ने भारत को युद्ध की

धमकी देते हुए 'विश्व युद्ध होने से भी संकोच न करते' तक की चेतावनी दे डाली थी। इसका उत्तर रक्षा मन्त्री सरदार स्वर्णसिंह ने इन शब्दो मे दिया था—"हम शान्ति चाहते हैं, किन्तु यदि कोई खुदकशी पर आमादा हो तो सिवाय लड़ाई के हमारे पास क्या चारा है? पाकिस्तान हमला करेगा तो उसको ऐसी सजा मिलेगी जो अब तक नही मिली।"[1]

भारत और पाकिस्तान के सम्बन्धो का हम तीन युगों में विभाजन करके अध्ययन कर सकते हैं—नेहरू युग, शास्त्री युग और इन्दिरा युग।

नेहरू युग (अगस्त, 1947–मई, 1964)

प्रधानमन्त्री श्री नेहरू ने अपने शासन-काल मे पाकिस्तान के प्रति मैत्री, सहानुभूति और भाईचारे की नीति अपनायी, लेकिन उन्हे मृत्युपर्यन्त पाकिस्तानी रवैये से निराशा ही हाथ लगी। नेहरू का प्रधानमन्त्रित्व-काल भारत की विदेश नीति का 'आदर्शवादी युग' था। यद्यपि चीनी आक्रमण के बाद नवम्बर, 1962 से इसने यथार्थवादी मोड़ लिया।

जूनागढ़ और हैदराबाद का भारत मे विलय—भारतीय क्षेत्र की रियासत जूनागढ के नवाब ने जब अपनी रियासत को पाकिस्तान के साथ मिलाना चाहा तो जनता ने विद्रोह कर दिया। जूनागढ का नवाब पाकिस्तान भाग गया और रियासत के दीवान तथा वहाँ की पुलिस (जिनके हाथो मे प्रशासन था) की प्रार्थना पर 9 नवम्बर, 1947 को भारत सरकार ने रियासत का शासन अपने हाथों मे ले लिया। फरवरी, 1948 को जनमत-संग्रह मे भारत के पक्ष मे 1 लाख 90 हजार से भी अधिक मत आए जबकि पाकिस्तान के पक्ष मे कुल 91 मत पड़े। पाकिस्तान ने सुरक्षा परिषद् मे प्रश्न उठाया, किन्तु उसकी चाल सफल नहीं हुई।

हैदराबाद की रियासत भी पूरी तरह भारतीय क्षेत्र मे थी। नवम्बर, 1947 मे निजाम ने भारत के साथ एक 'यथा-पूर्व-स्थिति' का समझौता किया। यह निश्चय हुआ कि नया समझौता होने तक दोनो के बीच वही सम्बन्ध कायम रहेंगे जो पहले ब्रिटिश सरकार और हैदराबाद रियासत के बीच थे। लेकिन हैदराबाद की सरकार मे प्रभावशाली मुस्लिम साम्प्रदायिक संगठन 'मजलिस-ए-ईत्तहादउल' के रजाकारो ने रियासत मे भीषण अराजकता की स्थिति उत्पन्न करदी और तब सितम्बर, 1948 मे जनता तथा निजाम की सुरक्षा हेतु भारत ने पुलिस कार्यवाही की। रजाकारो ने आत्म-समर्पण कर दिया। हैदराबाद-सरकार ने समस्या को सुरक्षा परिषद् मे प्रस्तुत कर दिया था, अतः समस्या का अन्तिम समाधान तब हुआ जब दिसम्बर, 1948 मे भारत ने परिषद् मे स्पष्ट कह दिया कि वह अब इस प्रश्न पर वाद-विवाद मे कोई भाग नही लेगा।

ऋण भुगतान का प्रश्न—स्वतन्त्र भारत ने पुरानी सरकार के पूरे ऋण का भार सम्भाला जिसके अनुसार उसे 5 वर्ष मे पाकिस्तान से 300 करोड़ रुपया लेना

1. हिन्दुस्तान, 21 अप्रैल 1975.

था, लेकिन पाकिस्तान ने ऋण चुकाने का नाम तक नही लिया जबकि भारत ने पाकिस्तान को दिए जाने वाले 55 करोड रुपए का चुकारा कर दिया ।

विस्थापित सम्पत्ति तथा अल्पसख्यकों की रक्षा का प्रश्न—सन् 1947 से 1957 तक लगभग 90 लाख मुसलमान भारत से पाकिस्तान गए और इतने ही गैर-मुस्लिम पाकिस्तान से भारत आए । दोनो ही क्षेत्रों के लोग अपने पीछे विशाल मात्रा मे अपनी चल और अचल सम्पत्ति छोड गए । अनुमानतः भारतीयों ने पाकिस्तान मे 3 हजार करोड रुपये की और मुसलमानों ने भारत मे 300 करोड रुपये की सम्पत्ति छोडी थी । पाकिस्तान समस्या के समाधान के सभी सुझावों को ठुकराता रहा क्योकि उसकी नीयत तो 27 सौ करोड रुपये की सम्पत्ति को हड़प लेने की थी ।

दोनो देशो के समक्ष अल्पसख्यको की रक्षा की समस्या भी विद्यमान थी । विभाजन के बाद पाकिस्तानी अत्याचारो के फलस्वरूप भारत मे शरणार्थियों का तांता लगा रहा । अप्रेल, 1950 मे साम्प्रदायिक उपद्रवो को रोकने और अल्पसख्यको मे सुरक्षा की भावना उत्पन्न करने के लिए दोनों देशो के प्रधानमन्त्रियो के बीच 'नेहरू लियाकत समझौता' हुआ, जिसका पाकिस्तान की ओर से कभी पालन नहीं किया गया और पीडित हिन्दू शरणार्थी भारत मे आते रहे ।

नहरी विवाद—भारत और पाकिस्तान के मध्य एक अन्य समस्या नदियो के पानी के सम्बन्ध मे थी । पजाब के विभाजन के कारण सिचाई वाली नहरो के पानी के प्रश्न पर कठिन परिस्थिति पैदा हो गई । सतलज, व्यास और रावी नदियों के हैड वर्क्स भारत मे रह गए, लेकिन नहरो की दृष्टि से 25 मे से केवल 20 नहरें भारत मे आई और एक नहर दोनों देशो मे पडी । भारत के हिस्से मे पजाब का जो भी भाग आया उसकी कृषि-भूमि पैदावार की दृष्टि से अच्छी नही थी, क्योंकि वहां सिचाई की व्यवस्था नही थी जबकि पाकिस्तान के हिस्से मे आने वाले भाग मे सिंचाई की भरपूर व्यवस्था थी ।

दोनो राष्ट्रो की सहमति से यह विवाद मध्यस्थता के लिए विश्व-बैंक को सौंप दिया गया जिसके प्रयत्नो से 19 सितम्बर 1960 को भारत और पाक मे सिन्धु बेसिन के पानी के दोनो राष्ट्रो मे समान बँटवारे के बारे मे 'नहरी पानी समझौता' (Indo-Pak Canal Water Treaties) सम्पन्न हुआ । इस समझौते के अनुसार जो कि नदियों के विभाजन पर आधारित है, यह निश्चय किया गया कि 10 वर्ष की अवधि के बाद, जो पाकिस्तान की प्रार्थना पर 3 वर्ष के लिए बढाई जा सकेगी, तीनो पूर्वी नदियो का पानी भारत के अधिकार मे और तीनों पश्चिमी नदियों का पानी पाकिस्तान के अधिकार मे रहेगा, केवल इनका सीमित पानी उत्तर की ओर के जम्मू और कश्मीर प्रान्त मे प्रयोग किया जाएगा । यह तय हुआ कि 10 वर्ष तक भारत पूर्वी नदियो (सतलज रावी और व्यास) से पाकिस्तान को प्रत्येक वर्ष घटती हुई मात्रा मे पानी देगा और नई नहरो के निर्माण के लिए पाकिस्तान को आवश्यक मात्रा मे धन भी प्रदान करेगा । यदि पाकिस्तान भारत से पानी देने वाली

अवधि मे 3 वर्ष के लिए प्रार्थना करेगा तो प्रार्थना स्वीकृत होने पर उसी अनुपात मे भारत द्वारा पाकिस्तान को दी जाने वाली धनराशि में कटौती कर दी जाएगी। 12 जनवरी, 1961 को इस सन्धि की शर्तें लागू कर दी गई।

यह सन्धि पाकिस्तान के लिए विशेष लाभदायक थी। निष्पक्ष पर्यवेक्षको को भी भारत के इस उदार दृष्टिकोण से आश्चर्य हुआ क्योंकि स्वयं उसको अपना कृषि-उत्पादन बढाने के लिए सिन्धु के पानी की काफी आवश्यकता थी।

भारत के युद्ध न करने के प्रस्तावों का ठुकराया जाना–कश्मीर पर सन् 1947 मे पाकिस्तानी आक्रमण के बाद से ही श्री नेहरू ने निरन्तर यह असफल प्रयत्न किया कि दोनो राष्ट्रो के बीच किसी प्रकार का युद्ध न करने सम्बन्धी एक स्थायी समझौता हो जाए। इस दिशा मे श्री नेहरू ने प्रथम प्रयास दिसम्बर, 1949 मे और दूसरा सन् 1956 मे किया। नवम्बर, 1962 मे श्री नेहरू ने पाकिस्तानी राष्ट्रपति अयूबखाँ को लिखा कि भारत का पाकिस्तान के साथ किसी संघर्ष या झगडे का विचार नहीं है, लेकिन भारत के शान्ति-प्रयत्नो को पाकिस्तानी अधिनायक खुशामद और कमजोरी समझते रहे।

चीनी आक्रमण, कश्मीर पर पाक-चीन अवैध समझौता तथा असफल वार्ताएँ—सन् 1962 मे भारत पर चीनी आक्रमण के समय पाकिस्तान ने एक स्वर से भारत को दोषी ठहराया और भारत को दी जाने वाली अमेरिकी तथा ब्रिटिश सैनिक सहायता का भी तीव्र विरोध किया। नवम्बर, 1962 मे अमेरिका और ब्रिटेन के प्रयत्नो से दोनो देशो के बीच वार्ता क्रम चालू हुआ। नेहरू-अयूब के संयुक्त वक्तव्य मे आपसी मतभेदो को वार्ता द्वारा सुलझाने की बात कही गई। पहले दिसम्बर, 1962 मे और फिर जनवरी और फरवरी, 1963 मे मन्त्रि-स्तरीय सम्मेलन हुए जिनका कोई परिणाम नही निकला। अगले सम्मेलन से पूर्व ही पाकिस्तान ने चीन के साथ एक धूर्ततापूर्ण समझौता कर पाक अधिकृत कश्मीर का एक बहुत बडा भाग अवैधानिक रूप से चीन को दे दिया। भारत के विरोध का कोई फल नही निकला।

पाकिस्तान का जासूसी-षड्यन्त्र--सितम्बर, 1963 मे पाकिस्तान के एक बडे जासूसी जाल का पता चला। नई दिल्ली स्थित पाकिस्तानी दूतावास इस जासूसी षड्यन्त्र का केन्द्र था जिसका उद्देश्य भारत की गुप्त सामरिक बातों की जानकारी करना था। भारत ने जासूसी से सम्बद्ध पाकिस्तानी दूतावास के अधिकारियो को भारत से हटाने का निश्चय किया, किन्तु पाक उच्च आयुक्त के विशेष अनुरोध पर भारत सरकार ने अपने निश्चय की घोषणा 5 दिन के लिए स्थगित करदी। इसी बीच पाकिस्तान ने करांची स्थित भारतीय दूतावास के प्रमुख अधिकारियो पर जासूसी करने का झूठा आरोप लगाकर उन्हे पाकिस्तान छोड देने की आज्ञा दे दी। भारत-सरकार ने भी पाकिस्तानी अधिकारियो को भारत से निष्कासित कर दिया। पाकिस्तान ने इसे बदले की कार्यवाही कहकर भारत के विरुद्ध खूब विष-वमन किया।

इन घटनाओं के कारण दोनों देशों के बीच तनाव बढ़ता गया। 24 अक्तूबर, 1963 को पाकिस्तान सरकार के आदेश से ढाका तथा राजशाही में भारतीय पुस्तकालय बन्द कर दिए गए। 21 नवम्बर को राजशाही में भारतीय हाईकमान का कार्यालय भी बन्द कर दिया गया। पाकिस्तानी समाचारपत्र घोषणा करने लगे कि पाकिस्तान कश्मीर की युद्धविराम रेखा को मान्यता नहीं देता। 4 दिसम्बर को पाक अधिकृत कश्मीर के राष्ट्रपति खुर्शीद ने अपने उत्तेजनात्मक भाषण में कहा कि युद्धविराम रेखा के निकट रहने वाले नागरिकों में 10 हजार रायफलें बाँट दी गई हैं तथा और भी बाँटी जाएँगी। वास्तव में पाकिस्तान इस प्रकार का वातावरण बनाने लगा जिससे भारत भयभीत होकर दबाव में आ जाए और पाकिस्तान की बातों को मानले।

हजरत बाल-काण्ड और पाकिस्तान की शत्रुतापूर्ण कार्यवाहियाँ—पाकिस्तान ने एक और घटना के सम्बन्ध में भारत के विरुद्ध अपनी जन्मजात शत्रुता का खुला परिचय दिया। 28 दिसम्बर, 1963 को श्रीनगर की हजरत बाल मस्जिद से पैगम्बर मुहम्मद साहब का पवित्र बाल चोरी चला गया। यद्यपि वह बाल मिल गया, पर पाकिस्तान ने इस घटना को लेकर बड़ा साम्प्रदायिक विद्वेष फैलाया।

कश्मीर पर भारत-पाक संघर्ष—पाकिस्तान ने अपने जन्म के लगभग 2 माह बाद ही 22 सितम्बर, 1947 को कश्मीर पर आक्रमण कर दिया। कश्मीर के महाराजा ने अपनी रियासत को भारत में विलय करने का समझौता किया और भारतीय सेनाएँ कश्मीर की रक्षा के लिए दौड़ पड़ी। भारत ने पाकिस्तान के साथ पूरे युद्ध की स्थिति से बचने के लिए 1 जनवरी, 1948 को सुरक्षा परिषद् में यह शिकायत की कि पाकिस्तान की सहायता से कबाइलियों ने भारत-भूमि पर आक्रमण किया है, अतः उन्हें रोका जाए। सुरक्षा परिषद् ने 20 जनवरी, 1948 को एक प्रस्ताव द्वारा जाँच कमीशन नियुक्त किया जिसने 13 अगस्त, 1948 को सुझाव *दिया कि दोनों देशों के बीच युद्ध-विराम हो और कश्मीर के भविष्य का निर्णय* जनता की राय से किया जाए। 1 जनवरी, 1949 से कश्मीर में युद्ध बन्द हो गया और तत्पश्चात् भारत व पाकिस्तान के बीच संयुक्त राष्ट्रसंघ के माध्यम से तथा सीधे परस्पर वार्ता होती रही।

श्री नेहरू की गुट-निरपेक्ष नीति से खिन्न संयुक्तराज्य अमेरिका और पश्चिमी राष्ट्रों ने सुरक्षा परिषद् में पाकिस्तान को पूर्ण समर्थन दिया, अतः समस्या का कोई समाधान नहीं निकल सका। पाकिस्तान ने मुख्यतः निम्नलिखित तर्कों का सहारा लिया—(1) कश्मीर का भारत में विलय भारत द्वारा प्रयोग की गई शक्ति और भय-प्रदर्शन का परिणाम था, (2) कश्मीर का भारत में विलय जनमत-संग्रह की शर्त पर आधारित था जिसे पूरा किए बिना कश्मीर स्थायी रूप से भारतीय-संघ का अंग नहीं माना जा सकता, (3) कश्मीर जैसे मुस्लिम बहुल प्रदेश का विलय पाकिस्तान में होना चाहिए, (4) जनमत-संग्रह के प्रश्न पर पाकिस्तान का समानता का अधिकार है तथा कश्मीर पर कोई भी निर्णय करने में भारत और पाकिस्तान

को बराबरी का अधिकार मिलना चाहिए, एव (5) कश्मीर महाराजा ने जनता की इच्छा के विरुद्ध भारत मे सम्मिलित होना स्वीकार किया था जो अवैध है।

पाकिस्तान के सभी तर्क बेबुनियाद और बेतुके थे। कश्मीर का भारत मे विलय पूर्ण वैधानिक था क्योकि राज्य के प्रमुख के हस्ताक्षर के उपरान्त ही उसका विलय भारत मे किया गया था। कश्मीर के महाराजा ने भारत मे विलय का प्रस्ताव भारत की शक्ति के भय से नहीं बल्कि इस डर से किया था कि पाकिस्तानी हकैत उसकी रियासत को हड़पने वाले थे और केवल भारत ही रियासत की रक्षा कर सकता था। पाकिस्तान का आक्रमण कश्मीर के साथ किए गए 'यथास्थिति समझौते' (Status-quo Agreement) के प्रति विश्वासघात था और एक छोटी-सी रियासत पर सैनिक शक्ति के बल पर अधिकार जमाने की चेष्टा थी।

भारत ने प्रारम्भ से ही यह निश्चित मत व्यक्त किया कि कश्मीर का भारत मे प्रवेश पूर्णतः सैद्धान्तिक है। इस सम्बन्ध मे मुख्यत. ये तर्क प्रस्तुत किए गए—(1) भारत मे कश्मीर का विलय सन् 1947 के भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम मे उल्लिखित प्रवेश-पत्रिका के अनुरूप पूर्णतः वैधानिक था; (2) कश्मीर की जनता ने स्वतन्त्र रूप से निर्वाचित अपनी सविधान सभा के माध्यम से कश्मीर को भारत-सघ का अभिन्न अग घोषित कर दिया था; अतः जनमत-सग्रह की बात स्वत. ही पूर्ण हो गई, (3) आत्म-निर्णय एक लोकतान्त्रिक प्रश्न है जिसका प्रयोग राज्यो को टुकडो मे विभाजित करने के लिए नही किया जाता; (4) स्वय पाकिस्तान ने जिन राज्यो का विलय किया, उन्हें कभी आत्म-निर्णय का अधिकार नहीं दिया; (5) जो राष्ट्र अपनी जनता को भी लोकतान्त्रिक अधिकार नही दे पाया है, उसके द्वारा कश्मीर की जनता के लिए आत्म-निर्णय की बात कहना बेहूदा है, (6) एक आक्रमणकारी राष्ट्र विलय की बात नहीं कर सकता; (7) यह भी सर्वथा अवैधानिक है कि पाकिस्तान ने बलपूर्वक कश्मीर के जिस भाग पर कब्जा किया उसका एक बड़ा हिस्सा दूसरे राष्ट्र चीन को अवैध रूप से सौंप दिया, (8) भारत ने कश्मीर मे जनमत-सग्रह करवाने की केवल इच्छा ही व्यक्ति की थी, वह विलय की पूर्व शर्त नही थी तथा जनमत-सग्रह का आश्वासन कश्मीर के शासक को दिया गया था, एक तृतीय पक्ष पाकिस्तान को नही; (9) जनमत-सग्रह की बात पाकिस्तान द्वारा *कश्मीर से अपनी सेनाएँ हटाने के बाद पूरी करने को कही गई थी*, लेकिन पाक-फौजो की उपस्थिति स्वय जनमत-सग्रह के मार्ग मे बाधा बनी रही है, और अब कश्मीर मे स्वतन्त्र चुनाव हो जाने के बाद जनमत-सग्रह का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है; (10) कश्मीर मे मुस्लिम बहुमत के आधार पर जनमत सग्रह की बातें गलत है, भारत-जिन्ना के द्विराष्ट्र सिद्धान्त को मान्यता नही देता; एवं (11) पाकिस्तानी दुराग्रह स्वीकार करने का अर्थ सम्पूर्ण देश और कश्मीर की शान्ति भग करना तथा भारत मे कश्मीर-विलय के कश्मीरी जनता के निर्णय का अपमान करना है। भारत ने स्पष्ट रूप से यह स्थिति स्पष्ट करदी कि जम्मू-कश्मीर राज्य भारतीय सघ का अभिन्न अग है।

पाकिस्तान के शासकों ने न तो श्री नेहरू के प्रधानमन्त्रित्व काल मे अपनी भारत-विरोधी नीति छोड़ी और न बाद में ही। 27 मई, 1964 को श्री नेहरू की मृत्यु हो गई। श्री नेहरू ने भारत की विदेश-नीति की आधारशिला मजबूती से जमा दी थी और यह स्पष्ट कर दिया था कि भारत का हित गुट-निरपेक्ष नीति का अनुसरण करने में ही है। भारत जैसे नवोदित लोकतान्त्रिक राष्ट्र के लिए असंलग्नता की नीति पर चलते हुए विश्व के साम्यवादी और पूंजीवादी दोनों शक्तिशाली गुटो की मैत्री अर्जित करने का प्रयत्न श्लाघनीय था। यदि श्री नेहरू तत्कालीन परिस्थितियों मे सैनिक गुटबन्दी का आश्रय लेने की नीति पर भारत को ले जाते तो भारत उसी प्रकार एक पर-निर्भर राष्ट्र बन जाता जिस प्रकार पाकिस्तान आज भी बना हुआ है। नेहरू की कमजोरी यह रही कि उन्होने पाकिस्तान के प्रति आवश्यकता से अधिक तुष्टिकरण की नीति अपनायी।

शास्त्री युग (मई, 1964–जनवरी, 1966)

श्री नेहरू की मृत्यु (27 मई, 1964) के पश्चात् श्री लालबहादुर शास्त्री भारत के प्रधानमन्त्री बने और जनवरी, 1966 मे अपनी मृत्युपर्यन्त उन्होने भारत की विदेश-नीति का बडी कुशलता से संचालन किया। श्री नेहरू के आदर्शवाद को निभाते हुए श्री शास्त्री ने राष्ट्रीय हित की दृष्टि से यथार्थवादी नीति अपनाकर अपनी कूटनीतिज्ञता का सुन्दर परिचय दिया।

पाकिस्तान के साथ युद्ध न करने का प्रस्ताव— श्री शास्त्री ने भी 15 अगस्त, 1964 को स्वाधीनता-दिवस के अवसर पर पाकिस्तान के साथ 'युद्ध न करने का समझौता' करने के लिए एक बार फिर प्रस्ताव रखा, लेकिन पाकिस्तान के शासकों के कानो मे जूं तक नही रेंगी। कच्छ पर और बाद मे कश्मीर तथा भारत पर होने वाले पाकिस्तानी आक्रमणों ने सिद्ध कर दिया कि पाकिस्तानी नेता भारत के प्रति शत्रुता और युद्ध की नीति से तब तक डिगने वाले नहीं हैं जब तक उन्हें ईंट का जवाब पत्थर से नही दिया जाएगा।

कच्छ के भारतीय प्रदेश पर पाकिस्तान का आक्रमण—सन् 1965 मे पाकिस्तान ने भारत पर दो प्रबल सैनिक आक्रमण किए इनमे पहला आक्रमण मार्च-अप्रेल, 1965 मे कच्छ पर हुआ, दूसरा अगस्त-सितम्बर, 1965 मे कश्मीर पर। कच्छ की खाडी (The Rann of Kutch) का क्षेत्रफल 9 हजार वर्गमील है। यह एक दलदलीय क्षेत्र है। जब पाकिस्तान ने इस प्रदेश के उत्तरी हिस्से में पहले एक सडक बना ली और बाद मे भारतीय सीमा मे कंजरकोट, डींग एवं विगोकोट नामक स्थानो पर अपनी स्थायी चौकियाँ स्थापित करली तो उसने भारत के विरोध-पत्रो की न केवल उपेक्षा कर दी बल्कि गुजरात के एक बडे क्षेत्र पर भी अपने अधिकार का दावा किया। पाकिस्तान का यह दावा ऐतिहासिक और वैधानिक रूप से अवैध था क्योंकि इस क्षेत्र मे भारत और पाकिस्तान के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पहले से निर्धारित हो चुकी थी, किन्तु पाकिस्तान ने इस खाड़ी को समुद्र मान कर उसके मध्य भाग को अन्तर्राष्ट्रीय सीमा माने जाने का दावा किया।

दोनों देशों के बीच वार्ता चालू थी कि 9 अप्रैल, 1965 को पाकिस्तानी सेना की एक टुकड़ी ने सरदार नामक भारतीय चौकी पर हमला बोल दिया। 24 अप्रैल 1965 को पाकिस्तान की पूरी एक ब्रिगेड (3500 सैनिक) ने अमेरिकी टैंकों के साथ कच्छ पर भीषण आक्रमण कर दिया जिसका मुकाबला केवल 225 भारतीय सैनिकों द्वारा ऐतिहासिक वीरता के साथ किया गया। बाद में भारत की ओर से तुरन्त ही प्रभावकारी सैनिक कुमुक भेजी गई। कच्छ सीमा पर भारत-पाक संघर्ष को रोकने के लिए ब्रिटेन ने युद्ध विराम (Cease Fire) का प्रस्ताव रखा जिसे भारत ने मान लिया लेकिन पाकिस्तान ने अस्वीकार कर दिया।

अन्त मे, लन्दन में होने वाले राष्ट्रमण्डलीय प्रधानमन्त्रियों के सम्मेलन के अवसर पर ब्रिटिश प्रधानमन्त्री विल्सन के प्रयत्नों से भारत और पाकिस्तान के बीच कच्छ के प्रश्न पर 30 जून, 1965 को एक समझौता हो गया जिसमे निम्नलिखित बातों का उल्लेख था—

1 1 जुलाई, 1965 से युद्ध बन्द कर दिया जाए।

2 दोनों देशों की सेनाएँ 7 दिन के भीतर पीछे हटा ली जाएँ और अपनी 1 जनवरी, 1965 वाली स्थिति पर लौट जाएँ।

3 सीमा-विवाद के प्रश्न का समाधान पहले मन्त्रियों की वार्ता द्वारा किया जाए और इस प्रकार की वार्ता सफल न होने पर यह प्रश्न एक निष्पक्ष न्यायाधिकरण (Tribunal) को सौंपा जाए। न्यायाधिकरण के तीन सदस्य हों जिसमें एक-एक सदस्य भारत तथा पाकिस्तान द्वारा नियुक्त किया जाए और अध्यक्ष के नाम पर यदि दोनों देशों मे सहमति न हो सके तो संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव उसका नाम प्रस्तावित करें।

समझौता होने के बाद कच्छ सीमा पर भारत और पाकिस्तान दोनों देशों ने अपनी-अपनी सेनाएं 1 जनवरी, 1965 वाली स्थिति पर हटा लीं। पाकिस्तान द्वारा उठाए गए सीमा निर्धारण के प्रश्न पर विचार हेतु एक न्यायाधिकरण की नियुक्ति कर दी गई जिसमे भारत द्वारा यूगोस्लाविया के न्यायाधीश को प्रस्तावित किया गया और पाकिस्तान द्वारा ईरान के न्यायाधीश को। दोनों ही देशों के मतभेद के कारण अध्यक्ष की नियुक्ति संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव द्वारा की गई। न्यायाधिकरण द्वारा दोनों देशों को आदेश दिए गए कि वे कच्छ के सम्बन्ध में अपने-अपने दावे प्रस्तुत करें।

सितम्बर 1967 मे न्यायाधिकरण ने अपना काम शुरू किया और 19 फरवरी, 1968 को उसने अपना निर्णय दे दिया। इस निर्णय के अनुसार विवाद-ग्रस्त क्षेत्र का 90 प्रतिशत भाग भारत को दिया गया और शेष 320 वर्ग मील का प्रदेश पाकिस्तान को प्राप्त हुआ। इस प्रदेश मे कंजरकोट का वह विनष्ट किला भी सम्मिलित था जहाँ से सन् 1965 का युद्ध आरम्भ हुआ था। इसके अतिरिक्त छारबेट की ऊँची भूमि और नगरपारकार के क्षेत्र भी पाकिस्तान को दिए गए भाग में शामिल थे। स्पष्ट है कि पाकिस्तान को महत्त्वपूर्ण सामरिक क्षेत्र प्राप्त

हो गया। यद्यपि न्यायाधिकरण का निर्णय कुल मिला कर भारत के पक्ष में था, तथापि पाकिस्तान के साथ विशेष रियायत की गई थी। स्कीम के बाजार में दक्षिणी क्षेत्र को पाकिस्तान को सौंपने का कोई कारण नहीं था। न्यायाधिकरण का फैसला न्याय पर उतना आधारित नहीं था जितना राजनीति पर। भारत सरकार ने इस निर्णय को 'राजनीतिक कारणों से प्रेरित' बताकर इसकी निन्दा की। भारत के अनेक राजनीतिक दलों ने इस निर्णय को ठुकरा देने का अनुरोध किया, पर चूँकि भारत-सरकार पहले ही यह शर्त मान चुकी थी कि न्यायाधिकरण जो भी निर्णय देगा, वह उसे मान्य होगा, अतः भारत के सामने वचन निभाने के अलावा कोई विकल्प नहीं था। भारत सरकार ने कूटनीतिक चालबाजी की जगह नैतिकता को उच्च समझा।

कश्मीर-विवाद और भारत-पाक युद्ध, *1965*—30 जून, *1965* को होने वाले कच्छ समझौते की स्याही सूखने भी न पायी थी कि अगस्त में पाकिस्तान ने *कश्मीर में हजारों सादा वस्त्रधारी सशस्त्र घुसपैठिये भेज दिए जिनका उद्देश्य राज्य में व्यापक तोड़-फोड़ करना, अराजकता फैलाना और यातायात केन्द्रों, सैनिक-ठिकानों* तथा उद्योग स्थलों को नष्ट करना था। इस पर भारतीय सेना ने तेजी से घुसपैठियों का सफाया कर युद्धविराम रेखा के उन महत्त्वपूर्ण पहाड़ी और जंगली प्रतिष्ठानों पर कब्जा कर लिया जहाँ से घुसपैठिये भारत में प्रवेश करते थे।

कश्मीर को हथियाने के अपने इस प्रयास में असफल होकर पाकिस्तान एक हारे जुआरी की तरह बौखला गया। 1 सितम्बर, 1965 को पाकिस्तान ने विपुल टैंक शक्ति के साथ कश्मीर के छम्ब क्षेत्र पर अचानक ही भीषण आक्रमण कर दिया, यह क्षेत्र पाकिस्तान की प्रधान सैनिक छावनियों के निकट और आक्रमण की दृष्टि से पाकिस्तान के अनुकूल था। यदि अखनूर पर पाक फौजें अधिकार कर लेतीं तो पाकिस्तान जम्मू को जीतकर जम्मू-कश्मीर की भारतीय सेना को शेष भारत से विलग कर सकता था। किन्तु पाकिस्तान के मनसूबे खाक में मिल गए। भारत के भीषण प्रत्याक्रमण ने पाकिस्तान को छठी का दूध याद करा दिया। भारत ने पाक के विरुद्ध सम्पूर्ण-सीमा पर नए मोर्चे खोल दिए। 15 सितम्बर तक पाकिस्तान की *वायु शक्ति की कमर टूट गई। पाकिस्तान को प्राप्त अमेरिकी पैटन टैंकों का कब्रिस्तान बन गया और पाकिस्तान की पराजय सन्निकट दिखायी देने लगी।*

'अपने छोटे भाई' और 'अजीज दोस्त' को पिटते हुए देखकर 'बड़े आका' चीन ने 16 सितम्बर को भारत को तीन दिन का अल्टीमेटम भेजते हुए यह बेहूदा आरोप लगाया कि भारत ने सिक्किम-तिब्बत पर चीनी प्रदेश में अपने सैनिक अड्डे कायम कर लिए हैं और 59 याक तथा 800 भेड़ें चुरा ली हैं, अतः उसे तीन दिन में अड्डों को नष्ट कर पशुओं को वापस कर देना चाहिए अन्यथा उसे गम्भीर परिणाम भुगतने होंगे। भारत ने इन सैनिक अड्डों के निरीक्षण के लिए कई प्रस्ताव रखे, लेकिन चीन ने उन्हें ठुकरा दिया। ठुकराता भी क्यों नहीं? आखिर कोई अड्डे होते तभी तो उनका निरीक्षण किया जाता। चीन के अल्टीमेटम का उद्देश्य

तो पाकिस्तान को अपने समर्थन की आशा दिलाकर भारत के साथ युद्धरत रहने की प्रेरणा देना था। चीनी अल्टीमेटम का वास्तविक उद्देश्य कुछ भी रहा हो, लेकिन 19 सितम्बर को इसकी अवधि की समाप्ति पर चीन ने अल्टीमेटम की अवधि 3 दिन और बढा दी। इस बढी हुई अवधि की समाप्ति पर एक तरफ तो सुरक्षा परिषद् ने युद्ध-विराम का निर्णय हुआ और दूसरी तरफ चीन ने यह विचित्र घोषणा करदी कि भारत ने चीनी सीमा में बने हुए सैनिक अड्डे स्वयमेव तोड दिए हैं, अतः अल्टीमेटम के अनुसार अगली कार्यवाही करने की आवश्यकता नहीं है। चीनी अल्टीमेटम पाकिस्तान को खुश करने का दिखावा मात्र था, अन्यथा चीन यह भली भाँति समझ चुका था कि भारत अब सन् 1962 का भारत नहीं था। चीनी कार्यवाही से यह पुनः सिद्ध हो गया कि पाकिस्तान और चीन में 'चोर-चोर मौसेरे भाई' का सम्बन्ध है।

भारत-पाक युद्ध 23 सितम्बर, 1965 तक चला और अन्त में संयुक्त राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप से 23 सितम्बर को 3½ बजे प्रातःकाल युद्ध-विराम हो गया। युद्ध-समाप्ति पर लगभग 740 वर्गमील पाकिस्तानी क्षेत्र भारत के अधिकार में था जबकि आकस्मिक आक्रमण का लाभ उठा लेने के कारण 240 वर्गमील का भारतीय क्षेत्र पाकिस्तान के अधिकार में रह गया था। भारत ने निरन्तर विजयी होते हुए भी युद्ध-विराम स्वीकार कर यह सिद्ध कर दिया कि वह एक शान्तिप्रिय राष्ट्र है। युद्ध से यह पुनः स्पष्ट हो गया कि साम्यवाद के विरोध के नाम पर पाकिस्तान को दी गई विशाल अमेरिकी सैनिक सहायता का किस प्रकार एक शान्तिप्रिय लोकतांत्रिक राष्ट्र के विरुद्ध दुरुपयोग किया जा सकता है। घटनाओं ने भारत का यह आरोप भी सत्य प्रमाणित कर दिया कि इस उप-महाद्वीप में शक्ति-सन्तुलन को बिगाड़ने का मुख्य उत्तरदायित्व अमेरिका और उसके मित्रराष्ट्रों का है।

भारत-पाक युद्ध के गम्भीर परिणाम और प्रभाव सामने आए। प्रथम, यह स्पष्ट हो गया कि भारत की धर्म-निरपेक्षता का आधार बड़ा ठोस है और कश्मीर के मुस्लिम नागरिक भारत के प्रति पूर्ण देशभक्त हैं। दूसरे, भारतीय एकता पुनः सुदृढ और सम्पुष्ट हुई तथा उसमें एक नया रूप और नया निखार आया। तीसरे, भारत में अपूर्व स्वाभिमान जागा तथा आत्मनिर्भर बनने की बलवती भावना जाग्रत हुई। चौथे, भारत की सन् 1962 में खोई हुई प्रतिष्ठा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बहुत कुछ पुनर्जीवित हो गई। पाँचवें, भारत को अपने मित्र और शत्रु देशों का अच्छी तरह पता चल गया। अमेरिकी और ब्रिटिश रवैया तो पहले ही स्पष्ट था, इंडोनेशिया, टर्की, ईरान आदि राष्ट्रों का भी भारत-विरोधी रवैया प्रकट हो गया। मलाया के अतिरिक्त अन्य किसी भी राष्ट्र ने पाक-आक्रमण की स्पष्ट रूप से निन्दा नहीं की। छठे, संयुक्त राष्ट्रसंघ की उपयोगिता पुनः सिद्ध हो गई। यद्यपि विश्व-संस्था का रवैया पक्षपातपूर्ण रहा, तथापि यह पुनः प्रकट हो गया कि यदि महाशक्तियाँ सहयोग से काम करें तो संयुक्त राष्ट्रसंघ को पूरी सफलता प्राप्त हो सकती है। सातवें, इस संघर्ष ने सोवियत कूटनीति को एक नया मोड़ लेने का अवसर प्रदान किया। दो

राष्ट्रों के विवाद को सुलझाने में मध्यस्थ के रूप में रूस पहली बार आगे आया। सोवियत कूटनीति के जादू ने ताशकन्द समझौता करा ही दिया।

युद्ध-विराम उल्लंघन और ताशकन्द समझौता 1966—युद्ध-विराम के बाद भी पाकिस्तान भड़काने वाली कार्यवाहियों से बाज नहीं आया और आए दिन सीमा-उल्लंघन की घटनाएँ जारी रहीं। यह आशंका बनी रही कि कहीं दोनों ही पक्षों में युद्ध फिर न भड़क उठे। इस स्थिति को समाप्त करने के लिए यद्यपि अमेरिका सहित पश्चिमी राष्ट्र और महासचिव ऊथांट सक्रिय थे, तथापि सोवियत कूटनीति विशेष रूप से सफल हुई। सोवियत प्रधान मन्त्री कोसीगिन ने दोनों देशों के शीर्षस्थ नेताओं की प्रत्यक्ष वार्ता द्वारा ताशकन्द समझौते की व्यवस्था की। ताशकन्द वार्ता 4 जनवरी से 10 जनवरी, 1966 तक चालू रही। पाकिस्तानी दुराग्रह के कारण ताशकन्द सम्मेलन की सफलता पूर्ण संदिग्ध थी, किन्तु रूसी प्रधान मन्त्री की अन्तिम दिन की अथक् दौड़-धूप के कारण 10 जनवरी को 9 बजे रात्रि को श्री अयूब खाँ और श्री शास्त्री ने एक समझौते पर हस्ताक्षर कर दिए जो 'ताशकन्द घोषणा' (Tashkent Declaration) के नाम से विख्यात हुआ। इस समझौते के मुख्य तत्व ये थे—

(1) दोनों देश परस्पर अच्छे पड़ोसियों के सम्बन्ध कायम रखने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के अनुसार पूरा प्रयास करेंगे और शक्ति प्रयोग न कर आपसी विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाएँगे।

(2) दोनों देशों के सब सशस्त्र सैनिक 25 फरवरी, 1966 तक उन स्थानों पर लौट जाएँगे जहाँ वे 5 अगस्त, 1965 के पहले थे। दोनों ही पक्ष युद्ध-विराम रेखा पर युद्ध विराम की शर्तों का पालन करेंगे।

(3) दोनों देश एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे, एक दूसरे के विरुद्ध प्रचार बन्द कर देंगे और ऐसे प्रचार को प्रोत्साहन देंगे जिससे मैत्री में वृद्धि हो।

(4) दोनों देशों के उच्चायुक्त अपनी-अपनी जगह लौट जाएँगे तथा सामान्य राजनयिक सम्बन्ध पुनः स्थापित किए जाएँगे। राजनयिक व्यवहार में सन् 1961 के वियना समझौते का सम्मान किया जाएगा।

(5) दोनों देशों के बीच आर्थिक सम्बन्ध, व्यापार, संचार और सांस्कृतिक सम्पर्क पुन: कायम करने पर विचार किया जाएगा और दोनों ही देश वर्तमान समझौतों को कार्यान्वित करेंगे।

(6) दोनों शीर्षस्थ नेता अपने अधिकारियों को युद्धबन्दियों की वापसी का आदेश देंगे।

(7) दोनों पक्ष शरणार्थियों, निष्कासितों और गैर-कानूनी रूप से बसने वालों की समस्याओं से सम्बन्धित प्रश्नों पर वार्ता जारी रखेंगे और ऐसी स्थिति पैदा करेंगे कि लोगों का देश से पलायन बन्द हो। संघर्षकाल में दोनों पक्षों ने जिस माल और सम्पत्ति पर अधिकार किया है उसके लौटाने के बारे में बातचीत की जाएगी।

(8) जिन मामलो का दोनो देशो से सीधा सम्बन्ध है, उन पर विचार के लिए दोनो पक्षो की सर्वोच्च तथा अन्य स्तरो पर बैठकें होती रहेगी। दोनो ही पक्षों ने 'भारत-पाकिस्तान सयुक्त समितियाँ' नियुक्त करने पर भी सहमति प्रकट की जो अपनी-अपनी सरकारो को बताएँगी कि आगे और क्या कदम उठाए जाएँ।

ताशकन्द समझौते की विभिन्न क्षेत्रो मे कटु-आलोचना की गई। पाकिस्तान मे आलोचना का प्रमुख आधार यह था कि समझौते से पाकिस्तान को अपने मुख्य लक्ष्य कश्मीर प्राप्त करने मे कोई सफलता नही मिली। राष्ट्रपति अयूब खाँ ने प्रत्युत्तर मे यह तर्क दिया कि समझौते से कश्मीर की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त हो गया है क्योंकि शान्ति-स्थापना के बाद अब यह प्रश्न सुरक्षा परिषद् मे उठाया जा सकेगा। भारत मे आलोचना के मुख्य कारण ये थे—(1) कश्मीर के महत्त्वपूर्ण दर्रों से फौजें हटा लेना भारतीय सेना के साथ विश्वासघात और भावी आक्रमण के खतरे को मोल लेना है, (2) पाक-चीन गुटबन्दी के प्रकाश मे शत्रु को रियायत देना गलत है, (3) समझौता रूसी दबाव मे आकर किया गया है, एवं (4) समझौते से शान्ति का मार्ग प्रशस्त नही हुआ है। सरकारी पक्ष ने समझौते को उचित ठहराते हुए कहा कि इसमे पाक-चीन गुटबन्दी के फलस्वरूप भावी युद्ध का सकट टल गया है तथा दोनो देशो का सयुक्त मोर्चा बनने का खतरा कम हो गया है। यह भी कहा गया कि भारतीय विदेश-नीति के सन्दर्भ मे यह उचित था कि भारत शान्ति की भावना से काम करता। कश्मीर के महत्त्वपूर्ण दर्रों से सेनाएँ हटाना इसलिए उचित समझा गया क्योंकि पाकिस्तान ने महाशक्ति रूस की साक्षी मे शक्ति का प्रयोग न करने का आश्वासन दिया था। समझौते का एक कारण सुरक्षा-परिषद् का प्रस्ताव और रूस का प्रबल अनुरोध भी था। सुरक्षा-परिषद् के 20 सितम्बर के प्रस्ताव के अनुसार दोनो देश यह स्वीकार कर चुके थे कि वे अपनी सेनाएँ 5 अगस्त से पूर्व की स्थिति मे लौटा लेंगे।

ताशकन्द समझौता भारत की उदारता और सहिष्णुता का प्रतीक था, लेकिन भावी इतिहास ने सिद्ध कर दिया कि पाकिस्तान भारत के प्रति अमैत्रीपूर्ण कार्यवाहियो से बाज आने वाला नही था। यद्यपि उस समय तो दोनो देशो के सैनिक 5 अगस्त, 1965 से पूर्व की स्थिति मे लौट गए और दोनो देशो का प्रचार-युद्ध भी बन्द हो गया, लेकिन कुछ ही समय बाद भारतीय सीमान्त पर पाकिस्तानी सैनिको की हलचल पुनः शुरू हो गई। श्री शास्त्री ने पाकिस्तान के विरुद्ध कठोर नीति अपनाकर भी अन्त में तुष्टिकरण की नीति का इसलिए आश्रय लिया कि भारत की विदेश-नीति गुट-निरपेक्षता, शान्तिवाद और समस्याओ को आपसी वार्ता द्वारा सुलझाने की है। श्री शास्त्री का प्रधानमन्त्रित्व बहुत ही अल्पकालीन रहा, अत उन्हें विदेश-नीति को पूर्ण यथार्थवादी धरातल पर ला खडा करने का समुचित समय नहीं मिल सका और वे श्री नेहरू के आदर्शवाद से अभिभूत रहे। जो भी हो, यह श्रेय श्री शास्त्री को जाता है कि उन्होने भारतीय विदेश-नीति को दृढता और यथार्थवादिता की ओर मोडने मे पहल की तथा पाकिस्तान को बता दिया कि भारत

सन् 1962 का भारत नही है । श्री शास्त्री ने देश को पूर्ण प्रतिष्ठा दिलाने मे बहुत-कुछ सफलता प्राप्त की ।

इन्दिरा युग (जनवरी, 1966–मार्च, 1977)

श्री शास्त्री के आकस्मिक निधन के बाद स्वर्गीय श्री नेहरू की पुत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी भारत की प्रधानमन्त्री बनीं । श्रीमती गाँधी ने अपना स्थान सुदृढ़ करने के बाद यह स्पष्ट संकेत दे दिया कि भारत यद्यपि किन्ही भी परिस्थितियो मे अपनी गुट-निरपेक्ष और शान्तिवादी नीतियो का परित्याग नही करेगा, तथापि वह राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि महत्त्व देते हुए यथार्थ की उपेक्षा भी नही करेगा । श्रीमती गाँधी ने भारतीय विदेश-नीति की भ्रान्तियों को दूर कर उसे एक नई दिशा प्रदान की और आज सभी क्षेत्रो मे यह स्वीकार किया जाता है कि श्री नेहरू द्वारा विरासत मे दी गई भारतीय विदेश-नीति को जितनी अच्छी तरह श्रीमती गाँधी ने समझा है और जिस रूप मे उसके विविध पक्षो को उजागर किया है, वह स्तुत्य है । इन्दिरा-युग मे भारत-पाक सम्बन्धो का जो ताना-बाना रहा वह निम्नानुसार है—

पाकिस्तान का भारत-विरोधी दृष्टिकोण पूर्ववत्—अल्पकालीन शान्ति के बाद पाकिस्तान ने भारत के साथ पुनः छेड़छाड़ प्रारम्भ कर दी । जुलाई-अगस्त, 1966 मे पाक-सैनिको ने सीमान्त पर अपनी हलचल पुन आरम्भ कर दी । तनाव कम करने के भारतीय प्रयासों के फलस्वरूप सितम्बर, 1966 मे दोनों देशो के सैनिक अधिकारियो द्वारा यह निश्चय किया गया कि यदि सीमान्तो पर कोई सैनिक गतिविधि हो तो इसकी पूर्व सूचना वे एक दूसरे को दे दें पर पाकिस्तान के मन मे तो कुटिलता भरी थी, अतः वह न केवल सीमान्त पर छुटपुट छेड़छाड़ करता रहा बल्कि भारत की वायु सीमा का भी अतिक्रमण करता रहा । विवश होकर भारत ने पुनः कठोर रुख अपनाया । सन् 1967 के प्रारम्भ मे भारतीय क्षेत्र मे एक पाकिस्तानी विमान मार गिराया गया । इससे दोनों देशो मे तनाव फिर बढ़ गया । मई, 1967 मे अगतूर क्षेत्र मे भारत और पाकिस्तान के सैनिको के बीच एक मुठभेड़ भी हुई । पहल पाकिस्तान ने की, अत आकस्मिक आक्रमण के कारण 7 भारतीय सैनिक मारे गए ।

कश्मीर पर पाकिस्तानी रवैया पूर्ववत् रहा । अप्रैल, 1966 मे पाकिस्तान कश्मीर समस्या को पुनः सुरक्षा-परिषद् मे ले गया । कश्मीर मे हुए दगो को पाकिस्तान ने 'कश्मीरियो के विद्रोह' की संज्ञा देते हुए सयुक्त राष्ट्रसघ के हस्तक्षेप की माँग की । भारत ने पाक-आरोपो को बेहूदा बताया । सुरक्षा-परिषद् कुछ न कर सकी । अन्त मे, यही प्रस्ताव पारित होकर रह गया कि दोनो पक्ष प्रत्यक्ष वार्ता द्वारा समस्या के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए प्रयास करें ।

याहिया खाँ द्वारा सत्ता ग्रहण और पाक शत्रुता में वृद्धि—ताशकन्द समझौते के बाद से ही पाकिस्तान के प्रति रूसी रवैये मे कुछ परिवर्तन आया और जुलाई, 1968 मे रूस ने उसे सैनिक सहायता देने का निश्चय किया । तत्कालीन परिस्थितियो मे भारत की चिन्ता और प्रतिक्रिया का रूस ने कोई ख्याल नही किया । इसी समय

पाकिस्तान की आन्तरिक राजनीति में उथल-पुथल शुरू हुई और अप्रैल, 1969 में अयूबखाँ से सत्ता निकल कर जनरल याहिया खाँ के हाथों में आ गई। यह आशा की गई कि नया प्रशासन भारत के प्रति मैत्रीपूर्ण रुख अपनाएगा, लेकिन कुछ समय शान्त रहने के बाद जनरल याहिया खाँ ने भारत के प्रति घोर शत्रुतापूर्ण नीति अपनानी शुरू की जिसकी परिणति दिसम्बर, 1971 में भारत-पाक युद्ध और पाकिस्तान के विभाजन में हुई।

रबात सम्मेलन और पाक रवैया—22 सितम्बर, 1969 में मोरक्को की राजधानी रबात में इस्लामी शिखर सम्मेलन आयोजित हुआ। पाकिस्तान के विरोध के कारण सम्मेलन के आयोजकों ने भारत को निमन्त्रण नहीं भेजा। इस पर भारत की ओर से कूटनीतिक प्रयत्न किए गए और अन्ततोगत्वा 23 सितम्बर को उसे सम्मेलन में भाग लेने का निमन्त्रण प्राप्त हो गया। केन्द्रीय मन्त्री फखरुद्दीन अली अहमद के नेतृत्व में भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल रबात पहुँचा। सम्मेलन में भारत को आमन्त्रित करने के विरोध में 24 सितम्बर को याहिया खाँ द्वारा सम्मेलन का बहिष्कार कर दिया गया और तब भारत को न केवल सम्मेलन में भाग लेने से वंचित कर दिया गया वरन् उसके साथ सामान्य शिष्टाचार भी नहीं बरता गया। यह सब पाकिस्तानी कूटनीति का परिणाम था। पाकिस्तान ने सम्मेलन में भारत के भाग लेने पर सम्मेलन के बहिष्कार करने और लौट जाने की धमकी दी और मोरक्को, जोर्डन आदि उसके अरब मित्रों ने उसका पूरा साथ दिया। केवल संयुक्त अरब-गणराज्य का ही समर्थन भारत के पक्ष में रहा। वास्तव में रबात में जो कुछ हुआ वह भारत का राष्ट्रीय अपमान था। भारत ने अपने विरोध प्रदर्शन के लिए कठोर कूटनीतिक कार्यवाही कर 14 अक्तूबर को मोरक्को और जोर्डन से अपने राजदूत वापस बुला लिए।

विमान अपहरण-काण्ड—पाकिस्तान निरन्तर भारत-विरोधी कार्यवाहियाँ करता रहा। 30 जनवरी, 1971 को इण्डियन एयर लाइन्स के एक यात्री-विमान का अपहरण कर जबरन लाहौर हवाई अड्डे पर उतारा गया। पाकिस्तान ने अपहरणकर्त्ताओं को राजनीतिक शरण दी, विमान के यात्रियों को लौटा दिया लेकिन अपहरणकर्त्ताओं द्वारा आग लगवाकर विमान जलवा दिया। भारत में तीव्र रोष की लहर दौड़ गई और सरकार ने पाकिस्तानी विमानों के भारतीय प्रदेश से होकर उड़ने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। यह स्पष्ट कह दिया गया कि पाक विमानों के भारतीय वायु प्रदेश के ऊपर से उड़ानों पर तब तक प्रतिबन्ध लगा रहेगा जब तक पाकिस्तान ध्वस्त किए गए विमान का मुआवजा नहीं देता और अपहरणकर्त्ताओं को सौंप नहीं देता।

विमान अपहरण-काण्ड और भारत द्वारा बदले की कार्यवाही से सीमान्त पर प्रतिरोध का वातावरण और अधिक गम्भीर हो गया तथा पाकिस्तान में नागरिक सुरक्षा के अभ्यास हुए और लोगों को युद्ध का प्रशिक्षण लेने का आग्रह किया गया। वैसे भी जनरल याहिया खाँ 22 दिसम्बर, 1970 को ही पाकिस्तान के 18 से 2

वर्ष के युवकों के लिए अनिवार्य सैनिक प्रशिक्षण की घोषणा कर चुके थे। पाकिस्तानी शासक यह समझे बैठे थे कि उनका एकमात्र संबल धर्मान्धता और भारत-विरोध है।

बंगलादेश में मुक्ति आन्दोलन का विस्फोट और भारत-पाक सम्बन्धों में तेजी से बिगाड़—पाक जनता की जनतान्त्रिक आकांक्षाओं के उठते हुए तूफान को शान्त करने के लिए जनरल याहिया खाँ ने सत्ता ग्रहण करते समय यह घोषणा की थी कि वे शीघ्र ही नए चुनाव सम्पन्न करवा कर जन-प्रतिनिधियों को शासन सौंप देंगे। विवशता की बेड़ियों से जकड़े हुए याहिया खाँ ने दिसम्बर, 1970 में चुनाव कराए जिनमें शेख मुजीबुर्रहमान के नेतृत्व में गठित पूर्वी बंगाल की आवामी लीग को पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ तथा पश्चिमी पाकिस्तान में जुल्फिकार अली भुट्टो के नेतृत्व में गठित पीपुल्स पार्टी सबसे बड़े दल के रूप में उभर कर सामने आई। आवामी लीग की विजय उसके छः सूत्री कार्यक्रम के आधार पर हुई थी जिसका प्रमुख आधार पूर्वी बंगाल के लिए पूर्ण स्वायत्तता की माँग थी, अतः आवामी लीग द्वारा पूर्वी बंगाल के लिए पूर्ण स्वायत्तता की माँग की गई जिसे जनरल याहिया खाँ और भुट्टो द्वारा अस्वीकार कर दिया गया और 25 मार्च को समझौता वार्ता भंग कर शेख मुजीबुर्रहमान को गिरफ्तार कर लिया गया तथा जनता के शान्तिपूर्ण असहयोग आन्दोलन को कुचलने के लिए नृशंस सैनिक कार्यवाही प्रारम्भ कर दी गई। वाध्य होकर आवामी लीग ने पूर्वी बंगाल की स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी और पाकिस्तानी सैनिक आक्रमण से नवजात 'बंगलादेश' की रक्षा के लिए जनता ने सशस्त्र प्रतिरोध शुरू कर दिया।

पाकिस्तानी शासकों ने जनता के मुक्ति-आन्दोलन को भारत के षड्यन्त्र का परिणाम बतलाया और एक तरफ तो इसे भारत-पाक समस्या के रूप में विश्व जनमत के सम्मुख रखने का प्रयास किया और दूसरी तरफ बंगालवासियों पर घोर अत्याचार एवं अभूतपूर्व हत्याकाण्ड का क्रम चालू रखा, जिससे शरणार्थियों के जत्थे के जत्थे भारत आने लगे। लगभग एक करोड़ शरणार्थी भारत आए। इस प्रकार पाकिस्तान ने एक तरह से भारत के विरुद्ध भीषण आर्थिक युद्ध छेड़ दिया। भारत की अर्थव्यवस्था पर भारी प्रभाव पड़ने लगा और बंगलादेश की समस्या उसके लिए जीवन-मरण का प्रश्न बन गई। भारत ने समस्या की भीषणता को सही रूप में विश्व-जनमत के सम्मुख रखा तथा पाकिस्तान की बर्बरतापूर्ण कार्यवाहियों से दुनिया को परिचित कराया। भारत ने विश्व के देशों से अपील की कि जब तक बंगलादेश की समस्या का सफल समाधान न हो जाए तब तक वे पाकिस्तान को किसी भी प्रकार की सैनिक और आर्थिक सहायता न दें। भारत की ओर से अनेक प्रतिनिधियों ने एवं स्वयं श्रीमती गांधी ने विदेश-यात्रा की तथा बंगलादेश की समस्या के सम्बन्ध में भारतीय दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। सोवियत संघ और विश्व के अनेक राष्ट्रों ने भारतीय दृष्टिकोण के प्रति सहानुभूति प्रकट की तथा पाकिस्तान को सहायता बन्द कर दी, किन्तु अमेरिका और चीन ने बंगलादेश के प्रश्न को पाकिस्तान का घरेलू मामला बताकर उसे सैनिक और आर्थिक सहायता देने का क्रम बराबर जारी रखा।

जब परिस्थिति बहुत ही विकट हो गई और शरणार्थियों का अथाह प्रवाह भारत में आना रहा तो भारत सरकार ने पाकिस्तान के प्रति कठोर रवैया अपनाते हुए बंगलादेश के जन आन्दोलन को अपना पूर्ण समर्थन देने का निश्चय कर लिया। पाकिस्तान में भारत से युद्ध छेड़ने का उन्माद प्रबल होता गया और पश्चिमी तथा पूर्वी दोनों ही सीमान्तों पर पाक-सेनाएँ आए दिन छुटपुट हमले करने लगी। फिर भी भारत ने पूर्ण संयम से काम लेते हुए पर्याप्त प्रयत्न किया कि युद्ध के बादल छँट जाएँ, लेकिन जो होनी थी वह होकर रही। जनरल याहिया खाँ ने भारत पर आक्रमण करके न केवल अपनी राजनीतिक हत्या करली बल्कि पूर्वी बंगाल के पृथक्करण को सुनिश्चित बना दिया और बंगलादेश-गणराज्य का उदय होकर रहा।

भारत पाक युद्ध, दिसम्बर, 1971—चीन और पाकिस्तान से भेंट में प्राप्त विपुल सैनिक सहायता के बल पर युद्ध के नशे में चूर पाकिस्तान ने 3 दिसम्बर, 1971 की सायंकाल भारत के विभिन्न हवाई-अड्डों पर अचानक ही भीषण हवाई आक्रमण कर दिया। भारत की स्थल और जल सेना पूर्ण सक्रिय हो गई। भारत ने पाकिस्तान को एक न भूलने वाला सबक सिखाने का निश्चय करके विद्युत गति से प्रत्याक्रमण किया और पश्चिमी तथा पूर्वी दोनों ही मोर्चों पर जल, थल और नभ में पाकिस्तान के सैन्य तन्त्र को भीषण क्षति पहुँचाई। पश्चिमी मोर्चे पर युद्ध पाकिस्तान की भूमि पर लड़ा गया और पूर्वी मोर्चे पर भारतीय सेना तथा 'मुक्ति-वाहिनी' की संयुक्त कमान ने भारतीय ले जनरल जगजीत सिंह अरोड़ा के नेतृत्व में कहर ढा दिया।

युद्धकाल में 5 दिसम्बर को सुरक्षा परिषद् की आपातकालीन बैठक में पाकिस्तान ने भारत पर आरोप लगाया कि वह 'पूर्वी पाकिस्तान' में क्रान्तिकारियों को सहायता देकर पाकिस्तान की क्षेत्रीय अखण्डता पर प्रहार कर रहा है। भारतीय प्रतिनिधि समरसेन ने पाक आरोपों का तीव्र विरोध किया और सोवियत रूस के बार-बार वीटो' के कारण सुरक्षा परिषद् में भारत विरोधी प्रस्ताव पारित नहीं हो सका। इसी बीच 6 दिसम्बर को श्रीमती गांधी ने भारतीय संसद् में 'बंगलादेश गणराज्य' के उदय की सूचना दी। 'बंगलादेश' को मान्यता देकर श्रीमती गांधी ने समस्या को बिलकुल एक नया मोड़ दे दिया और संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा सम्पूर्ण विश्व को बता दिया कि भारत किसी क्रान्तिकारी आन्दोलन को नहीं वरन् एक स्वतन्त्र राज्य की वैध सरकार को सहायता दे रहा है जिसके साथ 'नाटो' जैसा कोई सैनिक समझौता न होने पर भी भारत की पूर्ण सहानुभूति है।

भारत-पाक-युद्ध केवल 14 दिन चला और 16 दिसम्बर, 1971 को बंगल देश की राजधानी ढाका में पाक सेना के ले. जनरल ए ए के नियाजी ने आत्म-समर्पण के दस्तावेजों पर हस्ताक्षर कर दिए। पूर्वी मोर्चे पर लगभग 1 लाख पाक फौजों ने आत्म-समर्पण किया और पश्चिमी मोर्चे पर पाकिस्तान की लगभग 14 सौ वर्गमील भूमि पर कब्जा कर लिया गया। पाक फौजों के आत्म-समर्पण के तुरन्त बाद ही श्रीमती गांधी ने 17 दिसम्बर को रात्रि के 8 बजे 'एकपक्षीय युद्ध-विराम' की घोषणा

करते हुए पाक-राष्ट्रपति जनरल याहिया खाँ से युद्धबन्दी-प्रस्ताव को स्वीकार करने की अपील की। पाकिस्तान के लिए तो यह एक वरदान था जिसे याहिया खाँ ने स्वीकार कर लिया। भारत-पाक युद्ध के दौरान अमेरिका ने अपना शक्तिशाली सातवां जहाजी बेड़ा बंगाल की खाड़ी में भेजा था जिसका उद्देश्य किसी न किसी रूप मे पाकिस्तान की सहायता करना था, किन्तु भारतीय हितो के रक्षार्थ हिन्दमहासागर मे रूसी युद्ध पोतों की उपस्थिति ने अमेरिका को कोई ऐसा कदम न उठाने के लिए विवश कर दिया जिससे दोनो महाशक्तियो के टकराने का भय पैदा हो जाए। भारत के एकपक्षीय युद्ध विराम ने भी अमेरिकी मनसूबों पर पानी फेर दिया। इसमे कोई सन्देह नही कि श्रीमती गांधी ने राष्ट्रपति निक्सन को विदेश-नीति के क्षेत्र मे गहरी कूटनीतिक पराजय दी। इतिहास का यह मजाक ही कहा जाएगा कि लोकतन्त्र की रक्षा के लिए वह इस आगे आया जिसे अमेरिका और उसके पिछलग्गू राष्ट्र लोकतन्त्र का शत्रु कहते आ रहे थे। अपने आपको महान् लोकतान्त्रिक देश कहने वाले अमेरिका ने याहिया खाँ की अमानुषिक तानाशाही को समर्थन दिया और जनता के एक महान् लोकतान्त्रिक आन्दोलन के दमन मे परोक्ष-अपरोक्ष रूप से प्रोत्साहन दिया।

युद्ध के परिणाम—दिसम्बर, 1971 के भारत-पाक युद्ध मे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से कई महत्त्वपूर्ण परिणाम निकले—

1. भारत की विदेश-नीति मे एक नया परिवर्तन आया। उसने पूर्वापेक्षा अधिक यथार्थवादी और आत्मविश्वासपूर्ण रूप ग्रहण किया। पाकिस्तान के प्रति तुष्टिकरण की नीति के स्थान पर दृढ़ता और आवश्यक कठोरता की नीति अपनायी जाने लगी। इस नीति का प्रारम्भ तो पहले ही हो चुका था, लेकिन अब यह एक कदम और आगे बढ़ गई। विदेश-नीति मे इस परिवर्तन का सामान्यतया स्वागत किया गया।

2. भारत के प्रति अमेरिकी विदेश-नीति की कुटिलता का अच्छी तरह पर्दाफाश हो गया। यह स्पष्ट हो गया कि अमेरिका भारतीय हितो की कोई परवाह नही करता, एक महान् लोकतन्त्र के प्रति शत्रुता और तानाशाही राज्य के प्रति मित्रता का व्यवहार कर सकता है। भारत मे अमेरिका के विरुद्ध तीव्र असन्तोष व्याप्त हो गया और भारत सरकार का यह निश्चय और भी दृढ़ हो गया कि अमेरिकी सहायता पर आश्रित न रहा जाए। अब भारत में आत्म-निर्भरता का एक आन्दोलन-सा उठ खड़ा हुआ।

3. सोवियत संघ और भारत की मैत्री और अधिक घनिष्ठ हो गई। भारतीय नेतृत्व ने जनता को यह विश्वास दिला दिया कि जिन राष्ट्रों के साथ भारत के हित सम्बद्ध हैं, भारत उन्ही राष्ट्रों के साथ अपने सम्बन्ध और मजबूत बनाएगा। इस प्रकार के लक्षण स्पष्ट हो गए कि सोवियत संघ भारत का एक विश्वसनीय मित्र है, अमेरिका पर कोई विश्वास नही किया जा सकता और भारत को चीन से डरने की कोई आवश्यकता नही है।

4. इस युद्ध के फलस्वरूप न केवल पाकिस्तान विखण्डित हुआ, बल्कि अमेरिका और चीन के राजनीतिक हितों को भी गहरी ठेस पहुँची। अमेरिका और पाकिस्तान पहले की तुलना में और अधिक निकट आए क्योंकि अमेरिका के लिए एशिया में अब टूटे हुए पाकिस्तान के अलावा और कोई सहारा नहीं रहा।

5. अमेरिका और चीन का यह इरादा स्पष्ट हो गया कि वे भारत को एक कमजोर राष्ट्र के रूप में देखना चाहते हैं। दोनों को यह बात सहन नहीं थी कि अफगानिस्तान से लेकर मलेशिया तक के विस्तृत भू-भाग में भारत एक महाशक्ति के रूप में उदित हो।

6. एक प्रबल सैनिक शक्ति के रूप में भारत की प्रतिष्ठा से छोटे पड़ोसी राष्ट्रों के मन में यह आशंका घर कर गई कि कहीं भारत उनके प्रति दबाव की नीति न अपनाए, लेकिन भारत ने इस प्रकार की आशंकाओं को निर्मूल कर दिया। उदाहरणार्थ, कच्चातिवू श्रीलंका को सौंप कर भारत ने महान् उदारता का परिचय दिया।

7 पाकिस्तान में सैनिक शासन के प्रति तीव्र असन्तोष उत्पन्न हो गया और अन्त में पाकिस्तान की बागडोर असैनिक राजनीतिज्ञ श्री भुट्टो के हाथ में आई।

8 नवोदित बंगलादेश और भारत के बीच मैत्री का निरन्तर विकास होता चला गया।

9 राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में तो इस युद्ध के फलस्वरूप श्रीमती गांधी को एक शक्तिशाली राष्ट्रीय नेतृत्व प्राप्त हुआ। भारतीय यह महसूस करने लगे मानो सदियों के बाद भारत को एक ऐसा नेता मिला है जो उसे विश्व में एक महान् राष्ट्र के रूप में प्रतिष्ठित करने को कटिबद्ध है।

शिमला-समझौता, जुलाई, 1972

भारत ने पराजित और विखण्डित पाकिस्तान की दुर्दशा का कोई अनुचित लाभ न उठा कर इस बात का प्रयत्न किया कि दोनों देश पारस्परिक वार्ता द्वारा अपने सभी विवादों का समाधान कर उपमहाद्वीप में मैत्री के एक नए युग का सूत्रपात करें। काफी विचार-विमर्श के बाद आखिर भारत और पाकिस्तान के बीच शिमला (भारत) में जून, 1972 के अन्तिम सप्ताह में एक शिखर सम्मेलन के आयोजन का निश्चय हुआ। शिमला-वार्ता 28 जून से 3 जुलाई तक चली। 3 जुलाई को दोनों देशों के बीच ऐतिहासिक शिमला-समझौते पर हस्ताक्षर हो गए। इस समझौते के कुछ महत्त्वपूर्ण अंश निम्नलिखित हैं—

1. भारत व पाकिस्तान की सरकारों का संकल्प है कि वे दोनों देशों के बीच अब तक चले आ रहे विद्वेष और विवादों को समाप्त कर पारस्परिक मैत्री-पूर्ण सम्बन्धों व उपमहाद्वीप में स्थायी शान्ति की स्थापना के लिए काम करेंगी ताकि दोनों देश अपने साधनों व शक्ति का उपयोग अपनी जनता के हित में कर सकें।

इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए भारत व पाकिस्तान की सरकारें इन बातों पर सहमत हैं—

(क) दोनों देशों का संकल्प है कि वे अपने मतभेदों को द्विपक्षीय वार्ता द्वारा शान्तिपूर्ण उपायों से या ऐसे शान्तिपूर्ण उपायों से जिनके बारे में दोनों देशों के बीच सहमति हो गई हो, हल करेंगे। जब तक दोनों देशों की समस्या का अन्तिम रूप से समाधान न हो जाए, कोई भी एक पक्ष स्थिति को नहीं बदलेगा और दोनों देश इस बात का प्रयास करेंगे कि ऐसा कोई काम न हो जिससे शान्तिपूर्ण सम्बन्धों को आघात पहुँचे।

(ख) संयुक्त राष्ट्रसंघ की घोषणा के अनुसार दोनों राष्ट्र एक दूसरे के विरुद्ध बल प्रयोग नहीं करेंगे तथा वे न तो एक दूसरे की सीमाओं का अतिक्रमण करेंगे और न राजनीतिक स्वतन्त्रता में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप करेंगे।

2. दोनों ही सरकारें अपनी सामर्थ्य के अनुसार एक दूसरे के प्रति घृणापूर्ण प्रचार नहीं करेंगी। दोनों राष्ट्र उन सभी समाचारों को प्रोत्साहन देंगे जिनके माध्यम से आपसी सम्बन्धों में सुधार की आशा हो।

3. आपसी सम्बन्धों में सामान्यता लाने की दृष्टि से—(क) दोनों राष्ट्रों के बीच डाक-तार-सेवा तथा जल एवं वायु मार्गों द्वारा पुन. संचार-व्यवस्था स्थापित की जाएगी। (ख) एक दूसरे के नागरिक और निकट आएँ, इसके लिए नागरिकों को आने-जाने की सुविधाएँ दी जाएँगी। (ग) जहाँ तक सम्भव हो सके व्यापारिक एवं अन्य आर्थिक मामलों में सहयोग का क्रम शीघ्रातिशीघ्र प्रारम्भ होगा। (घ) विज्ञान एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में आदान-प्रदान बढ़ाया जाएगा।

4 स्थायी शान्ति स्थापना की प्रक्रिया का क्रम आरम्भ करने के लिए दोनों सरकारें सहमत हैं कि (क) भारतीय और पाकिस्तानी सेनाएँ अपनी अन्तर्राष्ट्रीय सीमा में लौट जाएँगी। (ख) दोनों देश बिना एक दूसरे की स्थिति को क्षति पहुँचाए जम्मू-कश्मीर में 17 दिसम्बर, 1971 को हुए युद्ध-विराम की नियन्त्रण रेखा को मान्यता देंगे। (ग) सेनाओं की वापसी इस समझौते के लागू होने के 30 दिन के अन्दर पूरी हो जाएगी।

5. दोनों देशों की सरकारें इस बात पर सहमत हैं कि उनके राष्ट्राध्यक्षों की सुविधाजनक अवसर पर भविष्य में पुनः भेंट होगी। इस बीच दोनों देशों के प्रतिनिधि स्थायी शान्ति की स्थापना और सम्बन्धों को सामान्य बनाने के लिए आवश्यक व्यवस्थाओं के बारे में विचार-विमर्श करेंगे। इनमें युद्ध-बन्दियों एवं नागरिकों की वापसी, जम्मू-कश्मीर के अन्तिम हल व कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने के प्रश्न शामिल हैं।

शिमला-समझौते के बारे में भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त किए गए। आलोचकों ने 'जवानों के बलिदान की उपेक्षा' और 'जीती हुई भूमि' लौटाने के निश्चय पर तीव्र विरोध प्रकट किया। जनसंघी नेता श्री वाजपेयी ने इस समझौते में सरकारी बुद्धि का दिवालियापन देखा कि पाकिस्तान 69 वर्ग मील क्षेत्र खाली करेगा जबकि भारत 5,139 वर्ग मील पाकिस्तानी इलाका देगा। लोकसभा में 31 जुलाई, 1972 के अपने भाषण में श्री वाजपेयी ने शिमला-समझौते को 'देश के हित के साथ

विश्वासघात' बताया और कहा कि भारत ने पाकिस्तान के साथ स्थायी शान्ति का बहुत अच्छा अवसर गँवा दिया है। समझौते द्वारा यही सिद्ध होता है कि देश यद्यपि युद्ध में जीता है, लेकिन कूटनीति में सरकार भुट्टो से हार गई है। श्री वाजपेयी ने देशभक्ति के ओज भरे स्वर में कहा कि हम यह मानते हैं कि हमें पाकिस्तान की भूमि नहीं चाहिए, लेकिन कश्मीर में पाकिस्तान ने जिस क्षेत्र पर कब्जा कर रखा है उसे खाली कराए बिना क्षेत्र को लौटाना हम कैसे सहन कर सकते हैं।

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि विरोधी पक्ष की आलोचनाओं में देशभक्ति की गूँज थी, मातृभूमि के लिए तड़प थी और देश के सम्मान तथा जवानों के बलिदान के प्रति उमग थी। किन्तु शिमला-समझौते का मूल्यांकन करते समय हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि समझौते में भारत ने कोई ऐसा काम नहीं किया जिससे राष्ट्रीय सम्मान को किसी प्रकार की कोई क्षति पहुँची हो। इस समझौते से वातावरण के सुधार में सहायता मिली। श्रीमती इन्दिरा गांधी ने 13 जुलाई 1972 के अपने भाषण में लोकसभा में यह विश्वास प्रकट किया कि शिमला-समझौते में दोनों ओर से यह अहसास किया गया है कि दोनों देशों का भला मिलकर चलने में ही है। भारत को शान्ति के लिए लड़ना है और उसे ऐसे कदम उठाने चाहिए जो शान्ति की ओर ले चलें। भारत किसी भी आक्रमण का मुकाबला करने के लिए तैयार है, किन्तु इस बात पर अवश्य विचार करना चाहिए कि क्या शान्ति सम्भव नहीं है। श्रीमती गांधी ने कहा कि आज ऐसी स्थिति हो गई है कि पाकिस्तान चाहे भी तो भारत के विरुद्ध अधिक कुछ नहीं कर सकता। यह देखना भारत का काम है कि यह स्थिति कायम रहे और कठोर रुख से यह स्थिति कायम नहीं रह सकती। यदि यूरोप के देशों ने पहले विश्व युद्ध के बाद जर्मनी के साथ वैसा ही व्यवहार किया होता जैसा कि भारत ने पाकिस्तान के साथ किया है, तो सम्भवतः हिटलर का उदय न हुआ होता।

शिमला-समझौते के बाद से मई, 1976 तक

शिमला-समझौते के बाद भारत और पाकिस्तान तथा पाकिस्तान और बंगलादेश के बीच सम्बन्ध सुधारने की एक प्रक्रिया शुरू हो गई। बाधाओं के बावजूद धीरे-धीरे प्रगति हुई। पाकिस्तान के दुराग्रही रवैये के कारण कई बार तनावों में वृद्धि हुई लेकिन फिर स्थिति में सुधार हुआ और यही क्रम अभी तक चल रहा है।

शिमला-समझौते की पुष्टि और ठाकुर चौक के बारे में समझौता—शिमला से लौटते ही श्री भुट्टो ने पाकिस्तान की राष्ट्रीय एसेम्बली की एक बैठक बुलाई और कहा कि समझौते में पाकिस्तान ने किसी भी सिद्धान्त का परित्याग नहीं किया। अन्त में, एसेम्बली ने समझौते की पुष्टि कर दी और 7 अगस्त, 1972 को पाकिस्तान ने 6770 भारतीय नागरिकों को मुक्त करने की घोषणा भी कर दी। शिमला-समझौते के कार्यान्वयन के बारे में अगस्त, 1972 के अन्तिम सप्ताह में दोनों देशों के अधिकारियों की बैठक हुई। वार्ताओं और कठिनाइयों का दौर चला। ठाकुर

चौक नामक गाँव के प्रश्न पर काफी विवाद हुआ। अन्त में, 7 दिसम्बर, 1972 को ठाकुर-चौक के बारे में समझौता हो गया और 11 दिसम्बर को जम्मू-कश्मीर में पुनः रेखांकन सम्बन्धी मानचित्रों पर भी दोनों पक्षों ने हस्ताक्षर कर दिए। तत्पश्चात् पाकिस्तान ने ठाकुर-चौक भारत को सौंप दिया और भारतीय सेनाएँ पश्चिमी क्षेत्र में सिन्ध तथा पंजाब में सियालकोट क्षेत्रों से पीछे हट गईं। जम्मू-कश्मीर में वास्तविक नियन्त्रण-रेखा को अन्तिम रूप में अंकित करने के उपरान्त दोनों पक्षों की सेनाएँ अपने-अपने स्थानों पर लौट गईं।

पाकिस्तान द्वारा विश्व अदालत में फरियाद, मई, 1973—प्रत्येक समस्या पर पाकिस्तान का आचरण अड़ियल रहा। उसने शिमला-समझौते की भावना का अनादर किया। युद्धबन्दियों का प्रश्न विवाद का एक बड़ा मुद्दा बन गया। पाकिस्तान चाहता था कि उसके सभी युद्धबन्दी तत्काल छोड़ दिए जाएँ, किन्तु बंगलादेश की यह न्यायोचित माँग थी कि पाकिस्तान से बंगालियों और बंगलादेश से बिहारी मुसलमानों की वापसी के प्रश्न पर भी बातचीत हो। 18 अप्रैल, 1973 को भारत तथा बंगलादेश के विदेश मन्त्रियों ने उपर्युक्त तीनों समस्याओं के समाधान के लिए एक त्रि-सूत्री प्रस्ताव रखा; किन्तु पाकिस्तान ने परस्पर बातचीत द्वारा कोई समझौता करने की जगह मई, 1973 में इस त्रिसूत्री प्रस्ताव के विरुद्ध विश्व-अदालत में फरियाद की। पाकिस्तान ने कहा कि सन् 1948 के जिनेवा समझौते के अनुसार नरसंहार के अपराधियों को सजा देने का अधिकार पाकिस्तान को है, भारत को इस पर कोई कार्यवाही नहीं करनी चाहिए।

मानवीय समस्याओं पर दिल्ली समझौता, अगस्त, 1973—विरोधों और कठिनाइयों के बावजूद पाकिस्तानी युद्धबन्दियों तथा अन्य मानवीय समस्याओं पर अनेक स्तरों पर बातचीत के दौर चले और अन्त में 28 अगस्त, 1973 को भारत और पाकिस्तान ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किए जिसके अनुसार पाकिस्तान से सभी बंगालियों, बंगलादेश से काफी बड़ी संख्या में पाकिस्तानी नागरिकों और भारत से उन 195 युद्धबन्दियों को छोड़कर जिन पर बंगलादेश में मुकदमा चलाया जाना था, शेष सभी युद्धबन्दियों की जल्दी ही एक साथ अदला-बदली करने का निर्णय लिया गया। यह समझौता करने में भारत सरकार बंगलादेश की सरकार से निरन्तर परामर्श करती रही। 195 युद्धबन्दियों के विषय में समझौते में यह प्रावधान रखा गया कि प्रत्यावर्तन (अदला-बदली) की प्रक्रिया के बीच किसी पर कोई मुकदमा नहीं चलाया जाएगा और ये युद्धबन्दी भारत में ही रहेंगे। यह तय हुआ कि बाद में इस समस्या के समाधान के लिए त्रिपक्षीय विचार-विमर्श होगा।

दिसम्बर, 1973 में पाकिस्तान ने 195 युद्धबन्दियों सम्बन्धी अपना आवेदन-पत्र विश्व-अदालत से वापस ले लेने का निर्णय किया। पाकिस्तान की इस कार्यवाही का स्वागत करते हुए भारत ने आशा प्रकट की कि अब इन युद्धबन्दियों के मामले को निपटाने की दिशा में पारस्परिक वार्ता से कोई उपयुक्त कदम उठाया जा सकेगा, दिल्ली-समझौते के अधीन प्रत्यावर्तन का कार्य, कुछ बाधाओं के बावजूद पूरा हो गया।

कश्मीर के प्रश्न पर महासभा में श्री भुट्टो की रट, सितम्बर, 1973—शिमला-समझौते में यह तय हुआ था कि कश्मीर के प्रश्न का स्थायी समाधान पाकिस्तान के साथ सम्बन्धों के सामान्यीकरण और पूर्ण शान्ति स्थापना के बाद ही निकालना है, किन्तु सितम्बर, 1973 में श्री भुट्टो ने संयुक्त राष्ट्र महासभा के समक्ष अपने भाषण में फिर कश्मीर की रट लगाई। भारतीय विदेश मन्त्री ने स्पष्ट रूप से कहा कि इस प्रश्न को संयुक्त राष्ट्रसंघ में उठाने की कोई तुक नहीं है क्योंकि शिमला में दोनों पक्षों में इस बात पर सहमति हो गई थी कि प्रश्न का द्विपक्षीय वार्ता से समाधान किया जाएगा। नवम्बर, 1973 में पाक प्रधानमन्त्री ने पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर के दौरे के समय कुछ ऐसे बयान जारी किए जो शिमला-समझौते के प्रावधानों के विपरीत थे, विशेष रूप से उन प्रावधानों के जिनमें एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की बात कही गई है। पाकिस्तान सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया गया और यह बात स्पष्ट कर दी गई कि पाकिस्तान का उच्चतम प्राधिकारी अगर ऐसे वक्तव्य देता है तो शिमला-समझौते पर अमल के बारे में पाकिस्तान के इरादों के प्रति भारत में आशंका उत्पन्न हो सकती है।

बंगलादेश को पाकिस्तानी मान्यता, फरवरी, 1974—भारत और पाकिस्तान और पाकिस्तान और बंगलादेश के बीच तनाव का एक मुख्य कारण यह भी रहा कि पाकिस्तान ने बंगलादेश को कूटनीतिक मान्यता प्रदान नहीं की। अगस्त, 1973 के दिल्ली-समझौते के बाद यह दिखाई देने लगा कि पाकिस्तान बंगलादेश को शीघ्र ही मान्यता दे देगा। जब फरवरी, 1974 में लाहौर में अन्तर्राष्ट्रीय इस्लामी सम्मेलन आयोजित हुआ तो बंगलादेश को भी, जहाँ मुसलमानों की आबादी लगभग 7 करोड़ है, सम्मेलन में आमन्त्रित किया गया। किन्तु शेख मुजीब ने स्पष्ट कह दिया कि जब तक पाकिस्तान बिना शर्त बंगलादेश को मान्यता नहीं देता, तब तक पाकिस्तान की भूमि पर हो रहे किसी सम्मेलन में बंगलादेश भाग नहीं ले सकता। शेख मुजीब के इस उत्तर पर इस्लामी राज्यों में कूटनीतिक वार्ताओं का दौर चला। कुवैत के विदेश मन्त्री के नेतृत्व में एक प्रतिनिधि-मण्डल ने ढाका जाकर शेख मुजीब और अन्य नेताओं से बातचीत की। अन्त में 22 फरवरी को पाकिस्तान ने बंगलादेश को मान्यता दे दी और शेख मुजीब भी दल-बल सहित इस्लामी सम्मेलन में भाग लेने के लिए 23 फरवरी को लाहौर पहुँच गए। पाकिस्तान की मान्यता के तुरन्त बाद ईरान और टर्की ने भी बंगलादेश को मान्यता देने की घोषणा कर दी। बंगलादेश को मान्यता देकर पाकिस्तान ने भारतीय उपमहाद्वीप की एक वास्तविकता को स्वीकार किया जिससे इस क्षेत्र में शान्तिपूर्ण समाधान की प्रक्रिया को प्रोत्साहन मिला। पाकिस्तान द्वारा मान्यता के बाद यह प्रायः निश्चित हो गया कि संयुक्त राष्ट्रसंघ में बंगलादेश के प्रवेश का चीन और पाकिस्तान विरोध नहीं करेंगे और 195 युद्ध-अपराधियों की भी रिहाई हो जाएगी।

दिल्ली के दो समझौते, अप्रैल, 1974—भारत, बंगलादेश और पाकिस्तान के विदेश मन्त्रियों ने 9 अप्रैल, 1974 को दिल्ली में एक त्रिपक्षीय समझौते पर

हस्ताक्षर किए। समझौते के अनुसार बंगलादेश ने विवादग्रस्त 195 पाकिस्तानी युद्ध-अपराधियों को मुक्त करने का निर्णय लिया। पाकिस्तान ने स्वीकार किया कि बगलादेश में पाक-सैनिक अपराधियों ने अपराध किए होंगे। पाकिस्तान ने बगलादेश से तीन प्रकार के पाकिस्तानी नागरिकों को वापस लेने की बात मान ली—(i) जो पश्चिमी पाकिस्तान के निवासी थे, (ii) जो पाकिस्तान-सरकार के कर्मचारी थे, तथा (iii) जो विभाजित परिवार के सदस्य थे। संख्या की कोई सीमा निश्चित नहीं की गई। त्रिपक्षीय समझौते के अवसर पर ही भारत और पाकिस्तान के बीच एक द्वि-पक्षीय समझौते पर हस्ताक्षर हुए जिसके अन्तर्गत उन भारतीय और पाकिस्तानी नागरिकों के आदान-प्रदान का निश्चय किया गया जो वर्षों से उन दोनों देशों की जेलों में बन्दी थे। ये दोनों समझौते महत्वपूर्ण थे क्योंकि इनके द्वारा न केवल कुछ गम्भीर मानवीय समस्याओं का समाधान हुआ बल्कि उप-महाद्वीप में शान्ति की शक्तियों को भी प्रोत्साहन मिला। राजनीतिक क्षेत्रों में यह आशा व्यक्त की गई कि इन समझौतों से एक ओर भारत तथा पाकिस्तान में और दूसरी ओर पाकिस्तान तथा बगलादेश में मैत्री और सद्भाव का एक नया अध्याय शुरू होगा।

भारत के परमाणु-विस्फोट पर पाकिस्तान की बौखलाहट, मई 1974—विदेश नीति के क्षेत्र में पाकिस्तान की रण-नीति कुछ विचित्र रही है। पूरी तरह युद्ध में अपमानित होकर पाकिस्तान समझौते के द्वार पर पहुँचता है। द्वार पर पहुँचने के बाद फिर अड़गेबाजी करता है और तब फिर समझौता कर लेता है। इसके बाद अपनी शान्तिप्रियता का ढिंढोरा पीटता है और फिर लड़ने, गाली गलौज करने, निराधार आरोप लगाने के मार्ग पर चल पड़ता है। सुधरते हुए सम्बन्धों को बिगाड़ लेने में पाकिस्तान का नेतृत्व अपनी सुरक्षा का अनुभव करता है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि पाकिस्तानी नेतृत्व को अपने ही देश में अपनी जनता का विश्वास प्राप्त नहीं है और जन-भावनाओं को भारत के विरोध में उकसा कर अपनी गद्दी बचाने की फिक्र में लगा रहता है। अप्रैल, 1974 में दोनों दिल्ली-समझौतों के बाद पाकिस्तान ने फिर तनाव का वातावरण बनाना शुरू कर दिया। 18 मई, 1974 को भारत ने अपना प्रथम परमाणु-परीक्षण किया और मियाँ भुट्टो चीख उठे कि यदि भारत अणु-बम बनाता है तो पाकिस्तान भी अणु-बम बनाएगा, चाहे उसे घास-पात खाकर या भूखा रहकर ही जीवित रहना पड़े। पाकिस्तान की बौखलाहट ऐसी लगती थी कि मानो एक पागल का प्रलाप हो। श्रीमती गाँधी ने यह स्पष्ट कर दिया कि भारत अणु-शक्ति का विकास रचनात्मक उद्देश्यों के लिए कर रहा है, किन्तु पाकिस्तान और उसके हिमायती राष्ट्रों के गले यह बात नहीं उतरी। श्रीमती गाँधी ने श्री भुट्टो को एक पत्र लिखकर दोनों देशों के बीच अनाक्रमण सन्धि का प्रस्ताव रखा, लेकिन पाकिस्तान ने इसे तुरन्त ठुकरा दिया। 'कमजोर, गुस्सा ज्यादा' वाली कहावत ही चरितार्थ हुई। पाकिस्तानी रवैये से दोनों देशों के सम्बन्धों में पुनः कटुता आ गई।

संचार और यात्रा-सुविधाएँ जारी करने के बारे में समझौता, सितम्बर,

1974—युद्ध के फलस्वरूप दोनों देशों के बीच डाक, दूर-संचार और यात्रा-सुविधाएँ समाप्त हो गई थी। सितम्बर, 1974 में इस्लामाबाद में दोनों पक्षों ने तीन समझौतों पर हस्ताक्षर करके इन सुविधाओं को तत्काल जारी करने का निर्णय लिया। इन समझौतों से दोनों देशों के बीच फिर सामान्यीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई, किन्तु कूटनीतिक सम्बन्धों की पुन. स्थापना अभी बहुत दूर की कौड़ी थी।

वर्ष 1975 में भारत-पाक सम्बन्ध—1975 के वर्ष में भारत पाकिस्तान के साथ मतभेदों को शान्तिपूर्वक दूर करने और उसके साथ सामान्य सम्बन्ध विकसित करने के लिए अपनी ओर से निरन्तर रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाता रहा ताकि इस उपमहाद्वीप में स्थायी शान्ति स्थापित रह सके लेकिन पाकिस्तान की ओर से अनुकूल दृष्टिकोण नहीं अपनाया गया। जब फरवरी, 1975 में अमेरिकी राष्ट्रपति फोर्ड ने पाकिस्तान को पुन अमेरिकी हथियार प्रदान करने की घोषणा की तो श्री भुट्टो भारत के साथ दो-दो हाथ करने की बात करने लगे। लन्दन स्थित पश्चिमी सैनिक विशेषज्ञों तक ने स्वीकार किया कि पाकिस्तान जिस प्रकार शस्त्रास्त्रों का संग्रह कर रहा है और अपने रक्षा व्यय में वृद्धि कर रहा है वह उसकी वर्तमान आवश्यकताओं की दृष्टि से बिल्कुल असन्तुलित है। श्री भुट्टो की धमकियाँ तब शान्त हुईं जब भारत के रक्षा मन्त्री ने चेतावनी दी कि "यदि पाकिस्तान माँगे हुए हथियारों के बल पर भारत पर आक्रमण करेगा तो लड़ाई भारतीय क्षेत्र में नहीं होगी अपितु हम पाकिस्तान की भूमि पर लड़ेंगे। हम पर यदि पाकिस्तान आक्रमण करेगा तो यह निर्णय हम करेंगे कि लड़ाई कहाँ करनी है।"

2. मई, 1975 से पाकिस्तान ने भारत के विरुद्ध निराधार और निन्दात्मक प्रचार आन्दोलन शुरू कर दिया जिससे वातावरण और विक्षुब्ध हो गया। अप्रैल में भारत ने संयुक्तराष्ट्र सुरक्षा परिषद् का चुनाव लड़ने के लिए जब अपनी उम्मीदवारी की घोषणा कर दी तो पाकिस्तान ने भी भारत के खिलाफ चुनाव लड़ने का निश्चय किया। पाकिस्तान के सरकार-प्रचारी माध्यमों ने तथा विदेशों में स्थित उसके मिशनों ने यह मिथ्या प्रचार शुरू कर दिया कि भारत अपनी आन्तरिक स्थिति से ध्यान हटाने के लिए पाकिस्तान के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही कर सकता है। 15 अगस्त को बंगलादेश में शेख मुजीबुर्रहमान की सरकार को हिंसापूर्वक हटा दिए जाने के बाद पाकिस्तान के प्रचार माध्यमों ने अपने भारत-विरोधी आन्दोलन को एक नया रूप देते हुए यह कहा कि हो सकता है भारत बंगलादेश में हस्तक्षेप करे। भारत सरकार ने इस वैमनस्यपूर्ण एवं निन्दात्मक प्रचार-आन्दोलन की ओर पाकिस्तान का ध्यान आकृष्ट किया क्योंकि यह शिमला समझौते के विपरीत था और सम्बन्धों को सामान्य बनाने के मार्ग में अड़चन सिद्ध हो रहा था। जो भी हो, पाकिस्तान में सरकारी प्रचारतन्त्र और वहाँ के अखबारों ने यह आन्दोलन जारी रखा।

3. भारत और पाकिस्तान के बीच मई, 1975 में वायुमार्ग सम्बन्धी समझौते के लिए जो उच्चस्तरीय वार्ता हुई वह भी सफल नहीं हुई क्योंकि

पाकिस्तान इस आग्रह पर डटा रहा कि हवाई मार्गों की सुविधा के सम्बन्ध में दोनों देशों के बीच व्यापक समझौता होने के बाद ही पाकिस्तान अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संस्था से भारत के विरुद्ध दायर किए गए अभियोग को वापस लेगा। भारतीय प्रतिनिधि मण्डल की यह समझाने की कोशिश व्यर्थ हुई कि अन्तर्राष्ट्रीय संस्था में अभियोग के चलते हुए दोनों देशों के बीच स्वस्थ और मित्रतापूर्ण वातावरण पैदा नहीं हो सकता। इसके लिए आवश्यक है कि पाकिस्तान अभियोग वापस ले।

4. भारत की पहल पर विदेश-सचिवों की बैठक में एक अन्य विषय पर भी वार्ता हुई जिसका सम्बन्ध सन् 1960 की सिन्धु जल सन्धि के अनुसार सलाल में चिनाब नदी पर पन बिजली-विद्युत परियोजना के निर्माण से था। भारत ने यह सुझाव दिया था कि पाकिस्तान में इस परियोजना के डिजाइन के सम्बन्ध में जो शंकायें उठायी गयी हैं उन्हें दूर करने के लिए द्विपक्षीय वार्ता हो। मई, 1975 में विदेश-सचिवों की बैठक में कुछ बातों पर सहमति हो गई, तथापि अन्त में पाकिस्तान सरकार ने निश्चय किया कि यह मामला किसी तटस्थ विशेषज्ञ के सामने रखा जाए।

5. जहाँ तक व्यापार का मामला है दोनों देशों के बीच व्यापार पुनः शुरू करने के बारे में जनवरी, 1975 में समझौता हो जाने के बाद भारत ने विदेशी मुद्रा में लगभग 25 करोड़ रु. मूल्य की 2 लाख सूत की गाँठें क्रय करने का अपना वचन पूरा किया। पाकिस्तान 1975 के वर्ष में भारत से सामान खरीदने के लिए कोई समझौता करने में असफल रहा।

6. वर्ष 1975 के पाकिस्तान जम्मू तथा कश्मीर के उस प्रदेश की स्थिति एकतरफा तरीके से बदलने के प्रयत्न करता रहा जिस पर उसका अवैध कब्जा है। भारत सरकार के विरोधों के बावजूद पाकिस्तान इस दिशा में आगे बढ़ता रहा और अगस्त, 1975 में उसने पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर के लिए एक परिषद् की स्थापना की जिसके अन्तर्गत पाकिस्तान सरकार ने पाक अधिकृत कश्मीर पर अपने नियन्त्रण को पहली बार संस्थागत व्यवस्थित रूप दिया। भारत सरकार ने पाकिस्तान सरकार से कहा कि इस परिषद् की स्थापना करने की उसकी कार्यवाही शिमला समझौते का उल्लंघन है क्योंकि यह जम्मू तथा कश्मीर के पाकिस्तान अधिकृत प्रदेशों की स्थिति में एकपक्षीय परिवर्तन है। दोनों ओर से पत्रों के आदान प्रदान में भारत सरकार ने यह स्पष्ट किया कि इन अधिकृत प्रदेशों में लागू 'अन्तरिम संविधान' में निहित तत्वों की दृष्टि से इस परिषद् की स्थापना एक बहुत बड़ा सांविधानिक परिवर्तन है जिसे मात्र प्रशासनिक प्रबन्ध नहीं माना जा सकता।

7. कश्मीर की समस्या को शान्तिपूर्वक द्वि-पक्षीय तरीके से सुलझाने के लिए शिमला-समझौते की शर्तों के अनुसार वचनबद्ध होने के बावजूद पाकिस्तान सरकार ने संयुक्त राष्ट्र के निर्जीव प्रस्तावों में पुनः अन्तर्राष्ट्रीय रुचि जगाने

की कोशिश की। टर्की और कम्बोडिया के राज्याध्यक्षों की पाकिस्तान-यात्राओं की समाप्ति पर जारी की गई संयुक्त विज्ञप्तियों में भी इस आशय का उल्लेख किया गया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शिमला-समझौते में संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रस्तावों का कोई उल्लेख नहीं है क्योंकि कश्मीर की परिस्थितियों में और उसकी स्थिति में आधारभूत परिवर्तन हो जाने के कारण यह प्रस्ताव पहले ही निर्जीव और निष्क्रिय हो चुका है। इस प्रकार पाकिस्तान शिमला-समझौते के शब्दों की एक पक्षीय और गलत व्याख्या करके अन्य देशों को भ्रमित करने की चेष्टा करता रहा।

वर्ष 1976-77 (मार्च, 77) तक सामान्य सम्बन्धों की स्थापना—जुलाई, 1972 में शिमला-समझौते पर हस्ताक्षर होने के बाद से भारत ने इस उप-महाद्वीप में स्थायी शान्ति की स्थापना के उद्देश्य से दोनों देशों के बीच सम्बन्ध सामान्य करने के लिए स्वयं अपनी ओर से विभिन्न कदम उठाए। इसके परिणामस्वरूप बहुत सी समस्याओं का समाधान हो गया।

27 मार्च, 1976 को पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री ने भारत के प्रधानमन्त्री को सूचित किया कि 'सम्बन्धों को सामान्य बनाने हेतु आवश्यक प्रोत्साहन देने' के इरादे से पाकिस्तान अन्तर्राष्ट्रीय सिविल विमान संगठन से अपना मुकदमा वापस लेने को तैयार है। सम्बन्धों के सामान्यीकरण की प्रक्रिया की प्रगति के उद्देश्य से भारत ने पहले ही ऐसी कार्यवाही करने के लिए कहा था। भारत की इस दृढ़ आस्था के अनुरूप कि शिमला-समझौते में स्थायी शान्ति की स्थापना और समस्त द्विपक्षीय सम्बन्धों की सुदृढ़ रूपरेखा सन्निहित है, प्रधानमन्त्री ने 11 अप्रेल, 1976 को इसका उत्तर देते हुए सुझाव दिया कि दोनों देशों के विदेश सचिवों की बैठक हो और इस बैठक में वे न सिर्फ सिविल विमानन के मामलों पर विचार विमर्श करें बल्कि रेल और सड़क-संचार भी पुनः चालू करने के बारे में तथा दोनों देशों के बीच राजनयिक सम्बन्ध पुनः स्थापित करने के बारे में भी विचार-विमर्श करें। पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री ने इन सुझावों को स्वीकार कर लिया और इसके परिणामस्वरूप 12 से 14 मई, 1976 तक इस्लामाबाद में भारत और पाकिस्तान के विदेश-सचिवों की वार्ता हुई और इस अवसर पर संयुक्त वक्तव्य प्रसारित किया गया जिसमें दोनों पक्षों के बीच यह समझौता निहित था कि दोनों देशों के टूटे हुए सभी सम्पर्क पुनः आरम्भ किए जाएँगे। दोनों पक्षों ने निजी क्षेत्र में द्विपक्षीय व्यापार चालू करना भी स्वीकार किया।

इस संयुक्त वक्तव्य में निहित समूचा समझौता 17 से 24 जुलाई, 1976 के बीच कार्यान्वित होना शुरू हो गया। दोनों देशों के बीच हवाई सम्पर्क 21 जुलाई, से पुनः चालू हुआ, 22 जुलाई को अमृतसर से पहली रेलगाड़ी लाहौर के लिए रवाना हुई और दोनों देशों के राजदूतों ने अपने-अपने प्रत्ययपत्र प्रस्तुत किए।

समीक्षाधीन वर्ष के उत्तरार्द्ध में भारत और पाकिस्तान के प्रतिनिधिमण्डल नई दिल्ली और इस्लामाबाद में मिले और इस अवसर पर उन्होंने जम्मू और कश्मीर राज्य में चिनाब नदी पर सलाल पन-बिजली से विद्युत पैदा करने के

लिए इसके उपयोग के बारे मे वार्ता की, बशर्ते कि इन संयन्त्रों का डिजाइन, निर्माण और संचालन संधि में निर्धारित मानदण्डो के अनुरूप हो। यह मामला पिछले छ: वर्षों से स्थाई सिन्धु आयोग के विचाराधीन है जिसमे भारत और पाकिस्तान के प्रतिनिधि सम्मिलित है। चूंकि आयोग के माध्यम से कोई समझौता नही हो सका, इसलिए जुलाई, 1976 मे पाकिस्तान ने यह प्रस्ताव प्रस्तुत किया कि सन्धि की शर्तों के अनुसार इस मामले को किसी तटस्थ विशेषज्ञ को परामर्श के लिए सौंप दिया जाए, किन्तु भारत ने यह सुझाव दिया कि ऐसा करने से पूर्व इस मामले पर द्विपक्षीय विचार-विमर्श कर लिया जाए। पाकिस्तान ने इस सुझाव को स्वीकार कर लिया। अक्तूबर, 1976 में नई दिल्ली और इस्लामाबाद मे वार्ता के दो दौर चले। यह बातचीत सौहार्द्रपूर्ण वातावरण मे हुई तथा रचनात्मक और लाभदायक रही। इस्लामाबाद मे हुई वार्ता के पश्चात् प्रसारित सयुक्त वक्तव्य मे यह आशा प्रकट की गई है कि नई दिल्ली मे इस वार्ता का जो तीसरा दौर होगा उसमे कोई अन्तिम समझौता हो जाएगा।

सामान्यीकरण की प्रक्रिया मोटे तौर पर सुचारु ढग से चलती रही और कई दिशाओ मे सम्पर्क पुन: स्थापित हुए जो बीच के कई वर्षों मे रुके रहे थे। इन घटनाओं का अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रो मे बहुत स्वागत हुआ।

मार्च, 1977–दिसम्बर, 1977 तक सम्बन्ध—भारत मे नई सरकार के गठन के बाद मैत्रीपूर्ण सदेशो का आदान-प्रदान हुआ। अप्रेल, 1977 मे श्री भुट्टो ने हमारे प्रधानमन्त्री के लिए एक व्यक्तिगत सदेश के साथ अपने एक विशेष दूत को नई दिल्ली भेजा। नई सरकार को आशा है कि वह पाकिस्तान के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध कायम रखेगी तथा उनको बढाएगी। पाकिस्तान के प्रतिनिधिमण्डल की यात्रा के बाद उसी महीने मे दोनो देशो ने यह निश्चय किया कि दोनो देशो के बीच व्यापार की समीक्षा करने और उसमे वृद्धि के उद्देश्य से एक सयुक्त आयोग की स्थापना की जाएगी।

अप्रेल 1977 मे ही विदेशमन्त्री श्री अटल विहारी वाजपेयी ने पाकिस्तान के सामने युद्ध न करने के समझौते का प्रस्ताव रखा। उनका विश्वास है कि इस प्रकार का समझौता उप-महाद्वीप मे स्थायी शान्ति स्थापित करने का आधार बन सकता है। भारत द्वारा युद्ध न करने का प्रस्ताव पहली बार ही नही रखा गया है। ऐसा पहले भी किया जा चुका है। वास्तव मे इस प्रकार का पहला प्रस्ताव अद्द 1959 मे पंडित नेहरू द्वारा प्रेसीडेंट अयूब खाँ के सामने रखा गया था। इस समय स प्रस्ताव का फिर से रखा जाना चार कारणों से महत्त्वपूर्ण है। पहला, सरकार ारा सत्तारूढ होने के 15 दिन के भीतर ही यह प्रस्ताव रखा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि नई सरकार पाकिस्तान के साथ सम्बन्ध सुधारने के लिए दृढ संकल्प है। दूसरा, इस प्रकार के समझौते से भारत-पाक सम्बन्धो मे द्विपक्षीय नीति को प्रोत्साहन प्राप्त होगा। तीसरा, जनता पार्टी का चुनाव घोषणा-पत्र भी यह स्पष्ट करता है कि वह पड़ोसी राष्ट्रों से अभी तक हल नहीं किए गए विवादो को निपटाने के लिए

प्रतिबद्ध है। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान में भी विश्वास प्रकट किया गया था। परन्तु जब राजनैतिक दल सत्ता में आ जाते हैं और उनको अन्तर्राष्ट्रीय तथा घरेलू राजनीति को वास्तविकताओं का सामना करना पड़ता है तो चुनाव घोषणा पत्र के वायदे धूमिल पड़ने लगते हैं। युद्ध न करने का प्रस्ताव इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि यह चुनाव घोषणा-पत्र के कुछ मुद्दों को व्यावहारिक रूप देता है।

यदि पाकिस्तान प्रस्ताव का स्वागत नहीं करता तो इसके दो बड़े कारण हो सकते हैं। प्रथम, शिमला-समझौते के अन्तर्गत सम्बन्ध सुधारने के प्रयासों में अधिक प्रगति नहीं हुई है। निःसन्देह दोनों राष्ट्रों के बीच संचार व्यवस्था स्थापित हो गई है, परस्पर व्यापार में भी प्रगति हो रही है परन्तु यह उपाय धीमे व त्रुटि पूर्ण हैं तथा अधिक सारगर्भित नहीं हैं। पाकिस्तान को प्रारम्भ से ही यह भय रहा है कि भारत के साथ अच्छे सम्बन्ध उसके राष्ट्रीय अस्तित्व को ही समाप्त कर सकते हैं। पाक से हाल में युद्ध न करने के समझौते का प्रस्ताव वर्तमान भारत-पाक सम्बन्धों की दृष्टि से एक अधिक सुधारवादी कदम हो सकता है। प्रश्न यह भी है कि क्या पाकिस्तान, इस समय, अपनी विदेश नीति में इतनी बड़ी पहल कर सकेगा? इस प्रश्न को कुछ भिन्न दृष्टिकोण से भी देखा जा सकता है। यह विवादास्पद विषय है कि क्या युद्ध न करने का समझौता भारत पाक के मध्य सम्बन्धों के पूर्णत सामान्य हो जाने पर ही किया जा सकता है। ऐसा भी हो सकता है कि युद्ध न करने का समझौता तभी स्वीकार्य हो जब भारत-पाक के मध्य सभी महत्वपूर्ण मामलों का समाधान कर लिया जाए। परन्तु युद्ध न करने का समझौता दोनों के मध्य विश्वास उत्पन्न करने के साधन के रूप में भी हो सकता है। यह उनके मध्य परस्पर विश्वास की स्थिति उत्पन्न कर सकता है जिससे आगे चल कर उनके सम्बन्धों में सुधार हो सकता है।

5 जुलाई, 1977 को एक रक्तहीन क्रांति के फलस्वरूप पाकिस्तान में फिर सैनिकशाही की स्थापना हो गई और भारत का उपर्युक्त प्रस्ताव पुन खटाई में पड़ गया। पाकिस्तान में श्री भुट्टो सहित सभी राजनीतिक नेता बंदी कर लिए गए हैं और फौजी कानून लागू कर दिया गया है। पाकिस्तान के प्रमुख फौजी कानून प्रशासक जनरल जिया-उल-हक ने 6 जुलाई को आश्वासन दिया कि तीन महीने के भीतर लोकतन्त्र पुन. स्थापित कर दिया जाएगा, लेकिन दिसम्बर, 1977 के अन्त तक पाकिस्तान में सैनिकशाही की समाप्ति के अभी कोई लक्षण दिखाई नहीं देते। वैसे पाकिस्तान की सैनिक सरकार के साथ भारत के सम्बन्ध सामान्य हैं।

भारत और श्रीलंका

भारत के दक्षिण और हिन्द-महासागर में स्थित यह द्वीप राजनीतिक और सामरिक दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है। मई, 1972 में नए संविधान के अनुसार श्रीलंका गणराज्य बन गया है। इसका अंग्रेजी नाम 'सिलोन' हटा दिया गया है। श्रीलंका ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का सदस्य है और विदेश नीति में भारत के समान ही गुट-निरपेक्षता की नीति का अनुसरण करता रहा है।

भारत और श्रीलंका के सम्बन्ध उतार-चढ़ाव के रहे हैं, तथापि कुल मिलाकर दोनों देशों की मैत्री में वृद्धि हुई है और पारस्परिक विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाया गया है। कोलम्बो योजना के अन्तर्गत भारत ने श्रीलंका के आर्थिक विकास मे सहायता दी थी। सन् 1955 के बाण्डुंग-सम्मेलन मे दोनो देशो ने एक दूसरे के साथ सहयोग किया। सन् 1962 मे भारत पर चीनी आक्रमण के सन्दर्भ में श्रीलका ने निष्पक्ष नीति का अवलम्बन न कर भारतीय भावनाओं को ठेस पहुँचायी, तथापि प्रधान मन्त्री श्रीमती भण्डारनायके ने तटस्थ देशों का कोलम्बो सम्मेलन आयोजित किया और सम्मेलन द्वारा पारित कोलम्बो-प्रस्तावों के सम्बन्ध में पेकिंग तथा दिल्ली की यात्राएँ कीं। इस प्रकार श्रीलका का प्रयत्न यह रहा कि भारत-चीन विवाद का शान्तिपूर्ण समाधान निकल आए। सन् 1965 मे दोनो देश तब अधिक निकट आ गए जब श्रीलका के तत्कालीन प्रधान मन्त्री सेनानायके ने भारत के न्यायोचित पक्ष का समर्थन किया और चीन द्वारा भारत पर आक्रमण करने तथा कोलम्बो प्रस्तावों को न मानने के लिए उसकी निन्दा की। सन् 1970 मे नेतृत्व पुन श्रीमती भण्डारनायके के हाथ मे आया। मई, 1971 मे उनकी सरकार को उग्रवादी वामपंथियों के व्यापक विद्रोह का सामना करना पड़ा जिसे दबाने के लिए उन्हें भारत जैसे मित्रदेशों की सहायता भी लेनी पड़ी। भारत के हेली-कोप्टरों ने श्रीलका के अनेक भागों मे गश्त लगायी और भारतीय जहाज श्रीलका के बन्दरगाह पर लगर डाले खड़े रहे ताकि श्रीलका सरकार को शान्ति और सुरक्षा की स्थापना मे आवश्यक सहायता प्राप्त हो सके। भारत ने श्रीलका को शस्त्रों की सहायता भी दी।

दोनो देशो के सम्बन्ध उत्तरोत्तर सुधरते गए। श्रीमती गाँधी ने अप्रेल, 1972 मे श्रीलका की यात्रा की और सयुक्त विज्ञप्ति मे दोनो प्रधान मन्त्रियों ने स्वीकार किया कि अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर दोनो देशो के विचार एक-दूसरे के बहुत निकट हैं। दोनो देशों के बीच आर्थिक सहयोग सहित अनेक विषयो पर विचार-विमर्श के लिए एक भारतीय प्रतिनिधि मण्डल ने अक्तूबर, 1973 मे श्रीलका की यात्रा की। जनवरी, 1973 मे श्रीमती भण्डारनायके भारत आई।

दोनों देशो के बीच कुछ ऐसे विवाद भी थे जिनका अब यद्यपि समाधान किया जा चुका है, तथापि अतीत मे वे तनाव का मुख्य कारण रहे। अत उपयुक्त होगा कि इन विवादों का संक्षिप्त विवेचन कर लिया जाए—

राज्य-विहीन नागरिक—यह विवाद सन् 1939 में उठा था, किन्तु अब लगभग हल सुलझ चुका है। राज्य-विहीन नागरिकों की श्रेणी मे लगभग 11 लाख 40 हजार व्यक्ति आते हैं जिनमे से 1 लाख 34 हजार श्रीलका के और 2 लाख 40 हजार भारत के नागरिक हैं। किन्तु विवाद उन 7 लाख 66 हजार व्यक्तियों के बारे मे रहा है जो किसी भी देश के नागरिक नही हैं। ये भारतीय ही हैं जिन्हें अंग्रेज अपने शासनकाल मे श्रीलका के चाय और रबड़ बागानों में मजदूरो के रूप मे ले गए थे। तब से इन लोगो के परिवार वही पनपे और फले-फूले। भारतीय

मूल के नागरिकों के भारत वापस लौटने की माग श्रीलंका में सन् 1939 मे प्रारंभ हुई। सन् 1949 मे दोनों देशों के प्रतिनिधियो मे कुछ अस्थायी समझौते हुए, लेकिन समस्या का समाधान नहीं हो सका। सन् 1954 मे श्रीलंका के तत्कालीन प्रधानमन्त्री सर जान कोटलावाला और भारतीय प्रधानमन्त्री श्री नेहरू मे जो समझौते हुए वे भी अल्पकालिन सिद्ध हुए। 26 अक्तूबर, 1964 को श्री शास्त्री और श्रीमती भण्डारनायके मे वास्तविक समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत सभी राज्य-विहीन नागरिकों को भारत या श्रीलंका की नागरिकता प्राप्त करने के आवेदन देने के लिए कहा गया। श्रीलंका सरकार 8 लाख 25 हजार लोगो मे से 3 लाख लोगों को अपने यहाँ रखने के लिए सहमत हुई और 5 लाख 25 हजार नागरिकों का दायित्व भारत पर डाला गया। इसका आशय यह हुआ कि जहाँ भारत मे 7 व्यक्ति आए वहाँ श्रीलंका के 4 व्यक्ति रहे। इस प्रक्रिया को 15 वर्षों के भीतर अर्थात् 1979 तक पूरा किया जाना निश्चित हुआ। चूँकि श्रीलंका के अधिकारी प्रत्यावर्तन (अदला-बदली) की गति से सन्तुष्ट नहीं थे, अतः अप्रैल, 1974 मे जब श्रीमती गाँधी श्रीलंका के दौरे पर गईं तो उन्होंने प्रत्यावर्तन की गति (वार्षिक 35 हजार) मे 10 प्रतिशत की वृद्धि करना स्वीकार कर लिया सन् 1974 के प्रारम्भ मे केवल डेढ लाख राज्य-विहीन नागरिक ही ऐसे शेष रहे जिन्हें भारत लौटना था। सन् 1975 मे इस करार के अन्तर्गत 18448 व्यक्ति भारत प्रत्यावर्तित हुए। इस प्रकार 1964 के समझौते के अनुसार कुल मिलाकर 525,000 तथा 300,000 व्यक्तियों मे से 1975 के अन्त तक 157,470 व्यक्ति प्रत्यावर्तित किए जा चुके थे और 891993 को श्रीलंका की नागरिकता प्रदान की जा चुकी थी।

कच्चातिवू— यह विवाद 28 जून, 1974 के समझौते द्वारा निपटाया जा चुका है। कच्चातिवू (या कच्छदीप) भारत और श्रीलंका के समुद्री तटों के बीच 200 एकड़ का एक छोटा-सा द्वीप है जिसमे नागफणी के अतिरिक्त और कुछ नहीं उगता। आस-पास मछुवारे मछली अवश्य पकडते है। इस भू-खण्ड की जनसंख्या नगण्य है। दोनों देश इस भूखण्ड पर अपना आधिपत्य जताते थे। विवाद इसलिए और भी उग्र हो गया क्योंकि इस द्वीप के आसपास तेल के काफी बड़े भण्डार होने की आशा की जाती थी। भारत ने एक महान् पडोसी देश की परम्परा का निर्वाह करते हुए इस छोटे से द्वीप के कारण दोनों देशों के बीच विवाद को लम्बा खींचना उपयुक्त नहीं समझा। 28 जून, 1974 को दोनों मे एक समझौता सम्पन्न हुआ जिसके अनुसार कच्चातिवू को श्रीलंका के अधिकार क्षेत्र मे मान लिया गया। पडोसी देशों के साथ सम्बन्धों मे सुधार की दिशा मे श्रीमती गाँधी का यह एक महत्त्वपूर्ण कदम था। सन् 1971 मे पाकिस्तान के साथ युद्ध में भारत की विजय से कई पडोसी देश आशंकित हो उठे थे कि भारत एक महाशक्ति बनकर छोटे देशों को आतंकित करेगा। लेकिन कच्चातिवू श्रीलंका को सौंपकर भारत ने इस प्रकार की आशंकाओं को निर्मूल सिद्ध कर दिया।

कच्चातिवू-समझौते को भारत और श्रीलंका के बीच एक नए सहयोग के युग का प्रादुर्भाव माना जा सकता है। इस समझौते से भारत को कोई क्षति नहीं हुई है, क्षति हुई है भारत के विरोधियों की। समझौते के बाद मार्च, 1976 तक दोनों देशों के बीच पारस्परिक यात्राओं से आर्थिक एवं तकनीकी क्षेत्रों में सहयोग और सुदृढ़ हुआ है।

अप्रैल, 1976 से दिसम्बर, 1977 तक—23 अप्रैल, 1976 को भारत और श्रीलंका के बीच एक सीमा सम्बन्धी समझौता हुआ जो शीघ्र ही दोनों देशों द्वारा पुष्टि-पत्रों के आदान-प्रदान के साथ लागू हो गया। भारत और श्रीलंका के बीच कोई स्थल सीमा नहीं है, केवल समुद्र है। अतः यह सीमा समझौता वस्तुतः समुद्री सीमा विषयक समझौता ही है। दोनों देशों ने यह स्वीकार किया है कि प्रत्येक देश के तट के 200 मील तक का समुद्री क्षेत्र उसका आर्थिक क्षेत्र होगा और जहाँ दोनों के बीच की दूरी 200 मील से कम होगी वहाँ दूसरे देश की मध्यस्थ रेखा सीमा रेखा होगी। इस समझौते का एक विशेष महत्त्व इस बात में है कि समुद्री कानून विषयक विश्व सम्मेलन अब तक किसी निर्णय पर नहीं पहुँचा है, जबकि भारत और श्रीलंका ने अपनी समस्या हल भी कर ली है।

अगस्त, 1976 में गुट-निरपेक्ष शिखर-सम्मेलन के सम्बन्ध में प्रधानमन्त्री और विदेशमन्त्री ने कोलम्बो की यात्रा की जहाँ श्रीलंका सरकार और जनता ने उनका हार्दिक और मैत्रीपूर्ण स्वागत किया। शिखर-सम्मेलन से पूर्व और उसके दौरान दोनों पक्षों के बीच निकट और निरन्तर सहयोग से दोनों देशों के सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध और दृढ़ हुए।

भारतीय मूल के व्यक्तियों से सम्बद्ध सन् 1964 के समझौते के अन्तर्गत 31 दिसम्बर, 1976 तक 2,37,390 व्यक्ति भारत प्रत्यावर्तित किए गए और 1,35,680 व्यक्ति श्रीलंका में नागरिकों के रूप में पंजीकृत किए गए।

मार्च, 1977 में जैसी जनमत क्रांति भारत में हुई थी वैसी ही 21 जुलाई, 1977 को श्रीलंका में हुई और श्रीमती भंडारनायके की सत्तारूढ़ श्रीलंका फ्रीडम पार्टी को 166 में से मात्र 8 स्थान प्राप्त हुए। उल्लेखनीय है कि श्रीमती भंडारनायके ने 16 मार्च, 1971 को देश में आपातकालीन स्थिति लागू कर दी थी और छः वर्ष के आपात्काल में उनकी सरकार की साख बिलकुल गिर गई थी। श्रीमती भंडारनायके के पतन के बाद 72 वर्षीय श्री जयवर्द्धन श्रीलंका के प्रधानमन्त्री हुए और उनकी सरकार के साथ भारत की नई सरकार के सम्बन्ध उत्तरोत्तर मैत्रीपूर्ण होते जा रहे हैं।

भारत और नेपाल

भारत और चीन के बीच हिमालय की गोद में स्थित इस देश के साथ कुछ अपवादों को छोड़कर भारत के सम्बन्ध न्यूनाधिक मैत्रीपूर्ण रहे हैं। ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और भौगोलिक दृष्टि से तो दोनों देश अति निकट हैं ही, साथ ही आर्थिक विकास की आवश्यकताओं के कारण भी दोनों में मैत्री स्वाभाविक है।

31 जुलाई, 1950 की सन्धि द्वारा दोनों देश निश्चय कर चुके थे कि वे शान्ति और मैत्री की नीति का अनुसरण करेंगे। दोनों में एक व्यापारिक सन्धि भी सम्पन्न हुई जिसके अनुसार यह निश्चित हुआ कि नेपाल अपना विदेशी व्यापार भारतीय क्षेत्र से होकर सुचारु रूप से कर सकेगा।

नेपाल में कुछ भारत-विरोधी तत्व पहले ही से विद्यमान थे। साम्यवादी चीन भी अपने प्रभाव-विस्तार के लिए भीतर ही भीतर नेपाल में भारत-विरोधी भावनाओं को प्रोत्साहन दे रहा था। अतः नेपाल में यह विचार बल पकड़ने लगा कि नेपाल को भारत और चीन के मध्य एक अवरोधक (बफर) राज्य की भूमिका निभानी चाहिए। सन् 1955 में राजा त्रिभुवन की मृत्यु के बाद राजा महेन्द्र विक्रमशाह नेपाल की राजगद्दी पर बैठे। राजा महेन्द्र ने अलोकतान्त्रिक कार्यवाही कर सन् 1960 में संसद को भंग कर दिया और देश का शासन स्वयं सम्भाल लिया। राजा महेन्द्र का यह कार्य यद्यपि भारत को आघात पहुँचाने वाला था, तथापि भारत ने नेपाली राजनीति में कोई हस्तक्षेप नहीं किया। भारत नेपाल को आर्थिक और औद्योगिक उन्नति के लिए सभी प्रकार सहयोग प्रदान करता रहा। सन् 1956 में टंकप्रसाद आचार्य नेपाल के प्रधानमन्त्री बने। उनका झुकाव चीन की ओर था, अतः नेपाल में भारत-विरोधी वातावरण तैयार करने में उनका प्रत्यक्ष-परोक्ष सहयोग रहा। सन् 1956-57 में अस्पष्ट भाषा का प्रयोग करते हुए उन्होंने कहा कि भारत को नेपाल के राष्ट्रीय विकास में सहयोग देना चाहिए। इस कथन का अभिप्राय अप्रत्यक्ष रूप से भारत पर यह आरोप लगाना था कि भारत नेपाल को अपना पिट्ठू देश बनाना चाहता है। सन् 1957 में डॉ. के. आई. सिंह प्रधानमन्त्री बने और सन् 1959 में बी. पी. कोइराला। इन दोनों ही के प्रधानमन्त्रित्वकाल में भारत-नेपाल सम्बन्धों में कोई सुधार नहीं हो सका। डॉ. के. आई. सिंह के सुधार-प्रयत्नों को आचार्य-समर्थक समाचार-पत्रों ने सफल नहीं होने दिया। प्रधानमंत्री कोइराला ने चीन के साथ एवरेस्ट पर्वत शिखर के बारे में ऐसा समझौता किया जो नेपाल सरकार का भारत के साथ विश्वासघात था। कोइराला-मन्त्रिमण्डल के पतन के बाद भी सन् 1961 तक दोनों देशों के सम्बन्ध तनावपूर्ण रहे। भारत के विरोध के बावजूद राजा महेन्द्र ने काठमाण्डू ल्हासा-सड़क मार्ग बनाने के सम्बन्ध में चीन से समझौता किया। उन्होंने चीन के साम्यवादी नेताओं का समर्थन प्राप्त करने और भारत की उपेक्षा करने की नीति अपनायी। सन् 1961 में 6 पृष्ठों की प्रकाशित एक पुस्तिका में कहा गया कि नेपाल को विदेशों से प्राप्त सहायता में चीन ने सर्वाधिक उदार और निःस्वार्थ योग दिया है। सन् 1962 में भारत पर चीनी आक्रमण के प्रति नेपाल ने तटस्थ दृष्टिकोण अपनाया और इस प्रकार साम्यवादी चीन के प्रति अप्रत्यक्ष रूप में सहानुभूति प्रकट की।

सन् 1964 में श्री नेहरू की मृत्यु के बाद श्री शास्त्री भारत के प्रधानमन्त्री बने। उन्होंने नेपाल की यात्रा की और दोनों देशों के सम्बन्धों में कुछ सुधार हुआ। राजा महेन्द्र भारत आए और राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन नेपाल गए। भारतीय

नेताओं ने नेपाली नेतृत्व को साम्यवादी चीन के वास्तविक खतरे से सचेत किया। सितम्बर, 1964 मे भारतीय विदेशमन्त्री सरदार स्वर्णसिंह नेपाल गए और एक समझौता हुआ जिसके अनुसार भारत ने 9 करोड रुपयो की लागत से नेपाल के लिए एक 128 मील लम्बी सडक बनाने का निर्णय किया। काठमाण्डू से भारतीय सीमा रक्सौल को जोड़ने वाली एक अन्य सडक योजना भी भारत ने अपने हाथ मे ली। इसके अतिरिक्त भारत ने अपने व्यय से कोसी-योजना पूर्ण करने का भी निश्चय किया। अप्रेल, 1965 मे श्री शास्त्री ने कोसी-योजना के पश्चिमी-नहर-कार्य का उद्घाटन किया। योजना का उद्देश्य नेपाल को बाढ़ की क्षति से बचाना और बिजली तथा सिंचाई से लाभ पहुँचाना था। दिसम्बर, 1965 मे नेपाल-नरेश ने भारत-यात्रा की और एक सयुक्त विज्ञप्ति द्वारा स्वीकार किया कि भारत की सहायता से नेपाल मे चल रहे विकास कार्यों की प्रगति सन्तोषजनक है। श्री शास्त्री के बाद श्रीमती गांधी ने भी पडोसी देशों के साथ सम्बन्ध सुधारने की नीति को आगे बढाया। अक्तूबर, 1971 मे दोनों देशो के बीच कोसी तथा गण्डक परियोजनाओ के निर्माण के लिए समझौता हुआ। श्रीमती गांधी ने नेपाली नेतृत्व के मस्तिष्क मे यह बात बैठाने की कोशिश की कि भारत नेपाल की सप्रभुता का पूर्ण सम्मान करता है तथा उसका सच्चा मित्र है। जनवरी, 1972 मे राजा महेन्द्र की मृत्यु हो गई और उनके बाद राजा वीरेन्द्रशाह गद्दी पर बैठे।

भारत नेपाल के विकास कार्यक्रमो मे रुचि लेता रहा। सन् 1973-74 के बजट मे नेपाल की विकास सहायता के लिए 9 करोड रु. की व्यवस्था की गई। इसके अतिरिक्त 10 करोड रु के स्टैण्ड बाई क्रेडिट की भी व्यवस्था की गई। राजा वीरेन्द्र का रवैया भारतीय उदारता के बावजूद कई दृष्टियो से अखरने वाला था। सन् 1973 मे उन्होंने नई भौगोलिक स्थिति की घोषणा करते हुए कहा कि नेपाल भारतीय उपमहाद्वीप का अग नही है। सितम्बर, 1974 मे राजा वीरेन्द्र ने सिक्किम को भारत मे सह-राज्य का दर्जा दिए जाने का खुल्लमखुल्ला विरोध किया। काठमांडू स्थित चीनी दूतावास द्वारा भारत के विरुद्ध बुलेटिन निकाले गए। नेपाल सरकार की चुप्पी ने चीनी दूतावास द्वारा भारत-विरोधी प्रचार को बढावा दिया। नेपाल के भारतीय स्वय को असुरक्षित महसूस करने लगे। इन घटनाओ को भारत सरकार ने अत्यन्त गम्भीरता से लिया और विदेश मन्त्रालय ने नेपाल के साथ सम्बन्धो पर पुनर्विचार किए जाने की आवश्यकता अनुभव की। कहा जाता है कि नेपाल से राजदूत वापस बुलाने के प्रश्न पर भी विचार किया गया। अब नेपाल सरकार की बुद्धि पर से भ्रम का पर्दा हटने लगा। नेपाल सरकार ने समझ लिया कि भारत के सहयोग और समर्थन के बिना गाडी चलना कठिन है। सब तरफ से घिरा हुआ (लैण्ड लाक्ड) देश होने के कारण अन्य देशो से सम्बन्धो के लिए नेपाल की भारत पर निर्भरता आवश्यक है। हिमालय की रुकावट के कारण नेपाल चाहते हुए भी भारत से सम्बन्ध नही तोड सकता। नवम्बर, 1974 के लगभग नेपाली 'मदरलैण्ड' ने कहा कि विश्व के 'लैण्ड लाक्ड' देशो को जो सुविधाएँ प्राप्त हैं वही नेपाल को

ी मिलनी चाहिए। राजनीतिक क्षेत्रों के अनुसार भारतीय विदेश मन्त्री चह्वाण ने
ेपाली प्रधानमन्त्री श्री रिजाल को स्पष्ट रूप से बता दिया कि भारत नेपाल को हर
कार सहायता देने को तैयार है, किन्तु सचार एवं बन्दरगाह सुविधाओं को अधिकार
े रूप मे नही मांगा जाना चाहिए। नेपाल को यह भी नही भूलना चाहिए कि वह
स उपमहाद्वीप की रक्षा-व्यवस्था का एक अ ग है।

भारत के कड़े रुख को देखकर नेपाल के महाराजा ने अप्रत्यक्ष और कूटनीतिक क्षेत्रों के माध्यम से भारत से मधुर सम्बन्ध स्थापित करने का आग्रह किया। भारत सरकार ने सभी आवश्यक सावधानी बरती, लेकिन नेपाल सरकार के प्रति कोई दुराग्रही रुख नही अपनाया और सन् 1975 मे दोनो देशों के सम्बन्ध मित्रतापूर्ण बने रहे। अगस्त, 1975 मे नेपाल के विदेश मन्त्री ने नई दिल्ली की यात्रा की और राजनीतिक, आर्थिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नो पर विस्तृत विचार-विमर्श किया। उन्हे यह आश्वासन दिया गया कि भारत नेपाल की पांचवी पंचवर्षीय योजना मे अपना योग देगा और हमेशा की तरह नेपाल की व्यापार तथा पारगमन सम्बन्धी समस्याओ पर मित्रतापूर्ण ढग से विचार करेगा। उन नदियो के जल का सदुपयोग करने मे भारत-नेपाल सहयोग पर विशेष रूप से बल दिया गया जो दोनों देशों से होकर बहती है। 30 सितम्बर और 1 अक्तूबर 1975 को नेपाल-नरेश भारत आए। यह यात्रा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण थी क्योकि इससे दोनों देशो के नेताओं के बीच उच्चतम स्तर पर विचार-विमर्श का सुअवसर प्राप्त हुआ। जनवरी, 1976 मे अपनी नेपाल-यात्रा के दौरान भारतीय विदेश मन्त्री श्री चह्वाण ने सहयोग के सम्भावित क्षेत्रो के विषय मे तथा विकास एव तत्सम्बन्धी जल-संसाधनो पर विचार-विनिमय किया।

मार्च, 1976 से नवम्बर, 1977 तक—सन् 1976 में दोनो देशो के सम्बन्धो को दिशा मे काफी ठोस कार्य हुआ। राजनीतिक और सरकारी स्तर पर कई यात्राएँ हुईं जिससे दोनो सरकारो के बीच लगातार वार्ता का अवसर प्राप्त हुआ। भारत सरकार ने यह निश्चय किया कि नेपाल के जो राष्ट्रिक भारत के सरक्षित/प्रतिबन्धित क्षेत्रो का दौरा करना चाहेंगे उन्हें दूसरे विदेशी राष्ट्रों के समकक्ष ही माना जाएगा और इस प्रकार उन्हे भी इस उद्देश्य के लिए पारपत्र (परमिट) प्राप्त करना होगा। इस बात का निश्चय करने के लिए कि इन क्षेत्रों की यात्रा करने वाले वास्तविक नेपाली यात्रियो को किसी प्रकार की असुविधा न हो, परमिट जारी करने के सीधे और सुविधाजनक विधियां तय की गई हैं।

वर्ष 1976 मे कोलम्बो योजना की 25वी वर्षगांठ मनाई गई। इस योजना के अन्तर्गत भारत नेपाल को द्विपक्षीय आधार पर पूंजीगत तथा तकनीकी सहयोग देता रहा है। सन् 1976-77 मे नेपाल की विकास-योजनाओ के सहायता अनुदान के रूप मे बजट में 10 करोड रुपये की राशि की व्यवस्था की गई है।

अप्रैल, 1977 मे नेपाल नरेश भारत की गैर-सरकारी यात्रा पर आए। तथा इस अवसर पर उन्होने प्रधानमन्त्री तथा नई सरकार मे उनके सहयोगियो से

विस्तृत विचार-विमर्श किया। मई, 1977 मे श्री विद्यानन्द झा भारत मे नेपाल के अगले राजदूत मनोनीत किए गए।

भारत और भूटान

भारत की उत्तरी सीमा पर भूटान सन् 1971 से पूर्व तक भारत का संरक्षित राज्य (Protectorate) था, किन्तु सन् 1971 मे भारत ने इस मित्र-देश की सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्नता स्वीकार कर अपनी उदारता का परिचय दिया। भारत के ही सहयोग से भूटान ने सन् 1971 मे संयुक्त राष्ट्रसंघ मे प्रवेश किया। भूटान की विदेश-नीति, भूटान की सहमति से अभी तक भारत द्वारा ही सचालित होती है, यद्यपि दोनो देशो के बीच समानता के आधार पर सम्बन्ध हैं और उनमे कभी किसी भी अवसर पर कटुता नही आई है। अप्रैल, 1975 मे जब सिक्किम भारत मे विलय हुआ तब भी भूटान ने भारत के विरुद्ध कुछ भी नही कहा जबकि सिक्किम के राज-परिवार से भूटान के राज-परिवार के निकट सम्बन्ध है। सिक्किम के चोग्याल भूटान की राजमाता के रिश्ते मे भाई होते हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ मे हर प्रश्न पर भूटान भारत का समर्थन करता रहा है। मतदान के हर अवसर पर भारत और भूटान के मत एक ही पक्ष मे पड़े हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो में भारत भूटान का बड़ा भाई है, किन्तु उसने कभी भूटान पर अपनी इच्छा लादने का प्रयास नही किया है। सन् 1949 मे दोनो देशो के बीच एक मैत्री और शान्ति-सन्धि द्वारा यह निश्चय हुआ था कि भारत भूटान के आन्तरिक शासन मे कोई हस्तक्षेप नही करेगा और भूटान के विदेश सम्बन्धो तथा प्रतिरक्षा का दायित्व भारत पर रहेगा।

भारत भूटान के योजनाबद्ध विकास मे निरन्तर सहायता देता रहा है। भूटानी योजनाओ का लगभग 95 प्रतिशत व्यय भारत ही वहन करता रहा है। वर्ष 1976 मे यह निश्चय किया गया कि चौथी पचवर्षीय योजना (1976–81) के लिए भारत सरकार भूटान को 70 29 करोड रुपये की राशि का अनुदान देगी।

कोलम्बो मे पाँचवें गुट-निरपेक्ष शिखर-सम्मेलन मे शामिल होने के लिए जाते हुए भूटान के महामहिम नरेश ने 13 और 14 अगस्त, 1976 के दो दिन दिल्ली मे व्यतीत किए। अपने प्रवास काल मे उन्होने भारतीय नेताओ से भेंट वार्ता की। कोलम्बो शिखर-सम्मेलन मे भूटान-नरेश ने कहा कि भारत का पडोसियों के साथ सम्बन्ध सामान्य करने के भारत के प्रयास से एशिया मे शान्ति और स्थिरता की दिशा मे सहयोग मिलेगा। भूटान नरेश ने 'अपने श्रेष्ठ मित्र और पडोसी भारत' द्वारा उनके देश को दी गई उदारतापूर्ण वित्तीय और तकनीकी सहायता के लिए भूरि-भूरि प्रशंसा की।

विगत की भाँति ही दोनो देशों के बीच विभिन्न विकास-क्षेत्रो मे सहयोग चालू रहा। यह कार्य भारतीय विशेषज्ञो और जानकारो की भूटान यात्रा और वहाँ किए गए सर्वेक्षणो के माध्यम से हुआ। भूटान-नरेश ने अप्रैल, 1977 मे भारत की यात्रा की और नई सरकार के साथ बातचीत की। इस यात्रा से दोनो पक्षो को मित्रता और भाईचारे के अपने विशिष्ट सम्पर्क को पुनः पुष्ट करने का अवसर मिला।

भारत और बंगलादेश

बंगलादेश का उदय तो 6 दिसम्बर, 1971 को ही हो गया था, जब भारत ने उसे मान्यता प्रदान कर दी थी। व्यवहार में बंगलादेश विश्व के नक्शे पर तब उजागर हुआ जब 16 दिसम्बर, 1971 को ढाका मे पाक सेना के ले. जनरल नियाजी ने आत्म-समर्पण के दस्तावेजो पर हस्ताक्षर किए। बंगलादेश के मुक्ति संग्राम और उदय मे भारत ने जो ऐतिहासिक भूमिका निभायी और बलिदान किया, उससे स्वभावतः दोनो देशो के बीच मैत्री निरन्तर बढ़ती गई।

सन् 1971–1973 की अवधि—नवोदित बंगलादेश ने भी भारत के ही समान, शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व, गुट-निरपेक्षता और विश्व-मैत्री को अपनी विदेश-नीति की आधारशिला बनाया। भारत ने नवोदित राष्ट्र को प्रत्येक सम्भव सहयोग और समर्थन देने की नीति अपनायी। 17 जनवरी, 1972 को दोनो देशो के बीच पहला अनुदान समझौता हुआ जिसमें यह निश्चय किया गया कि—(1) भारत बंगलादेश को 25 करोड रुपये का सामान और सेवाएँ प्रदान करेगा, तथा (2) बंगलादेश की विदेशी मुद्रा की माँग की पूर्ति के लिए भारत 50 लाख पौण्ड का ऋण भी जुटाएगा।

मार्च, 1972 मे श्रीमती गाँधी की बंगलादेश-यात्रा के दौरान 19 तारीख को दोनो देशो के बीच एक ऐतिहासिक मैत्री-सन्धि हुई। इस समय तक भारतीय सेनाएँ बंगलादेश की भूमि से वापस लौट चुकी थी। सन्धि के अनुसार यह निश्चय हुआ कि—(1) दोनों देश एक दूसरे की स्वतन्त्रता और प्रभुसत्ता का सम्मान करते हुए एक दूसरे के मामलो मे अनावश्यक हस्तक्षेप नही करेंगे; (2) उपनिवेशवाद और जातिवाद की निन्दा की गई तथा मुक्ति-आन्दोलनो का समर्थन किया गया; (3) आर्थिक, प्राविधिक और वैज्ञानिक क्षेत्र मे पारस्परिक सहयोग के विकास का निश्चय किया गया, (4) सांस्कृतिक आदान-प्रदान का निर्णय किया गया धारा 8 मे यह स्पष्ट कर दिया गया कि पारस्परिक मित्रता का सम्मान करते हुए दोनो मे से कोई भी देश किसी अन्य देश के साथ ऐसा सैनिक समझौता नही करेगा जो दूसरे के विरुद्ध हो; (5) धारा 9 मे कहा गया कि न तो एक दूसरे की सीमा पर आक्रमण किया जाएगा और न किसी तीसरे देश को आक्रमण के लिए अपनी सीमा का उपयोग करने दिया जाएगा; (6) धारा 10 मे व्यवस्था दी गई कि दोनो देश किसी तीसरे देश को ऐसी सहायता नही देंगे जो दोनो मे से किसी देश के हितो के विरुद्ध हो और यदि दोनो मे से किसी पर आक्रमण होगा या आक्रमण का खतरा उत्पन्न होगा तो दोनो देश खतरे के निराकरण के लिए विचार-विमर्श करेंगे।

उपर्युक्त ऐतिहासिक सन्धि 25 वर्ष के लिए की गई और दोनो देशो की सहमति पर इसके नवीनीकरण का प्रावधान भी रखा गया। 25 मार्च, 1972 को दोनो देशों के प्रतिनिधियो ने एक सौ करोड रु. के व्यापार समझौते पर हस्ताक्षर किए जिसकी अवधि एक वर्ष रखी गई। 9 अगस्त, 1972 को बंगलादेश ने संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बनने के लिए प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत किया। संघ मे भारतीय और

सोवियत प्रतिनिधियों ने बंगलादेश का पूर्ण समर्थन किया, लेकिन चीन ने सुरक्षा परिषद् में वीटो का प्रयोग कर भारतीय प्रयास को असफल कर दिया। 30 दिसम्बर, 1972 को भारत और बगलादेश के बीच एक सांस्कृतिक समझौता हुआ। इसके द्वारा दोनों के मध्य संस्कृति, शिक्षा, विज्ञान और प्राविधिक क्षेत्रों में सहयोग बढ़ाने की व्यवस्था की गई। बगलादेश में भारत-विरोधी तत्त्वों ने भारत-विरोधी वातावरण उत्पन्न करने के जो प्रयास किए उन्हें मुजीब सरकार ने सफल नहीं होने दिया।

भारत के सहयोग से एक वर्ष से भी कम समय में बगलादेश का स्थायी संविधान तैयार कर लिया गया जिसके अन्तर्गत मार्च, 1973 के प्रथम आम चुनाव हुए और सत्तारूढ़ आवामी पार्टी ने भारी बहुमत प्राप्त किया। मुजीब ने प्रधानमन्त्री का पद सम्भाला। पाकिस्तान के साथ अपने सम्बन्ध-निर्धारित करने में भारत ने कभी बगलादेश की उपेक्षा नहीं की। 18 अप्रैल, 1973 को दोनों देशों ने मिलकर एक त्रिसूत्री कार्यक्रम तैयार किया जिसके आधार पर भारत ने पाकिस्तान के साथ समझौता वार्ता चलाई। जुलाई और अगस्त, 1973 में क्रमशः रावलपिण्डी और दिल्ली में उपमहाद्वीप की समस्याओं पर भारत और पाकिस्तान के बीच जो वार्ताएँ हुईं उनमें उपर्युक्त त्रिसूत्री कार्यक्रम का पूरा पालन किया गया। वार्ता के प्रत्येक स्तर पर भारतीय अधिकारियों ने बगलादेश की सरकार से विचार-विमर्श किया। बगलादेश में मानवीय समस्या के हल के लिए दिल्ली समझौते का पूरा स्वागत किया गया। यद्यपि दिल्ली-समझौते से बगलादेश को पाकिस्तान की कूटनीतिक मान्यता प्राप्त नहीं हो सकी, तथापि कटुता का वातावरण बहुत कम हो गया। भारत और बगलादेश की दृढ़ता तथा कतिपय मुस्लिम-राज्यों के प्रयासों से अन्ततः पाकिस्तान ने 22 फरवरी, 1974 को बगलादेश को मान्यता प्रदान कर दी।

वर्ष 1974—अप्रैल, 1974 में पाकिस्तान, भारत और बंगलादेश के नेताओं की त्रिपक्षीय वार्ता हुई और 9 अप्रैल को एक त्रिपक्षीय समझौते पर हस्ताक्षर हुए जिसके अनुसार—(1) बंगलादेश 195 पाकिस्तानी युद्ध-अपराधियों को लौटाने के लिए सहमत हो गया; (2) पाकिस्तान ने उनके अपराधों की निन्दा करते हुए खेद प्रकट किया; एवं (3) पाकिस्तान ने बगलादेश के पाकिस्तानी नागरिकों को वापस ले लेने की बात भी स्वीकार कर ली। यह समझौता भारतीय उपमहाद्वीप में सामान्य स्थिति कायम करने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम था। भारत और बगलादेश के बीच आर्थिक और ऋण सम्बन्धी समझौते भी सम्पन्न हुए। यह निश्चय किया गया कि भारत बगलादेश को 41 करोड़ रुपये का ऋण देगा और वहाँ चार उद्योग स्थापित करने में सहायता देगा। समझौते द्वारा एक संयुक्त जूट प्रायोग की भी स्थापना की गई तथा तस्करी रोकने के लिए एक उच्चस्तरीय समिति स्थापित की गई।

मई, 1974 में शेख मुजीब ने भारत की यात्रा की। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार के साथ ही फरक्का बांध और दोनों देशों के बीच आर्थिक सम्बन्धों को सुदृढ़ बनाने पर मुख्य रूप से विचार-विमर्श हुआ। दिसम्बर, 1974 में भारतीय

विदेश मन्त्री चह्वाण ने बंगलादेश की यात्रा के समय सहयोग-परियोजनाओं की प्रगति के बारे में बात की।

वर्ष 1975—25 जनवरी, 1975 को शेख मुजीब ने बंगलादेश का प्रधान मन्त्री पद छोड़कर राष्ट्रपति-पद सम्भाल लिया। स्वयं उन्हीं के शब्दों में, "देश में इस दूसरी क्रान्ति के माध्यम से गणतन्त्र के सारे प्रशासनिक अधिकार उन्होंने अपने हाथ में ले लिए हैं।" 19 अप्रैल, 1975 को फरक्का बाँध के सम्बन्ध में भारत-बंगलादेश समझौता सम्पन्न हुआ। गंगाजल के बँटवारे और फरक्का बाँध को चालू रखने के लिए 12 वर्ष से चले आ रहे विवाद को हल करने की दिशा में यह एक महत्त्वपूर्ण कदम था। समझौते में फरक्का बाँध से गंगा का पानी छोड़ने की व्यवस्था है, लेकिन इससे बंगलादेश के हितों पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा। दोनों देशों ने स्वीकार किया कि फरक्का बाँध की सहायक नहर को चालू करना अनिवार्य।

नई दिल्ली में 29 मार्च से 2 अप्रैल तक विदेश मन्त्री स्तर पर हुई वार्ता में समुद्री-सीमा परिसीमन के प्रश्न पर मतभेदों को दूर कर एक ऐसी स्थिति तक लाया गया जहाँ दोनों पक्ष आश्वस्त हुए कि अब जल्दी ही एक परस्पर स्वीकार्य समझौता हो जाएगा। दुर्भाग्यवश बंगलादेश में 15 अगस्त के बाद हुई घटनाओं के कारण इस दिशा में आगे वार्ता नहीं हो सकी। बंगबन्धु मुजीबुर्रहमान, उनके परिवार के सदस्यों तथा वहाँ के कई अन्य प्रमुख नेताओं की नृशंस हत्या से भारत को गहरा आघात पहुँचा। शेख मुजीबुर्रहमान एक श्रेष्ठ व्यक्ति थे जिन्होंने बंगलादेश के मुक्ति-आन्दोलन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। बंगलादेश में जिस तरह घटनाएँ घटीं उनसे वहाँ रहने वाले भारतीय राष्ट्रवादियों की सुरक्षा के विषय में भारत में चिन्ता होना स्वाभाविक था। वहाँ के अनियन्त्रित भारत-विरोधी प्रचार से भी, जो कभी-कभी बंगलादेश के सरकारी प्रचार-माध्यमों में भी दृष्टिगोचर हुआ भारत चिन्तित हुआ, फिर भी वह बंगलादेश की घटनाओं को उस देश का आन्तरिक मामला ही मानता रहा। हमारे हाई कमिश्नर के घर में हथगोला रख देने और 26 नवम्बर, 1975 को स्वयं हाई कमिश्नर पर सशस्त्र आक्रमण करने जैसी गम्भीर उत्तेजनात्मक कार्यवाहियों के बावजूद, जिसमें कि वे गम्भीर रूप से घायल होने से बाल बाल बच गए भारत शान्ति और संयम का रुख अपनाए रहा। दिसम्बर में बंगलादेश के एक उच्च स्तरीय प्रतिनिधि-मण्डल की नई दिल्ली यात्रा तथा दोनों देशों के सीमा सुरक्षा दल के अध्यक्षों की बैठक के बाद स्थिति में कुछ सुधार हुआ और सीमा पर शान्ति स्थापित रखने के उपायों पर एक समझौता भी हुआ।

वर्ष 1976-77—सन् 1976 में मई माह तक की अवधि भी भारत और बंगलादेश के बीच चिन्ता और बेचैनी का समय रही। भारत-बंगलादेश सीमा पर कुछ छुटपुट अप्रिय घटनाएँ घटीं। भारत इस बात के लिए प्रयत्नशील रहा कि सीमा पर शान्ति रहे, लेकिन बंगलादेश के समाचारपत्रों में अकारण भारत पर आरोप लगाया जाता रहा। मार्च, 1976 में बंगलादेश ने फरक्का समझौता के सम्बन्ध में असम्बन्धित मामलों को उठाने की कोशिश की और भारत से माँग की

कि गंगा के पानी का बँटवारा केवल ग्रीष्म ऋतु मे ही नही बल्कि पूरे वर्ष भर होना चाहिए। मुजीब की हत्या के बाद बगला सरकार का रवैया वस्तुत: खेदजनक रहा और भारत सरकार यह सोचकर अपनी मित्रता का निर्वाह करती रही कि बगलादेश की खोंडकर-सरकार द्वारा फरक्का को विवाद का विषय बनाए रखने की कोशिश बगलादेश की आन्तरिक स्थिति का नतीजा हो सकता है। फिर भी, बडे पैमाने पर पूंजी-निवेश और कलकत्ता-बन्दरगाह की दृष्टि से भारत को फरक्का के विषय मे कठोर रवैया अपनाना पडा और तब अप्रेल मे बगलादेश सरकार ने अपना नकारात्मक रवैया त्याग कर फरक्का के बारे मे तकनीकी स्तर पर बातचीत करना स्वीकार कर लिया। एक ओर तो दोनो सरकारें समस्या पर विचार करती रही और दूसरी ओर बगलादेश के 96 वर्षीय वृद्ध नेता मौलाना भाशानी ने एक जुलूस के साथ भारत की सीमा पार करने का नाटक रचा। भारत सरकार ने कठोर रुख अपनाते हुए सीमा की सुरक्षा का पूरा प्रबन्ध कर लिया तथा बगलादेश सरकार को स्पष्ट चेतावनी दी कि मौलाना भाशानी को अपनी अनुचित कार्यवाही से रोकना उसका कर्त्तव्य है; और तब भाशानी का वह जुलूस जो 16 मई को भारत की सीमा की ओर रवाना हुआ था, सीमा से कुछ ही किलोमीटर परे शिवगज नामक स्थान पर समाप्त हो गया। मौलाना भाशानी और उनके समर्थकों ने फरक्का बांध को तोडने तक की धमकी दी थी और उधर भारतीय सीमा सुरक्षा जवान इस बात के लिए तैयार थे कि हर हालत मे अपने देश की सीमाओ की रक्षा की जाएगी।

कृषि और सिंचाई मन्त्री श्री जगजीवनराम के नेतृत्व मे एक भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल ने फरक्का के मामले पर द्विपक्षीय वार्ता के लिए 6 से 8 दिसम्बर, 1976 तक बगलादेश की यात्रा की। वार्ता मे एक दूसरे की स्थिति को समझने की दिशा मे कुछ प्रगति हुई थी और बातचीत को शीघ्र ही आगे बढाने का निश्चय किया गया था। जनवरी, 1977 मे ढाका मे वार्ता हुई और फिर नई दिल्ली मे लेकिन दुर्भाग्य से इस समस्या का कोई समाधान नही निकल सका।

नई सरकार के गठन के तुरन्त बाद गगा के पानी के बारे मे सीधी बातचीत फिर शुरू हुई। नई सरकार मे रक्षा मन्त्री श्री जगजीवनराम के नेतृत्व मे एक प्रतिनिधि-मण्डल ने अप्रेल, 1977 मे ढाका में विस्तार के साथ बातचीत के परिणाम-स्वरूप ग्रीष्म ऋतु मे पानी के बँटवारे के विषय में सिद्धान्त रूप मे एक सामान्य समझौता हो गया। इसके बाद 7 से 11 मई तक अधिकारी-स्तर पर वार्ता हुई और एक सम्भव समाधान की दिशा में विवरण तैयार करने मे काफी प्रगति हुई। बगलादेश और भारत के बीच ऐसे कोई विवाद नही है जिनसे परस्पर तनाव की स्थिति पैदा हो, तथापि भारत के लिए यह अवश्य चिन्ताजनक बात है कि बगलादेश से बहुत बड़ी सख्या में शरणार्थी भारत मे आने लगे हैं। दिसम्बर, 1977 में समाचारपत्रों मे दल प्रावय के जो समाचार प्रकाशित हुए, सरकार उनकी उपेक्षा नही कर सकती।

भारत और चीन के सम्बन्ध

भारत और चीन दो घनिष्ठ मित्रों के रूप मे प्रकट हुए थे, लेकिन सन् 1962 मे चीन ने भारतीय सीमान्तों पर आकस्मिक आक्रमण कर इस मित्रता को धूल मे मिला दिया। आज चीन भारत की कुछ भूमि पर अधिकार जमाये हुए है और भारत की ओर से सम्बन्ध-सुधार के प्रयत्नो के बावजूद भारत के प्रति शत्रुतापूर्ण रुख अपनाए हुए है।

नेहरू-युग मे भारत-चीन सम्बन्ध (1947–मई, 1965)

चीन के प्रति मैत्री और तुष्टिकरण की नीति—भारत ने साम्यवादी चीन के प्रति प्रारम्भ से ही मैत्री और तुष्टिकरण की नीति अपनायी। उसने चीन को मान्यता प्रदान की और सयुक्त राष्ट्रसघ मे उसके प्रवेश का जोरदार समर्थन किया। अक्तूबर, 1950 मे ही तिब्बत मे प्रवेश कर चीन ने अपने वास्तविक इरादो का सकेत दे दिया था लेकिन भारत ने चीनी इरादो को समझने मे भूल की। जब भारत सरकार ने तिब्बत मे उसके प्रवेश की ओर चीनी सरकार का ध्यान आकर्षित किया तो 30 अक्तूबर, 1950 को चीन की ओर से भारत को कठोर शब्दो मे उत्तर दिया गया— पश्चिम की साम्राज्यवादी नीति से प्रभावित भारत चीन के अन्तर्देशीय मामलो मे हस्तक्षेप करने का साहस न करे।' चीन द्वारा ऐसी कटु शब्दावली का प्रयोग करने के उपरान्त भी भारत सरकार चीन के प्रति सहानुभूति और तुष्टिकरण का दृष्टिकोण अपनाती रही। 1 फरवरी, 1951 को भारत ने सयुक्त राष्ट्रसघ मे उस प्रस्ताव का विरोध किया जिसमे चीन को कोरिया मे आक्रमणकारी घोषित किया गया था। सितम्बर, 1950 मे जापानी शान्ति-सन्धि के समय सेन-फ्रांसिसको सम्मेलन मे भारत मुख्यत इसीलिए शामिल नही हुआ कि उसमे चीन को आमन्त्रित नही किया गया था।

भारत ने हर अवसर पर चीन के प्रति अपनी सदाशयता प्रदर्शित की, लेकिन चीन दोहरी चाल खेलता रहा। एक ओर तो मीठी बातों मे मैत्री का स्वांग भरता रहा और दूसरी ओर भारतीय सीमाओ पर गडबडी फैलाता रहा तथा तिब्बत को अपने शिकजे मे जकडता रहा। भारत की तुष्टिकरण की नीति की हद तब हो गई जब 29 अप्रेल, 1954 को चीन के साथ एक व्यापारिक समझौता कर भारत ने तिब्बत मे प्राप्त अपने बहिर्देशीय अधिकार (Extra territorial Rights) चीन को सौंप दिए और बदले मे स्वय कुछ भी प्राप्त नही किया। तिब्बत मे चीन की प्रभुसत्ता को स्वीकार करना भारत-सरकार की भारी भूल थी। समझौते की प्रस्तावना मे दोनो देशो ने पचशील के सिद्धान्तो मे विश्वास प्रकट किया। इन्ही सिद्धान्तो का सन् 1953 मे बाडुग सम्मेलन मे विस्तार किया गया। सन् 1954 मे चीनी प्रधानमन्त्री चाऊ एन लाई भारत आए और अक्तूबर, 1954 मे प नेहरू ने चीन की यात्रा की। चीन विभिन्न रूप से भारत के साथ सीमा-विवाद उठाता रहा और तब 20 अक्तूबर, 1962 को उसने भारत पर विशाल पैमाने पर आकस्मिक आक्रमण कर भारत की मित्रता का बदला चुकाया। प नेहरू की आशाओ और नीतियो पर यह एक घातक चोट थी।

भारत-चीन सीमा-विवाद—भारत और चीन के बीच व्यावहारिक रूप से मान्य सीमा को मेकमहोन रेखा (McMahon Line) के नाम से जाना जाता है। अप्रैल, 1914 मे भारत और तिब्बत तथा तिब्बत और चीन के बीच सीमा-निर्धारण के लिए शिमला मे एक सम्मेलन हुआ था जिसमे ब्रिटिश सरकार की ओर से भारत-सचिव आर्थर हेनरी मेकमहोन ने भाग लिया। शिमला-सन्धि मे यह तय हुआ कि—(1) तिब्बत पर चीन की Suzerainty रहेगी, लेकिन बाह्य तिब्बत (*Outer* Tibet) को अपने कार्य मे पूरी स्वतन्त्रता होगी; (2) चीन तिब्बत के आन्तरिक मामलो मे कोई हस्तक्षेप नही करेगा; एव (3) चीन तिब्बत को अपने राज्य का कभी प्रान्त घोषित नही करेगा। बाह्य तिब्बत और भारत के बीच की ऊँची पर्वत-श्रेणियो को सीमा मानकर एक नक्शे को लाल पेंसिल से चिह्नित कर दिया गया, जिसमे तीनों प्रतिनिधियो के हस्ताक्षर हुए। इसी सीमा को मेकमहोन रेखा (McMahon Line) की संज्ञा दी गई। जब कभी सीमा-विवाद उठा तो चीन ने इसी रेखा का समर्थन किया। सन् 1959 से पूर्व उसने इस विषय मे कोई आपत्ति नही उठाई। जहाँ तक लद्दाख की सीमा का प्रश्न है, जिस सीमा तक भारत और तिब्बत का शताब्दियो से अधिकार रहा है और जिसे भारत ने सदैव अपने नक्शे मे दिखाया है, वही परम्परागत सीमा-रेखा मानी जाती रही है। कश्मीर की उत्तरी सीमा को स्पष्ट करते हुए ब्रिटिश अधिकारियो ने सन् 1899 मे चीन को स्पष्ट लिखा था कि इसकी पूर्वी सीमा 80 अक्षांश पूर्वी देशान्तर है। इस लेख-पत्र से सुनिश्चित हो जाता है कि अक्साई चीन भारतीय सीमा के अन्तर्गत है और यह सीमा ऐतिहासिक तथा परम्परागत है।

भारत-चीन सीमा-विवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के रूप मे यह ध्यान रखने योग्य तथ्य है कि भारत को स्वाधीनता प्राप्त करने के साथ-साथ उत्तराधिकार के रूप मे तिब्बत मे निम्नलिखित बहिर्देशीय (Extra-territorial) अधिकार प्राप्त हुए थे—(1) तिब्बत और ब्रिटिश-भारतीय व्यापारियो के विवादो मे बचाव-पक्ष के देश की विधि लागू होती थी और उसी देश का न्यायाधीश मामले पर सुनवाई मे अध्यक्षता करता था; (2) यदि तिब्बत मे ब्रिटिश-राज्य के लोगो के बीच विवाद होते थे तो *उन विवादो का ब्रिटिश अधिकारियो द्वारा निर्णय होता था*; (3) ब्रिटिश एजेंटों को अपने अधिकारो की रक्षा के लिए कुछ सेना रखने का अधिकार था; (4) गट टुग के यान टुंग से ग्याण्टसी तक टेलीफोन और टेलीग्राफ सस्थाओ पर भी ब्रिटिश अधिकारियो का अधिकार था; एव (5) तिब्बत मे भारत-सरकार के 11 विश्राम गृह थे। साम्यवादी चीन ने तिब्बत की स्वायत्तता और भारत के बहिर्देशीय अधिकारो का कोई सम्मान न कर 7 अक्तूबर, 1950 को तिब्बत मे अपने सैनिक भेज दिए। भारत द्वारा इस ओर ध्यान आकर्षित किए जाने पर 30 अक्तूबर को चीन ने इसकी कठोर शब्दो मे उपेक्षा की। चीन ने जो नए नक्शे प्रकाशित किए उसमे भारत की लगभग 50 हजार वर्गमील सीमा चीनी प्रदेश के अन्तर्गत दिखायी और श्री नेहरू द्वारा यह प्रश्न उठाने पर चीनी प्रधानमन्त्री ने कहा

कि ये नवीन राष्ट्रवादी सरकार के पुराने नक्शों की नकल हैं तथा समय मिलते ही इन्हें ठीक कर दिया जाएगा।

चीन भारत के साथ सुनियोजित ढंग से अपने विवादों को उग्र बनाता रहा और भारतीय सीमाओं का अतिक्रमण करता रहा। चीनियों ने आक्साईचिन के पठार में सड़क बना ली और भारत के विरोध के बावजूद लद्दाख में अपनी कई सैनिक चौकियाँ स्थापित कर ली। जुलाई, 1958 में उन्होंने लद्दाख के खुरनाक किले पर भी अपना अधिकार कर लिया। तिब्बत में चीनियों के दमन से आतंकित होकर 31 मार्च, 1959 को दलाईलामा ने भारत में राजनीतिक शरण ली जिसका चीन ने अनावश्यक रूप से विरोध किया। अपने एक पत्र में चाऊ-एन-लाई ने भारत को लिखा—"मैकमहोन रेखा चीन के तिब्बत प्रदेश के विरुद्ध अंग्रेजों की आक्रमणकारी नीति का परिणाम थी। कानूनी तौर से इसे वैध नहीं माना जा सकता।" सितम्बर, 1959 के पत्र में चीन ने आरोप लगाया कि भारत तिब्बत में सशस्त्र विद्रोहियों को संरक्षण दे रहा है। इसी पत्र द्वारा चीनी प्रधानमन्त्री ने लद्दाख में भारत के दावों को ठुकरा दिया। यही नहीं भारत के लगभग 90 000 किलोमीटर प्रदेश पर अपना दावा प्रस्तुत करते हुए चीन सरकार ने यह आरोप लगाया कि भारतीय सेनाएँ इस प्रदेश में घुसकर चीन की प्रादेशिक अखण्डता को चुनौती दे रही हैं।

दोनों देशों का सीमा-विवाद उग्रतर होता गया। अप्रैल, 1960 में दिल्ली में भारत और चीन के प्रधान मन्त्रियों ने संयुक्त विज्ञप्ति में स्वीकार किया कि दोनों देशों के बीच कुछ मतभेद विद्यमान हैं। तनाव तब और बढ़ गया जब जुलाई, 1962 में गलवान घाटी की भारतीय पुलिस चौकी को चीनियों ने घेरे में ले लिया। सीमान्त पर चीनी सैनिक कार्यवाही बढ़ने लगी और भारतीय सैनिक चौकियों को घेरा जाने लगा।

चीनी आक्रमण, 1962—20 अक्तूबर, 1962 को प्रातःकाल भारत की उत्तरी सीमा के दोनों आँचलों पर चीन ने भीषण आक्रमण कर दिया। भारतीय सेनाएँ इस आकस्मिक आक्रमण से सम्भलें तब तक चीन ने काफी भारतीय भूमि और सैनिक चौकियों पर कब्जा कर लिया। पाकिस्तान ने यह प्रचार किया कि चीन ने भारत पर कोई सैनिक आक्रमण नहीं किया है, बल्कि एक सामान्य सीमा-संघर्ष को भारत ने तिल का ताड़ बना दिया है। भारत के अनुरोध पर ब्रिटेन और अमेरिका ने इस संकटकाल में तेजी से सैन्य सामग्री भेजी, किन्तु भारत द्वारा सम्भल कर प्रत्याक्रमण करने से पूर्व ही चीन ने अकस्मात् ही 21 नवम्बर, 1962 को एक-पक्षीय युद्धविराम की घोषणा कर दी। इसके साथ ही चीन ने एक त्रिसूत्रीय योजना भी घोषित की—(1) चीनी सेनाएँ 7 नवम्बर, 1959 की 'वास्तविक नियन्त्रण रेखा' (Actual Line of Control) से 20 किलोमीटर अपनी ओर हट जाएँगी। सेना का हटना एक दिसम्बर से प्रारम्भ होगा। (2) चीनी सेनाओं के हटने से जो क्षेत्र खाली होगा उसमें चीन सरकार अपनी असैनिक चौकियाँ कायम करेगी। इन चौकियों की स्थिति का पता भारत-सरकार को उसके दूतावास द्वारा

दे दिया जाएगा। चीन की ओर से भारत सरकार को इन शर्तों को मान लेने के लिए कहा गया कि वह अपनी सेनाओं को भी 7 नवम्बर, 1959 की रेखा से 20 किलोमीटर अपने ही क्षेत्र में और हटा ले।

विपरीत परिस्थितियों में भारत ने बिना स्वीकारोक्ति के चीन की एकपक्षीय युद्ध-विराम घोषणा को मान लिया, किन्तु द्वि-सूत्रीय योजना को अस्वीकृत करते हुए घोषित किया कि जब तक चीनी सेनाएँ 8 सितम्बर, 1962 की स्थिति तक नहीं लौट जातीं तब तक दोनों देशों के बीच कोई वार्ता सम्भव नहीं है। 8 सितम्बर, 1962 की यह रेखा वह थी जिसके उत्तर में चीनी सेनाएँ आक्रमण से पहले स्थित थीं जबकि चीन द्वारा बताई गई 7 नवम्बर, 1959 की वास्तविक नियन्त्रण-रेखा वह थी जहाँ तक आक्रमण के बाद भी चीनी फौजें नहीं पहुँच पाई थीं। जिस स्थान से 20 किलोमीटर वापसी की बात थी उसका तात्पर्य यह था कि चीनी सेनाएँ पश्चिमी क्षेत्र में जहाँ की तहाँ बनी रहें, पूर्वी क्षेत्र में कुछ हटें।

चीन के आक्रमण ने भारत की गुट-निरपेक्ष नीति के विरुद्ध आलोचनाओं को प्रोत्साहित किया, किन्तु श्री नेहरू ने पुनः इस नीति में गहरी आस्था प्रकट की। अवश्य ही अब भारत की विदेश नीति में यथार्थवाद की ओर झुकाव शुरू हुआ। पं. नेहरू ने घोषणा की कि—'अतीत में हम निर्धनता और निरक्षरता की मानवीय समस्याओं में इतने उलझे रहे कि हमने प्रतिरक्षा की आवश्यकताओं के प्रति तुलनात्मक दृष्टि से बहुत कम ध्यान दिया। यह स्पष्ट है कि अब हम इस ओर अधिक ध्यान देंगे, हम अपनी सेनाओं को सुदृढ़ बनाएँगे तथा जहाँ तक सम्भव होगा सेना के लिए आवश्यक अस्त्र शस्त्र तथा सामग्री अपने देश में ही तैयार करेंगे।"

कोलम्बो प्रस्ताव और चीन का दुराग्रह—दिसम्बर, 1962 में श्रीलंका, बर्मा, कम्बोडिया, इण्डोनेशिया, मिस्र और घाना ने भारत-चीन वार्ता के लिए कोलम्बो-सम्मेलन का आयोजन किया जिसमें यह निश्चय किया गया कि सम्मेलन के प्रतिनिधि भारत और चीन जाकर अपने प्रस्ताव प्रस्तुत करें तथा दोनों देशों के संघर्ष को समाप्त करने का प्रयत्न करें। प्रस्तावों को तब तक गुप्त रखने का निर्णय किया गया जब तक दोनों पक्षों की प्रतिक्रिया ज्ञात न हो जाए। श्रीमती भण्डारनायके स्वयं कोलम्बो प्रस्ताव लेकर पीकिंग और नई दिल्ली गईं और तब 19 जनवरी, 1963 को ये प्रस्ताव प्रकाशित कर दिए गए जिसके मूल तत्त्व ये थे—

(1) युद्ध-विराम का समय भारत-चीन विवाद के शान्तिपूर्ण हल के लिए उपयुक्त है, (2) चीन पश्चिमी क्षेत्र में अपनी सैनिक चौकियाँ 20 किलोमीटर पीछे हटा ले; (3) भारत अपनी वर्तमान सैनिक स्थिति कायम रखे, (4) विवाद का अन्तिम हल होने तक चीन द्वारा खाली किया गया क्षेत्र असैनिक क्षेत्र रहे जिसकी निगरानी दोनों पक्षों द्वारा नियुक्त गैर-सैनिक चौकियाँ करें, (5) पूर्वी नेफा क्षेत्र में दोनों सरकारों द्वारा मान्य वास्तविक नियन्त्रण रेखा युद्ध-विराम रेखा का रूप ले, शेष क्षेत्रों के बारे में दोनों देश भावी वार्ताओं में निर्णय करें, (6) मध्यवर्ती क्षेत्र का समाधान शान्तिपूर्ण ढंग से किया जाए।

कोलम्बो प्रस्तावों का वास्तविक उद्देश्य भारत और चीन के बीच गतिरोध की स्थिति समाप्त कर वार्तालाप का द्वार खोलना था। चीन ने यह आश्वासन दिया कि वह कोलम्बो प्रस्तावों को स्वीकार कर लेगा। भारत को भी कोई विशेष आपत्ति नहीं थी, केवल कुछ स्पष्टीकरण माँगा गया जिसमें यह स्पष्ट हो गया कि पूर्वी क्षेत्र में भारतीय सेना मैकमहोन रेखा तक (केवल उन स्थानों को छोड़कर जिनके बारे में मतभेद है) जा सकेगी और चीनी सेना भी अपने पूर्व-स्थानों तक जा सकेगी, लेकिन विवादग्रस्त स्थलों से उसे भी दूर रहना होगा। स्पष्टीकरण के बाद भारत ने प्रस्तावों पर विधिवत् अपनी सहमति दे दी। तब चीन ने कुछ ऐसी शर्तें जोड़ दीं जिनसे प्रस्ताव व्यवहारतः महत्त्वहीन हो गया और चीन की अपरोक्ष स्वीकृति भी स्पष्ट हो गई। चीन ने तटस्थ देशों के इस अनुरोध को ठुकरा दिया कि कोलम्बो प्रस्ताव स्वीकार कर लिए जाएँ। इससे पुनः इस बात की पुष्टि होगई कि चीन भारत के साथ अपने विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाना नहीं चाहता।

नासिर प्रस्ताव, 1963—भारत-चीन विवाद के गतिरोध को दूर करने के लिए 3 अक्तूबर, 1963 को मिस्र के राष्ट्रपति नासिर ने एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया। इसमें कोलम्बो प्रस्ताव की शर्तों को दोहराते हुए यह सुझाव दिया गया कि विवाद के प्रश्न के लिए एक दूसरा कोलम्बो सम्मेलन आयोजित हो, किन्तु इस प्रस्ताव का भी कोई परिणाम नहीं निकला।

बर्मा, श्रीलंका आदि राष्ट्र दोनों देशों के बीच गतिरोध दूर करने के लिए प्रयत्न करते रहे। मई, 1964 में श्री नेहरू की मृत्यु पर श्री चाऊ-एन-लाई ने अपना शोक सन्देश भेजा जिसमें यह भी कहा गया कि भारत और चीन के विवाद अस्थायी हैं जिनका समाधान शान्तिपूर्ण ढंग से होना चाहिए। पर वास्तव में उनके इन शब्दों में कोई ईमानदारी न थी।

शास्त्री-काल में भारत-चीन सम्बन्ध (मई, 1964–जनवरी, 1966)

श्री नेहरू के बाद 10 जनवरी, 1966 तक श्री लालबहादुर शास्त्री भारत के प्रधानमन्त्री रहे। इस काल में भी भारत और चीन के सम्बन्धों में कोई सुधार न आ सका। सन् 1965 के भारत-पाक युद्ध में चीन ने पुनः अपना शत्रुतापूर्ण रवैया प्रदर्शित किया। भारत और चीन के सीमा-विवाद ने पाकिस्तान और चीन की मित्रता में वृद्धि की। भारत-पाक संघर्ष के समय चीन ने पाकिस्तान को पूर्ण समर्थन दिया और भारत को आक्रामक घोषित किया। धमकी द्वारा भारत को पाकिस्तान के विरुद्ध युद्ध में विमुख करने का खेल भी खेला गया। 16 सितम्बर को चीन ने भारत को अल्टीमेटम दिया कि—"तीन दिन के भीतर भारत सिक्किम-चीन सीमा पर गैर-कानूनी ढंग से स्थापित 56 सैनिक प्रतिष्ठानों को हटा ले अन्यथा इसका नतीजा बहुत बुरा होगा।" पत्र में यह माँग की गई कि भारत सीमा पर अपने "सभी अतिक्रमण तुरन्त बन्द कर दे, अपहृत सीमा-निवासियों तथा पकड़े गए मवेशियों को लौटा दे अन्यथा गम्भीर परिणामों के लिए भारत सरकार पूरी तरह उत्तरदायी रहेगी।"

चीन के अल्टीमेटम से ऐसा लगा कि भारत और पाकिस्तान का युद्ध व्यापक रूप ले लेगा और चीन ने यदि भारत पर आक्रमण कर दिया तो सम्भवतः भारत-पाक युद्ध विश्व-युद्ध का रूप धारण कर लेगा, अतः महाशक्तियों ने अविलम्ब चीन को चेतावनी दी कि वह आग के साथ खिलवाड़ न करे। उधर चीनी अल्टीमेटम के जवाब मे 17 दिसम्बर को श्री शास्त्री ने लोकसभा मे कहा कि सिक्किम-तिब्बत सीमा पर भारत के अतिक्रमण की बात गलत है और भारतीय प्रदेश पर चीन का दावा हमें स्वीकार नही है। चीन की सैनिक शक्ति भारत को अपनी प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा से विचलित नहीं कर सकती। श्री शास्त्री ने चीन के आरोप के प्रत्युत्तर मे कहा कि यदि चीन-सरकार समझती है कि भारत ने उसके प्रदेश मे सैनिक प्रतिष्ठान बना लिए हैं तो वह उन्हें तोड सकती है, भारत कोई विरोध नही करेगा। वास्तव मे चीन का आरोप निराधार था, भारत के चीनी प्रदेश मे कोई सैनिक प्रतिष्ठान नही थे।

चीन ने सीमा पर सैनिक गतिविधियाँ आरम्भ कर दी। 19 सितम्बर को अल्टीमेटम की अवधि फिर तीन दिन के लिए बढा दी, किन्तु बडे पैमाने पर कोई सैनिक कार्यवाही करने का साहस नही किया। 23 सितम्बर को भारत-पाक युद्ध विराम हो जाने पर पेकिंग रेडियो ने यह नाटकीय घोषणा की कि "भारतीय सैनिक प्रतिष्ठानो को तोडकर अपनी सीमा मे वापस लौट गए हैं।"

इन्दिरा-काल में भारत-चीन सम्बन्ध (जनवरी, 1966–मई, 1976)

श्री शास्त्री के बाद जवाहरलाल नेहरू की इकलौती पुत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने भारत के प्रधानमन्त्री का पद सम्भाला। उन्होने भी चीन के साथ सीमा-विवाद सुलझाने के कूटनीतिक प्रयास किए। श्रीमती गांधी का यह कहना ठीक ही था कि ताली दोनो हाथो से बजती है, एक हाथ से नहीं। यदि चीन भारत के शान्ति प्रयासो का अनुकूल उत्तर नही देता तो यह उसका दुराग्रह है जिस पर एक दिन उसे अवश्य पुनर्विचार करना पड़ेगा। सन् 1962 और 1975 के भारत में आकाश पाताल का अन्तर है और चीन भारत को सैनिक शक्ति द्वारा दबाने की बात अब सोच भी नही सकता।

चीन द्वारा पुनः छेड़-छाड़—भारत-पाक युद्ध मे विजय से भारत की प्रतिष्ठा मे वृद्धि हुई और चीन कुछ समय तक सीमा पर विशेष गडबडी करने से रुका रहा। सितम्बर व अक्तूबर, 1967 मे चीन ने नाथू-ला के भारतीय प्रदेश पर आक्रमण कर दिया, *लेकिन भारी हानि उठाकर उसे पीछे हटना पड़ा। 2 अक्तूबर, 1967 को* चीनियों ने चोला की भारतीय चौकी पर अचानक हमला किया, किन्तु फिर गहरी क्षति उठाकर अपने नापाक इरादो से उन्हें हाथ धोना पड़ा। अप्रैल, 1968 मे नाथू-ला मे चीन की सैनिक गतिविधियो से स्थिति पुनः तनावपूर्ण हो गई, लेकिन कोई विशेष घटना नही घटी।

चीन का पिंग-पौंग राजनय और भारत—एशिया और अफ्रीका के देशो ने बढती हुई बदनामी, रूस और भारत के बढ़ते हुए सहयोग, एक सैनिक शक्ति के रूप

से भारत के उदय आदि विभिन्न कारणों से सन् 1970 से ही चीन ने सीमान्त की भारतीय चौकियों पर आक्रमणात्मक कार्यवाहियाँ लगभग बंद कर दी। भारत-विरोधी प्रचार की भाषा में भी कटुता और आरोपों की गम्भीरता क्रमशः कम होने लगी। सन् 1971 के प्रारम्भ में ऐसे लक्षण दिखाई देने लगे कि दोनों देशों के बीच सम्बन्धों में सुधार सन्निकट हैं। अप्रैल 1971 में कैंटन के व्यापारिक मेले में भाग लेने के लिए चीन सरकार ने हॉंगकांग स्थित भारतीय वाणिज्य आयुक्त को निमन्त्रित किया। इसी माह अमेरिका की एक पिंग-पौंग टीम को चीन में मैच खेलने के लिए आमन्त्रित किया गया। चीन-अमेरिका सम्बन्ध मधुर होने लगे और राजनीतिक क्षेत्रों में यह आशा जगी कि चीन की इन नई प्रवृत्तियों का एक परिणाम यह भी निकलेगा कि भारत-चीन सम्बन्धों में सुधार होगा, अत भारत को भी इस दिशा में अधिक सक्रिय हो जाना चाहिए। भारत के प्रति चीन का रुख कुछ नरम भी दिखाई दिया क्योंकि भारत के आमन्त्रण पर चीनी राजदूत राष्ट्रीय उत्सवों तथा राजनयिक अवसरों में उपस्थित होने लगे। विदेशों की राजधानियों में दोनों देशों के राजदूतों का सम्पर्क बढ़ने लगा। फिर भी चीन की ओर से सम्बन्ध-सुधार के कोई ठोस प्रयत्न दृष्टिगोचर नहीं हुए। 4 अगस्त, 1971 को राज्यसभा में भारतीय विदेश मन्त्री सरदार स्वर्णसिंह ने कहा कि—"भारत चीन के साथ सम्बन्धों में सुधार का स्वागत करता है लेकिन जब तक चीन की ओर से उचित प्रत्युत्तर नहीं मिलता, हम अकेले कुछ नहीं कर सकते।" 13 नवम्बर, 1971 को पीकिंग में अफ्रो-एशियाई टेबिल टेनिस प्रतियोगिता का आयोजन किया गया और इसमें भाग लेने के लिए भारत को भी निमन्त्रण दिया गया। जब भारतीय टीम पीकिंग जाने के लिए पालम हवाई अड्डे पर पहुँची तो विदाई देने के लिए चीनी दूतावास के कुछ प्रतिनिधि भी उपस्थित थे। सितम्बर, 1971 में संयुक्त राष्ट्रसंघ में चीन के प्रवेश की बात उठी और भारत ने चीन की सदस्यता का पूर्ण समर्थन किया। दोनों देशों के बीच राजदूतों को नियुक्त करने की बात भी उठी और चीनी प्रधानमन्त्री ने सुझाव दिया कि चूँकि भारत ने अपने राजदूत को पहले वापस बुलाया था, अत उसकी पुनः नियुक्ति के सम्बन्ध में भारत को ही पहल करनी चाहिए। इसी बीच दिसम्बर, 1971 का भारत-पाक युद्ध छिड़ गया जिससे दोनों देशों के सम्बन्धों में पुन. तनाव उत्पन्न हो गया।

बंगलादेश की समस्या और भारत-पाक युद्ध के प्रति चीनी दृष्टिकोण—सन् 1971 का वर्ष भारत के लिए समस्याओं का वर्ष रहा। बंगलादेश के मुक्ति-आन्दोलन में भारत का सहयोग चीन को अच्छा नहीं लगा। चीन ने पाकिस्तान की तानाशाही का पूर्ण समर्थन किया और बंगलादेश के मुक्ति आन्दोलन में भारत के सहयोग को पाकिस्तान के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप बताया। जुलाई, 1971 में श्रीमती गांधी ने चीनी प्रधानमन्त्री को एक पत्र लिख कर बंगलादेश की घटनाओं से अवगत कराया, लेकिन चीन ने इस पत्र का कोई उत्तर नहीं दिया। संयुक्त राष्ट्रसंघ में प्रवेश के बाद चीनी प्रतिनिधि ने अपने पहले ही भाषण में आरोप लगाया कि

भारत पाकिस्तान के मामले मे ठीक उसी तरह हस्तक्षेप कर रहा है जिस तरह उसने तिब्बत में किया था। अगस्त, 1971 की भारत-सोवियत संधि ने चीन को और भड़का दिया। दिसम्बर, 1971 मे भारत-पाक युद्ध के दौरान सुरक्षा परिषद् की बहसो मे चीनी प्रतिनिधि ने पाकिस्तान का साथ देने मे कोई कसर नही रखी और भारत को आक्रमणकारी घोषित कर दिया। यह भी कहा गया कि भारत ने यह आक्रमण सोवियत संघ के संकेत पर किया है। चीन ने भारत को पुनः चेतावनियाँ दी, किन्तु ये चेतावनियाँ खोखली थी जिनका मुख्य उद्देश्य यह था कि पाकिस्तान के साथ एकता प्रदर्शित कर उसके मनोबल को ऊँचा रखा जाए और भारत को परेशानी में डाला जाए।

2 जनवरी, 1972 को श्रीमती गांधी ने चीन के रवैये के बारे में भारतीय प्रतिक्रिया स्पष्ट शब्दो मे व्यक्त की। उन्होने कहा कि चीन द्वारा पाकिस्तान को समर्थन किए जाने के बावजूद भारत-चीन सम्बन्ध सुधर सकते हैं। चीन ने भारत-पाक युद्ध पर एक नपी-तुली प्रतिक्रिया व्यक्त की है—उसने पाकिस्तान का समर्थन न तो हमारी आशा से अधिक किया है और न उससे कम।

दोनों देशों की दूरियाँ यथावत कायम (1973–1975)—भारत-पाक युद्ध की घटनाओ के बाद भी समय-समय पर भारत-चीन सम्बन्धो मे सुधार के आसार प्रकट हुए, किन्तु कोई सुपरिणाम नही निकला और दोनो देशो की दूरियाँ आज भी कायम हैं। मार्च, 1973 मे भारत ने नाथू-ला, जीलप-ला और चौदह क्षेत्रों मे चीन-विरोधी प्रचार बन्द कर दिया। सन् 1973 मे ही डॉ. द्वारकानाथ कोट्‌निस की स्मृति मे (जिनकी 1938–43 मे चीन मे डॉक्टरी सेवा के दौरान मृत्यु हो गई थी) कोट्‌निस कमीशन की स्थापना हुई। जून, 1974 मे यह प्रतिनिधि-मण्डल डेनियल लतीफी के नेतृत्व मे पीकिंग गया जहाँ इसका भव्य स्वागत किया गया। इस प्रतिनिधि-मण्डल ने लौटकर चीन की आर्थिक उन्नति का आश्चर्यजनक विवरण दिया। वर्ष का अन्त होते-होते अफगानिस्तान की मध्यस्थता से चीन और भारत के सम्बन्धो मे सुधार लाने के कुछ संकेत प्राप्त हुए। अफगानिस्तान के राष्ट्राध्यक्ष सरदार दाऊद खाँ के विशेष प्रतिनिधि श्री बर्डय ने इस बारे मे भारत तथा चीन की यात्रा की और चीनी नेताओ की प्रतिक्रिया से भारतीय नेताओ को अवगत कराने के लिए वे दिसम्बर, 1974 मे भारत आए।

वर्ष 1975 मे चीन के प्रसार-साधन भारत के विरुद्ध शत्रुतापूर्ण प्रचार करते रहे। चीन सरकार ने 29 अप्रेल, 1975 को एक वक्तव्य प्रसारित किया जिसमे कहा गया कि भारतीय संघ मे सिक्किम को राज्य का दर्जा प्राप्त होना 'अवैध अधिग्रहण' है। चूँकि इस मामले का सम्बन्ध किसी अन्य सरकार से नही था, इसलिए भारत सरकार ने 1 मई, 1975 को एक संक्षिप्त वक्तव्य जारी कर इसे अपने आन्तरिक मामले मे चीन का हस्तक्षेप बताया। चीन बराबर यह दावा करता रहा कि भारत अपने पड़ोसियों के प्रति 'आधिपत्य और विस्तारवादी आकांक्षाएँ' रखता है और चाहता है कि वह सोवियत संघ के समर्थन से एक

'उप-महान-देश' बन जाए। चीन के इस मिथ्या प्रचार के बावजूद भारत ने किसी प्रकार का कोई प्रचार आन्दोलन नहीं छेड़ा।

भारत-सरकार ने चीन के साथ सम्बन्धों को सामान्य बनाने के लिए सुसंगत नीति का अनुसरण किया। इंडियन टेबिल टेनिस फेडरेशन के निमन्त्रण पर विश्व टेबिल टेनिस प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए चीन की एक टेबिल टेनिस टीम फरवरी 1975 में भारत आयी। इसी प्रकार भारत और चीन के अनुरोध पर नई दिल्ली स्थित उनके राजदूतावास में पारस्परिकता के आधार पर सामान्य टेलेक्स व्यवस्था चालू करने को सहमत हो गई। भारत के एशियाई विकास बैंक जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में चीन की उम्मीदवारी का समर्थन किया।

20 अक्तूबर को लगभग 40 चीनी सैनिकों ने पूर्वी क्षेत्र में भारतीय सीमा को पार किया, घात लगाई और भारतीय प्रदेश में हमारे 4 सैनिकों को मार डाला। भारत सरकार ने नई दिल्ली स्थित चीनी राजदूतावास से इस घटना के बारे में तीव्र विरोध प्रकट किया।

चीन के उप प्रधान मन्त्री के नाम प्रधान मन्त्री इंदिरा गांधी ने जनवरी 1976 में श्री चाऊ-एन-लाई की मृत्यु पर, अपनी ओर से और भारत सरकार की ओर से गहरी संवेदना व्यक्त करते हुए एक संदेश भेजा।

वर्ष 1976 में भारत चीन सम्बन्ध—वर्ष 1976 भारत और चीन सम्बन्ध-सुधार का संदेश लेकर आया। राजदूत स्तर के राजनयिक प्रतिनिधित्व की वापसी के बारे में दोनों देशों के बीच सरकारी स्तर पर 1976 के आरम्भ में अनौपचारिक बातचीत हुई। यह वार्ता लाभदायक सिद्ध हुई और बातचीत के बाद अप्रैल में चीन लोक गणराज्य में श्री के. आर. नारायणन को भारत के राजदूत के रूप में नियुक्ति की घोषणा करदी गई। भारत की पहल का सकारात्मक उत्तर देते हुए चीन ने जुलाई, 1976 में अपने प्रत्यय-पत्र प्रस्तुत किए। सितम्बर में अपने प्रत्यय-पत्र प्रस्तुत करते हुए चीनी राजदूत ने कहा कि संयुक्त प्रयत्नों द्वारा सम्बन्धों का सामान्यीकरण दोनों देशों की जनता के हितों के पूर्णत अनुरूप था। 15 वर्ष की लम्बी अवधि के बाद भारत ने चीन के साथ विकासशील निर्माणात्मक और अर्थपूर्ण द्विपक्षीय सम्बन्धों की स्थापना तथा सम्बन्धों को सामान्य बनाने की दिशा में राजदूत के स्तर पर संचार के माध्यमों की वापसी को सर्वप्रथम आवश्यक समझा।

प्रधान मन्त्री और विदेश मन्त्री ने अगस्त, 1976 में उत्तर-पूर्वी चीन में आए भूकम्प के लिए चीन के नेताओं को सहानुभूति के सन्देश भेजे। भूकम्प-पीड़ितों की सहायता के लिए चीन सरकार ने भारत की बहुत सराहना की। प्रधान मन्त्री ने अध्यक्ष, हुआ-कुओ-फेंग को उनकी कम्युनिस्ट पार्टी के अध्यक्ष पद पर नियुक्ति के लिए बधाई भी भेजी और यह आशा व्यक्ति की कि भारत और चीन के बीच सम्बन्ध आगामी वर्षों में और अधिक विकसित होंगे।

अक्तूबर-नवम्बर, 1976 में चीन की बैडमिंटन टीम की भारत-यात्रा और डॉ. कोटनिस मेमोरियल हाल के उद्घाटन के अवसर पर दिसम्बर, 1976 में

एक गैर-सरकारी भारतीय प्रतिनिधिमण्डल की चीन यात्रा से दोनों देशो के बीच बढ़ते हुए सम्बन्धो की प्रवृत्ति परिलक्षित हुई।

वर्ष 1977 मे भारत-चीन सम्बन्ध—भारत के एक गैर-सरकारी व्यापार प्रतिनिधि मण्डल जिसमें राज्य व्यापार सगठनो के प्रतिनिधि भी शामिल है, अप्रेल, 1977 में 'केण्टन स्प्रिग फेयर' मे सम्मिलित हुआ। प्रारम्भिक समझौतो पर हस्ताक्षर हुए और यह आशा व्यक्त की गई कि इनसे दोनो देशों के बीच वाणिज्यिक सम्बन्धों को पुन. स्थापित करने में कुछ वास्तविक प्रगति होगी।

अक्टूबर, 1977 मे प्रकाशित समाचारो के अनुसार भारत तथा चीन के बीच सीधा राजनयिक सम्पर्क होने के बावजूद चीन तीसरी पार्टियो के माध्यम से भारत के साथ सामान्य सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयत्न कर रहा है। ऐसी खबर है कि चीनी नेताओं ने यूगोस्लाविया के विदेशमन्त्री श्री मिलोस मिनिक तथा बाद मे अमेरिका के विदेश मन्त्री श्री साइरस वास के साथ भारत-चीन सम्बन्धो पर विस्तृत विचार-विमर्श किया। चीन द्वारा यूगोस्लाविया तथा अमेरिका के माध्यम से सामान्य सम्बन्धो की स्थापना की चेष्टा स्वाभाविक ही है, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे आज वह इन दोनो देशो पर अधिक विश्वास कर सकता है। कम्युनिस्ट राष्ट्र होने के बावजूद स्टालिन के शासनकाल में ही यूगोस्लाविया रूस के प्रभाव क्षेत्र से पृथक् हो गया था। रूस-चीन सैद्धान्तिक विवाद खुलकर सामने आने के बाद चीन का यूगोस्लाविया की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक ही था।

जहाँ तक अमेरिका का प्रश्न है वह किसी भी पूँजीवादी राष्ट्र की तुलना मे चीन के ज्यादा निकट है। भूतपूर्व राष्ट्रपति श्री निक्सन की पीकिंग यात्रा के बाद इन दोनो राष्ट्रो के बीच विशेष सम्बन्ध स्थापित हुए। इनकी मैत्री का मुख्य आधार शायद यही है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे दोनों ही रूसी गुट के विरुद्ध हैं।

चीन यदि भारत के साथ सामान्य सम्बन्ध चाहता है तो वह स्वय इस दिशा मे पहल कर सकता है। दोनो देशो के बीच राजनीतिक सम्बन्ध सन् 1962 के सघर्ष के दौरान भी भग नहीं हुए थे। पीकिंग स्थित भारतीय दूतावास के घेराव तथा आक्रमण की स्थिति मे भारत ने अपने प्रतिनिधि को अवश्य वापस बुला लिया था। अब तो दोनो देशो के बीच पुन: राजदूतो का आदान-प्रदान हो गया है। इसलिए यदि चीन सामान्य सम्बन्धो की पुन: स्थापना के उद्देश्य से सीमा-विवाद सुलझाना चाहता है तो वह राजनयिक स्तर पर पहल कर सकता है। प्रधान मंत्री श्री मोरारजी देसाई ने कहा भी है कि यदि चीन सीमा-विवाद पर वार्ता के लिए पहल करता है तो हम इसके लिए तैयार हैं।

भारत मे जनता पार्टी की स्थापना के बाद ऐसी वार्ता के लिए नि:सदेह अनुकूल वातावरण उत्पन्न हुआ है। यद्यपि नई सरकार ने देश की विदेश नीति मे कोई विशेष परिवर्तन नही किया है, तथापि सत्ता-परिवर्तन के बाद वातावरण में अन्तर तो आता ही है। कांग्रेस सरकार पर चीन का आम तौर पर यह आरोप था कि वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे सोवियत सघ का साथ देती है। वैसे

इस आरोप का कोई आधार नहीं है, क्योंकि भारत की सदा यह घोषित नीति रही है कि वह सभी राष्ट्रों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना करना चाहता है। अब जनता सरकार ने जब घोषणा करदी है कि भारत वास्तविक निर्गुटता की नीति का पालन करेगा तो चीनी नेता भी सामान्य सम्बन्धों की स्थापना के बारे में सोचने लगे हैं। आशा की जानी चाहिए कि रूस तथा अन्य देशों के साथ भारत के जो सम्बन्ध हैं वे इस दिशा में प्रगति में बाधक नहीं बनेंगे।

भारत, फ्रांस और पुर्तगाल

आजादी के बाद भी भारत में कुछ फ्रांसीसी और पुर्तगाली बस्तियाँ रह गई थीं। चन्द्रनगर, पाण्डिचेरी, कालीकट, माही और यनाम की बस्तियाँ फ्रांस के अधीन थीं तथा गोआ, दमन और ड्यू पर पुर्तगाल का आधिपत्य था। यह स्वाभाविक था कि भारत अपनी भूमि पर स्थित इन उपनिवेशों को मुक्त कराने की चेष्टा करता।

भारत सरकार ने फ्रांस से अनुरोध किया कि वह भारत स्थित फ्रांसीसी बस्तियों को मुक्त कर दे। फ्रांस ने समझदारी से काम लेते हुए नवम्बर, 1954 में पाण्डिचेरी, कालीकट, माही और यनाम को तथा मई, 1959 में चन्द्रनगर को भारत के सुपुर्द कर दिया। फ्रांस ने भारत से हटने में जितनी अधिक समझदारी दिखायी उतनी ही बेसमझी और दुराग्रही प्रवृत्ति का परिचय पुर्तगाल ने भारत से न हटने में दिखाया। यही नहीं, सन् 1961 तक पुर्तगाल ने ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी जो भारत की सुरक्षा के लिए घातक थीं। गोआ में विशाल तैयारियाँ की गई तथा पुर्तगाली सैनिक आए दिन भारतीय सीमा का अतिक्रमण करने लगे। अन्त में, दिसम्बर, 1961 में भारतीय सेना ने पुर्तगाल को गोआ छोड़ने के लिए बाध्य कर दिया। कुछ ही दिनों बाद गोआ भारतीय संघ का अंग बन गया।

भारत और पुर्तगाल के बीच 31 दिसम्बर, 1974 को राजनयिक सम्बन्धों की पुनर्स्थापना के परिणामस्वरूप, सन् 1975 में भारत-पुर्तगाल सम्बन्धों में संतोषपूर्ण विकास हुआ, 19 मई, 1975 को भारत और पुर्तगाल के विदेश मन्त्रियों के बीच पत्रों का जो आदान-प्रदान हुआ, उससे सन् 1886 के पुर्तगाल-वातिकान धर्मसन्धि (ककोर्डेट) सम्बन्धी प्रश्न तथा पुर्तगाल और वातिकान के बीच हुए अन्य सम्बद्ध समझौते भारत के लिए अनुपयुक्त हो गए। इस प्रकार, भारत के कैथोलिक गिरजाघरों में ऊँचे धार्मिक पदों पर नियुक्ति द्वारा पुर्तगाली सरक्षण के अन्तिम चिह्न भी मिटा दिए गए। दोनों देशों ने एक-दूसरे देश की राजधानी में मिशन खोले। लिस्बन में भारत का राजदूत पहले ही अपना पद सम्भाल चुका है।

फ्रांस के साथ भारत के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध विकसित होते रहे। जनवरी, 1976 में फ्रांस के प्रधानमन्त्री की भारत-यात्रा के समय तकनीकी एवं आर्थिक सहयोग के लिए मन्त्री-स्तर की एक भारत-फ्रांस समिति गठित की गई। दोनों देशों के बीच सहयोग से सम्बन्धित मुद्दों पर प्रारम्भिक विचार-विमर्श करने के लिए वाणिज्य मन्त्री श्री चट्टोपाध्याय ने जुलाई, 1976 में पेरिस की यात्रा की। उद्योग मन्त्री श्री टी. ए पै और पेट्रोलियम मन्त्री श्री के. डी. मालवीय ने फ्रांस की यात्रा की

और इस बात का संकेत दिया कि भारत फ्रांस के साथ और आर्थिक सहयोग की सम्भावनाएं खोजने के लिए प्रयत्नशील है। फ्रांस, भारत सहायता संघ (एड इण्डिया कसोर्टियम) का पहला सदस्य है जिसमे सन् 1976–77 मे भारत के साथ विकास सहायता समझौता किया है। इस वर्ष फ्रांस से सामान खरीदने एवं सेवाएँ प्राप्त करने के लिए 3400 लाख फ्रैंक (लगभग 60 करोड़ रुपये का) वित्तीय ऋण मिला। दोनों देशो मे यात्रा-विनिमय करने वाले अनेक प्रतिनिधि-मण्डलों में एक भारतीय संसदीय प्रतिनिधि-मण्डल है जिसने अक्तूबर, 1976 मे राज्य-सभा के उपाध्यक्ष के नेतृत्व मे फ्रांस की यात्रा की।

संयुक्त राज्य अमेरिका और भारत के सम्बन्ध

भारत और अमेरिका विश्व के दो महान् प्रजातान्त्रिक राष्ट्र हैं। दोनों के सम्बन्ध काफी उतार-चढ़ाव के रहे हैं और दुर्भाग्यवश विगत कुछ वर्षों से ये अधिक कटु बन गए हैं। तथापि दोनो ही देश सम्बन्ध-सुधार के लिए प्रयत्नशील हैं और सन् 1975 के मध्य से ऐसे लक्षण दिखाई दिए हैं कि निकट भविष्य मे दोनो देश पुनः मित्रता की दिशा मे अग्रसर होंगे।

नेहरू-युग में भारत और अमेरिकी सम्बन्ध (1947–1964)

एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप मे भारत का उदय होने के बाद से ही अमेरिका की विदेश-नीति का यह मुख्य उद्देश्य रहा कि भारत को अमेरिकी शिविर मे लाया जाए और इसके लिए 'दबाव तथा सहायता की नीति' अपनायी गई। जब दिसम्बर, 1947 मे कश्मीर पर पाकिस्तान के आक्रमण का प्रश्न सयुक्त राष्ट्रसघ मे ले जाया गया तो अमेरिका ने न्याय का गला घोटते हुए पाकिस्तान को पूर्ण समर्थन दिया और आज भी इस प्रश्न पर अमेरिका का भारत-विरोधी रवैया पूर्ववत् विद्यमान है। जब साम्यवादी चीन का उदय हुआ तो अमेरिका ने भारत पर दबाव डाला कि वह चीन को मान्यता न दे, किन्तु भारत ने अपनी स्वतन्त्र निर्णय-शक्ति का उपयोग कर दिसम्बर, 1949 मे चीन को मान्यता दे दी। कोरिया-युद्ध के समय भारत ने प्रारम्भ मे अमेरिका के साथ मिलकर उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित किया और सुरक्षा परिषद् मे अमेरिकी प्रस्ताव का समर्थन भी किया। लेकिन बाद मे जब अमेरिकी कमान के अन्तर्गत सयुक्त राष्ट्रीय सेना ने 38वी अक्षांश रेखा पार कर उत्तरी कोरिया पर आक्रमण किया तो भारत ने इसका विरोध किया। कोरिया युद्ध मे भारत की गुट-निरपेक्ष नीति और शान्ति प्रयासो की अमेरिका ने कटु आलोचना की। पश्चिमी प्रेस ने प. नेहरू को डॉन क्विकजोट' तक कह दिया। जब सितम्बर, 1951 मे जापान के साथ शान्ति-सन्धि के लिए आयोजित सान-फ्रांसिसको सम्मेलन मे भारत ने शामिल न होने का निर्णय किया और अमेरिका की इस एकतरफा शान्ति-सन्धि का (जिसमे युद्धकालीन मित्रराष्ट्रों—चीन तथा रूस को शामिल नहीं किया गया था) विरोध किया तो अमेरिका के समाचार-पत्र भारत पर उबल पड़े। हिन्द-चीन की समस्या पर भी दोनों देशो के दृष्टिकोण मे मौलिक अन्तर रहा। भारत शान्तिपूर्ण समाधान के पक्ष मे था जबकि अमेरिकी प्रशासन बल प्रयोग मे विश्वास करता था।

भारत में अमेरिका के प्रति तब बहुत अधिक क्षोभ फैला जब मई, 1954 में उसने पाकिस्तान के साथ एक सैनिक सन्धि कर उसे इस बहाने भारी सैनिक सहायता देना शुरू किया कि अमेरिकी हथियारों का प्रयोग साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिए किया जाएगा। लेकिन सन् 1965 और 1971 के युद्धों ने भारत की इस आशंका को भली प्रकार सत्य सिद्ध कर दिया कि अमेरिका के हथियारों का प्रयोग लोकतान्त्रिक देश भारत के विरुद्ध होना था। अमेरिका की सैनिक सहायता नीति का पर्दाफाश करते हुए भूतपूर्व राजदूत चेस्टर बाउल्स ने कहा—"विगत 15 वर्षों में यूरोप के बाहर हमारी अधिकांश सैनिक सहायता नई सरकार को इस उद्देश्य से दी गई है कि वह अमेरिकी विदेश-नीति का समर्थन करे।" सन् 1954 में अमेरिका ने पाकिस्तान को सीएटो और सेण्टो का भी सदस्य बना लिया। भारत और अमेरिका के बीच सैन्य संगठनों पर भी व्यापक मतभेद रहे। श्री नेहरू ने हर प्रकार के सैनिक संगठनों का तीव्र विरोध किया और इनकी स्थापना को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के मार्ग में बाधक तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ के मूल उद्देश्यों के विपरीत माना। उन्होंने ट्रूमैन-सिद्धान्त और आइजनहॉवर-सिद्धान्त की कटु आलोचना कर अमेरिकी प्रशासन को क्रुद्ध कर दिया। दोनों देशों के सम्बन्धों में तब और भी बिगाड़ आया जब भारत ने लेबनान और जोर्डन में अमेरिकी हस्तक्षेप का विरोध किया।

गोआ की समस्या भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रश्न था, किन्तु नवम्बर, 1955 में अमेरिकी विदेश मन्त्री डलेस ने कहा—"जहां तक मैं जानता हूँ, सम्पूर्ण संसार गोआ को पुर्तगाल के एक प्रान्त के रूप में स्वीकार करता है।" जब दिसम्बर, 1961 में भारत ने गोआ को पुर्तगाल की दासता से मुक्त किया तो सुरक्षा परिषद् में अमेरिका के प्रतिनिधि स्टीवेंसन फूट पड़े—"आज रात्रि को हम उस नाटक के प्रथम अंक को देख रहे हैं जिसका अन्त संयुक्त राष्ट्रसंघ की मृत्यु के साथ ही सकता है।" नीग्रो, नि.शस्त्रीकरण, वियतनाम आदि समस्याओं पर भी भारत और अमेरिका में गम्भीर मतभेद रहे हैं। भारत का दृष्टिकोण यह रहा है कि अमेरिका को वियतनाम में बमवर्षा बन्द कर शान्ति स्थापना की दिशा में रचनात्मक कदम उठाना चाहिए।

असहयोग और तनाव के उपर्युक्त प्रमुख बिन्दुओं के बावजूद भारत और अमेरिका में सहयोग का क्षेत्र भी काफी रहा है। अमेरिका ने भारत को अपने पक्ष में करने के लिए दबाव-नीति के साथ-साथ आर्थिक और अनाज-कूटनीति का सहारा भी लिया। न केवल अमेरिका से भारत को विशाल आर्थिक सहायता प्राप्त हुई बल्कि मुख्यतः अमेरिकी प्रेरणा से ही विश्व विकास-ऋण-कोष तकनीकी सहयोग आदि संस्थाओं ने भी ऋण तथा उपहार के रूप में भारत को काफी आर्थिक एवं प्राविधिक सहायता प्रदान की। सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में भी सहयोग का विस्तार हुआ। फुलब्राइट योजना के अन्तर्गत दोनों देशों ने एक बड़ी संख्या में विद्वानों का आदान-प्रदान किया। अमेरिका ने भारत को आर्थिक सहायता और खाद्य संकट में अनाज देकर उदारता दिखायी, लेकिन साथ ही अपनी गन्दी कूटनीतिक

चालों से किए कराये पर पानी फेरने का काम भी किया। उदाहरणार्थ, कभी तो अनाज के उपहार को ऋण मे बदला गया, कभी ऋण के बदले में मैंगनीज की मांग की गई तो कभी सहायता इसलिए स्थगित कर दी गई कि प्रमुख प्रश्न पर भारत ने अमेरिका का समर्थन नहीं किया। प. नेहरू ने अमेरिका की दबाव-नीति का साहसपूर्वक सामना किया। दिसम्बर, 1959 मे अमेरिकी राष्ट्रपति आइजनहॉवर की भारत-यात्रा से आशा की गई कि दोनों देशो के बीच सहयोग के नए युग का प्रादुर्भाव होगा। अमेरिका के राजनीतिक क्षेत्रों मे कहा जाने लगा कि भारत का आर्थिक विकास अमेरिकी विदेश-नीति का प्रमुख उद्देश्य है। राष्ट्रपति आइजनहॉवर ने भारत को विशेष सम्मान देते हुए 4 मई, 1960 को वाशिंगटन मे भारत के खाद्य-मन्त्री श्री एस. के पाटिल के साथ स्वयं एक समझौते पर हस्ताक्षर किए। इस समझौते के अन्तर्गत फसल की कमी का सामना करने तथा गल्ले को सुरक्षित रखने के लिए अमेरिका ने भारत को आगामी 4 वर्षों मे चावल तथा गेहूँ से भरे हुए 1,500 जलयान भेजने का निश्चय किया। मई, 1960 का यह समझौता ही 'सार्वजनिक कानून 480' (पी एल. 480) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। 4 वर्ष की अवधि समाप्त हो जाने पर इस समझौते की अवधि मे वृद्धि कर भारत को बड़े पैमाने पर खाद्यान्न सहायता दी जाती रही।

राष्ट्रपति कैनेडी के समय यद्यपि गोआ के प्रश्न पर भारत-अमेरिका सम्बन्धो मे काफी कटुता आ गई, तथापि अक्तूबर, 1962 मे भारत पर चीन के आक्रमण के उपरान्त इन सम्बन्धो मे एकाएक सुधार प्रारम्भ हुआ। भारत के अनुरोध पर अमेरिका ने बडी तेजी और तत्परता के साथ भारत को युद्ध-सामग्री पहुँचायी। अमेरिका की इस सकटकालीन सहायता ने भारतीयो के पिछले सभी घावों को भर दिया और यह सिद्ध कर दिया कि मतभेदों के बावजूद दोनों राष्ट्र मित्रता के स्थायी आधार-स्तम्भ पर खडे हैं। अमेरिका ने भारत को यह सहायता बिना किसी शर्त के प्रदान की। चीनी आक्रमण के समय भी भारत जिस प्रकार अपनी गुट-निरपेक्ष नीति पर डटा रहा, उसकी अमेरिकी विदेश सचिव डीन रस्क ने प्रशसा की। भारत अपनी स्वतन्त्र नीति मे डिगा नही, इसका एक बडा प्रमाण यही है कि एक ओर तो भारत ने अमेरिका से सैनिक सहायता की माँग की, दूसरी ओर उसके एक दिन बाद ही जब सयुक्त राष्ट्रसंघ मे चीन को उसका स्थान देने का प्रश्न उपस्थित हुआ तो भारत ने चीन के पक्ष में मत दिया। मार्च, 1963 में भारत ने लगभग 100 करोड डॉलर की अमेरिकी सैनिक सहायता की माँग की, लेकिन अमेरिका ने केवल 6 करोड डॉलर दिए। इस तरह मूल रूप मे अमेरिका की भारत के प्रति अप्रसन्नता बनी रही।

शास्त्री-काल में भारत-अमेरिका सम्बन्ध (1964-1965)

राष्ट्रपति कैनेडी के उत्तराधिकारी लिण्डन बी. जॉनसन और प्रधानमन्त्री नेहरू के उत्तराधिकारी लालबहादुर शास्त्री बने। अमेरिकी नेतृत्व का विचार था कि श्री शास्त्री प. नेहरू के मुकाबले एक कमजोर नेता सिद्ध होंगे, अत उनको दबाव

द्वारा अमेरिका के पक्ष में सरलता से झुकाया जा सकेगा। लेकिन श्री शास्त्री ने गुट-निरपेक्ष नीति का प. नेहरू से भी अधिक दृढ़ता के साथ अनुसरण किया और उसे पहले की तुलना में अधिक यथार्थवादी रूप दिया।

प्रारम्भ में तो दोनों देशों के सम्बन्धों में कोई बिगाड़ नहीं आया, लेकिन उत्तर-वियतनाम पर अमेरिकी बमवर्षा की जब भारत में सरकारी और सार्वजनिक क्षेत्रों में आलोचना हुई तो अमेरिका जैसे महान् लोकतान्त्रिक राष्ट्र ने अप्रसन्नता का बड़ा निर्लज्ज प्रदर्शन किया। राष्ट्रपति जॉनसन के निमन्त्रण पर श्री शास्त्री ने जब मई, 1965 में अमेरिका जाने का कार्यक्रम निश्चित कर लिया तो अमेरिकी राष्ट्रपति ने अपनी कार्य व्यस्तता के बहाने निमन्त्रण को वापस ले लिया। अमेरिका का यह कदम भारत के प्रधानमन्त्री का नहीं वरन् सम्पूर्ण भारतीय जनता का सार्वजनिक अपमान था और विदेश मन्त्री सरदार स्वर्णसिंह को कहना पड़ा कि भविष्य में श्री शास्त्री अपनी सुविधा देखकर ही निमन्त्रण स्वीकार करेंगे।

पहले कच्छ के रन में और फिर सन् 1965 के भारत-पाक युद्ध में पाकिस्तान द्वारा अमेरिकी अस्त्रास्त्रों के प्रयोग से भारत-अमेरिका के सम्बन्धों में अधिक कटुता उत्पन्न हो गई। युद्धकाल में भी अमेरिका का रुख बहुत कुछ भारत-विरोधी रहा। भूतपूर्व रक्षा-उत्पादन उपमन्त्री श्री ललित नारायण मिश्र द्वारा अक्तूबर, 1970 में किए गए एक रहस्योद्घाटन के अनुसार सन् 1965 में भारत-पाक युद्ध के दौरान अमेरिका ने अपने 6 जहाजों को, जिनमें भारत के लिए रक्षा सामग्री थी, भारतीय तट से मात्र 15 मील की दूरी से वापस लौटा लिया। यही नहीं, अमेरिका ने न तो पाकिस्तान को अमेरिकी सैन्य सामग्री का प्रयोग करने से रोका और न उसकी इस कार्यवाही की निन्दा की। इससे भी बढ़कर आश्चर्य की बात यह हुई कि जब सन् 1966 में पाकिस्तान ने चीन से घनिष्ठ मैत्री स्थापित कर ली और चीन से विशाल मात्रा में सैनिक सहायता भी प्राप्त की, तो भी अमेरिकी प्रशासन के पाक-समर्थक रुख में कोई परिवर्तन नहीं आया।

फिर भी, दोनों देशों के सम्बन्धों में सुधार के प्रयत्न जारी रहे और इसके कुछ सुपरिणाम भी दृष्टिगोचर हुए। एक तो अमेरिका ने यह निर्णय किया कि भारत को खाद्यान्न की सहायता पुनः चालू की जाएगी। दूसरे अमेरिका ने ताशकन्द सम्मेलन को आघात पहुँचाने की कोई कार्यवाही नहीं की।

10 जनवरी, 1966 को श्री शास्त्री के देहान्त के बाद श्रीमती इन्दिरा गांधी भारत की प्रधानमन्त्री बनीं। राष्ट्रपति जॉनसन ने नए प्रधानमन्त्री से अनुरोध किया कि वह शीघ्र ही अमेरिका यात्रा का कार्यक्रम बनाएँ। यह आशा की जाने लगी कि दोनों देशों के बीच मैत्री के नए युग का सूत्रपात होगा, लेकिन अमेरिका की दकियानूसी नीति ने इस आशा को धूमिल कर दिया। जॉनसन-प्रशासन काल में दोनों देशों के बीच मतभेद जारी रहे और निक्सन-युग में तो चरम सीमा तक पहुँच गए।

मार्च, 1966 में श्रीमती गांधी ने अमेरिका की यात्रा की, किन्तु कोई अनुकूल परिणाम नहीं निकले। अमेरिकी प्रशासन का प्रयत्न रहा कि भारत को अधिक

कठिनाइयों से लाभ उठाकर नए प्रधानमन्त्री को अमेरिका की ओर झुकने पर विवश किया जाए। जॉनसन-प्रशासन ने अपनी दबाव नीति में उत्तरोत्तर वृद्धि की। खाद्यान्न के मामले में कैनेडी के चार-वर्षीय सहायता-कार्यक्रमों को पुनः लागू नहीं किया गया। उनके स्थान पर अल्पकालीन कदम उठाने की नीति अपनाई गई। भारतीय रुपये के अवमूल्यन के लिए भी प्रत्यक्ष रूप से दबाव डाला गया। भारत-पाक युद्ध काल में बन्द की गई आर्थिक सहायता यद्यपि पुनः चालू कर दी गई, तथापि यह निराशाजनक थी। कश्मीर के प्रश्न पर पाकिस्तान की पीठ थपथपाई जाती रही और अप्रैल, 1967 में नागा विद्रोही फिजो को अमेरिका में शरण दी गई। अमेरिकी रक्षा-सचिव मैकनमारा ने भारत-पाक संघर्ष को हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष की संज्ञा दी और भारत को अपना विरोध प्रकट करना पड़ा। सन् 1967 में यह भी रहस्योद्घाटन हुआ कि भारत में अनेक संगठनों के माध्यम से सी. आई. ए. (अमेरिकी जासूसी विभाग) अपनी भारत-विरोधी कार्यवाही कर रहा था। सन् 1968 में भारत को अमेरिका की ओर से जो सहायता-राशि स्वीकृत की गई वह पिछले 20 वर्षों में सबसे कम थी। अमेरिकी सहायता में कटौती से भारत की आर्थिक योजनाओं पर बुरा प्रभाव पड़ने लगा, लेकिन श्रीमती गांधी ने घुटने टेकने से इंकार कर दिया। सन् 1969—70 का वर्ष भारत-अमेरिकी सम्बन्धों में एक प्रकार से शीत-युद्ध का वर्ष था। वियतनाम के प्रश्न पर दोनों देशों में तनाव बढ़ गया। भारत सरकार ने अमेरिका की अप्रसन्नता की परवाह न कर जनवरी, 1970 में उत्तर वियतनाम के साथ पूर्ण दौत्य सम्बन्धों की घोषणा कर दी। फरवरी, 1970 में भारत सरकार के एक आदेश के फलस्वरूप अमेरिका को बंगाल और हैदराबाद, लखनऊ, पटना तथा तिरुअनन्तपुरम् के अपने सांस्कृतिक केन्द्र बन्द कर देने पड़े। भारत का यह कदम जिनेवा समझौते के नियमों के अनुकूल था जिसमें सभी दूतावासों को उन नगरों में अपने सांस्कृतिक केन्द्रों को बन्द करने का आदेश दिया गया था जहाँ उनके उप-दूतावास नहीं थे। लगभग इसी समय कम्बोडिया में अमेरिकी सेनाओं के प्रवेश का भी भारत द्वारा विरोध किया गया। अगस्त, 1970 में भारत ने 'यूनाइटेड नेशन्स एटलस 20' नामक प्रकाशन की ओर अमेरिकी दूतावास का ध्यान आकर्षित करते हुए इस बात पर विरोध प्रकट किया कि भारतीय क्षेत्र से जम्मू कश्मीर को हटा दिया गया है। दोनों देशों के बीच तनाव इतना बढ़ गया कि जब श्रीमती गांधी न्यूयार्क यात्रा पर रवाना हुई तो अमेरिकी राजदूत हवाई अड्डे पर उन्हें विदा करने नहीं पहुँचा। न्यूयार्क हवाई अड्डे पर भी भारतीय प्रधानमन्त्री के स्वागत के लिए कोई अमेरिकी वरिष्ठ अधिकारी उपस्थित नहीं था। इस स्थिति में स्वभावतः श्रीमती गांधी ने राष्ट्रपति निक्सन का वाशिंगटन आने का निमन्त्रण ठुकरा दिया और सीधी भारत लौट आई।

सन् 1971 का वर्ष दोनों देशों के सम्बन्धों में विस्फोटक रहा। पाकिस्तानी अत्याचारों से पीड़ित लगभग एक करोड़ शरणार्थियों के भरण-पोषण का भार भारत पर आ पड़ा। पाकिस्तान का भारत पर यह अप्रत्यक्ष आक्रमण था जिसने देश की आर्थिक व्यवस्था पर भारी भार ला पटका। भारत और विश्व के अनेक देशों के

अनुरोध के बावजूद अमेरिका ने इस मानवीय समस्या की ओर से आँखें बन्द कर ली। पाकिस्तान को सैनिक तथा अन्य सहायता प्राप्त होती रही। जब अगस्त, 1971 में भारत और रूस के बीच मैत्री-सन्धि हो गई तो अमेरिकी विदेश नीति को काफी धक्का लगा। दिसम्बर 1971 में भारत-पाक युद्ध काल में सुरक्षा परिषद् में अमेरिका ने भारत-विरोधी प्रस्ताव प्रस्तुत किए जो सोवियत वीटो के कारण निरस्त हो गए। अमेरिका ने 'युद्ध पोत राजनय' की चाल चलकर अपने सातवें बेड़े को बगाल की खाड़ी मे भेजा ताकि बगलादेश में घिरी पाक फौजों को सहायता प्रदान की जा सके तथा भारत को सैनिक दबाव द्वारा मार्तन्कित किया जा सके। किन्तु अमेरिकी कूटनीति बुरी तरह असफल हुई। हिन्दमहासागर में रूसी नौ-सैनिक बेड़े ने अमेरिका को सचेत कर दिया कि यदि उसने भारत के विरुद्ध नौ-सैनिक कार्यवाही की तो रूस केवल दर्शक मात्र नहीं रहेगा। अमेरिका ने भारत की आर्थिक सहायता रोक दी, किन्तु भारत ने अपने विकास कार्यक्रमों में ढील नहीं आने दी। सन् 1972 के प्रारम्भ में अपनी फ्रांस-यात्रा के समय श्रीमती गाँधी ने वहाँ के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री पियरे मेंदीज से कहा—

"आज संयुक्तराज्य अमेरिका कहता है कि वह हमें आर्थिक सहायता नहीं देगा, कोई बात नहीं। हमें आर्थिक सहायता की जरूरत भी नहीं और अगर जरूरत होगी तो भी हम वह सहायता अपनी आजादी को खतरे में डालकर नहीं लेंगे। हम अपनी आजादी को हर कीमत पर कायम रखेंगे। लेकिन हम उन पर निर्भर नहीं करते जो हथियार उन्होंने हमें दिए। उनकी हमने पूरी कीमत चुका दी है।"

फरवरी, 1972 में राष्ट्रपति निक्सन ने काँग्रेस को दिए गए वार्षिक विदेश-नीति सन्देश में कहा—"अमेरिका भारत से आर्थिक और राजनीतिक मामलों पर बातचीत के लिए तैयार है, किन्तु उसकी रुचि इस बात में है कि दक्षिण एशिया का यह शक्तिशाली देश अपने पड़ोसियों के प्रति कैसा रवैया अपनाता है।" निक्सन के इस वक्तव्य की भारत में प्रतिकूल प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। भारत सरकार के प्रवक्ता ने कहा कि निक्सन झूठे आरोप दुहराकर दुनिया को बतलाना चाहते हैं कि भारत एक शक्तिशाली देश बनकर पड़ोसियों को दबाना चाहता है। भारत-सोवियत सन्धि के सन्दर्भ में निक्सन की यह भारत को एक प्रकार से धमकी थी जिसमें संकेत दिया गया था कि अमेरिका और भारत के सम्बन्धों में सुधार तभी हो सकता है जब भारत सभी महाशक्तियों के साथ समान सम्बन्ध स्थापित करने को सहमत हो अर्थात् सोवियत संघ के साथ भारत के कोई विशेष सम्बन्ध न हो। 21 फरवरी को अमेरिका ने पाकिस्तान को आर्थिक और सैनिक सहायता फिर से शुरू किए जाने की चर्चा की। आर्थिक सहायता पर कोई आपत्ति नहीं हो सकती थी, लेकिन सैनिक सहायता का अर्थ भारतीय उपमहाद्वीप में पुनः अशान्ति को बढ़ावा देना था। इसके तुरन्त बाद ही निक्सन पेकिंग गए और निक्सन-चाऊ वार्ता के सन्दर्भ में श्रीमती गाँधी ने चेतावनी दी कि यदि अमेरिका और चीन ने एशिया के भविष्य के बारे में कोई निर्णय किया तो उसे अन्य एशियाई देश स्वीकार नहीं करेंगे। श्रीमती गाँधी ने कहा कि

यदि अमेरिका-चीन वार्ता शान्ति के लिए हो रही है तो स्वागत योग्य है, लेकिन हमें आशंका है कि इस वार्ता का उद्देश्य एक नए शक्ति गुट का निर्माण करना है। वियतनामी जनता ने सिद्ध कर दिया कि बड़ी शक्तियों द्वारा छोटे राष्ट्रों के भाग्य-निर्णय का सिद्धान्त अब पुराना पड़ चुका है। निक्सन-यात्रा की समाप्ति पर प्रसारित संयुक्त विज्ञप्ति में पाकिस्तान क्षेत्र से भारतीय सेना की वापसी और जम्मू-कश्मीर की जनता के 'आत्मनिर्णय के अधिकार' की मांग की गई। यह भारत के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप जैसी बात थी, अतः संयुक्त विज्ञप्ति पर भारत ने अपना विरोध व्यक्त कर दिया।

मार्च, 1973 में जब यह स्पष्ट हो गया कि अमेरिका ने पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने का निश्चय कर लिया है तो भारत में तीव्र प्रतिक्रिया हुई और दोनों देशों के सम्बन्धों में सुधार की सम्भावना बहुत कम हो गई। सन् 1973–74 में ईरान को विशाल मात्रा में शस्त्रास्त्र देने की योजना मई, 1973 में प्रकट हुई। भारत ने इस पर चिन्ता प्रकट की क्योंकि सन् 1971 के युद्ध के पश्चात् पाकिस्तान ने ईरान के साथ अपनी मित्रता बढ़ानी शुरू कर दी थी और ईरान ने हर प्रकार से इसकी सहायता का समर्थन भी किया था। दिसम्बर, 1973 में सोवियत नेता ब्रेझनेव की भारत यात्रा से अमेरिका में यह चिन्ता बलवती हो गई कि यदि भारत-अमेरिकी सम्बन्धों में सुधार न लाया गया तो अमेरिका को महान् लोकतान्त्रिक देश की सहानुभूति से हाथ धोना पड़ सकता है। अत. भारत के प्रति कुछ अनुकूल रवैया अपनाया जाने लगा। 13 दिसम्बर, 1973 को पी. एल. 480 के सम्बन्ध में एक समझौता हुआ। पी. एल. 480 तथा कुछ अन्य ऋणों की मद में भारत द्वारा अमेरिका को 24 अरब रुपये देने थे। समझौते के अनुसार अमेरिका ने 16 अरब 68 करोड़ रुपये पाँचवी योजना के लिए भारत को अनुदान के रूप में प्रदान कर दिए और शेष रुपया अमेरिकी दूतावास के खाते में तथा नेपाल की सहायता के लिए छोड़ दिया गया। पी. एल. 480 की वास्तविकता को देखते हुए अमेरिका का यह कोई अहसान नहीं था, तथापि दोनों देशों के बीच सम्बन्ध-सुधार की दिशा में यह एक शुभारम्भ अवश्य था।

अमेरिका द्वारा हिन्दमहासागर में स्थित ब्रिटिश अधिकृत टापू डियागो गार्सिया में अपना नौ-सैनिक अड्डा स्थापित करने के निर्णय से सन् 1974 में भारत और अमेरिका के सम्बन्धों में सुधार के प्रयत्नों को पुनः आघात पहुँचा। श्रीमती गाँधी ने इस निर्णय की भर्त्सना की और इसे शान्ति के लिए खतरा बताया। उन्होंने कहा कि हिन्दमहासागर में नौ-सैनिक तथा परमाणु-अड्डा स्थापित करने का निर्णय संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रस्ताव के विपरीत है जिससे केवल तनाव में वृद्धि होगी और एशिया में अशान्ति बढ़ेगी। 18 मई, 1974 को एक सफल भूगर्भीय आणविक परीक्षण द्वारा जब भारत परमाणु बिरादरी का छठा देश बन गया तो अमेरिका सहित पश्चिमी देशों की बहुत प्रतिकूल प्रतिक्रिया हुई। इससे भी दोनों देशों के बीच तनाव में वृद्धि हुई।

अगस्त, 1974 में निक्सन के स्थान पर जेराल्ड फोर्ड अमेरिका के राष्ट्रपति बने और यह आशा की गई कि नया नेतृत्व भारत के प्रति सहयोग और मैत्री की नीति अपनाएगा। लेकिन कुछ ही समय में स्पष्ट हो गया कि फोर्ड ने भी निक्सनी रवैया ही अपनाया था। फरवरी, 1975 में अमेरिका ने पाकिस्तान को हथियार देने की निश्चित घोषणा कर दी और भारत को वही पुराना घिसापिटा आश्वासन दिया कि इन हथियारों का प्रयोग भारत के विरुद्ध नहीं किया जाएगा। भारत सरकार ने इसे अमैत्रीपूर्ण कार्यवाही मानते हुए स्पष्ट कर दिया कि भारत की प्रतिरक्षा नीति इन थोथे आश्वासनों से प्रभावित नहीं हो सकती क्योंकि भूतकाल में पाकिस्तान ने अमेरिकी हथियारों का हर बार भारत के विरुद्ध उपयोग किया है। अप्रेल 1975 में कम्बोडिया और वियतनाम से अमेरिका के पलायन ने सिद्ध कर दिया कि हिन्द-चीन के प्रति भारत की नीति ठोस थी और अमेरिका का इस प्रश्न पर भारत-विरोध निरर्थक था। यदि अमेरिका वियतनाम में सैनिक हस्तक्षेप न करता अथवा वहाँ से पहले ही हट जाता तो न तो वियतनाम युद्ध इतना लम्बा खिंचता और न अमेरिकी विदेश-नीति को ऐसा धक्का लगता।

मतभेदों के बावजूद परिपक्व एवं रचनात्मक सम्बन्ध स्थापित करने तथा एक दूसरे को अधिक अच्छी तरह समझने के लिए भारत-अमेरिका के बीच वार्ता और आदान-प्रदान का क्रम सन् 1975 में चालू रहा। आमतौर पर यह अनुभव किया गया कि दृष्टिकोण, प्राथमिकता और समस्यापन अन्तर के बावजूद दोनों देशों के बीच राष्ट्रीय हित के स्तर पर कोई विवाद नहीं है और शान्ति, स्थिरता तथा सहयोग को सुदृढ़ करने के लिए वे निःसन्देह बहुत कुछ कर सकते हैं। विभिन्न क्षेत्रों में द्विपक्षीय आदान-प्रदान के लिए एक संस्थात्मक ढाँचा बनाने की प्रक्रिया भी जारी रही और इस दिशा में कुछ महत्त्वपूर्ण कदम उठाए गए। अक्टूबर, 1975 में भारत के विदेश मन्त्री ने अमेरिका की यात्रा की। और भी कई सरकारी प्रतिनिधि मण्डल अमेरिका गए। अमेरिका से भारत की यात्रा पर आने वालों में प्रमुख थे वित्त मन्त्री विलियम साइमन और सिनेटर जॉर्ज मेकगवर्न। सन् 1975 की विशेष उल्लेखनीय बात थी भारत-अमेरिकी संयुक्त आयोग की वार्षिक बैठक में शामिल होने के लिए तथा अमेरिकी विदेश मन्त्री से बातचीत करने के लिए हमारे विदेश मन्त्री का वाशिंगटन जाना। इस बातचीत में तथा बाद में राष्ट्रपति फोर्ड और दूसरे अमेरिकी नेताओं के साथ बातचीत में विदेश मन्त्री ने अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर विचार-विमर्श किया और इस बात पर जोर दिया कि भारत की नीति भारतीय उपमहाद्वीप में शान्ति और स्थिरता के सवर्द्धन की है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि भारत किस प्रकार प्रभुसत्तात्मक सम्मान और पारस्परिक समानता के आधार पर अपने पड़ोसियों के साथ पारस्परिक सहयोग एवं सम्बन्ध विकसित करने के लिए प्रयत्नशील है तथा भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति, एक नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के सृजन के प्रति उसका समर्थन तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रयासों के आर्थिक, वित्तीय, ऊर्जा, खाद्य एवं सम्बद्ध समस्याओं के प्रति एक रचनात्मक दृष्टिकोण तैयार करने में उसकी

क्या भूमिका है। इस उपमहाद्वीप में हथियारों की होड़ के खतरे के प्रति और हिन्दमहासागर को एक शान्ति-क्षेत्र बनाए रखने की आवश्यकता पर भी संयुक्तराज्य अमेरिका का ध्यान आकर्षित किया गया। जहाँ तक द्विपक्षीय सम्बन्धों का प्रश्न है हमारे विदेश-मन्त्री ने भारत की इस इच्छा की पुन: पुष्टि की कि भारत अमेरिका के साथ पारस्परिक समानता, सम्मान और समभबूक के आधार पर अच्छे सम्बन्ध चाहता है। राष्ट्रपति फोर्ड और विदेश मन्त्री कीसिंगर दोनों ने शान्ति और गुट-निरपेक्षता के क्षेत्र में भारत की भूमिका को स्वीकार किया।

दोनों देशों के सम्बन्धों में रचनात्मक सुधार की प्रक्रिया सन् 1976 में भी आगे बढ़ी। भारत ने अमेरिका के साथ समझौता और सहयोग वृद्धि के प्रयत्न चालू रखे। ऐसा महसूस हुआ कि भारत तथा अमेरिका के बीच बहुत कुछ ऐसा था कि दोनों देश शान्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को सुदृढ़ करने के लिए प्रयत्न कर सकते थे। भारत-अमेरिका सम्बन्धों में कुछ निश्चयात्मक तत्त्व था दोनों देशों की अपने द्विपक्षीय सम्बन्धों को सुदृढ़ करने, व्यावसायिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में सुधार करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समस्याओं पर विचारों का आदान प्रदान करने की इच्छा। समस्त विश्व में तनाव दूर कर, सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की प्रवृत्ति की दृष्टि से इस बात की आशा की गई कि भारत-अमेरिकी सम्बन्ध भी समानता तथा पारस्परिक मैत्री के आधार पर विकसित और सौहार्दपूर्ण होंगे। इस वर्ष दोनों देशों के मन्त्री तथा पदाधिकारियों ने एक दूसरे देश की यात्राएँ कीं।

व्यापार-परिषद् ने, जिसकी बैठक फरवरी, 1977 में वाशिंगटन में हुई थी, इस बात का निर्देश किया कि भारत और अमेरिका के बीच वाणिज्यिक सम्बन्ध दोनों देशों में संयुक्त रूप से व्यापारिक और औद्योगिक सहयोग की वृद्धि द्वारा सुदृढ़ किए जा सकते हैं। परिषद् ने अमेरिका को भारत के साथ व्यापार-सम्बन्धों की सम्भावना से अवगत कराने के लिए कार्यवाही करने का निर्णय लिया। संयुक्तराज्य अमेरिका की स्वतन्त्रता की 200वीं वर्षगांठ के अवसर पर भारत ने कई कदम उठाए जैसे—उस दिन भारत सरकार ने एक विशेष टिकट जारी किया, गत 200 वर्षों में भारत-अमेरिकी सम्बन्धों पर एक सचित्र पुस्तक प्रकाशित की और भारत की मैत्रीपूर्ण भावनाओं को अमेरिका की जनता तक पहुँचाने के लिए एक सांस्कृतिक प्रतिनिधिमण्डल अमेरिका भेजा। दिवंगत राष्ट्रपति फखरुद्दीन अली अहमद की *अन्त्येष्टि पर राष्ट्रपति कार्टर ने अपनी माता श्रीमती लिलियन कार्टर के नेतृत्व में* एक विशेष प्रतिनिधिमण्डल भेजकर सद्भावना व्यक्त की।

वर्ष 1977 में भारत-अमेरिकी सम्बन्ध—अमेरिका ने भारत में शान्तिपूर्ण लोकतन्त्रात्मक तरीके से निष्पक्ष और मुक्त चुनाव द्वारा सरकार बदलने की प्रशंसा की। राष्ट्रपति और नए प्रधानमन्त्री में मैत्रीपूर्ण सन्देशों का आदान-प्रदान हुआ। यह आशा की गई कि दोनों देशों में सुदृढ़ आधार पर द्विपक्षीय सम्बन्धों को पुन: स्थापित करने का मार्ग प्रशस्त होगा। श्री कार्टर ने भारतीय चुनाव परिणामों पर टिप्पणी करते हुए कहा कि पश्चिमी देशों को भारतीय लोकतन्त्र से प्रेरणा लेनी चाहिए।

संयुक्त राष्ट्रसंघ में प्रधानमन्त्री श्री मोरारजी देसाई के मानवीय अधिकार सम्बन्धी विचार अमेरिकी राजदूत श्री यंग द्वारा उद्धृत किए। मई, 1977 में भारत के वित्तमंत्री श्री एच. एम. पटेल ने अमेरिकी यात्रा की जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के माध्यम से भारत को अमेरिकी सहायता प्राप्त होने के संकेत मिले। अमेरिका ने एक तरफ पाकिस्तान को ए–7 बमवर्षक देने की घोषणा की तथा दूसरी ओर भारत को जाने वाली यूरेनियम सप्लाई पर प्रतिबन्ध हटा लिया। हिन्दमहासागर के विसैन्यीकरण के बारे में श्री कार्टर ने सोवियत संघ के सम्मुख प्रस्ताव रखा है कि रूस के इस क्षेत्र से हटने पर अमेरिका भी हट जाएगा। कश्मीर-विवाद अभी भारत-पाक के बीच ठण्डा है क्योंकि पाकिस्तान आन्तरिक राजनीतिक उथल-पुथल में उलझा हुआ है।

भारत तथा अमेरिका दोनों में नई सरकारों ने विदेश-नीति तथा राजनयिक पद्धति को एक नया मोड़ दिया है। निक्सन कीसिंजर की तरह अमेरिकी राष्ट्रपति श्री कार्टर हठधर्मी के शिकार दिखाई नहीं देते। इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि बदलती राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में यदि दोनों देशों के राजनेता सच्चे दिल से सम्बन्ध सुधारना चाहते हैं तो यह एक शुभ घड़ी है। जनवरी, 1978 के प्रथम सप्ताह में श्री कार्टर की भारत यात्रा से दोनों देशों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के विकास को पूरा बल मिलेगा यह आशा की जाती है।

दक्षिण और मध्य अमेरिका

वर्ष 1976 में भारत, लेटिन अमेरिका और कैरेबियाई देशों ने विकासशील देशों के रूप में पारस्परिक सम्बन्ध विकसित करने तथा एक दूसरे के हितों की रक्षा करने का प्रयत्न किया। लेटिन अमेरिका को इस बात का ज्ञान हो गया है कि इसका भाग्य शेष विकासशील विश्व के साथ निकट राजनीतिक तथा आर्थिक सहयोग में ही निहित है। स्थानीय तथा क्षेत्रीय विवशताओं के बावजूद विदेशी मामलों में अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने की इच्छा काफी व्यापक रही। इस क्षेत्र के कई देशों ने गुट-निरपेक्षता के बारे में भारत के इस मत को स्वीकार किया कि यह आन्दोलन सैनिक सम्बन्धों तथा सैद्धान्तिक अनुरूपता का प्रतीक था। इनमें से सात देश गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के पूर्णरूप से सदस्य हैं और चार का चुनाव कोलम्बो में समन्वय-ब्यूरो के लिए किया गया। अन्य कई देशों ने गुट-निरपेक्ष आन्दोलन में होने वाली गोष्ठियों तथा आन्दोलनों का अनुसरण किया।

द्विपक्षीय स्तर पर लेटिन अमेरिका और कैरेबियाई क्षेत्रों में भारत की रुचि में वृद्धि हुई। वहाँ पर शीघ्र ही एक प्रवासी मिशन तथा अवैतनिक महाकोंसल कार्यालय खोलने का निर्णय लिया गया। इस समय भारत के 23 देशों के साथ राजनयिक सम्बन्ध हैं तथा इस क्षेत्र की 12 राजधानियों में भारत के आवासी मिशन हैं। भारत और क्यूबा सांस्कृतिक मामलों तथा विज्ञान व तकनीक के विशेष क्षेत्रों में प्रथम बार एक दूसरे को सहयोग देंगे। तीन समझौतों का अनुसमर्थन किया गया, इनमें से एक तो सांस्कृतिक क्षेत्र में अर्जेन्टाइना के साथ है और दो संस्कृति तथा व्यापार के क्षेत्र में कोलम्बिया के साथ हैं। सन् 1975 में मेक्सिको के साथ हुए

सांस्कृतिक विज्ञान-तकनीक समझौते के अन्तर्गत पारस्परिक सहयोग के कार्यक्रम की एक ब्योरेवार रूपरेखा तैयार की गई। सांस्कृतिक करार पर विचार-विमर्श करने के लिए वेनेज्यूला के पदाधिकारियों के एक दल ने नई दिल्ली का दौरा किया।

वर्ष 1976 में लेटिन अमेरिका तथा कैरेबियाई क्षेत्रों की यात्रा करने वाले महत्त्वपूर्ण नेता प्रतिनिधिमण्डल थे—जहाजरानी तथा परिवहन मन्त्री, राज्य गृह मन्त्री जो मेक्सिको सिटी में अन्तर-संसदीय यूनियन में भी उपस्थित हुए। इनके अतिरिक्त प्रधानमन्त्री के विशेष राजदूत जो मेक्सिको सिटी में तृतीय विश्व केन्द्र के उद्घाटन में सम्मिलित हुए, सूचना एवं प्रसारण मन्त्री और जेम ज्वेलरी एक्सपोर्ट काउंसिल, सेल, भारत निवेश केन्द्र, भारत अल्यूमिनियम केबल लिमिटेड और मीकन के प्रतिनिधि थे। उस क्षेत्र से भारत में आने वाले उल्लेखनीय अतिथि थे—वेनेजुएला अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक विभाग के मन्त्री डॉ. मेनयूल पीराज गुयरीरो, क्यूबा की विज्ञान अकादमी के अध्यक्ष डॉ. जोइलों मोरीनेलो तथा विज्ञान और तकनीकी राज्य कमेटी के प्रथम उपाध्यक्ष, बाहमस के उप-प्रधानमन्त्री तथा वित्तमन्त्री माननीय आर्थर हाना ब्राजील का एक व्यापार प्रतिनिधिमण्डल। ब्राजील के संसद्-सदस्यों तथा जमैका के औद्योगिक निवेश-निगम के प्रतिनिधियों ने भी भारत का दौरा किया।

इस क्षेत्र के देशों के साथ व्यापार तथा आर्थिक क्षेत्रों में भारत का सहयोग अभी कम ही है। फिर भी जैसा कि गुयाना में हुए संयुक्त सहयोग के कार्यक्रम से स्पष्ट है इन देशों के साथ भारत के सहयोग की पर्याप्त सम्भावना है। इन देशों के साथ व्यापार बढ़ाने के लिए कई कदम उठाए गए जिनमें ब्राजील में एक औद्योगिक प्रदर्शनी का आयोजन किया जाना भी शामिल था। भारत तथा ब्राजील के व्यापार पदाधिकारियों के बीच विचार-विमर्श हुआ। इस बातचीत के फलस्वरूप हुए एक समझौते के अनुसार ब्राजील ने भारत से विभिन्न प्रकार की इस्पात से बनी वस्तुएँ और इन्जीनियरी का सामान खरीदने की इच्छा प्रकट की। भारत ने ब्राजील से जहाज जलपोत तथा कुछ रासायनिक सामान खरीदने में अपनी रुचि दिखायी। दोनों पक्ष इस बात पर भी सहमत हुए कि भारत की एस. टी. सी. जो अरण्डी के तेल की प्रमुख एजेंसी है, तथा समवर्ती ब्राजील संस्था के बीच इस मद के निर्यात मूल्यों के सम्बन्ध में समझौता होगा। अर्जेण्टाइना की एक जहाजरानी लाइन के साथ भारत तथा अर्जेण्टाइना के बीच एक द्विमार्गी सेवा आरम्भ करने की सम्भावनाओं पर भी वार्ता हुई। उसने अपनी सेवा का बम्बई तक विस्तार करने में रुचि प्रदर्शित की। भारत के जहाजरानी निगम में कैरेबियाई देशों को द्विमार्गीय सेवा चालू है और सिन्धिया का एक जहाज समय-समय पर कोलोन (पनामा) जाता रहता है।

सोवियत संघ के साथ सम्बन्ध
(Relations with Soviet Union)

स्टालिन-काल के प्रारम्भिक वर्षों में भारत और रूस के सम्बन्ध कुछ तनावपूर्ण रहे, किन्तु ज्यों-ज्यों भारतीय विदेश नीति के लक्ष्य और भारत की गुट-निरपेक्षता

के सही इरादे स्पष्ट होते गए, सोवियत रूस के साथ भारत के सम्बन्धों में सुधार होता गया और आज तो दोनों देश प्रगाढ़ मैत्री के बन्धन में आबद्ध हैं।

स्टालिन-काल में भारत-रूस सम्बन्ध

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व ही उपनिवेशवाद, निःशस्त्रीकरण, अणुबम, विशेषाधिकार आदि प्रश्नों पर भारत और रूस के बीच इतना मतैक्य था कि अमेरिका के विदेश-सचिव जान फास्टर डलेस ने 18 जनवरी, 1947 को यहाँ तक कह दिया था कि—"भारत में सोवियत साम्यवाद अन्तरिम हिन्द सरकार के माध्यम से अपने प्रभाव का विस्तार कर रहा है।" लेकिन आने वाले समय ने सिद्ध कर दिया कि भारत न तो पूँजीवादी जगत् के शिकंजे में है और न साम्यवाद के प्रभाव में। सन् 1947 के बाद भारत में साम्यवादी दल ने अपनी विध्वंसकारी गतिविधियाँ प्रारम्भ कर भारत सरकार को अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी खतरे के विरुद्ध सचेत कर दिया। यूनान और कोरिया के प्रश्नों पर भारत और रूस में कुछ मनमुटाव उत्पन्न हुआ और इसी समय भारत द्वारा ब्रूमेल्स-संधि को स्वीकृति प्रदान कर देने से दोनों के सम्बन्ध और भी बिगड़ गए। अप्रैल, 1949 में सोवियत प्रेस ने भारत सरकार पर आरोप लगाया कि वह ब्रिटिश और अमेरिकी साम्राज्यवाद के साथ साँठगाँठ कर रही है।

भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति को 'निर्बल अवसरवादी नीति' का ही प्रतिरूप समझा गया। फिर नवोदित भारत अपने राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से पश्चिमी देशों, विशेष रूप से ब्रिटेन और अमेरिका के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाए रखना आवश्यक समझता था। भारत के पश्चिमी देशों के साथ सहयोग स्थापित करने के प्रयत्न सोवियत रूस की आलोचना के विषय बने, किन्तु सन् 1949 के अन्त तक भारत और रूस के सम्बन्धों में सुधार होने लगा। श्री नेहरू पश्चिम के साथ मैत्री-सम्बन्धों का निर्वाह करते हुए भी रूस की भ्रांतियों को दूर करने का प्रयत्न करते रहे। पश्चिम की अप्रसन्नता की परवाह न करते हुए साम्यवादी चीन को मान्यता देकर श्री नेहरू ने भारत की स्वतन्त्र विदेश नीति का परिचय दिया। मास्को में भारतीय राजदूत डॉ राधाकृष्णन के सद्प्रयासों से दिल्ली-मास्को के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के विकास में बहुत सहायता मिली। सन् 1949 में ही दोनों देशों के बीच एक व्यापारिक समझौता सम्पन्न हुआ।

इस बढ़ती हुई मैत्री को जून, 1950 में कोरिया-युद्ध छिड़ने पर झटका लगा। भारत न्याय और निष्पक्षता के पक्ष में था, अत: उसने उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित करने में कोई संकोच नहीं किया। इससे सोवियत संघ में भारत के प्रति रोष पैदा हो गया, किन्तु जब कोरिया-समस्या के अग्रिम चरण में भारत ने संयुक्तराष्ट्र संघीय सेनाओं की 38वीं अक्षांश रेखा पार करने तथा चीन को आक्रमणकारी घोषित करने के विरुद्ध चेतावनी दी तो स्टालिन को विश्वास हो गया कि भारत की निर्णय शक्ति स्वतन्त्र है, पश्चिम के दबाव से प्रेरित नहीं। इस घटना से दोनों देशों के बीच मतभेद पुनः कम हुए। दोनों देश एक-दूसरे के निकट तब

और अधिक आए जब सितम्बर, 1951 में भारत ने जापानी शान्ति-सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया क्योंकि यह सन्धि जापान को साम्राज्यवादी शिकंजे मे जकडने की एक चाल थी। अप्रैल, 1952 मे रूस के लौह-शासक स्टालिन ने भारतीय राजदूत डॉ. राधाकृष्णन से भेंट की। यह भेंट इस दृष्टि मे विशेष महत्त्वपूर्ण थी कि पिछले दो वर्षों मे स्टालिन किसी भी राजदूत से नही मिला था। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे इस भेंट को भारत-रूस सम्बन्धो मे सुधार का प्रतीक माना गया। दिसम्बर, 1952 मे कोरिया के युद्धबन्दियों के प्रश्न पर दोनो देशो के बीच पुनः अल्पकालीन मतभेद पैदा हो गए।

ख्रुश्चेव-काल में भारत-रूस सम्बन्ध

मार्च, 1953 मे स्टालिन का देहान्त हो गया। इसके बाद सोवियत शासन की बागडोर पहले मोलेंकोव और फिर बुल्गानिन-ख्रुश्चेव के हाथो मे आई। इस काल मे अमेरिका ने भारत द्वारा कोरिया के राजनीतिक सम्मेलन मे भाग लेने का विरोध किया जिससे रूस और भारत के सम्बन्धो में अधिक प्रगाढता आई। रूस ने पाकिस्तान को दी जाने वाली सैनिक सहायता का विरोध करके भी भारत की सद्भावना अर्जित की। सन् 1954 मे रूस ने 'पचशील' के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की। दूसरी ओर अमेरिका ने साम्यवाद का प्रसार रोकने के नाम पर सैनिक सगठनों का जो जाल बिछाया, उसकी भारत द्वारा कटु आलोचना की गई। इन घटनाओ से भारत और सोवियत सघ के सम्बन्ध और भी मधुर हो गए। जून, 1955 मे श्री नेहरू ने सोवियत सघ की यात्रा की तथा रूसियो को अपने सह-अस्तित्व की विचारधारा से बहुत अधिक प्रभावित किया। संयुक्त विज्ञप्ति मे कहा गया कि दोनों देशो के सम्बन्ध पहले से ही मैत्री और सहिष्णुता पर आधारित हैं तथा भविष्य में भी पचशील द्वारा निर्देशित होते रहेंगे। सन् 1955-56 म श्री बुल्गानिन और ख्रुश्चेव ने भारत की यात्रा की। सन् 1917 की बोल्शेविक क्रान्ति के बाद शायद पहली बार कोई रूसी प्रधान मन्त्री सद्भावना-यात्रा पर इस प्रकार अपने देश से बाहर निकला था। रूसी नेताओ की यह यात्रा भारत की असलग्नता की नीति के लिए बहुत सम्मानजनक बात थी। अपनी इस भारत-यात्रा के समय सोवियत नेताओ ने सार्वजनिक रूप से इस बात का समर्थन किया कि गोआ भारत का अभिन्न अग है।

उपनिवेशवाद और जातीय भेदभाव से सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नो पर दोनो देशो के दृष्टिकोण समान रहे। सन् 1955 मे हंगरी की घटना पर दोनो देशो के सम्बन्धो मे कुछ तनाव पैदा हुआ, क्योंकि हगरी मे की गई सोवियत सैनिक कार्यवाही का भारत मे विरोध हुआ, लेकिन यह तनाव अल्पकालिक ही रहा। इससे दोनो देशों के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो मे कोई विशेष बाधा उत्पन्न नही हुई। सन् 1955 के बाद से ही दोनो देशो के बीच आर्थिक सम्बन्ध भी विकसित होने लगे। कश्मीर-विवाद पर सोवियत सघ भारत को खुला समर्थन देता रहा और सुरक्षा-परिषद् ने पश्चिमी राष्ट्रो के भारत-विरोधी प्रस्तावो पर 'वीटो' का प्रयोग करता रहा। निःशस्त्रीकरण के क्षेत्र में भी दोनो देशों के दृष्टिकोणों मे काफी समानता रही। सन् 1959 और

1960 में महासभा के अधिवेशनों में भारत ने निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी रूसी प्रस्तावों का समर्थन किया। सन् 1962 में गोआ-विलय के प्रश्न पर सुरक्षा-परिषद् द्वारा भारतीय कार्यवाही पर निन्दा का प्रयत्न 'रूसी वीटो' के प्रयोग द्वारा ही विफल हुआ।

अक्टूबर, 1962 में चीनी आक्रमण के प्रारम्भ में रूसी दृष्टिकोण भारत के लिए निराशाजनक था। 25 अक्टूबर, 1962 के 'प्रावदा' के सम्पादकीय लेख में खुले रूप से चीन की 24 अक्टूबर वाली शर्तों का समर्थन किया गया था। यह एक प्रकार से बिना भारत की निन्दा किए चीन के पक्ष का समर्थन था। इतना ही नहीं, रूस ने भारत को मिग विमानों की सप्लाई रोक दी। इन सब बातों से भारत में रूस के प्रति प्रतिकूल प्रतिक्रियाओं का ज्वार-सा आ गया, किन्तु भारत सरकार का यह विश्वास कायम रहा कि वस्तु-स्थिति का ज्ञान होने पर रूस चीन का पक्षपोषण नहीं करेगा, और हुआ भी यही। धीरे-धीरे भारत पर चीनी-आक्रमण के सम्बन्ध में सोवियत दृष्टिकोण बदलने लगा और दिसम्बर, 1962 में तो सुप्रीम सोवियत में ख्रुश्चेव ने भारत पर चीनी हमले की खुली निन्दा की। सन् 1963 में चीन द्वारा कोलम्बो प्रस्ताव ठुकरा दिए जाने पर भी रूस ने चीन की कटु आलोचना की। भारत को मिग विमानों की सप्लाई की गई और मिग विमानों का एक कारखाना भी भारत में स्थापित किया गया। जुलाई, 1963 में सोवियत संघ गया सोवियत रूस से प्राप्त होने वाली सैनिक सहायता की सम्भावनाओं पर विचार करने के लिए भारत की ओर से एक मिशन सोवियत संघ गया। 4 नवम्बर, 1963 के एक समझौते के अनुसार भारत में तेल एवं गैस की खोज तथा उन्हें विकसित करने के लिए रूस द्वारा तकनीशियनों को भेजने का निश्चय हुआ। रूस ने बोकारो कारखाना तथा एक शक्तिशाली रेडियो स्टेशन स्थापित करने में सहायता देने का भी वचन दिया।

ब्रेझनेव-कोसीगिन काल में भारत-रूस सम्बन्ध (1974–1975)

26 अक्तूबर 1964 को ख्रुश्चेव के पतन के बाद रूस में ब्रेझनेव और कोसीगिन के नए नेतृत्व का उदय हुआ जो आज भी सत्तारूढ़ हैं। नए नेताओं ने सोवियत राजदूत के माध्यम से भारत को आश्वासन दिया कि उनके प्रति सोवियत नीति में कोई परिवर्तन नहीं होगा, लेकिन आगामी कुछ वर्षों में भारत को रूस का वह समर्थन नहीं मिल सका जो ख्रुश्चेव ने दिया था। सितम्बर, 1965 में भारत-पाक संघर्ष के समय सोवियत नेतृत्व की नीति किसी न किसी प्रकार संघर्ष को शान्त करने की रही और रूस ने पाकिस्तान के कार्यों का पहले के समान विरोध नहीं किया। संयुक्त राष्ट्रसंघ में भी उसकी नीति कुछ इसी प्रकार की रही। किन्तु पर्दे के पीछे जो कूटनीतिक खेल खेले गए उनके प्रति रूस ने खुले रूप में भारत को अपना समर्थन दिया। उदाहरणार्थ, एंग्लो-अमेरिकी गुट का यह प्रयास था कि भारत को आक्रमणकारी घोषित किया जाए और यदि ऐसा न हो तो कम से कम कश्मीर में संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेना भेज दी जाए, लेकिन सोवियत संघ द्वारा वीटो प्रयोग की धमकी के कारण एंग्लो-अमेरिकी संगुट को इस भारत विरोधी षड्यन्त्र का परित्याग करना पड़ा। जब 16 सितम्बर को चीन ने भारत को अल्टीमेटम दिया, तब भी

सावियत सरकार ने यह चेतावनी दी थी कि विदेशी शक्तियाँ भारत और पाकिस्तान के मामले में हस्तक्षेप कर स्थिति को और बिगाड़ने का प्रयास न करें। सोवियत रूस ने भारत-पाक संघर्ष के बाद से ही इस प्रकार की नीति का अनुसरण किया कि दोनों देशों के साथ मैत्री-सम्बन्ध कायम रहें और पाकिस्तान को चीनी प्रभाव से मुक्त कर अपने प्रभाव में लाया जाए तथा शनैः-शनैः इस बात के लिए तैयार किया जाए कि वह भारत-विरोधी रुख छोड़ दे। इसी प्रकार की नीति पर चलते हुए रूस ने जनवरी, 1966 मे ताशकन्द सम्मेलन का आयोजन किया और अपने कूटनीतिक जादू से भारत और पाकिस्तान के बीच ताशकन्द समझौता सम्पन्न करा दिया।

ताशकन्द-समझौते के बाद दोनों देशों के सम्बन्धो मे थोड़ा-सा तनाव तब आया जब रूस ने पाकिस्तान को हथियार बेचने का निश्चय किया। सोवियत कूटनीति की यह 'नई दिशा' भारत के हितों पर विपरीत प्रभाव डालने वाली थी। जुलाई, 1968 मे पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने का निर्णय करते समय रूस ने भारत को यह आश्वासन दिया कि पाकिस्तान को दिए गए रूसी शस्त्रों का प्रयोग भारत के विरुद्ध नहीं हो सकेगा, पर पाकिस्तानी आचरण को देखते हुए रूस के ऐसे किसी भी आश्वासन पर भारत को भरोसा नहीं हो सकता था।

सौभाग्यवश रूस शीघ्र ही समझ गया कि पाकिस्तान जैसे अस्थिरचित राष्ट्र पर विश्वास नहीं किया जा सकता, अतः कुछ ही समय बाद पाकिस्तान को रूसी शस्त्रों की सप्लाई रुक गई। इसके पश्चात् भारत-रूस के सम्बन्धों मे उत्तरोत्तर विकास होता गया। बंगलादेश की समस्या पर रूस का दृष्टिकोण भारत से मिलता-जुलता रहा। रूस ने पाकिस्तान को स्पष्ट कर दिया कि वह बंगलादेश मे हत्याकाण्ड समाप्त कर समस्या का राजनीतिक हल खोजे।

भारत-सोवियत मैत्री सन्धि, 1971—9 अगस्त, 1971 को भारत और सोवियत संघ के बीच शान्ति, मैत्री और सहयोग की 20 वर्षीय ऐतिहासिक सन्धि सम्पन्न हो गई। इस सन्धि द्वारा भारत को एक महाशक्ति की ठोस मैत्री तो प्राप्त हुई ही, अपितु सोवियत संघ भी एशिया मे एक प्रभावी शक्ति के रूप मे प्रतिष्ठित हो गया।

यह सन्धि, जिसके दस्तावेजों का आदान-प्रदान मास्को मे किया गया, आरम्भ मे 20 वर्ष के लिए है, लेकिन कोई भी पक्ष सन्धि की अवधि समाप्त होने से 12 महीने पूर्व उसे समाप्त करने का नोटिस दे सकता है। ऐसा नोटिस न दिए जाने पर सन्धि की अवधि स्वतः हर बार 5 साल के लिए बढ़ जाएगी। इसका अर्थ यह है कि यह सन्धि स्थायी रूप से चालू रह सकती है।

सन्धि पर हस्ताक्षर के तुरन्त बाद कुछ क्षेत्रों मे आरोप लगाया गया कि भारत गुट-निरपेक्षता की नीति त्याग कर सोवियत संघ के हाथों का खिलौना बन सकता है, लेकिन ये सभी आशंकाएँ निर्मूल सिद्ध हुईं। दिसम्बर, 1971 के भारत पाक युद्ध और बंगला देश के उदय के समय यह भली प्रकार स्पष्ट हो गया कि भारत की स्वतन्त्र निर्णय शक्ति पर कोई भी सन्देह नहीं किया जा सकता।

रूस और भारत की मैत्री-सन्धि कोई सैनिक गुटबन्दी नहीं है। सन्धि में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है कि भारत पर आक्रमण सोवियत संघ पर आक्रमण माना जाएगा। सन्धि में केवल यह व्यवस्था है कि "दोनों में से किसी पर आक्रमण का खतरा उपस्थित होने पर दोनों पक्ष शीघ्र ही परस्पर विचार-विमर्श करेंगे ताकि ऐसे खतरे को समाप्त किया जाए और शान्ति तथा सुरक्षा कायम रखने के लिए प्रभावकारी कदम उठाए जाएं।" इन शब्दों में सैनिक गुटबन्दी जैसी कोई बात नहीं दिखाई देती। इससे यही प्रतीत होता है कि आक्रमण का खतरा होने पर आक्रमण के प्रतिकार का उपाय सोचा जाएगा। इसका अर्थ सैनिक सहायता भी हो सकता है पर मूल बात आक्रमण या आक्रमण की आशंका समाप्त करने की है। यदि आक्रमण समाप्त हो जाता है तो शान्ति के लिए और चाहिए भी क्या। राजनीतिक क्षेत्रों में आशा प्रकट की गई कि इस ऐतिहासिक सन्धि से भारत और सोवियत संघ न केवल एशिया और विश्व में शान्ति की स्थापना तथा जातिवाद एवं उपनिवेशवाद की समाप्ति की दिशा में पहले से अधिक सहयोग कर सकेंगे बल्कि शिक्षा, संस्कृति और व्यापार के क्षेत्र में भी दोनों के सम्बन्धों का विस्तार होगा। इस मैत्री-संधि को हुए छः वर्ष पूरे हो गए हैं लेकिन अभी तक ऐसा एक भी प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया जा सकता जो यह सिद्ध करे कि भारत सोवियत दबाव में काम कर रहा है या सन्धि से भारत की स्वतन्त्र-निर्णय शक्ति को आघात पहुँचा है। यह सन्धि भारत पर पाकिस्तान या अन्य किसी शत्रु देश के आक्रमण के विरुद्ध एक गारंटी है। बहुत कुछ इस सन्धि के कारण ही अमेरिका और चीन दिसम्बर, 1971 के भारत-पाक युद्ध में उलझने से दूर रहे और भविष्य में भी यह सन्धि भारत और सोवियत संघ दोनों देशों के लिए शत्रुओं से एक रक्षा-कवच का काम देगी। यह समानता पर आधारित मैत्री-सन्धि है जिसकी चौथी धारा में सोवियत संघ ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि वह भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति का सम्मान करता है।

भारत पाक युद्ध 1971 पर सोवियत प्रतिक्रिया—दिसम्बर, 1971 में भारत-पाक-युद्ध में सोवियत संघ ने भारत को पूर्ण समर्थन दिया। सोवियत समाचार पत्रों में श्रीमती गांधी के उस भाषण को प्रमुखता प्रदान की गई जिसमें उन्होंने पूर्वी बंगाल का संकट हल करने के लिए वहाँ से पाकिस्तानी सेना की वापसी को आवश्यक बताया था। सुरक्षा परिषद् में सोवियत संघ ने अमेरिका के उस प्रस्ताव पर वीटो का प्रयोग किया जिसमें युद्धविराम और सेनाओं की वापस की मांग की गई थी। बदले में सोवियत संघ ने यह प्रस्ताव रखा कि पूर्वी बंगाल की समस्या का राजनीतिक समाधान निकाला जाए। वीटो के उपरान्त सोवियत सरकार ने सभी देशों से अनुरोध किया कि वे भारत-पाक संघर्ष से दूर रहें और ऐसे कदम न उठाएँ जिनसे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से भारतीय उपमहाद्वीप की स्थिति और भी जटिल बन जाए। संघर्ष को सीमित रखने का यह सोवियत प्रयत्न भारत के हित में था। 6 दिसम्बर को सुरक्षा परिषद् की दूसरी बैठक में अमेरिका ने पुनः भारत-विरोधी प्रस्ताव प्रस्तुत किया जिसको चीन ने पूर्ण समर्थन दिया। सोवियत संघ ने पुनः वीटो का प्रयोग कर इसे

निरस्त कर दिया। भारत के पक्ष में सुरक्षा परिषद् में रूस को पुनः तीसरी बार भी वीटो का प्रयोग करना पड़ा। इस प्रकार रूसी समर्थन के कारण सुरक्षा परिषद् में पिण्डी-पेकिंग-वाशिंगटन चाल भारत का अहित नहीं कर सकी। युद्धकाल में भारत के श्री धर ने मास्को जाकर और सोवियत उपविदेश मन्त्री श्री कुजनेटसोव ने भारत आकर विचार-विमर्श किया। सोवियत विदेश मन्त्री दिल्ली में तब तक ठहरे रहे जब तक युद्ध का अन्त नहीं हो गया। रूस ने श्री धर और कुजनेटसोव के माध्यम से भारत-सरकार को पूर्ण आश्वासन दिया कि हर दशा में भारत की पूर्ण सहायता की जाएगी और मैत्री-सन्धि के वचनों को निभाया जाएगा। जब अमेरिका का सातवां बेड़ा बंगाल की खाड़ी की ओर रवाना हुआ तो सोवियत युद्धपोत भी हिन्द-महासागर की ओर चल पड़े ताकि अमेरिका के प्रत्यक्ष हस्तक्षेप का प्रतिरोध किया जा सके। सोवियत चुनौती के कारण अमेरिका भारत के विरुद्ध 'युद्धपोत राजनय' व्यर्थ हो गया। भारत की एक पक्षीय युद्ध-विराम घोषणा का भी सोवियत सरकार ने खुले दिल से स्वागत किया। इसे शान्ति की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम माना। सोवियत संघ ने एक लम्बे वक्तव्य में राष्ट्रों से अपील की कि वे स्थिति के सामान्यीकरण में योग दें। 18 दिसम्बर को अपने पत्रों में श्रीमती गांधी ने संकटकाल में दी गई सहायता के लिए रूस के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की।

सहयोग का बढ़ता हुआ दायरा (1972–1974) — भारत-सोवियत मैत्री उत्तरोत्तर विकसित होती रही। बंगला देश की समस्याओं के समाधान में दोनों देशों ने मिल-जुलकर काम करने की नीति अपनायी। शिमला-समझौते को रूस ने अपना पूरा समर्थन दिया। अगस्त, 1972 में सुरक्षा परिषद् में संयुक्त-राष्ट्रसंघ की सदस्यता के लिए जब बंगलादेश के प्रार्थनापत्र पर विचार हुआ तो भारत और रूस ने बंगलादेश को अपना पूर्ण समर्थन दिया। चीन के वीटो के कारण उस समय बंगलादेश को सदस्यता प्राप्त नहीं हो सकी। लगभग इसी समय एक भारत सोवियत-संयुक्त आयोग स्थापित करने का निश्चय हुआ जो आर्थिक क्षेत्र में दोनों देशों के सहयोग को और अधिक व्यवस्थित कर सके। 2 अक्तूबर, 1972 को दोनों देशों के बीच विज्ञान और तकनीकी सहयोग सम्बन्धी समझौता हुआ। यह समझौता महत्त्वपूर्ण था क्योंकि भारत अभी तक विशेष रूप से पश्चिमी देशों से ही वैज्ञानिक और तकनीकी जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहा था।

दोनों देशों में सहयोग निरन्तर विकसित होता गया। 26 से 30 नवम्बर 1973 तक नई दिल्ली में ब्रेझनेव-इन्दिरा की ऐतिहासिक भेंट के बाद तो अल्पकाल में ही सम्बन्धों में काफी घनिष्ठता आ गई। लाल किले में आयोजित अभिनन्दन समारोह में श्री ब्रेझनेव ने कहा—"हमारी पारस्परिक मैत्री एक पर्वतारोहण की भांति है। हम जितने भी ऊपर चढ़ते जाते हैं, मैत्री की नई सम्भावनाएँ खुलती जाती हैं।" ब्रेझनेव के दिल्ली-प्रवास के समय ही 29 नवम्बर, 1973 को दोनों देशों के बीच तीन ऐतिहासिक समझौतों पर हस्ताक्षर हुए जिनके द्वारा व्यापार एवं आर्थिक सहयोग बढ़ाने, दोनों देशों के योजना आयोगों में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने तथा एक

दूसरे के सरकारी प्रतिनिधियों को विशेष सुविधाएँ सुलभ कराने की व्यवस्था की गई। सोवियत नेता की यात्रा के फलस्वरूप भारत में भिलाई और बोकारो इस्पात कारखानों के विस्तार, मथुरा में तेल-शोधक कारखाने की स्थापना तथा मध्यप्रदेश में तांबा परियोजना के निर्माण में सोवियत सहयोग प्राप्त हुआ आर्थिक क्षेत्र में दोनों देशों के बीच सहयोग का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि सोवियत सहायता से भारत में 80 औद्योगिक एवं अन्य परियोजनाएँ चालू हो चुकी हैं या चालू की जा रही हैं। भारत के कुल इस्पात-उत्पादन का लगभग 30 प्रतिशत, खनिज तेल का 60 प्रतिशत, बिजली का 20 प्रतिशत और मशीनरी का 60 प्रतिशत उत्पादन सोवियत सहयोग से स्थापित उद्योगों से हो रहा है। सन् 1953 में भारत-सोवियत व्यापार केवल 1 3 करोड़ रु का था जो सन् 1973 में 430 करोड़ रु का हो गया। सन् 1974 में इसमें 35 प्रतिशत की वृद्धि का लक्ष्य निर्धारित किया गया। यह आशा की गई है कि दोनों देशों का व्यापार सन् 1980 तक बढ़कर दुगुना हो जाएगा। दोनों देशों के सांस्कृतिक सम्बन्धों में भी विकास हुआ है। स्वास्थ्य-सेवा और साहित्य के क्षेत्र में परस्पर सहयोग में काफी वृद्धि हुई है। सोवियत संघ में भारतीय लेखकों की 700 से भी अधिक पुस्तकें 34 भाषाओं में करोड़ों की संख्या में प्रकाशित हुई हैं। अक्तूबर, 1974 में भारत सोवियत व्यापार प्रतिनिधिमण्डल वार्ता मास्को में हुई जिसमें सन् 1975 के लिए व्यापार समझौते पर विचार किया गया। सोवियत संघ से भारत मशीनी उपकरण, ट्रैक्टर बिजली के साज-सामान का आयात करता है। भारत से ऊन, मसाले, जूते, काफी तथा अन्य परम्परागत वस्तुएँ निर्यात की जाती हैं। तेल क्षेत्रों के विकास में सोवियत सहायता से भारत विश्व के तेल उत्पादक देशों में गिना जाने लगा है।

वर्ष 1975-76 में भारत-रूस सम्बन्ध

वर्ष 1975 के दौरान भारत और सोवियत संघ के बीच मित्रता, विचार सम्बन्धी तथा परस्पर लाभकारी सहयोग के सम्बन्ध अधिक विकसित, विस्तृत तथा सुदृढ़ हुए। सोवियत संघ की मित्रता के दृढ़ विकास और सर्वांगपूर्ण सहयोग के विषय में निरन्तर यह मान्यता रही कि उनसे दोनों देशों के मूल हित में समानता आती है और उनसे अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में कमी की प्रक्रिया और गहरी होने में सुविधा मिलती है तथा एशिया और विश्व में शान्ति सुदृढ़ होती है। कई घोषणाओं में सोवियत नेताओं ने गुट-निरपेक्षता आन्दोलन के महत्त्वपूर्ण कार्य की पुनः पुष्टि की और विश्व शान्ति तथा सहयोग में गुट-निरपेक्षता आन्दोलन के अंशदान के महत्त्व को मान्यता दी। भारत ने हेलसिंकी में यूरोपीय सुरक्षा एवं सहयोग के शिखर-सम्मेलन के सफल समापन के लिए सोवियत संघ तथा अन्य समाजवादी देशों के महत्त्वपूर्ण योगदान का स्वागत किया और यह आशा व्यक्त की कि तनाव की कमी की भावना को स्थायी रखना तथा प्रभावी बनाने के लिए उसे विश्व के सभी भागों में फैलाना होगा। मास्को में दोनों देशों के बीच नवम्बर, 1975 में विदेशी कार्यालयों के बीच नियमित वार्षिक द्विपक्षीय परामर्श से पारस्परिक हित की वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर उप्य-

स्तरीय लाभकारी विचार-विमर्श का स्वागत-योग्य अवसर प्राप्त हुआ। अप्रैल, 1975 में सर्वोच्च सोवियत के प्रधान मण्डल के उपाध्यक्ष श्री नियाजबेकोव के नेतृत्व में एक सोवियत संसदीय मण्डल ने भारत की यात्रा की।

भारत-सोवियत रुपया भुगतान-व्यापार के ढाँचे के अधीन वस्तुओं के निर्यात के माध्यम से सन् 1973 के 20 लाख टन गेहूँ ऋण का भुगतान स्वीकार करने की सोवियत सहमति एक महत्वपूर्ण घटना थी जो इस बात की सूचक है कि सोवियत संघ भारत की अर्थव्यवस्था को सुदृढ बनाने में रुचि रखता है। पिछले वर्ष की तरह सोवियत संघ व्यापार योजना के अन्तर्गत भारत को प्रचुर मात्रा में मिट्टी का तेल, डीजल तेल, खाद और अत्यन्त आवश्यक वस्तुएँ बराबर देता रहा। सन् 1976–80 की अगली पाँच वर्ष की अवधि के लिए एक दीर्घकालीन व्यापार समझौता सम्बन्धी बातचीत के सम्बन्ध में वाणिज्य मंत्री श्री डी. पी. चट्टोपाध्याय नवम्बर, 1975 में मास्को गए।

भारत का पहला कृत्रिम उपग्रह, आर्यभट्ट सोवियत राकेट वाहक की सहायता से 19 अप्रैल, 1975 को सोवियत संघ से छोड़ा गया। सन् 1977–78 में सोवियत राकेट वाहक की सहायता से दूसरा भारतीय वैज्ञानिक उपग्रह छोड़ने सबंधी समझौते पर 22 अप्रैल, 1975 को हस्ताक्षर किए गए। कृत्रिम उपग्रह तथा अन्तरिक्ष खोज के पर्यवेक्षण के द्वारा एक अन्तरिक्ष अनुसन्धान सहयोगात्मक कार्यक्रम सम्बन्धी समझौते पर नवम्बर, 1975 में कार्य शुरू किया गया। वर्ष 1975 में विज्ञान तथा औद्योगिकी क्षेत्र में भारत-सोवियत सहयोग में भारी वृद्धि हुई। जनवरी, 1976 में दोनों देशों ने सन् 1976–77 वर्षों के लिए कृषि एवं जन्तु-विज्ञान में वैज्ञानिक और तकनीकी सहयोग सम्बन्धी प्रोटोकोल पर हस्ताक्षर किए। सोवियत संघ ने दिसम्बर, 1975 में चसनाला कोयला खान दुर्घटना में अत्यन्त मूल्यवान और तात्कालिक सहायता प्रदान की।

वर्ष 1976 में भी दोनों देशों के सम्बन्धों में उत्तरोत्तर सुधार होता गया। 15 अप्रैल, 1976 को दोनों देशों के बीच सन् 1976–80 की अवधि के लिए एक नए व्यापार-समझौते पर हस्ताक्षर हुए। इस समझौते की कई विशेषताएं हैं—यथा (1) इसमें भारत से परम्परागत निर्यात वस्तुओं के अतिरिक्त कुछ ऐसी वस्तुओं के निर्यात का मार्ग प्रशस्त हो गया है जिनका सम्बन्ध आधुनिक मशीन और उपकरण निर्माण से है। (2) जो व्यापार-योजना बनाई गई है उसमें इस बात की गुंजाइश रखी गई है कि व्यापार के मूल्यों की गणना सन् 1975 के मूल्यों के आधार पर की जाए। इससे पूर्व मूल्य तत्कालीन मूल्य-स्तर पर आंके जाते थे। यह अनुमान लगाया गया कि सन् 1980 के लिए व्यापार का मूल्य 4346 करोड़ रुपये होगा। (3) यह महत्त्वपूर्ण है कि इस व्यवस्था में कई ऐसी परियोजनाओं के व्यापारिक पक्ष का समावेश नहीं है जो औद्योगिक सहयोग और तीसरे देशों को उपलब्ध कराने के क्रम में विचाराधीन हैं। यह समझा जाता है कि जब ये परियोजनाएँ प्रारूप का रूप ग्रहण कर लेंगी तो इनको सन् 1980 के व्यापार आँकड़ों में शामिल किया जाएगा और

यह आशा है कि उस वर्ष कुल व्यापार एक हजार करोड़ रुपये का हो जाएगा। इसमें भारत का निर्यात 600 करोड़ रुपये का होने की आशा है।[1]

वर्ष 1977 में भारत-रूस सम्बन्ध—मार्च, 1977 में ऐतिहासिक चुनाव-क्रान्ति द्वारा सत्ता परिवर्तन हुआ और जनता पार्टी की सरकार सत्ता में आयी। कुछ राजनीतिक क्षेत्रों में यह आशंका व्यक्त की गई कि नई सरकार समाजवादी देशों के साथ पहले की तरह सम्बन्धों का निर्वाह नहीं करेगी, किन्तु अप्रैल, 1977 में सोवियत विदेश मन्त्री श्री ग्रोमिको की भारत-यात्रा और नई सरकार के साथ उनकी वार्ता के फलस्वरूप इस प्रकार की आशंकाएँ निर्मूल हो गईं। यात्रा की समाप्ति पर प्रसारित संयुक्त विज्ञप्ति और दोनों देशों के बीच हस्ताक्षरित तीन सहयोग समझौतों ने स्पष्ट कर दिया कि जनता पार्टी की सरकार सत्ता में आने से भारत-सोवियत मैत्री पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा है, इसके विपरीत यह अधिक समृद्ध हुई है। जो तीन समझौते दोनों देशों में हुए उनमें एक समझौता दोनों देशों के बीच सीधी संचार-व्यवस्था स्थापित करने के बारे में है। अब तक दोनों देशों का दूर संचार सम्बन्ध लन्दन द्वारा होता था, परन्तु अब श्रीनगर तथा ताशकन्द के बीच ट्रोपोस्केटर पद्धति से सीधा दूर संचार सम्बन्ध कायम किया जाएगा जिसमें 1.5 करोड़ रु. की वार्षिक बचत भी होगी। एक समझौते के अन्तर्गत सोवियत संघ भारत को पहली बार 25 करोड़ रूबल (लगभग 225 करोड़ रु.) का उन्मुक्त ऋण देगा जिसका औद्योगिक विकास के किसी भी क्षेत्र में उपयोग किया जा सकेगा। इस आर्थिक तकनीकी ऋण समझौते में अब तक की शर्तों से अधिक उदार शर्तें रखी गई हैं। तीसरे समझौते में इस वर्ष (1977–78) में 160 करोड़ रु. के अतिरिक्त व्यापार की व्यवस्था है जिससे दोनों देशों का वार्षिक व्यापार 780 करोड़ रु. से बढ़ कर 960 करोड़ रु. हो जाएगा। श्री ग्रोमिको भारत-यात्रा से पूर्णतः सन्तुष्ट होकर स्वदेश लौटे। जैसा कि श्री वाजपेयी ने कहा है, 'निकट सहयोग और सम्बन्धों की मजबूती के लिए यह जरूरी है कि पारस्परिक भ्रान्तियाँ स्पष्ट वार्ता द्वारा दूर कर ली जाएँ।" इस वार्ता में भी निश्चय ही इस विधि का प्रयोग किया गया।

21 अक्तूबर, 1977 को प्रधानमन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने अपनी रूस-यात्रा के समय मास्को में रात्रि-भोज के अवसर पर बोलते हुए जो कुछ कहा वह भारत-रूस मैत्री के प्रति नई सरकार के दृष्टिकोण का परिचायक था। श्री देसाई के वक्तव्य के कुछ महत्वपूर्ण अंश ये थे[2]—

"वर्ष 1977 हम दोनों देशों के लिए महत्वपूर्ण वर्ष है। सोवियत संघ शीघ्र ही अक्तूबर क्रान्ति की 60वीं वर्षगाँठ मनाएगा जो कि आपके देश के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। इसके अलावा यह विश्व के लिए भी एक प्रेरणादायक घटना रही है। भारत के लिए भी वर्ष 1977 एक ऐतिहासिक वर्ष है। इस वर्ष

1. दिनमान, 25 अप्रल, 1976, पृष्ठ 19–20.
2. भारत सरकार की प्रेस विज्ञप्ति, 21 अक्तूबर, 1977.

भारत मे एक अभूतपूर्व परिवर्तन आया। तीस वर्षों से जो दल सत्तारूढ़ था उसे सांविधानिक ढंग से अस्वीकार कर दिया गया और अब एक नए दल पर यह भार सौंपा गया है। यह भी एक प्रकार की क्रान्ति है, किन्तु यह क्रान्ति गुप्त मतदान द्वारा लायी गई। इस परिवर्तन का विश्व भर में स्वागत किया गया है। इसने यह बात सिद्ध कर दी कि हमारे देश की जनता लोकतान्त्रिक मूल्यों को कितना महत्व देती है।

"दोनो देशों के बीच सम्बन्धो को दृढ बनाने की हमारी परस्पर इच्छा समानता पर आधारित है न कि विचारधाराओं पर। दोनों देशों के बीच सम्बन्ध राष्ट्रीय हितो और समान उद्देश्यों पर भी आधारित हैं। हम दोनो ही राष्ट्र इस बात को मानते है कि हम विश्व-शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय स्थिरता एव सहयोग के क्षेत्र मे गहरी रुचि रखते हैं। हमारे प्रधानमन्त्री, श्री जवाहरलाल नेहरू की सन् 1955 मे सोवियत सघ की अपनी प्रथम यात्रा के समय दोनो देशो ने सह-अस्तित्व और सहयोग के सिद्धान्तो पर अपनी सहमति की पुष्टि की थी। उस समय कई देशो ने इस बात पर आश्चर्य व्यक्त किया था कि क्या ऐसे दो राष्ट्र-जिनमे राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक प्रणाली की भिन्नता है प्रतिष्ठा, समानता और परस्पर विश्वास के आधार पर सम्बन्धों का विकास कर सकते हैं। आज के समय मे इन सम्बन्धो को कायम रखना दो स्वाभिमानी राष्ट्रों की परिपक्वता का उदाहरण है।

"17 वर्ष पूर्व मेरी यात्रा के समय से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे अनेको परिवर्तन हुए हैं। शीतयुद्ध लगभग समाप्त हो गया है और विश्व मे शान्ति के लिए आशा के नए आसार बन गए हैं। यूरोप ने, जो शताब्दियो से भयकर विवादो का क्षेत्र रहा है, 32 वर्ष निरन्तर शान्ति के व्यतीत किए हैं।

"यूरोप मे उपशमन और तनाव शैथिल्य वास्तविक रूप से सुरक्षित नही रह सकते जब तक यह भावना विश्व के अन्य भागों में भी नही फैलती। एशिया मे हम लोगो ने शताब्दियो तक औपनिवेशिक शोषण सहा है और हमें आधुनिकीकरण तथा तकनीकी प्रगतियो के फलो से वचित किया गया। हमारे लिए शान्ति अधिक महत्वपूर्ण है क्योकि शान्ति और सहयोग के बिना हम कोई प्रगति या विकास नही कर सकते। आपको ज्ञात है कि शान्ति, विकास और सहयोग के प्रति वचनबद्धता के कारण ही हम अपनी स्वतन्त्रता के आरम्भ से ही गुट-निरपेक्षता को अपनी विदेश-नीति के आधार के रूप मे अपनाए हुए हैं। हाल के अपने चुनावो के समय अनेको विवादास्पद विषय थे परन्तु विदेश-नीति और गुट-निरपेक्षता का सिद्धान्त जो इस नीति का अनिवार्य अंग रहा है, कभी भी विवाद का विषय नही बना। यह एक ऐसी नीति है जो समानता और पारस्परिक हित के आधार पर हमें मित्रता को पुष्पित करने की स्वतन्त्रता देती है।

"भारत-सोवियत सम्बन्ध समय की कसोटी पर खरे उतरे हैं और यह किसी भी प्रकार गुट-निरपेक्षता की हमारी नीति से हमे विचलित नही करते। विश्व के

ऐसे अन्य क्षेत्र भी हैं जहाँ पुराने तनाव और नए विवाद शान्ति और स्थायित्व के लिए खतरा बने हुए है। पश्चिमी एशिया मे एक दीर्घकालीन विवाद अभी भी उलझ रहा है और फिलिस्तीन के अरब लोगो को उनके देश के अधिकार से वंचित किए हुए है, किसी भी राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र के किसी भाग पर कब्जा करने की इजाजत नही दी जा सकती। अफ्रीका मे नामिबिया, जिम्बाब्वे और दक्षिण अफ्रीका के लोगो द्वारा एक राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष चलाया जा रहा है। हम आज एक विश्व मे रहते है और उस विश्व मे कहीं भी स्वतन्त्रता का दमन सभी के लिए खतरा है। इसलिए यदि दक्षिण अफ्रीका मे लोगो की राष्ट्रीय मुक्ति अपूर्ण रहती है तो विश्व मे अन्य सभी स्थानो पर लोगो की स्वतन्त्रता को सुनिश्चित नही कहा जा सकता।

"हम सभी प्रकार के जातीय भेदभाव की, चाहे वह कहीं भी किए जा रहे हों, निन्दा करते हैं और इसके विरुद्ध संघर्ष का समर्थन करते हैं। हम सोवियत संघ और अन्य प्रबुद्ध राष्ट्रो द्वारा परमाणु युद्ध के खतरे पर व्यक्त चिन्ता मे शामिल हैं। यह अपने आप मे हमारे ग्रह के लिए खतरा है। अनेको वैज्ञानिक आविष्कारो के समान आणविक ऊर्जा के भी रचनात्मक और विनाशकारी पहलू हैं। यह हम पर निर्भर करता है कि हम इससे शान्ति की विजय को सुनिश्चित करें, न कि युद्ध की विनाशकारी जय। आज युद्ध हमारे ग्रह पर सम्पूर्ण जीवन को समाप्त कर सकता है। शान्तिपूर्ण उद्देश्यो मे प्रयुक्त आणविक ऊर्जा मानव जाति के लिए प्रगति और लाभ के अनेको द्वार खोल सकती है। इस खतरे को सामने रखते हुए भारत की स्थिति स्वदेश मे और अन्तर्राष्ट्रीय मचो पर नीति की घोषणाओं मे स्पष्ट की गई है। यह मत और भारत के लोगो का दृढ विश्वास है कि विश्व को चाहिए कि सैनिक उद्देश्यो के लिए अणु का प्रयोग पूर्णत समाप्त कर दे। यह सब तभी सम्भव हो सकता है जब हम वर्तमान परमाणु शस्त्रो का पूर्ण निरस्त्रीकरण कर दें। इसी विश्वास के साथ मैंने सार्वजनिक रूप से घोषणा की है कि भारत शान्तिपूर्ण उद्देश्यो के लिए ही परमाणु ऊर्जा का प्रयोग करेगा। मुझे आशा है कि जिन देशों ने परमाणु शस्त्र कार्यक्रम शुरू किए हुए हैं, सम्भावित अनर्थ को टालने मे सहयोग देंगे।

"भारत-सोवियत सम्बन्धो की सन्धि दोनो देशो के बीच पारस्परिक सम्मान पर आधारित है।"

भारत-सोवियत संयुक्त घोषणा-पत्र मे जिस पर 26 अक्तूबर, 1977 को मास्को मे हस्ताक्षर किए गए, पारस्परिक मैत्री और सहयोग को मजबूत बनाने का दृढ संकल्प किया गया। विज्ञप्ति मे दोनो के नागरिकों के हितो को प्रतिबिम्बित करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय सौहार्द्र और सद्भाव की स्थापना की बात भी कही गई। संयुक्त घोषणा-पत्र मे हिन्दमहासागर के प्रश्न पर दोनो पक्षो ने इस क्षेत्र को जनता की हिन्दमहासागर को शान्ति क्षेत्र बनाए रखने की इच्छा के प्रति समर्थन व्यक्त किया। दोनों पक्षों ने हिन्दमहासागर से सभी वर्तमान सैनिक अड्डो को समाप्त करने तथा नए अड्डों की स्थापना पर प्रतिबन्ध लगाने का आह्वान किया। संयुक्त

घोषणा-पत्र मे दोनों देशो के बीच सन् 1971 की शान्ति, मैत्री और सहयोग सन्धि का उल्लेख करते हुए उसे सम्बन्धो के सन्तोषजनक विकास की प्रेरक शक्ति बताया गया। विज्ञप्ति मे कहा गया कि दोनो पक्ष मुग्रावजे के आधार पर भारत मे एक एल्यूमीना परियोजना की स्थापना के सम्बन्ध में शीघ्र ही सहयोग की सम्भावनाओ पर विचार करेंगे। विभिन्न क्षेत्रो मे सहयोग की सम्भावनाओ के अध्ययन और उन्हें परिभाषित करने के लिए दोनो देशो के विशेषज्ञो के दलो का गठन किया जाएगा। ये क्षेत्र हैं—लोह और अलोह धातु-विज्ञान, पेट्रोलियम, कोयला, कृषि तथा सिंचाई। *साथ ही यह दल तृतीय विश्व के देशो के आर्थिक विकास के लिए आपसी* सहयोग के सम्बन्ध मे भी सुझाव देंगे। यह पहली बार है कि इस प्रकार के किसी सयुक्त घोषणा-पत्र मे एक विकास परियोजना का विशेष रूप से उल्लेख किया गया। इससे प्रतिबद्धता का स्तर ऊँचा हुआ और इस भावना का पता चला है कि दोनो पक्ष पारस्परिक सहयोग बढाने के लिए कितने व्यग्र हैं। विज्ञप्ति मे व्यक्तिगत सम्पर्कों को सर्वोच्च स्तर तक पहुँचाने को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया। यह वह बात है जिस पर विचार-विमर्श मे जोर दिया गया और प्रधानमन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने सार्वजनिक रूप से इसका उल्लेख किया। ग्यारह पृष्ठों के अग्रेजी के इस दस्तावेज मे कहा गया है कि भारत-सोवियत सम्बन्ध तात्कालिक हितो की दृष्टि से नही, वरन् एशिया और विश्व मे शान्ति और स्थायित्व कायम रखने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। शिखर-वार्ता के दौरान जिन अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ तथा पारस्परिक मामलो पर विचार-विमर्श हुआ उनकी दस्तावेज में विस्तृत रूप से चर्चा की गई है। दोनो पक्षों ने दक्षिण एशियाई देशो द्वारा पारस्परिक विचार-विमर्श के माध्यम से समस्याओ को सुलझाने तथा मतभेदो को दूर करने मे प्राप्त सफलताओं की सराहना की। उन्होने कहा कि इससे उप महाद्वीप में अच्छे पडोसियो के अनुकूल वातावरण में महत्त्वपूर्ण सुधार हुआ है। सयुक्त घोषणा-पत्र में एशिया में तनाव कम करने के बारे में सोवियत विचार से उत्पन्न एशियायी स्थायित्व की कल्पना को ज्यो का त्यों स्थान दिया गया। कहा गया कि दोनो ही पक्ष यह मानते हैं कि एशिया में शान्ति और स्थायित्व के लिए विभिन्न एशियायी देशो के बीच परस्पर हितकारी सहयोग का विकास किया जाना चाहिए।

भारत-सोवियत मैत्री गुट-निरपेक्षता और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति की विजय है। सोवियत रूस एक साम्यवादी राष्ट्र है किन्तु उसके साथ जिस तरह भारत ने अपने सम्बन्धो का विकास किया है वह भारतीय विदेश-नीति की एक महत्त्वपूर्ण सफलता है।

भारत और ब्रिटेन के सम्बन्ध

राजनीतिक मतभेदो के बावजूद भारत और ब्रिटेन के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण रहे हैं। जनवरी, 1950 मे स्वय को गणराज्य घोषित करने के बाद भी भारत ने राष्ट्रमण्डल से सम्बन्ध कायम रखने का निश्चय किया और आज भी वह राष्ट्रमण्डल का एक महत्त्वपूर्ण सदस्य है। राष्ट्रमण्डल की सदस्यता से भारत की सम्प्रभुता पर किसी

तरह की आंच नहीं आती। ब्रिटेन ने भारत की विकास-योजनाओं में समय-समय पर आर्थिक सहायता भी दी है। सन् 1962 में चीनी आक्रमण के समय ब्रिटेन द्वारा भारत को सैनिक सहायता भी प्रदान की गई थी और भारत-चीन विवाद में ब्रिटेन का रुख भारत के पक्ष में ही रहा था।

इस सहयोग के बावजूद कुछ महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर ब्रिटेन की नीति भारत के प्रति अन्यायपूर्ण और अमैत्रीपूर्ण रही है। कश्मीर के प्रश्न पर ब्रिटेन और उसके साथी राष्ट्रों का रवैया भारत के प्रति शत्रुतापूर्ण रहा है। इस बात की चर्चा कश्मीर-प्रश्न के सन्दर्भ में विस्तार से की गई है। ब्रिटेन ने भारत के विरुद्ध सदा पाकिस्तान का समर्थन किया है। सन् 1965 में जब भारत और पाकिस्तान के बीच कश्मीर के प्रश्न पर युद्ध छिड़ा, तब भी ब्रिटिश प्रेस, रेडियो और सरकार ने भारत के विरुद्ध प्रचार किया और खुले आम भारत-विरोधी नीति अपनायी। जब 1 सितम्बर, 1965 को अन्तर्राष्ट्रीय सीमा का उल्लंघन कर पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण किया, तब तो ब्रिटेन का रवैया भारत के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रहा, किन्तु जब भारत ने प्रत्याक्रमण किया तो ब्रिटिश प्रधानमन्त्री विल्सन ने उसे 'आक्रमण' की संज्ञा दी। ब्रिटिश सरकार का रवैया एकदम पक्षपातपूर्ण था और तभी से ब्रिटेन और भारत के सम्बन्धों में खिंचाव आ गया है।

भारत-ब्रिटेन सम्बन्धों के इतिहास में सन् 1965 का कच्छ समझौता भी महत्त्वपूर्ण है। जब कच्छ के रण के सम्बन्ध में भारत और पाकिस्तान के बीच विवाद छिड़ गया और दोनोदेशों में सैनिक मुठभेड़ भी हो गई तब ब्रिटिश प्रधानमन्त्री श्री विल्सन के प्रयासों के फलस्वरूप दोनों देशों के बीच जुलाई, 1965 में समझौता हुआ।

पाकिस्तानी आक्रमण के समय ब्रिटेन के पाकिस्तान-समर्थक रुख के कारण दोनों देशों में जो कटुता पैदा हुई, उसमें एक अध्याय केन्या के प्रवासी भारतीयों के प्रश्न का और जुड़ गया। पूर्वी अफ्रीका से भारत का सम्बन्ध बहुत पुराना है और सन् 1867 से ही भारतीय केन्या जाते रहे थे। सन् 1963 में जब केन्या स्वतन्त्र हुआ तब वहाँ भारतीय प्रवासियों की संख्या लगभग 25 हजार थी। केन्या की स्वतन्त्रता के समय भारतीयों के समक्ष उनकी नागरिकता से सम्बन्धित विकट समस्या खड़ी हो गई। उस समय भारत सरकार ने लगभग 4 हजार भारतीयों को अपना पारपत्र दिया, शेष भारतीय ब्रिटिश पारपत्र पर केन्या में रहने लगे। किन्तु इस स्थिति में फरवरी, 1968 में खतरनाक बिगाड़ आया जब कि केन्या सरकार ने यह निश्चय किया कि उन एशियायी लोगों के साथ, जो वहाँ के नागरिक नहीं हैं, केन्या में गैर-नागरिक जैसा व्यवहार किया जाएगा। इस निश्चय का स्पष्ट अर्थ यह था कि केन्या निवासी भारतीय जीवनयापन के साधनों से वंचित हो जाएँ।

केन्या-सरकार के निर्णय से प्रवासी भारतीयों में बड़ी चिन्ता व्याप्त हो गई। सन् 1963 में केन्या की स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय अधिकांश प्रवासी भारतीय ब्रिटिश पारपत्र प्राप्त कर ब्रिटिश नागरिक बन गए थे, अतः यह आशा थी कि ब्रिटेन उनके

प्रति अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करेगा। किन्तु जब वे असुरक्षा की अवस्था में ब्रिटेन जाने लगे तो ब्रिटिश सरकार ने संसद में एक विधेयक पेश कर दिया जिसका उद्देश्य 1 मार्च, 1968 के बाद केन्याई भारतीयों के ब्रिटेन में प्रवेश को रोकना था। ब्रिटिश संसद द्वारा इस विधेयक को स्वीकार कर लिया गया और इस तरह नए कानून के अनुसार उस पारपत्र का कोई मूल्य नहीं रहा जो ब्रिटेन ने केन्या के प्रवासी-भारतीयों को दिया था। ब्रिटिश सरकार का यह कदम अन्यायपूर्ण और अमानवीय था जिससे दोनों देशों में तनाव बढ़ गया। भारत में यह मांग की गई कि भारत राष्ट्रमण्डल का परित्याग कर दे और भारत में जो ब्रिटिश-सम्पत्ति है उसका राष्ट्रीयकरण कर दिया जाए। यद्यपि भारत-सरकार ने इस मांग को अव्यावहारिक बताया, किन्तु ब्रिटिश सरकार को स्पष्ट शब्दों में जता दिया कि एशियावासियों को ब्रिटेन में प्रवेश से रोकने वाले अधिनियम का ब्रिटिश-भारत सम्बन्धों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। यह सौभाग्य की बात थी कि इस समस्या से कोई व्यापक प्रतिकूल प्रतिक्रिया नहीं हुई।

सन् 1970 में बी. बी. सी. टेलीविजन फिल्मों में भारतीय जन-जीवन को विकृत रूप में प्रस्तुत किए जाने के प्रश्न पर भी भारत-ब्रिटेन सम्बन्धों में तनाव आया। भारत-सरकार ने एक आदेश द्वारा सितम्बर, 1970 में भारत में बी बी.सी. को उपलब्ध सभी सुविधाएं समाप्त कर दी और दिल्ली स्थित बी. बी. सी. के संवाददाता को निष्कासित कर दिया। सन् 1971 में बंगलादेश के प्रश्न पर दोनों देशों में गलत-फहमी फैली। इसका निवारण तब हुआ जब भारत-पाक युद्ध छिड़ने पर सुरक्षा परिषद् में ब्रिटेन ने भारत-विरोधी प्रस्तावों पर मतदान में भाग नहीं लिया। भारत ने इसे मैत्रीपूर्ण व्यवहार मानते हुए बी. बी. सी. को पुनः भारत में कार्यालय स्थापित करने की अनुमति दे दी। इस प्रकार दोनों देशों के बीच सहयोग के नए युग का सूत्रपात हुआ। जनवरी, 1971 में ब्रिटिश विदेश मन्त्री डगलस ह्यूम ने भारत-यात्रा के अवसर पर कहा—"भारत अब एशिया में एक महान् शक्ति के रूप में उभरा है, यदि चीन से ज्यादा नहीं तो उसके बराबर तो निश्चय ही है।" ब्रिटिश विदेश मन्त्री का यह कथन भारत के प्रति ब्रिटेन के बदलते हुए दृष्टिकोण का पूर्वाभास था। सन् 1974 के मध्यान्तर चुनावों में लेबर पार्टी विजय प्राप्त कर सत्तारूढ़ हुई। श्रम-दलीय सरकार का रवैया अनुदार दलीय सरकार की तुलना में भारत के प्रति अधिक मैत्रीपूर्ण है। अप्रेल मई, 1975 में किंग्सटन (जमैका) में राष्ट्र-मण्डलीय सम्मेलन में रोडेशिया के स्मिथ प्रशासन को जो अल्टीमेटम दिया गया वह अप्रत्यक्ष रूप में ब्रिटेन पर भी इस बात के लिए दबाव था कि वह रोडेशिया के विरुद्ध कठोर कदम उठाए। दोनों देशों के बीच वार्षिक द्वि-पक्षीय वार्ता हुई जिसमें *अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं की सामान्य समीक्षा करने के अलावा व्यावहारिक सहायता तथा* आर्थिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी सहयोग जैसे द्विपक्षीय मामलों पर बातचीत हुई। सन् 1975 में ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की कि भारत जैसे देशों को दी जाने वाली सभी ब्रिटिश सहायता, जिनकी प्रति व्यक्ति आय 200 अमेरिकी डॉलर वार्षिक से

कम है, भविष्य में ऋणों के बजाय सीधे अनुदानों के रूप में होगी। सन् 1975–76 के लिए ब्रिटिश सरकार ने लगभग 10 करोड़ पौंड की सहायता का वचन दिया जिससे ब्रिटेन भारत को द्विपक्षीय ऋण देने वाले देशों की सूची में सर्वोपरि हो गया। सन् 1975–76 में ब्रिटिश संसद् के कई सदस्य सरकारी निमन्त्रण पर भारत आए। भारत-ब्रिटेन आर्थिक सहयोग एवं व्यापार संयुक्त समिति के गठन के लिए दोनों देशों के बीच जनवरी, 1976 में विनिमय पत्रों पर हस्ताक्षर किए गए।

ब्रिटिश उद्योग संघ के उपाध्यक्ष सर राल्फ बेटमैन के नेतृत्व में एक उच्च स्तरीय ब्रिटिश औद्योगिक शिष्टमण्डल ने अक्तूबर, 1976 में भारत की यात्रा की। इसका उद्देश्य भारत और ब्रिटेन के बीच अधिकाधिक व्यापार एवं औद्योगिक सहयोग तथा तीसरे देशों में सहयोग की सम्भावनाओं का पता लगाना था। व्यापार और आर्थिक सहयोग के लिए भारत-ब्रिटिश संयुक्त समिति की मन्त्रि-स्तरीय बैठक लंदन में हुई। सन् 1976–77 में भारत को मिलने वाली ब्रिटिश विकास सहायता 1120 लाख पौंड (लगभग 170 करोड़ रुपया) थी। यह राशि किसी भी अन्य देश से प्राप्त सबसे बड़ी रकम थी। यह सहायता पूर्णतया अनुदान रूप में दी गई थी।

भारत और पश्चिमी एशिया तथा उत्तरी अफ्रीका

पश्चिमी एशिया के सन्दर्भ में भारत की विदेश-नीति का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है। अरब-इजरायल युद्धों में भारत ने सदैव अरब राज्यों का पक्ष लिया है। भारत की सहानुभूति और मैत्री अरब देशों के प्रति बहुत अधिक रहने से इजरायल को भारत ने अभी तक कूटनीतिक मान्यता नहीं दी है। अरब-देशों के प्रति भारत की नीति को राष्ट्रीय हित की दृष्टि से उपयोगी माना गया है। अरब-राष्ट्रों से प्राप्त होने वाले तेल में कोई भी बड़ी बाधा भारत के सम्पूर्ण आर्थिक ढांचे को हिला सकती है। स्वेज नहर भारत के विदेशी व्यापार के लिए महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त इजरायल के विरुद्ध अरबों के दावे अधिक न्यायोचित हैं। फिर भी भारत का दृष्टिकोण सन्तुलित रहा है क्योंकि जहाँ भारत ने अरबों के दावों का समर्थन किया है, वहाँ इजरायल के अस्तित्व को भी स्वीकार किया है। भारत का मत रहा है कि अरब राष्ट्रों को इजरायल का अस्तित्व स्वीकार कर उसे एक सम्प्रभु राज्य के रूप में मान्यता देनी ही चाहिए।

भारत सरकार की वार्षिक रिपोर्ट सन् 1976–77 के अनुसार

"भारत पश्चिम एशिया और उत्तर अफ्रीका के देशों के साथ द्विपक्षीय सम्बन्धों और सहयोग को और अधिक मजबूत बनाने को अधिक महत्त्व देता रहा। उनकी अर्थव्यवस्थाओं के अनुपूरकों और विकास की आवश्यकताओं के आधार पर स्थापित भारत के इन देशों के साथ वाणिज्यिक, आर्थिक और तकनीकी सहयोग में बहुत विस्तार हुआ। उच्च स्तर की यात्राओं के अधिक आदान-प्रदान और अन्य स्तरों पर बातचीत से भारत और पश्चिमी एशिया और उत्तर अफ्रीका देशों के बीच परम्परागत सम्बन्धों और महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय और क्षेत्रीय विवादों पर विचारों की घनिष्ठ समानता को फिर दोहराया गया।"

"सन् 1967 में अधिकृत सभी अरब क्षेत्रों से इजरायलियों की वापसी और फिलिस्तीनियों के वैध अधिकारों तथा आकांक्षाओं की उपलब्धि पर आधारित अरब-इजरायली समस्या का न्यायोचित समाधान ढूंढने के अरब राज्यों के प्रयत्नों का भारत सरकार पूर्ण समर्थन करती रही। लेबनान में दुःखद मैत्रीघातक लड़ाई की पूर्णतः समाप्ति की सम्भावना पर भारत को मुक्ति मिली जिसका प्रभाव उस क्षेत्र पर इस वर्ष की अधिकांश अवधि के लिए रहा। कच्चा तेल और उर्वरकों के मूल्यों में बहुत अधिक वृद्धि के कारण समस्याओं का सामना करने वाले भारत जैसे मित्र देश के प्रति तेल निर्यात करने वाले देशों द्वारा प्रदर्शित सहानुभूति से भारतीय अर्थव्यवस्था मे मूल्य-वृद्धि के प्रभावों को कम करने मे कुछ हद तक सहायता मिली। भारत को आशा है कि यह सहानुभूति निरन्तर कायम रहेगी। पश्चिम एशिया और उत्तर अफ्रीका मे भारतीय मिशनों के 21 प्रमुखों का एक सम्मेलन जनवरी, 1977 मे नई दिल्ली मे हुआ। इस सम्मेलन में भारत के लिए इस क्षेत्र के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया। इस बात पर भी बल दिया गया कि भारत और इन देशों के बीच पहले से विद्यमान सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्धो को और अधिक बढ़ाने के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिए।"

"लेबनान में हिंसा और रक्तपात और इस युद्ध को समाप्त करने के लिए किए गए निरन्तर प्रयत्नो की असफलता भारत सरकार के लिए अधिक चिन्ता का विषय था। बेरुत मे भारतीय मिशन के कार्मिकों को अनेच्छा से वापस बुला लिया गया। जब वहां उनकी सुरक्षा व्यवस्था कठिन हो गई तो बेरुत मे रहने वाले बहुत से अन्य भारतीयो ने भी बेरुत छोड़ दिया। जब रियाद और काहिरा शिखर-सम्मेलनों मे अरब राजनेता अपनी सामूहिक बुद्धिमत्ता से युद्ध और रक्तपात को कम करने के एक समझौते पर पहुँच सके, तो भारत सरकार को सन्तोष हुआ। भारत सरकार को यह आशा थी कि लेबनान मे सामान्य राजनीति और आर्थिक जीवन तेजी से पुनः चालू हो जाएगा और इसकी प्रभुसत्ता, अखण्डता एवं गुट-निरपेक्षता सुरक्षित हो जाएगी। भारत सरकार ने आर्थिक पुनर्निर्माण और जन-सेवाओ और उपयोगिताओं को फिर से चालू करने मे सभी सम्भव सहयोग और सहायता प्रदान करने की अपनी तत्परता प्रदर्शित की।"

"भारत सरकार ने सीरिया और मिस्र के बीच समन्वय का स्वागत किया जिसे इसने अरब राज्यो द्वारा अपने उद्देश्यो की प्राप्ति के हेतु सयुक्त प्रयत्नो के लिए आवश्यक समझा। मध्यपूर्व के बारे मे जिनेवा सम्मेलन को पुनः आयोजित करने सम्बन्धी विवरणो मे सतर्क आशावाद के लिए एक उद्देश्य की व्यवस्था थी। भारत सरकार का यह मत था कि सम्मेलन को सार्थक बनाने के लिए सभी सम्बद्ध दलों के, जिसमे फिलिस्तीनी मुक्ति सगठन शामिल है, कारगर तरीके से भाग लेने की आवश्यकता होगी।"

"इजरायल द्वारा अपने अधिकार मे लिए गए क्षेत्रों मे अरब जनता के साथ व्यवहार चिन्ता का विषय था। भारत को यह विश्वास था कि फिलिस्तीनियो को

उनके वैध राष्ट्रीय अधिकारों की बापसी अरब-इजरायली समझौते के लिए महत्त्वपूर्ण थी। दक्षिण लेबनान में इजरायल के आक्रमणों और क्षेत्रों पर कब्जे से इजरायली नेताओं के वक्तव्यों की विश्वसनीयता कम हो गई जिसमें उन्होंने शान्तिपूर्ण निपटारे के लिए अपनी इच्छा व्यक्त की थी। भारत के इस क्षेत्र के देशों के साथ द्विपक्षीय सम्बन्ध यात्राओं के आदान प्रदान, बातचीत तथा द्विपक्षीय समझौतों द्वारा दृढ हुए।"

"भारत और ईरान के बीच बहुपक्षी आर्थिक सम्बन्धों की सन् 1976–77 में प्रशसनीय प्रगति होती रही। लगभग सभी परियोजनाएँ, जिनमें दोनों देश कार्य कर रहे हैं, अपने आप में केवल यात्रा की दृष्टि से ही प्रभावकारी नहीं हैं, बल्कि उनका दोनों देशों की विकासशील अर्थव्यवस्थाओं की दृष्टि से भी अपना विशेष महत्व है। उनमें से एक को चुन लेना आपत्तिजनक होगा, परन्तु कुद्रेमुख परियोजना, जो अति उत्तम ढग से आरम्भ हो चुकी है, विशेष उल्लेखनीय है।"

भारत और अफ्रीका (सहारा के दक्षिणी देश)

भारत के अफ्रीका (सहारा के दक्षिणी देश) के देशों के साथ सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण होते जा रहे है। इन सम्बन्धों के हाल ही के विकास पर भारत सरकार के विदेश मन्त्रालय की सन् 1976–77 की वार्षिक रिपोर्ट में जो प्रकाश डाला गया है वह पठनीय है—

"भारत के अफ्रीका (सहारा के दक्षिणी देश) के देशों के साथ सम्बन्ध सुधारने तथा उनके साथ सहयोग बढाने के लिए सम्पर्क स्थापित किए गए। इन दोनों देशों द्वारा विभिन्न क्षेत्रों मे द्विपक्षीय अनुबन्धों पर हस्ताक्षर करने तथा प्रमुख नेताओं के एक दूसरे के देश में आवागमन से सम्पर्क मे वृद्धि हुई। इनसे दक्षिण अफ्रीका के विकास कार्यक्रम मे भारत ने रुचि दिखाई तथा उपनिवेशवाद, जातिवाद और रगभेद के विषय मे भारत ने विरोध प्रकट किया और गोरों के साम्राज्य को समाप्त करने मे अफ्रीका के स्वतन्त्रता आन्दोलन को समर्थन दिया।"

"पूर्वी अफ्रीका के साथ भारत के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध विभिन्न स्तरों पर यात्राओं के विनिमय में प्रतिबिम्बित हुए। केनिया के विदेशमन्त्री श्री एफ. एम वईयाकी ने अगस्त, 1976 मे भारत की यात्रा की और विदेशमन्त्री के साथ अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर तथा भारत और केनिया के बीच सम्बन्धों को और सुदृढ करने के लिए विचारों का आदान-प्रदान किया। भारतीय नौसेना के दो जहाज सद्भावना यात्रा पर केनिया गए। उगाण्डा सरकार द्वारा भारत को 1,44,88,792·60 रु की राशि दे देने से सन् 1972 मे उगांडा से निष्कासित भारतीय राष्ट्रिकों को मुआवजा देने की समस्या का सफलतापूर्वक समाधान हो गया। उगांडा सरकार से प्राप्त इस राशि का एक बडा भाग उचित जाँच पडताल करने के बाद सम्बद्ध दावेदारों में बाँट दिया गया। यह जाँच पडताल उगांडा मुआवजा भुगतान कार्यालय द्वारा की गई जिसे इस उद्देश्य के लिए बम्बई मे स्थापित किया गया था। उगांडा के उद्योग तथा ऊर्जा और परिवहन तथा सचार-मन्त्रियों की भारत-यात्रा से भारत तथा उगांडा के बीच वाणिज्यिक तथा आर्थिक सहयोग की वृद्धि में सहायता मिली।"

"अफ्रीकी देशों के साथ भारत के सम्बन्धों के विकास के सन्दर्भ में सबसे महत्त्वपूर्ण बात भारत की प्रधानमन्त्री द्वारा मारीशस (8–11 अक्तूबर), तंजानिया (11–14 अक्तूबर), जाम्बिया (15–17 अक्तूबर) और शेसेल्स (17 अक्तूबर) की यात्राएँ थीं। मारीशस के साथ भारत के घनिष्ठ सांस्कृतिक सम्बन्ध तभी प्रकट हो गए थे जब भारत ने स्वास्थ्य एवं परिवार नियोजन मन्त्री डॉ. कर्णसिंह के नेतृत्व में 30 व्यक्तियों का एक राजकीय प्रतिनिधिमण्डल मारीशस में सम्पन्न द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन में भाग लेने के लिए मारीशस भेजा था। दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्ध और भी स्पष्ट हो गए जब भारत की प्रधानमन्त्री ने अपनी मारीशस यात्रा के समय गांधी इंस्टीट्यूट का उद्घाटन किया। इससे पूर्व मारीशस के स्वतन्त्रता समारोह के अवसर पर सूचना एवं प्रसारण मन्त्री और इस्पात एवं खान मन्त्री की यात्राओं में भारत और मारीशस के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध प्रतिबिम्बित हुए।"

"अक्तूबर में प्रधानमन्त्री की तंजानिया [illegible] से पहले दोनों देशों के उच्च पदाधिकारी अनेकों बार एक दूसरे के देश में आए गए। अप्रैल, 1976 में भारत और तंजानिया ने तंजानिया में कई लघु-उद्योग परियोजनाएँ स्थापित करने ' सहयोग देने के समझौते पर हस्ताक्षर किए। प्रधानमन्त्री की जाम्बिया यात्रा ने [illegible] ऐसे मित्र देश के साथ हो रही बातचीत में, जिसके साथ भारत ने [illegible] सहयोग की परम्परा स्थापित की थी, एक और कड़ी जोड़ दी। उनकी [illegible] दोनों पक्षों ने आर्थिक एवं तकनीकी क्षेत्रों में द्विपक्षीय सहयोग [illegible] तकनीकी और [illegible] प्रगति पर सन्तोष व्यक्त किया और दोनों देश इस बात पर सहमत [illegible] ऐसे क्षेत्रों की खोज करेंगे जिनमें वे अपने सम्बन्धों का विस्तार कर सकते हों।"

"प्रधानमन्त्री की यात्रा के समय उल्लेखनीय बात यह देखने में आयी कि प्रधानमन्त्री तथा मारीशस, तंजानिया तथा जाम्बिया के नेताओं ने दक्षिणी अफ्रीका के विकास कार्यक्रमों में समान रूप से रुचि प्रदर्शित की। इस यात्रा से दक्षिण अफ्रीका के दलित लोगों के न्यायपूर्ण संघर्ष के प्रति उन देशों के संयुक्त समर्थन के लिए भारत ने सहानुभूति दिखायी। अपनी यात्रा के दौरान प्रधानमन्त्री अफ्रीका के मुक्ति आन्दोलन के नेताओं से मिलीं और उन्हें इस बात का विश्वास दिलाया कि उनके संघर्ष में भारत उनका पूरा साथ देगा। भारत तथा इन देशों ने इस बात का पुनः समर्थन किया कि नामिबिया के लोगों को स्वतन्त्रता प्राप्ति का पूर्ण अधिकार है तथा उन्होंने उन्हें स्वापो के नेतृत्व में उनके वीरतापूर्ण संघर्ष में नैतिक तथा आर्थिक सहयोग देने का वचन दिया। जहाँ तक जिम्बावे का प्रश्न है, भारत और इन देशों को प्रतीत हुआ कि सितम्बर, 1976 में रोडेशिया के जातिवादी शासन की इस घोषणा से कि दो वर्ष की अवधि में देश में बहुमत शासन की स्थापना करदी जाएगी, स्थिति अनुकूल हो गई है। भारत ने जेनेवा में सांविधानिक सम्मेलन के आयोजन का स्वागत किया और आशा व्यक्त की कि इससे जिम्बावे में तुरन्त बहुमत का शासन स्थापित हो सकेगा। प्रधानमन्त्री ने आगे इस बात को भी स्पष्ट किया कि यदि सांविधानिक सम्मेलन असफल रहा तो भारत सरकार जाम्बिया की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष में अपना पूर्ण सहयोग देगी।"

"प्रधानमन्त्री की शेसेल्स की लघु यात्रा से भारत की इस द्वीप के साथ मैत्री को दृढ करने की इच्छा प्रदर्शित हुई। भारत के शेसेल्स के साथ पहले ही मैत्रीपूर्ण सम्पर्क स्थापित हो चुके थे जब 29 जून को उस द्वीप की स्वतन्त्रता के अवसर पर राज्य पर्यटन एव सिविल विमान मन्त्री श्री सुरेन्द्रपाल सिंह के नेतृत्व मे एक भारतीय प्रतिनिधिमण्डल वहाँ गया था। शेसेल्स की स्वतन्त्रता के अवसर पर हुए समारोह मे दस सदस्यो के एक सांस्कृतिक दल और 3 भारतीय जहाजो के एक बेड़े ने भी भाग लिया था। शेसेल्स के प्रधानमन्त्री श्री एफ. ए. रीनीज सितम्बर मे भारत की यात्रा पर आए और भारत तथा शेसेल्स के बीच सम्बन्धो के और विकास करने के लिए विचारो का आदान-प्रदान किया। भारत सरकार दक्षिण अफ्रीका के जातिवादी शासन का पूर्णरूप से बहिष्कार करती रही और उसने जातिभेद की घातक नीति की भर्त्सना की। भारत सरकार ने, दक्षिण अफ्रीकी सरकार की सोवटो नगर क्षेत्र के उन स्कूली बच्चों के विरुद्ध क्रूर कार्यवाही करने की निन्दा की जिन्होंने स्कूलो मे अफ्रीकी भाषा जबरदस्ती पढ़ाई जाने का विरोध किया था।"

"दक्षिण अफ्रीका मे भारत की रुचि, मोज़ाम्बिक के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बढाने तथा लीसाको और बोतस्वाना के साथ निकट सम्पर्क स्थापित करने मे प्रदर्शित हुई। विदेश मन्त्री श्री विपिनपाल दास ने अक्तूबर मे अपनी मोज़ाम्बिक यात्रा के समय मोज़ाम्बिक को अपनी नव-अर्जित स्वतन्त्रता को सुदृढ करने मे सहायता देने की भारत के साथ सहयोग की इच्छा व्यक्त की। उनकी यात्रा के दौरान तकनीकी, आर्थिक और वैज्ञानिक क्षेत्रो मे द्विपक्षीय सहयोग के एक समझौते पर हस्ताक्षर किए गए। भारत से कुछ आवश्यक सामान खरीदने के लिए भारत सरकार ने इसे राष्ट्रमण्डल की संयुक्त सहायता के अंश के रूप मे 9,00,000 रु. का अनुदान देने का वचन दिया। इससे मोज़ाम्बिक को उस क्षतिपूर्ति मे सहायता मिलेगी जो इसे संयुक्तराष्ट्र के निश्चय के जवाब मे रोडेशिया के साथ सीमाबन्दी से होगी। लीसाको के विदेशमन्त्री श्री सी डी. मोलापो ने अगस्त मे भारत की यात्रा की और उनकी यात्रा के समय भारत और लीसाको के बीच तकनीकी और आर्थिक सहयोग के एक समझौते पर हस्ताक्षर किए गए। इसके साथ एक सांस्कृतिक समझौते पर भारत के उपविदेशमन्त्री की उस देश की यात्रा के समय हस्ताक्षर किए गए। वह उसकी स्वतन्त्रता के 10वें वार्षिक समारोह के अवसर पर वहाँ गए थे। अप्रैल, 1976 मे बोतस्वाना के राष्ट्रपति तथा विदेशमन्त्री की भारत यात्रा से बोतस्वाना के साथ भारत के बढते हुए सम्पर्क उजागर हुए। भारत और बोतस्वाना आर्थिक, वाणिज्यिक, वैज्ञानिक तथा तकनीकी क्षेत्रों में अपने सम्बन्ध बढाने के लिए सहमत हुए। दोनो देशो के बीच सम्बन्ध और भी सुदृढ हो गए जब 30 सितम्बर, 1976 को इसकी स्वतन्त्रता के 10वें वार्षिक समारोह के अवसर पर भारत के उपविदेशमन्त्री ने भारत का प्रतिनिधित्व किया।"

"जहाँ तक पश्चिमी अफ्रीका का सम्बन्ध है, भारत ने अंगोला के साथ अपने सम्बन्ध सुदृढ किए और घाना तथा नाइजीरिया के साथ सम्पर्क बढाया। प्रधानमन्त्री के विशेष दूत अपनी अंगोला यात्रा के समय दवाइयो के साथ-साथ राष्ट्रपति

अंगोस्टीनिग्रो नेटो के लिए प्रधानमन्त्री का एक विशेष सन्देश भी ले गए। अंगोला के राष्ट्रपति ने इस बात की सराहना की। भारत ने अंगोला की जनता को अपनी नवअर्जित स्वतन्त्रता की रक्षा करने तथा उसे सुदृढ़ बनाने में पूर्ण सहयोग देने के वचन की पुनः पुष्टि की।"

"भारत के घाना तथा नाइजीरिया के साथ सम्बन्धों के विकास के सन्दर्भ में उल्लेखनीय बात इन देशों के साथ हवाई सेवा के समझौते पर हस्ताक्षर किया जाना था। इन समझौतों के अनुसार एयर इण्डिया लागोस तथा अकारा के लिए सप्ताह में दो सेवाएँ आरम्भ करने में समर्थ होगी और इससे भारत तथा इन देशों के बीच सम्पर्क बढ़ाने में सहायता मिलेगी। भारत के सुप्रीम कोर्ट के चीफ जस्टिस श्री ए.एन. रे की घाना के सुप्रीम कोर्ट के शताब्दी समारोह में सम्मिलित होने से, तथा भारतीय सांस्कृतिक सम्पर्क परिषद् के निमन्त्रण पर घाना के पर्यटक राजदूत श्री ग्रो अप्पीआह की भारत यात्रा से भारत के घाना के साथ सम्बन्धों में वृद्धि हुई। घाना के निर्माण एवं आवास मन्त्री कर्नल के. ए. जेकसन अपनी भारत यात्रा के समय निम्न तथा मध्य वर्ग के लोगों के लिए गृह-निर्माण के लिए प्रयुक्त डिजाइन तथा तरीकों से प्रभावित हुए। भारत ने भवन-निर्माण के क्षेत्र में घाना को सहयोग देने की पेशकश की।"

"जहाँ तक पश्चिमी अफ्रीका के अन्य देशों का सम्बन्ध है, मार्च, 1976 में अपर वोल्टा के वाणिज्य और औद्योगिक विकास मन्त्री की भारत-यात्रा का परिणाम यह हुआ कि भारत तथा अपर वोल्टा के बीच आर्थिक, तकनीकी और सांस्कृतिक सहयोग के एक समझौता ज्ञापन पर मार्च, 1976 में हस्ताक्षर द्वारा संयुक्तराष्ट्र के हाई कमिश्नर की शरणार्थियों के लिए अपील के जवाब में भारत ने सद्भावना स्वरूप बाढ़ग्रस्त लोगों की सहायता के लिए गिनिया (बीसाउ) को 30 000 रु. की औषधियाँ भेजीं। भारत ने केप वर्दी द्वीप के बाढ़ग्रस्त लोगों की सहायता में भी अपना योगदान दिया।"

"माली के विदेशमन्त्री कर्नल चार्ल्स सीसोकोसीवा की भारत-यात्रा माली के साथ भारत के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की शुरूआत थी।"

"दिसम्बर, 1976 में नई दिल्ली में हुए सहारा के दक्षिण अफ्रीकी देशों के भारतीय मिशनों के प्रधान अधिकारियों के सम्मेलन से पारस्परिक सहयोग द्वारा सम्बन्धों को सुदृढ़ करने के तरीके तथा साधन खोजने के लिए विभिन्न देशों में होने वाले विकासों की प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त करने की भारत ने इच्छा व्यक्त की तथा यह बात भी स्पष्ट की कि भारत के विचार में अफ्रीका का क्या महत्त्व है। इस सम्मेलन में इथोपिया, गुयनिया, मोजाम्बिक, जाईरा, सेनीगल, घाना, मारीशस, तंजानिया, मालवी, उगांडा, जाम्बिया के लिए भारतीय दूतों तथा केनिया व मदगास्कर के लिए नामोद्दिष्ट भारतीय दूतों और नाइजीरिया में भारत के कार्यवाहक हाई कमिश्नर भी उपस्थित हुए। इस सम्मेलन में भारत की नीति, इसके राजनयिक उद्देश्यों तथा आर्थिक और तकनीकी सहयोग से सम्बद्ध समस्याओं और परिप्रेक्ष्यों पर गहराई से विचार-विमर्श किया गया। ऐसा महसूस किया गया कि विकास के

क्षेत्र में भारत का अनुभव महत्वपूर्ण है और वह अपने अनुभवों को अफ्रीकी देशों के साथ बांट सकता है। भारत ने उद्योग, विज्ञान, तकनीकी और कृषि क्षेत्रों में अत्यधिक प्रगति की है और इन क्षेत्रों में भारत द्वारा आविष्कृत तथा प्रयुक्त तरीके अमीर देशों की अपेक्षा अफ्रीकी देशों की आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों के लिए अधिक उपयुक्त है। भारत तथा अफ्रीकी देशों के बीच इस आधारभूत तथ्य को तकनीकी सहयोग से यथार्थ में बदला जा सकता है। इस सम्मेलन ने अफ्रीका में भारत की उपस्थिति को सुदृढ़ करने का निर्णय लिया तथा राजनीतिक, आर्थिक एवं तकनीकी क्षेत्रों में अफ्रीकी देशों के वर्तमान तथा सम्भावित नेताओं को भारत की यात्रा करने के लिए प्रोत्साहित करने की आवश्यकता पर जोर दिया।"

भारत और राष्ट्रमण्डल

राष्ट्रमण्डल प्रभुसत्ता-सम्पन्न देशों का संगठन है जिसकी वर्तमान सदस्य संख्या 36 है। इनमें 32 विकासशील राष्ट्र हैं। इस संगठन में जो सदस्य देश हैं वे किसी एक जाति विशेष के न होकर विभिन्न जातियों के हैं।

राष्ट्रमण्डल का सचिवालय यद्यपि लन्दन में स्थित है किन्तु शासनाध्यक्षों के पिछले तीन सम्मेलन सिंगापुर (1971) ओटावा (1973) और किंगस्टन (1975) में हो चुके हैं। पिछले किंगस्टन सम्मेलन में यह निश्चय किया गया था कि महारानी ऐलिजाबेथ के रजत-जयन्ती समारोह को ध्यान में रखकर अगला सम्मेलन लन्दन में किया जाए। इससे पहले लन्दन में शासनाध्यक्षों का सम्मेलन सन् 1969 में हुआ था जिसमें यह तय किया गया था कि अब एक वर्ष के अन्तर से यह सम्मेलन किया जाना चाहिए।

राष्ट्रमण्डल की सदस्यता के लाभ

राष्ट्रमण्डल की सदस्यता से भारत को विभिन्न प्रकार के और ठोस लाभ प्राप्त होते रहे हैं। इनमें सदस्य-देशों के विशेषज्ञों के बीच व्यावसायिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, कानूनी और तकनीकी विषयों पर विचारों और जानकारी का निरन्तर आदान-प्रदान शामिल है।

इस प्रकार के लाभदायक सहयोग का सबसे अच्छा उदाहरण तकनीकी सहयोग के लिए राष्ट्रमण्डल निधि की व्यवस्था है। इस निधि में आजकल 40 लाख पौंड स्टर्लिंग का बजट है। सन् 1971 में इसकी स्थापना के बाद से इसकी गतिविधि 15 गुना बढ़ गई है। भारत को इस राष्ट्रमण्डलीय-निधि से तकनीकी सहायता तथा शिक्षा, प्रशिक्षण और निर्यात-बाजार विकास के कार्यक्रमों के रूप में उससे कहीं अधिक लाभ मिला है जो इसमें भारत ने लगाया है। राष्ट्रमण्डल तकनीकी सहयोग निधि में सन् 1975–76 में भारत का योगदान 60,000 पौंड स्टर्लिंग का था और सन् 1976–77 में यह राशि 80,000 पौंड स्टर्लिंग थी। जबकि सन् 1974–75 के दो वर्ष में भारत को इस निधि से जो लाभ मिला है वह 3,80,000 पौंड स्टर्लिंग के लगभग है। राष्ट्रमण्डलीय युवक कार्यक्रम के अधीन एशिया-प्रशान्त क्षेत्र के लिए चण्डीगढ़ में युवक कार्यक्रम सम्बन्धी उच्च अध्ययन के लिए राष्ट्रमण्डलीय संस्थान

की स्थापना की गई है । कुछ प्रारम्भिक कठिनाइयों के कारण यह केन्द्र अभी पूरी तरह कार्य आरम्भ नहीं कर पाया है, लेकिन जब ऐसा होने लगेगा तब एशिया-प्रशान्त क्षेत्र के अन्य भागों के युवक नेताओं के साथ सम्पर्क बढ़ाने में इसका काफी लाभदायक उपयोग हो सकेगा ।

राष्ट्रमण्डलीय प्रतिष्ठान भी, जो वैज्ञानिकों और अन्य अनुसन्धानकर्ताओं के लिए व्यावसायिक आदान-प्रदान और विशेष प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों की व्यवस्था करता है, भारत के लिए उपयोगी है । भारत प्रतिष्ठान के बजट में जो अंशदान देता है, उससे कहीं अधिक लाभ प्राप्त करता है ।

राष्ट्रमण्डलीय सम्पर्क की उपयोगिता के अन्य उदाहरण राष्ट्रमण्डल दूर-सचार समझौता, राष्ट्रमण्डल वायु परिवहन परिषद् और राष्ट्रमण्डल कृषि ब्यूरो से मिलते हैं । वरिष्ठ राष्ट्रमण्डल अधिकारियों के लिए शासन में व्यावहारिक अध्ययन का कोर्स अपनाना सम्भव है और सरकारी प्रशासन के सामान्य क्षेत्र में वे अनुभव का आदान-प्रदान भी कर सकते हैं । वैधानिक व कानून सम्बन्धी प्रारूप तैयार करने वालों के प्रशिक्षण के कार्यक्रम भी शुरू किए गए हैं ।

विचारों के आदान-प्रदान का उपयोगी मंच

राष्ट्रमण्डल सदस्य-देशों के नेताओं को विचारों के आदान-प्रदान का उपयोगी मंच प्रदान करता है । इससे अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रमण्डलीय मामलों में उनके बीच अधिक सद्भाव और सहयोग उत्पन्न होता है । एक बार इस छोटे, पर अपेक्षाकृत अधिक संगठित मंच पर आम सहमति प्राप्त हो जाने के बाद अपेक्षाकृत बड़े अन्तर्राष्ट्रीय संगठन जैसे संयुक्त राष्ट्र में अधिक प्रभावशाली ढंग से कार्य किया जा सकता है । राष्ट्रमण्डल के विकसित देशों की उपस्थिति इस सम्बन्ध में उपयोगी है क्योंकि सन् 1973 में ओटावा में हुए राष्ट्रमण्डल के शासनाध्यक्ष सम्मेलन से यह औपचारिक विचार-विमर्श की बजाय राजनीतिक और आर्थिक विषयों पर उपयोगी व अधिक व्यावहारिक विचार विनिमय की दिशा में प्रयत्नशील है । इसका मुख्य उद्देश्य विकसित और विकासशील देशों के बीच अन्यायपूर्ण आर्थिक विषमताओं को दूर करना है । किंगस्टन में सन् 1975 में विशेषज्ञों के दल का निर्माण किया गया था जिसका काम विकसित और विकासशील देशों के बीच खाई पाटने के लिए विभिन्न उपाय और साधन सुझाना था ।

राजनीतिक क्षेत्र – राजनीतिक क्षेत्र में राष्ट्रमण्डल ने दक्षिण अफ्रीका और रोडेशिया की जातिभेद की नीतियों का खुलकर और स्पष्ट रूप से विरोध किया है । जब मोजाम्बिक ने रोडेशिया के खिलाफ आर्थिक प्रतिबन्ध लगाए थे तो राष्ट्रमण्डल ने मोजाम्बिक की सहायता के लिए एक विशेष कार्यक्रम शुरू किया था । इस कार्यक्रम का उद्देश्य आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने के कारण मोजाम्बिक की जो हानि हो रही थी, उसकी पूर्ति करना था । इस विषय में बहुत तेजी से कार्यवाही की गई है ।

राष्ट्रमण्डल में भारत की भूमिका

राष्ट्रमण्डल के अधिवेशनों में भारत की भूमिका सदैव महत्त्वपूर्ण रही है ।

अप्रेल-मई, 1975 में किंग्स्टन (जमैका) में हुए राष्ट्रमण्डलीय सम्मेलन में प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी की भूमिका बहुत ही उल्लेखनीय थी। श्रीमती गांधी ने 29 अप्रेल के अपने भाषण में कहा कि "राष्ट्रमण्डल ऐसी स्थिति में है कि वह सदस्य-देशों की समस्याओं को सहानुभूतिपूर्वक समझने और उन्हें दूर करने की दिशा में कदम उठाने की पहल कर सकता है। पहले राष्ट्रमण्डल की बैठकों में हम जाति व रंगभेद की समस्या पर विचार करते थे। आज हम सर्व-सम्मति से इसे एक घातक रोग मानते हैं और महसूस करते हैं कि इससे राष्ट्रमण्डल नष्ट हो सकता है। उसी तरह हम आर्थिक विषमता पर विचार कर सकते हैं और मिल-जुलकर कदम उठाने का वातावरण तैयार कर सकते हैं। राष्ट्रमण्डल के वर्तमान अधिवेशन में तथा भविष्य के अधिवेशनों में इस पर विचार होना चाहिए। आज की मांग सृजनात्मक दृष्टिकोण अपनाने, सार्थक कदम उठाने तथा ठोस परिणाम प्राप्त करने की है। प्राचीन धारणाएँ समय की नई चुनौतियों का सामना नहीं कर सकतीं। राष्ट्रमण्डल को सभी संकीर्ण धारणाओं से ऊपर उठकर इन मामलों में साहसपूर्ण ढंग से नेतृत्व करना चाहिए।"[1]

राष्ट्रमण्डलीय सम्मेलन में जो निर्णय लिए गए उनमें भारतीय प्रधानमन्त्री के विचारों की गहरी छाप रही। उन्होंने इस अवसर का उपयोग विभिन्न राष्ट्राध्यक्षों और प्रधानमन्त्रियों से व्यक्तिगत भेंटवार्ता के लिए भी किया। इस प्रकार अनेक मसलों पर भारत के दृष्टिकोण को राष्ट्रमण्डलीय सदस्यों के सामने भली प्रकार व्यक्त किया जा सका। अगस्त, 1975 लीमा में गुट-निरपेक्ष विदेशमन्त्रियों के सम्मेलन में भारत ने राष्ट्र-मण्डल के देशों के बीच परस्पर सहयोग की आवश्यकता तथा गुट-निरपेक्ष देशों के बीच एकता पर बल दिया जिससे कि आर्थिक तथा राजनीतिक सहयोग के लक्ष्य की ओर बढ़ा जा सके और समानता तथा न्याय पर आधारित एक नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था विकसित हो सके।

जून, 1977 में जो राष्ट्रमण्डल अथवा राष्ट्रकुल सम्मेलन हुआ, उसमें भी भारत के विचारों को बड़े ध्यान के साथ सुना गया। 15 जून, 1977 को सम्मेलन की संयुक्त विज्ञप्ति जारी की गई। इस संयुक्त विज्ञप्ति में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अनेक प्रमुख मुद्दों पर प्रकाश डाला गया। यह उपयुक्त होगा कि हम इस संयुक्त विज्ञप्ति की प्रमुख बातों से अवगत हो जाएँ जो जून-जुलाई, 1977 के दिनमान के अनुसार निम्न प्रकार हैं।

राष्ट्रकुल सम्मेलन (15 जून, 1977) की संयुक्त विज्ञप्ति

15 जून, 1977 को समाप्त हुए हफ्ते भर के राष्ट्रकुल सम्मेलन की संयुक्त विज्ञप्ति में उगांडा द्वारा मानवाधिकारों का लगातार उल्लंघन किए जाने की भर्त्सना की गई। किसी सदस्य-देश की इस तरह की भर्त्सना किए जाने की यह दूसरी घटना थी। इससे पूर्व दक्षिण अफ्रीका की रंगभेद व जातिभेद की नीतियों की

1. हिन्दुस्तान, 30 अप्रेल 1975, पेज 1.

निन्दा की गई थी जिसके कारण उसने राष्ट्रकुल से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया था। अब दूसरी बार उगांडा की अनुपस्थिति मे उसकी नीतियो की निन्दा की गई। लेकिन यह संयुक्त विज्ञप्ति सर्वसम्मत नही थी। हालांकि ईदी अमीन का नाम नही लिया गया था, तथापि यह अवश्य कहा गया था कि उगांडा मे मानवाधिकारो का जिस तरह हनन हो रहा है उसकी विश्व भर में भर्त्सना होनी चाहिए। इस विज्ञप्ति के साथ नाइजीरिया ने अपनी सहमति व्यक्त नही की।

प्रमुख मुद्दे—इसके अलावा सयुक्त विज्ञप्ति मे रोडेशिया और दक्षिण अफ्रीकी रंगभेद और नस्लवाद की नीतियो पर भी प्रहार किया गया। रोडेशिया मे बहुसख्यक शासन स्थापित करने की माँग की गई और दक्षिण अफ्रीका से कहा गया कि वह नामीबिया मे अपना अधिकार और नियन्त्रण तुरन्त समाप्त कर दे। यह भी माँग की गई कि रोडेशिया को तेल का निर्यात तुरन्त बन्द कर दिया जाना चाहिए (ब्रिटेन इस तरह के प्रस्ताव के पक्ष मे नही था)। रोडेशिया द्वारा अपने पड़ोसी देशो की क्षेत्रीय अखण्डता का उल्लघन करने के कार्यों की भी आलोचना की गई। रोडेशियाई सैनिको द्वारा मोजाम्बिक मे प्रवेश कर आक्रमण करने की निन्दा की गई। इस बात पर भी रोष व्यक्त किया गया कि रोडेशिया लगातार सयुक्तराष्ट्र के प्रस्तावो का उल्लघन कर रहा है, अतः यह आवश्यक है कि इयान स्मिथ की अवैध सरकार पर हर सम्भव प्रतिबन्ध लगाए जाने चाहिए। इन प्रतिबन्धो मे उसे तेल देने पर प्रतिबन्ध लगाना एक प्रमुख मुद्दा है। इसके अतिरिक्त हिन्द महासागर मे बड़े देशो की गतिविधियो का भी उल्लेख किया गया। इस समय जिस तरह नौसैनिक गतिविधियाँ तेज हो रही हैं और सैनिक अड्डों की स्थापना एव सैनिक साज-सामान की दिशा मे जो कार्यवाही हो रही है उससे हिन्दमहासागर मे तनाव की स्थिति पैदा होगी। सयुक्तराष्ट्र के प्रस्ताव मे हिन्दमहासागर को परमाणु मुक्त क्षेत्र बनाए रखने की माँग की गई है, अत हिन्दमहासागर की शान्ति भग न करते हुए इसे बडी शक्तियों की प्रतिस्पर्धा का क्षेत्र बनने से रोका जाना चाहिए।

गोपनीय वार्ता—11 और 12 जून को राष्ट्रकुल देशों के सदस्यो ने स्कॉटलैंड में अवकाश मनाया। इस अवकाश के साथ ही ग्लेनईगल्स होटल मे सदस्य-देशो ने अनौपचारिक बातचीत की। कुछ गोपनीय विचार-विमर्श भी हुआ। इस तरह के विचार-विमर्श मे सरकारी अधिकारी उपस्थित नही थे। इस तरह की गोपनीय वार्ता का ब्यौरा प्रकाशित नही किया गया है, लेकिन इस बात के प्रमाण हैं कि विश्व की बहुत-सी ऐसी समस्याओ पर खुलकर बातचीत हुई जिनका लगभग हर देश से सम्बन्ध है। मोटे तौर पर दो प्रमुख मुद्दे सामने आए। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग कायम रखते हुए विश्व-सम्पत्ति के वितरण में व्याप्त भेदभाव को किस प्रकार कम किया जाए और अगले वर्ष एडमांटन (कैनाडा) मे होने वाले राष्ट्रकुल खेलो मे कुछ देशों द्वारा बहिष्कार करने के फैसले से बचाया जाए, क्योंकि न्यूजीलैण्ड के दक्षिण अफ्रीका के साथ खेलकूद सम्बन्ध बने हुए है। न्यूजीलैण्ड के दक्षिण-अफ्रीका के साथ इन सम्बन्धो के प्रश्न पर तीखी प्रतिक्रिया हुई।

खेल सम्बन्ध—राष्ट्रकुल देशों के नेताओं ने अपना 'पुनीत कर्त्तव्य' समझा कि अन्य क्षेत्रों की तरह खेलकूद के क्षेत्र में व्याप्त रंगभेद की नीति को भी समाप्त किया जाए। दक्षिण अफ्रीका के साथ अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर खेलकूद के सम्बन्धों की स्थापना का अर्थ जाति, रंग और साम्प्रदायिक भावनाओं को बढ़ावा देना है। न्यूजीलैण्ड के दक्षिण अफ्रीका के साथ सम्बन्धों की भी कटु शब्दों में आलोचना की गई। लगभग सभी देशों ने यह स्पष्ट तौर पर कहा कि जब तक दक्षिण अफ्रीका जातिभेद और नस्ल पर आधारित अपनी नीतियों को अपनाता रहेगा कोई भी देश उससे किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं रखेगा। केवल यही नहीं, यदि कोई देश दक्षिण अफ्रीका के साथ खेलकूद सम्बन्ध रखेगा तो उस देश का भी बहिष्कार किया जाएगा। यही कारण था कि न्यूजीलैण्ड और दक्षिण अफ्रीका के खेलकूद सम्बन्धों के प्रश्न पर राष्ट्रकुल खेलों के बहिष्कार का खतरा पैदा हो गया। भारत ने भी इस विचारधारा का समर्थन किया। भारतीय प्रतिनिधि ने कहा कि जब तक न्यूजीलैण्ड स्पष्ट रूप से यह आश्वासन नहीं दे देता कि वह दक्षिण अफ्रीका से खेलकूद-स्तर पर भी अपना सम्बन्ध नहीं रखेगा तब तक भारत अगले वर्ष होने वाले राष्ट्रकुल खेलों में भाग नहीं लेगा। यही नहीं अश्वेत देशों ने राष्ट्रकुल खेलों का बहिष्कार करने का वक्तव्य भी जारी कर दिया। इससे गोरे देशों में बातचीत शुरू हो गई और न्यूजीलैण्ड ने यह स्पष्ट आश्वासन दिया कि वह दक्षिण अफ्रीका से अपने खेलकूद सम्बन्ध समाप्त कर देगा। राष्ट्रकुल शिखर सम्मेलन की एकता की यह पहली और एक महान् सफलता थी।

डॉ. ओवेन का विश्लेषण—ब्रिटेन के विदेश मन्त्री डॉ. डेविड ओवेन ने अफ्रीका की अपनी यात्रा और वहाँ पर व्याप्त समस्याओं के सम्बन्ध में कहा कि इस समय वहाँ पर जिस तरह की स्थिति है उससे यही प्रतीत होता है कि यह समस्या लाइलाज है, लेकिन विभिन्न समुदायों के लोगों और गुटों से बातचीत के बाद मैं यह कह सकता हूँ कि यह विवाद बातचीत द्वारा हल किया जा सकता है और मेरा यह निश्चित मत है कि सन् 1978 में स्वाधीन जिम्बाब्वे (रोडेशिया) अस्तित्व में आ जाएगा। निस्संदेह इस समय अफ्रीकी नेता सशस्त्र संघर्ष के अलावा इस समस्या के समाधान का कोई अन्य विकल्प नहीं समझते, लेकिन उनका दृढ़ विश्वास है कि वे लोग भी युद्ध से अच्छे समझौते के रास्ते को प्राथमिकता देंगे। प्रश्न यह पैदा होता है कि क्या हम उन्हें समझौता करने के अवसर प्रदान कर सकते हैं? क्या हम व्यवस्थित ढंग से उन्हें अस्थायी या संक्रमणकालीन सरकार की स्थापना करने की सम्भावनाओं के बारे में बता सकते हैं। निस्संदेह जिम्बाब्वे में शान्ति स्थापित करने का मार्ग ढूंढना उनका नैतिक दायित्व है और वह अपने इस दायित्व से पीछे हटना नहीं चाहते। उन्होंने बहुसंख्यक और गैरनस्ली सरकार का एक सपना देखा है जिसे साकार करने के लिए वह कृतसंकल्प है। डॉ. ओवेन ने रोडेशिया के मसले, डॉ. हेनरी कीसिंगर की अफ्रीका यात्रा और जेनेवा सम्मेलन, कालों और गोरों में बातचीत, उनमें अनबन, अस्थायी सरकार के मार्ग में आने वाली अड़चनों, विदेश मन्त्री का पद

सम्भालने के बाद उनकी अफ्रीकी देशों की यात्रा और विभिन्न नेताओं से विचार-विमर्श तथा ब्रिटेन अमेरिकी प्रस्ताव आदि प्रयासों का सविस्तार उल्लेख किया।

अन्य समस्याएँ—निस्सदेह इस सम्मेलन पर अफ्रीकी समस्याएँ हावी रहीं—ईदी अमीन की भूमिका से लेकर रोडेशिया और दक्षिण अफ्रीका के मसले तक—लेकिन अन्य मामलों पर भी काफी विस्तार से चर्चा हुई। राष्ट्रकुल सम्मेलन मे क्षेत्रीय सम्बन्धो के विकास का प्रश्न भी उठाया गया। भारत के विदेश मन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी ने इसका स्वागत करते हुए कहा कि जिस तरह अफ्रीकी देशो और लातीनी अमेरिकी देशों मे क्षेत्रीय स्तर पर सम्बन्ध हैं, उसी तरह के सम्बन्ध दक्षिण पूर्वी एशिया और प्रशांत महासागर के देशो मे भी स्थापित होने चाहिए। यह प्रस्ताव आस्ट्रेलिया के प्रधान मन्त्री माल्कम फ्रेजर ने रखा था। इस तरह के क्षेत्रीय सम्बन्ध स्थापित हो जाने से इन देशो मे परस्पर व्यावारिक, आर्थिक सांस्कृतिक, राजनीतिक आदि सम्बन्ध मजबूत होंगे और पारस्परिक अविश्वास की भावना पैदा नही होने पाएगी। पेरिस मे उत्तर-दक्षिण के देशो के सवाद को भी महत्त्वपूर्ण बताया गया। यद्यपि अभी किसी निर्णय पर नही पहुँचा जा सकता, तथापि विकसित तथा अविकसित देशो मे जिस तरह के सम्पर्क स्थापित हुए हैं उससे निश्चित रूप से एक नयी दिशा मिलनी है। सभी देशो ने इस तरह के सम्पर्क बढाए जाने पर बल दिया।

अनुपस्थित देश—सेशेल्स और उगांडा इस सम्मेलन मे अनुपस्थित रहे। सेशेल्स के राष्ट्रपति जेम्स माशेम को एक क्रान्ति द्वारा सत्ताच्युत कर दिया गया और उनके स्थान पर एल्बर्ट रेने ने सत्ता सम्भाली, लेकिन न तो रेने और न ही उनके किसी प्रतिनिधि ने ही लन्दन सम्मेलन मे भाग लिया। जेम्स माशेम लन्दन मे मौजूद थे। इस तरह के सत्ता पलटने की एक घटना पहले भी हो चुकी है। आज से छः वर्ष पहले जब सिंगापुर मे राष्ट्रकुल सम्मेलन मे भाग लेने के लिए डॉ मिल्टन ओबोटे गए थे तो ईदी अमीन ने उगांडा मे उनका तख्ता पलट दिया था।

चर्चा अमीन की—उसी ईदी अमीन को इस बार के राष्ट्रकुल सम्मेलन में भाग लेने की अनुमति नही दी गई या यो कहिए कि उनका विरोध हुआ। लन्दन मे वातावरण इतना आक्रामक था कि अगर अमीन वहाँ पहुँच भी जाते तो न तो उनका स्वागत होता और न ही उन्हे सम्मेलन मे सम्मिलित होने दिया जाता। यद्यपि इस प्रकार का समाचार प्रकाशित हुआ था कि ईदी अमीन प्रतिबन्धो और विरोध के बावजूद सम्मेलन मे भाग ले रहे हैं। और तो और, पापुआ के मिशेल समोरा ने सम्मेलन मे अमीन की नीतियों की निन्दा करते हुए कहा कि सभी अफ्रीकी देशों को अमीन की नीतियो का विरोध कर उनके विरुद्ध कठोर कदम उठाने चाहिए। अमीन के बारे मे तरह-तरह की कहानियाँ प्रचलित हैं। अमीन ने कहा था कि प्रतिबन्धो के बावजूद वह लन्दन सम्मेलन में भाग लेंगे। सम्मेलन शुरू होने से पहले यह भी कहा गया कि वह उगांडा से लन्दन के लिए रवाना हो चुके हैं। उसके बाद कहा गया कि वह एक अन्य अफ्रीकी देश (लीबिया) पहुँच गए हैं लेकिन इसकी भी पुष्टि नही हो सकी। फिर खबर उडी कि वह समुद्री मार्ग से लन्दन पहुँच रहे हैं, लेकिन यह भी रहस्य ही

रहा। इसके बाद यह समाचार प्रचारित किया गया कि वह आयरलैण्ड जा रहे हैं, लेकिन आयरलैण्ड की सरकार ने उतरने की इजाजत नहीं दी। आयरलैण्ड ने कहा कि वह उनके विमान को ईंधन लेने की इजाजत तो दे सकते हैं, लेकिन अमीन को वहाँ पर उतरने की नहीं।

भारत और संयुक्त राष्ट्रसंघ

भारत उन देशों में से है जिन्होंने सन् 1945 में सान-फ्रांसिस्को में संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणापत्र पर हस्ताक्षर किए थे। संयुक्त राष्ट्रसंघ के जन्म से ही भारत उसके आदर्शों के लिए निरन्तर कार्य करता रहा है। भारत सदा इस बात का इच्छुक रहा है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ सही अर्थों में सारे संसार की प्रतिनिधि संस्था का रूप ले ले। इसी कारण उसने चीन को संयुक्त राष्ट्रसंघ में स्थान देने का समर्थन किया, भले ही चीन के साथ उसके क्षेत्रीय विवाद थे। संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारत ने हमेशा शान्ति स्थापना के सभी कार्यों का हार्दिक समर्थन किया है। कोरिया और स्वेज के संकट के समय भारत के कार्य की सर्वत्र सराहना हुई। कोरिया में भारत का मुख्य रूप से बीच-बचाव का काम था। कांगो में भारत ने जो काम किया वह ठोस था। वहाँ उसने संयुक्त राष्ट्रसंघ की अपील पर अपने सैनिक भेजे। कुल मिला कर संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारत की विदेश-नीति का सार रहा है—हर प्रकार के उपनिवेशवाद, जातिवाद और रंगभेद का विरोध, विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान में सहयोग, भारतीय हितों को आघात पहुँचाने वाले प्रस्तावों के विरुद्ध कूटनीतिक मोर्चा, संयुक्त राष्ट्रसंघ की उन अपीलों का सम्मान जो देश के हितों के विपरीत न हों, संघ के निःशस्त्रीकरण के प्रयासों में योगदान, आदि। भारत संघ से सम्बद्ध संस्थाओं के कार्यों में भी प्रमुख भाग लेता आया है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ यूनेस्को और विश्व-स्वास्थ्य संगठन के कार्यों में उसकी विशेष रुचि रही है। भारत के प्रतिनिधियों ने संघ की विभिन्न शाखाओं तथा उसके विभिन्न आयोगों और विशिष्ट समितियों में सक्रिय भाग लेकर देश का गौरव बढ़ाया है।

भारत की विदेश-नीति का मूल्यांकन

भारत की विदेश-नीति पर अत्यधिक आदर्शवादी और भावना-प्रधान होने का आरोप लगाया जाता रहा है। यह भी कहा जाता है कि हमारी विदेश-नीति सोवियत संघ से प्रभावित है और इजरायल, अरब राज्यों आदि के सन्दर्भ में इसका रवैया पक्षपातपूर्ण रहा है। यह भी आक्षेप लगाया जाता है कि हमारी नीति राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल सिद्ध हुई है।

भारतीय विदेश नीति की आलोचनाएं नेहरू-काल और कुछ-कुछ शास्त्री-काल में अधिक तीव्र थीं। श्रीमती इन्दिरा गांधी ने भारत की गुट-निरपेक्ष नीति के मौलिक सिद्धान्तों की पूर्ण रक्षा करते हुए उसे नई दिशा दी, यथार्थवादी चश्मे से देखा और राष्ट्रीय हितों के सर्वथा अनुकूल सिद्ध कर दिखाया। किसी भी नीति की सफलता उसके कुशल क्रियान्वयन पर निर्भर है। नेहरू-काल में आवश्यक था कि नवोदित भारत-राष्ट्र की आर्थिक समृद्धि की आधारशिला रखी जाए, विभाजन-जन्य विषम

परिस्थितियों को निपटाया जाए और पड़ोसी शत्रु राष्ट्रों के प्रति भी तुष्टिकरण की नीति अपनाते हुए युद्ध की सम्भावनाओं को यथासाध्य टाला जाए। इसलिए चीन के साम्राज्यवादी इरादों को कुछ-कुछ भाँपते हुए भी और पाकिस्तान की शत्रुता को भली-भाँति समझते हुए भी श्री नेहरू ने भारत को ऐसे नैतिक धरातल पर खड़ा करने की चेष्टा की जिससे अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे भारत को प्रतिष्ठा भी मिले, पूँजीवादी और साम्यवादी दोनों ही शिविर उसकी आवाज सुनें और उसकी सहायता के लिए तत्पर रहे तथा साथ ही युद्ध की सम्भावना भी टलती रहे ताकि भारत भविष्य मे शक्तिशाली बनने के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि का निर्माण कर सके। श्री नेहरू को अपने उद्देश्य में सन् 1962 से पूर्व तक पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। सन् 1962 के चीनी आक्रमण ने उनकी शान्तिवादी नीति को गहरा आघात पहुँचाया, लेकिन गुट-निरपेक्षता की उपयोगिता में उनकी आस्था समाप्त नही हुई क्योंकि संकट-काल मे सोवियत गुट और पश्चिमी गुट दोनो ने भारत को अपना समर्थन दिया। फिर भी इस आक्रमण ने श्री नेहरू को यह अनुभूति करा दी कि अब विदेश-नीति को यथार्थवाद की ओर मोडा जाए तथा गुट-निरपेक्षता पर अमल करते हुए सैनिक दृष्टि से भी भारत को शक्तिशाली बनाया जाए। श्री नेहरू यथार्थवादी नीति का अनुसरण कर भारत को शक्तिशाली बनाने की दृष्टि से आवश्यक आर्थिक और सैनिक उद्योगो तथा कल-कारखानो की आधारभूमि का पहले ही निर्माण कर चुके थे। अब बीज का वृक्ष रूप मे परिणत होना था।

दुर्भाग्यवश श्री नेहरू का सन् 1964 में आकस्मिक निधन हो गया। उनके उत्तराधिकारी श्री शास्त्री ने नेहरू की नीति को आगे बढाया और भारतीय विदेश-नीति में आदर्शवाद तथा यथार्थवाद का सुन्दर समन्वय किया। पाकिस्तान को उसके आक्रमण का मुँह तोड उत्तर देकर तथा अमेरिका जैसी महाशक्ति के दबाव के आगे न झुककर जहाँ श्री शास्त्री ने यथार्थवादी नीति का परिचय दिया वहाँ ताशकन्द-समझौता करके आदर्शवाद को भी कायम रखा। यद्यपि ताशकन्द-समझौता व्यावहारिक रूप से सफल नही हुआ, तथापि प्रत्येक युद्ध के बाद इस प्रकार के समझौते न्यूनाधिक हेर-फेर के साथ करने ही पडते हैं। यदि पराजित राष्ट्र पर वर्साय की सन्धि जैसा कोई समझौता थोपा जाए तो उसके क्या दुष्परिणाम निकल सकते हैं, इसका इतिहास साक्षी है।

श्री शास्त्री का प्रधानमन्त्रित्व काल इतना अल्प रहा कि उनकी नीति का पूर्ण मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। उनके निधन के बाद भारत की बागडोर श्रीमती इन्दिरा गाँधी के हाथों मे आई और हम इस बात से भली प्रकार परिचित है कि बगलादेश के मुक्ति-आन्दोलन, बगलादेश को मान्यता, अमेरिका के प्रति दृढता, रूस के साथ सम्मानजनक तथा गुट-निरपेक्षता पर आधारित मैत्री सन्धि, पाक शत्रुता का मुँह तोड उत्तर आदि कार्यों द्वारा उन्होंने भारत के राष्ट्रीय हितो की किस कुशलता से रक्षा की। साथ ही शिमला-समझौते द्वारा उन्होंने यह भी सिद्ध कर दिया कि भारत साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का बिल्कुल समर्थक नही है तथा पड़ोसी देशों के साथ और विश्व के हर राष्ट्र के साथ मैत्री का इच्छुक है।

कम्बोडिया और वियतनाम मे जो कुछ हुआ उसे भी भारतीय विदेश-नीति की सफलता माना जाएगा। भारत उन गिने-चुने देशों में से है जिन्होने शुरू से ही कम्बोडिया और वियतनाम के मुक्ति-आन्दोलनो का समर्थन किया था। ऐसे करते हुए भारत ने अमेरिका तथा कुछ अन्य पश्चिमी राष्ट्रों की अप्रसन्नता भी मोल ली, लेकिन बदले मे उसे दक्षिणी-एशिया की जनता से जो सद्भावना प्राप्त हुई वह कुछ कम नहीं थी। अब कम्बोडिया का गृह-युद्ध समाप्त हो चुका है, वियतनाम से अमेरिका पलायन कर चुका है और उत्तर तथा दक्षिण वियतनाम का एकीकरण हो चुका है। प्रारम्भ मे जिन देशों ने दक्षिण एशिया के सन्दर्भ मे भारतीय विदेश-नीति को आत्मघाती बताया था, आज वे अवश्य अनुभव कर रहे होंगे कि भारतीय विदेश-नीति नही, बल्कि उनकी अपनी विदेश-नीति गलत बुनियाद पर खड़ी थी। सोवियत सघ के साथ सम्बन्धो का अधिकाधिक दृढ होते जाना भारत की विदेश-नीति की आश्चर्यजनक सफलता है। वास्तव मे भारत का विकास सोवियत विदेश-नीति का भी एक आवश्यक अग बन गया है। सोवियत रूस चाहता है कि एशिया मे चीन एकमात्र महाशक्ति न रहे। उसका मुकाबला करने के लिए कम से कम एक देश का होना जरूरी है। सोवियत नेता इस तथ्य से अच्छी तरह परिचित हैं कि यह देश केवल भारत ही हो सकता है और इसीलिए न केवल यान्त्रिकी के क्षेत्र मे बल्कि वाणिज्य, उद्योग तथा अन्य क्षेत्रों मे भी सोवियत रूस भारत की सहायता कर रहा है। यह कहना गलत होगा कि भारत ने इसकी बहुत बडी कीमत चुकायी है। सोवियत रूस से सहायता लेते हुए भी भारत ने अपनी प्रभुसत्ता को दाव पर नहीं लगाया है।

गुट-निरपेक्षता और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की व्यापक पृष्ठभूमि मे भारत ने अपने पड़ोसी देशो के साथ तथा विश्व के अन्य देशो के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध विकसित करने मे सफलता प्राप्त की है। चीन और पाकिस्तान के प्रति भी भारत का रवैया बहुत ही रचनात्मक रहा है। उसके फलस्वरूप सन् 1976 मे दोनो देशो के साथ पुनः कूटनीतिक सम्बन्ध कायम हो सके हैं। पड़ोसियों के प्रति भारत की नीति का लक्ष्य सदैव यही रहा है कि परस्पर विश्वास, समझ-बूझ और सहयोग के आधार पर उनके साथ घनिष्ठ मैत्री सम्बन्ध विकसित किए जाएँ। भारत ने विश्व के सभी भागो मे राष्ट्रवादी शक्तियो की विजय का सदैव स्वागत किया है। इसी प्रकार कोरिया और वियतनाम के एकीकरण की प्रक्रिया भारत के लिए स्वागत योग्य रही है। भारत नि सन्देह गुट-निरपेक्ष और विकासशील देशो की आशा बन चुका है। भारत का निश्चित मत है कि विकासशील राष्ट्रों के सहयोग न केवल वृहत्तर आत्मविश्वास के लिए अनिवार्य है बल्कि बड़े राष्ट्रों के उस दबाव का मुकाबला करने के लिए भी आवश्यक है जो विकासशील देशो को अपने प्रभाव क्षेत्र मे लाने के लिए डाला जा रहा है ताकि विश्व के विभिन्न भागो मे उनके अपने हित अधिकाधिक विस्तृत हो सकें। विकासशील देश आत्मविश्वास, सहयोग और विकास के माध्यम से ही शान्ति और स्थिरता की दिशा मे अपना योगदान दे सकते हैं और

तभी वे एक ऐसी नई आर्थिक व्यवस्था की स्थापना में सहायक हो सकते हैं जो विश्व के सभी राष्ट्रों के बीच सहयोग और मित्रता के आधार पर स्थित हो।

मार्च, 1977 में कांग्रेस-शासन के पतन के बाद प्रधानमन्त्री श्री मोरारजी देसाई के नेतृत्व मे जनता पार्टी की सरकार ने सत्ता सम्भाली। नई सरकार ने भारत के बुनियादी हितो को घ्यान में रखते हुए विदेश-नीति मे मौलिक परिवर्तन न करने का निर्णय कर बुद्धिमत्ता का परिचय दिया है। प्रारम्भ मे यथार्थ निर्गुटता की नीति की घोषणा के परिणामस्वरूप कुछ क्षेत्रों में आशंका प्रकट की गई थी, किन्तु जनता सरकार जिस ढंग से विदेश-नीति के क्षेत्र में अग्रसर हो रही है उससे स्पष्ट है कि इसमें कोई मौलिक परिवर्तन नही किया जाएगा। भारत की नई सरकार ने भारत-रूस मैत्री के समर्थन द्वारा भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति को यथावत कायम रखने की घोषणा कर रूसी शासकों को आश्वासित कर दिया कि जनता सरकार अपने राष्ट्रीय हितो के अनुकूल नीति का अनुसरण करेगी। रूस के साथ *घनिष्ठ सम्बन्धो के बावजूद अन्य देशों के साथ सम्बन्धो में सुधार करेगी और किसी* एक देश की मित्रता अन्य देश के साथ सम्बन्धों में बाधक नही बनेगी। अमेरिका के साथ विगत वर्षो के सम्बन्ध-शैथिल्य टूट रहे हैं और चीन के साथ भावी सम्बन्ध स्थापना के बारे में सावधानीपूर्वक कदम उठाने की तैयारी भी की जा रही है। किसी भी देश की विदेश-नीति वस्तुत: उसके मूल राष्ट्रीय हितों और आकांक्षाओं के अनुकूल होती है और भारत भी अपने व्यवहार में यही कर रहा है। बंगलादेश के साथ गंगाजल पानी के विवाद के हल में भारत ने जो उदारता दिखायी है वह पड़ोसी देशो के प्रति उसकी सहयोगी नीति का परिणाम है।

12 चीन की विदेश नीति

(FOREIGN POLICY OF CHINA)

"विश्व की शांति चीन पर निर्भर है और जो कोई चीन को समझ सकेगा, उसी के हाथ में आगामी पांच शताब्दियों तक विश्व-राजनीति की कुंजी होगी।"

—जान है

वर्तमान साम्यवादी चीन अथवा चीन के जनवादी गणराज्य की स्थापना 1 अक्तूबर, 1949 को हुई। च्याग-काई-शेक और उसका राष्ट्रवादी दल चीन के गृहयुद्ध में साम्यवादियों के हाथों बुरी तरह पराजित हुआ। संयुक्तराज्य अमेरिका ने च्याग-काई-शेक को वर्षों तक भरपूर सैनिक सहायता दी, लेकिन माओ-त्से-तुंग के नेतृत्व में साम्यवादी सेना ने अमेरिका की मनोकामना पूरी नहीं होने दी। च्याग-काई-शेक ने भाग कर चीन की मुख्य धरती से कुछ ही मील दूर फारमोसा द्वीप में शरण लेकर वहीं चीन की 'निर्वासित सरकार' स्थापित कर ली। अमेरिका और संयुक्त राष्ट्रसंघ इसी सरकार को अर्थात् राष्ट्रवादी चीन को मान्यता देते रहे। चीन की मान्यता का प्रश्न सन् 1949 से 25 अक्तूबर, 1971 तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक प्रमुख विषय बना रहा। वास्तव में दो चीन की स्थिति कायम रही। दुनिया के लगभग 35 राज्यों की मान्यता साम्यवादी चीन को प्राप्त थी और 42 देश च्याग-काई-शेक की राष्ट्रवादी सरकार को मान्यता देते थे। भारत ने प्रारम्भ से ही एक चीन के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए साम्यवादी चीन को मान्यता दे दी थी। आखिर 26 अक्तूबर, 1971 को दो चीन वाली यह स्थिति समाप्त हो गई। संयुक्तराष्ट्र महासभा ने राष्ट्रवादी चीन (ताइवान या फारमोसा) को संयुक्तराष्ट्र से निष्कासित कर उसके स्थान पर जनवादी (साम्यवादी) चीन को सदस्य बनाने का अल्बानिया का प्रस्ताव 35 के विरुद्ध 76 मतों से स्वीकार कर लिया। इस प्रकार 22 वर्ष का वह संघर्ष समाप्त हो गया जो साम्यवादी चीन को विश्व संस्था का सदस्य बनाने के लिए चल रहा था। संयुक्त राष्ट्रसंघ के इतिहास में यह पहला अवसर था जब संघ के किसी सदस्य और सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य को संघ

की सदस्यता से निष्कासित कर उसके स्थान पर किसी अन्य देश को सदस्य बनाया गया हो। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे चीन का रुख सदा आक्रामक रहा है, पर माओ की मृत्यु के बाद नया नेतृत्व कुछ उदार है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में साम्यवादी चीन के उदय के परिणाम

चीन मे साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना एक अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व की घटना थी जिसने सम्पूर्ण विश्व-राजनीति को गभीर रूप से प्रभावित किया और उन परिवर्तनो को जन्म दिया जो विश्व-राजनीति को लम्बे समय तक प्रभावित करते रहेंगे—

प्रथम, स्वय चीन की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर भारी प्रभाव पडा है। साम्यवादी क्रान्ति से पूर्व भी यद्यपि चीन को पांच बडी शक्तियो मे स्थान प्राप्त था, तथापि सही अर्थों मे वह एक बडी शक्ति नही था। साम्यवादियो के नेतृत्व में एक सुसगठित और शक्तिशाली चीन का उदय हुआ जो आज न केवल एक बडी शक्ति है, बल्कि अमेरिका और रूस के बाद तीसरी महाशक्ति भी गिना जाने लगा है।

दूसरे, साम्यवादी चीन ने अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे एक नया शक्ति-सन्तुलन स्थापित कर लिया है। जिधर वह झुक जाए, सन्तुलन का पलड़ा उधर ही झुक जाएगा। चीन के समक्ष भारत ही एक ऐसी शक्ति है जो चीन-विरोधी पक्ष के साथ मिलकर शक्ति-सन्तुलन के दोनो पलडो को बहुत-कुछ बराबर ला सकता है। आज जबकि चीन सोवियत सघ का प्रतिद्वन्द्वी बन कर अमेरिका की ओर दोस्ती का हाथ बढा रहा है, भारत का एक सन्तुलनकारी शक्ति के रूप मे विशेष महत्त्व हो गया है।

तीसरे साम्यवादी चीन के उदय के फलस्वरूप पश्चिमी देशो की नीति मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ और चीन की शक्ति तथा प्रभाव आज भी उनकी नीति मे नित नए मोड़ लाने मे सहायक है। लाल चीन के उदय के उपरान्त साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए ही अमेरिका ने ताइवान अथवा फारमोसा मे च्याग की भगोडी राष्ट्रवादी सरकार की रक्षा का उत्तरदायित्व सभाला, एशिया में साम्यवादी-अवरोध की नीति पर आचरण शुरू किया और गैर-साम्यवादी तत्त्वो को अधिकाधिक आर्थिक तथा सैनिक सहायता दी। साम्यवादी चीन के उदय से सोवियत गुट का शक्ति-सन्तुलन का जो पलडा झुक गया उसी से चिन्तित होकर साम्यवाद विरोधी प्रादेशिक सुरक्षा सगठनो की स्थापना के मार्ग का अनुसरण किया गया। आज जब चीन और रूस मे तीव्र मतभेद उठ खड़े हुए हैं, अमेरिकी गुट का सर्वोपरि लक्ष्य यही है कि चीन को तोड़ कर पूरी तरह अपने पक्ष मे कर लिया जाए। पेकिंग-पिण्डी-वाशिंगटन धुरी के सुदृढ़ और सबल होने की आशका से रूस का चिन्तित हो उठना और फलस्वरूप भारत की मैत्री के महत्त्व को अधिकाधिक अनुभव करना स्वाभाविक है।

चौथे, लाल चीन के उदय ने अमेरिका और उसके साथी-राष्ट्रों के बीच कुछ मतभेद भी पैदा कर दिए, जो अब कम हो गए हैं। अमेरिका ने चीन की साम्यवादी सरकार को मान्यता देने से इंकार कर दिया जबकि ब्रिटेन, फ्रास आदि ने अपने

व्यापारिक लाभो के कारण उसे मान्यता प्रदान की और इसके साथ सम्पर्क बढाए। अत: उनके और अमेरिका के बीच कुछ मन-मुटाव हो जाना स्वाभाविक था। अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थितियो से विवश होकर, अमेरिका स्वय चीन की मैत्री के लिए लालायित है, अत: चीन के सम्बन्ध में जो मतभेद पैदा हुए थे वे शिथिल पड गए हैं।

पांचवें, चीन मे साम्यवादियो की विजय सोवियत सघ के लिए वरदान और अभिशाप दोनो ही सिद्ध हुई है। वरदान इसलिए कि इससे जनसख्या, साधन-स्रोत और सैन्य शक्ति की दृष्टि से साम्यवादी जगत् अत्यधिक शक्ति-सम्पन्न हो गया और विश्व मे शक्ति-सन्तुलन स्थापित हुआ। अभिशाप इसलिए कि माओ-त्से-तुंग के नेतृत्व मे चीन सोवियत सघ का घोर प्रतिद्वन्द्वी बन गया और आज सैद्धान्तिक सघर्ष की आड मे दोनो देश शक्ति-सघर्ष के भय से आशंकित हैं। सन् 1949 तक सोवियत सघ साम्यवादी जगत् का एकछत्र असंदिग्ध नेता था और विश्व के सभी साम्यवादी देश उसके अनुयायी थे, लेकिन साम्यवादी चीन के उदय ने रूसी नेतृत्व को चुनौती दी है।

छठे, चीन की साम्यवादी क्रान्ति ने एक ओर तो एशिया तथा अफ्रीका मे राष्ट्रवादी शक्तियो को प्रोत्साहित किया और दूसरी ओर एशियायी एकता के विकास मे बाधा पहुँचाई। चीन का नेतृत्व 'फूट डालो और अपना उल्लू सीधा करो' की नीति मे विश्वास रखता है। चीन भारत को अपना मुख्य प्रतिद्वन्द्वी मानकर इस नीति पर चल रहा है कि एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रो मे भारत-विरोधी वातावरण पैदा करे। भारत उपमहाद्वीप मे शान्ति की स्थापना मे चीन की कोई रुचि नही है, इसलिए वह पाकिस्तान को भारी सैनिक सहायता देकर भारत के विरुद्ध उकसाता रहता है।

सातवें, चीन न केवल साम्यवादियो के लिए बल्कि औद्योगिक दृष्टि से पिछडे देशो के लिए साम्यवादी सिद्धान्त और कुटिल दावपेचो के विकास का परीक्षण स्थल बन गया है।

आठवें, साम्यवादी चीन के उदय का पूर्वी एव दक्षिण-पूर्वी एशिया की राजनीति पर सबसे अधिक प्रभाव पडा है। चीन स्वय को पूर्ण रूप से एक महाशक्ति के रूप मे प्रतिष्ठित देखना चाहता है और इसके लिए उसने सघर्ष तथा दबाव-नीति का मार्ग चुना है। सुदूरपूर्व मे जो सघर्ष है वह बहुत कुछ चीन की महत्वाकांक्षा का भी परिणाम है। चीन मे साम्यवाद के उदय ने एशिया मे चीन और अमेरिका को तथा अब चीन, अमेरिका और रूस को एक-दूसरे का प्रबल प्रतिद्वन्द्वी बना दिया है जिससे यह प्रदेश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विस्फोटक-केन्द्र बना हुआ है।

सन् 1921 में जनरल स्मट्स ने कहा था—"रगमच अब यूरोप से दूर पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर मे पहुँच गया है।" ये शब्द सम्भवत: उस समय सत्य नही थे, लेकिन साम्यवादी चीन के उदय के फलस्वरूप विश्व-राजनीति मे उत्पन्न परिवर्तनो से आज सत्य सिद्ध हो रहे हैं।

साम्यवादी चीन की विदेश-नीति के आधारभूत तत्त्व, साधन और लक्ष्य

साम्यवादी चीन ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र मे जो नीति अपनाई है उसे भली प्रकार तभी समझा जा सकेगा जब हम चीनी विदेश-नीति के सैद्धान्तिक आधार को समझ लें और इस बात से परिचित हो जाएँ कि वह किन तत्त्वों, साधनो और लक्ष्यो पर आधारित है।

आधारभूत तत्त्व

साम्यवादी विचारधारा—रूस की भाँति चीन की विदेश-नीति भी मार्क्स और लेनिन के सिद्धान्तो से पूर्णतः प्रभावित है। ल्यूशाओची के शब्दो मे, "हमारी सफलताएँ मार्क्सवाद-लेनिनवाद की नवीन पुष्टियाँ और नवीन सफलताएँ हैं।" साम्यवाद के मुख्य सिद्धान्त वर्ग-सघर्ष, इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या, पूँजीवाद का साम्राज्यवादी रूप आदि से चीन की विदेश-नीति पर्याप्त प्रभावित है, इसलिए एशिया एव अफीका मे साम्यवाद के प्रसार को चीन अपना उत्तरदायित्व मानकर व्यवहार कर रहा है। चीनी नेताओ का विश्वास है कि विजय की प्राप्ति के लिए किसी एक ओर झुकना होगा—साम्राज्यवाद की ओर अथवा समाजवाद की ओर। तटस्थता तो केवल धोखा है, तीसरा मार्ग पाया ही नही जाता। माओ-त्से-तुंग ने मार्क्स-लेनिन के सिद्धान्तो को चीनी सस्करण का रूप दिया है, उनका चीन के इतिहास और उसकी समस्याओ के समाधान में उपयोग किया है। माओ की मान्यता है कि मार्क्सवाद निराधार नही है बल्कि ठोस रूप मे है जिसे राष्ट्रीय रूप में ग्रहण किया जाना तथा देशकालीन परिस्थितियों की अनुरूपता के सन्दर्भ मे अपनाया जाना चाहिए। राज्य शासक-वर्ग के हाथ मे दमन का एक साधन है।

राष्ट्रीय हित—चीन की विदेश-नीति मे सिद्धान्त तथा राष्ट्रीय हित साथ-साथ चलते हैं। सिद्धान्त राष्ट्रीय हित को प्रभावित करते हैं और राष्ट्रीय हित के अनुसार ही सिद्धान्तो का निरूपण किया जाता है। चीनी नेतृत्व के प्रत्येक कार्य का मूल लक्ष्य देश के शक्ति-स्तर (Power-status) मे वृद्धि होता है। माओ की स्पष्ट धारणा है कि जो देश चीन को महान् शक्ति न माने उसे मानने के लिए बाध्य किया जाए अथवा कोई बडी शक्ति उसे अपने समान न समझे तो उसको इसका पाठ पढाया जाए। शक्ति की प्राप्ति और अभिवृद्धि के लिए साम्यवादी चीन किसी भी बलिदान को बडा नही मानता।

पूँजीवाद का विरोध—चीन की विदेश-नीति पूँजीवादी देशो के साथ घोर प्रतिद्वन्द्विता की है। माओ पूँजीवाद के विनाश पर साम्यवाद का महल खडा करना चाहता है। विश्व के देशो मे राष्ट्रवादी तत्त्वो को उभार कर वहाँ साम्यवादी क्रान्ति के उपयुक्त वातावरण बनाना चीन की विदेश-नीति का मूल सिद्धान्त है।

माओ का अनुगमन—अपने जीवनकाल मे माओ चीन की सम्पूर्ण नीतियों का निर्माता और सचालक रहा और उसकी सीख को चीन शायद ही कभी भूल सकेगा। माओ ने मार्क्सवाद और लेनिनवाद की नीतियों की व्याख्या की, चीन के

साहित्य और कला के आदर्श एवं स्तर निर्धारित किए तथा सभी राजनीतिक-सैनिक-आर्थिक कार्यवाइयाँ उसी के नाम से प्रचारित होती रहीं। माओ के नेतृत्व में चीन द्वारा जो नीतियाँ अपनाई गई हैं, वे शायद ही किसी अन्य नेता के नेतृत्व में अपनाई जा सकती थीं। माओ का यह अभिमत चीनी विदेश-नीति का केन्द्र-बिन्दु है कि राजनीतिक शक्ति बन्दूक की नली से प्रादुर्भूत होती है। आणविक आयुधों से भी माओ के अनुयायियों को भयभीत न होने की शिक्षा दी गई है। माओ का कहना था कि इन आयुधों के प्रयोग के बाद भी इतनी बड़ी संख्या में चीनी बच जाएँगे कि वे अपने स्वप्न की पूर्ति द्वारा एक उत्कृष्ट सभ्यता का सृजन कर सकेंगे। माओ ने विदेश-नीति को लचीला बनाया ताकि परिस्थितियों के अनुसार उसे ढाला जा सके। इसीलिए चीन की विदेश-नीति में कभी एकरूपता या स्थायित्व नहीं रहा है।

राष्ट्रवादिता—चीन की विदेश-नीति राष्ट्रवादिता से ओत-प्रोत है। चीनी लोग अपने पूर्वजों चंगेजखाँ व कुबलाखाँ की विस्तारवादी परम्पराओं के अनुयायी हैं। साम्यवादी चीन को अपने देश की प्राचीन सभ्यता और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा पर गर्व है जिसकी पुनः प्राप्ति के लिए वह हर बलिदान के लिए तैयार है। माओ ने सन् 1949 में कहा था—"हमारा राष्ट्र अब कभी भी अपमानित राष्ट्र नहीं होगा, हम उठ खड़े हुए हैं।" उग्र राष्ट्रवादिता में ओत-प्रोत होने के कारण ही अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में चीन की नीति किसी दूसरे देश की नीति से मेल नहीं खाती।

साधन

साम्यवादी चीन विस्तारवाद और साम्राज्यवाद का आकांक्षी है। जिस किसी भी भू-भाग पर चीन का कभी अस्थायी या नाममात्र को भी अधिकार रहा था, उसे वर्तमान चीन अपना 'खोया हुआ भाग' मानता है। चीन की विदेश-नीति के साधन पवित्रता-अपवित्रता जैसी सीमाओं से प्रतिबद्ध नहीं हैं। अपने लक्ष्यों को पाने के लिए चीन निकृष्ट से निकृष्ट साधन भी अपनाने में संकोच नहीं करता। चीनी विदेश-नीति के मुख्य साधन ये हैं—

युद्ध एवं हिंसा—माओ ने लिखा है—"हम साम्यवादी युद्ध को सर्वव्यापक मानते हैं। युद्ध अनुचित न होकर सर्वथा उचित और मार्क्सवादी हो।" माओ की सीख है कि सारा संसार केवल बन्दूक की सहायता से ही बदला जा सकता है। शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति साम्यवाद के विरुद्ध है तथा संशोधनवाद की प्रतीक है।

लम्बे संघर्ष की योजना—चीन के साम्यवादी नेताओं के अनुसार विश्व साम्यवाद के प्रसार के लिए संघर्ष की योजना का अनुसरण करना होगा। यह योजना साम्यवादी सिद्धान्तों पर आधारित है, लेकिन इसकी व्याख्या माओ की अपनी है। माओ का विचार है कि पूँजीवादी देशों में दृढ़ निश्चय और साहस नहीं होता, अतः जब उनके विरुद्ध सावधानी के साथ अवसर देखकर लम्बा संघर्ष छेड़ा जाएगा तो वे टिक नहीं सकेंगे। साम्यवादी राष्ट्रों के पीछे सिद्धान्त का बल होता है और राजनीति का अवलम्ब, इसीलिए वे पूँजीवादी देशों में तोड़-फोड़ कर सकते हैं।

लम्बे संघर्ष की योजना के अधीन पश्चिमी देशों का तीव्र विरोध किया जाता है और दूसरे देशों में साम्यवादी दलों की सहायता की जाती है।

साम्यवादी प्रचार—माम्रो चीन की विदेश-नीति के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए विश्व के सभी गैर-साम्यवादी देशों में—विशेषकर एशिया तथा अफ्रीका महाद्वीप में साम्यवादी प्रचार का पक्ष-पोषक रहा और नए नेतृत्व का दृष्टिकोण भी कुछ विपरीत प्रतीत नहीं होता। माम्रो का कहना था कि विश्व के साम्यवादी आन्दोलन चीन को आदर्श मानकर सशस्त्र रूप धारण कर लेंगे।

सैनिक सहायता कार्यक्रम—साम्यवाद की स्थापना के लिए चीन दूसरे देशों को सैनिक सहायता देने का पक्षधर है, लेकिन उसे यह भरोसा होना चाहिए कि उस देश के लक्ष्य लगभग वही हैं जो स्वयं चीन के हैं तथा चीनी सहायता की प्रतिक्रिया स्वरूप यथासम्भव किसी बड़े देश का मुकाबला न करना पड़े और सहायता से चीन की सुरक्षा को कोई खतरा पहुँचने की सम्भावना न हो।

शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व—इस साधन का उपयोग प्रायः लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए किया जाता है। चीनी नेताओं ने शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति की व्याख्या इस प्रकार की है कि वे समय के अनुकूल युद्ध और शान्ति दोनों ही मार्ग अपनाने के लिए स्वतन्त्र हैं।

दोहरी नीति—चीन की विदेश-नीति पर विचारधारा और राष्ट्रीय हित इन दो तत्त्वों का विशेष प्रभाव है जिनमें असन्तुलन पैदा हो जाने अथवा सामञ्जस्य रहने पर जो नीति बन जाती है उसका अनुमान चीन और रूस के सम्बन्धों को देखकर लगाया जा सकता है। इन दोनों देशों की नीति एक ही साथ सहयोग और प्रतिस्पर्द्धा की है। दोनों ही देश साम्यवाद का प्रसार करना चाहते हैं और दोनों ही पूँजीवाद के शत्रु हैं। लेकिन दोनों ही के हित परस्पर विरोधी हैं। चीन रूसी नेतृत्व का अनुचर नहीं रहना चाहता। नेतृत्व की होड़ व्यापक राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से अत्यधिक संघर्षपूर्ण हो गई है और दोनों साम्यवादी राष्ट्र एक दूसरे के विरुद्ध तोड़-फोड़ के कूटनीतिक दाव-पेच खेल रहे हैं। सैद्धान्तिक धरातल पर भी सहयोग-असहयोग का विचित्र संघर्ष है। रूस की वर्तमान विदेश-नीति चीनियों की दृष्टि में संशोधनवादी, बुर्जुआवादी तथा प्रतिक्रियावादी है, पर यह समझ में नहीं आता कि चीन फिर स्वयं अमेरिका की ओर मित्रता का हाथ बढ़ाने लगा है।

लक्ष्य

सितम्बर, 1949 में जन-परामर्श सम्मेलन में साम्यवादी चीन की विदेश-नीति का निरूपण इन शब्दों में किया गया—

"चीनी गणराज्य की विदेश-नीति का उद्देश्य देश की स्वतन्त्रता, सम्प्रभुता व प्रादेशिक सम्मान की रक्षा करना, स्थायी विश्व-शान्ति को सुरक्षित रखना, विभिन्न राज्यों में मैत्रीपूर्ण सहयोग को प्रोत्साहित करना तथा आक्रमण व युद्ध की साम्राज्यवादी नीति का विरोध करना है। चीनी गणराज्य विदेशों में बसने वाले चीनियों के उचित अधिकारों और हितों की रक्षा के लिए भरसक प्रयास करेगा।

यह उन सभी लोगों को राजनीतिक शरण प्रदान करेगा जो जन-हित, शान्ति तथा जनतन्त्र के लिए सचालित सघर्ष मे भाग लेने के कारण अपनी सरकारों द्वारा पीडित हों।"

जब 1 अक्तूबर, 1949 को चीन की साम्यवादी सरकार की स्थापना हुई तो विदेश-नीति के ये लक्ष्य घोषित किए गए—(1) चीन की स्वतन्त्रता और अखण्डता की रक्षा करना, (2) स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सब देशो के बीच मैत्रीपूर्ण सहयोग के लिए प्रयत्न करना, (3) उन विदेशी सरकारो के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना जो राष्ट्रवादी चीन से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर चुकी हो; (4) साम्राज्यवादियो और विशेषत. सयुक्तराज्य अमेरिका के विरुद्ध सघर्ष मे साम्यवादी देशो का साथ देना, एव (5) प्रवासी चीनियो के हितो और अधिकारों की रक्षा करना, आदि।

चीनी विदेश-नीति के उपर्युक्त सभी लक्ष्य बड़े आकर्षक हैं, लेकिन इनकी व्याख्या चीन की अपनी स्वेच्छाचारी विस्तारवादी है जिसका कोई भी शान्तिप्रिय राष्ट्र स्वागत नही करेगा। स्वतन्त्रता और अखण्डता की रक्षा से अभिप्राय है कि साम्यवादी चीन उन भागो पर भी अपना ही अधिकार मानता है जिन पर अधिराष्ट्रीय सरकार का अधिकार है। वे भाग जिन पर चीन का अधिकार था और जो कालान्तर मे चीन से पृथक् हो गए तथा जिन्हे राष्ट्रीय सरकार वापस नही ले सकी, उन्हे भी चीन अपना मानता है। सुदूरपूर्वी मध्य-एशिया और दक्षिण-पूर्वी एशियायी क्षेत्रों मे साम्राज्यवादी आन्दोलनो को प्रत्येक सम्भव प्रोत्साहन देकर चीन विस्तारवाद की अपनी कुत्सित प्रवृत्तियो को पूरा करना चाहता है। भारतीय जनतन्त्र को वह अपने मार्ग मे बाधा समझता है और उसके शत्रुओ को अपना मित्र। वह भारत और बर्मा द्वारा नियन्त्रित सीमावर्ती क्षेत्र तथा मगोलिया और कोरिया पर अपना अधिकार चाहता है। उसने मकमहोन रेखा को मान्यता न देकर भारत के साथ सीमा-सघर्ष छेड रखा है। अपनी विदेश-नीति मे साम्यवादी चीन ने स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की बात कही है। इस सम्बन्ध मे चीन का विशेष मतव्य यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति मे स्थायित्व तभी आ सकता है जबकि विश्व मे साम्राज्यवाद की समाप्ति और साम्यवाद की स्थापना हो जाए और इस उद्देश्य की पूर्ति का एकमात्र उपाय युद्ध है। मैत्रीपूर्ण भावना वाले देशो के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो की स्थापना की नीति से साम्यवादी चीन का आशय यह है कि गैर-साम्यवादी देशो मे अस्थायी मित्रता स्थापित कर साम्राज्यवादी देशो की शक्ति को कमजोर किया जाए। चीनी विदेश-नीति मे साम्राज्यवादियो और विशेषतया सयुक्तराज्य अमेरिका के विरुद्ध संघर्ष की चर्चा की गई है। वस्तुत पश्चिमी राष्ट्रो के प्रति चीनवासियो की परम्परागत घृणा और विरोध का बदला साम्यवादी चीन अमेरिका से चुकाने पर उतारू है। चीनी युवको और युवतियों के दिमाग मे यह बात ठूँस-ठूँस कर भर दी गई है कि अमेरिका उनका सबसे बड़ा शत्रु है। सोवियत सघ से पूर्ण मित्रता के सम्बन्ध बनाए रखने की विदेश-नीति भी भ्रामक है, क्योंकि अन्तिम रूप से चीनी

विदेश-नीति का लक्ष्य विश्व मे साम्यवादी चीन के एकछत्र प्रमुत्व की स्थापना है। इस दिशा मे चीन रूस का कठोर प्रतिद्वन्द्वी है। चीन की विदेश-नीति में प्रवासी चीनियों के हितों की रक्षा का भी उल्लेख है। चीन, मलाया, सिंगापुर, थाइलैण्ड, कम्बोडिया, दक्षिण वियतनाम, उत्तर वियतनाम, इण्डोनेशिया, बर्मा, लाओस आदि देशों को, प्रवासी चीनियो के साथ दुर्व्यवहार करने के आरोप मे आतंकित करता रहा है। किन्तु इसके विपरीत ये प्रवासी उन देशों को खतरा पैदा किए हुए हैं जहाँ वे रह रहे हैं।

चीन की छद्मवेशी विदेश-नीति की इस व्याख्या के उपरान्त हमे उन लक्ष्यों पर दृष्टिपात करना उपयुक्त होगा जिनकी पूर्ति के लिए आज चीन प्रयत्नशील है। ये लक्ष्य इस प्रकार हैं—

1. सम्पूर्ण एशिया मे साम्यवाद का प्रसार आज के रूसी ढग का न होकर विशुद्ध मार्क्सवादी, लेनिनवादी ढग का शुद्ध साम्यवाद हो।

2. हिंसा, छल, बल और कौशल द्वारा साम्यवादी चीन की सीमाओं का अधिकाधिक विस्तार किया जाए ताकि एशिया मे पूर्वी यूरोपीय ढंग के कठपुतली देशो की स्थापना की जा सके।

3. एशिया के समस्त देशो पर प्रभावशाली राजनीतिक, सैनिक और आर्थिक नियन्त्रण स्थापित किया जाए।

4. सम्पूर्ण एशिया और सुदूरपूर्व मे पश्चिम के, विशेषकर अमेरिका के, प्रभाव को समाप्त कर दिया जाए ताकि उसकी (चीन की) सैनिक महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति मे कोई बाधा न पड़े।

5. एशिया ही नही अपितु समस्त विश्व का एकछत्र साम्यवादी नेता बनने की दिशा मे हर उपाय से आगे बढा जाए, चाहे इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अपने जाति-भाइयों से ही सघर्ष क्यों न मोल लेना पडे। रूस-चीन अन्तर्विरोध का यही एक मुख्य कारण है।

6. सेना को आधुनिकतम और आणविक शस्त्रास्त्रो एवं सैनिक उपकरणों से सुसज्जित करके तथा चीन की राष्ट्रीय शक्ति का सैनिक आधार पर पूर्णत: गठन करके उपर्युक्त लक्ष्यो को प्राप्त किया जाए।

7. एशिया मे प्रमुत्व की स्थापना के लिए भारत को घेरने की नीति अपनाई जाए और इस दृष्टि से पाकिस्तान, श्रीलका तथा भारत के अन्य पडोसी राज्यों को पूरी तरह अपने पक्ष मे किया जाए। पाकिस्तान के साथ पूरा सैनिक गठबन्धन करने मे तो चीन सफल ही हो चुका है।

चीनी विदेश-नीति की प्रधान अवस्थाएँ
(Main Stages of China's Foreign Policy)

साम्यवादी चीन की विदेश-नीति पर टिप्पणी करते हुए डाक बार्नेट ने ठीक ही लिखा है कि—"पेकिंग की नीति कभी भी केवल चिकनी-चुपड़ी बातों अथवा दबावों की नही रही। इसमे प्रलोभन, धमकी और तोड़-फोड़ का विभिन्न अनुपात मे

सम्मिश्रण रहा है।" चीन अपनी विदेश-नीति के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार कभी एक तत्त्व पर तो कभी दूसरे तत्त्व पर विशेष बल देता रहा है। उसका मूलभूत उद्देश्य यही रहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थितियों को अधिकाधिक अपने अनुकूल बनाकर उनका भरपूर लाभ उठाया जाए और अपने प्रभाव-क्षेत्र का विस्तार किया जाए। इस दृष्टि से चीनी विदेश-नीति अभी तक चार प्रधान अवस्थाओं में से होकर गुजरी है, चौथी अवस्था जारी है—

(1) आन्तरिक पुनर्गठन एव उग्र नीति का युग (1949–1953)
(2) उदारतावादी युग (1954–1959)
(3) नया उग्रतावादी एव क्रान्तिकारी युग (1959–1969)
(4) सहयोग और मैत्री की नई कूटनीति का काल (1970 से अब तक)

प्रथम युग : आन्तरिक पुनर्गठन का युग (1949–1953)

इस युग में चीन ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति देश की आन्तरिक व्यवस्था को सुदृढ़ करने में लगा दी। इस अवधि में उसकी विदेश-नीति कठोर और उग्र रही–विशेषकर पश्चिमी राष्ट्रों के प्रति। चीन ने सर्वप्रथम दिसम्बर, 1949 में सोवियत सघ से दौत्य सम्बन्ध स्थापित किए और तत्पश्चात् उसके साथ विभिन्न मैत्रीपूर्ण सुरक्षा एव पारस्परिक सहायता सम्बन्धी तथा आर्थिक सन्धियाँ सम्पन्न की। चीनी नेताओं ने सोवियत सहायता से विश्व के अन्यान्य देशों में, विशेषकर अफ्रेशियायी राष्ट्रों में साम्यवाद के प्रसार का बीड़ा उठाया। इसी उद्देश्य से नवम्बर, 1949 में ट्रेड-यूनियनों के विश्व सघ के तत्त्वावधान में पेकिंग में एशिया और आस्ट्रेलिया के देशों का ट्रेड-यूनियन सम्मेलन बुलाया गया। इसमें उपर्युक्त महाद्वीपों के वामपथी श्रमिक नेता सम्मिलित हुए। सम्मेलन में श्री ल्यू-शाओ-ची द्वारा यह घोषणा की गई कि इस सम्मेलन को सम्पूर्ण एशिया में राष्ट्रीय मुक्ति सग्रामों का समर्थन करना चाहिए। श्री ल्यू-शाओ-ची ने वियतनाम, वर्मा, इण्डोनेशिया मलाया, फिलीपाइन आदि के मुक्ति-सघर्षों की ओर सकेत करते हुए सम्मेलन के प्रतिनिधियों को उपदेश दिया कि–"चीनी जनता के पथ का अनुसरण करते हुए सशस्त्र सघर्ष द्वारा एशिया के अधिकांश भाग में क्रान्ति का प्रसार किया जाना चाहिए।" चीनी नेता ने चीनी जनता के पथ का स्वरूप भी स्पष्ट किया। उसने इस सम्बन्ध में चार बातों पर विशेष बल दिया–(i) श्रमिक वर्ग को साम्राज्यवाद-विरोधी सभी दलों और सगठनों के साथ मिल जाना चाहिए, (ii) श्रमिक वर्ग को केन्द्र बनाकर साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रव्यापी सयुक्त मोर्चा स्थापित किया जाना चाहिए और इसका केन्द्र साम्यवादी दल होना चाहिए, (iii) साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में सफलता प्राप्त करने के लिए मार्क्स और लेनिन के सिद्धान्तों से पूर्णतया परिचित और जनता से घनिष्ठतम सम्बन्ध रखने वाला साम्यवादी दल होना आवश्यक है; एव (iv) साम्यवादी दल के नेतृत्व में शत्रुओं से लड़ने के लिए राष्ट्रीय सेना का सगठन भी किया जाना चाहिए।

आन्तरिक पुनर्गठन की दिशा में चीनी साम्यवादियों ने दो उद्देश्यों पर विशेष

बल दिया—चीन से विदेशी प्रभाव को पूर्णतः समाप्त कर देना और चीन का एकीकरण कर सब चीनी प्रदेशों को साम्यवादी शासन के अन्तर्गत लाना। इस समय से ही चीनियों ने रूसियों को छोड़कर अन्य सभी पाश्चात्य देशों के लोगों को चीन से निकालना आरम्भ कर दिया। चीन के एकीकरण के लिए 'चीनी प्रदेशों' को साम्यवादी शासन के अन्तर्गत लाने के उद्देश्य से सन् 1950 में पेकिंग द्वारा तिब्बत पर आक्रमण और कोरिया युद्ध में हस्तक्षेप किया गया, तथापि कतिपय कारणों से चीन ने अपनी युद्ध-नीति में परिवर्तन वांछनीय समझा। पहला कारण व्यापारिक प्रतिबन्धों से उत्पन्न आर्थिक कठिनाइयाँ थी। इन्हें हल करने के लिए अप्रेल, 1952 में मास्को में अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्मेलन का आयोजन हुआ जिससे साम्यवादी देशों का गैर-साम्यवादी देशों के साथ व्यापार का मार्ग प्रशस्त हुआ। दूसरा कारण सन् 1952 की स्टालिन की यह घोषणा थी कि—"पूँजीवाद और साम्यवाद का शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व सम्भव है।" अपने एक लेख में स्टालिन ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि समाजवाद के प्रसार के साथ-साथ पूँजीवादी देशों की मण्डियाँ कम हो रही हैं। परिणामत: पूँजीवादी विश्व नाना सकटों और संघर्षों का शिकार बनेगा और अन्तत समाजवाद से पराजित होगा। अत: साम्यवादियों को पश्चिम के साथ आर्थिक प्रतियोगिता करनी चाहिए क्योंकि ऐसा करने से बिना युद्ध किए ही पूँजीवाद की इतिश्री हो जाएगी। तीसरा कारण चीन द्वारा यह अनुभव किया जाना था कि एशिया में संयुक्तराज्य अमेरिका की शक्ति का विस्तार हो रहा है। चौथा कारण कोरिया-युद्ध द्वारा चीन की आर्थिक व्यवस्था पर विपरीत प्रभाव पड़ना था। अपनी पंचवर्षीय योजनाओं के सफल सचालन के लिए दूसरे देशों का सहयोग अपेक्षित था और इसके लिए उदार नीति अपनाना अधिक उचित था। इन्हीं सब कारणों से प्रभावित होकर साम्यवादी चीन के प्रतिनिधि सुरक्षा परिषद् के सम्मुख भी उपस्थित हुए और उन्होंने सन् 1951 से 1953 तक कोरिया में युद्ध विराम सम्बन्धी वार्ताएँ कीं।

सन् 1949 से 1953 तक की अवधि में साम्यवादी चीन ने विदेश-नीति के क्षेत्र में प्रधानत' रूस का अनुसरण किया। उसका अपना कोई स्वतन्त्र और महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम नहीं था। रूस से मित्रता और अमेरिका से शत्रुता—ये दो बातें उनके सपूर्ण कार्यों का आधार रही।

द्वितीय युग : उदारतावादी युग (1954–1959)

यह युग सन् 1954 से 1959 तक रहा, यद्यपि इसका श्रीगणेश सन् 1952–53 में ही हो चुका था। चीन की उग्र और युद्धवादी क्रान्तिकारी नीति में परिवर्तन की पहली सूचना पेकिंग में अक्तूबर, 1952 में होने वाले एशियायी और प्रशान्त क्षेत्रीय शान्ति-सम्मेलन में मिली। इसमें सन् 1954 के ट्रेड-यूनियन-सम्मेलन के सर्वथा विपरीत क्रान्ति और हिंसा के स्थान पर शान्ति एव सह-अस्तित्व की चर्चा की गई। इस सम्मेलन ने संयुक्त राष्ट्रसघ से अनुरोध किया कि वह वियतनाम, मलाया एव अन्य देशों में युद्ध समाप्त कर सन्धि-वार्ता द्वारा न्यायपूर्ण समझौता कराने

की दिशा में प्रयत्नशील हो। सम्मेलन में चीनी प्रतिनिधि द्वारा घोषणा की गई कि विभिन्न सामाजिक पद्धतियों का शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व सम्भव है। जून, 1953। कोरिया की युद्ध विराम-सन्धि से चीन की इस परिवर्तित छद्मवेशी उदार प्रकृति की पुष्टि हुई। सन् 1954 में चीन ने विश्व राजनीति में सक्रिय भाग लेना शुरू कर दिया। इस वर्ष उसने जेनेवा सम्मेलन में महत्त्वपूर्ण भाग लिया और शान्तिवादी नीति का अनुसरण करते हुए 17वीं अक्षांश रेखा पर वियतनाम का विभाजन तथा लाओस और कम्बोडिया की पृथक् व्यवस्था स्वीकार कर ली। अपनी इस स्वीकारोक्ति द्वारा चीन ने अपनी शान्तिवादिता का ढिंढोरा पीटा जबकि वास्तविकता यह थी कि उसने समझौता इसलिए स्वीकार किया था कि इससे आधे वियतनाम के साम्यवादी राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त हो रही थी और इसे अड्डा बनाकर चीनी साम्यवाद आगे बढ़ सकता था। इस सम्मेलन में तत्कालीन चीनी प्रधानमन्त्री चाऊ ने यह अनुभव किया कि विभिन्न सरकारों के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध और सन्धियों द्वारा चीन की शक्ति वृद्धि के प्रयास करने चाहिएँ ताकि अवसर आने पर चीन उस शक्ति का अपने पक्ष में उपयोग कर सके। इस नीति का अनुसरण कर चीन ने सर्वप्रथम अप्रैल, 1954 में तिब्बत के बारे में सन्धि की और पंचशील के सिद्धान्तों में 'हार्दिक' आस्था प्रकट की।

पश्चिमी राष्ट्रों ने चीन की नेकनीयती पर भरोसा नहीं किया और पंचशील की घोषणा को कोरा प्रचार बताया। फिर भी एशिया के विभिन्न देशों को अपने शब्दजाल और अपनी कुशल कूटनीति द्वारा प्रभावित करने में चीन को उल्लेखनीय सफलता प्राप्त हुई। कोरिया-युद्ध में अमेरिका को टक्कर देकर एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रों में अपनी सैनिक शक्ति का आतंक वह पहले ही पैदा कर चुका था, अत: ऐसे शक्तिशाली चीन को अपना मित्र बना लेने में क्या संकोच हो सकता था। चीन को अपनी छद्मवेशी उदार-नीति में सफलता इसलिए भी प्राप्त हुई कि चीन ने पश्चिमी साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के विरुद्ध जो जिहाद छेड़ा था उससे सभी एशियाई देशों को सहानुभूति थी क्योंकि वे सब उससे पीड़ित रह चुके थे। चीनी सफलता का एक और भी कारण था। कोरिया-युद्ध के बाद से ही संयुक्तराज्य अमेरिका साम्यवाद से सुरक्षा के लिए सैनिक-सन्धियों का जाल बुन रहा था और भारत जैसे देशों की मान्यता थी कि इन सैनिक-सन्धियों द्वारा 'शीत-युद्ध' को एशिया के इस भाग में लाया जा रहा है। चीन ने एशियाई राष्ट्रों की इस मनोदशा का पूरा लाभ उठाया। उसने पश्चिम द्वारा समर्थित सैनिक-सन्धियों और अड्डों के विरुद्ध आग उगली, पश्चिम की इस नीति को नवीन साम्राज्यवादी चाल की संज्ञा दी और शान्ति का क्षेत्र विस्तृत करने पर बल देते हुए विदेशों के साथ दौत्य सम्बन्ध विकसित करने आरम्भ किए। एशिया और अफ्रीका के अधिकांश देशों में चीनी राजदूत प्रतिष्ठित हो गए। अप्रैल, 1955 में चीन ने बाँडुंग-सम्मेलन में भाग लिया और एशिया तथा अफ्रीका के 29 राष्ट्रों के सम्मुख अत्यन्त कूटनीतिज्ञता का प्रदर्शन करते हुए अपनी शान्तिवादी उदार नीति का समर्थन किया। बाँडुंग-सम्मेलन में चाऊ-एन-लाई ने दो

कार्यों से अपने राष्ट्र को शान्ति-प्रेमी सिद्ध करने में सफलता पायी—(i) प्रवासी चीनियों के बारे में इण्डोनेशिया के साथ सन्धि करके उसने एशियायी देशों को आश्वस्त किया कि उन्हें अपने यहाँ के चीनी प्रवासियों से आशंकित नहीं होना चाहिए, एवं (ii) ताइवान क्षेत्र में तनाव कम करने के लिए चाऊ ने सन्धि-वार्ता का प्रस्ताव रखा। बांडुंग सम्मेलन के अवसर पर चीन की बहुत प्रशंसा हुई और बाद में सन् 1958 तक चीन की शान्तिप्रियता का यह ढोंग बदस्तूर चलता रहा।

तृतीय युग : नया उग्रतावादी युग (1959 से 1969 तक)

यह युग सन् 1959 से प्रारम्भ हुआ, यद्यपि इसके लक्षण सन् 1957 के उत्तरार्द्ध से ही दृष्टिगोचर होने लगे थे। सन् 1957 से ही पश्चिमी देशों के साथ साथ एशियायी देशों के प्रति भी चीनी व्यवहार में कठोरता आने लगी। नवम्बर में मास्को में बोल्शेविक क्रान्ति की 40वीं वर्षगाँठ के अवसर पर संसार के सभी साम्यवादी दलों के सम्मेलन में चीन की नवीन उग्र नीति का स्पष्ट संकेत मिला। माओ-त्से-तुंग ने 18 नवम्बर के अपने भाषण में पूर्व और पश्चिम के संघर्ष पर बल देते हुए चीन की नवीन नीति का सिंहनाद इन शब्दों में किया—"इस समय विश्व में दो हवाएँ हैं—पूर्वी हवा और पश्चिमी हवा। चीन में एक कहावत है 'यदि पूर्वी हवा पश्चिमी हवा पर हावी नहीं होगी तो पश्चिमी हवा पूर्वी हवा पर हावी हो जाएगी।' मेरे विचार में वर्तमान स्थिति की यह विशेषता है कि पूर्वी हवा पश्चिमी हवा पर हावी है अर्थात् समाजवाद की शक्ति पूँजीवाद की शक्ति से अधिक है।"

अपनी नई उग्रवादी नीति का श्रीगणेश करते हुए चीन ने सर्वप्रथम उन मांगों का प्रबल विरोध किया जिनके अनुसार साम्यवादी नीति में कुछ संशोधन होना चाहिए था। तत्पश्चात् सन् 1958 के लेबनान-संकट में चीन के तटवर्ती टापुओं के संकट में तथा सन् 1959 के लाओस संकट में पेकिंग ने कठोर रुख अपनाया। सन् 1959 से तो चीन की विदेश-नीति में अतिस्पष्ट रूप में एक नया मोड आया और वह अधिकाधिक उग्र, आक्रामक तथा साम्राज्यवादी बनती गई। सन् 1959 में अपने वचनों का उल्लंघन कर चीन ने तिब्बत की स्वायत्तता को नष्ट कर दिया और दलाईलामा को अपना देश छोड़ कर भागना पड़ा। इसी समय से चीन भारत के साथ सीमा-विवाद में कठोर नीति का अनुसरण करने लगा और शनैः-शनैः भारतीय सीमा पर उसके अतिक्रमण बढ़ते गए। सन् 1959 में ही श्री ख्रुश्चेव ने संयुक्तराज्य अमेरिका की यात्रा की जिसे चीनी नेताओं ने पसन्द नहीं किया और उनका दृष्टिकोण रूस के प्रति आलोचनात्मक हो गया। इसके बाद धीरे-धीरे रूस अधिकाधिक शान्ति-पूर्ण सह-अस्तित्व का समर्थक बनता गया और चीनी दृष्टिकोण इस नीति तथा रूस का अधिकाधिक विरोधी होता गया। सन् 1962 में अपने मित्र देश भारत पर चीन के आक्रमण ने उसके साम्राज्यवादी स्वरूप को सूर्य के प्रकाश की भाँति उजागर कर दिया।

अपनी नवीन उग्र नीति के कारण चीन ने दिसम्बर, 1963 से एक नवीन कूटनीतिक अभियान छेड़ दिया। अफ्रीका महाद्वीप को आ[illegible] लिए एक दम अनु

समझ कर वहाँ अपने प्रभाव का तीव्र गति से विस्तार करने के उद्देश्य से दिसम्बर, 1963 में चाऊ एन-लाई ने विभिन्न अफ्रीकी देशों की 8 सप्ताह की यात्रा की। चीनी प्रधानमन्त्री संयुक्त अरब गणराज्य, अल्जीरिया, मालवी, ट्यूनीशिया, घाना, माली, गिनी, सूडान, इथोपिया, सोमालिया आदि देशों में गए और फरवरी 1964 में बर्मा, पाकिस्तान और श्रीलंका की यात्रा भी की। अपनी यात्रा के दौरान श्री चाऊ ने इस बात का भरसक प्रयास किया कि प्रथम तो इन देशों पर सोवियत व पश्चिमी प्रभाव क्षीण होकर चीनी प्रभाव में वृद्धि हो जाए और दूसरे भारत और रूस के साथ सीमा विवाद में उसे इन देशों का समर्थन प्राप्त हो जाए, परन्तु सन् 1965 के अन्त तक होने वाली अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने चीन की विदेश-नीति और नवीन कूटनीतिक अभियान की असफलताओं को उजागर कर दिया। वह अल्जीरिया में अफ्रेशियायी राष्ट्रों के बांडुंग जैसा सम्मेलन बुलाने में असफल रहा। अफ्रीका में अपने शिष्य बेनबेल्ला द्वारा शासित अल्जीरिया में सम्मेलन का आयोजन कर माओ-त्से-तुंग अफ्रेशियायी देशों पर चीन की धाक बैठाना चाहता था, परन्तु सम्मेलन आरम्भ होने से पहले ही बेनबेल्ला का पतन हो गया। सम्मेलन के आयोजन में सफलता पाने के उद्देश्य से चीन ने अल्जीरिया की नई सरकार का समर्थन किया, परन्तु भारत आदि राष्ट्रों ने सम्मेलन को स्थगित करवा दिया। बेनबेल्ला के विरोधियों का समर्थन कर चीन ने यह सिद्ध कर दिया कि अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए चीन साम्यवाद के सिद्धान्तों की भी उपेक्षा कर सकता है। चीन की स्वार्थपरता ने अफ्रेशियायी देशों में उसे बदनाम कर दिया। पाकिस्तान के प्रति चीन की सहानुभूति की पोल भी उस समय खुल गई, जब भारत-पाक संघर्ष के समय चीन भारत को केवल धमकी देता रहा और इस तरह उसने पाकिस्तान की आशा को आघात पहुँचाया कि चीन भारत को गहरी क्षति पहुँचाकर पाकिस्तान के प्रति अपनी दोस्ती का सबूत देगा। चीन के इस रुख से पाकिस्तान को मन ही मन बहुत अप्रसन्नता व निराशा हुई। इसके अतिरिक्त साम्यवादी देशों को भी इस बात से बड़ी ठेस पहुँची कि चीन अपने घोर शत्रु संयुक्त-राज्य अमेरिका के पिट्ठू और उससे सैनिक सहायता पाने वाले पाकिस्तान का खुल्लम-खुल्ला समर्थन कर रहा था। सन् 1965 में ही इण्डोनेशिया में चीन के इरादों को मिट्टी में मिला दिया गया। चीन प्रेरित साम्यवादी क्रान्ति असफल हुई और इण्डोनेशियायी सेना ने साम्यवादियों का बुरी तरह दमन किया। विश्व के साम्यवादी दलों में इण्डोनेशियायी साम्यवादी दल का एक विशिष्ट स्थान था। उसके अधःपतन से विश्व के साम्यवादी आन्दोलन को गहरा आघात पहुँचा और साथ ही पेकिंग पिंडी-जकार्ता धुरी छिन्न-भिन्न हो गई। अफ्रेशियायी देशों में भी चीन का प्रभाव क्षीण हो गया और व चीनी साम्यवाद के खतरे को समझने लग गए। दिसम्बर, 1965 में मलावी के प्रधानमन्त्री डॉ. हेस्टिंग्स बाण्डा ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की—

"अफ्रीका की रिक्तता के बारे में चीनी यह समझते हैं कि इसकी पूर्ति उन्हीं के द्वारा होनी है। पेकिंग के लोग चंगेजखाँ की कल्पना से भी बड़ा ऐसा साम्राज्य स्थापित करना चाहते हैं जिसमें सम्पूर्ण एशिया तथा अफ्रीका सम्मिलित हो तथा यदि

जनता आपत्ति न करे तो इसमें यूरोप और अमेरिका भी सम्मिलित हो। जब मैं अफ्रीका पर विचार करता हूँ तो मुझे रूसियों से उतना भय नहीं है जितना चीनियों से है। समय की गति के साथ रूसी नरम पड गए हैं, किन्तु चीनी नरम नहीं पडे हैं।

अफ्रीका महाद्वीप में चीन तेजी से अपनी प्रतिष्ठा खोता गया और पेकिंग से कूटनीतिक सम्बन्ध-विच्छेद का क्रम आरम्भ हो गया। इसी बीच चीन तथा रूस के सम्बन्धों में भी काफी बिगाड़ आ गया। दोनों के सैद्धान्तिक मतभेद उग्र हो गए। चीन सोवियत संघ को सशोधनवादी और सोवियत संघ चीन को कट्टरपंथी कहकर दोनों एक दूसरे को बदनाम करने लगे। वास्तव में साम्यवादी जगत् के लिए नेतृत्व की होड शुरू हो गई क्योंकि चीन ने रूसी नेतृत्व अस्वीकार कर दिया। दोनों देशों में कटु सीमा-विवाद भी उत्पन्न हो गए और मार्च, 1969 में सीमा पर सैनिक झड़पें भी हुई। स्थिति इतनी तनावपूर्ण हो गई कि दोनों देशों के सम्बन्ध विच्छेद के कगार पर पहुँच गए।

चतुर्थ युग : सहयोग और मैत्री की कूटनीति का युग (1970 से अब तक)

उग्रतावादी एवं क्रान्तिकारी युग में साम्यवादी चीन ने आतंक और तोड फोड की जिस विदेश-नीति का अनुसरण किया उससे वह अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में काफी बदनाम हो गया और उसके दो घनिष्ठ मित्र भारत और रूस उसके विरुद्ध हो गए। चारों ओर से उसका विरोध होने लगा और वह लगभग अलग-थलग पड़ गया। चीन ने अपनी इस पृथकता की स्थिति को तोडने के लिए एशिया और अफ्रीका के छोटे देशों मे अपने प्रभाव-विस्तार की चेष्टाएँ की, किन्तु उनमे भी वह लगभग असफल रहा। अरब जगत् ने नासिर के नेतृत्व मे चीनी कूटनीति का शिकार होने से स्वयं को बचाए रखा। अतः यह आवश्यक हो गया कि चीन अपनी विदेश नीति का पुनर्मूल्यांकन कर आतंक एवं तोड-फोड़ के स्थान पर सहयोग, मैत्री एवं सह-अस्तित्व की नीति अपनाए—चाहे मौलिक रूप मे उसका इनमे विश्वास नहीं था। सन् 1970 के प्रारम्भ से ही चीन ने अपनी विदेश नीति का सचालन पुनः इस रूप मे आरम्भ किया ताकि अधिकाधिक मित्र और समर्थन प्राप्त किया जा सके तथा पुरानी नीति के कारण विदेश नीति के स्वरूप मे जो बिगाड पैदा हुए थे, उन्हें सुधार कर विश्व के देशों को अपनी 'सदाशयता' मे विश्वास दिलाया जा सके। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ने भी कुछ ऐसी करवट ली कि चीन का मार्ग सुगम हो गया। राष्ट्रपति निक्सन के नेतृत्व में अमेरिका ने अपना चीन-विरोधी रवैया शिथिल कर दिया, चीन की ओर मैत्री का हाथ बढाया तथा अमेरिकी सहयोग से रूसी नेतृत्व का मुकाबला करने के लिए चीन को आकर्षित किया। चीन को संयुक्तराष्ट्र संघ मे भी प्रवेश मिल गया जिससे उसे सुअवसर प्राप्त हुआ। सांस्कृतिक क्रान्ति की सफलता आर्थिक और सैनिक शक्ति मे तीव्र विकास तथा महाशक्ति के रूप मे प्रतिष्ठित होने की आकांक्षा ने चीन को प्रेरित किया कि वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे 'बचकाना' हरकतों का रास्ता त्याग दे।

मैत्री, सहयोग और संयम की नयी कूटनीति अपनाते हुए चीन ने एक ओर अमेरिका के साथ सम्बन्ध स्थापित करने शुरू किए तथा दूसरी ओर रूस के विरुद्ध

अपना प्रचार अभियान कम किया। सन् 1970 में ही रूस और चीन के बीच पुनः एक व्यापारिक समझौता हुआ जिसके बाद से एक दूसरे पर कठोर शब्दों का प्रयोग कम होता गया। अमेरिकी राष्ट्रपति निक्सन ने चीन की यात्रा की तथा दूसरे देशों के साथ भी चीन 'पिंग-पांग कूटनीति' के मार्ग पर चलने लगा। भारत के प्रति चीनी रवैया यद्यपि पूर्ववत् रहा तथापि दिसम्बर, 1971 के भारत-पाक संघर्ष में न तो पहले की तरह चीन द्वारा भारत को कोई 'अल्टीमेटम' दिया गया और न ही सीमा पर सैनिक हलचल करके तनाव पैदा किया गया। सन् 1970 से भारत के सीमान्त पर चीन के साथ सैनिक मुठभेड़ों की वारदातें भी नहीं हुई हैं। कूटनीतिक क्षेत्र में चीन का भारत विरोधी रवैया किसी भी अनुपात में रहा हो, लेकिन व्यवहार में उसने भारत को सैनिक दृष्टि से भड़काने वाली कोई कार्यवाही करने में संयम ही बरता है। पाकिस्तान को सैनिक सहायता और कूटनीतिक समर्थन देकर अपने पक्ष में करने की चीनी नीति पूर्ववत् सक्रिय है, लेकिन चीनी नेताओं ने अपने व्यवहार से यह संकेत दे दिया है कि पाकिस्तान को ऐसी कोई आशा नहीं करनी चाहिए कि उसके कारण वह भारत से सैनिक संघर्ष में उलझने की भूल करेगा। सन् 1976 में पेकिंग में भारतीय राजदूत की नियुक्ति के बाद दोनों देशों में कूटनीतिक सम्बन्ध पुनः स्थापित हो गए हैं जो सन् 1962 के चीनी हमले के बाद टूट गए थे। यह आशा की जानी चाहिए कि चीन भारत की मैत्री के महत्व को स्वीकार कर रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाएगा। नवम्बर, 1977 में भारत के विदेश मन्त्री श्री वाजपेयी का यह संकेत उत्साहवर्धक है कि दोनों ही देश परस्पर सम्बन्ध सुधारने को प्रयत्नशील हैं।

अब हमें देखना है कि प्रारम्भ से चीन के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध कैसे रहे, विभिन्न देशों के साथ उसकी विदेश नीति किस रूप में सचालित हुई तथा वर्तमान चीनी नीति का व्यावहारिक रूप क्या है।

चीन के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध
(International Relations of China)

विश्व के प्रमुख राष्ट्रों के साथ चीन के जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध रहे हैं उनका विवेचन संयुक्तराज्य अमेरिका, सोवियत संघ और भारत की विदेश नीति के सन्दर्भ में विस्तार से किया जा चुका है। अब यहाँ चीन के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का संक्षिप्त विवेचन ही अपेक्षित है।

चीन और अमेरिका

राष्ट्रपति निक्सन द्वारा चीन के प्रति मैत्री का हाथ बढ़ाने से पूर्व दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त शत्रुतापूर्ण थे। अमेरिका ने नवोदित साम्यवादी चीन को न केवल मान्यता देने से इंकार कर दिया बल्कि संयुक्तराष्ट्र में उसके प्रवेश के विरुद्ध भी मोर्चाबन्दी की। अमेरिका की नीति मुख्यतः यह रही कि साम्यवादी चीन के साथ मैत्री और सहानुभूति रखने वाले देश अमेरिका के मित्र नहीं माने जा सकते। सन् 1950 में कोरिया युद्ध में संयुक्तराष्ट्र संघीय सेनाओं ने अमेरिकी कमान में युद्ध

लड़ा। जब सयुक्तराष्ट्र सघीय सेनाएँ 38 अक्षाश रेखा को पार कर यालू नामक स्थान पर पहुँची तो उत्तर कोरिया की ओर से चीनी सैनिक टिड्डी-दल की भाँति उन पर टूट पड़े। कोरिया का युद्ध अब प्रधानत. अमेरिका व चीन का युद्ध बन गया। अक्तूबर, 1951 मे माओत्से-तुंग ने कहा—"हम अपने देश की रक्षा के लिए ही 'साम्राज्यवादी आक्रमणों' के विरुद्ध लड रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि यदि अमेरिकी सेनाओ ने हमारे ताइवान (फारमोसा) पर कब्जा न किया होता और हमारे साम्यवादी मित्र-राज्य पर दक्षिणी कोरिया ने आक्रमण न किया होता तथा स्वय अपनी कार्यवाहियो का विस्तार हमारी उत्तर-पूर्वी सीमा तक न किया होता तो हम आज अमेरिकी सेनाओ के विरुद्ध न लड रहे होते।"

कोरिया-युद्ध के फलस्वरूप अमेरिका ने फारमोसा को साम्यवादी चीन के सम्भावित आक्रमणो से सुरक्षित रखने के लिए खुल कर सैनिक सहायता देने का निश्चय कर लिया। अमेरिका के इस निश्चय ने दोनो देशो के सम्बन्धो को और भी अधिक कटु बना दिया। चीन मे वाशिंगटन-विरोधी प्रचार-अभियान तीव्र कर दिया गया। क्लॉड बस (Claud Buss) के शब्दो मे—"चीनवासियो ने अमेरिका पर जापान मे फासिस्टवाद तथा सैनिकवाद की पुनर्स्थापना करने तथा एशिया मे अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए जापान का एक साधन के रूप मे प्रयोग करने के आरोप लगाए। इसी तरह उन्होने अमेरिका को दक्षिणी कोरिया के राष्ट्रपति सिगमन री की सहायता करने एव कोरिया मे गृह-युद्ध छेड़ने के लिए भी दोषी ठहराया।" चीन के साम्यवादी नेताओ ने कोरिया-युद्ध की व्याख्या करते हुए कहा कि—"यह युद्ध कोरिया, फारमोसा, हिन्दी चीन एव फिलीपाइन्स पर कब्जा करने तथा उसके पश्चात् एशियायी मामलो मे हस्तक्षेप करने के अमेरिकी षडयन्त्र का ही अग्रिम भाग है।"

साम्यवाद के प्रसार को अवरुद्ध करने के लिए सयुक्तराज्य अमेरिका ने विभिन्न सैनिक और प्रतिरक्षात्मक सगठनो का निर्माण किया। अमेरिका द्वारा निर्मित और प्रेरित नाटो, सीटो, अजुस (ANZUS), बगदाद पैक्ट (अब सैंटो) तथा मध्य पूर्वी कमान सन्धियों की साम्यवादी चीन ने यह कहकर तीव्र भर्त्सना की कि इन सबका उद्देश्य विश्व मे अमेरिकी प्रभुत्व की स्थापना करना है। अमेरिकियों के लिए चीन की मुख्य भूमि के द्वार बन्द कर दिए गए। अनेक बार तो अमेरिकी पत्रकारों तक को प्रवेश की अनुमति नही दी गई। चीन-स्थित अमेरिकी सम्पत्ति भी जब्त कर ली गई। अमेरिका के साथ व्यापारिक सम्बन्ध पूर्णत भग कर दिए गए। उसके साथ सभी प्रकार के सम्पर्कों पर—चाहे वे सामाजिक हो, सांस्कृतिक हो या कूटनीतिक हो—रोक लगा दी गई। कोरियाई युद्ध मे जिन अमेरिकी चालकों को बन्दी बना लिया गया था, उन्हे भी सोवियत रूस के आग्रह पर बड़े वाद-विवाद के बाद मुक्त किया गया।

1 *Buss, C A :* The Far East, p 53.

सन् 1954 में हिन्द चीन के प्रश्न पर भी दोनों देशों में काफी तनाव पैदा हो गया। डीन-बिन-फू में फ्रेंच सेनाओं की निर्णायक पराजय के उपरान्त जब वाशिंगटन ने फ्रांस की सहायतार्थ भारी संख्या में अपनी सेनाएँ भेजने का निश्चय किया तो अमेरिका और साम्यवादी चीन में प्रत्यक्ष युद्ध का खतरा उत्पन्न हो गया। सौभाग्यवश जिनेवा समझौता सम्पन्न हो जाने के कारण यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति टल गई। सन् 1959 में चीन और अमेरिका के बीच संघर्ष के नए कारण उत्पन्न हो गए। लाओस में संघर्ष के लिए चीन ने अमेरिका को उत्तरदायी ठहराया और कहा कि वह वियतनाम के प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य एवं चीन की सुरक्षा को सीधी चुनौती देने के लिए ही सुदूर पूर्व में संघर्ष चाहता है। विश्व की शान्ति के बारे में संयुक्तराज्य अमेरिका के रवैये से भी चीन को भारी क्षोभ हुआ। इसके अतिरिक्त जनवरी, 1960 में जापान तथा अमेरिका के बीच जो पारस्परिक सहयोग एवं सुरक्षा की सन्धि सम्पन्न हुई, उससे भी चीन के सम्बन्ध कटु बने। चीन ने हर सम्भव प्रयत्न द्वारा जापान व अमेरिका के गठबन्धन को निरस्त करने का प्रयास किया। पेकिंग रेडियो ने अमेरिका पर एशिया में साम्राज्यवादी षड्यन्त्र रचने का आरोप लगाया। 9 सितम्बर, 1962 को साम्यवादी चीन की वायुसेना ने कुओमितांग सेना के एक यू-2 सैनिक जाँच वायुयान को चीन की मुख्य भूमि पर मार गिराया। चीन सरकार ने इस घटना पर एक विस्तृत वक्तव्य प्रसारित किया और अमेरिका को इस विमान की उड़ान के लिए उत्तरदायी ठहराया। अक्टूबर, 1962 में 'क्यूबा संकट' के समय साम्यवादी चीन द्वारा संयुक्त राज्य अमेरिका के विरुद्ध भारी विष-वमन किया गया। सम्पूर्ण चीन में क्यूबा समर्थक विशाल प्रदर्शन संगठित किए गए, क्यूबा समर्थक नारे लगाए गए और क्यूबा के सेनाओं के चित्रों का प्रदर्शन किया गया। सन् 1962 में संयुक्त-राज्य अमेरिका ने चीनी आक्रमण के विरुद्ध भारत को जो प्रभावशाली सैनिक सहायता भेजी, उससे भी साम्यवादी चीन के आक्रोश में वृद्धि हुई।

सन् 1965-66 में वियतनाम-समस्या के प्रश्न पर दोनों देशों के सम्बन्धों में कटुता में और भी वृद्धि हुई। वियतनाम में शान्ति-स्थापना के हर प्रयास को चीन ने असफल बनाने की कोशिश की। चीन की प्रेरणा से ही उत्तर-वियतनाम ने सभी शान्ति-प्रस्तावों के विरुद्ध कठोर रुख अपनाते हुए केवल अपने ही प्रस्ताव को मानने पर बल दिया। जब हनोई सरकार शनैः-शनैः पेकिंग की अपेक्षा मास्को के अधिक निकट आने लगी तो यह भी चीन को बुरा लगा और उसका प्रयत्न यही रहा कि हनोई चीन के सैनिक निर्देशन में दक्षिण वियतनाम से युद्धरत रहे।

राष्ट्रपति जॉनसन के समय तक चीन और अमेरिका के सम्बन्ध निरन्तर कटु होते गए। वियतनाम युद्ध का कुप्रभाव सम्पूर्ण अमेरिकी अर्थव्यवस्था पर पड़ने लगा और डॉलर की स्थिति कमजोर होती गई। इसके साथ ही कूटनीतिक क्षेत्र में सोवियत रूस की सफलता ने विशेषकर मध्यपूर्व क्षेत्र और भारतीय उपमहाद्वीप में रूसी प्रभाव ने, अमेरिका को चिन्तित कर दिया। अतः जॉनसन के उत्तराधिकारी

राष्ट्रपति निक्सन ने ऐसे प्रयत्न आरम्भ किए जिनका उद्देश्य चीन से सामान्य सम्बन्ध स्थापित करना था ताकि एक ओर तो वियतनाम-युद्ध से अमेरिका ससम्मान पीछा छुड़ा सके और दूसरे सोवियत प्रभुत्व को सफल चुनौती देते हुए राजनीतिक क्षेत्र में पेकिंग-पिण्डी-वाशिंगटन धुरी का निर्माण कर, शक्ति-सन्तुलन अपने पक्ष में करले। अमेरिका को यह लालसा भी रही कि लगभग 70 करोड की विशाल जनसख्या वाले देश से मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करके अमेरिका व्यापक व्यापारिक और आर्थिक लाभ प्राप्त कर सकेगा। चीन की भी यह आकांक्षा थी कि सोवियत रूस के नेतृत्व को चुनौती देने के लिए वह अमेरिका जैसे सबल राष्ट्र को अपने पक्ष में करले।

सम्बन्ध-सुधार की इन प्रक्रियाओ के फलस्वरूप चीन-अमेरिका के बीच 'पिंगपोंग कूटनीति' का उदय हुआ। अमेरिका ने चीन के साथ व्यापार, यात्रा और जहाजरानी सम्बन्धी कानूनी रुकावटो मे ढील दे दी तथा अपनी टेबलटेनिस टीम को पिंगपोंग खेलने के लिए चीन भेजा। सन् 1970 मे माओ-त्से-तुग ने अमेरिकी पत्रकार एडगर स्नो के साथ बातचीत में अमेरिकी राष्ट्रपति का चीन में स्वागत करने की इच्छा प्रकट की। दोनो देशों मे सामान्य सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अनुकूल वातावरण बनाने हेतु वारसा, पेरिस आदि स्थानो पर दोनो देशो के अधिकारियों के बीच वार्ताओ का दौर आरम्भ हुआ जिनकी प्रगति के आधार पर 15 जुलाई, 1971 को बहुत ही नाटकीय ढग से राष्ट्रपति निक्सन ने मई, 1972 के पूर्व अपनी चीन-यात्रा की घोषणा की। भारत सहित विश्व के अनेक देशो ने इस घोषणा का स्वागत किया और सयुक्त राष्ट्रसघ के महासचिव ने इन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे एक नया अध्याय प्रारम्भ करने वाली घटना बतलाया। 21 फरवरी, 1972 को राष्ट्रपति निक्सन दलबल सहित पेकिंग पहुँचे। सयुक्त विज्ञप्ति के अनुसार दोनो देशो में अनेक विषयो पर मतभेदो के बावजूद सौहार्द्रपूर्ण वार्ता हुई। दोनो देशो ने ज्ञान और कला के विभिन्न क्षेत्रो मे पारस्परिक विनिमय और सम्पर्क का निश्चय किया। आर्थिक और व्यापारिक सम्बन्धो मे वृद्धि पर भी विचार-विमर्श किया गया। यह भी निश्चय किया गया कि सामान्य हित के विषयो पर विचार-विनिमय और सम्बन्धो के सामान्यीकरण के लिए विभिन्न माध्यमो से अधिकाधिक सम्पर्क स्थापित किया जाए। निक्सन की पेकिंग-यात्रा के बाद दोनो देशो के सम्बन्ध तेजी से सामान्य बनते गए। बगलादेश के प्रश्न पर सयुक्त राष्ट्रसघ मे दोनो ने आपस मे सहयोग किया। फरवरी, 1973 मे निक्सन क निजी सलाहकार हेनरी किसिंगर ने पेकिंग मे चाऊ-एन-लाई तथा अन्य नेताओ से वार्ता की। अमेरिका और चीन द्वारा एक दूसरे के यहाँ सम्पर्क कार्यालय खोलने का निश्चय किया गया। यद्यपि इन कार्यालयो को दूतावास की सज्ञा नही दी गई कथापि व्यवहार मे इनका कार्य दूतावास जैसा ही रखा गया। दोनो देशो के बीच अनेक क्षेत्रों मे सहयोग मे वृद्धि हुई। पारस्परिक व्यापार-विस्तार का एक निश्चित कार्यक्रम बनाया गया। चीन ने अमेरिका के दो बन्दी वायुयान-चालकों को मुक्तकर और अमेरिका ने ताइवान मे अपनी सेना मे पर्याप्त कटौती का सकेत देकर यह प्रदर्शित किया कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे दोनो देश अधिकाधिक निकट आने को उत्सुक हैं।

दोनो देशो के सम्बन्धों में सामान्यीकरण की प्रक्रिया तब कुछ मन्द हो गई जब चीन ने देखा कि अमेरिका रूस के साथ अपने सम्बन्ध सुधारने के प्रयत्नो मे महत्त्वपूर्ण विषयो पर वार्ता मे चीन की उपेक्षा कर रहा है। नवम्बर, 1974 में जब अमेरिकी विदेश मन्त्री डॉ. किसिंगर चीन गए तो उनके स्वागत में उदासीनता प्रकट कर चीनी नेताओं ने अपनी अप्रसन्नता प्रकट की। इस अप्रसन्नता के दो प्रमुख कारण थे—अमेरिका द्वारा ताइवान सम्बन्धी उस शघाई-समझौते को कार्यान्वित न किया जाना जो साल भर पहले दोनो के बीच हुआ था, एव अमेरिकी राष्ट्रपति फोर्ड और सोवियत नेता ब्रेझनेव द्वारा वार्ता के लिए व्लाडीवोस्तक को चुनना। व्लाडीवोस्तक कभी चीन का हिस्सा था; अत. चीन ने सोचा कि इसे चिढ़ाने के लिए इसे वार्तास्थल चुना गया है। सन् 1972 की शघाई विज्ञप्ति में किए गए वायदों में एक महत्वपूर्ण वायदा यह था कि अमेरिका ताइवान को चीन का हिस्सा मान लेगा। अप्रैल, 1975 में च्यांग-काई-शेक की मृत्यु के बाद ताइवान अब फिर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का आकर्षण केन्द्र बन गया। मार्शल च्यांग के निधन का न केवल ताइवान की आन्तरिक राजनीति पर बल्कि अन्य देशो के सम्बन्धो पर भी प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। वैसे च्यांग के उत्तराधिकारी उनके पुत्र प्रधानमन्त्री च्यांग-चुंग-कुओ ने यह स्पष्ट कर दिया कि वह अपने देश पर कभी भी साम्यवाद की छाया नहीं पड़ने देंगे और चीन की मुख्य भूमि को साम्यवाद से मुक्त करने के लिए निरन्तर सघर्ष करते रहेंगे।

निक्सन के हटने के बाद मे ही अमेरिका और चीन के सम्बन्धो में कुछ शिथिलता उत्पन्न हो गई है। जैसा कि अमेरिकी विदेश-नीति के सन्दर्भ में बताया जा चुका है, जब डॉ किसिंगर ने अक्टूबर, 1975 में और राष्ट्रपति फोर्ड ने दिसम्बर, 1975 में चीन की यात्रा की तो उनका बहुत ही फीका स्वागत हुआ।

20 जनवरी, 1977 को अमेरिका के राष्ट्रपति पद पर श्री जिम्मी कार्टर आरूढ हुए और विदेश मन्त्री पद पर उन्होने श्री साइरस वेंस को नियुक्त किया। कार्टर प्रशासन अमेरिकी विदेश नीति को एक नई दिशा देने को प्रयत्नशील है। कार्टर की यह इच्छा है कि चीन के साथ अमेरिका के सम्बन्धो में सुधार हो, किन्तु इस दिशा मे वे अपने राष्ट्रीय हितो की उपेक्षा नही कर सकते और न झुक कर कोई काम करना चाहते हैं। सितम्बर, 1977 के प्रथम सप्ताह में अमेरिका विदेश मन्त्री श्री वेंस ने चीन की यात्रा की लेकिन वार्ता में कोई उल्लेखनीय प्रगति नही हो सकी। ताईवान से अमेरिका के सम्बन्ध विच्छेद के प्रश्न पर गतिरोध बना रहा। अमेरिका को इस बात से काफी निराशा हुई कि पेकिंग में अमेरिकी विदेश मन्त्री की उपस्थिति को कोई खास महत्त्व नही दिया गया। अमेरिका के एक भूतपूर्व उपविदेश मन्त्री जॉर्ज बाल ने तो यहाँ तक चेतावनी दे दी कि ताइवान के साथ सम्बन्ध-विच्छेद करके पेकिंग के साथ राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करना राष्ट्रपति कार्टर की विदेश-नीति की भारी पराजय है। उधर कुछ अमेरिकी क्षेत्रो में यह भी कहा गया कि यदि अमेरिका चीन के साथ अच्छे सम्बन्ध स्थापित नही करता है

और ताइवान के साथ मैत्री की अपनी नीति पर अड़ा रहता है तो निश्चय ही पेकिंग और मास्को के मतभेद कम होंगे और चीन का रुझान सोवियत संघ की तरफ अधिक हो जाएगा। अमेरिका के रक्षा-विभाग की खुफिया एजेंसी ने अमेरिकी कांग्रेस को प्रस्तुत अपने एक प्रतिवेदन में बताया कि चीन की परमाणु प्रक्षेपास्त्र छोड़ने की शक्ति में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ है, लेकिन वह इस दिशा में प्रगति कर रहा है। चीन के पास इस समय जो परमाणु प्रक्षेपास्त्र हैं वे सोवियत संघ और ऑस्ट्रेलिया तक तो मार कर सकते हैं पर अमेरिका के किसी भाग तक नहीं पहुँच सकते।

राष्ट्रपति कार्टर के लिए चीन की इन शर्तों को एकाएक स्वीकार कर लेना बहुत कठिन है कि अमेरिका ताइवान से राजनयिक सम्बन्ध पूर्णतः विच्छेद कर ले, अपनी सेनाएँ वहाँ से बिल्कुल हटा ले और राष्ट्रवादी चीन के साथ अपनी सुरक्षा-सन्धि पूर्णत समाप्त कर दे। कार्टर प्रशासन यह स्पष्ट कर चुका है कि वह ऐसा कोई काम नहीं करना चाहता जिसका यह अर्थ लगाया जाए कि उसने ताइवान का परित्याग कर दिया है। कार्टर प्रशासन के अनुसार अमेरिकी विदेश मन्त्री श्री वेंस की वर्तमान पीकिंग वार्ता सम्बन्ध सुधार की दिशा में केवल एक 'प्रारम्भिक यात्रा' है। चीन के प्रति अपनी नीति को एक नया मोड़ देते हुए ही कार्टर प्रशासन ने चीन को विभिन्न प्रकार के हथियारों तथा विद्युत आणविक उपकरणों के निर्यात पर लगे प्रतिबन्धों में ढील देने का निश्चय किया है। अब तक ये हथियार सामान्यतया निर्यात नहीं किए जाते थे। अवश्य ही इन हथियारों और उपकरणों के डिजाइन तथा निर्माण-तकनीक के निर्यात पर नियन्त्रण यथावत लागू रहेगा। सितम्बर, 1977 में प्रकाशित समाचारों के अनुसार अमेरिकी रक्षा मन्त्री ने रक्षा मन्त्रालय को इस आशय के निर्देश भेज दिए हैं। अमेरिका के इस नई नीति की घोषणा ऐसे समय की गई जब चीन का एक व्यापारिक प्रतिनिधि मण्डल अमेरिकी प्रौद्योगिकी का सर्वेक्षण करने के लिए अमेरिका आया हुआ था। *न्यूयॉर्क टाइम्स* की टिप्पणी थी कि नई अमेरिकी नीति का सर्वाधिक लाभ चीन को ही उपलब्ध होगा।

चीन और सोवियत संघ

चीन और सोवियत संघ दो महान् साम्यवादी राष्ट्र हैं। इनके पारस्परिक सम्बन्ध मैत्री और शत्रुता, सहयोग और स्पर्द्धा, भ्रातृत्व और वैमनस्य की कहानी हैं। 1 अक्तूबर, 1949 को साम्यवादी चीन की स्थापना के तुरन्त बाद रूसी-चीनी मैत्री तेजी से विकसित होती गई, लेकिन कुछ ही वर्ष बाद न केवल सैद्धान्तिक मतभेद उभरे बल्कि सीमा-विवाद भी उठ खड़े हुए और सशस्त्र सीमा-संघर्ष भी चालू हो गए। आज स्थिति यह है कि एक ओर तो चीन और अमेरिका, जो कभी परस्पर शत्रु थे, सोवियत संघ के विरुद्ध हाथ मिला रहे हैं, तो दूसरी ओर अमेरिका और सोवियत संघ परस्पर सहयोग द्वारा चीन की विस्तारवादी आकांक्षाओं पर अंकुश लगाने को सचेष्ट हैं। रूस-चीन-अमेरिका का यह त्रिकोणात्मक संघर्ष विश्व-राजनीति में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला रहा है।

रूस-चीन में सहयोग का काल

चीन में जनवादी गणतन्त्र की स्थापना होते ही सोवियत रूस ने उसे अपनी मान्यता प्रदान कर दी और माओ-त्से-तुंग ने फरवरी, 1950 में रूस की यात्रा के दौरान 24 फरवरी को दोनों के बीच तीन सन्धियाँ सम्पन्न की–(1) 30 वर्ष के लिए मैत्री सन्धि, (2) च्यांग चुन रेल्वे पोर्ट आर्थर तथा दाइरन से सम्बद्ध सन्धि, एवं (3) ऋण सम्बन्धी सन्धि। प्रथम सन्धि के अन्तर्गत जापानी अथवा उसके सहयोग से किसी भी विदेशी आक्रमण की स्थिति में दोनों देशों द्वारा एक दूसरे की सहायता करने तथा पारस्परिक हितों को ठेस पहुँचाने वाली किसी भी सन्धि में सम्मिलित न होने का निश्चय किया गया। जापान के साथ शान्ति सन्धि के लिए प्रयास करने, समान हितों के अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर आपसी विचार विमर्श करते रहने तथा पारस्परिक घनिष्ठ आर्थिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करने पर भी सहमति प्रकट की गई। द्वितीय सन्धि द्वारा सोवियत संघ ने च्यांग चुन-रेल्वे को जापानी शान्ति सन्धि के बाद अथवा अधिक से अधिक सन् 1952 के अन्त तक चीन को हस्तान्तरित करने का वचन दिया। यह भी निश्चित हुआ कि सन् 1952 तक सोवियत संघ की सेनाएँ पोर्ट आर्थर से वापस बुला ली जायेंगी। तृतीय संघ के माध्यम से सोवियत संघ ने चीन को 5 वर्ष की अवधि के लिए 3 करोड़ डॉलर का ऋण देना स्वीकार किया। इस ऋण को 5 किश्तों में दिया जाना तथा 31 दिसम्बर 1954 के पश्चात् 10 किश्तों में लौटाया जाना तय हुआ।

सन्धियाँ सम्पन्न होने के उपरान्त कुछ वर्षों तक रूस-चीन मैत्री विकसित होती रही। सितम्बर, 1952 में च्यांग चुन-रेल्वे चीन को लौटा दी गई, परन्तु पोर्ट आर्थर के बारे में यह निश्चय हुआ कि वह तब तक नहीं लौटाया जायगा जब तक कि जापान की रूस और चीन के साथ शान्ति-सन्धि नहीं हो जाती। बाद में सन् 1954 में यह तय किया गया कि पोर्ट आर्थर सन् 1955 में चीन को हस्तान्तरित कर दिया जाएगा। मई, 1955 में इसे चीन को हस्तान्तरित कर दिया गया। इस अवधि में सोवियत संघ द्वारा चीन को दी जाने वाली वित्तीय, वाणिज्य और प्राविधिक सहायता में भी निरन्तर वृद्धि होती गई। चीन का लगभग 70 प्रतिशत व्यापार रूस के साथ होने लगा जिसमें सन् 1950 के बाद निरन्तर वृद्धि होती चली गई। सन् 1954 में रूस ने चीन को अणुशक्ति उत्पादन में भी सहयोग देना स्वीकार किया, परन्तु साथ ही यह निर्णय भी हुआ कि चीन द्वारा अणु परीक्षण रूस की पूर्व अनुमति के बिना नहीं किया जा सकेगा। इसके अतिरिक्त चीनी-रूसी मैत्री संगठन स्थापित किए गए।

सोवियत संघ ने चीन को संयुक्त राष्ट्रसंघ में स्थान दिलाने के लिए निरन्तर प्रयास किया। सन् 1954-55 में दोनों ही देशों ने पश्चिमी शक्तियों, विशेषकर अमेरिका निर्मित प्रादेशिक सैनिक संगठनों की कटु आलोचना की। सन् 1956-57 में दोनों ने मिस्र पर ब्रिटेन व फ्रांस के आक्रमण की निन्दा की। हंगरी में जब दक्षिणपंथी विद्रोह हुए तब भी दोनों देशों में नियमित रूप से विचार-विमर्श होते रहे। सन् 1958 में टीटो के संशोधनवाद की कटु आलोचना भी दोनों देशों द्वारा की

गई। सोवियत संघ की भाँति ही अन्य समाजवादी देशो के साथ चीन ने मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध कायम रखे।

रूस-चीन मे मतभेद और तीव्र वैमनस्य का काल

रूस और चीन के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों मे तनाव का बीजारोपण सन् 1954 मे ही प्रकट हो गया। सोवियत-साम्यवादी दल की 23वी कांग्रेस मे श्री ख्रुश्चेव ने युद्ध और हिंसात्मक क्रान्ति की अनिवार्यता से इन्कार करते हुए विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया और संसदीय तरीके से समाजवाद की स्थापना का समर्थन किया। श्री ख्रुश्चेव की ये मान्यताएँ चीनी नेताओ के गले नही उतरी। चीनी साम्यवादी दल ने ख्रुश्चेव पर संशोधनवादी होने का आरोप लगाया और आलोचना-प्रत्यालोचना की खुली शुरुआत हुई। सन् 1956 मे और तत्पश्चात् 1961 मे रूसी साम्यवादी दल की कांग्रेस मे ख्रुश्चेव द्वारा स्टालिन की निन्दा ने दोनों देशों मे मतभेद और सैद्धान्तिक सघर्ष उग्र कर दिए। ख्रुश्चेव के स्टालिन विरोधी अभियान को विस्टालिनीकरण की संज्ञा दी गई। जब मास्को युगोस्लाविया को साम्यवादी भ्रातृत्व मे वापस लाने को तत्पर हुआ तो भी चीन को बहुत बुरा लगा। सितम्बर, 1959 मे ख्रुश्चेव की अमेरिका-यात्रा चीन ने पसद नही की और इसलिए चीन की यात्रा के समय सोवियत नेता का कोई विशेष स्वागत नही किया गया। सन् 1959 में अपनी चीन यात्रा के समय ख्रुश्चेव ने पुन यह बात दोहराई कि साम्यवादी चाहे कितने ही सशक्त हो जाएँ, उन्हे पूँजीवादी जगत के विरुद्ध शक्ति के प्रयोग से बचे रहना चाहिए। चीनी मार्क्सवादियो को ख्रुश्चेव का उपदेश 'प्रतिक्रियावादी शक्तियों की प्रगतिवादी शक्तियो पर विजय' जैसा लगा। सन् 1959-60 मे भारत-चीन सीमा-विवाद पर ख्रुश्चेव की यह टिप्पणी भी चीनी नेताओ को अखरी कि दोनो देश अपना सीमा-विवाद शीघ्र ही शान्तिपूर्ण ढग से निपटा लें।

दोनो देशो के बीच सैद्धान्तिक मतभेद उग्र होते गए। जून, 1960 मे बुखारेस्ट मे रूमानिया कर्मचारी दल के तृतीय सम्मेलन मे ख्रुश्चेव ने पुनः कहा कि लेनिन का 'पूँजीवाद के विरुद्ध युद्ध की अनिवार्यता का सिद्धान्त' अब लागू नही होता। दूसरी ओर चीनी प्रतिनिधि-मण्डल के नेता ने घोषणा की कि जब तक साम्राज्यवाद विद्यमान है, युद्धो का खतरा बना रहेगा। जुलाई, 1960 मे रूस द्वारा चीन की विकास-योजनाओ मे कार्यरत सोवियत वैज्ञानिको को वापस बुला लिया गया चीन को सामग्री, मशीनें आदि भेजना भी बन्द अथवा सीमित कर दिया गया। सन् 1961 मे प्रकाशित सोवियत साम्यवादी दल के कार्यक्रम मे 20 वर्ष की अवधि मे रूस मे साम्यवाद की स्थापना का नारा बुलन्द किया गया। इस कार्यक्रम मे साम्यवाद का अर्थ वस्तुओ की प्रचुरता बतलाया गया। चीनी साम्यवादी दल के लिए साम्यवाद की यह व्याख्या अत्यन्त आपत्तिपूर्ण थी। सन् 1962 मे रूस द्वारा भारत को मिग विमान देने और उन्हें बनाने के कारखानो मे सहायता देने [illegible]
चीनी नेताओ को खतरनाक लगा। सन् 1962 में ही क्यूबा-काण्ड
ने कहा कि रूस का पहला दोष था 'दुस्साहस' और दूसरा दो

अमेरिका के आगे 'घृणित आत्म-समर्पण' करना। सन् 1962 में भारत पर चीनी आक्रमण के सम्बन्ध में अपनायी गई रूसी नीति ने भी चीन को अप्रसन्न करने में आग में घी का काम किया।

जुलाई, 1963 में मास्को में रूसी और चीनी साम्यवादी दलों की वार्ता न केवल असफल हुई बल्कि दोनों देशों ने एक दूसरे की कटु आलोचना की। रूस ने पश्चिम के साथ सहअस्तित्व के विचार का समर्थन किया जबकि चीन ने कहा कि साम्राज्यवाद के पूर्ण विनाश के लिए युद्ध अत्याज्य है और तृतीय महायुद्ध अमेरिका तथा रूस को ही समाप्त करेगा, चीन को नहीं। 25 जुलाई, चीन ने 1963 की अणु-परीक्षण निरोध सन्धि का बहिष्कार किया तथा रूस पर आरोप लगाया कि वह अमेरिका के साथ मिलकर आणविक शस्त्रों के क्षेत्र में अपना एकाधिकार कायम करना चाहता है।

अक्तूबर, 1964 में श्री ख्रुश्चेव के हटने पर पेकिंग में खुशियाँ मनाई गई, लेकिन जब रूस के नए नेतृत्व ने भी पश्चिमी जगत के साथ सह-अस्तित्व की नीति में विश्वास प्रकट किया तो चीनियों को घोर निराशा हुई। रूसी बोल्शेविक क्रान्ति के 47वें वार्षिक उत्सव में चीनी प्रधानमन्त्री चाऊ-एन-लाई की कूटनीतिक वार्ता भी असफल रही क्योंकि रूस ने अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन की एकता के शान्तिकारी प्रयासों में चीन का साथ देने से इन्कार कर शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धान्त में आस्था प्रकट की।

सैद्धान्तिक संघर्ष के अतिरिक्त दोनों देशों के बीच सीमा-विवाद भी उभरे जिन्होंने सशस्त्र सीमा संघर्षों का रूप ले लिया।

रूस-चीन विवाद के मुख्य कारण

1. दोनों देशों के बीच सैद्धान्तिक मतभेद हैं। स्टालिनोत्तर युग की सोवियत नीति विश्व-क्रान्ति और युद्ध की अनिवार्यता में विश्वास नहीं करती, जबकि लाल चीन क्रान्ति, हिंसा और युद्ध द्वारा पूँजीवादी जगत के विनाश में विश्वास करता है। रूसी सरकार के सरकारी अन्तर्राष्ट्रीय पत्र 'इन्टरनेशनल अफेयर्स' के दिसम्बर 1971 के अंक में प्रकाशित एक लेख में रूसी लेखक जी एपलिन ने लिखा था कि—'माओ की विदेश नीति लड़ाकू, खतरनाक तथा रक्तरंजित है जिससे चीनी लोकतन्त्र को भारी हानि हुई है। यह न तो मार्क्सवादी है और न ही लेनिनवादी।"

2. नेतृत्व का नशा दोनों ही देशों पर छाया हुआ है। रूस द्वारा साम्यवादी जगत का एक छत्र नेतृत्व सहन करने को चीन तैयार नहीं है। एशिया में रूस के प्रभाव-विस्तार को चीन सन्देह की दृष्टि से देखता है।

3. भूमध्यसागर रूस और चीन के तनाव का एक केन्द्र है। रूस और अमेरिका के जहाज तो भूमध्यसागर में घूमते ही हैं, चीन की पनडुब्बियों ने भी इस सागर में घूमना प्रारम्भ कर दिया है। भूमध्यसागर में चीन की कुछ सैनिक और राजनीतिक आकांक्षाएँ हैं। चीन चाहता है कि—(i) भूमध्यसागरीय देशों पर उसकी बात का वजन रहे, (ii) रूसी मसूबों को हर क्षेत्र में चुनौती दी जाए या उसके मार्ग

मे कुछ न कुछ बाधा उत्पन्न की जाए, (iii) अल्बानिया जैसे जिन साम्यवादी देशों को चीन ने अपने प्रभाव में ले लिया है उन पर और रौब आतंकित रखा जाए, (iv) प्रक्षेपास्त्रों से सज्जित जिन पनडुब्बियो का विकास चीन कर रहा है उनकी सैनिक गतिविधियो का क्षेत्र पहले से ही तयार कर लिया जाए ताकि रूस और अमेरिका के मुख्य क्षेत्र चीन की मार में आ सकें।

4. चीन का सन् 1969 से पहले तक नारा था कि विश्व के दो भाग हैं—समाजवादी और असमाजवादी। लेकिन सन् 1969 मे चीनी साम्यवादी दल ने जो साम्यवादी व्याख्या की उसने सोवियत रूस को भी असमाजवादी अथवा साम्राज्यवादी राष्ट्रो की श्रेणी मे ला दिया।

5. एक परमाणु शक्ति के रूप मे चीन के विकास को न केवल रूस बल्कि अन्य देश भी एक बड़े खतरे के रूप मे देखते हैं। प्रारम्भ मे सोवियत सघ ने चीन को परमाणुविक जानकारी दी, लेकिन ज्यों-ज्यो चीन के इरादे स्पष्ट होते गए रूस ने इस सम्बन्ध मे आधुनिकतम प्रविधि के बारे में गोपनीयता बरती। सन् 1959 मे 1957 के उस समझौते को भंग कर दिया गया जिसमे रूस द्वारा चीन को परमाणु बम की प्रक्रिया का ज्ञान कराने का प्रावधान था। परमाणु अस्त्रो के प्रश्न पर चीन और रूस के मतभेद बढते ही गए।

6. विवाद की एक बडी जड मगोलिया है। चीन अपनी बढ़ती हुई आबादी को बसाने के लिए प्रादेशिक विस्तारवाद के मार्ग का अनुसरण कर रहा है। रूसी मगोलिया पर, जिसे 'स्वतन्त्र मगोलिया प्रजातन्त्र' कहते हैं, चीन की आँख है। मंगोलिया का पूर्वी भाग चीन के अधिकार मे है। चीन चाहता है कि दोनो मगोलिया एक होकर चीन का प्रदेश बन जाएँ। चीन का आरोप है कि रूस ने 'स्वतन्त्र मंगोलिया' को हडप लिया है। मगोलिया के कारण दोनों देशो की सीमाओं पर भारी सैनिक जमाव रहता है और कितनी ही बार सैनिक झड़पें भी हो चुकी हैं जिनमे पराजित होकर चीनियो को पीछे हटना पडा।

7. अमेरिका भी रूस और चीन के मतभेदो को उलझाने के लिए उत्तरदायी है। जब सन् 1969 के बाद रूस-चीन सीमा पर झड़पें हुई तो अमेरिकी समाचार-पत्रो मे प्रचार किया गया कि सन् 1969 मे रूसी सैनिक अधिकारी इस बात पर विचार कर रहे थे कि चीन पर आकस्मिक हमला किया जाए ताकि उसकी परमाणु शक्ति समाप्त हो जाए। वास्तव मे अमेरिका यह तो नही चाहेगा कि रूस और चीन के बीच बडे पैमाने पर परमाणु युद्ध हो क्योंकि इसका प्रभाव रूस और चीन के बाहर दूर-दूर तक पडेगा। इसके अतिरिक्त चीन की समाप्ति से रूसी शक्ति इतनी बढ जाएगी कि विश्व मे शक्ति सन्तुलन बिगड जाएगा। मगर अमेरिका यह अवश्य चाहता है कि दोनो देशों के बीच इस प्रकार का तनाव बना रहे जिससे अमेरिका लाभान्वित हो।

8. चीन दुनिया के हर देश मे रूस विरोधी प्रचार कर रहा है। यूरोपीय कम्युनिस्ट देशों मे उसने रूस के प्रति आग भड़काने की हर सम्भव चेष्टा की है।

अल्बानिया को रूस से विमुख करने में चीन को सफलता भी प्राप्त हुई है। रूसी नेतृत्व चीन की इन कार्यवाहियों से परेशान है और अपने प्रभुत्व की रक्षा के लिए व्यग्र है।

9. चीन को विश्वास होने लगा है कि पूर्वी एशिया में अमेरिका की सैनिक उपस्थिति अस्थायी है जबकि जापान निरन्तर शक्तिशाली होकर पूर्वी एशिया में स्थायी रूप से छा जाने को प्रयत्नशील है, अतः अमेरिका ही सन्तुलन कायम रखकर पूर्वी एशिया सोवियत संघ की उपस्थिति को असम्भव बनाकर चीन की सैनिक उपस्थिति की सम्भावनाओं को सुदृढ़ कर सकता है। चीन और अमेरिका दोनों इस बात पर सहमत हैं कि दक्षिण-पूर्वी एशिया से अमेरिका के हटने के बाद रिक्त स्थान की पूर्ति सोवियत संघ द्वारा नहीं होनी चाहिए।

10. पूर्वी और पश्चिमी यूरोप के सम्बन्धों में सुधार रूस को अभीष्ट है, लेकिन वह चीन और अमेरिकी सम्बन्धों में सुधार को पसंद नहीं करता।

11. रूस का विचार है कि युद्ध अवश्यम्भावी नहीं है और विध्वंसक आणविक अस्त्रों के निर्माण के कारण यह वाञ्छनीय भी नहीं है, जबकि चीन का मत है कि समाजवाद की तथाकथित सैनिक सर्वोच्चता के कारण सशस्त्र-नीति व्यावहारिक है। चीनी नेतृत्व का यह विश्वास था कि साम्राज्यवादियों को झुकने के लिए विवश किया जा सकता है और यदि ऐसा न हो तो युद्ध द्वारा उनके भाग्य का निर्णय किया जाना चाहिए चाहे उसमें एक तिहाई या आधी मानव-सम्यता ही नष्ट क्यों न हो जाय। सितम्बर 1976 में माओ की मृत्यु के बाद भी चीन के दृष्टिकोण में कोई विशेष अन्तर तक नहीं आया है तथापि ऐसा आभास अवश्य होने लगा है कि नया नेतृत्व संघर्ष के बजाय सहयोग की राजनीति पर चलने का प्रयत्न करेगा।

12. रूसियों का अपने समाज के सम्बन्ध में तर्क है कि वर्ग-संघर्ष की विजय पूर्ण हो चुकी है और सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को सम्पूर्ण जनता के राज्य का रूप दे दिया गया है। चीनी इसको मात्र कुतर्क कहकर अस्वीकार करते हैं। उनके विचार से यह सोवियत संघ के अन्तर्गत प्रचुरता से बढ़े नौकरशाही तत्त्वों पर आवरण डालने की एक योजना है जो सर्वहारा तानाशाही एवं वर्ग-संघर्ष सम्बन्धी लेनिनवादी विचारधारा के लिए खतरा है।

13. चीनी सोवियत संघ से प्राप्त आर्थिक सहायता से कभी भी सन्तुष्ट नहीं रहे। कोरिया युद्ध के लिए प्राप्त ऋण के दायित्व ने उन्हें और भी अप्रसन्न कर दिया। जब रूस ने चीन की सहायता बन्द कर दी तो चीन ने इसका अर्थ यह लगाया कि रूस उस पर साम्यवादी दल से वार्त्ता के लिए आर्थिक दबाव डालना चाहता है। रूसी नेतृत्व को यह विश्वास हो गया कि चीन को आर्थिक सहायता देने का वही अवाञ्छनीय परिणाम होगा जो सैनिक सहायता का हुआ है।

14. अल्बानिया का प्रश्न विदेश-नीति का विषय होते हुए भी दल का प्रश्न बन गया। प्रश्न था कि क्या सोवियत साम्यवादी दल को यह निश्चय करने

का अधिकार है कि कौनसा शासक दल साम्यवादी गुट में है और वास्तविक समाजवादी देश कौनसा है ? सोवियत साम्यवादी दल ने अल्बानिया को एकपक्षीय कार्यवाही द्वारा गुट से निकाल दिया क्योंकि उसने मास्को की अवज्ञा की थी। चीनियों ने रूस की इस कार्यवाही की भर्त्सना की और अल्बानिया चीनी गुट में शामिल हो गया।

15. सोवियत संघ के विरुद्ध चीन के अविश्वास का एक बड़ा ऐतिहासिक आधार भी है। राजनीतिक विचारकों और इतिहासकारों का तर्क है कि अभी तक इतिहास में चीन की ओर से सोवियत संघ पर कभी कोई आक्रमण नहीं हुआ जबकि इसके विपरीत क्रान्तिपूर्व रूसी शासकों ने चीन पर कई बार आक्रमण कर उसके भूभाग को हड़प लिया था। वास्तव में सोवियत संघ मूलतः यूरोपीय देश है और एशिया में उसका इतना विस्तार क्रान्ति पूर्व रूसी शासकों की साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों का ही फल है।

इस प्रकार सोवियत चीन वैमनस्य साधार और तथ्यपूर्ण है। सीमा पर दोनों ओर सैनिक जमाव है और जब तक झड़पें हो जाती हैं। विगत कुछ वर्षों से चीनी नेता आरोप लगाते आ रहे हैं कि सोवियत संघ ने उनकी सीमा पर भारी सैनिक जमाव कर रखा है जिससे उसकी प्रभुसत्ता एवं अखण्डता को काफी खतरा उत्पन्न हो गया है। इस खतरे का मुकाबला करने के लिए चीन तेजी से सामरिक तैयारियाँ कर रहा है। पर यह कहना कठिन है कि सोवियत रूस की ओर से यह तथाकथित खतरा वास्तविक है या काल्पनिक। हाल ही के वर्षों का इतिहास चीनी विस्तारवादी मनोवृत्ति की पुष्टि करता है। चीन ने जिस प्रकार मित्र देश भारत की भूमि हड़पी है, पाकिस्तान द्वारा अनधिकृत रूप से दी गई कश्मीर भूमि को हड़पा है, मित्र देशों के साथ घोर विश्वासघात किया है, उसे देखते हुए चीन के पक्ष में कुछ कहना वस्तुतः कठिन है। जो भी हो, सोवियत चीन संघर्ष आज राजनीतिक और राजनयिक पर्यवेक्षकों के लिए विचारणीय विषय बना हुआ है। जहाँ तक सीमा पर सैनिक जमाव का प्रश्न है, यह एक स्थापित तथ्य है। राजनीतिक समीक्षाकार वृजेन्द्र राकेश के कुछ समय पूर्व हिन्दुस्तान में प्रकाशित एक लेख में कहा गया था कि—

"प्राप्त सूचनाओं के अनुसार चीन-रूसी सीमाओं पर लगभग 53 सोवियत डिवीजन तैनात हैं। इनमें से 21 डिवीजन सुदूर-पूर्व में, 5 मंगोलिया में और 27 शिंघाई, सिंकियांग तथा तिब्बत क्षेत्र में नियत हैं। इस प्रकार सोवियत संघ की लगभग एक-तिहाई थल सेना चीनी सीमा पर जमी हुई है। इसके अलावा, व्लाडीवोस्टक पर सोवियत नौ-सेना का भारी जमाव है और इसके पास ही सोवियत आणविक शक्ति केन्द्र स्थित है। कहा जाता है कि सोवियत प्रक्षेपास्त्रों का रुख चीन के प्रमुख केन्द्रों की ओर है। इसके जवाब में चीन ने भी लगभग 50-60 डिवीजन सेना सीमावर्ती क्षेत्रों में तैनात कर रखी है। 28 डिवीजन शेन्यांग व पेकिंग सैनिक सम्भागों में मंचूरिया के निकट, 7 डिवीजन सिंकियांग में और शायद 11 डिवीजन

लचाड सैनिक सम्भाग में तैनात हैं। इसके अलावा चीन ने अनेक प्रक्षेपास्त्र केन्द्र भी स्थापित किए हैं जहाँ से प्रमुख सोवियत नगरों व सैनिक अड्डों पर प्रहार किए जा सकते हैं।"

इन सैनिक कार्यवाहियों के अलावा दोनों ही पक्ष अपनी-अपनी सुरक्षा के हित में विभिन्न राजनीतिक और राजनयिक गतिविधियों में लिप्त हैं। उदाहरणार्थ, रूस ने ईराक, अफगानिस्तान और भारत से मैत्री सन्धि कर उन्हें अपनी चीन-विरोधी व्यूह रचना में शामिल कर लिया है, तो चीन ने पाकिस्तान को भारत के विरुद्ध तैयार कर रखा है। रूस ने एशियाई देशों के लिए एक सामूहिक सुरक्षा-योजना भी तैयार की है, पर इस दिशा में उसे अभी तक उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली है। कूटनीतिक मोर्चे पर रूस और चीन दोनों ही अमेरिका को अपनी ओर करने का प्रयास कर रहे हैं तथा तनाव के क्षेत्र कम कर रहे हैं।

वस्तुतः रूस और चीन के बीच संघर्ष के मूल कारण सैद्धान्तिक उतने नहीं हैं जितने कि राजनीतिक और सामरिक। साम्यवादी जगत का नेतृत्व कौन करे—यह झगड़े की जड़ है।

रूस-चीन के समझौते-प्रयास

अपने तीव्र मतभेदों के बावजूद रूस और चीन दोनों ही समझते हैं कि वे एक दूसरे के शत्रु नहीं बने रह सकते, अन्यथा अमेरिका की 'बन्दर बाँट' नीति सफल हो जाएगी। पश्चिमी जगत्, विशेष कर अमेरिका के निहित स्वार्थों और वास्तविक इरादों से दोनों ही देश अच्छी तरह परिचित हैं, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति। अपने-अपने वर्चस्व हेतु तथा शक्ति-सन्तुलन को अपने पक्ष में करने के लिए दोनों ही अमेरिका की मैत्री के आकांक्षी हैं। वस्तुस्थिति को समझ कर ही रूस और चीन समय-समय पर अपने मतभेदों को सुलझाने के लिए बातचीत करते रहे हैं तथा सन् 1970 से दोनों के बीच सैनिक संघर्ष की सम्भावना बहुत-कुछ कम हुई है। सन् 1970 की 13 जनवरी को दोनों देशों ने सीमा-समस्या के समर्थन के लिए आपस में जो वार्ता की उससे उनके बीच मतभेद कुछ कम हुए हैं। अक्तूबर, 1970 में हुई सोवियत-चीनी व्यापार-सन्धि दोनों देशों के बीच सम्बन्ध सुधार की दिशा में एक कदम था जिसके अनुसार सोवियत रूस ने चीन से अपने व्यापार में सन् 1971-72 में 200 प्रतिशत वृद्धि कर देने का आश्वासन दिया। सितम्बर, 1973 में यद्यपि चाउ-एन-लाई ने यह आरोप लगाया कि 'रूस चीन के साथ स्थिति सामान्य बनाना नहीं चाहता, चीन की सीमा पर उसकी दृष्टि है। रूस और अमेरिका को संसार की सम्पत्ति परस्पर बाँट लेने का कोई अधिकार नहीं है। वारसा-सन्धि संगठन का स्वरूप आक्रामक है," तथापि यह वाक्-युद्ध पहले के समान कठोर रूप लिए हुए नहीं था। वाक्-युद्ध दोनों देशों के बीच अब भी चल रहा है, किन्तु पारस्परिक मतभेद दूर करने के लिए भी दोनों ही उत्सुक हैं। राजनीति की दुनिया में न कोई स्थायी मित्र हो सकते हैं और न कोई स्थायी शत्रु। भारत रूसी-मैत्री चीन को खटकती है जबकि वास्तविकता यह है कि भारत-रूस-मैत्री न तो चीन और भारत के और न रूस और

चीन के सम्बन्धों के सामान्यीकरण में बाधक है। चीन को यह बात बहुत बुरी तरह खटकती है कि रूस भारतीय क्षेत्र पर चीनी अधिकार का पक्ष नहीं लेता। 30 अक्तूबर, 1975 को सोवियत संघ के चीनी मामलों के विशेषज्ञ श्री एन. निमेतोव ने कहा था कि पेकिंग धोखाधड़ी का सहारा लेकर भारत पर अपने सीमा सम्बन्धी विचार थोपने का प्रयत्न कर रहा है। चीनी विस्तारवाद पर लिखे गए अपने लेख में उन्होंने कहा है कि चीन ने भारत के 14 हजार वर्ग किलोमीटर क्षेत्र पर आक्रमण कर उस पर कब्जा कर रखा है। तथा अभी तक वहाँ जमा हुआ है। प्रेक्षकों के मतानुसार संघ ने उक्त लेख द्वारा पहली बार भारत के इस वैध दावे को स्वीकार किया है कि चीन ने भारतीय क्षेत्र पर कब्जा कर रखा है। अब जबकि अप्रेल, 1976 से भारत और चीन के बीच राजनयिक सम्बन्ध पुनः स्थापित हो गए हैं, यह आशा की जानी चाहिए कि दोनों देशों के बीच के विवाद सम्मानजनक ढंग से शीघ्र ही निपटा लिए जाएँगे। भारत का दृष्टिकोण सदैव रचनात्मक रहा है, आवश्यकता केवल इस बात की है कि चीन भी वैसा ही दृष्टिकोण अपनाए।

माओ की मृत्यु के बाद रूस-चीन तनाव में कमी आने की सम्भावना

9 सितम्बर, 1976 को माओ-त्से-तुंग की मृत्यु के उपरान्त राजनीतिक क्षेत्रों में यह घोषणा व्याप्त होने लगी है कि चीनी नेतृत्व अपने अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण में उदार बनेगा और सोवियत संघ के साथ सम्बन्ध सुधार के लिए सचेष्ट होगा। माओ के उत्तराधिकारी के रूप में श्री हुआ केओ फेंग को चीनी कम्युनिस्ट पार्टी और सैनिक परिषद् का अध्यक्ष नियुक्त किया गया।

राजनीतिक क्षेत्रों में कहा जाता है कि श्री हुआ यद्यपि वर्ग-संघर्ष के माओवादी ढाँचे के अन्तर्गत ही चीन के समाजवादी पुनर्निर्माण का कार्य करेंगे, तो भी उनकी नीतियाँ नरम और उदारवादी होंगी। सोवियत संघ और चीन में मूलतः साम्यवादी जगत् के नेतृत्व के सम्बन्ध में जो दरार पैदा हो गई है वह भी मिट जाएगी। 27 अक्तूबर, 1976 को प्रकाशित समाचारों के अनुसार सोवियत संघ के साम्यवादी दल के महासचिव ने दल की केन्द्रीय समिति की बैठक में कहा था कि सोवियत संघ चीन के साथ सह-अस्तित्व के आधार पर सामान्य सम्बन्ध स्थापित करने को तैयार है। चीनी नेतृत्व ने भी सोवियत संघ की बोल्शेविक क्रान्ति की 59वीं वर्षगाँठ के अवसर पर प्रेषित सन्देशों में सोवियत संघ के साथ सम्बन्ध सुधारने के लिए उत्सुक होने का संकेत दिया है। चीन की ओर से यह भी कहा गया है कि सिद्धान्त के प्रश्नों पर दोनों देशों के विवाद से राज्यीय और प्रशासनिक स्तर पर उनके सम्बन्धों में कोई बाधा नहीं आनी चाहिए। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन सन्देशों में दोनों देशों के बीच चल रहे सीमा विवाद का कोई सीधा उल्लेख नहीं किया गया जबकि सन् 1975 में इसी तरह के सन्देश में सीमा सम्बन्धी प्रश्न पर सक्रिय कदम उठाने पर जोर दिया गया था।

यदि चीन नरम और उदार बनता है तो आन्तरिक क्षेत्र में सुधार के साथ-साथ वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को भी निश्चित रूप से मधुर बनाने का प्रयास करेगा।

चीन और भारत

भारत और चीन के सम्बन्धों पर विस्तार से वस्तुतः भारतीय विदेश-नीति के पिछले अध्याय में डाला जा चुका है। लगभग सन् 1960 तक दोनों देशों के सम्बन्ध सामान्य थे, यद्यपि सीमा विवाद अधिक उग्र हुआ और अक्तूबर 1962 में भारत पर चीन के विशाल सुनियोजित आक्रमण के उपरान्त अब तक दोनों देशों के सम्बन्ध कटुतापूर्ण ही हैं। चीन की परराष्ट्र नीति का एक मुख्य तत्व यही है कि वह उन सभी राष्ट्रों के माध्यम से भारत की नाकाबन्दी करे जो या तो उसकी नीतियों के समर्थक हैं या प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से उससे सहायता चाहते हैं। भारतीय उपमहाद्वीप में पाकिस्तान चीन का बहुत अच्छा साथी बन गया है और चीनी नेता भारत के विरोध में पाकिस्तान को मोहरा बनाने का कोई अवसर नहीं चूकते हैं। चीन के जहाज हिन्दमहासागर की जल-सीमा का अतिक्रमण करते देखे गए हैं। यह स्थिति भारत के लिए चिन्ताजनक है। सोवियत-भारत-मैत्री सन्धि के बाद तो माओ-त्से-तुंग का यह पूर्ण प्रयास रहा कि पेकिंग-पिण्डी-वाशिंगटन धुरी का सुदृढ़ निर्माण हो जाए।

सन् 1974 की भारत सरकार की वार्षिक रिपोर्ट में कहा गया था कि चीन-भारत सम्बन्धों में कोई सुधार नहीं हुआ। भारतीय प्रयत्नों का चीन की ओर से अनुकूल उत्तर न मिलना ही निराशा का कारण है। चीन भारत के आन्तरिक मामलों में भी हस्तक्षेप करने से नहीं चूकता। इसे बहुत खेदजनक बात माना जाएगा कि सिक्किम के भारत में विलय पर चीन और पाकिस्तान ने तूफान मचा दिया। 27 जून 1975 को संयुक्त राष्ट्रसंघ मुख्यालय में एशियायी गुट की अनौपचारिक बैठक में भी इस बात पर भारत और चीन के प्रतिनिधियों में झड़प हो गई। चीनी प्रतिनिधि चाऊ ने कहा कि उनकी सरकार पाकिस्तान का समर्थन करेगी और भारत का विरोध करेगी। उसने आरोप लगाया कि भारत एक विस्तारवादी देश है क्योंकि उसने सिक्किम को अपने संघ में मिला लिया है। भारत के स्थायी प्रतिनिधि श्री हाशमी का उत्तर था कि यह आरोप सर्वथा असत्य है।[1]

चीन द्वारा भारत विरोध के मूल उद्देश्यों की ओर 11 मई, 1975 के दिनमान में प्रकाशित लेख के अधोंकित उद्धरणों से अच्छा प्रकाश पड़ता है—

'चीनी राजनेता यह मानते हैं कि भारत तेजी से हथियारों का उत्पादन कर अपनी सैनिक तैयारी में वृद्धि कर रहा है। सन् 1971 में भारत-पाक युद्ध में भारत की विजय से चीन सशंकित हुआ था। यह नहीं कि चीन यह सोचता था कि भारत चीन पर आक्रमण कर देगा। चीनी नेता अच्छी तरह जानते हैं कि भारत का न तो कोई ऐसा इरादा है और न ही मौजूदा अर्थ-व्यवस्था में भारत इस तरह की किसी लड़ाई का जोखिम उठा सकता है। चीन का वास्तविक उद्देश्य भारत के शत्रुओं को मदद देना और उनका मनोबल ऊँचा रखना है। जब भी चीन भारत के विरुद्ध कुछ कहता है तब उसके लाउडस्पीकर का मुख पाकिस्तान की ओर होता है। वह

1. हिन्दुस्तान, 28 जून 1975, पृष्ठ 1

पाकिस्तानी जनता और सरकार को यह विश्वास दिलाना चाहता है कि भारत का इरादा पाकिस्तान को समाप्त करने का है।"

"इसके अलावा चीन की नाराजगी भारत-रूस मैत्री से भी है, बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि चीन भारत-रूस मैत्री को अपने लिए मुख्य चुनौती मानता है। अब इसमें कोई सन्देह नहीं रह गया है कि दक्षिणी एशिया में अमेरिका का किला ढहने के बाद सोवियत रूस के प्रभाव-क्षेत्र में विस्तार होगा। सोवियत रूस पहले से ही एशियाई देशों के लिए एक सामूहिक सुरक्षा पद्धति की वकालत करता रहा है। चीन इस बात को समझता है कि सोवियत रूस भारत की सहायता या सहयोग से दक्षिणी एशिया में चीनी प्रभाव को पूरी तरह समाप्त कर सकता है।"

"चीन को यह सह्य नहीं है कि दक्षिणी-एशियायी देशों में सोवियत रूस को वह मान्यता प्राप्त हो जो चीन को अब तक प्राप्त नहीं हो सकी है। चीनी विदेश-नीति के निर्माता इस स्थिति के लिए बहुत हद तक भारत को जिम्मेदार मानते हैं। उनका यह ख्याल है कि भारत की मदद के बिना सोवियत रूस दक्षिणी-एशिया में अपना प्रभाव नहीं बढ़ा सकता। सोवियत रूस एक यूरोपीय देश है जबकि भारत एक एशियाई राष्ट्र है। इसके अलावा भारत को एक गुट-निरपेक्ष राष्ट्र के रूप में एशियाई देशों में विशिष्ट प्रतिष्ठा प्राप्त है। चीनी राजनेताओं की मुख्य आशंका यह है कि सोवियत रूस एशिया में जो कुछ स्वयं कर सकने में समर्थ नहीं है वह भारत की मदद से कर सकता है।"[1]

सितम्बर, 1976 में माओ की मृत्यु के बाद चीन का नया नेतृत्व विश्व राजनीति में अपने दृष्टिकोण को बदलता दिखाई दे रहा है और भारत के साथ भी चीन के राजनयिक सम्बन्ध पुनः स्थापित हो गए हैं। मार्च, 1977 में भारत में ऐतिहासिक सत्ता-परिवर्तन के साथ नई सरकार के विदेश मन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने सन् 1977 के अन्तिम चरण में अपने भाषणों में जो कुछ कहा है उससे संकेत मिलता है कि दोनों ही देश एक-दूसरे से सम्बन्ध सुधार के लिए पहल करने को तैयार हैं—चीन सम्भवतः तीसरे पक्ष के माध्यम से पहल करने को उत्सुक है। जो भी हो, पिछले इतिहास को देखते हुए भारत को फूंक-फूंक कर कदम उठाने होंगे क्योंकि चीनी रीति नीति अतीत में विश्वसनीय सिद्ध नहीं हुई है।

पाकिस्तान और चीन

भारत की स्वाधीनता के प्रथम दशक में और कुछ समय बाद तक भी चीन ने भारत के प्रति मैत्री का स्वांग अच्छी तरह निभाया। इस अवधि में पाक-चीन सम्बन्धों में कोई विशेष प्रेमालाप' नहीं हुआ, यद्यपि इस दिशा में प्रयत्न सन् 1956 से शुरू हो गए थे। सन् 1956 में तत्कालीन पाक प्रधानमन्त्री श्री सुहरावर्दी ने चीन की और प्रधानमन्त्री श्री चाऊ ने पाकिस्तान की यात्रा की। इस पारस्परिक दौरे के बाद दोनों देशों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान शुरू हुए। चीन ने पूर्वी

1. दिनमान, 11 मई 1975, पृष्ठ 16-17.

पाकिस्तान को अपना कार्यक्षेत्र चुनकर ढाका में एक पाक-चीन सांस्कृतिक केन्द्र की स्थापना की पर यह क्रम अधिक नहीं चल सका और अक्तूबर, 1958 में पाकिस्तान में सैनिक तानाशाही की स्थापना के साथ ही समाप्त हो गया।

पाकिस्तान की भारत-विरोधी नीति सैनिक तानाशाही के युग में निरन्तर उग्र होती गई। पाकिस्तान ने भारत के विरुद्ध दुनिया के हर देश से सैन्य सामग्री प्राप्त करने की पूरी कोशिश की। भला चीन ऐसे मौके को कब चूकने वाला था। उसने पाकिस्तान को अपने पक्ष में करने के लिए कूटनीतिक पासे फैंके। जब अमेरिकी राष्ट्रपति कैनेडी ने भारत में सम्बन्ध बढ़ाने के प्रयास शुरू किए तो पाक राजनेताओं ने इसे पसन्द नहीं किया और चीनी शासकों ने परिस्थितियों का लाभ उठाया। सीमा-विवाद के फलस्वरूप भारत-चीन सघर्ष की आशंका बढ़ने पर अमेरिका ने भारत को अधिक आर्थिक और शस्त्र सहायता देना आरम्भ किया तथा पाकिस्तानी अप्रसन्नता की उपेक्षा कर दी तो पाकिस्तान ने चीन की ओर झुकते हुए पहली बार संयुक्त राष्ट्रसंघ में चीन की सदस्यता के प्रश्न पर अमेरिका के विरोध में मतदान दिया।

चीन पाकिस्तान को अपने अंक में समेटने को तैयार ही बैठा था। तत्कालीन राष्ट्रपति अयूब खाँ ने पाक-चीन मैत्री की पृष्ठभूमि तैयार करनी शुरू करदी। सन् 1964 में सैंटो संगठन की बैठक होने से पहले ही अयूब खाँ ने चेतावनी दी कि पाकिस्तान चीन के साथ सीमा समझौता करेगा। सन् 1960 से पाकिस्तान की ओर से इस दिशा में पहल की गई और चीन से उसे हर तरह भड़काकर सन् 1962 में उसके साथ एक सीमा-समझौता सम्पन्न किया। पाकिस्तान इस समझौते के माध्यम से अमेरिका को ओर चीन सोवियत संघ को चिढ़ाना चाहता था। यह सीमा-सन्धि भारतीय हितों पर कठोर प्रहार थी। इसके अन्तर्गत सिंकियांग और पाक-अधिकृत कश्मीर के बीच सीमा-निर्धारण की व्यवस्था थी। सन्धि द्वारा पाकिस्तान ने अधिकृत कश्मीर का 2050 वर्ग मील क्षेत्र अवैध रूप से चीन को सौंप दिया। समझौते के बहुत गम्भीर परिणाम निकले क्योंकि एक तो चीन की सीमा-प्रतिरक्षा सुदृढ़ हो गई और दूसरे इस उपमहाद्वीप में प्रवेश करने की सुविधा मिल गई। दोनों देशों ने एक सड़क का भी निर्माण किया जो हिमालयीय दर्रे से होकर जाती है और सर्दी में भी खुली रहती है। इस सड़क से दोनों देश जुड़ गए, विशेष लाभ चीन को मिला। चीन इस भारी अप्रत्याशित लाभ के बदले पाकिस्तान को पूर्ण राजनीतिक और सैनिक समर्थन देने लगा।

पिण्डी-पैकिंग धुरी की स्थापना को विश्व के देशों ने प्रारम्भ में अनमेल विवाह की दृष्टि से देखा और उस पर सन्देह किया, लेकिन दोनों देशों के बढ़ते हुए प्रेमालाप ने उनकी आँखें खोल दीं। चीन से विपुल सैनिक सहायता प्राप्त कर पाकिस्तान ने सैंटो और सीएटो संगठनों की उपेक्षा शुरू करदी तथा मनीला में आयोजित सीएटो की बैठक में भाग लेने से इंकार कर दिया। अक्तूबर, 1962 में भारत-चीन युद्ध के समय पाकिस्तान ने खुले आम अपने 'बड़े भाई' चीन का समर्थन

किया और भारत को आक्रामक ठहराया। भारत की पराजय पर पाकिस्तान मे खुशियाँ मनायी गईं।

'चोर-चोर मौसेरे भाई' की तरह पाक-चीन की दोस्ती बढ़ती गई और दिसम्बर, 1963 मे चीन के विदेश-व्यापार उपमन्त्री श्री नानहान चैन ने अपनी पाक-यात्रा के समय यह आश्वासन दिया कि किसी भी भारत-पाक युद्ध मे चीन पाकिस्तान को पूर्ण समर्थन देगा। सन् 1964 मे चीनी प्रधानमन्त्री ने पाक-यात्रा के समय उपर्युक्त आश्वासन की पुष्टि की। पाकिस्तान ने चीन की खुले दिल से जो सेवाएँ की उसके पुरस्कार स्वरूप जुलाई, 1964 मे चीन ने पाकिस्तान को 6 करोड डॉलर का ब्याज-मुक्त ऋण प्रदान किया। चीन से भारी मात्रा मे सैनिक सामग्री भी पाकिस्तान को अनुदान स्वरूप मिलती रही। उधर अमेरिका भी पाकिस्तान को चीन की ओर से विमुख करने हेतु आर्थिक और सैनिक सहायता प्रदान करता रहा यह समझते हुए भी कि अमेरिकी हथियारो का प्रयोग पाकिस्तान चीन के विरुद्ध नही बल्कि भारतीय लोकतन्त्र के विरुद्ध करेगा।

चीन से प्रत्यक्ष प्रोत्साहन पाकर पाकिस्तान ने अप्रैल, 1965 मे कच्छ पर आक्रमण कर दिया। इस समय और बाद मे भी कुछ माह तक प्रमुख चीनी राजनेता पाकिस्तान मे उपस्थित रहे। दोनो देशो मे एक हवाई समझौता भी हुआ जिसके अधीन चीन को पूर्वी पाकिस्तान से होकर बर्मा तथा दक्षिणी एशिया तक विमान उड़ाने की सुविधा प्राप्त हो गई। यह एक ऐसी सुविधा थी जिसका प्रयोग चीन भारत के विरुद्ध आसानी से कर सकता था। तत्पश्चात् नौका-नयन और सचार सम्बन्धों के विषय म भी दोनो देशो के बीच महत्त्वपूर्ण समझौते हुए। चीन को पूरी अपनी पीठ पर पाकर पाकिस्तान ने सितम्बर, 1965 मे भारत पर आकस्मिक रूप से भीषण आक्रमण कर दिया। रूसी भय एव अन्य कतिपय कारणो से तथा भारत की विकसित सैन्य शक्ति का अनुमान लगाकर चीन ने यद्यपि भारत के उत्तरी सीमान्त पर पाकिस्तान के समर्थन मे कोई आक्रमण नही किया, तथापि वहाँ सैनिक गतिविधि तेज करके तथा भारत को तीन दिवसीय अल्टीमेटम देकर पाकिस्तान को 'आश्वस्त' करने की चेष्टा की। कूटनीतिक क्षेत्र मे पाकिस्तान को चीन से पूर्ण समर्थन प्राप्त हुआ। चीनी अल्टीमेटम भी तब दिया गया जब पाक विदेश मन्त्री न्यूयॉर्क मे थे। यदि सयुक्त राष्ट्रसघीय प्रयत्नो से 23 सितम्बर को युद्धविराम न होता तो सम्भवतः चीन पाकिस्तान को बचाने के लिए सैनिक कार्यवाही कर बैठता।

सन् 1965 से पाक-चीन सम्बन्धों में एक नया चरण शुरू हुआ जिसके अनुसार चीन ने पाकिस्तान को भारी आर्थिक और सामरिक सहायता देने की नीति अपनायी। लगभग इसी वर्ष से पाकिस्तान ने अमेरिका पर पूरी तरह निर्भर रहना छोड़ दिया और मार्च, 1966 में स्पष्ट रूप से घोषित किया कि उसे चीन से भारी मात्रा में शस्त्रास्त्र, विमान और टैंक मिल रहे हैं। चीन से पाकिस्तान को जो सामरिक सहायता मिली, वह अमेरिकी सैन्य सहायता से कहीं अधिक थी। पिण्डी-पेकिंग धुरी ने संयुक्त रूप से भारत में विघटनकारी तत्वों को प्रोत्साहन देना शुरू

कर दिया। नागालैण्ड और मिजो क्षेत्र में विद्रोहियों को भड़काया गया तथा भारत के विरुद्ध उन्हें शस्त्रास्त्र-सहायता तथा सैनिक प्रशिक्षण देने की भरपूर चेष्टा की गई। दोनों देशों के इन कुटिल प्रयासों से भारत को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

दिसम्बर, 1971 के भारत-पाक युद्ध के पश्चात् पिण्डी-पेकिंग सम्बन्धों में एक नए चरण का सूत्रपात हुआ। युद्ध काल में चीन ने पाकिस्तान को शस्त्रास्त्र-सहायता और राजनीतिक समर्थन देने तक ही अपने को सीमित रखा। चीन पाकिस्तान की इस आशा को मिटाना चाहता था कि अमेरिका भारत के विरुद्ध पाकिस्तान को हर प्रकार की सहायता करेगा। पाक-अमेरिकी प्रतिरक्षा-सन्धि के अन्तर्गत अमेरिका ने वचन दिया था कि वह पाकिस्तान की अखण्डता और प्रभुसत्ता की रक्षा करेगा लेकिन पाकिस्तान का विभाजन हो गया और अमेरिका का वचन कोरा कागजी सिद्ध हुआ। इस प्रकार चीन को पाकिस्तान से यह कहने का अवसर मिल गया कि अमेरिका पर भरोसा नहीं किया जाना चाहिए।

पिण्डी-पेकिंग धुरी अब एक ठोस तथ्य है, अतः भारत को किसी भी सम्भावित संयुक्त खतरे के मुकाबले के लिए पूरी तरह सतर्क और तैयार रहना चाहिए। शिमला समझौते ने पाकिस्तान के साथ शान्ति के आसार बढ़ गए हैं लेकिन पाकिस्तानी नेतृत्व जिस तरह शान्ति और धमकी की दुरंगी नीति पर चल रहा है और दुनिया के हर देश से सैन्य-सामग्री बटोरने में लगा हुआ है वह भारत को चौंकाने के लिए काफी है। पाकिस्तान के रक्षा बजटों में चीन तथा अन्य मित्र देशों से बिना मूल्य प्राप्त हथियारों और उपकरणों की चर्चा नहीं की जाती। गैर-कम्युनिस्ट देशों में चीन ने पाकिस्तान को जितनी सैनिक सहायता दी है उतनी किसी दूसरे देश को नहीं दी गई है। भारत-सरकार इन सभी गतिविधियों के प्रति सतर्क है।

चीन-अल्बानिया : बदलते रिश्ते

पूर्वी यूरोप के एक छोटे से देश अल्बानिया (कुल जनसंख्या लगभग 25 लाख) ने एक धमाका सन् 1961 में किया था। उसने तब साम्यवादी आन्दोलन के एक मात्र मुखिया सोवियत संघ से सैद्धान्तिक मतभेदों के कारण सम्बन्ध विच्छेद कर लिया था और उस चीन से नाता जोड़ा था जो सोवियत संघ के नेतृत्व से मुक्ति पाने के लिए कसमसा रहा था और दोनों देशों के बीच छुट-पुट मतभेद उभरने लगे थे। चीन में सोवियत संघ की आलोचना करते हुए तब एक सच्चे और विश्वस्त मित्र के रूप ने अल्बानिया का स्वागत किया था और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन की एक और धुरी के निर्माण की सम्भावना उत्पन्न हुई जिसने आगे चलकर अक्तूबर 1962 में चीन और सोवियत संघ के बीच सम्बन्ध विच्छेद के बाद साकार रूप ग्रहण कर लिया।

अल्बानिया ने दूसरा धमाका जुलाई, 1977 में किया। अल्बानियाई कम्युनिस्ट पार्टी के समाचार पत्र जेरी पापुलित ने अपने सम्पादकीय में चीन का नाम लिए बिना उसकी विदेश-नीति के कई तत्वों की सैद्धान्तिक आधार पर कटु आलोचना

की। सम्पादकीय में 'तीसरी दुनिया' के सिद्धान्त की भी भर्त्सना की गई। स्वर्गीय माम्रो-त्से तुंग ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था और अप्रेल, 1974 मे संयुक्तराष्ट्र में चीन के भूतपूर्व उपप्रधानमन्त्री तेङ् सिम्राम्रो पिङ् ने उसे प्रथम बार अधिकारिक तौर पर सार्वजनिक रूप से व्यक्त किया था। तब से विकासशील देशों को 'तीसरी दुनिया' के देश कह कर सम्बोधित किया जा रहा है।

सम्पादकीय मे 'तीसरी दुनिया' के सिद्धान्त को लेनिनवाद विरोधी कहकर उसके समर्थकों पर यह आरोप लगाया गया कि उन्हे अनेक विकासशील देशो में वास्तविक साम्राज्यवाद विरोधी, क्रान्तिकारी शक्तियों और साम्राज्यवाद समर्थक, प्रतिक्रियावादी फासी शक्तियों के बीच पहचान की तमीज नही है। इस प्रकार समाचार पत्र ने तीसरी दुनिया के उस मुखिया पर खुला प्रहार किया जो साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष मे एक प्रमुख शक्ति माना जाता है।

अल्बानिया रातोरात चीन विरोधी नही बन गया है। जब सन् 1974 में चीन ने 'शत्रु का शत्रु अपना मित्र' का सिद्धान्त अपनाकर अमेरिका से सम्पर्क स्थापित किया तभी से इस विरोध का आभास मिलने लगा था जिसका संकेत अल्बानियाई कम्युनिस्ट पार्टी के नेता अनवर होक्सा ने अपने यहाँ के कुछ हठवादी साम्यवादियों को दण्डित करके दिया था। इनमे एक प्रतिरक्षामन्त्री बेकिर बालवू भी थे। उससे पूर्व सन् 1971 की पार्टी कांग्रेस मे भी श्री होक्सा चीनी नेता माम्रो द्वारा सोवियत संघ और अमेरिका को भिडाने के प्रयासों की यह कहकर आलोचना कर चुके थे कि एक साम्राज्यवाद का विरोध करने के लिए दूसरे साम्राज्यवाद का प्रयोग करना सम्भव नही है।

फिर भी मई, 1976 तक अल्बानिया और चीन मित्र बने रहे। किन्तु अक्तूबर, 1976 मे चीन मे सत्ता परिवर्तन के साथ ही दोनों देशो की 'पक्की मित्रता' मे दरार पड गई जो उत्तरोत्तर चौड़ी होती गई। श्री होक्सा ने तब अपनी पार्टी के 7वें अधिवेशन मे अध्यक्ष हुआ कुओ फेङ् के प्रशासन की प्रशंसा सम्भवतः जानबूझ कर नही की। उससे पूर्व उन्होने माम्रो के उत्तराधिकारी को एक असाधारण रूप से संक्षिप्त तार भेजकर बधाई अवश्य दी थी। श्रीमती माम्रो समेत चार नेताओं की गिरफ्तारी को होक्सा ने पसन्द नही किया। उन्हे यह प्रतीत हुआ कि चीन का नया नेतृत्व अन्ततः सोवियत समर्थक सिद्ध होगा। हाल मे चीन ने अफीकी नीति के सन्दर्भ मे और अपनी सीमाओं के प्रश्न पर सोवियत संघ की नीतियों पर प्रहार अवश्य किया है फिर भी ऐसा नही लगता कि तीसरी महाशक्ति बनने का आकांक्षी चीन अकारण ही सोवियत संघ से बैर मोल लेगा। श्री होक्सा की चीन विषयक आशका सर्वथा निराधार नही है।

चीन की बैसाखियों के सहारे चलने वाले अल्बानिया के इस विरोध को एक मित्र के प्रति दूसरे मित्र के आक्रोश के रूप मे नही देखा जा सकता। अल्बानिया को चीन से न केवल अपार आर्थिक सहायता मिली है बल्कि अब तक उसका दो तिहाई व्यापार भी चीन के साथ ही होता रहा है। ऐसी स्थिति मे चीन के प्रति अल्बानिया

के ताजे रवैये को एक साधारण घटना नहीं माना जा सकता। यह अल्बानिया को साम्यवादी आन्दोलन सम्बन्धी सैद्धान्तिक संघर्ष की ही एक कड़ी है। अल्बानिया नहीं मानता कि अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन के केवल कोई एक या दो केन्द्र बिन्दु ही हो सकते हैं।

चीन और सोवियत संघ के बीच विवाद पैदा होने से पहले तक सोवियत नेतृत्व स्वयं को अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन का भाग्य विधाता मानता था। किन्तु चीन ने उनकी इस प्रतिमा को खण्डित कर दिया। कुछ वर्ष पहले तक साम्यवादी आन्दोलन के दो केन्द्र रहे जिनमें संख्या और प्रभाव की दृष्टि से चीन का स्थान निश्चय ही सोवियत संघ के बाद था। पिछले कुछ वर्षों में साम्यवादी आन्दोलन का एक और केन्द्र उभरा जिसे यूरोपीय की संज्ञा दी गई और जिसके प्रवक्ता पश्चिम यूरोप के साम्यवादी दल हैं।

पिछले दिनों रोमानिया ने यूरोपीय साम्यवाद की प्रशंसा की थी। अब अल्बानिया ने चीन के विरोध का मार्ग अपनाकर संभवतः यह संकेत दिया है कि वह भी स्वतन्त्र निर्णय के मार्ग को पसन्द करता है। यदि सचमुच अल्बानिया यूरोपीय साम्यवाद की धारणा पसन्द करता है तो उसके इस निर्णय के दूरगामी परिणाम हो सकते हैं। देर सवेर पूर्वी यूरोप के अन्य साम्यवादी देश भी उसका अनुकरण कर सकते हैं जो सोवियत संघ के नेतृत्व से मुक्ति पाने के लिए एक अरसे से छटपटा रहे हैं। सोवियत संघ यह नहीं चाहता और इसीलिए वह यूरोपीय साम्यवाद के विचार का भी कट्टर विरोधी है।

चीन-यूगोस्लाविया : रिश्ते में नया मोड़

यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो सितम्बर, 1977 में चीन की नौ दिन की राजकीय यात्रा के बाद स्वदेश लौट गए। इससे पहले चीन प्रवास के दौरान मार्शल टीटो को चीनी नेताओं और चीनी नागरिकों से जो सम्मान मिला वह सामान्य अतिथि को मिलने वाले सम्मान से कहीं अधिक था, इसलिए और भी कि अभी हाल तक मार्शल टीटो चीन की दृष्टि में 'संशोधनवादी' थे और चीनी नेताओं को वह फूटी आँख नहीं सुहाते थे। किन्तु वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के सन्दर्भ में, जो अध्यक्ष हुआ के अनुसार 'सभी देशों की जनता के अनुकूल और महाशक्तियों के प्रतिकूल है, स्वयं हुआ ने टीटो को द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान फासी आक्रमणकारियों का प्रतिरोध करने वाले एक प्रमुख नेता, यूगोस्लाविया समाजवादी गणराज्य के संस्थापक, सुविख्यात राजनीतिज्ञ और गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के एक प्रणेता के रूप में देखा और उनकी यात्रा को चीन यूगोस्लाविया सम्बन्धों की एक महान् घटना बताया।"

निस्सन्देह मार्शल टीटो की चीन यात्रा चीन-यूगोस्लाविया सम्बन्धों की एक महान् घटना है, बल्कि कहना चाहिए कि कम्युनिस्ट जगत् की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इसे यदि साम्यवाद के बारे में विरोधी विचार वाले साम्यवादी देशों के बीच सम्पर्क के प्रादुर्भाव के रूप में देखा जाए तो इसका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। टीटो की पीकिंग यात्रा से अथवा अगले कुछ महीनों में अध्यक्ष हुआ की संभावित बेलग्रेड

यात्रा से दोनों देशों के सैद्धान्तिक मतभेद समाप्त हो जाएँगे यह मानना राजनीतिक अदूरदर्शिता होगी, किन्तु इससे इतना तो हुआ ही कि वे आपसी संपर्क स्थापित होने से उनके बीच आर्थिक,राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में सहयोग की सम्भावना पैदा हुई है। एक समाचार के अनुसार सन् 1978 तक चीन और यूगोस्लाविया का व्यापार आज से चौगुना हो जाएगा। इस सन्दर्भ मे उल्लेखनीय है कि सन् 1971–75 के बीच सोवियत संघ और यूगोस्लाविया के व्यापार मे तीन अरब डॉलर की वृद्धि हुई और अगले तीन वर्ष मे उसके तीन गुने होने की संभावना है।

यात्रा की समाप्ति पर किसी संयुक्त विज्ञप्ति का प्रसारित न किया जाना इस बात का संकेत माना जा सकता है कि दोनों पक्षों के बीच अनेक विषयो पर मतैक्य नही था। यात्रा का यह कोई अप्रत्याशित परिणाम नहीं था। उनके मतभेद इतने व्यापक रहे हैं कि एक ही वार्ता मे मतैक्य की आशा नही की जा सकती थी। महत्वपूर्ण बात यह है कि मतभेदो के बावजूद उन्होने परस्पर सहयोग बढाने का निश्चय किया। अध्यक्ष द्वारा दिए गए प्रीतिभोज मे मार्शल टीटो ने कहा कि मतभेदो को इस सहयोग मे बाधक नही बनना चाहिए, क्योंकि वे (मतभेद) उन भिन्न परिस्थितियो के परिणाम हैं जिनमे हम रहते आए हैं और आज भी रह रहे हैं। सहयोग का आधार समानता का सिद्धान्त होने पर मतभेद बाधक नही बन सकते, तब और भी नही जबकि हम अपने विचार एक-दूसरे पर लादना न चाहे। इस बारे मे चीन के नेताओ की कोई भिन्न राय है ऐसा कोई संकेत उन्होंने मार्शल टीटो से बातचीत के दौरान नही दिया।

वास्तविकता तो यह है कि अध्यक्ष हुआ की राय भी मतभेदो के बीच सहयोग की नीति के बारे मे श्री टीटो से भिन्न नही रही होगी क्योकि चीन की वर्तमान विदेश-नीति के सन्दर्भ मे यह आवश्यक हो गया है कि उसका सम्बन्ध अधिकाधिक साम्यवादी देशो से स्थापित हो ताकि वह साम्यवादी,साम्राज्यवादी और गुट-निरपेक्ष शिविर के उन देशो से निपट सके जिन्हे वह अपनी उस राह का काँटा मानता है जिस पर चलकर वह महाशक्ति बनने का स्वप्न देख रहा है। इसके लिए वह अपनी आवश्यकता के लिए काँटे से काँटा निकालने की नीति का प्रयोग भी कर लेता है। उदाहरणार्थ जब सोवियत संघ से उसका विवाद जोरो से चल रहा था तो उसने अमेरिका से संपर्क स्थापित किया। रिचर्ड निक्सन के समय मे सन् 1971 मे स्थापित वह संपर्क फोर्ड के कार्यकाल मे सन् 1975 के अन्त मे घनिष्ठ मित्रता मे बदल चुका था और दोनो मिलकर सोवियत संघ की निन्दा करते नही अघाते थे। उस दौरान चीन ने भारत के विरुद्ध विषवमन भी बन्द-सा कर रखा था और भारतीय राजनेताओं के मन मे वह यह भ्रम पैदा करने मे भी सफल हो चुका था कि वह भारत से मित्रता करना चाहता है किन्तु जनवरी, 1977 मे जिम्मी कार्टर के राष्ट्रपति बनने और मार्च, 1977 मे भारत में सत्ता परिवर्तन होने के साथ ही चीन ने रंग बदलना शुरू कर दिया और साम्यवादी गुट के देशो से संपर्क बढने की आशा के साथ ही वह अमेरिका और भारत की खबर लेने पर उतारू हो गया जान पडता है।

(दिनमान सितम्बर-अक्तूबर, 1977)

चीन और अन्य राष्ट्र

साम्यवादी चीन के यूरोप, एशिया और अफ्रीका के अन्य राष्ट्रों के साथ भी सम्बन्ध उतार-चढ़ाव और अधिकांशतः मनमुटाव के रहे हैं। बाह्य मंगोलिया पूर्वी एशिया का छोटा-सा देश जो यद्यपि संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य है, तथापि व्यवहारतः सोवियत रूस के प्रभाव और नियन्त्रण में है। मंगोलिया पर प्रभुत्व के मामले में चीन रूस का प्रतिद्वन्द्वी है। संसार की छत कहे जाने वाले तिब्बत को चीन ने निगल लिया है। अरब-जगत् में भी चीन अपने पैर फैलाने को प्रयत्नशील है। इस दिशा में अभी उसे कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिल सकी है। चीन की दृष्टि हिन्द महासागर पर भी है। मॉरिशस, तंजानिया, जाम्बिया आदि को सहायता देने के नाम पर चीन हिन्द महासागर के जल-मार्गों का प्रयोग अपने हित में कर रहा है। पूर्वी यूरोप के साम्यवादी राष्ट्रों से सम्बन्ध स्थापित करने और उन्हें घनिष्ठ बनाने की दिशा में चीन काफी समय से प्रयत्नशील है। रूमानिया, बल्गेरिया, चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड आदि देशों से चीन के सम्बन्ध पूर्वापेक्षा कुछ विकसित हुए हैं, लेकिन ये सभी राष्ट्र सोवियत रूस के प्रभाव में हैं तथा रूस-विरोधी किसी भी चीनी कार्यवाही के प्रति सचेष्ट हैं। चीन ने हाल ही में जापान की ओर भी दृष्टिपात किया है। सन् 1972 में चीनी प्रधानमन्त्री द्वारा जापान के नये प्रधानमन्त्री को पेकिंग आने का निमन्त्रण इस बात का सूचक था कि चीन जापान के साथ अच्छे सम्बन्ध कायम कर जापानी सैन्यवाद से अपनी सुरक्षा का मार्ग प्रशस्त करना चाहता है।

चीन एशियायी देशों में राजनीतिक पैठ बढ़ाने को उत्सुक है। जून, 1975 में चीन द्वारा फिलिपाइन और थाइलैंड के दो उच्च-स्तरीय प्रतिनिधि-मण्डलों का स्वागत करने के लिए उठाए गए कदम इसी बात के द्योतक हैं। चीन इस क्षेत्र में बढ़ रहे सोवियत प्रभाव को कम करना चाहता है। एशियायी देशों में केवल मलेशिया ही ऐसा देश है जिसके चीन के साथ पूर्ण राजनयिक सम्बन्ध हैं।[1] इण्डोनेशिया के साथ चीन के सम्बन्धों में जो बिगाड़ हुआ वह अभी तक नहीं सुधर सका है।

चीन की विदेश नीति का मूल्यांकन
(Evaluation of China's Foreign Policy)

चीन की विदेश-नीति ने चाहे कितने ही रूप बदले हों पर सिद्धान्तों की आड़ में उसके संकीर्ण राष्ट्रीय स्वार्थों का घृणित रूप बराबर उजागर होता रहा है। रूस और भारत ने चीन को हर तरह अपना सहयोग और समर्थन दिया, लेकिन चीन ने दोनों को ही शत्रु राष्ट्रों की श्रेणी में ला पटका है। दोनों देशों के साथ चीन ने मनमाने ढंग से सीमा-विवाद उत्पन्न किए हैं और आज चीनी विदेश नीति का केन्द्र-बिन्दु यही है कि रूस और भारत के प्रभाव को किसी भी उचित-अनुचित उपाय से क्षीण किया जाए। अमेरिका जो चीन का शत्रु नम्बर एक था, आज चीन के निकट है और चीनी नेतृत्व अमेरिकी मित्रता अर्जित कर साम्यवादी शिविर का नेतृत्व अपने

1. वही, दिनांक 7 जून, 1975.

हाथ में लेने को प्रयत्नशील है। चीन पूर्वी एशिया में अमेरिका की सैनिक उपस्थिति को अस्थायी मानता है और उसको अपना साथी बनाकर जापान तथा रूस की उपस्थिति को पूर्वी एशिया में असम्भव बनाने की चेष्टा में है। अमेरिका यह संकेत दे चुका है कि वह दक्षिण-पूर्वी एशिया से हटकर वहाँ चीन की उपस्थिति के अधिक पक्ष में है। एशिया में चीन ऐसी भूमिका निभा रहा है, जिससे उनका दबदबा एशिया के साथ-साथ वे सभी देश अनुभव करें जिनकी सीमाएँ चीन से मिलती हैं अथवा जहाँ व्यापारिक क्षेत्र में उसकी धाक है। एशियायी देशों के अतिरिक्त चीन की दृष्टि अफ्रीका के विभिन्न देशों और अरब राष्ट्रों पर भी है। वह इनको अपनी दोस्ती के दायरे में लाकर भारत को 'अछूत' का स्तर देने के लिए प्रयत्नशील है, किन्तु एशिया और अफ्रीका के अधिकांश देश चीन की चालें समझ चुके हैं। वे जानते हैं कि चीनी नीति भारत सहित अन्य एशियायी-अफ्रीकी देशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप की रही है जिससे न केवल एशिया और अफ्रीका में एकता को आघात पहुँचा है बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत् में इन महाद्वीपों के देशों के प्रति महाशक्तियों को मनमाना खेल खेलने का प्रोत्साहन भी मिल है। माओपंथी नेतृत्व यह सोचता रहा है कि 'उसकी' कथनी और करनी का अन्तर रहस्य ही बना रहेगा और वह एशिया की आँखों में धूल झोंकता रहेगा। मगर 20वीं सदी के उत्तरार्द्ध में प्रपंचपूर्ण राजनीति के इस खेल को जाग्रत एशिया के देश अब अच्छी तरह समझ गए हैं और माओपंथी चीन का सही चेहरा यानी उसका प्रसारवादी स्वरूप उजागर हो गया है।

चीन की विदेश नीति मूलतः शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व में विश्वास नहीं रखती। उसने सोवियत संघ और अमेरिका के बीच राजनीतिक-विग्रह खड़ा करने का जो आन्दोलन काफी समय से शुरू कर रखा है उसमें अभी कोई अन्तर नहीं आया है। वह इन दो महाशक्तियों के बीच किसी भी तरह का सद्भाव स्थापित न होने देने के लिए कृतसंकल्प है। अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद में फूट डालने की नीति का भी चीन ने परित्याग नहीं किया है। इस समय वह पूरे साम्यवादी जगत् में विघटन की प्रक्रिया का अग्रदूत बना हुआ है।

इन सब विरोधी और विध्वंसक प्रवृत्तियों के बीच आशा की किरणें यही हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तेजी से परिवर्तन आ रहा है, महाशक्तियाँ सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को मानने लगी हैं, चीनी नेतृत्व अपनी कालिमा को धोने के लिए सोच विचार करने लगा है और यह भी समझ गया है कि भारत राजनीतिक, आर्थिक और सैनिक दृष्टि से निरन्तर शक्तिशाली बनता जा रहा है, अतः उसके प्रति रचनात्मक रवैया अपनाना ही उचित होगा। फिर भी चीन के अभी तक के व्यवहार को देखकर कोई निश्चित भविष्यवाणी करना कठिन है।

13 ब्रिटेन और फ्रांस की विदेश नीति

(THE BRITISH AND FRENCH FOREIGN POLICY)

"मेरी धारणा है कि किसी भी देश को शाश्वत रूप से शत्रु अथवा मित्र मान लेना एक संकीर्ण नीति है। केवल हमारे हित ही शाश्वत तथा चिरन्तन हैं तथा हमारा कर्त्तव्य है कि हम इन हितों का अनुसरण करें।"

—लॉर्ड पामर्स्टन

ब्रिटेन और फ्रांस दोनों को ही द्वितीय महायुद्ध में प्रबल आघात सहने पड़े और उनके हितों को कल्पनातीत क्षति पहुँची। उनकी स्थिति तीसरी श्रेणी के राष्ट्रों जैसी हो गई। धुरी राष्ट्र तो अपना साम्राज्य खो ही बैठे, लेकिन ब्रिटेन, फ्रांस आदि विजेता राष्ट्र भी अपने साम्राज्यों की रक्षा नहीं कर सके और एक-एक करके उनके अधीनस्थ लगभग सभी प्रदेश स्वतन्त्र हो गए।

ब्रिटेन की विदेश नीति
(British Foreign Policy)

द्वितीय महायुद्ध के पूर्व ब्रिटेन की विदेश नीति दो सिद्धान्तों पर आधारित थी—प्रथम, यूरोप में सन्तुलन की शक्ति (Balance of Power) को कायम रखना तथा द्वितीय, अपनी बस्तियों (Colonies) में अपना प्रभुत्व स्थापित रखना। परन्तु इस दूसरे महासमर ने तो उसका चित्र ही परिवर्तित कर दिया। किसी ने लिखा है "इंगलैण्ड जो दूसरों को जीतने के लिए था, उसने स्वयं को विजित कर लिया।" चूँकि ब्रिटेन में अब इतनी शक्ति नहीं रही कि वह यूरोप में सन्तुलनकारी सत्ता के रूप में रह सके, अतः उसने शान्तिकाल में ही सुरक्षा-सन्धियों की व्यवस्था करना आरम्भ कर दिया था। परन्तु इस सन्धि व्यवस्था में भी उसके मस्तिष्क में शक्ति-सन्तुलन का भूत समाया रहा ताकि वे तो आपस में लड़ें और ब्रिटेन अछूता रह सके।

ब्रिटेन और राष्ट्रमण्डल

युद्धोपरान्त अपने साम्राज्य के सम्बन्ध में ब्रिटेन ने एक नयी नीति का अनुसरण किया जिसके फलस्वरूप अधीनस्थ देश स्वतन्त्र तो गए पर ब्रिटेन के

साथ उनका सम्बन्ध कायम रहा। पुराने ब्रिटिश-साम्राज्य ने अब ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल (British Commonwealth) का स्वरूप ग्रहण किया और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ब्रिटेन अपना महत्त्वपूर्ण स्थान कायम रख सका। आज ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का जो रूप है उसमें सब सदस्य-राज्यों की स्थिति बराबर है। सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्नता को अक्षुण्ण रखते हुए वे राष्ट्रमण्डल के सदस्य हैं। यदि वे चाहें तो इससे पृथक् भी हो सकते हैं। भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका आदि ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल की सदस्यता आज भी ग्रहण किए हुए हैं। राष्ट्रमण्डल में कतिपय ऐसे प्रदेश भी हैं जिन्हें अभी पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हुई है। हिन्द महासागर और भूमध्यसागर में अनेक ऐसे द्वीप हैं जिन पर ब्रिटिश प्रभुत्व विद्यमान है।

ब्रिटेन और कोलम्बो-योजना

ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के सदस्य-राज्यों की आर्थिक उन्नति के लिए किए गए सामूहिक प्रयासों में कोलम्बो-योजना का विशेष महत्त्व है। जनवरी, 1950 में ब्रिटेन के प्रयत्नों से श्री लंका की राजधानी कोलम्बो में एक सम्मेलन आयोजित किया गया जिसमें एशिया तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के विभिन्न देशों की आर्थिक उन्नति में सहायता के लिए एक योजना तैयार की गई। इस योजना में प्रारम्भ में केवल ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के सदस्य-राज्य ही सम्मिलित थे, पर अब पश्चिमी एशिया के भी अनेक राज्य इससे लाभान्वित हो रहे हैं।

ब्रिटेन और अमेरिका

युद्धोत्तर काल में ब्रिटेन ने अपेक्षाकृत अधिक यथार्थवादी नीति अपनायी। ब्रिटेन आर्थिक विपन्नता की अवस्था में था और उसे अपने पुनर्निर्माण तथा आर्थिक स्थिरता के लिए भारी आर्थिक सहायता की आवश्यकता थी, अतः यह स्वाभाविक था कि ब्रिटेन ने अमेरिका का सहयोग प्राप्त किया और अपनी विदेश-नीति का मुख्य आधार अमेरिका का समर्थन करना बना लिया। यद्यपि पेरिस शान्ति-सम्मेलन में ब्रिटेन ने घोषणा की थी हम किसी भी गुट में मिलना नहीं चाहते, लेकिन कथनी और करनी में अन्तर रहा। अपनी आर्थिक दशा सुधारने के लिए ब्रिटेन ने अमेरिका से मार्शल-योजना के अन्तर्गत पर्याप्त आर्थिक सहायता प्राप्त की। श्रमदलीय विदेश-मन्त्री श्री बेविन ने ट्रूमैन सिद्धान्त को भी स्वीकार कर लिया। यद्यपि ब्रिटेन अमेरिकी गुट में एक सहायक के रूप में ही रहा, तथापि यह स्पष्ट हो गया कि पाश्चात्य जगत् का नेतृत्व ब्रिटेन के नहीं, अमेरिका के हाथ में है। अनेक क्षेत्रों में ब्रिटेन का स्थान अमेरिका लेता गया। न्यूजीलैंड और ऑस्ट्रेलिया जैसे पुराने डोमिनियनों ने राष्ट्रमण्डल से बाहर सुरक्षा प्राप्त करने के लिए 'अंजुस पैक्ट' (Anzus Pact) करना उचित समझा। मध्य पूर्व में ग्रीस, फिलस्तीन, टर्की और अन्य क्षेत्रों में ब्रिटेन के चले जाने से जो शक्ति-शून्यता पैदा हो गई उसे अमेरिका ने भरा। नाटो (NATO) में सम्मिलित होकर ब्रिटेन ने अमेरिका के साथ खुला सैनिक गठबन्धन कर लिया और यह स्पष्ट कर दिया कि साम्यवाद के विरुद्ध जेहाद में वह पूरी तरह अमेरिका के साथ है।

निःशस्त्रीकरण संबंधी सभी वार्ताओं में ब्रिटेन और अमेरिका की नीति में सामान्यतः सामञ्जस्य रहा और लन्दन ने वाशिंगटन को पूर्ण समर्थन दिया। सितम्बर, 1954 में ब्रिटेन ने संयुक्तराज्य अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, फ्रांस, न्यूजीलैंड, पाकिस्तान, फिलिपाइन्स, थाईलैंड आदि के साथ पारस्परिक सहायता और सामूहिक सुरक्षा-सन्धि पर हस्ताक्षर कर दक्षिण पूर्वी एशिया सन्धि संगठन (SEATO) को जन्म दिया (जो 30 जून, 1977 को विघटित कर दिया गया)[1] ब्रिटेन ने सन् 1957 में प्रतिपादित आइजनहॉवर सिद्धान्त के प्रयोग में पूर्ण निष्ठा प्रदर्शित की और जोर्डन में तो इस सिद्धान्त के प्रयोग की दिशा में उसका व्यावहारिक व सक्रिय सहयोग रहा। जर्मनी के प्रश्न पर भी ब्रिटेन का अन्य सम्बन्धित पश्चिमी शक्तियों के साथ पूर्ण सहयोगी रुख है। सन् 1963 में अमेरिका रूस और ब्रिटेन द्वारा मास्को में अणु-परीक्षण प्रतिबन्ध संधि पर हस्ताक्षर किए गए और फिर 1968 की परमाणविक संधि पर भी ब्रिटेन प्रमुख हस्ताक्षरकर्त्ता राष्ट्र था।

अमेरिका के साथ अपना घनिष्ठ सहयोग करते हुए भी अनेक विषयों पर ब्रिटेन का अपना स्वतन्त्र दृष्टिकोण रहा है। विरोध करते समय दोनों देश यह मान कर चले हैं कि एक व्यक्ति को अपने मित्र की आलोचना करने का अधिकार है। अगस्त, 1945 में ब्रिटेन को तब अप्रसन्नता हुई जब अमेरिका द्वारा एकदम लैंड-लीज (Land-Lease) को बन्द कर दिए जाने से ब्रिटिश अर्थ-नीति पर विपरीत प्रभाव पड़ा। युद्धोत्तरकाल में ब्रिटेन में जो समाजवादी आन्दोलन छिड़ा और श्रमिक सरकार द्वारा नीतियाँ अपनायी गई उनके प्रति अमेरिका में संदेहपूर्ण वातावरण पैदा हुआ। साम्यवादी रूस के प्रति अमेरिका की कठोर नीति की ब्रिटेन ने विशेष सराहना नहीं की। ब्रिटेन की यही धारणा रही कि रूस एवं अन्य साम्यवादी देशों के साथ अधिकाधिक व्यापारिक संबंध स्थापित करने चाहिए और रूस तथा चीन को समझौते-पूर्ण रवैये द्वारा अपने निकट लाने का प्रयत्न करना चाहिए। ब्रिटेन ने अमेरिका की अप्रसन्नता की परवाह न कर जनवरी, 1950 में ही चीन की साम्यवादी सरकार को मान्यता देने के विचार की घोषणा कर दी। उपनिवेशवाद के संबंध में भी अमेरिकी रुख के प्रति ब्रिटेन में असन्तोष रहा। उसका यही मत है कि हिन्द चीन, उत्तरी अफ्रीका, पश्चिमी एशिया आदि प्रदेशों में ब्रिटिश लक्ष्यों और हितों के प्रति अमेरिका का दृष्टिकोण विशेष सहानुभूतिपूर्ण नहीं रहा है। स्वेज का सन् 1956 में नासिर द्वारा राष्ट्रीयकरण किए जाने पर ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा जो आक्रामक नीति अपनायी

1. साम्यवाद के विरुद्ध शीतयुद्ध के लिए गठित दक्षिण पूर्व एशिया सन्धि संगठन (सीटो) ने शान्ति-पूर्वक हल्का शोक मनाते हुए 30 जून, 1977 को समाप्त कर दिया। 23 वर्ष पुराने इस संगठन को उसके छः सदस्य देशों के इस दृष्टिकोण के कारण बंद किया गया कि हिन्दचीन में कम्युनिस्टों की विजय के कारण परिस्थितियाँ बदलती हैं तथा सन् 1950 के बाद तथा साम्यवाद के प्रति पाश्चात्य देशों के दृष्टिकोण में काफी सुधार हुआ है। सीटो का जन्म कम्युनिस्ट विरोधी संयुक्त सुरक्षा सन्धि के रूप में सन् 1954 में मनीला समझौते के अधीन हुआ था। सैनिक गठजोड़ को समाप्त करने के बावजूद मनीला समझौता अभी भी कायम रहेगा।

गई उसका अमेरिका ने समर्थन नहीं किया। अमेरिका का यह दृष्टिकोण ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के लिए बड़ा अनपेक्षित था। अरब-इजराइल के सन् 1967 के संघर्ष में भी ब्रिटिश और अमेरिकी नीतियों मे विशेष निकटता नहीं थी।

परन्तु विभिन्न मतभेदों के बावजूद भी दोनों देशों के मौलिक हित परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं और श्री चर्चिल के ये शब्द आज पूर्ण महत्त्व रखते हैं कि—"हमारे अस्तित्व की सम्पूर्ण नीव संयुक्तराज्य अमेरिका के साथ संधि, मित्रता तथा बढ़ते हुए भाई-चारे की भावना पर आधारित है।" निक्सन और फोर्ड प्रशासन के उपरान्त वर्तमान कार्टर प्रशासन से ब्रिटेन के सम्बन्ध अधिक सहयोगपूर्ण है।

ब्रिटेन के फ्रांस तथा अन्य पश्चिमी देशों से सम्बन्ध

ब्रिटेन ने अमेरिका के साथ अपने सम्बन्धों को दृढ करने के अतिरिक्त अन्य पश्चिमी देशों को भी साथ लेने की कोशिश की और अपनी सुरक्षा की दृष्टि से क्षेत्रीय योजनाओं का विकास किया। 4 मार्च, 1947 को उसने फ्रांस के साथ डकर्क-सन्धि (Dunkirk Treaty) सम्पन्न की जो भावी जर्मन आक्रमणों के विरुद्ध एक दूसरे की सहायता करने के उद्देश्य से हुई। इसके बाद 17 मार्च, 1968 को ब्रिटेन ने बेल्जियम, नीदरलैण्ड्स, लक्जमबर्ग और फ्रांस के साथ मिल कर ब्रूसेल्स सन्धि की जिसके परिणामस्वरूप पश्चिमी यूरोपीयन संघ (Western European Union) का निर्माण हुआ। इस सन्धि-संगठन के सदस्यों मे यह निश्चय हुआ कि हस्ताक्षरकर्त्ता देशों में से किसी देश पर यदि यूरोप में सैनिक आक्रमण होता है तो अन्य देश संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की धारा 51 के अनुसार अपनी सम्पूर्ण सैनिक तथा अन्य सहायता आक्रमण के शिकार देश को प्रदान करेंगे।

डकर्क, ब्रूसेल्स और नाटो सन्धियों का सदस्य बन जाने के बाद ब्रिटेन ने यूरोपीय परिषद् (Council of Europe) के निर्माण में रुचि ली। 5 मई, 1949 को इस परिषद् की स्थापना हुई।

जनवरी, 1958 मे यूरोपियन सामान्य मण्डी या साझा बाजार की स्थापना हुई जिसमे बेल्जियम, फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, इटली, नीदरलैण्ड्स और लक्जमबर्ग सम्मिलित हुए। ब्रिटेन इस मण्डी मे सम्मिलित नहीं हुआ। परन्तु जब यूरोपियन सामान्य मण्डी से ब्रिटेन और अन्य देशों को काफी हानि पहुँचने लगी तो इसके दुष्प्रभावों को दूर करने के लिए ब्रिटेन ने यूरोपियन मुक्त व्यापार संघ (European Free Trade Association) का निर्माण किया। यह संघ यूरोपियन सामान्य मण्डी का मुकाबला न कर सका। सन् 1961 तक ब्रिटेन का यूरोप के साथ निर्यात व्यापार घट गया, उसकी कृषि-वस्तुओं की मण्डी समाप्त प्राय: हो गई, अतः विवश होकर उसने यूरोपियन सामान्य मण्डी का सदस्य बनने का प्रयत्न किया, किन्तु फ्रांस की हठधर्मी के कारण उसके सदस्य बनने का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया गया। ब्रिटेन यूरोपियन सामान्य मण्डी का सदस्य बनने का निरन्तर प्रयास करता रहा और उसका सदस्य बन जाना लगभग निश्चित-सा हो गया। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री श्री विल्सन ने मई, 1967 मे ब्रिटिश संसद् मे इस बात की घोषणा भी की, किन्तु

थी दिगॉल का एव इस 'निश्चय' को क्रियान्वित करने में सहायक नहीं हुआ। अप्रैल, 1969 में डिगॉल ने राष्ट्रपति पद छोड़ दिया और अन्ततः दस वर्ष से भी अधिक समय के प्रयास के बाद ब्रिटेन यूरोपीय आर्थिक समुदाय का सदस्य बन ही गया।

28 सितम्बर, 1971 को ब्रिटेन और साझा बाजार के सदस्यों के बीच समझौता हो गया। साझा बाजार के विस्तार से सम्बन्धित रोम की सन्धि पर 22 जनवरी, 1972 को ब्रिटेन, नार्वे, डेनमार्क और एयरे (उत्तर आयरलैण्ड) तथा यूरोपीय आर्थिक समुदाय के वर्तमान छः सदस्य देशों (पश्चिम जर्मनी, फ्रांस, लक्जमबर्ग, नीदरलैण्ड, इटली और बेल्जियम) ने ब्रूसेल्स में हस्ताक्षर किए। साझा बाजार का विधिवत् विस्तार जनवरी, 1973 में हुआ और नए चार सदस्यों ने अपने-अपने देश में सन्धि की पुष्टि करायी। ब्रिटेन में संसद् तथा नार्वे, डेनमार्क और एयरे में वहाँ के मतदाताओं ने उसकी पुष्टि की। पुष्टि से सम्बन्धित प्रपत्र 31 दिसम्बर, 1972 तक साझा बाजार के मुख्यालय में जमा कराए गए। सन्धि के अनुसार नए सदस्य-देशों को साझा बाजार की भविष्य में होने वाली बैठकों में भाग लेने का अधिकार मिल गया।

ब्रिटेन एवं अन्य देश

अमेरिकी गुट में रहते हुए और विभिन्न अवसरों पर साम्यवादी देशों की कटु आलोचना करने पर भी युद्धोत्तर काल में ब्रिटेन ने साम्यवादी गुट के देशों के साथ राजनीतिक सम्बन्धों के अतिरिक्त व्यापारिक सम्बन्ध भी स्थापित किए हैं। वास्तव में साम्यवादी देशों प्रमुखतः रूस और चीन के प्रति ब्रिटेन ने द्विमुखी नीति का अनुसरण किया है। एक ओर तो यूरोप में बढ़ते हुए सोवियत प्रभाव को तथा विश्व के अन्य भागों में साम्यवादी प्रसार को अवरुद्ध करने के लिए वह 'शीत-युद्ध' में सम्मिलित हो गया और प्रादेशिक संगठनों द्वारा साम्यवादी प्रभाव का विस्तार रोकने में तत्पर होने लगा और दूसरी ओर उसने साम्यवादी देशों के साथ अपने व्यावसायिक सम्बन्ध विकसित करने की चेष्टा की। संयुक्तराज्य अमेरिका का अनुगमन करते हुए भी ब्रिटेन ने चीन का विरोध नहीं किया है क्योंकि चीन में उसकी अपार सम्पत्ति तथा वृहद् व्यवसाय है। उसने चीन को, अमेरिकी विरोध के बावजूद कूटनीतिक मान्यता भी प्रदान कर दी है। चीन के व्यापारिक प्रतिनिधि-मण्डलों ने ग्रेट ब्रिटेन का भ्रमण किया और ब्रिटेन द्वारा चीन से विभिन्न क्षेत्रों में व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किए गए। दोनों देशों के प्रधानमन्त्रियों ने एक दूसरे के देशों की यात्राएँ की। दोनों के मध्य समय-समय पर प्रतिनिधि मण्डलों के आने-जाने का क्रम भी जारी है। 3 मई, 1976 को ब्रिटिश विदेश मन्त्री क्रासलैण्ड ने चीन की यात्रा की और चीन को विमानों की बिक्री, वैज्ञानिक साज-सामान देने के बारे में बातचीत की। क्रासलैण्ड ने चीनी नेताओं से आग्रह किया कि सितम्बर में ब्रिटेन में होने वाले फार्नबरो विमान प्रदर्शनी में चीन अवश्य शामिल हो। विश्व की विभिन्न गतिविधियों पर भी विचार-विमर्श हुआ, चीनी नेताओं ने तीसरे विश्व-युद्ध का भय

प्रकट करते हुए कहा कि दो बड़ी शक्तियों के बीच संघर्ष की स्थिति बढ़ती जा रही है और युद्ध स्थान एक बार फिर यूरोप की धरती ही बनेगी, क्रासलैण्ड ने चीन के इस भय को निराधार बताते हुए अपने भाईचारों के विचारों से चीनी अधिकारियों को अवगत कराया। उन्होंने कहा कि ब्रिटिश सरकार हर हालत में पश्चिमी यूरोप में एकता और सुरक्षा कायम रखना चाहती है। हमारा भविष्य यूरोपीय समुदाय के साथ ही है। समुदाय विकास की स्थिति में है और भावी विकास के लिए सभी सदस्य-देश पूरी तरह से सहमत नहीं हो पाते हैं, तथापि समुदाय के भीतर रह कर हम सब सहयोग के प्रति प्रतिबद्ध हैं और हम सबका प्रयास रहता है कि यूरोप की एकता किसी भी तरह से खण्डित न होने पाए। पिछले तीन वर्षों से ब्रिटेन की हर सरकार—कजरवेटिव या लेबर ने यह अनुभव किया है कि हमारी सुरक्षा नाटो पर आधारित है और यही कारण है कि हम उसकी उपयोगिता को महत्व देते हैं। *क्रासलैण्ड की यात्रा की समाप्ति पर प्रसारित संयुक्त विज्ञप्ति में यह बात स्पष्ट कर* दी गई कि नेतृत्व में परिवर्तन के बावजूद ब्रिटेन और चीन में सहयोग और मैत्री पर किसी तरह का अन्तर नहीं आया है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ में ब्रिटेन पश्चिमी गुट का उपनेता है और अधिकांशतः उसने संयुक्तराज्य अमेरिका के साथ मिलकर कार्य किया है। संघ में ब्रिटेन को *अधिकांशतः एशिया और अफ्रीका के राज्यों का विरोध सहना पड़ा है।* इस विरोध का प्रमुख कारण एशियाई और अफ्रीकी राज्यों के प्रति अपनायी जाने वाली उसकी विरोधी नीति रही है। भारत के साथ कश्मीर के मामले में और मिस्र अथवा संयुक्त अरब गणराज्य के साथ स्वेज एवं इजरायल विवाद पर ब्रिटेन से न्याय का गला घोटने की कोशिश की है। सन् 1956 में स्वेज-विवाद पर ब्रिटेन और फ्रांस ने मिस्र के विरुद्ध जो आक्रामक कार्यवाही की उससे मिस्र और ब्रिटेन के सम्बन्ध तनावपूर्ण बन गए और सन् 1967 में अरब-इजरायल संघर्ष में उसके द्वारा अरब विरोधी दृष्टिकोण अपनाने के कारण ये सम्बन्ध और भी कटु बन गए हैं। मतभेदों के बावजूद कतिपय अवसरों पर ब्रिटेन का रुख भारत के प्रति उदार रहा है। चीनी *आक्रमण के समय ब्रिटेन ने भारत को अविलम्ब सैनिक सहायता प्रदान की थी* और वैसे भी ब्रिटेन से विकासशील देशों को जो आर्थिक सहायता दी जाती रही है उसमें सबसे अधिक राशि भारत को प्राप्त हुई है। सन् 1970 में ब्रिटेन ने विकासशील देशों की सहायता पर लगभग 334 8 करोड़ रुपये व्यय किए थे जिसमें भारत के हिस्से में 81 करोड़ रुपये आए। बंगलादेश के मुक्ति आन्दोलन और भारत में शरणार्थियों की बाढ़ के समय ब्रिटिश सरकार का रुख भारत के लिए यद्यपि उदासीन सा रहा तथापि अमेरिका की भाँति असंगत विरोध करने की दृष्टि से संयम ही रखा गया। दिसम्बर, 1971 में भारत-पाक युद्ध के समय सुरक्षा परिषद् में ब्रिटेन का रवैया चाहे पूर्ववत् रहा हो फिर भी अन्य दृष्टियों से वह अमेरिका के समान बहका नहीं था। फिर भी कुल मिलाकर ब्रिटेन का आर्थिक समर्थन तो *पाकिस्तान की ओर* ही है। हिन्दमहासागर में भी यह भारत के वर्चस्व का पक्षधर नहीं है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ में दक्षिण अफ्रीका की रंगभेद नीति के प्रति ब्रिटेन ने कोरा प्रदर्शनात्मक विरोध ही किया है। वह अफ्रीका में रोडेशिया की गोरी सरकार की नीतियो को भी नही रोक पाया है। अत. यह संदेह व्याप्त है कि रोडेशिया की अल्पसंख्यक स्मिथ सरकार को ब्रिटेन का गुप्त एवं अप्रत्यक्ष प्रोत्साहन प्राप्त है। एशियायी और अफ्रीकी राष्ट्रो के सदर्भ में ब्रिटिश विदेश-नीति अधिकांशतः अस्थिर और अस्पष्ट रही है।

फ्रांस की विदेश-नीति
(French Foreign Policy)

फ्रांस की सन् 1958 तक कमजोर स्थिति

यूरोप महाद्वीप के पश्चिम मे स्थित यह देश उत्तर, पश्चिम और दक्षिण मे क्रमशः उत्तरी सागर व इगलिश चेनल, अटलांटिक महासागर तथा भूमध्यसागर से घिरा हुआ है। इसके पूर्व मे जर्मनी है, पूर्वोत्तर मे हॉलैण्ड-बेल्जियम, दक्षिण-पूर्व मे इटली और दक्षिण-पश्चिम मे स्पेन। यद्यपि फ्रास की विदेश-नीति अपने पडोसियो के प्रति परिवर्तनशील रही है, तथापि घनिष्ठ मित्रता के बावजूद भी फास ब्रिटेन की ओर सदा सशंकित रहा है। ब्रिटेन ने कभी भी फ्रास को यूरोप का सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य नहीं बनने दिया। प्रथम महायुद्ध के बाद फ्रास ने जो कुछ भी शक्ति और ख्याति अर्जित की, वह द्वितीय महायुद्ध मे धूल मे मिल गई। युद्ध की समाप्ति के बाद फ्रांस की नई सरकार की अध्यक्षता जनरल डिगॉल के हाथो मे आ गई, परन्तु फ्रास के सविधान से ऊबकर तथा मन्त्रिमण्डलो की अस्थिरता से परेशान होकर डिगॉल ने त्याग पत्र दे दिया और राजनीति से सन्यास ले लिया। अब फ्रास की अस्थिरता का वही पुराना चक्र पुन. आरम्भ हो गया। सन् 1946 से 1958 तक 22 मन्त्रिमण्डल बने। युद्ध और अस्थिर शासन ने फ्रास को इतना नि:शक्त बना दिया कि वह किसी प्रकार की प्रभावशाली विदेश-नीति नहीं अपना सका। मार्च, 1947 मे उसने ब्रिटेन के साथ डकर्क की सन्धि की, तत्पश्चात् संयुक्तराज्य अमेरिका के साथ मार्शल योजना मे भागीदार बनकर उसने अमेरिका से पर्याप्त सहायता प्राप्त की। पश्चिम यूरोप के राजनीतिक एकीकरण को विभिन्न योजनाओ मे उसने सहयोग किया। वह ब्रुसेल्स पैक्ट और नाटो का भी सदस्य बना। अन्य पाँच राष्ट्रो के साथ मिलकर फ्रास ने यूरोपियन साझा बाजार का निर्माण किया और इसमे ब्रिटेन के प्रवेश को रोकने का सफल प्रयास किया। साझा बाजार मे ब्रिटिश प्रवेश मुख्यतः श्री डिगॉल के विरोधी रुख के कारण ही रुका रहा।

फ्रास, अमेरिका और ब्रिटेन के विदेश-मन्त्रियो ने सितम्बर, 1950 मे जर्मनी के प्रश्न पर विचार कर जर्मन लोगो की एकीकरण की भावना का समर्थन किया। रूस ने असहयोग के कारण जर्मनी का एकीकरण सम्भव न हो। सका अस्त मे तीनों राष्ट्रो ने जर्मन-संघीय गणराज्य (पश्चिमी जर्मनी) को ही जर्मन जनता का वास्तविक प्रतिनिधि मानने का निश्चय किया। एशियायी विवादो मे फ्रास ने अधिक भाग नही लिया क्योंकि हिन्द चीन की समस्या मे फ्रास को निरन्तर पीछे हटना पडा तथा

जुलाई, 1954 के जिनेवा शिखर-सम्मेलन में वियतनाम के विभाजन को मान्यता मिल गई। फ्रास कोरिया-युद्ध में भी कोई भाग इसलिए नही ले सका था क्योंकि वह उस समय हिन्द चीन मे साम्यवादियो से युद्ध मे उलझा हुआ था। सन् 1956 मे फ्रास और ब्रिटेन ने इजरायल के साथ मिलकर मिस्र पर आक्रमण किया; किन्तु उनके साम्राज्यवादी इरादे परस्त हो गए, यहाँ तक कि उन्हे सयुक्तराज्य अमेरिका तक के कठोर विरोध का सामना करना पडा।

डिगॉलकालीन विदेश-नीति

सन् 1958 के मध्य तक फ्रास अपनी राजनीतिक अस्थिरता के कारण अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कोई प्रभावशाली कदम नही उठा सका, किन्तु इसके बाद स्थिति मे परिवर्तन आया। मई, 1958 मे पिमरे फ्लिमिन सरकार का पतन हो जाने के बाद डिगॉल के प्रधानमन्त्रित्व मे फ्रांस के पाँचवें गणतन्त्र का उदय हुआ। असेम्बली ने डिगॉल को 6 मास के लिए ससदीय हस्तक्षेप से मुक्त समस्त अधिकार सौंप दिए। उन्होंने 3 जून, 1959 को एक सांविधानिक कानून का निर्माण किया जिसके ससदीय सुधारों को राष्ट्रीय असेम्बली में प्रस्तुत न कर सीधे इलेक्टोरेट के सम्मुख प्रस्तुत किया जा सकता था। 4 सितम्बर, 1959 को पांचवें गणतन्त्र का नवीन सविधान प्रकाशित हुआ जिसके अनुसार ससद् की अनेक शक्तियाँ राष्ट्रपति को हस्तान्तरित कर दी गयी। दिसम्बर, 1959 को राष्ट्रपति के चुनाव मे डिगॉल पहले ही बहुमत से राष्ट्रपति निर्वाचित हो गए थे। डिगॉल ने फ्रास की समस्याओ का दृढता से सामना किया और उसे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सम्मान दिलाया।

अल्जीरिया-फ्रांस संघर्ष का अन्त—फ्रास ने नवीन सविधान के अनुसार 2 अक्तूबर, 1958 को गिनी राज्य को स्वतन्त्र मान लिया और 23 नवम्बर को वह सयुक्त राष्ट्रसघ का सदस्य बन गया। राष्ट्रपति डिगॉल ने शासन की बागडोर हाथ में लेते ही अपना ध्यान अल्जीरिया की तरफ केन्द्रित किया। डिगॉल के पूर्ववर्ती सभी फ्रेंच नेता कह चुके थे कि फ्रास अल्जीरिया में अपने अधिकारो को कभी समाप्त नही करेगा। अपने साम्राज्यवादी अधिकारो की रक्षा के लिए फ्रांस अल्जीरिया के स्वाधीनता आन्दोलन को बुरी तरह कुचलता रहा, किन्तु इससे अल्जीरियावासियो के स्वातन्त्र्य-सघर्ष में कोई कमी नहीं आई। राष्ट्रपति डिगॉल ने *विद्रोहियो को शान्त करने और अल्जीरियन युद्ध को रोकने के लिए समझौता* कराने का निश्चय किया। विद्रोहियों को शान्त करने में तो वह सफल हो गए, किन्तु दूसरे उद्देश्य की प्राप्ति में उन्हे सफलता प्राप्त नहीं हुई। डिगॉल ने अल्जीरियावासियो को फ्रेंच नागरिकता का प्रलोभन दिया, किन्तु वे तो अल्जीरिया की नागरिकता चाहते थे, फ्रास की नही। तब सितम्बर, 1959 में डिगॉल ने घोषणा की कि अल्जीरिया निवासी शान्ति का मार्ग स्वीकार कर लेंगे तो 4 वर्ष के अन्दर ही वहाँ इन सुझावो पर जनमत लिया जाएगा—

1. फ्रास अल्जीरिया पर अपने समस्त अधिकारों को त्याग देगा।
2. फ्रांस के साथ अल्जीरिया का एकीकरण कर लिया जाएगा और

अल्जीरिया-निवासियों को मेट्रोपोलियन फ्रांस के नागरिकों को प्राप्त सुविधाएँ प्रदान की जाएगी।

3. अल्जीरिया निवासी ही वहाँ का शासन करेंगे, किन्तु इसके पीछे फ्रांस का भी आर्थिक-शैक्षिक तथा वैदेशिक सहयोग रहेगा।

परन्तु ये सुझाव उपयोगी सिद्ध नहीं हुए। प्रथम तो ये सुझाव शान्ति-स्थापना के बाद ही क्रियान्वित किए जा सकते थे और शान्ति की स्थापना तभी हो सकती थी जब अल्जीरिया को स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाए। दूसरे चुनाव-परिणामों को फ्रेंच सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त होनी थी जो वहाँ की जनता की राष्ट्रीय भावना के लिए अपमानजनक बात थी। अल्जीरियन गणतन्त्र की अन्तर्कालीन सरकार ने इस विषय पर फ्रेंच सरकार से वार्तालाप करना स्वीकार किया, परन्तु डिगॉल ने उसे अल्जीरिया के प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार करने से इकार कर दिया। जनवरी, 1960 में अल्जीरिया में डिगॉल-विरोधियों ने भीषण विद्रोह कर दिया जिससे समस्या का समाधान और भी दुष्कर हो गया। फरवरी, 1960 में फ्रेंच-संसद द्वारा राष्ट्रपति डिगॉल को अल्जीरिया-विवाद के सम्बन्ध में पूर्ण अधिकार प्रदान कर दिए गए। उन्होंने अल्जीरिया तथा फ्रांस में जनमत-संग्रह कराने का प्रस्ताव किया। यद्यपि यह जनमत-संग्रह 'अल्जीरिया-अल्जीरिया वालों के लिए' विषय पर होना था। किन्तु अल्जीरिया की अन्तर्कालीन सरकार (स्वातन्त्र्य आन्दोलन की संचालक) के अध्यक्ष अब्बास ने इस प्रस्ताव का स्वागत नहीं किया और अपने अनुयायियों को मतदान में भाग न लेने का आदेश दिया। 1961 में जनमत-संग्रह हुआ जिसमें लगभग डेढ़ करोड़ लोगों ने अल्जीरिया में स्वयत्त शासन स्थापित होने के पक्ष में तथा 50 लाख लोगों ने इसके विपक्ष में मत दिया। परन्तु समस्या यह थी कि स्वायत्त शासन प्राप्त करने पर भी अल्जीरिया पूर्ण स्वतन्त्र न होता क्योंकि किसी न किसी रूप में उस पर फ्रांस का अधिकार बना ही रहता, तथापि पारस्परिक वार्तालाप द्वारा कोई समाधान निकल आने की सम्भावना अवश्य बढ़ गई। किन्तु अप्रेल, 1961 में, डिगॉल-विरोधी कुछ अवकाश प्राप्त फ्रेंच सैनिक अधिकारियों ने सहसा आक्रमण कर अल्जीरिया पर आधिपत्य स्थापित कर लिया। डिगॉल ने इस सैनिक विद्रोह को दबा दिया और अल्जीरियायी राष्ट्रवादियों के साथ वार्ता शुरू कर दी। अन्त में, 1 जुलाई, 1962 को अल्जीरिया को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी गई और इस प्रकार राष्ट्रपति डिगॉल ने अल्जीरिया-फ्रांस संघर्ष का अन्त कर दिया।

अन्तर्राष्ट्रीय गौरव की पुनः प्राप्ति की चेष्टा—राष्ट्रपति डिगॉल की प्रमुख चिन्ता सदैव यह रही कि फ्रांस किसी न किसी प्रकार अपने विलुप्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान को पुनः प्राप्त कर ले। इसीलिए शनैः-शनैः वह अपने राष्ट्र को अमेरिकी प्रभाव से मुक्त करने लगे और दूसरी ओर ब्रिटेन के बढ़ते हुए प्रभाव को भी रोकने की चेष्टा में लगे रहे तथा इसीलिए साम्यवादी देशों के साथ उन्होंने मधुर सम्बन्ध स्थापित किए। साम्यवादी चीन के साथ फ्रांस के मित्रतापूर्ण सम्बन्धों में विकास हुआ। मास्को की अणु-परीक्षण निरोध-सन्धि पर हस्ताक्षर न करने वाले केवल दो

ही बड़े देश थे—चीन ग्रौर फ्रांस । दोनों ही ने यह तर्क दिया कि सन्धि का उद्देश्य सोवियत संघ, सयुक्तराज्य ग्रमेरिका ग्रौर ब्रिटेन द्वारा ग्रगु-शस्त्रो के क्षेत्र मे ग्रपना एकाधिकार स्थापित करना है एवं उनका यह प्रयोजन है कि ग्रन्य देश इस शक्ति का विकास न करने पाएँ ।

फ्रास ने वियतनाम मे सयुक्तराज्य ग्रमेरिका की कार्यवाही की निन्दा जिन शब्दो मे की, उनमे चीनी ग्रालोचना की गन्ध थी । यूरोपियन साझा बाजार मे ब्रिटेन के प्रवेश को रोकने की डिगॉल की नीति ने पश्चिमी गुट मे फूट का संकेत दिया । सयुक्तराज्य ग्रमेरिका ने बहुत चाहा कि ब्रिटेन को यूरोपियन साझा बाजार की सदस्यता प्राप्त हो जाए । इसके लिए उसने फ्रास पर दबाव भी डाला, किन्तु डिगॉल ग्रपनी हठ पर दृढ रहे । इतना ही नही, कुछ ग्रौर बातो पर भी फ्रास तथा ब्रिटेन-ग्रमेरिका के मध्य गहरे मतभेद उत्पन्न हो गए । निःशस्त्रीकरण ग्रायोग का सदस्य बनाया गया तो उसने इसमें भाग लेने से इकार कर दिया । इससे भी बढकर घटना नाटो को पोलरिस यन्त्रों से युक्त करने के प्रस्ताव के सम्बन्ध मे घटी । सन् 1962 मे ग्रमेरिका ग्रौर ब्रिटेन मे एक समझौते द्वारा यह तय हुग्रा कि नाटो राज्यों की सेनाग्रो को पोलरिस प्रक्षेपणास्त्रो से लैस किया जाए, परन्तु फ्रास ने इसमे शामिल होने से इकार कर दिया ग्रौर निर्णय लिया कि वह इस कार्य में साथ नही देगा । सन् 1963 मे फ्रासीसी सरकार द्वारा चीन की साम्यवादी सरकार को मान्यता प्रदान कर देने ग्रौर दोनो राष्ट्रो के बीच राजदूतो का ग्रादान-प्रदान हो जाने की घटना से यह ग्रौर भी स्पष्ट हो गया कि राष्ट्रपति डिगॉल का ग्रपना पृथक् मार्ग है जो नाटो राज्यों से भिन्न है ।

चीन को कूटनीतिक मान्यता प्रदान करने के ग्रतिरिक्त राष्ट्रपति डिगॉल ने विश्व के समक्ष एक ग्रौर सुझाव रखा । उन्होने कहा कि दक्षिणपूर्वी एशिया की राजनीतिक स्थिति ग्रत्यन्त डांवाडोल है, ग्रतः इस क्षेत्र का ग्रन्तर्राष्ट्रीय समझौता कर तटस्थीकरण (Neutralisation of S. E Asian Region) कर दिया जाए । सयुक्तराज्य ग्रमेरिका ग्रौर उसके साथी राज्यो ने डिगॉल के सुझाव का तीव्र विरोध किया । वास्तव मे फ्रास की ये सभी कार्यवाहियाँ ग्रटलाटिक समुदाय की एकता भंग करने वाली था । इस एकता को भीषण ग्राघात तो 12 मार्च, 1966 की डिगॉल की इस घोषणा से पहुँचा कि फ्रास नाटो सगठन से पृथक् होना चाहता हैं । फ्रास द्वारा यह निश्चय व्यक्त किया गया कि तीन वर्ष के ग्रन्दर वह ग्रपने सभी ग्रफसरो को नाटो-सेना से वापस बुला लेगा ग्रौर उसके साथ ही नाटो के साथ ग्रपने सारे सम्बन्धों को समाप्त कर देगा । फ्रास की माँग पर ही सयुक्तराज्य ग्रमेरिका को फ्रांसीसी भूमि पर स्थित नाटो ग्रड्डो को खाली कर देना पड़ा । वास्तव मे फ्रास के नाटो के परित्याग के निर्णय से पश्चिमी गुट पर एक महान् संकट ग्रा गया । नाटो मे पश्चिम जर्मनी को इस शर्त पर 1955 मे शामिल किया गया था कि वह स्वतन्त्र रूप से ग्रपनी सैनिक शक्ति मे वृद्धि नही करेगा । इस शर्त के लिए स्वयं फ्रास का विशेष ग्राग्रह था । परन्तु जब फ्रास ही नाटो से निकल जाता तो पश्चिम जर्मनी

भी इस शर्त से मुक्त हो जाता और तब वहाँ सैन्यशक्ति में वृद्धि का कार्यक्रम तीव्र गति से चलने की सम्भावना हो जाती। पश्चिम जर्मनी द्वारा सैनिक शक्ति बढ़ाने के प्रयास की प्रतिक्रिया सोवियत गुट के देशों से होती और इस तरह हथियारबन्दी की होड़ का कुचक्र फिर जोरों से चलना शुरू हो जाता। राष्ट्रपति डिगॉल का यह निर्णय कई भयंकर परिणामों से युक्त था। इसके कारण यूरोप की कूटनीतिक स्थिति खराब हो सकती थी और पश्चिम जर्मनी के प्रश्न पर युद्ध की सम्भावना बढ़ सकती थी।

वस्तुतः जनरल डिगॉल कई वर्षों से अपने विचित्र व्यवहार से राजनीतिक जगत् को चौंकाते रहे। कुछ लोगों ने इसे 'वृद्धावस्था' की सनक का नाम दिया। मगर जो लोग इन कार्यवाहियों के पीछे उद्देश्य खोजने के पक्ष में थे, उनके अनुसार यूरोप और सम्पूर्ण विश्व के प्रति जनरल डिगॉल का अपना विशिष्ट दृष्टिकोण था। उन्होंने कहा था—"अमेरिका विश्व में सबसे शक्तिशाली राष्ट्र बन गया है और स्वभावतः वह अपनी शक्ति को बढ़ाने पर तुला हुआ है।" इस शक्ति-विस्तार से बचने के लिए उनके अनुसार दो ही उपाय थे, पहला यह कि उसी गुट का एक सदस्य बन जाए, जहाँ अमेरिकन शक्ति सर्वोपरि है और वह मार्ग सुगम था। दूसरा उपाय था अपने व्यक्तित्व की सुरक्षा। इसके लिए यह आवश्यक था कि फ्रांस और जर्मनी एक-दूसरे के निकट आएँ, अन्यथा अमेरिकी प्रभाव से नहीं बचा जा सकता था। इसीलिए फ्रांस और जर्मनी में राजनीतिक घनिष्ठता के प्रति सक्रिय कदम उठाए जाते रहे। जनरल डिगॉल का विश्वास था कि फ्रांस ने जिस आर्थिक ढाँचे को पिछले 6 वर्षों में खड़ा किया है, उसे नष्ट न होने दें, ताकि उसे अमेरिकी पद्धति द्वारा आत्मसात् न किया जा सके। अपने व्यक्तित्व को कायम रखने के लिए ही उनकी तीसरी शर्त यह थी कि विश्व में इस बात को समाप्त कर दिया जाए कि शक्ति के कुल दो ही गुट हैं, उसके बाहर कुछ नहीं है। तीसरे गुट की रचना के लिए उन्होंने फ्रांस को पूर्वी यूरोपीय देशों के निकट लाना चाहा ताकि 'विश्व राजनीति में दो गुटों की पद्धति के अतिरिक्त भी कुछ हो।' इसी नीति को अपनाकर ब्रिटेन के यूरोपीय साझा बाजार में सम्मिलित होने का उन्होंने विरोध किया था।

यद्यपि अनेक राजनीतिज्ञों ने यह मत व्यक्त किया कि विश्व की राजनीति को अपने विचारों के अनुकूल परिवर्तित करना और अपनी इच्छानुसार गुटों का निर्माण और विनाश करना फ्रांस के बूते की बात नहीं है तथा डिगॉल में विश्व की राजनीतिक घटनाओं को नियन्त्रित करने की शक्ति नहीं है, तथापि जनरल डिगॉल ने अत्यन्त संदिग्ध और विवादास्पद परिस्थितियों में भी फ्रांस की प्रतिष्ठा का निरन्तर विकास किया। उन्होंने सन् 1962 में अल्जीरियाई स्वतन्त्रता के समय अपने मन्त्रिमण्डल से कहा था—"मित्रो, फ्रांस का जहाज बहुत ही तूफानी यात्रा पर अग्रसर है, जिन्हें यात्रा की थकान महसूस होती है वे जहाज से उतर जाएँ और दूसरों को लहरों के थपेड़े खाने दें।" डिगॉल ने अपने राष्ट्रपति काल में फ्रांस को वास्तव में तूफानी यात्रा पर चलाया और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में फ्रांस रूपी जहाज की शक्ति और प्रतिष्ठा को स्थापित करने की बहुत कुछ सफल चेष्टा की।

डिगॉल के बाद फ्रेंच नीति

यद्यपि राष्ट्रपति डिगॉल ने फ्रांसीसी शासन को स्थायित्व प्रदान किया, तथापि उसकी कुछ नीतियों के प्रति देश में असन्तोष तीव्र होता गया। 29 अप्रैल, 1969 को फ्रांस में एक जनमत-संग्रह के परिणामों की पृष्ठभूमि में राष्ट्रपति डिगॉल ने त्याग-पत्र दे दिया। इस तरह न केवल फ्रांस के इतिहास में ही वरन् वास्तव में समस्त यूरोप के इतिहास में एक युग का अन्त हुआ। 1 जून को फ्रांस में राष्ट्रपति पद के लिए चुनाव हुआ और जॉर्ज पोम्पिदू ने निर्वाचन में विजय प्राप्त की।

नई सरकार ने परिस्थितियोवश, डिगॉल-शासन की अपेक्षा, ब्रिटेन के प्रति नरम रुख अपनाया है, फलस्वरूप वह साझा बाजार में शामिल हो सका। चकोस्लोवाकिया में रूसी हस्तक्षेप की घटना के बाद फ्रांस ने नाटो संगठन में बने रहना सम्भवतः अधिक उपयोगी और आवश्यक अनुभव किया। राष्ट्रपति पोम्पिदू ने अपेक्षाकृत अधिक सहयोगपूर्ण और नरम रुख अपनाते हुए भी डिगॉल की इस मुख्य मांग का निर्वहन किया कि राष्ट्रीय सम्प्रभुता किसी भी कीमत पर दूसरे के हाथ में नहीं जानी चाहिए। राष्ट्रपति पोम्पिदू ने अमेरिका से सम्बन्ध-विच्छेद करने में विश्वास नहीं किया तथापि यह अनुभव किया कि यूरोप अपनी राजनीतिक आकांक्षाओं परम्पराओं और विशेषताओं के कारण अमेरिका से भिन्न है। फ्रांस का यह दृष्टिकोण भी रहा कि उसने अब इंगलैण्ड के अमेरिका के साथ स्वाभाविक सम्बन्धों को 'यूरोपीय दृष्टिकोण' के विरुद्ध नहीं माना। दिसम्बर, 1970 में स्वयं पोम्पिदू ने अपने इस अभिमत का संकेत दिया। डिगॉल की तरह ही पोम्पिदू ने भी फ्रांस को एक परमाणु-शक्ति के रूप में देखना चाहा और इसीलिए सभी तरह के अन्तर्राष्ट्रीय विरोधों के बावजूद जून, 1972 में फ्रांस ने दक्षिण प्रशान्त महासागर में अपने परमाणु परीक्षण कर डाले।

सन् 1974 में फ्रांस के राजनीतिक जीवन में कई महत्वपूर्ण मोड़ आए। अक्तूबर, 1973 में अरब इजरायल युद्ध के बाद अरब देशों द्वारा तेल का मूल्य बढ़ाकर तेल की सप्लाई नियन्त्रित करने से विश्व में जब तेल संकट उत्पन्न हुआ तो अमेरिका ने तेल का उपयोग करने वाले देशों की संयुक्त कार्यवाही द्वारा उसका सामना करने की जो योजना बनाई, फ्रांस के राष्ट्रपति जॉर्ज पोम्पिदू ने उससे फ्रांस को पृथक् रखा। 2 अप्रैल, 1974 को पोम्पिदू की मृत्यु के बाद जिस्कार द एस्तें राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। उन्होंने भी अरब देशों पर संयुक्त रूप से दबाव डालने के बजाय द्विपक्षीय आधार पर सहयोग बढ़ाने की नीति चालू रखी। बाद में अमेरिकी राष्ट्रपति फोर्ड के साथ जिस्कार की भेंट के बाद फ्रांस ने भी तेल उपभोक्ता देशों के साथ सहयोग करने पर सहमति व्यक्त कर दी। फ्रांस ने अरब-इजरायल युद्ध के समय से पश्चिम एशिया के देशों के लिए शस्त्रों के निर्माण पर प्रतिबन्ध लगा दिया था जो अगस्त 1974 में उठा लिया गया। राष्ट्रपति जिस्कार ने फ्रांस की विदेश-नीति को अभी नया मोड़ नहीं दिया है और उनके अभी तक के कार्य-काल में फ्रांस की आर्थिक स्थिति में भी गिरावट आई है। भारत के साथ जिस्कार के कार्यकाल से ही

फ्रांस के सम्बन्ध पूर्ववत् मधुर बने रहे हैं। दोनों देशों के प्रतिनिधि-मण्डल एक दूसरे देश की यहाँ यात्रा करते रहे हैं। जनवरी, 1976 में फ्रांसीसी प्रधानमन्त्री की यात्रा से भारत और फ्रांस के बीच सम्बन्धों को और सुदृढ करने में सहायता मिली। दोनों देशों ने भारत फ्रांस तकनीकी एवं आर्थिक सहयोग को सविस्तार तक लाने और आपसी लाभ के लिए आर्थिक आदान-प्रदान उद्योग एवं प्रौद्योगिकी में सहयोग का विस्तार करने के लिए इस ढाँचे का उपयोग करने पर सहमति व्यक्त की। अक्तूबर, 1976 में एक भारतीय संसदीय प्रतिनिधि मण्डल ने फ्रांस की यात्रा की। मार्च, 1977 में भारत में ऐतिहासिक सत्ता परिवर्तन हुआ और जनता पार्टी की सरकार कायम हुई। नयी सरकार भारत की परम्परागत मैत्री-नीति के अनुकूल फ्रांस के साथ भारत के मैत्री सम्बन्धों का विकास कर रही है। वास्तव में नयी सरकार के कार्यकाल में विदेशों में भारत की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई है। विदेश मन्त्री श्री अटलबिहारी वाजपेयी ने 13 अक्तूबर, 1977 को स्पष्ट शब्दों में कहा कि 'बिना अतिशयोक्ति के यह कहा जा सकता है कि भारत की प्रतिष्ठा ऊँची है। हाल में शान्तिपूर्ण और अहिंसक क्रान्ति से भारत में स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र की जो पुनर्स्थापना हुई है उसने निश्चित रूप से इस देश की विश्वसनीयता बढ़ी है।"

Appendix—A.

शान्ति, मित्रता और सहयोग सन्धि
(अगस्त 1971)

"दोनो के बीच वर्तमान सच्ची मित्रता के सम्बन्धों को सुदृढ और सुविस्तृत करने की इच्छा रखते हुए,

इस विश्वास से कि मित्रता और सहयोग के अधिक विकास से दोनों राज्यों के मौलिक राष्ट्रीय हित तथा एशिया और सारे संसार मे सुदीर्घ शांति को पोषण मिलता है।

विश्व शांति और सुरक्षा की दृढता को संवर्धित करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को कम करने के सतत् प्रयास एव उपनिवेशवाद के अवशेषो को पूर्णतया एव अन्तिम रूप से समाप्त करने के निश्चय से,

विभिन्न राजनीतिक एव सामाजिक प्रणालियो वाले राज्यो के बीच शांति-पूर्ण सह-अस्तित्व और सहयोग के सिद्धान्तो मे अटूट विश्वास रखते हुए,

इस पूर्व विश्वास के साथ कि ससार की वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ सघर्ष द्वारा न सुलझाई जाकर मात्र सहयोग द्वारा ही सुलझाई जा सकती हैं,

सयुक्त राष्ट्रसघ चार्टर के उद्देश्यो और सिद्धान्तो के अनुसरण के सकल्प की पुन पुष्टि करते हुए,

एक ओर भारत गणतन्त्र और दूसरी ओर सोवियत समाजवादी गणतन्त्र संघ ने वर्तमान सन्धि करने का निश्चय किया है, जिसके लिए निम्नांकित पूर्णाधिकारी नियुक्त किए गए हैं :

भारत गणतन्त्र की ओर से श्री सरदार स्वर्णसिंह विदेश मन्त्री

सोवियत समाजवादी गणतन्त्र की ओर से श्री अ. अ ग्रोमिको विदेश मन्त्री

जिन्होने अपने प्रत्यय पत्र प्रस्तुत किए हैं और जिनको शुद्ध और सही माना गया है, वे निम्न प्रकार से सहमत हुए हैं :

अनुच्छेद एक--महन् सविदाकारी पक्ष निष्ठापूर्वक घोषणा करते है कि दोनो देश और उनकी जनता के बीच स्थायी शांति और मित्रता स्थापित रहेगी। प्रत्येक पक्ष दूसरे पक्ष की स्वतन्त्रता, प्रभुसत्ता और क्षेत्रीय अखण्डता का सम्मान करेगा तथा दूसरे के आन्तरिक मामलों मे हस्तक्षेप नही करेगा। महान् सविदाकारी पक्ष सच्ची मित्रता, अच्छी प्रतिवेशिता और व्यापक सहयोग के वर्तमान सम्बन्धों को उपर्युक्त सिद्धान्तो तथा समानता एवं पारस्परिक लाभ के आधार पर विकसित और सुदृढ करते रहेंगे।

अनुच्छेद दो--प्रत्येक सम्भव प्रकार से दोनो देशो की जनता के लिए स्थायी शांति और सुरक्षा को सुनिश्चित करने मे योगदान की इच्छा से प्रेरित होकर महान्

संविदाकारी पक्ष अपने इस संकल्प की घोषणा करते हैं कि वे एशिया और समूचे संसार में शान्ति स्थापित रखने, शस्त्र-दौड़ को रोकने तथा प्रभावकारी अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण के अधीन सामान्य एवं सम्पूर्ण निरस्त्रीकरण के लिए, जिनमें आणविक एवं परम्परागत अस्त्र-शस्त्र दोनों शामिल हैं, सतत् प्रयास करते रहेंगे।

अनुच्छेद तीन—समस्त राष्ट्र और सभी देशों की जनता की समानता के, चाहे उनका कोई भी धर्म या जाति हो, उच्च आदर्श के प्रति अपनी निष्ठा से प्रेरित होकर महान् संविदाकारी पक्ष उपनिवेशवाद और जातिवाद के सभी रूपों की निंदा करते हैं और उन्हें पूर्णतया लुप्त कर देने के प्रयास के संकल्प में पुन: आस्था प्रकट करते हैं।

इन उद्देश्यों की प्राप्ति तथा उपनिवेशवाद एवं जातिवाद के विरुद्ध संघर्ष करने वाले सभी देशों की जनता की उचित आकांक्षाओं का समर्थन करने के लिए महान् संविदाकारी पक्ष अन्य राज्यों के साथ सहयोग करेंगे।

अनुच्छेद चार—भारत गणतन्त्र सोवियत समाजवादी जनतन्त्र संघ की शान्तिप्रिय नीति का सम्मान करता है जिसका उद्देश्य सभी राष्ट्रों के साथ मित्रता और सहयोग को सुदृढ़ करना है।

सोवियत समाजवादी जनतन्त्र संघ भारत की गुटमुक्त नीति का सम्मान करता है और इसमें पुन: आस्था प्रकट करता है कि विश्व-शांति और अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा कायम रखने तथा संसार में तनाव को कम करने में इस नीति का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अनुच्छेद पाँच—विश्वशान्ति एवं सुरक्षा को सुनिश्चित करने में गहन अभिरुचि रखते हुए तथा इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पारस्परिक सहयोग का भारी महत्त्व देते हुए महान् संविदाकारी पक्ष दोनों राज्यों के हितों को प्रभावित करने वाली मुख्य अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के बारे में प्रमुख राजनेताओं के बीच गोष्ठी और विचारों के आदान-प्रदान, दोनों सरकारों के विशेष दूतों तथा सरकारी प्रतिनिधि-मंडलों की यात्रा एवं राजनयिक माध्यमों के द्वारा बराबर सम्पर्क बनाए रखेंगे।

अनुच्छेद छ:—दोनों के बीच आर्थिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी सहयोग को पूरा महत्त्व देते हुए महान् संविदाकारी पक्ष परस्पर लाभकारी एवं व्यापक सहयोग को इन क्षेत्रों में बराबर सुदृढ़ एवं विस्तृत करते रहेंगे तथा 26 दिसम्बर, 1970 के भारत-सोवियत व्यापार समझौते के अन्तर्गत निकटस्थ देशों के साथ उल्लिखित विशेष व्यवस्था एवं वर्तमान समझौते के अधीन समानता, पारस्परिक लाभ तथा अति अनुगृहीत राष्ट्र के प्रति व्यवहार के आधार पर व्यापार, परिवहन और संचार का विस्तार करेंगे।

अनुच्छेद सात—महान् संविदाकारी पक्ष विज्ञान, कला, साहित्य, शिक्षा, जन-स्वास्थ्य, प्रेस, रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा, पर्यटन और खेल के क्षेत्रों में पारस्परिक सम्बन्ध एवं सम्पर्क और अधिक विकसित करेंगे।

अनुच्छेद आठ—दोनों देशों के बीच विद्यमान परम्परागत मित्रता के अनुसार महान् संविदाकारी पक्षों का प्रत्येक पक्ष निष्ठापूर्वक घोषित करता है कि वह किसी भी ऐसे सैनिक संगठन में, जो दूसरे पक्ष के विरुद्ध हो, न सम्मिलित होगा और न भाग लेगा।

प्रत्येक महान् संविदाकारी पक्ष वचनबद्ध है कि वह एक दूसरे पक्ष पर किसी प्रकार का आक्रमण नहीं करेगा तथा अपने क्षेत्र में किसी प्रकार के ऐसे कार्य को नहीं होने देगा जिससे दूसरे पक्ष को सैनिक क्षति होने की आशंका हो।

अनुच्छेद नौ—प्रत्येक महान् संविदाकारी पक्ष वचनबद्ध है कि वह किसी तीसरे पक्ष को, जो महान् संविदाकारी पक्ष के विरुद्ध शस्त्र संघर्ष में रत हो, किसी प्रकार की सहायता नहीं देगा। दोनों में से किसी पक्ष पर आक्रमण होने या आक्रमण का खतरा उपस्थित होने पर महान् संविदाकारी पक्ष शीघ्र ही परस्पर विचार-विमर्श करेंगे ताकि ऐसे खतरे को समाप्त किया जाए तथा दोनों देशों की शांति और सुरक्षा को सुनिश्चित करने के लिए समुचित प्रभावकारी कदम उठाए जाएँ।

अनुच्छेद दस—प्रत्येक महान् संविदाकारी पक्ष निष्ठापूर्वक घोषित करता है कि वह किसी भी एक या एक से अधिक राज्यों के साथ कोई भी गुप्त या प्रकट दायित्व अपने ऊपर नहीं लेगा जो इस सन्धि के प्रतिकूल हो। महान् संविदाकारी पक्ष का प्रत्येक पक्ष यह भी घोषित करता है कि उसका किसी राज्य या राज्यों के साथ न कोई ऐसा वर्तमान दायित्व है और न भविष्य में वह कोई ऐसा दायित्व लेगा जिससे दूसरे पक्ष को किसी प्रकार की हानि हो सकती हो।

अनुच्छेद ग्यारह—यह सन्धि बीस वर्षों की अवधि के लिए की गई है और महान् संविदाकारी पक्षों में से एक पक्ष सन्धि के समाप्त होने के बारह महीने पूर्व दूसरे पक्ष को नोटिस देकर सन्धि को समाप्त करने की इच्छा घोषित न करे तो प्रत्येक पाँच वर्ष की अवधि के बाद स्वत. इसकी अवधि बढ़ जाएगी। यह सन्धि अनुसमर्थन के अधीन होगी और अनुसमर्थन के दस्तावेज के आदान-प्रदान के दिन से लागू होगी। दस्तावेजों का यह आदान-प्रदान हस्ताक्षर हो जाने के एक महीने के भीतर मास्को में होगा।

अनुच्छेद बारह—महान् संविदाकारी पक्षों के बीच इस सन्धि के किसी एक या एकाधिक अनुच्छेद की व्याख्या में किसी प्रकार का अन्तर उत्पन्न होने पर *शांतिपूर्ण उपायों, पारस्परिक सम्मान* और सूझबूझ द्वारा द्विपक्षीय ढंग से उसे निपटाया जाएगा।

उपर्युक्त पूर्णाधिकारियों ने वर्तमान सन्धि पर हिन्दी, रूसी और अंग्रेजी में हस्ताक्षर कर दिए हैं इन पर उन्होंने अपनी मुहर लगादी है और इस सन्धि के सभी के सभी पाठ समान रूप से प्राधिकृत हैं।

आज, नई दिल्ली में ईसवी सन् 1971 के अगस्त मास के नवें दिन तदनुसार शक संवत् 1893 के श्रावण मास के अठारहवें दिन यह सन्धि सम्पन्न हुई।"

Appendix—B

यूरोपीय साम्यवाद और सोवियत संघ

पश्चिमी यूरोप के देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों का सोवियत प्रभाव से मुक्त रहने का आग्रह कोई नया नहीं है, किन्तु इस आग्रह को लेकर इतनी कटु बहस पहले सम्भवत: कभी नहीं हुई जितनी कि स्पानी कम्युनिस्ट पार्टी के नेता सांतियागो कारिल्लो की पुस्तक 'यूरोपीय साम्यवाद और राज्य' को लेकर हुई है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन के इतिहास में यह कोई नया मोड है, फिर भी यह सम्भावना तो है ही कि विवाद बढ़ने पर पश्चिमी यूरोप की कम्युनिस्ट पार्टियाँ अन्तत मास्को से सम्बन्ध तोड सकती हैं।

श्री कारिल्लो ने अपनी पुस्तक मे यह तर्क दिया है कि लेनिन ने जिस प्रकार के सर्वहारा वर्ग के राज्य का सूत्रपात किया था वैसा कहीं अस्तित्व मे नहीं है और उस देश में तो और भी नहीं है जिसे हमारा आदर्श बनाया जाता है। उनका कहना है कि आज सोवियत सघ मे नौकरशाही के पास विभिन्न स्तरो पर अनुदार तथा अनियन्त्रित सत्ता है, वह मजदूरो और पार्टी की भी उपेक्षा करके निर्णय करती है। सोवियत सघ मे वास्तविकता सिद्धान्त से कहीं दूर जा पड़ी है और वहाँ भी बुर्जुआ समाज की तरह कथनी और करनी मे भारी अन्तर आ गया है जिसके कारण सारी व्यवस्था 'अलग-थलग और दुर्बोध' बन गई है।

श्री कारिल्लो ने सोवियत सघ की आर्थिक उपलब्धियो को स्वीकार किया है। वह उन कारणो को भी स्वीकार करते हैं जिनसे बाध्य होकर सोवियत सघ को अपनी सैनिक शक्ति का विस्तार करना पडा। उनका आरोप तो यह है कि आर्थिक तथा सैनिक शक्ति सचय की प्रक्रिया मे सोवियत सघ लोकतन्त्रीकरण से दूर जा पडा और शक्ति को ही चरम साध्य मानकर उसने सिद्धान्त को सत्ता प्राप्ति का एक साधन बना दिया जिसका एक स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि वह प्रत्येक राष्ट्रीय मुक्ति सघर्ष को और समाजवाद के लिए लडी जाने वाली हर लडाई को विश्व मे अपनी स्थिति सुदृढ करने का साधन मानने लगा।

सोवियत संघ मे इस पर तीखी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। सोवियत पत्रिका 'न्यू टाइम्स' ने पुस्तक की समीक्षा प्रकाशित की जिसमे सांतियोगो कारिल्लो पर 'निष्ठुर सोवियतवाद विरोधी' होने का आरोप लगाते हुए कहा कि उन्होंने 'हमारे देश और हमारी पार्टी' की जिन शब्दो मे आलोचना की उनका प्रयोग तो

प्रतिक्रियावादी लेखक भी प्रायः नहीं करते। श्री कारिल्लो ने इस आरोप का तत्काल खण्डन करते हुए 'फटकार और हुक्का पानी बन्द' करने की सोवियत तकनीक की भर्त्सना की। उन्होंने सोवियत छाप साम्यवाद को अस्वीकार करते हुए कहा कि "स्पानी पार्टी किसी सत्तारूढ़ दल या इकाई के प्रति प्रतिबद्ध नहीं है।"

इस विवाद पर रोमानिया में भी प्रतिक्रिया हुई। वहां की सत्तारूढ़ कम्युनिस्ट पार्टी ने एक वक्तव्य में सोवियत विचारों से तीव्र मतभेद व्यक्त करते हुए श्री कारिल्लो के यूरोपीय साम्यवाद का समर्थन किया। पार्टी के समाचार पत्र 'सिंतेइआ' ने लिखा कि सभी कम्युनिस्ट पार्टियों का यह मौलिक अधिकार तथा कर्तव्य है कि वे बाह्य आलोचना से मुक्त रह कर अपनी नीतियां स्वयं निर्धारित करें। समाचार-पत्र ने विवाद पैदा करने, आरोप लगाने और साम्यवादी आन्दोलन में तीव्र मतभेद उत्पन्न करने के प्रयास की भी निन्दा की।

इटली के उस प्रतिनिधि-मण्डल के जो हाल ही में सोवियत संघ से लौटा है, एक सदस्य एमानुएले मकालुसो ने भी रोम लौटने पर यह कहा कि पश्चिमी यूरोप की कम्युनिस्ट पार्टियों और सोवियत संघ के सम्बन्ध कठिन किन्तु सम्भव तथा अनिवार्य हैं। इटली की कम्युनिस्ट पार्टी चेकोस्लोवाकिया की स्थिति को एक हल न हुआ संकट मानती है और उसका आग्रह है कि पूर्वी यूरोप में मानवाधिकारों की रक्षा के लिए कोई ठोस कार्यवाही की जाए। श्री मकालुसो ने बताया कि मस्कवा में बातचीत के दौरान इटली के प्रतिनिधि-मण्डल ने यह स्पष्ट कर दिया था कि यूरोपीय साम्यवाद के विचार पर बहस का तो इटली समर्थन करता है, किन्तु वह श्री कारिल्लो को समाजवाद का शत्रु बताने वाली 'न्यू टाइम्स' की घोषणा का *समर्थन नहीं कर सकता।*

यूरोपीय साम्यवाद की इस धारणा ने ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी को भी उद्वेलित कर रखा है, और पार्टी विभाजन के कगार पर खड़ी है। पार्टी ने इस सम्भावित विभाजन को टालने के लिए अपने नए घोषणा-पत्र 'समाजवाद का ब्रितानी मार्ग' में यह संकल्प दोहराया है कि वह मतपेटी द्वारा सत्ता प्राप्त करना चाहती है, यद्यपि इसके लिए 'जन संघर्ष' का सहारा लिया जा सकता है।

यूरोपीय साम्यवाद को हर कीमत पर सोवियत संघ से स्वतन्त्र रखने के श्री कारिल्लो के विचार की समर्थक फ्रांस और इटली की कम्युनिस्ट पार्टियां भी हैं। फ्रांस, इटली और स्पेन की कम्युनिस्ट पार्टियां यह जानती हैं कि सोवियत संघ से जुड़े रहकर वह अपने देश के मतदाताओं से नहीं जुड़ पाएँगी। सशस्त्र क्रान्ति द्वारा सत्ता हथियाना पश्चिमी यूरोप में फिलहाल सम्भव नहीं है। तब उनके सामने यही एक मार्ग रह जाता है कि वे लोकतन्त्री उपायों से सत्ता प्राप्त करें। पश्चिम का उदार मतदाता, चाहे वह साम्यवादी ही क्यों न हो, बाहर से निर्देश प्राप्त करने के पक्ष में नहीं है और न ही उसे साम्यवाद के प्रचार-प्रसार का सोवियत तरीका पसंद है। आधे यूरोप को साम्यवाद के संरक्षक की ओट में सोवियत संघ किस प्रकार दबोचे हुए है, इसकी कसक भी उसके मन में है। इसीलिए जब पश्चिमी यूरोप की

कोई कम्युनिस्ट पार्टी पूर्वी यूरोप में मानवाधिकारों की रक्षा और सोवियत संघ से स्वतन्त्र होने की बात कहती है तो उसका व्यापक प्रभाव पड़ता है।

और यही सोवियत संघ की सबसे बड़ी परेशानी है। वह पूर्वी यूरोप में पश्चिमी यूरोप की कम्युनिस्ट पार्टियों का हस्तक्षेप सहन नहीं कर सकता। यूरोपीय साम्यवाद से उसके विरोध के मूल में भी मुख्यतः यही कारण है। हंगरी की कम्युनिस्ट पार्टी के रवैये ने, जिसका इटली की कम्युनिस्ट पार्टी से घनिष्ठ सम्पर्क है, सोवियत संघ की चिन्ता को और भी बढ़ा दिया है। हंगरी की कम्युनिस्ट पार्टी ने अपने-अपने देशों में लोकतान्त्रिक परिवर्तन और समाजवादी समाज की स्थापना के लिए अपनी नीतियाँ निर्धारित करने के यूरोपीय कम्युनिस्ट पार्टियों के अधिकार और कर्तव्य के सिद्धान्त को मुखर समर्थन दिया है।

स्वारोपित इस बहस ने सोवियत संघ को विषम स्थिति में डाल दिया है। यदि वह यूरोपीय साम्यवाद के विरोध के स्वर को और तीव्र करता है तो पश्चिमी यूरोप की कम्युनिस्ट पार्टियों से उसका सम्बन्ध विच्छेद प्रायः निश्चित हो जाएगा और तब वे पार्टियाँ पूर्वी यूरोप में मानवाधिकारों के संघर्ष को तीव्र करने के लिए पूरी तरह स्वतन्त्र होंगी। इससे वारसा-सन्धि-संगठन की स्थिति कमजोर होगी, किन्तु यदि वह यूरोपीय साम्यवाद के विचार को मान्यता देता है तो अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन का मुखिया होने का उसका दावा निरस्त हो जाएगा। यूगोस्लाविया, चीन और अल्बानिया उससे सम्बन्ध-विच्छेद करके नेतृत्व को पहले ही सशक्त चुनौती दे चुके हैं।

ऐसी स्थिति में सोवियत संघ के सामने बीच का जो मार्ग बचा रहता है वह है बीती बिसार कर येन केन-प्रकारेण पश्चिमी यूरोप की कम्युनिस्ट पार्टियों से जुड़े रहना। यह उसके लिए एक कड़ुवा घूँट होगा, किन्तु और कोई चारा भी नहीं है। यदि वह चाहता है कि अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन में उसकी साख को और ठेस न पहुँचे तो यह कड़ुवा घूँट उसे पीना ही होगा। इससे न केवल फ्रांस, इटली और स्पेन की कम्युनिस्ट पार्टियों के सोवियत-विरोध की प्रखरता कम होगी बल्कि अफ्रीकी, एशियाई और लातीनी अमेरिकी देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों को भी सोवियत विरोध की हवा से एक हद तक बचाए रखा जा सकेगा।

सोवियत संघ की इस नीति का एक दूरगामी परिणाम यह भी हो सकता है कि जब कभी फ्रांस, इटली और स्पेन की कम्युनिस्ट पार्टियाँ मतपेटी द्वारा सत्तारूढ होंगी तो वे नाटो को कमजोर बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकेंगी। लेकिन यह बहुत दूर की कौड़ी है। वर्तमान में तो सोवियत संघ की मुख्य समस्या अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन में अपने नेतृत्व और पूर्वी यूरोप में अपना प्रभुत्व बनाए रखने की है।

(दिनमान, 17-23 जुलाई, 1977)

Appendix—C

दक्षिण-पूर्वी एशिया में जापान का बढ़ता प्रभाव

दक्षिण-पूर्वी एशिया मे जापान को अब एक नया प्रभुत्व प्राप्त हो गया है। मार्च, 1971 मे जापानी प्रधानमन्त्री ताकियो फुकुदा, जब वाशिंगटन मे अमेरिकी राष्ट्रपति कार्टर से भेंट-वार्ता के लिए गए थे, तब राष्ट्रपति कार्टर ने फुकुदा से कहा था कि एशिया की राजनीति को स्थिर रखने मे जापान को अमेरिका का हाथ बँटाना चाहिए। फुकुदा से यह भी कहा गया था कि जापान दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशो की अर्थव्यवस्था को स्थिर रखने की नीति मे है और यह उत्तरदायित्व उसको ग्रहण करना चाहिए।

इस अमेरिकी-जापान विचार-विनिमय के फलस्वरूप जापानी प्रधानमन्त्री ने अगस्त मे पूर्वी एशिया की छः राजधानियो की यात्रा की तथा मलेशिया की राजधानी क्वालालपुर मे 'एशियान' (पाँच दक्षिण-पूर्वी देशो का सगठन, जिसके सदस्य हैं इण्डोनेशिया, मलेशिया, फिलीपीन, सिंगापुर और थाईदेश) के राष्ट्रपतियो तथा प्रधानमन्त्रियो के शिखर-सम्मेलन मे भाग लिया तथा आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड के प्रधानमन्त्रियो से, जो तब वहां 'एशियान' के नेताओ से वार्ता के लिए आए हुए थे, विचार-विमर्श किया। विचार-विमर्श का मुख्य उद्देश्य दक्षिण-पूर्वी एशिया की पूँजीवादी अर्थव्यवस्था से सम्बद्ध 'एशियान' देशो की सहायता करना तथा समर्थ बनाना था।

दक्षिण-पूर्वी एशिया सन् 1975 से दो स्पष्ट भागो मे बँट गया है—हिन्दचीन के तीन देशो का समाजवादी भाग तथा स्वतन्त्र अर्थनीति वाले पूँजीवाद से सम्बन्धित 'एशियान' के पाँच देशो का भाग। हिन्दचीन के सफल जन-सघर्ष के बाद सभी पाश्चात्य पूँजीवादी देशो को आशका है कि अब यदि 'एशियान' को आर्थिक, राजनीतिक तथा सुरक्षात्मक क्षेत्रों मे सुदृढ नही किया गया तो इनमे समाजवादी क्रान्ति फूट पडेगी और यह क्रान्ति अन्य समाजवादी देशो की सहायता से इन देशो की सत्ता तथा शासको का अन्त कर देगी। यह स्थिति कुछ कुछ थाईदेश मे शुरू हो गई है।

एशियान देशो के रबड तथा अन्य बागो और कल-कारखानो मे जापान तथा पाश्चात्य देशो की बहुत-सी पूँजी लगी हुई है तथा पूँजीवादी देशों से इनकी अर्थव्यवस्था जुड़ी होने के कारण यहाँ बैंक, बीमा कम्पनियाँ, व्यापार तथा समुद्री यातायात अधिकतर पूँजीवादी देशो के हाथो मे हैं। इन देशों की राजसत्ता यदि बदली तो यहाँ की अर्थव्यवस्था को, जो अधिकतर जापान, तथा पाश्चात्य देशो के हाथो मे हैं, हानि होने की आशंका है। इसलिए जापान जो एशिया मे पूँजीवादी देशों का अगुआ है, तथा अमेरिका, जो पूँजीवादी व्यवस्था का विश्व-नेता है,

मिल-जुलकर इस कोशिश में है कि दक्षिण-पूर्वी एशिया की शेष राजसत्ताएँ न केवल ज्यों की त्यों रहें बल्कि और सुदृढ़ हो ताकि बगल के समाजवादी देशों से होने वाले संघर्ष में वे अपनी स्थिति कायम रख सकें।

'एशियान' देश अन्य कारणों से भी जापान तथा पाश्चात्य देशों के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। बहुत से पदार्थ जो प्रमुख उद्योगों या मैनिक उद्योगों के लिए अति आवश्यक हैं, जैसे रबड़, टीन, शहतीर तथा इमारती लकड़ी नाड़ तथा नारियल का तेल, पैट्रोल और अन्य खनिज, इन देशों में प्रचुरता से पाए जाते हैं। रबड़, टीन तथा ताड-तेल के ये देश विश्व के सबसे बड़े उत्पादक हैं। अगर इन देशों की सरकारों में परिवर्तन हुआ तो इन पदार्थों के उत्पादन पर जो नियन्त्रण आज जापान, अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस इत्यादि के हाथों में है, वह निकल जाएगा और इन पदार्थों के बिना जापानी उद्योग बहुत कठिनाई में पड़ जाएँगे। वियतनाम में हार के बाद अमेरिका इन राजसत्ताओं को कायम रखने तथा मजबूत बनाने का भार सीधे अपने ऊपर नहीं लेना चाहता है। इसका मुख्य कारण यह है कि अमेरिकी जनता अब हजारों मील दूरस्थ देशों की सत्ताओं की प्रतिरक्षा का भार नहीं उठाना चाहती।

अमेरिकी नेता अब जानते हैं कि यदि उन्होंने अपने देश को दूसरी सत्ताओं की रक्षा में झोंका तो उस चेष्टा में देश की रही-सही मान्यताएँ भग हो जाएँगी और अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। इस उत्तरदायित्व को अब वह बाँटना चाहता है। इस बँटवारे के लिए अमेरिका ने तीन साझीदार छाँटे हैं—जापान, आस्ट्रेलिया तथा न्यूज़ीलैण्ड। 'एशियान' देशों की आर्थिक सहायता का कुछ भार अमेरिका जापान पर लादना चाहता है तथा सैनिक सहायता का भार आस्ट्रेलिया तथा न्यूज़ीलैण्ड पर।

जापान एशियान' देशों में लगाए हुए कल कारखानों तथा इनके साथ व्यापार द्वारा हर साल बहुत धन कमाता है। इण्डोनेशिया के अतिरिक्त, जिसका करीब 80 फीसदी तेल जापान खरीदता है, शेष सभी चार 'एशियान' देश हर वर्ष जापान के ऋणी रहते हैं क्योंकि उनका जापान के साथ निर्यात उनके आयात का औसतन एक चौथाई होता है। खनिजों तथा अपने उद्योगों के अति आवश्यक पदार्थों के अतिरिक्त अन्य वस्तुएं जापान 'एशियान' देशों से नहीं खरीदना चाहता और अपने उद्योग की सभी वस्तुएँ इन देशों में बेचने की जापान को खुली छूट है। इसमें जहाँ भी जाइए, सब जगह जापानी ट्रॉजिस्टरों, कैमरों, घड़ियों, टेप रिकार्डरों, कपड़ों तथा तरह-तरह की छोटी बड़ी मशीनों के विज्ञापन तथा दुकानें दिखाई देंगी। इन देशों में जापानी कम्पनियों के हाथों में थोक व्यापार ही नहीं बल्कि फुटकर व्यापार भी है। यहाँ जापानी बड़ी दूकानें सिर्फ कपड़े, घड़ी, कलपुर्जे ही नहीं खान-पीन की सभी चीजें फुटकर में बेचती हैं। यहाँ पर्यटन से लेकर मशीनरी तथा स्कूल के बच्चों की पेंसिल रबड़ का व्यापार तक जापानियों के हाथों में है। जापान इन देशों से इतना धन कमाता है कि उसका सही अनुमान लगाना कठिन है। इसलिए अमेरिका चाहता है कि जापान यथास्थिति बनाए रखने के लिए इन देशों को आर्थिक सहायता प्रदान करे।

आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड अमेरिका से सैनिक सन्धि, 'एनजुस' द्वारा बंधे हैं और ये दोनों देश, सिंगापुर तथा मलयेशिया के साथ 'पांच देशों के रक्षा-प्रबन्ध' से प्रतिबद्ध हैं। इस रक्षा-प्रबन्ध के सदस्य ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, मलयेशिया तथा सिंगापुर हैं। इस प्रबन्ध के अन्तर्गत आस्ट्रेलिया अपनी हवाई सैनिक टुकड़ियों तथा लड़ाकू विमान (एफ–111 तथा एफ–5 ई) मलयेशिया में बटरवर्थ के हवाई अड्डे पर रखता है तथा न्यूजीलैण्ड के 1100 से 1500 तक सैनिक तथा उनके हथियार सिंगापुर में रहते हैं।

दो अन्य देश, थाईदेश तथा फिलीपिन, अमेरिका के साथ रक्षा-सन्धियों से सम्बद्ध हैं। सन् 1965 में सत्ता-परिवर्तन के बाद इण्डोनेशिया का समस्त सैनिक सामान अमेरिका से आता है। इसमें से कुछ सहायता के रूप में आता है तो कुछ इण्डोनेशिया पैसा देकर खरीदता है। इसके फलस्वरूप कि अब 'एशियान' के पाँचों सदस्य-देश अपनी सेनाओं का साज-सामान मुख्य तौर से अमेरिका से खरीदते हैं।

अमेरिकी-जनता अब प्रश्न करने लगी है कि उनकी सरकार दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों को सैनिक साज-सामान में सहायता क्यों देती है? प्रश्न का उत्तर देना सरकार के लिए कठिन होता जा रहा है। इसलिए उसने यह उपाय निकाला है कि यह रक्षा-साज-सामान पहले अपने से सैनिक सन्धि से बंधे देशों, आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड को दे और तब फिर ये देश उस साज सामान को 'एशियान' के सदस्यों को दें। संक्षेप में अमेरिका की ओर से जापान 'एशियान' देशों की आर्थिक सहायता करे तथा आस्ट्रिया और न्यूजीलैण्ड सैनिक तथा सामरिक सहायता दें। इस दशा में कार्य चालू करने के लिए अगस्त, 1977 के दूसरे सप्ताह में जापान, आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड के प्रधानमन्त्री क्वालालम्पुर में 'एशियान' के राष्ट्रपतियों तथा प्रधानमन्त्रियों से वार्ता करने आए थे।

यद्यपि जापान ने, शब्दों में, अमेरिका के अनुरोध पर क्वालालम्पुर में 'एशियान' की आर्थिक सहायता करने का भार ले लिया, तथापि वास्तव में उसकी इन देशों का शोषण करने की नीयत में कोई अन्तर नहीं आया है। जापान अब यह सोचता है कि इस नए रिश्ते से वह क्या लाभ उठा सकता है।

क्वालालम्पुर में 'एशियान' नेताओं ने जापान से प्रार्थना की थी कि वह इन देशों के अन्य उत्पादक तथा उनके द्वारा निर्मित वस्तुएँ खरीदे ताकि उनका जापान के साथ व्यापार सन्तुलित हो सके। जापान ने इस प्रार्थना को ठुकरा दिया। क्वालालम्पुर में उसके प्रधानमन्त्री ने एक ही वचन किया कि जापान 'एशियान' के पाँच नए उद्योगों के लिए एक अरब अमेरिकी डालर अर्थात् करीब नौ अरब रुपये का ऋण देगा, किन्तु ऋण देने से पहले वह जानना चाहेगा कि ये उद्योग मुनाफा कमा सकते हैं कि नहीं। (दिनमान, सितम्बर-अक्तूबर, 1977)

Appendix—D

जनवरी 1977 से दिसम्बर 1977 तक की महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं की झलक

जनवरी, 1977

1 कनाडा द्वारा पाकिस्तान को परमाणु सम्बन्धी जानकारी देना बन्द।

2 रोडेशिया के प्रधानमन्त्री इयान स्मिथ द्वारा ब्रिटेन की अन्तरिम सरकार का प्रस्ताव रद्द। इक्वाडोर द्वारा अमेरिकी तेल कम्पनी का राष्ट्रीयकरण।

4 बंगलादेश के मार्शल ला प्रशासक जनरल जियाउर्रहमान द्वारा पीकिंग में दो समझौतों पर हस्ताक्षर। जिम्मी कार्टर द्वारा पश्चिमी एशिया सम्मेलन पुनः शुरू कराने के लिए इजरायल पर दबाव।

7 पांच अफ्रीकी राष्ट्रपतियों की लुसाका में शिखर-वार्ता।

8 जनरल विक्टर कुलीकोव वारसा-सन्धि समझौते के सेनाध्यक्ष नियुक्त।

9 जिम्बाब्वे मुक्ति मोर्चे को पूर्ण समर्थन देने का प्रस्ताव पारित कर लुसाका शिखर-सम्मेलन समाप्त।

12 फ्रांस द्वारा अरब-देशों को 200 मिराज देने का निर्णय।

18 श्रीमती इन्दिरा गांधी द्वारा भारत में मार्च में आम चुनाव की घोषणा।

20 जिम्मी कार्टर द्वारा अमेरिका के 39वें राष्ट्रपति के रूप में शपथ-ग्रहण।

24 इयान स्मिथ द्वारा रोडेशिया पर ब्रिटेन के ताजा प्रस्ताव रद्द।

29 हिन्दमहासागर में अमेरिकी नौसैनिक टुकड़ियों की गश्त की चीन द्वारा निन्दा।

30 सूडान के राष्ट्रपति नुमेरी द्वारा लालसागर को शान्ति का क्षेत्र घोषित करने का आग्रह।

31 एंड्रू यंग द्वारा संयुक्तराज्य अमेरिका के स्थायी प्रतिनिधि के रूप में शपथ-ग्रहण।

फरवरी, 1977

1 अमेरिका द्वारा दक्षिण कोरिया से धीरे-धीरे सेना हटाने का निश्चय।

2 साइरस वैंस की 28 मार्च को सोवियत संघ की यात्रा।

3 इथियोपिया की विफल क्रान्ति में राज्याध्यक्ष तेफेरी बांटे और उनके सात समर्थकों की हत्या।

5 मिस्र और सीरिया द्वारा संयुक्त कमान गठित करने का निर्णय ।
7 सऊदी अरब के शाह खालिद को संयुक्तराष्ट्र शान्ति पुरस्कार ।
12 ढाका में भारत और बंगलादेश में व्यापार समझौता ।
16 मुहम्मद दाऊद अफगानिस्तान के राष्ट्रपति निर्वाचित ।
18 संयुक्तराष्ट्र में अमेरिकी राजदूत एंड्रू यंग द्वारा दक्षिण अफ्रीका में कालों के शासन का समर्थन ।
19 ईराक और मलेशिया द्वारा हिन्दमहासागर को शान्ति का क्षेत्र बनाए रखने की माँग ।
23 काठमाण्डू में संयुक्तराष्ट्र द्वारा आयोजित समारोह (एशियाई स्त्रियों द्वारा राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में सक्रिय होना) समाप्त ।

मार्च, 1977

2 रूस और चीन की सीमा-वार्ता में पुनः गतिरोध ।
4 दक्षिण अफ्रीका सरकार के विरुद्ध संयुक्तराष्ट्र के सभी प्रस्तावों का अमेरिका द्वारा पूर्ण समर्थन का आश्वासन ।
5 रोडेशिया की समस्या का समाधान करने के लिए अमेरिका तथा ब्रिटेन का नया प्रस्ताव । ब्राजील द्वारा अमेरिका से सैनिक समझौता रद्द ।
7 काहिरा में अरब-अफ्रीकी देशों के शिखर-सम्मेलन में 60 देश सम्मिलित ।
10 अमेरिकी राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर द्वारा हिन्दमहासागर को शान्ति का क्षेत्र बनाए रखने का सुझाव ।
11 कुवैत द्वारा अफ्रीकी देशों को बीस करोड डॉलर का ऋण । पश्चिमी एशिया के बारे में कार्टर के नए प्रस्ताव की व्याख्या ।
12 ब्राजील द्वारा अमेरिका से प्रतिरक्षा समझौता रद्द ।
13 ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री जेम्स केलेहन द्वारा हिन्दमहासागर को शान्ति-क्षेत्र बनाने का समर्थन ।
18 अफगानिस्तान में असैनिक सरकार का गठन ।
19 ढाका में श्रीलंका के राष्ट्रपति विलियम गोपालवा और बंगलादेश के राष्ट्रपति ए. एम. सैयम में हिन्दमहासागर के देशों में शान्ति स्थापित रखने पर बल ।
20 तुर्की और सोवियत संघ में मैत्री-समझौता । चीन द्वारा शक्तिशाली नौसेना निर्माण करने का निश्चय ।
21 ब्रेझनेव द्वारा रूस के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अमेरिका पर आरोप ।
24 भारत में मोरारजी देसाई जनता पार्टी के नेता निर्वाचित और प्रधानमन्त्री पद की शपथ ग्रहण ।
26 यूरोपीय आर्थिक समुदाय की 20वीं जयन्ती का दो दिवसीय सम्मेलन रोम में समाप्त । सामरिक शस्त्रों के प्रसार पर रोक लगाने (साल्ट) सम्बन्धी

वार्ता में भाग लेने के लिए अमेरिकी विदेश मन्त्री साइरस वैंस सोवियत सघ रवाना।

27 सोवियत सघ द्वारा कार्टर-प्रशासन की आलोचना जारी। रूसी राष्ट्रपति पोदगोर्नी द्वारा अफ्रीकी देशों को पूर्ण सहायता का आश्वासन।

29 सोवियत सघ के राष्ट्रपति निकोलाई पोदगोर्नी द्वारा दक्षिण अफ्रीका में गोरों का शासन समाप्त करने का आग्रह।

30 सोवियत सघ द्वारा अस्त्रों के प्रसार पर रोक लगाने सम्बन्धी अमेरिकी प्रस्ताव अस्वीकार। रॉबर्ट गोहीन अमेरिका के भारत में नए राजदूत।

31 भारत को द्विपक्षीय सहायता देने के लिए अमेरिका के नए प्रस्ताव। मोजाम्बिक और सोवियत सघ में मैत्री-समझौते पर हस्ताक्षर।

अप्रैल, 1977

3 हमले का खतरा होने पर सोवियत सघ द्वारा मोजाम्बिक को पूर्ण सहायता का आश्वासन।

4 कर्नल जोवशिम योबी आर्पाँगो कांगो के नए राष्ट्रपति। यूगोस्लाविया और इटली का सीमा-विवाद समाप्त।

7 अमेरिका द्वारा दियागो गार्सिया में सैनिक अड्डे का तेजी से निर्माण।

8 विदेशी बैंक में खाते रखने के विषय पर इजरायल के प्रधानमन्त्री रॉबिन का त्यागपत्र।

9 रूस और क्यूबा द्वारा दक्षिण अफ्रीका में सघर्ष का समर्थन।

14 जोर्डन द्वारा चीन से राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने का निर्णय।

15 अमेरिका द्वारा 13 देशों को दोषपूर्ण हथियार। अमेरिकी राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर द्वारा मानवाधिकार का समर्थन करने वाले देशों को सहायता का आश्वासन।

18 सात अफ्रीकी देशों की यात्रा के बाद ब्रिटिश विदेश मन्त्री डॉ. डेविड ओवेन लदन वापस।

21 जनरल जियाउर्रहमान बगलादेश के नए राष्ट्रपति।

25 सोवियत सघ के विदेश मन्त्री ग्रोमिको का दिल्ली में भव्य स्वागत।

26 माल्कान टून अमेरिका के रूस में नए राजदूत। पश्चिम जर्मनी द्वारा सोवियत सघ को एक अरब डॉलर का ऋण।

27 भारत और सोवियत सघ ने तीन समझौतों पर नई दिल्ली में हस्ताक्षर। जनरल टिक्का खाँ पाकिस्तान के नए प्रतिरक्षा मन्त्री।

मई, 1977

6 आर्थिक शिखर-सम्मेलन में भाग लेने के लिए अमेरिकी राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर का लन्दन आगमन।

7 पाकिस्तान को अमेरिका से दो विध्वसक प्राप्त।

8 सीरिया को और सोवियत हथियार प्राप्त। कुवैत को आठ और अमेरिकी जेट बमवर्षक प्राप्त।
14 चीन द्वारा आधुनिक अस्त्रों के निर्माण का निश्चय।
18 इजरायल के आम चुनाव में लेबर पार्टी पराजित और दक्षिण पंथियों की विजय।
19 अमेरिका तथा सोवियत संघ सहित 31 देशों द्वारा कृत्रिम मौसम का शस्त्र के रूप में प्रयोग करने पर प्रतिबन्ध।
20 हथियारों की बिक्री पर रोक लगाने के लिए अमेरिकी राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर की छः सूत्री योजना। इजरायली लिकुड पार्टी के नेता बेगिन जेनेवा-सम्मेलन में शामिल होने पर सहमत।
23 बेगिन द्वारा अरब अधिकृत क्षेत्र को 'मुक्त क्षेत्र' बताना।
24 सोवियत संघ के राष्ट्रपति निकोलाइ पोदगर्नी का कम्युनिस्ट पार्टी के पोलित ब्यूरो से हटाया जाना।

जून, 1977

1 चीन द्वारा रूस और अमेरिका पर भारत महाद्वीप के आर्थिक शोषण का आरोप।
2 अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को ए-7 लड़ाकू विमान बेचने पर रोक।
3 पेरिस में उत्तर-दक्षिण आर्थिक सम्मेलन की समाप्ति पर संयुक्त विज्ञप्ति जारी।
4 अमेरिका और क्यूबा राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने पर सहमत।
7 प्रधानमन्त्री देसाई और विदेशमन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी राष्ट्रकुल सम्मेलन में भाग लेने के लिए लन्दन रवाना। लन्दन में मोरारजी देसाई का भव्य स्वागत।
8 लन्दन में राष्ट्रकुल शिखर-सम्मेलन शुरू।
10 रोडेशिया के विरुद्ध कैनेथ काउंडा की योजना का राष्ट्रकुल सम्मेलन में भारत द्वारा समर्थन।
12 मिस्र को साऊदी अरब से चार करोड़ चालीस लाख डालर का ऋण प्राप्त।
14 चीन द्वारा जापान और दक्षिण कोरिया के समझौते को अवैध ठहराना।
15 लन्दन में राष्ट्रकुल सम्मेलन की समाप्ति पर संयुक्त विज्ञप्ति जारी।
16 लियोनिद ब्रेझनेव सोवियत संघ के राष्ट्रपति निर्वाचित। प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई की फ्रांस के राष्ट्रपति जिस्कार द ऐस्तें से पेरिस में वार्ता।
17 बेलग्रेड में यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन में अमेरिका द्वारा मानवाधिकार पर बहस का प्रयास। राष्ट्रकुल सम्मेलन में भाग लेने के बाद प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई दिल्ली वापस।
19 वाटरगेट कांड समाप्त।
21 लिकुड के नेता बेगिन द्वारा इजरायल के प्रधानमन्त्री-पद की शपथ ग्रहण।

22 पेरिस में लियोनिद ब्रेझनेव की राजकीय यात्रा की समाप्ति पर प्रसारित संयुक्त विज्ञप्ति में विश्व में निरस्त्रीकरण पर बल।

24 ब्रेझनेव का रूस का राष्ट्रपति चुने जाने पर चीन की बधाई।

25 उत्तर और दक्षिण कोरिया के विलय के प्रश्न पर विचार करने के लिए अल्जीयर्स में तेरह देशों की वामपन्थी पार्टियों का सम्मेलन।

27 अफ्रीका स्थित जिबूती को स्वाधीनता प्राप्त।

28 अमेरिका द्वारा इजरायल को अरबों की भूमि से अपनी सेनाएँ हटाने का अनुरोध।

30 यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देशों द्वारा फिलिस्तीनियों के लिए पृथक् राज्य का समर्थन।

जुलाई, 1977

3 लाइबरविले (गबोन) में अफ्रीकी एकता संगठन के शिखर-सम्मेलन में युगांडा के राष्ट्रपति ईदी अमीन का नाटकीय प्रवेश।

5 पाकिस्तान में रक्तहीन क्रान्ति। भुट्टो सहित सभी राजनीतिक नेता गिरफ्तार और फौजी कानून लागू।

6 पाकिस्तान के प्रमुख फौजी कानून प्रशासक जनरल जिया-उल-हक द्वारा 90 दिन में लोकतन्त्र बहाल करने का आश्वासन।

12 चीन द्वारा दक्षिण कोरिया से अमेरिकी सेना हटाए जाने की माँग।

16 अमेरिकी नेताओं से बातचीत के लिए इजरायल के प्रधानमन्त्री बेगिन का न्यूयार्क आगमन।

20 सुरक्षा परिषद् द्वारा वियतनाम को संयुक्तराष्ट्र का सदस्य बनाने का अनुमोदन।

23 श्रीलंका में जयवर्द्धन मन्त्रिमण्डल द्वारा शपथ ग्रहण।

25 इजरायल के प्रधानमन्त्री बेगिन का पश्चिमी एशिया पर शान्ति प्रस्ताव।

26 अल्बानिया द्वारा चीनी विशेषज्ञों का बहिष्कार।

28 चीन द्वारा उद्‌जन बम का विस्फोट।

29 ढाका में भारत और बंगलादेश के प्रतिनिधियों में फरक्का-वार्ता आरम्भ।

30 न्यूट्रान बम के विकसित करने पर सोवियत संघ की अमेरिका को कड़ी चेतावनी।

31 सोवियत संघ द्वारा न्यूट्रान बम की काट का दावा।

अगस्त, 1977

1 मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात द्वारा लीबिया के साथ संघर्ष में सोवियत संघ का हाथ बँटाना।

5 पश्चिमी एशिया पर अमेरिका-मिस्र प्रस्ताव सीरिया के राष्ट्रपति हाफिज असद को अस्वीकार।

7 श्रीलंका की जयवर्द्धन सरकार द्वारा बांडुंग के सिद्धान्तों पर विदेश नीति आधारित।
10 पेंकिंग मे चीन की पार्टी का ग्यारहवां अधिवेशन। रोडेशिया पर अमेरिका और ब्रिटेन का संयुक्त प्रस्ताव प्रस्तुत।
11 सोवियत संघ और चीन मे सीमा वार्ता। अमेरिका की दक्षिण कोरिया को 190 करोड़ डालर की सहायता।
14 विश्व के कम्युनिस्टों मे भाईचारे की भावना स्थापित करने के लिए मार्शल टीटो की सोवियत संघ और चीन की यात्रा।
15 अरब-इजरायल संघर्ष की समाप्ति के लिए अमेरिका द्वारा आठ सूत्री योजना प्रस्तुत।
16 विदेशमन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी का रंगून मे भव्य स्वागत।
18 मार्शल टीटो और लियोनिद ब्रेझनेव की वार्ता मास्को मे समाप्त।
19 अटल बिहारी वाजपेयी द्वारा भारत और बर्मा मे कई क्षेत्रो मे सहयोग पर सहमति।
24 पेकिंग मे हुआ और वैस मे संबधो को सामान्य करने पर वार्ता।
26 रोडेशिया के प्रधानमन्त्री इयान स्मिथ को ब्रिटेन-अमेरिका का प्रस्ताव अस्वीकार। ताइवान के बारे मे अमेरिका और चीन मे मतभेद यथापूर्व।

सितम्बर, 1977

1 रोडेशिया के चुनाव मे इयान स्मिथ के रोडेशियाई मोर्चे को भारी बहुमत प्राप्त।
6 मास्को मे सयुक्त राष्ट्र के महासचिव डॉ. वाल्दहीम और सोवियत विदेशमन्त्री ग्रोमिको द्वारा विश्व मे निःशस्त्रीकरण पर जोर।
9 फ्रांस द्वारा पाकिस्तान को परमाणु सयन्त्र देने की वायदे की पुष्टि। भारत और वियतनाम के बीच दो नए समझौतो पर हस्ताक्षर।
10 अमेरिकी सिनेट द्वारा 11 हजार करोड डॉलर का प्रतिरक्षा बजट स्वीकार।
13 अमेरिकी विदेश मन्त्रालय द्वारा पश्चिमी एशिया मे शान्ति स्थापना करने के सबध मे फिलिस्तीनी छापामार गुटो को शामिल करने की मांग।
16 सोवियत सघ द्वारा स्वायत्त दल बना कर पश्चिमी देशों पर कम्युनिस्ट आन्दोलन को विघटित करने का आरोप।
18 वाशिंगटन मे विश्व बैंक द्वारा भारत की आर्थिक स्थिति पर सतोष और अगले वर्ष के लिए अधिक प्रगति की आशा व्यक्त।
19 इजरायल के विदेशमन्त्री जनरल दयान पश्चिम एशिया की समस्या पर बातचीत करने के लिए वाशिंगटन रवाना।
21 सयुक्त राष्ट्र की महासभा के 32वें अधिवेशन के अवसर पर वियतनामी समाजवादी गणतन्त्र का सयुक्त राष्ट्र मे प्रवेश।
24 चीन द्वारा तीन अफ्रीकी देश गिनी, नाइजर और मोजाम्बिक के साथ आर्थिक और तक्नीकी सहयोग सम्बन्धी समझौते।

25 चीन के उप-सेनापति जनरल याङ० यू द्वारा फ्रांस से चीनी सेनाओ के हथियारो के आधुनिकीकरण के लिए सहायता की माँग ।

26 अमेरिका के पश्चिमी एशिया-शान्ति-वार्ता के प्रस्ताव का फिलिस्तीनी मुक्ति मोर्चे के प्रतिनिधियो द्वारा विरोध ।

28 राष्ट्रमण्डल समिति द्वारा दक्षिण अफ्रीका से यह शर्त मनवाने का फैसला कि वह रोडेशिया को तेल देना बद करे ।

30 ब्रिटेन द्वारा भारत को समुद्र में तेल की खोज के सबंध मे हर सम्भव सहायता देने का आश्वासन ।

अक्तूबर, 1977

1 वाशिंगटन मे भारत के विदेशमन्त्री द्वारा तब तक परमाणु विस्तार निरोधक सन्धि पर हस्ताक्षर न करने की घोषणा जब तक सभी देश इस प्रकार के अस्त्रो को समाप्त करने की कार्यवाही न करें ।

2 सयुक्तराष्ट्र मे भारत के विदेशमन्त्री श्री बाजपेयी द्वारा पहली बार हिन्दी मे भाषण ।

5 सयुक्त राष्ट्र महासचिव द्वारा भारत के जनरल प्रेमचन्द रोडेशिया के लिए विशेष प्रतिनिधि नियुक्त । अमेरिकी राष्ट्रपति श्री कार्टर के अनुसार हिन्द-महासागर मे रूस या अमेरिका की सेनाएँ अधिक संख्या मे नही ।

6 चीन द्वारा यूगोस्लाविया और अमेरिका के राजनयिको से भारत के साथ सबध सुधारने की इच्छा व्यक्त ।

7 चीन और सोवियत सघ के बीच पिछले आठ वर्षो मे पहली बार नौ-सैनिक समझौता सम्पन्न ।
भारतीय राजदूत श्री नानी पालकीवाला को राष्ट्रपति कार्टर द्वारा भारत के साथ रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाने का आश्वासन । अमेरिका, सोवियत सघ, इजराइल और अरब राज्यो द्वारा दिसम्बर मे जेनेवा मे बातचीत करने का अनौपचारिक निर्णय ।

13 स्वीडन द्वारा सयुक्त राष्ट्र महासभा मे भारत समेत 7 विकासशील देशो को दिए गए ऋण को समाप्त करने की घोषणा ।
न्यूयार्क से लौटने पर विदेशमन्त्री श्री अटल बिहारी बाजपेयी ने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भारत की प्रतिष्ठा मे वृद्धि की घोषणा की ।

20 थाईलैंड मे शान्ति और प्रतिरक्षामन्त्री एडमिरल सगद द्वारा सत्ता पर नियत्रण ।

21 प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई का मास्को पहुँचने पर भव्य स्वागत ।

23 रोडेशिया के प्रधानमन्त्री इयान स्मिथ द्वारा ब्रिटेन-अमेरिका के शान्ति प्रस्ताव को अव्यावहारिक ठहराना ।

26 नेवादा मरुस्थल मे अमेरिका द्वारा परमाणु बम विस्फोट ।

नवम्बर, 1977

1 सुरक्षा परिषद् मे दक्षिण अफ्रीका विरोधी प्रस्तावों पर अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा निषेधाज्ञा के अधिकार का प्रयोग।
मारिशश के प्रधानमन्त्री सर शिवसागर रामगुलाम का दिल्ली आगमन।
2 अमेरिका द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सगठन से हटना। सोवियत सघ द्वारा परमाणु अस्त्रो के निर्माण पर प्रतिबन्ध का आग्रह।
3 अमेरिका द्वारा दक्षिण अफ्रीका को सैनिक साज-सामान बन्द करने का निश्चय।
5 सयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् द्वारा दक्षिण अफ्रीका को अस्त्र देने पर प्रतिबंध।
10 मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात द्वारा पश्चिमी एशिया मे शान्ति स्थापना के लिए इजरायल जाने की घोषणा।
13 सोवियत सघ द्वारा नेपाल के लिए आर्थिक सहायता का प्रस्ताव।
15 इजरायल के प्रधानमन्त्री द्वारा मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सादात को यरूशलम आने का विधिवत निमन्त्रण।
19 यरुशलम पहुँचने पर अनवर सादात का भव्य स्वागत। अटल बिहारी वाजपेयी थिंपू (भूटान) मे। लीबिया द्वारा मिस्र से राजनयिक सम्बन्ध विच्छेद।
20 सादात का इजराइल ससद् को सम्बोधन।
21 सादात और बेगिन द्वारा युद्ध न करने का एलान।
23 स्पेन और पुर्तगाल मे सहयोग की दस-साला मैत्री सन्धि पर हस्ताक्षर।
24 लीबिया द्वारा मिश्र से सम्बन्ध विच्छेद।
26 मिस्र के राष्ट्रपति सादात द्वारा जिनेवा सम्मेलन से पूर्व काहिरा मे एक सम्मेलन के लिए निमन्त्रण।
30 काहिरा सम्मेलन में भाग लेने के लिए एक उच्च स्तरीय प्रतिनिधि-मण्डल की घोषणा।

दिसम्बर, 1977

1 सोवियत सघ द्वारा परमाणु परीक्षण। दक्षिण अफ्रीका के चुनाव मे सत्तारूढ नेशनल पार्टी की भारी विजय।
2 त्रिपोली मे सादात विरोधी सम्मेलन। दक्षिण अफ्रीकी प्रधानमन्त्री जान वर्स्टर की पार्टी को 134 में से 104 स्थान प्राप्त।
4 यासिर अराफात के नेतृत्व मे सभी फिलिस्तीनी गुटो मे एका।
5 मिस्र द्वारा लीबिया और सीरिया से राजनयिक सम्बन्ध विच्छेद का निर्णय। बोकासा प्रथम मध्य अफ्रीकी साम्राज्य के सम्राट्।
7 मिस्र द्वारा सोवियत सघ, पूर्वी जर्मनी, हंगरी आदि के सांस्कृतिक केन्द्रों को बन्द करने के आदेश।
9 प्रधानमन्त्री मोरारजी देसाई का काठमाण्डु मे भव्य स्वागत।

11 रोडेशिया के प्रधानमन्त्री इयान स्मिथ द्वारा गोरों की सुरक्षा की गारंटी देने की माँग।

14 काहिरा में मिस्र और इजरायल के प्रतिनिधियों में वार्ता शुरू।

25 इजरायली प्रधानमंत्री श्री बेगिन और मिस्री राष्ट्रपति सादात के बीच इस्माइलिया में शिखर वार्ता।

26 सादात-बेगिन की समझौता वार्ता विफल, मुख्य बाधा फिलिस्तीन समस्या का हल न ढूँढ पाना।

जनवरी, 1978

1 अमेरिका के राष्ट्रपति श्री जिम्मी कार्टर का भारत आगमन।

3 भारत-अमेरिका संयुक्त घोषणा : तीन करारों और घोषणाओं पर हस्ताक्षर।

5 ब्रिटिश प्रधानमन्त्री श्री जेम्स कैलहन का छः दिन की भारत यात्रा पर दिल्ली आगमन।



Appendix—E

संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति और भारत के प्रधान मन्त्री की संयुक्त घोषणा

नई दिल्ली, 3 जनवरी, 1978

सयुक्त राज्य ग्रमेरिका के राष्ट्रपति श्री जिम्मी कार्टर ग्रौर भारत के प्रधानमन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने ग्राज यहां सयुक्त घोषणा पर हस्ताक्षर किए। इसमें परमाणु हथियारो का प्रसार रोकने तथा वर्तमान भण्डारो को ग्रन्तत समाप्त करने तथा परम्परागत हथियारों को कम करने का ग्राग्रह किया गया है ग्रौर कहा गया है कि युद्ध राजनीतिक विवादो को हल करने का स्वीकार्य साधन नही है।

सयुक्त घोषणा में यह भी कहा गया है कि ग्रन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना के लिए यह ग्रावश्यक है कि राष्ट्रो के बीच वर्तमान ग्रार्थिक विषमताएँ मिटाई जाएँ ग्रौर ग्रधिक न्यायसगत ग्रन्तर्राष्ट्रीय ग्रार्थिक व्यवस्था कायम की जाए।

संयुक्त घोषणा

भारत ग्रौर सयुक्तराज्य ग्रमेरिका इतिहास ग्रौर सस्कृति मे विभिन्नता के बावजूद, इस बात को स्वीकार करने मे एक हैं कि सत्ता ग्रौर सार्वजनिक नीति की ग्रन्तिम स्वीकृति व्यक्ति की गरिमा ग्रौर कल्याण के प्रति ग्रादर भाव मे निहित है। जाति, लिंग, धर्म ग्रौर सामाजिक स्तर के भेदभाव के बिना प्रत्येक मनुष्य को जीवन ग्रौर स्वतन्त्रता, ग्रभाव से मुक्ति ग्रौर धमकी या जोर जबर्दस्ती के बिना ग्रभिव्यक्ति व पूजा ग्राराधना की ग्राजादी का ग्रधिकार है।

दोनों की ऐसी लोकतान्त्रिक शासन-पद्धति मे हम दोनो की गहिरा ग्रास्था है जिसमे सभी नागरिको को कानून के ग्रन्तर्गत मूलभूत स्वतन्त्रताग्रो की गारटी प्राप्त होती है तथा उन्हे ग्रपने प्रतिनिधि चुनने ग्रौर ग्रपना भविष्य निर्धारित करने का ग्रधिकार होता है।

साथ ही हमारा यह भी विश्वास है कि सहकारी ग्रौर स्थिर विश्व व्यवस्था, जनता द्वारा ग्रपनी सरकार स्वयं गठित करने ग्रौर हर राष्ट्र द्वारा ग्रपनी राजनीतिक, सामाजिक ग्रौर ग्रार्थिक नीतियां तय करने के ग्रधिकार पर निर्भर है।

हम यह देख कर सन्तुष्ट है कि उपनिवेशों को समाप्त करने की प्रक्रिया मे ग्रन्तर्राष्ट्रीय राज्य प्रणाली को लोकतान्त्रिक रूप दे दिया है जिससे ग्रधिकांश राष्ट्रों

को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सहयोग से सम्बन्धित निर्णय करने की प्रक्रिया मे भाग लेने का पहली बार अवसर मिला है।

यदि हमे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापित करनी है तो राष्ट्रो के बीच विद्यमान आर्थिक शक्ति की विषमताओ को मिटाया जाना चाहिए और अधिक न्यायसगत अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था बनाई जानी चाहिए।

हम यह स्वीकार करते है कि एक आधुनिक राज्य के लिए विस्तृत आर्थिक विकास आवश्यक है, पर यह भी मानते हैं कि अगर इसके लाभ सभी लोगो तक नही पहुँचते तो इस प्रकार की प्रगति खोखली है।

आज की दुनिया के पास जीवन को अधिक सुखी सम्पन्न बनाने और राष्ट्रो के भीतर और राष्ट्रो के बीच अधिक सामाजिक न्याय सुलभ करने के लिए वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक दक्षता प्राप्त है। हमारा परस्पर निर्भर राष्ट्र समुदाय से आग्रह है कि वह हमारी पृथ्वी के साधनो और पर्यावरण को साझा विरासत के संरक्षण और परिपोषण के लिए मिलकर कार्य करें। हम घोषणा करते है कि युद्ध राजनीतिक विवादो को हल करने का स्वीकार्य साधन नही है। दोनो देश अन्य देशो के साथ विवादो को सद्भावनापूर्वक और सयुक्त राष्ट्र घोषणा पत्र के अनुसार हल करने के लिए भरसक प्रयत्न करेंगे और अन्य देशो के विवादो को हल करने मे सहायता करेंगे।

दुनिया मे युद्ध की काली छाया काफी लम्बे समय से मण्डराती रही है। परमाणु हथियारो के वर्तमान भण्डारो को अवश्य ही कम किया जाना चाहिए और अन्तत खत्म कर दिया जाना चाहिए और परमाणु हथियारो के विस्तार के खतरे को समाप्त किया जाना चाहिए। इसके अलावा परम्परागत हथियारो को धीरे-धीरे कम करने तथा इस प्रकार मुक्त होने वाली उत्पादक शक्तियो को मानव समाज की भलाई के कार्यों में लगाने के लिए हर सम्भव प्रयत्न किया जाना चाहिए। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए हम अपने आपको प्रतिबद्ध करते हैं।

राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रो से आगे आज की दुनिया मे अधिक मुक्त और पूर्णतर बौद्धिक और वैज्ञानिक आदान-प्रदान के अवसर सुलभ हैं। ऐसी दुनिया मे, जहाँ मन निर्भय हो, जहाँ विचार-स्वातन्त्र्य हो और सांस्कृतिक तथा कलात्मक गतिविधियो के पारस्परिक प्रभाव को बल मिलता हो, एक ऐसा वातावरण बन सकता है जहाँ सहिष्णुता और सद्भाव पल्लवित हो सकते हैं।

शासन कला के परम्परागत विचारो से आगे बढ कर भारतीय और अमेरिकी यह स्वीकार करते हैं कि उनका अपने प्रति और अन्यो के प्रति यह दायित्व है कि लक्ष्यों के लिए कदापि कुटिल साधनो को उचित नही ठहराया जा सकता। व्यक्तियो की तरह राष्ट्र भी अपने कार्यों के लिए नैतिक रूप से जिम्मेदार हैं।

(मोरारजी देसाई)	(जिम्मी कार्टर)
भारत के प्रधान मन्त्री	सयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति

Appendix—F

प्रश्न–कोश

(QUESTION BANK)

अध्याय 1

1 द्वितीय महायुद्ध के समय हुए मित्र राष्ट्रों के बीच सम्मेलनों का संक्षिप्त सर्वेक्षण कीजिए।
Describe in short the Wartime Conferences of the Allies Nations during the World War II.

2 निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—
(अ) चार स्वतन्त्रताएँ, (आ) अटलांटिक चार्टर, (इ) मास्को-सम्मेलन,
(ई) तेहरान-सम्मेलन, (उ) याल्टा-सम्मेलन, (ऊ) पोट्सडम-सम्मेलन,
(ए) सान-फ्रांसिस्को-सम्मेलन।
Write short notes on the following—
(a) Four Freedoms, (b) Atlantic Charter, (c) Mascow Conference, (d) The Tehran Conference, (e) The Crimea (Yalta) Conference, (f) The Berlin (Potsdom) Conference, (g) San-Francisco Conference. (1976, 77)

3 द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जर्मनी और बर्लिन का विभाजन क्यों हुआ ? अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों मे आज जर्मनी का एकीकरण महत्त्वपूर्ण समस्या क्यों नहीं है ?
Why did the division of Germany and of Berlin take place after the Second World War ? Why is German unification no longer an important issue in the international affairs today ? (1976)

4 द्वितीय महायुद्ध के बाद शान्ति निर्माण में क्या कठिनाइयाँ थी ? शान्ति स्थापना के लिए क्या प्रयास किए गए ?
What were the hindrances in the establishment of peace after Second World War ? What efforts were made for peace ?

5 1945 के बाद पश्चिमी एशिया मे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने वाले तत्वों की समीक्षा कीजिए।
Examine the factors which influenced international politics in West Asia after 194

अध्याय 2

6 संयुक्त राष्ट्रसंघ के संगठन और उसके चार्टर के संशोधन के पक्ष और विपक्ष मे तर्क दीजिए।
Give an account of the organisation and functions of the United Nations Organisation.

7 1945 के उपरान्त संयुक्त राष्ट्रसंघ के संगठन तथा कार्यसंचालन में होने वाले मुख्य परिवर्तनों का परीक्षण कीजिए।
Examine the main changes that have taken place in the organisation and working of the United Nations since 1945.

8 सुरक्षा परिषद् के संगठन एवं शक्तियों का वर्णन कीजिए। इसमें मतदान प्रणाली की विवेचना कीजिए। वीटो संयुक्त राष्ट्र के कार्य को विरुद्ध रूप से कहाँ तक प्रभावित कर पाया है?
Describe the composition and powers of the Security Council. Discuss it voting procedure To what extent has the Veto adversely affected the working of the U N ?

9 अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के संगठन का परीक्षण कीजिए और इसका विश्व शान्ति को स्थिर रखने वाले यन्त्र के रूप में मूल्यांकन कीजिए। इसका निर्णय किस प्रकार लागू किया जाता है?
Examine the composition of the International Court of Justice. Evaluate it is an instrument of maintaining world peace How are its decisions executed ?

10 विश्व समस्याओं को हल करने के साधन के रूप में संयुक्त राष्ट्र का मूल्यांकन कीजिए। (1977)
Evaluate the United Nations as a means of solving world problems.

11 संयुक्त राष्ट्रसंघ ने निम्न विवादों में क्या भूमिका अदा की है, इसका मूल्यांकन कीजिए—
(अ) कश्मीर का प्रश्न, (ब) कोरिया-युद्ध, (स) भारत-पाक युद्ध, 1971.
Estimate the role which the U. N has played in the following—
(a) Kashmir Question, (b) Korean War, (c) Indo-Pak War, 1971

12 संयुक्त राष्ट्रसंघ की राजनीतिक गतिविधियों में उसके महासचिव की स्थिति का मूल्यांकन कीजिए।
Assess the role of the Secretary-General in the political activities of the United Nations

13 क्या आप मानते हैं कि संयुक्त राष्ट्रसंघ, राष्ट्रसंघ का संशोधित उन्नत रूप है? अपने उत्तर की पुष्टि के लिए युक्तियाँ दीजिए।
Do you consider the United Nations Organisation to be an improvement over the League of Nations ? Give reasons for your answer (1975)

14 संयुक्त राष्ट्रसंघ की राजनीतिक क्षेत्र में उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिए। संयुक्त राष्ट्रसंघ की इससे अधिक सफलता के मार्ग में कौन-कौनसी बाधाएँ हैं?
Estimate the achievements of the United Nations Organisation in the political field What are the obstacles in the way of the greater success of the United Nations Organisation ?

15 संयुक्त राष्ट्रसंघ की कार्य-प्रणाली को अधिक सफल बनाने के लिए आप किन-किन सुधारों को आवश्यक मानते हैं?
What reforms do you consider necessary to improve the working of the United Nations Organisation ?

16 विश्व शान्ति की स्थापना में संयुक्त राष्ट्रसंघ की उपलब्धियों का मूल्यांकन कीजिए।
Estimate the achievements of the U.N.O. towards the establishing of world eace (1976)

17 अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के साधन के रूप में संयुक्त राष्ट्रसंघ के मार्ग में क्या बाधाएँ हैं?
What are the hindrances in the way of the United Nations to serve as an instrument of maintaining international peace?
(1976)

18 संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—
(अ) न्यास प्रणाली, (ब) संयुक्त राष्ट्र महासभा का शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव।
Write short notes on—
(a) Trusteeship system, (b) Uniting for peace resolution of the General Assembly of the United Nations. (1976)

अध्याय 3

19 एक महाशक्ति के रूप में संयुक्त राज्य अमेरिका के उदय की विवेचना कीजिए।
Discuss the rise of U.S.A. as super-power.

20 एक महाशक्ति के रूप में सोवियत संघ के उदय की विवेचना कीजिए।
Discuss the rise of Soviet Union as super-power

21 द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् यूरोप में सोवियत संघ के प्रभाव के विस्तार के घटनाक्रम का वर्णन कीजिए।
Narrate the course of events leading to the expansion of influence of the U.S.S.R. in Europe after the Second World War

अध्याय 4

22 संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—
(अ) परमाणु अस्त्र अप्रसार संधि,
(ब) निःशस्त्रीकरण के मार्ग में बाधाएँ,
(स) निःशस्त्रीकरण।
Write short notes on—
(a) Nuclear Nonproliferation Treaty,
(b) Hindrances in the way of disarmament,
(c) Disarmament.

23 निःशस्त्रीकरण से क्या तात्पर्य है? यह कितने प्रकार का होता है?
What do you mean by Disarmament? What are its types?

24 निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता किन कारणों से हुई? इसकी सफलता में क्या कठिनाइयाँ हैं?
How did the necessity for disarmament arise? What are the difficulties in its success?

25 द्वितीय महायुद्ध के बाद निःशस्त्रीकरण की दिशा में क्या प्रयास किए गए हैं? वे सफल क्यों नहीं हुए?
What efforts have been made for disarmament after the Second World War? Why did they not succeed?

अध्याय 5

26 शीत-युद्ध की प्रकृति, आरम्भ और मुख्य अवस्थाओं की व्याख्या कीजिए।
Discuss the nature, origin and main phases of the cold-war.

27 तथाकथित 'शीत-युद्ध' के कारणों की व्याख्या कीजिए। किन मुख्य बातों को लेकर यह लड़ा जा रहा है और 1946 से किन मुख्य घटनाओं के दर्शन इसने किए हैं, उनका वर्णन कीजिए।
Explain the causes of the so-called 'Cold-war'. Indicate main fronts on which it is being fought and the main episodes it has witnessed since 1946.

28 शीत-युद्ध से आप क्या समझते हैं ? इसकी प्रकृति और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर इसके प्रभाव की परीक्षा कीजिए ।
What do you understand by 'Cold War' ? Examine its nature and impact on international politics

29 वियतनाम संकट के क्या कारण थे ? इस समस्या को किस प्रकार सुलझा लिया गया है ?
What were the causes of Vietnam crisis ? How has the problem been solved ? (1977)

30 संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—
(अ) क्यूबा संकट, (ब) बर्लिन की नाकाबन्दी, (स) शीत-युद्ध ।
Write short notes on—
(a) Cuba Crisis, (b) Berlin Blocade, c) Cold War (1976)

31 1949 के बाद महाशक्ति के रूप में चीन के उत्थान का सुदूरपूर्व और दक्षिण-पूर्वी एशिया के घटनाक्रम पर क्या प्रभाव पड़ा ?
What effect did the rise of China as a great power after 1949 leave on the course of events in the Far East and South-East Asia. (1977)

32 द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के युग में शीत-युद्ध की उत्पत्ति के कारण बताइए । किन तत्त्वों ने अब इस स्थिति को बदल दिया है ?
Account for origin of Cold War in the post Second World War Period What factors have changed the situation now ?

33 1947 से अरब-इजराइल युद्ध में महाशक्तियों की क्या भूमिका रही है ?
What has been the role of Great-Powers in Arab-Israel conflict since 1947.

34 'देतांत' से आप क्या समझते हैं ? इसके लिए उत्तरदायी कारकों की चीन-रूस मतभेद और चीन-अमेरिका के सम्बन्धों के सन्दर्भ में समीक्षा कीजिए ।
What do you understand by the 'Detente' ? Discuss the factors responsible for it in the context of Sino Soviet differences and Sino-U S relations

अध्याय 6

35 'असंलग्नता, उसके तत्व और बदलते हुए स्वरूप' पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए ।
Write a critical essay on 'Non-alignment-Its Elements and Changing Patterns'.

36 असंलग्नता की नीति के प्रमुख सिद्धान्तों की परीक्षा कीजिए । वर्तमान में वे कहाँ तक उपयुक्त हैं ? भारत के अनुभव के प्रकाश में विस्तार से विवेचना कीजिए ।
Critically examine the main postulates of the policy of Non-alignment To what extent are they relevant now ? Discuss in detail by drawing up India's experience. (1974)

37 भारत की असंलग्नता की नीति की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिए ।
Critically examine India's policy of Non-alignment (1977)

38 असंलग्नता की नीति से आप क्या समझते हैं ? क्या आपके विचार में यह एक ठोस नीति है ? सोदाहरण समझाइए । अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को इसने किस प्रकार प्रभावित किया ?
What do you understand by the policy of non-alignment ? Do you think that it is a sound policy ? In what ways has it affected international policies ? (1977)

39 विश्व राजनीति में असंलग्न राज्यों के गुट के महत्व पर एक निबन्ध लिखिए ।
Write an essay on the significance of the beloc of non-aligned states in world politics. (1976)

40 मार्च, 1977 के बाद भारत की जनता पार्टी की सरकार की असलग्नता की नीति की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिए।
Critically examine the policy of non-alignment followed by the Janta Govt. of India after March, 1977.

अध्याय 7

41 एशिया और अफ्रीका में उपनिवेशवाद के अन्त का वर्णन कीजिए।
Describe 'de-colonization' in Asia and Africa

42 "एशिया का विद्रोह बीसवीं शताब्दी की बहुत महत्त्वपूर्ण घटना हो सकती है।" इस कथन की विवेचना कीजिए।
"The revolt of Asia may prove to be the most significant development of the twentieth century" (Palmer and Perkins) Comment on this statement
(1975)

43 "एशिया इस समय मुकाबलों का सच्चा कड़ाहा है और भविष्य में भी रहेगा।" इस कथन को स्पष्ट कीजिए और इस पर टिप्पणी कीजिए।
"Asia is now, and will continue to be, a veritable cauldron of confrontations" Elucidate and comment

44 1945 और 1947 के बीच एशियायी स्वतन्त्रता एवं एकता के लिए राष्ट्रवादी भारत के नेतृत्व ने क्या किया ?
What did the Indian Nationalist leadership do to further Asian freedom and unity between 1945 and 1947.

45 अफ्रीका में स्वतन्त्र राज्यों के उदय के महत्त्व का संक्षिप्त परीक्षण कीजिए, और इसके अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभावों का विवेचन कीजिए।
Examine briefly the importance of the emergence of independent states in Africa and its effects on international politics.

46 मध्यपूर्व की द्वितीय महायुद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।
Write a short essay on international politics of the Middle East after World War II.

47 अफ्रीका के जागरण की विवेचना कीजिए।
Discuss the resurgence of Africa.

48 'अफ्रो-एशियाई एकता' पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए। इस एकता के भविष्य के बारे में आपके क्या विचार हैं ?
Write a critical essay on 'Afro-Asian Unity'. What do you think about the prospect of such unity ?

49 गणप्रजातन्त्री बंगलादेश के उदय का मूल्यांकन करिए। साथ ही बंगलादेश की विदेश-नीति के मुख्य लक्षणों का भी संकेत दीजिए।
Evaluate the emergence of Ganprajatantri Bangladesh. Also indicate the main features of its foreign policy.

50 एशिया के पुनर्जागरण के कारण समझाइए तथा उसके राजनीतिक प्रभावों का वर्णन कीजिए।
Account for the resurgence of Asia and bring out its political effects.
(1977)

51 महाशक्तियों द्वारा उन पर प्रभाव स्थापित करने के कुचक्रों के समक्ष नवस्वतन्त्र अफ्रीकी राज्यों के मध्य एकता की स्थापना के मार्ग में बाधक तत्त्व कौन-कौन से हैं ?

What are the factors that prevent the unity of the newly independent African states in the face of the designs of the Great-powers for influence over them. (1976)

52 अरब राष्ट्रवाद के उदय के मुख्य कारण स्पष्ट कीजिए।
Discuss the main causes for the rise of Arab Nationalism (1976)

53 अफ्रीकी एकता संगठन पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।
Write a short essay on the Organisation of African Unity. (1977)

54 भारत और बंगलादेश के मध्य सम्बन्धों का विवेचन कीजिए।
Discuss the relations between India and Bangladesh (1977)

अध्याय 8

55 "समकालीन विश्व राजनीति की सबसे बड़ी विशेषता है दो भीमकाय देशों (रूस और अमेरिका) के बीच का संघर्ष।" व्याख्या कीजिए और समझाइए कि क्या यह कथन अभी भी सही है?
"The conflict between two monolithic giants-the U S A and the U S.S R. is the dominant reality of the contemporary world politics" Explain Does it still hold good? (1977)

56 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रमुख समकालीन प्रवृत्तियाँ क्या रही हैं?
What have been the contemporary trends in International Politics.

57 संयुक्त राष्ट्रसंघ के 31वें अधिवेशन में निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में भारत की क्या भूमिका रही?
What was the role played by India in 31st United Nations meet?

58 अफ्रीकी शासनतन्त्र में क्या परिवर्तन आ रहा है? इसके क्या कारण हैं?
What changes are taking place in the administrative system of Africa?

59 जून, 1977 के राष्ट्रकुल सम्मेलन की क्या विशिष्टता थी? उसके विचार के मुख्य विषय क्या थे?
What was the special feature of June 1977 Common Wealth of Nations Conference? What were principal subjects discussed in it?

60 अमेरिकी शस्त्रनीति में क्या परिवर्तन आया है? इसका भारत उपमहाद्वीप पर क्या प्रभाव पड़ा है?
What change has come in American Arms Supply Policy? How has it affected the Indian subcontinent?

61 अफ्रीका की स्थिति विस्फोटक हो जाने के पीछे क्या कारण हैं? इसके क्या खतरे हैं?
What are the causes of explosive situation of Africa? What are the dangers inherent in it?

62 लेटिन अमेरिका की राजनीतिक स्थितियों में स्थिरता क्यों नहीं है? इसमें संयुक्तराज्य अमेरिका का क्या हाथ है?
Why is there no stability in Latin America? How far is U S A responsible for it?

63 पश्चिमी एशिया की राजनीति में क्या अन्तर आया है? इसके क्या कारण हैं?
What change has come in West Asian Politics? What are its reasons?

64 पश्चिमी एशिया में शान्ति-स्थापना के लिए क्या नए प्रयास शुरू हुए हैं? इनकी सफलता की क्या आशा है?

What new efforts are being made for peace in West-Asia What are the chances of success ?

65 संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(अ) नि:शस्त्रीकरण पर ब्रेझनेव प्रस्ताव,

(ब) शेसेल्स की ब्रिटिश साम्राज्य से मुक्ति,

(स) शिखर सम्मेलन, मार्च 1977,

(द) सात बड़ों का सम्मेलन, मई 1977.

Write short notes on—

(a) Braznev's disarmament proposals,

(b) Independence of Shesells from British Empire,

(c) Conference of the Heads of States, March 1977,

(d) Meeting of the Seven Bigs, May 1977.

अध्याय 9

66 'पहले एशिया' अथवा 'पहले यूरोप' के सन्दर्भ मे युद्धोत्तर अमेरिकी विदेश-नीति मे क्या-क्या मुख्य परिवर्तन आए हैं—विश्लेषण कीजिए।
Identify the main shifts in postwar U. S. Foreign Policy in the context of 'Asia First' or 'Europe First'. (1971)

67 शीत-युद्ध के शैथिल्य के मुख्य कारणों पर प्रकाश डालते हुए बताइए कि क्या इसमें यह परिलक्षित होता है कि अमेरिका और रूस के हित मूलत एक ही दिशा में उन्मुख हैं।
What are the primary reasons for the thaw in the cold war and do you think it represents any basic convergence in U S -Soviet interests. (1971)

68 राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन के नेतृत्व मे अमेरिका ने सोवियत सघ के साथ जो कुछ समझौते किए थे उनके स्वरूप व सारभूत तत्त्वों का सक्षेप में वर्णन कीजिए।
Describe, in brief, the nature and content of some of the important agreements that the American Policy-makers under Richard Nixon arrived at with their counterparts in the Soviet Union. (1975)

69 आपकी राय म एशिया के प्रति अमेरिकी नीतियो पर वियतनाम युद्ध का क्या प्रभाव पड़ा है ?
How has the war in Vietnam affected, in your view, U S policies towards Asia ? (1972)

70 निक्सन प्रशासन काल की अमेरिकी विदेश नीति पर एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए।
Write a critical note on the American Foreign Policy under the Nixon Administration (1973)

71 ट्रूमैन प्रशासन काल की अमेरिकी विदेश नीति पर एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए।
Write a critical note on the American Foreign Policy during the Truman Administration. (1974)

72 अमेरिका की साम्यवादी चीन सम्बन्धी नीतियों में वर्तमान मे पाए जाने वाले परिवर्तनों के क्या कारण हैं ? समझाकर लिखिए।
What are the reasons for the change in the U S. A. towards Communist China in recent years ? (1976)

73 1945 से दक्षिण पूर्व में सयुक्तराज्य अमेरिका की भूमिका का परीक्षण कीजिए।
Examine the role of the U.S.A. in South-East Asia since 1945. (1977)

74 1945 से 1964 तक सोवियत सघ के प्रति सयुक्तराज्य अमेरिका की विदेश-नीति की विवेचना कीजिए।

Discuss the foreign policy of the U.S.A. towards the U.S.S.R. from 1945 to 1964 (1977)

75 गत 10 वर्षों में चीन और संयुक्तराज्य अमेरिका के मध्य सम्बन्धों का विवेचन कीजिए।
Discuss the relations between China and the U.S.A. during the last ten years (1977)

76 द्वितीय महायुद्ध के बाद इण्डोचाइना क्षेत्र में, संयुक्तराज्य अमेरिका के सम्बन्धों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
Briefly describe the involvement of U.S.A. in the region of Indo-China after the Second World War. (1976)

77 द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अमेरिका की यूरोप के प्रति नीति को समझाइए।
Discuss the policy of U.S.A. towards Europe after the Second World War. (1976)

78 'निक्सन सिद्धान्त' से आप क्या समझते हैं? अमेरिका की एशियायी नीति पर इसका क्या प्रभाव पड़ा?
What do you understand 'Nixon Doctrine'? How has it affected American policy towards Asia?

79 फोर्ड प्रशासन के अधीन अमेरिका की विदेश-नीति की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिए।
Critically examine the American Foreign Policy under Ford-administration

80 राष्ट्रपति कार्टर ने अमेरिका की विदेश-नीति को क्या नया मोड़ दिया है? उनके शान्ति प्रयत्नों की परीक्षा कीजिए।
What new turn has Carter given to American Foreign Policy? Examine his peace efforts

अध्याय 10

81 स्टालिन की मृत्यु के बाद से एशिया के प्रति सोवियत नीति के विकास की विवेचना कीजिए।
Discuss the development of Soviet policy towards Asia since the death of Stalin (1971)

82 सोवियत संघ और संयुक्तराज्य अमेरिका की विदेश-नीतियों में कौनसी बातें समान और कौन-सी बातें परस्पर विरोधी हैं?
Examine the points of conflict and convergence in the foreign policies of the Soviet Union and the United States (1973)

83 सोवियत विदेश-नीति के भारतीय उप महाद्वीप में जो उद्देश्य हैं उनकी समीक्षा कीजिए।
Examine critically the foreign policy objects of the Soviet Union in the Indian Sub-continent (1974)

84 चीन-रूस संघर्ष के स्वरूप का विश्लेषण कीजिए और बताइए कि मतभेद के मुख्य क्षेत्र क्या हैं?
Analyse the nature of the Sino-Soviet conflict and discuss the principal areas of disagreement (1971)

85 चीन और सोवियत रूस की आपसी अनबन के कारणों पर प्रकाश डालिए। आपके विचार में क्या यह अनबन अनिवार्य थी? वर्तमान राजनीति पर इसके प्रभाव की विवेचना कीजिए।
Discuss the causes of the Sino-Soviet rift. Do you think the rift was inevitable? Discuss its effect on contemporary international politics (1972, 77)

86 1958–1963 के बीच दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रति चीन की नीति का विवेचन-विश्लेषण कीजिए।
Discuss China's policy towards South-East Asia during 1958-63 (1972)

87 अरब-इजराइल संघर्ष में सोवियत संघ की सन् 1948 से क्या भूमिका रही है ?
What has been the role of the U.S.S.R. in the Arab Israel conflict since 1948. (1977)

88 स्तालिन की मृत्यु के बाद सोवियत विदेश-नीति का विवेचन कीजिए। इसमें क्या परिवर्तन हुए हैं ?
Discuss the Soviet foreign policy after the death of Stalin in March, 1953. What changes have come into it? (1977)

89 द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् यूरोप में सोवियत संघ के प्रभाव के विस्तारक घटनाक्रम का वर्णन कीजिए।
Narrate the course of events leading to the expansion of the Soviet-area of influence in Europe after the Second World War. (1976)

90 आधुनिक वर्षों में सोवियत रूस की विदेश-नीति में क्या सुधार हुआ है ? उत्तर की पुष्टि में ठोस उदाहरण दीजिए।
In what respect has the foreign policy of U.S.S.R. modified in recent years Give concrete instances to illustrate answer.

91 सोवियत रूस और अमेरिका की नीतियों के विशेष सन्दर्भ में उन तत्वों की विवेचना कीजिए जो अब तक चल रहे पश्चिमी एशिया के संकट के लिए उत्तरदायी हैं।
Analyse the factors responsible for the continued West-Asian crisis with particular reference the policies of the Soviet Union and the U S A

92 1977 में भारत और अमेरिका के प्रति सोवियत विदेश-नीति की परीक्षा कीजिए।
Examine the Soviet Foreign Policy towards India and the United States of America during the year 1977.

अध्याय 11

93 भारत की विदेश-नीति के निर्धारक तत्व क्या हैं ? 1947 के बाद से उसके विकास के प्रमुख तत्वों का विवेचन कीजिए।
What are the determinants of India's foreign policy ? Discuss the salient points of its evolution since 1947. (1971)

94 भारत-चीन संघर्ष के कारणों का विश्लेषण कीजिए और 1959-62 के बीच भारत के प्रति चीन के रवैये में जो परिवर्तन आया उसका निरूपण कीजिए।
Analyse the factors in the India-China conflict and discuss the change in China's attitude towards India during 1959-62. (1971)

95 श्रीलंका के साथ भारत के सम्बन्धों के विकास-क्रम पर प्रकाश डालते हुए बताइए कि दोनों के बीच की समस्याओं का स्वरूप क्या है ?
Trace the course of India's relations with Ceylon and analyse the nature of the problems between the two. (1971)

95 1971 की भारत-रूस सन्धि को शान्ति, मित्रता तथा सहयोग की सन्धि कहा गया है, सैनिक सन्धि नहीं। इसका मूल्यांकन कीजिए।
The Indo-Soviet Treaty of 1971 has been described as a treaty of peace, friendship and co-operation, and not a military treaty How do you evaluate it ? (1971)

97 नेपाल के साथ भारत के सम्बन्धो के विकास का वर्णन करते हुए दोनों के बीच की समस्याओं के स्वरूप का विश्लेषण कीजिए।
Trace the course of India's relations with Nepal and analyse the nature of the problem between the two (1971)

98 भारत और नए उदीयमान एशियायी तथा अफ्रीकी देशों के राष्ट्रमण्डल में शामिल होने के कारणों पर प्रकाश डालिए।
Discuss the reasons which led India and some other newly emerging Asian and African countries to join the Commonwealth (1972)

99 भारत-चीन सघर्ष पर प्रकाश डालते हुए पुनर्मेल की सम्भावनाओ का विवेचन कीजिए।
Analyse the India China conflict and discuss the possibilities of reapproachment (1972)

100 बगलादेश की स्थापना मे भारत की जो भूमिका रही है, उसका विश्लेषण कीजिए। क्या आपके विचार से इस भूमिका से भारत की विदेश-नीति मे कुछ नई दिशाओं के प्रादुर्भाव का सकेत मिलता है ? अपने उत्तर के समर्थन मे तर्क प्रस्तुत कीजिए।
Analyse India's role in the emergence of Bangladesh. Do you think that this role represents any new directions in India s foreign policy ? Give reasons in support of your answer (1973)

101 1969 के बाद से 'महाशक्तियों' के प्रति भारत की जो नीति रही है उसकी मुख्य विशेषताओ की विवेचना कीजिए।
Discuss the main features of India's policy towards the Super Powers since 1969 (1974)

102 1971 के बगलादेश सकट के सम्बन्ध मे ब्रिटेन और चीन ने जो दृष्टिकोण अपनाए उनका विवेचन कीजिए। इन दोनों देशो के अपने-अपने दृष्टिकोण अपनी-अपनी विदेश-नीति के आधारभूत सिद्धान्तो से कहाँ तक मेल खाते थे ?
Analyse the Chinese and British attitudes to the Bangladesh crisis of 1971 How far were these attitudes in accordance with the basic principles of the foreign policies of the two countries ? (1974)

103 आपके विचार मे वे कौनसे मूलभूत कारण थे, जो कि भारत की असलग्नता की नीति के लिए उत्तरदायी थे ?
What in your view, were the basic factors which were responsible for India's policy of non alignment ? (1975)

104 "भारत ने जिस असलग्नता की नीति का पालन किया है, उसे भारत-सोवियत मैत्री सन्धि ने खटाई में नही डाला, बल्कि इस सन्धि से वह नीति पुष्ट ही हुई है।" इस कथन की सकारण विवेचना कीजिए।
"The Indo-Soviet Treaty nowhere contradicts but rather upholds the basic tenets of the policy of non-alignment that India has pursued so far" Do you agree ? Give reasons in support of your answer (1975)

105 1947 से आज तक के भारत-रूस सम्बन्धो की एक सक्षिप्त समीक्षा कीजिए।
Discuss briefly the Indo-U S S R relations since 1947 (1976)

106 भारत और बगलादेश सम्बन्धो का विवेचन कीजिए।
Discuss the relations between India and Bangladesh. (1977)

107 सन् 1950 से भारत-चीन सम्बन्धो की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।
Critically examine the Sino-Indian relations since 1950 (1976, 77)

108 संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—
(अ) भारत-पाक शिमला समझौता,
(ब) रूस-भारत मैत्री सन्धि, 1971,
(स) भारत और यूरोपीय साझा बाजार।
Write short notes on—
(a) Indo-Pak Simla Agreement,
(b) Russia-Indian Friendship Treaty,
(c) India and the European Common Market. (1977)

109 शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व से आप क्या समझते हैं ? सोवियत संघ और भारत की विदेश-नीतियों के सन्दर्भ में इसकी विवेचना कीजिए।
What do you mean by 'Peaceful Co-existence' ? Discuss in the context of the U S S R and Indian foreign policies

110 मिस्र, इजरायल और अरब देशों के प्रति भारत की विदेश-नीति को समझाइए।
Explain India's foreign policy towards Egypt, Israil and the Arab countries. (1976)

111 1967 से भारत की विदेश-नीति का मूल्यांकन कीजिए।
Give an assessment of India's foreign policy since 1967 (1976)

112 क्या एशिया के दो महान् पड़ोसियों—चीन और भारत की परराष्ट्र नीतियों के लक्ष्यों की कोई समान भूमि नहीं बची है ?
Does there exist no common ground between the foreign policy objectives of the two big neighbours of Asia namely China and India ?

113 नेहरूजी की मृत्यु के पश्चात् भारत की अपेक्षा व्यावहारिक विचारों का प्रभाव पड़ रहा है। इस दृष्टिकोण से आप कहाँ तक सहमत हैं ?
How do you agree with the view that India's foreign policy is being influenced more by pragmatic consideration than by Idealistic ones since after the death of Nehru ?

114 क्या आपके विचार में भारत के विदेशमन्त्री श्री अटलबिहारी वाजपेयी असंलग्नता की नीति के सच्चे प्रवक्ता हैं ?
Do you think that Mr Atalbihari Bajpai, the new Foreign Minister of India, is the true advocate of the policy of non-alignment ?

अध्याय 12

115 चीन की विदेश-नीति के भारतीय उप-महाद्वीप में जो उद्देश्य हैं उनकी समीक्षा कीजिए।
Examine critically the foreign policy objectives of China in the Indian Sub-continent (1973)

116 अमेरिका और पाकिस्तान के प्रति अपनाई गई चीन की नीति के मौजूदा दौर पर एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए।
Write a critical note on the current phase of the Chinese policy towards the United States and Pakistan (1974)

117 1949 में साम्यवादी चीन के प्रादुर्भाव के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए।
Discuss critically the impact of the emergence of the Communist China upon international politics since 1949. (1945)

118 1949 से महाशक्ति के रूप में चीन के उत्थान का सुदूरपूर्व और दक्षिण-पूर्वी एशिया में घटनाक्रम पर क्या प्रभाव पड़ा ?
What effect did the rise of China as a great power after 1949 have on the course of events in the Far East and South-East Asia (1977)

119 जनवादी चीन की विदेश-नीति के निर्णायक तत्त्वों का विश्लेषण कीजिए।
Analyse the factors which determine the foreign policy of Peoples Republic of China (1976)

120 अफ्रीकी नवस्वतन्त्र राज्यों के प्रति सन् 1950 से जनवादी चीन की नीति का विवरण दीजिए।
Give an account of the policy of the People's Republic of China towards the newly independent States of Africa since 1950 (1976)

121 पाकिस्तान और चीन की विदेश-नीतियों के समीप आने के आप कौन-से कारण देंगे ?
How do you account for the closer coming together of Pakistan and China in their foreign policies

अध्याय 13

122 स्वेज-पूर्व के प्रति ब्रिटिश नीति का निरूपण कीजिए और बताइए कि क्या टोरी सरकार के सत्तारूढ़ होने के बाद इस नीति में कोई स्पष्ट परिवर्तन आया है ?
Discuss the British policy towards East of the Seuz and whether there has been any perceptible change in this policy with the assumption of power by a Tory government (1971)

123 यूरोपीय साझा-बाजार के प्रति ब्रिटेन के बदलते हुए दृष्टिकोणों के कारणों की व्याख्या कीजिए।
Discuss the factors responsible for the changes in Britain's attitudes towards European Common Market (1973)

124 'राष्ट्रमण्डल' से आप क्या समझते हैं ? ब्रिटेन की विदेश-नीति निर्धारित करने में राष्ट्रमण्डल का जो महत्त्व है उस पर प्रकाश डालिए।
What is the Commonwealth ? Explain the significance of the Commonwealth as a determining factor in the British Foreign policy (1974)

125 युद्धोत्तर ब्रिटिश विदेश-नीति की परीक्षा कीजिए।
Examine carefully the post-war British foreign policy

126 युद्धोत्तर फ्रैंच विदेश-नीति की परीक्षा कीजिए।
Examine carefully the post-war French Foreign Policy

127 ब्रिटेन तथा फ्रांस के द्वितीय युद्धोत्तरकालीन सम्बन्धों की समीक्षा कीजिए।
Examine the post-war relations of Britain and France ?

128 रोडेशिया की समस्या क्या है? ब्रिटेन इस समस्या को सुलझाने में सफल क्यों नहीं हो रहा है?
What is Rhodesia problem? Why is Britain not successful in solving it?

6 अफ्रीकी नवस्वतन्त्र राज्यों के प्रति सन् 1950 से जनवादी चीन की नीति का विवरण दीजिए। (1976)
Give an account of the policy of the People's Republic of China towards newly independent States of Africa since 1950.

7 हाल ही के वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों के संगठन को चीनी गणराज्य के उदय ने किस प्रकार प्रभावित किया है ? (1979)
How has the rise of People's Republic of China affected the alignment of international forces in recent years ?

अध्याय 13

38 स्वेज पूर्व के प्रति ब्रिटिश नीति का निरूपण कीजिए और बताइए कि क्या टोरी सरकार के सत्तारूढ़ होने के बाद इस नीति में कोई स्पष्ट परिवर्तन आया है। (1971)
Discuss the British policy towards East of the Seuz and whether there *has been any perceptible change in this policy with the assumption of power by a Tory government*

39 यूरोपीय साझा-बाजार के प्रति ब्रिटेन के बदलते हुए दृष्टिकोणों के कारणों की व्याख्या कीजिए। (1973)
Discuss the factors responsible for the changes in Britain's attitudes towards European Common Market

40 'राष्ट्रमण्डल' से आप क्या समझते हैं ? ब्रिटेन की विदेश-नीति निर्धारित करने में राष्ट्रमण्डल का जो महत्त्व है उस पर प्रकाश डालिए। (1974)
What is the Commonwealth ? Explain the significance of the Commonwealth as a determining factor in the British Foreign policy.

141 युद्धोत्तर ब्रिटिश विदेश नीति की परीक्षा कीजिए।
Examine carefully the post war British foreign policy

142 युद्धोत्तर फ्रेंच विदेश-नीति की परीक्षा कीजिए।
Examine carefully the post-war French Foreign Policy

143 ब्रिटेन तथा फ्रांस के द्वितीय युद्धोत्तरकालीन सम्बन्धों की समीक्षा कीजिए।
Examine the post-war relations of Britain and France.

144 रोडेशिया की समस्या क्या है ? ब्रिटेन इस समस्या को सुलझाने में सफल क्यों नहीं हो रहा है ?
What is Rhodesia problem ? Why is Britain not to successful in solving it ?

अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न और टिप्पणियाँ

145 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर ऊर्जा संकट के प्रभाव की विवेचना कीजिए। (1978)
Discuss the impact of energy crisis of International Politics

146 संयुक्त राष्ट्र संघ के संविधान के संशोधन पर एक निबन्ध लिखिए। (1978)
Write an essay on the revision of the U. N Charter.

147 'देतान्त' से आप क्या समझते हैं ? इसके कारणों व विश्व-राजनीति पर पड़ने वाले प्रभावों की भी चर्चा कीजिए। (1978)

What do you und-rstand by 'Detente' ? Also give its causes and impact on World Politics

148 'शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व' से क्या आशय है ? युद्धोत्तर सोवियत विदेश नीति में इस सिद्धान्त का किस प्रकार समावेश हुआ है ? (1978)

149 संयुक्त राष्ट्रसंघ के संगठन तथा कार्य-प्रणाली पर शीत-युद्ध का क्या प्रभाव पड़ा ? विश्लेषण कीजिए। (1978)

150 क्या आपके विचार से तनाव शैथिल्य के युग में गुट-निरपेक्षतावाद का कोई महत्वपूर्ण स्थान है ? अपने उत्तर की पुष्टि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नवीन घटनाओं के आधार पर कीजिए। (1978)

Do you think non-alignment has any utility in the age of detente ? Illustrate your answer with new development in world politics

151 निम्नांकित में से किन्हीं दो पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—

(अ) द्वितीय महायुद्ध के बाद जापान से सन्धि,

(ब) चीन-सोवियत संघ विवाद,

(स) 'तेल कूटनीति',

(द) संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र का संशोधन।

Write short notes on any two of the following :—

(a) Treaty with Japan (after the Second World War)

(b) Sino-Soviet Conflict,

(c) 'Oil Diplomacy'

(d) Revision of the U N Charter

152 गुट-निरपेक्षतावाद से आपका क्या अभिप्राय है ? भारत की विदेश नीति कहाँ तक इस पर आधारित रही है ? (1979)

What do you mean by Non-alignment ? How far is Indian foreign policy based on it ?

153 1947 से आज तक के भारत-अमेरिकी सम्बन्धों की संक्षिप्त समीक्षा कीजिए।

Discuss briefly the Indo-U S relations after 1947 (1979)

154 'तेल राजनय' के सन्दर्भ में 1954 के बाद की पश्चिम एशिया की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने वाले तत्वों की समीक्षा कीजिए। (1979)

Discuss with special reference to oil diplomacy the factors which have influenced international politics in West Asia since 1954